

संस्कृति एवं धर्मशास्त्र

Paper - VI

एम.ए.
M.A. (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक-124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored
in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic,
mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permis-
sion of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK - 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

इकाई—I	मनुस्म ति	5-187
इकाई—II	याज्ञवल्क्यस्म ति	188-277
इकाई—III	कौटिल्य अर्थशास्त्र	278-496
इकाई—IV	रामायण एवं महाभारत	497-566
इकाई—V	पुराण	567-610

षष्ठ प्रश्न-पत्र
संस्कृति एवं धर्मशास्त्र

समय : 3 घण्टे

अंक : 100

इकाई-I

20

मनुस्मृति (अध्याय 1-2)

इकाई-II

20

याज्ञवल्क्य स्मृति (व्यवहाराध्याय)

- | | |
|----------------------------------|-----------------------------------|
| 1. साधारण व्यवहार मात्रिक प्रकरण | 2. असाधारण व्यवहार मात्रिक प्रकरण |
| 3. ऋणदान प्रकरण | 4. लेखा प्रकरण |
| 5. दायविभाग प्रकरण | 6. वाक्यपारुष्य प्रकरण |
| 7. दण्डपारुष्य प्रकरण | |

इकाई-III

20

कौटिल्य अर्थशास्त्र

(प्रथम भाग, केवल प्रथम, द्वितीय अधिकरण)

इकाई-IV

20

रामायण और महाभारत

- | | |
|--|---|
| 1. रामायण तथा महाभारत के संस्करण | 2. रामायण तथा महाभारत के आख्यान |
| 3. रामायण तथा महाभारत में समाज | 4. रामायण तथा महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व |
| 5. अपने अनुवर्ती साहित्य के प्रेरणास्रोत के रूप में रामायण तथा महाभारत | |

इकाई-V

20

पुराण

- | | |
|------------------------------------|-------------------------|
| 1. पुराण की परिभाषा | 2. महापुराण एवं उपपुराण |
| 3. पुराणों में वर्णित सृष्टिविद्या | 4. पुराणों में आख्यान |
| 5. पुराणों का सांस्कृतिक महत्त्व | |

दिशानिर्देश :- सभी प्रश्नपत्र संस्कृत और अंग्रेजी में होंगे।

इकाई-I, II & III

1. प्रत्येक इकाई में से दिए गए चार पद्यों/सूत्रों में से दो की व्याख्या पूरी जायेगी। प्रत्येक के 5 अंक होंगे।
5×2×3=30
2. प्रत्येक इकाई में से दिए दो आलोचनात्मक प्रश्नों में से एक का उत्तर देना होगा। प्रत्येक के 10 अंक होंगे।
10×1×3=30

इकाई-IV

1. दिए गए दो प्रश्नों में से एक आलोचनात्मक प्रश्न का उत्तर देना होगा। 20×1=20

इकाई-V

1. दिए गए दो में से एक आलोचनात्मक प्रश्न का उत्तर देना होगा। 20×1=20

नोट :- 20 अंक वाले उत्तर संस्कृत में लिखने अनिवार्य हैं।

इकाई-I

मनुस्म ति

भारतीय वाङ्मय में मनुस्म ति सर्वाधिक चर्चित और महत्वपूर्ण धर्म-शास्त्र है। इसको मनुसंहिता मानव धर्मशास्त्र तथा मानवशास्त्र के नामों से भी जाना जाता है। इस स्म ति की इतनी अधिक लोकप्रियता है कि इसके पश्चात् अनेक स्म तियाँ और धर्मशास्त्र अस्तित्व में आये किन्तु इसकी उपादेयता और लोकप्रियता के सामने टिक नहीं सके।

मनुस्म ति के इतना अधिक महत्वपूर्ण तथा लोकप्रिय होने में जो कारण हैं उनमें इसके विधिविधानों की तत्कालीन समाज में युक्तियुक्तता तथा वेदमूलकता रही है। वर्तमान समय में मनुस्म ति को लेकर कुछ विद्वानों तथा समाजिकों में बहुत आक्रोश देखने को मिलता है। इस आक्रोश के पीछे मुख्यतः दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला कारण तो यह है कि मनुस्म ति से रुष्ट होने वाले अधिकांश लोगों ने मनुस्म ति को पढ़ा ही नहीं है। दूसरे जिन्होंने पढ़ा भी है तो वे अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो सके। अत एव उन्हें स्वार्थी लोगों द्वारा किये गये प्रक्षेप दृष्टिगोचर नहीं हुए और उन प्रक्षेपों में वर्णित अवैदिक और समाज के लिए अहितकारी तथ्यों का सारा दोष मनु के मत्थे मढ़ दिया गया।

अस्तु प्राचीन विधिविधानों, वर्णाश्रम धर्मों, समाज की मर्यादाओं और आचरणों का सर्वाङ्गीण बोध कराने वाला ग्रन्थ मनुस्म ति ही है।

मनुस्म ति का प्रभाव और महत्त्व केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी रहा है। इस विषय में मनुस्म ति का पूनर्मूल्यांकन करने वाले डा. सुरेन्द्र कुमार ने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—

भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी मनुस्म ति का प्रभाव रहा है और इसे महत्त्व मिला है। चम्पा द्वीप के एक शिलालेख में मनु का निम्न श्लोक उद्धृत मिलता है—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति प चमी।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।।

बालि, स्याम और जावा के विधान मनुस्म ति से साम्य रखते हैं। वर्मा का "धम्मथट्" मनुस्म ति से ही प्रेरित प्रतीत होता है। नेपाल का विधिविधान मनुस्म ति का ही अनुकरण करता है। फिलिपीन द्वीप के नये लोकसभा के सामने, वहाँ के संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले चार व्यक्तियों की मृतियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। उनमें एक महर्षि मनु की है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि आज चाहे हम मानें या ना मानें। एक समय ऐसा था जब मनु प्रतिपादित विधिविधानों ने इस देश तथा पड़ोसी देशों को भी बहुत प्रभावित किया था।

विद्यार्थियों के लिए यह सुझाव है कि दोनों अतियों (घोर निन्दा या घोर प्रशंसा) से बचने के लिए अपने पाठ्यक्रम में निर्धारित मनुस्म ति के अंशों को पढ़ते हुए विवेक को जागृत रखें तथा मनुस्म ति से सम्बद्ध अन्य समालोचनापरक ग्रन्थों का अनुशीलन भी करते रहें।

मनुस्म ति के प्रवक्ता— मनुस्म ति के कर्ता अथवा प्रवक्ता के विषय में विद्वान् एक मत नहीं हैं। इस धर्मशास्त्र का प्रथम उपदेशक कौन है ? इस विषय में हमारे समक्ष प्रायः चार मुख्य विकल्प आते हैं।

- १ - प्रथम मत के अनुसार स्वायम्भुव मनु ही मनुस्मृति के मूल रचयिता या प्रवक्ता हैं।
- २ - द्वितीय मत के अनुसार यह स्मृति सातवें मनु जो वैवस्वत मनु नाम से प्रसिद्ध हैं उन द्वारा रचित या प्रोक्त है।
- ३ - तृतीय मत के अनुसार यह स्मृति मनु शिष्य भृगु द्वारा रची गयी है।
- ४ - चतुर्थ मत के अनुसार ब्रह्मा मनुस्मृति के रचयिता हैं।

उपर्युक्त चारों मतों में प्रथम मत को ही अधिकांश विद्वान् प्रामाणिक मानते हैं।

मनुस्मृति के अनुसार वर्ण और आश्रम धर्मों को जानने की इच्छा से ऋषिगण एकत्र होकर स्वायम्भुव मनु के समक्ष उपस्थित हुए। मनु ने स्मृति ज्ञान की परम्परा का उल्लेख करते हुए भृगु के माध्यम से इस शास्त्र का उपदेश करवाया। मनु की उपस्थिति में तथा उन्हीं के बताये हुए विषय का प्रायः उन्हीं के शब्दों में भृगु ने इस धर्मशास्त्र का उपदेश किया। अतः सम्पूर्ण उपदेश स्वायम्भुव मनु के नाम से ही माने गये। शास्त्र में प्रतिपादित सभी विचारों का उतरदायित्व मनु का ही था। अतः स्वायम्भुव मनु ही मनुस्मृति के कर्ता अथवा प्रवक्ता सिद्ध होते हैं।

रचना काल - विद्वानों की मान्यता है कि यद्यपि स्वायम्भुव मनु इस स्मृति के प्रणेता हैं तथापि मनुस्मृति का आदि रूप ऐसा नहीं रही होगा जैसा कि वर्तमान में उपलब्ध होता है। जर्मन विद्वान व्यूलर ने वर्तमान मनुस्मृति के बहुत से अंशों को प्रक्षिप्त माना है। मनुस्मृति के प्रक्षेपों के सन्दर्भ में मनुस्मृति के पुनर्मूल्यांकन कर्ता डा. सुरेन्द्र कुमार ने बहुत परिश्रम और पुरुषार्थ से अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। मनुस्मृति का गम्भीर अध्ययन करने वालों के लिए यह पठनीय ग्रन्थ है।

अस्तु व्यूलर के अनुसार मनुस्मृति का वर्तमान रूप अनेक बार संशोधन के बाद स्थिर हुआ है। परन्तु पी. वी. काणे के अनुसार यह संशोधन एक ही बार हुआ है और उस संशोधन का समय २०० ई. पू. से लेकर २०० ई. तक हो सकता है। ई. पू. २०० की पूर्वीय सीमा निर्धारण करते हुए प्रायः सभी विद्वान् इस तर्क को स्वीकार करते हैं कि वर्तमान मनुस्मृति कौटिल्य के बाद लिखी गयी है। कौटिल्य अर्थात् चाणक्य का समय ३२७ ई. पू. सिद्ध होता है। के. पी. जायसवाल ने मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र की परस्पर तुलना करके तथा मनुस्मृति में ब्राह्मणों के असाधारण प्रभुत्व आदि को देखकर यह माना गया है कि मनुस्मृति का निर्माण ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र अथवा उनके वंशजों के समय में हुआ है। पुष्यमित्र शुंग का काल ई. पू. १८८ माना जाता है। इस प्रकार श्री जायसवाल यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि मनुस्मृति का समय कौटिल्य के लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद का है। श्रीयुत् आर्यंगर और डी० वरदाचार्य ने श्री जायसवाल के मत का खण्डन किया है। श्री वरदाचार्य लिखते हैं— "इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में किसी विषय में वास्तविक मतभेद है पर यह जायसवाल जी के मत को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। अर्थशास्त्र ने ही जहाँ तहाँ मानव धर्मशास्त्र के मत का उल्लेख किया है और उसका विरोध किया है। इससे स्वभावतः यह ध्वनि निकलती है कि मानव धर्मशास्त्र कौटिल्य से पूर्व का है।

व्यूलर ने २०० ई. पू. से लेकर २०० ई. पश्चात् तक का लगभग चार सौ वर्ष का समय माना है कि इसी के बीच में किसी समय मनुस्मृति का वर्तमान रूप स्थिर हुआ। पी० वी० काणे महोदय ने भी इस अवधि का अनुमोदन किया है। श्रीयुत् आर्यंगर महोदय ने इसे और अधिक पूर्व माना है। यह भी उन्होंने उल्लेख किया है कि मेक्स डंकर साहब ने ६०० ई. पू. के अव्यवहित पश्चात् का ही समय माना है और यह उपपत्ति दी है कि मनुस्मृति में दक्षिण हिन्दुस्तान का कोई उल्लेख नहीं है। शिव आदि पौराणिक देवों की उपासना का इसमें कोई उल्लेख नहीं है (यद्यपि इनका उल्लेख प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में आ गया है)। षड्दर्शन का अपूर्ण ज्ञान है तथा महाभारत और रामायण वीरकाव्यों के किसी नायक का नाम नहीं है।

श्रीयुत् भगवद्दत्त जी बार्हस्पत्य अर्थसूत्र की भूमिका में लिखते हैं कि धम्मपद लगभग चौथी शताब्दी

ई. पू. में लिखा गया था उसमें दो श्लोक थोड़े से परिवर्तन के साथ मनुस्मृति के श्लोकों के अनुसार ही हैं।

वे लिखते हैं कि श्रीयुत डी. आर. भण्डारकर ने अपने व्याख्यान में कौटिल्य के दो श्लोकों को मनुस्मृति के दो श्लोकों से मिलान किया है। उनका कथन है कि प्रोफेसर भण्डारकर ने व्यूलर का अनुकरण करते हुए यह कहा है कि कौटिल्य के ये श्लोक उनकी रचना न थे। परन्तु उनसे पूर्व प्रचलित मनु के थे और वे वर्तमान मनु में भी बाद में जोड़ दिए गए हैं। श्री भगवद्दत्त जी कहते हैं कि मनुस्मृति को बाद की सिद्ध करने के लिए यह केवल अनुचित पक्षपात है। पहिले यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाता है कि मनुस्मृति बहुत बाद में लिखी गई थी और जब उसके प्राचीन काल के होने का प्रमाण मिलता है तब यह कह दिया जाता है कि वह (प्राचीन प्रमाण) दोनों (मनु और कौटिल्य) का समान आधार था। परन्तु यह निर्णय हृदयंगम नहीं है।

श्रीयुत् भगवद्दत्त जी वाल्मीकि रामायण से उद्धरण देते हुए यह सिद्ध करते हैं कि मनु के दो श्लोक रामायण में ज्यों के त्यों पाए जाते हैं जिससे यह परिणाम निकलता है कि मनु का वर्तमान स्वरूप जो पद्यबद्ध है वही पहिले भी था।

इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है:-

- (१) वर्तमान मनुस्मृति का स्वरूप ई. द्वितीय शताब्दी पूर्व तक का हो सकता है इसे अब प्रायः सभी विशिष्ट विद्वानों ने मान लिया है। व्यूलर तथा पी० वी० काणे भी इस सीमा को मानते हैं परन्तु वे यह भी उल्लेख करते हैं कि उसके बाद की सीमा ई. सन् के प्रारम्भ तक जा सकती है।
- (२) श्रीयुत् जायसवाल ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी सीमा ईसवी सन् से पूर्व ही है।
- (३) श्रीयुत् जायसवाल जी ने पुष्यमित्र आदि सुगवंशीय राजाओं के काल में सिद्ध किया है परन्तु इस मत का श्री डी० वरदाचार्य प्रभृति विद्वानों द्वारा सप्रमाण खण्डन कर दिया गया है।
- (४) श्रीयुत् आयंगर जी उसे कौटिल्य से पूर्व की सिद्ध करते हैं परन्तु यह लिखते हैं कि कम से कम द्वितीय ईसवी शताब्दी से पूर्व की होना निर्विवाद है।
- (५) श्रीयुत् भगवद्दत्त जी ने निश्चित तिथि नहीं दी है परन्तु वे उसे कौटिल्य से तथा धम्मपद से पूर्व की मानते हैं। धम्मपद की रचना वे लगभग चौथी शताब्दी ई. पू. मानते हैं। अतः इनके मत से मनुस्मृति का समय उससे भी पूर्व का सिद्ध होता है।
- (६) श्रीयुत् मेक्स डंकर ने प्रमाण सहित सिद्ध किया है कि वह ६०० ई. पू. के लगभग लिखी गई थी।

उपर्युक्त विचार विमर्श से मनुस्मृति की रचना काल के विषय में संदेह ही अधिक बढ़ता है उसका समाधान कम होता है। परन्तु ये तर्क अंतिम तर्क नहीं कहे जा सकते हैं; संभव है मनुस्मृति ६०० ई. के भी और बहुत पहले की हो। इस नवीन शंका के समाधान के लिए नवीन तर्कों की आवश्यकता है। महाभारत और बाल्मीकि रामायण, इन दोनों में मनुस्मृति के उद्धरण मिलते हैं, इस कारण मनुस्मृति की रचना इन दोनों ग्रन्थों से पूर्व की है यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। महाभारत तथा रामायण के रचना काल पर भी विद्वानों का एकमत्य नहीं है तथापि यहाँ पर श्री मैकडानल के मत का उल्लेख सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। रामायण के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि रामायण में बुद्ध का उल्लेख केवल एक स्थल पर आया है; वह प्रत्यक्ष रूप से प्रक्षिप्त जान पड़ता है। अतः बौद्धमत के तारतम्य को देखते हुए रामायण के बौद्धकाल से पूर्व होने के अधिक प्रमाण मिलते हैं। इसी प्रकार महाभारत के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि हम प्रायः यह मान सकते हैं कि हमारे वीरकाव्य का मूलरूप लगभग पाँचवी सदी ई. पू. में आ चुका था। इस विषय में सबसे प्राचीन साक्ष्य आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है जहाँ भारत तथा महाभारत का निर्देश है। इस साक्ष्य से भी महाभारत का काल पाँचवी शताब्दी ई. पू. ही ज्ञात होता है।

श्री जायसवाल जी ने भी महाभारत की रचना मनुस्मृति के बाद ही मानी है। इसी प्रकार श्री भगवद्दत्त जी ने मनुस्मृति की रचना रामायण से पूर्व मानी है। ऐसी स्थिति में अनायास ही मनुस्मृति का रचना काल ई. छठी या पाँचवीं शताब्दी पूर्व हो जाता है। यही मत मैक्सडॉकर महोदय का भी है।

मनुस्मृति की रचना का काल इससे भी पूर्व हो सकता है। मनुस्मृति ने यास्क का उल्लेख नहीं किया है परन्तु यास्क ने मनु का उल्लेख किया है। श्री पी०वी० काणे महोदय के अनुसार यास्क का काल लगभग ८०० ई.पू. का है। भंडारकर महोदय के अनुसार ७५० ई. पू. तथा श्री आर्यंगर के अनुसार ६५० ई. पू. है। यास्क ने मनु का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। यास्क ने पुत्र के दाय ग्रहण के संबंध में **“मनुः स्वयंभुवो ब्रवीत्”** कहकर मनु का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु के धर्मशास्त्र की स्थिति यास्क के पूर्व थी। इसके स्पष्टीकरण के लिए दोनों की विषय-प्रतिपादन शैली पर ध्यान देना आवश्यक है। यास्क ने वेदों के वैज्ञानिक विवेचन पर पर्याप्त प्रकाश डाला। बहुत से मंत्रों का वैज्ञानिक अर्थ भी उन्होंने दिया है यास्क लिखते हैं कि ऋषि लोग साक्षात्कृतधर्मा थे अर्थात् उन्होंने पदार्थ के धर्मों का साक्षात्कार किया था, योग दृष्टि से उनका प्रत्यक्ष किया था। उन्होंने अवर (निम्नश्रेणी) लोगों को, जिन्होंने धर्मों का स्वयं साक्षात्कार नहीं किया था, उपदेश के द्वारा मंत्रों का सम्प्रदान किया। और भी आगे उपदेश में भी ग्लानि का अनुभव करने वाले लोगों के लिए वेदांगों का संग्रह किया। यास्क के समय बहुत से वैदिक पारिभाषिक शब्द, प्रचार के हास के कारण व्याख्यागम्य हो गए थे। अतः उन पर व्याख्या ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। परन्तु यास्क की शैली भी संक्षिप्त रूप से, संकेत से ही व्याख्या करने की थी। यास्क ही एक प्रकार से अन्तिम वैज्ञानिक विवेचक थे। मनुस्मृति के समय में वैदिक विज्ञान की परिभाषाओं का प्रचार यास्क के समय की अपेक्षा अधिक था। अतः मनुस्मृति में बहुत अधिक स्थल ऐसे हैं जो सिद्ध रूप से वैज्ञानिक अर्थ को प्रधानतः लक्ष्य करते हैं। यहाँ मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले वैदिक विज्ञान को सिद्धरूप में देने वाले कुछ उदाहरणों को देना अप्रसंगिक न होगा।

मनु १-८ में लिखते हैं कि स्वयंभू ने अपने शरीर से सबसे आदि में जल की सृष्टि की। मनु १-७५ से ७८ तक में जो महाभूतों का क्रम दिया गया है वहाँ आकाश उससे वायु, वायु से तेज और तेज से जल की सृष्टि की गई है। इन दो परस्पर विरोधी वाक्यों का समन्वय साधारण शब्दार्थ से नहीं होता। मनु. ३-२०१ में लिखते हैं कि ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देव और दानव हुए और फिर देवों से (देव और दानवों से) समस्त जगत् उत्पन्न हुआ।

मनु. १-२३ में लिखते हैं कि प्रजापति ने अग्नि, वायु और रवि से यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋग्, यजुः और साम को दुहकर निकाला। यहाँ ये तीनों वेद किस प्रकार अग्नि आदि से निकाले गए यह जानने के लिए व्याख्या की अपेक्षा है। मनु १२-६८ में मिलता है— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पंचम गंध, ये प्रसूतिगुण के धर्म से वेद से ही उत्पन्न होते हैं। शब्दात्मक ग्रन्थ रूप इन वेदों से रूप, रस, गंध कैसे उत्पन्न होते हैं यह साधारण व्याख्या से समझ में नहीं आता। मनु. ११-२६६ में लिखते हैं आद्य जो तीन अक्षर वाला ब्रह्म है, जिस पर वेदत्रयी प्रतिष्ठित है वह अन्य त्रिवत् गुह्यवेद है जो उसे जानता है वह वेदवित् है।

इस प्रकार के और अन्य उदाहरण मनु में भरे पड़े हैं जिससे पता चलता है कि एक सर्वसाधारण के लिए उपयोगी धार्मिक ग्रन्थ में पहेली रखने की आवश्यकता न थी। स्मृति की रचना काल में ये पारिभाषिक वैदिक शब्द समाज में प्रचलित थे अतः उनके समझाने के लिए पथक् व्याख्या अपेक्षित न थी। यह समय अवश्य ही यास्क से पूर्व का था। परन्तु कितने पूर्व था यह कहना कठिन है। यास्क के समय तक कम से कम दौ सौ वर्ष तो लग ही गए होंगे। ऐसी स्थिति में मनुस्मृति की रचना का काल एक सहस्र ई. पू. अनायास सिद्ध होता है। उससे पूर्व भी संभव है परन्तु इसमें अभी यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि अनेक पाश्चात्य और प्रायः तदनुयायी भारतीय विद्वान् भी वेदों

की रचना को ही एक हजार और पन्द्रह सौ ई. पू. में मानने का आग्रह करते हैं। ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की रचना अवश्य ही मंत्रों के बाद ही हुई है। मनुस्मृति भी निर्विवाद ही ब्राह्मणों के निर्माण के बाद ही लिखी गई है। परन्तु वेद मंत्रों का यह समय निर्धारण अभी तक निस्संदिग्ध रूप से सर्वमान्य नहीं हुआ है। यहाँ उसका विवेचन अप्रासंगिक होगा। कालान्तर में इस जटिल प्रश्न के समाधान होने पर उसका प्रभाव मनुस्मृति की रचना काल के निर्णय पर भी अवश्य पड़ेगा।

मनुस्मृति के प्रथम द्वितीय अध्याय में वर्णित कुछ प्रमुख विषय -

(१) सृष्टि प्रक्रिया, (२) काल परिमाण, (३) श्रुति प्रशंसा, (४) धर्म, (५) ब्रह्मावर्त/आर्यावर्त, (६) शिष्य/ ब्रह्मचारी के कर्तव्य, (७) संस्कार।

१. सृष्टि प्रक्रिया :-

मनुस्मृतिकार ने मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में इस जगत् की सृष्टि प्रक्रिया के विषय में विस्तार से लिखा है। वहाँ इस विषय का वर्णन करने वाले श्लोकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए मनुस्मृतिकार ने वेद, दर्शन और पुराणों में वर्णित सृष्टि प्रक्रियाओं के समन्वित रूप का उल्लेख अपने शास्त्र में किया है।

सृष्टि से पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए मनु लिखते हैं कि - यह सब जगत् सृष्टि के पहले प्रलय में अन्धकार से आवृत=आच्छादित था।उस समय न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य कुछ था। सब ओर सब कुछ सोया हुआ सा पड़ा था।

यह वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के "तमः आसीत्तमसा गूढमग्रे" इत्यादि मन्त्र के वर्णन से मेल खाता है।

उस अनिर्वचनीय प्रलयावस्था में जब सब कुछ अन्धकारमय था तब स्वयम्भू, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर, अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले भगवान् आकाश आदि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए। अपने शरीर रूप प्रकृति से अनेक प्रकार की प्रजाओं सृष्टि करने की इच्छा वाले उस परमात्मा ने ध्यान करके पहले अप्तत्त्व को ही रचा, और फिर उन अप्तत्त्वों में शक्तिरूपी बीज को छोड़ा। फिर वह बीज हजारों सूर्यों की ज्योति के समान सुनहरी अण्डे के रूप में परिणत हो गया फिर उसमें सब लोगों के पितामह के समान ब्रह्मा अपने आप उत्पन्न हुए।

उस अण्डे में एक वर्ष तक (=ब्रह्मा के वर्षप्रमाण के अनुसार ३६० ब्राह्मदिन तक) निवास करके उस भगवान् ने स्वयं ही अपने ध्यान से उस अण्डे को दो टुकड़ों में कर दिया। उस ब्रह्मा ने उन दोनों टुकड़ों से द्युलोक और पृथिवीलोक की और बीच में आकाश और आठों दिशाओं की तथा जलों के नित्य स्थान-समुद्रों की रचना की और फिर उस परमात्मा ने स्वाश्रयस्थित प्रकृति से 'महत्' नामक तत्त्व को और महत्तत्त्व से 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करने वाले सामर्थ्यशाली 'अहंकार' नामक तत्त्व को उत्पन्न कर प्रकट किया। पुनः उसने सब त्रिगुणात्मक पाँच - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक तन्मात्राओं को तथा आत्मोपकारक अथवा निरन्तर गमनशील 'मन' इन्द्रिय को और विषयों को ग्रहण करने वाली दोनों वर्गों की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा तथा पाँच कर्मेन्द्रियों-हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु, को यथाक्रम से उत्पन्न कर प्रकट किया।

ऊपर वर्णन किए गये उन तत्त्वों में से अत्यधिक शक्तिवाले छहों तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएं तथा छठे अहंकार के सूक्ष्म अवयवों को उनके आत्मभूत तत्त्वों के विकारी अंशों अर्थात् कारणों में मिलाकर पाँचों स्थूल महाभूतों-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की सृष्टि की।

इस प्रकार विनाश रहित परमात्मा से और द्वितीयार्थ में सृष्टि के मूल कारण अविनाशिनी प्रकृति से उन्हीं महाशक्तिशाली सात तत्त्वों-महत्, अहंकार तथा पांच तन्मात्राओं के जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी अंशों से यह दृश्यमान विनाशील विकाररूप जगत् उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि "जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्त्व, ओर जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच-सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पांच कर्म इन्द्रियां और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पंचतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त करते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियां, वक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है।

यहाँ तक हमें जो मनुस्मृति में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन उपलब्ध होता है उसमें से आरम्भिक वर्णन पुराणगत सृष्टि चिन्तन से मेल खाता है तथा बाद में वह सांख्य शास्त्र के सृष्टि चिन्तन में पर्यवसित हो जाता है। पुनः इस वर्णन पर पुरुष सूक्त का प्रभाव दिखने लगता है।

इस जगत् में सृष्टि पदार्थों के नाम, कर्म तथा स्वभावादि की उत्पत्ति के विषय में मनु लिखते हैं कि-उस परमात्मा ने सब पदार्थों के नाम (यथा-गौ-जाति का 'गौ', अश्वजाति का 'अश्व' आदि) और भिन्न-भिन्न कर्म (यथा-ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के हिंस्र-अहिंस्र आदि कर्म तथा पथक् पथक् विभाग जैसे प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि या व्यवस्थाएं यथा-चार वर्णों की व्यवस्था सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों के शब्द से ही बनायीं।

इस प्रकार उस परमात्मा ने कर्म ही स्वभाव है जिनका ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवों के मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सामान्य प्राणियों के और साधक कोटि के विशेष विद्वानों के समुदाय को तथा सृष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलय काल तक निरन्तर प्रवहमान सूक्ष्म संसार अर्थात् महत् अहंकार पंचतन्मात्रा आदि सूक्ष्म रूपमय और सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को रचा। उस परमात्मा ने जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए अग्नि, वायु ओर रवि से अर्थात् उन के माध्यम से ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम=उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले नित्य वेदों को दुहकर प्रकट किया। सृष्टि उत्पन्न करते हुए उस परमात्मा ने समय और समयविभागों-निमेष, काष्ठा, कला, दिन-रात आदि को-नक्षत्रों-अश्विनी, भरणी आदि को तथा ग्रहों-सूर्य, चन्द्र आदि को नदियों, पर्वतों और ऊँचे-नीचे स्थानों को और तप, वाणी, प्रसन्नता तथा काम, क्रोध को, इन सब प्रजाओं और शेष सारी सृष्टि को रचा और फिर कर्मों के विवेचन के लिए धर्म-अधर्म का विभाग किया तथा इन प्रजाओं को सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों=दो विरोधी गुणों या अवस्थाओं से जोड़ों से संयुक्त किया। उस परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में जिस प्राणी को जिस कर्म में लगाया प्रत्येक सृष्टि-उत्पत्ति समय में वह फिर उत्पन्न होता हुआ अर्थात् जन्म धारण करता हुआ उसी कर्म को ही अपने आप प्राप्त करने लगा। हिंसा (सिंह, व्याघ्र आदि का) अहिंसा (मृग आदि का) दयायुक्त और कठोरतायुक्त धर्म तथा अधर्म असत्य और सत्य जिस प्राणी का जो कर्म सृष्टि के प्रारम्भ में उस परमात्मा ने धारण कराना था उस को वही कर्म अपने आप ही प्राप्त हो गया। जैसे ऋतुएं ऋतु-परिवर्तन होने पर अपने आप ही अपने-अपने ऋतुचिह्नों-जैसे, वसन्त आने पर कुसुम-विकास, आम्रमंजरी आदि को प्राप्त करती हैं

उसी प्रकार देहधारी प्राणी भी अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। तत्पश्चात् उस परमात्मा ने प्रजाओं अर्थात् समाज की विशेष व द्वि-शान्ति, सम द्वि एवं प्रगति के लिए मुख बाहु, जंघा और पैर के गुणों की तुलना के अनुसार क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को निर्मित किया। अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण किया।

सृष्टि प्रक्रिया के एक अन्य स्वरूप और क्रम का वर्णन करते हुए मनु पुनः लिखते हैं -

वह ब्रह्मा अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गया। फिर उस स्त्री में उस ब्रह्मा ने 'विराट्' नामक पुरुष को उत्पन्न किया। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! उस विराट् नामक पुरुष ने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया उसे इस सब संसार के रचयिता मुझ मनु को समझो अर्थात् वह मैं मनु ही हूँ। प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा वाले मैंने कठोर तपस्या करके पहले प्रजाओं के पतिरूप दश महर्षियों को उत्पन्न किया। वे दश प्रजापति ऋषि हैं-मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भगु और नारद। इन दश मनुओं ने अत्यधिक तेजस्वी अन्य सात मनुओं को उत्पन्न किया और देवताओं देवगणों तथा महातेजस्वी महर्षियों को भी उत्पन्न किया। और फिर यक्ष, राक्षस, पिशाचों को गन्धर्व, अप्सराओं और असुरों को और नाग, सर्प, गरुड़ों को, पितरों के पथक्-पथक् गणों को, और बिजली, गिरने वाली बिजलियों, बादलों को, सीधे इन्द्रधनुषों, टेढ़े इन्द्रधनुषों को, उल्काओं, उत्पात की आवाजों, पुच्छल तारों और छोटे-बड़े तारों को, किन्नरों, वानरों, मछलियों को, विविध प्रकार के पक्षियों को, ग्राम्यपशुओं, वन्य पशुओं, मनुष्यों को दोनों ओर दांत वाले हिंसक पशुओं को, छोटे कीड़ों, बड़े कीड़ों, उड़ने वाले कीड़ों, जूँ, मक्खी, खटमलों और सब डंसने वाले मच्छरों को विविध प्रकार के स्थावरों को उत्पन्न किया।

इस स्थावर और जंगम जगत का वर्गीकरण करते हुए मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि ग्राम्यपशु गौ आदि अहिंसक वृत्ति वाले वन्यपशु हिरण आदि और दोनों ओर दांत वाले हिंसक वृत्ति वाले पशु सिंह, व्याघ्र आदि तथा राक्षस पिशाच तथा मनुष्य ये सब 'जरायुज' अर्थात् झिल्ली से पैदा होने वाले हैं। पक्षी, साप, मगरमच्छ तथा कछुए और अन्य जो इस प्रकार के भूमि पर रहने वाले और जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब 'अण्डज' अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं। डंक से काटने वाले डांस और मच्छर आदि जूँ, मक्खियां, खटमल, जो और भी कोई इस प्रकार के जीव हैं, जो ऊष्मा अर्थात् सीलन और गर्मी से पैदा होते हैं। वे सब 'स्वेदज' अर्थात् पसीने या सीलन से उत्पन्न होने वाले कहाते हैं। बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले सब स्थावर वृक्ष आदि 'उद्भिज्ज'-भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। उनमें-फल आने पर पककर सूख जाने वाले और जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं। वे औषधियाँ कही जाती हैं। जिन पर बिना फूल आये ही फल लगते हैं, वे 'वनस्पतियाँ' कहलाती हैं। यथा-पीपल, गूलर आदि और फूल लगकर फल लगने वाले दोनों से युक्त होने के कारण वे उद्भिज्ज स्थावर जीव 'वृक्ष' कहलाते हैं। अनेक प्रकार के जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'झाड़' आदि एक जड़ से अनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' आदि उसी प्रकार घास की सब जातियाँ, बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले उगकर फैलने वाली 'दूब' आदि और उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें ये स्थावर भी 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं।

पूर्वजन्मों के बुरे कर्मफलों के कारण बहुत प्रकार के अज्ञान आदि तमोगुण से घिरे हुए या भरपूर ये स्थावर जीव सुख और दुःख के भावों से संयुक्त हुए आन्तरिक चेतना वाले होते हैं। अर्थात् इनके भीतर चेतना तो होती है, किन्तु अत्यधिक तमोगुण के कारण चेतना और भावों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता।

सृष्टि वर्णन के उपरान्त मनुस्मृतिकार ने प्रलय कार्य का संकेत करते हुए लिखा है-वह परमात्मा जागता है अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है तब समस्त संसार चेष्टायुक्त होता है, और जब यह शान्त आत्मा वाला सभी कार्यों से शान्त होकर सोता है अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति के कार्य से निवृत्त हो जाता है तब यह समस्त संसार प्रलय को प्राप्त हो जाता है। सृष्टि-कर्म से निवृत्त हुए उस परमात्मा के सोने पर कर्मों - श्वास-प्रश्वास, चलना-सोना आदि कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे देहधारी जीव भी अपने-अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं और 'महत्' तत्त्व सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की अवस्था को या अपने कारण में लीन होने की अवस्था को प्राप्त करता है। उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में जब एक साथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं तब यह सब प्राणियों का आश्रय स्थान परमात्मा सृष्टि-संचालन के कार्यों से निवृत्त हुआ-हुआ सुखपूर्वक सोता है। इस प्रकार वह अविनाशी परमात्मा जागने और सोने की अवस्थाओं के द्वारा इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है और फिर मारता है अर्थात् कारण में लीन करता है।

२. काल परिमाण

मनुस्मृतिकार ने सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है कि सृष्टि उत्पन्न करते हुए उस परमात्मा ने समय और उसके विभाग जैसे - निमेष, काष्ठा, कला, दिन-रात आदि को उत्पन्न किया। मनुस्मृतिकार ने इस काल विभाग के सूक्ष्म अवयव से लेकर बड़े से बड़े भाग तक के परिमाण का उल्लेख मनुस्मृति में किया है जो इस प्रकार है - दश और आठ मिलाकर अर्थात् अठारह निमेषों की एक काष्ठा होती है। उन तीस काष्ठाओं की एक कला होती है, तीस कलाओं का मुहूर्त होता है, और उतने ही अर्थात् ३० मुहूर्तों के एक दिन-रात होते हैं। एक बार पलक झपकने के समय को निमेष कहते हैं।

विद्वज्जन पद्य में निर्दिष्ट प्राचीन काल परिमाण की तुलना आधुनिक काल परिमाण से इस प्रकार करते हैं - आधुनिक काल-विभाग के अनुसार इस समय को निम्न प्रकार बांटा जा सकता है - ०.१७७७७ सैकण्ड का निमेष, ३.२ सैकण्ड की १ काष्ठा, १ मिनट ३६ सैकण्ड की १ कला, ४८ मिनट का १ मुहूर्त और २४ घण्टे के एक दिन-रात होते हैं।

सूर्य मनुष्यों के और देवों के दिन-रातों का विभाग करता है, उनमें प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है और कामों के करने के लिए 'दिन' होता है। पितरों के लिए मनुष्यों का एक मास रात-दिन के समान है, अर्थात् मनुष्यों के ३० दिन-रात का एक मास पितरों के एक दिन-रात होते हैं उनमें दो पक्षों का विभाग किया जाता है। पितरों के काम करने के लिए 'कृष्णपक्ष' उनके दिन के समान है और 'शुक्लपक्ष' सोने के लिए उनकी रात है। मनुष्यों का एक वर्ष एक दैवी 'दिन-रात' होते हैं उन दैवी 'दिन-रात' का फिर विभाग है-उसमें सूर्य की भूमध्य रेखा से उत्तर की ओर स्थिति अर्थात् 'उत्तरायण' दैवी दिन कहलाता है, और सूर्य की दक्षिण की ओर स्थिति अर्थात् 'दक्षिणायन' दैवी रात है।

सूर्य के उत्तर तथा दक्षिण अयन छह-छह मास के होते हैं। उत्तरायण में सूर्य की स्थिति भूमध्य रेखा के उत्तर में होती है। यह स्थिति मकर रेखा से उत्तर कर्क रेखा की ओर होती है। सूर्य के इस स्थिति काल में माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये छह मास तथा शिशिर वसन्त और ग्रीष्म ऋतुयें होती हैं। दक्षिणायन में सूर्य की स्थिति भूमध्य रेखा के दक्षिण में होती है। यह स्थिति कर्क रेखा से दक्षिण मकर रेखा की ओर की है। इस काल में श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, आग्रहायण और पौष मास तथा वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुयें होती हैं। उत्तरायण का आरम्भ मकर संक्रान्ति से तथा दक्षिणायन का आरम्भ कर्क संक्रान्ति से माना जाता है।

ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के दिन-रात तथा एक-एक युगों का जो कालपरिमाण है वह क्रमानुसार इस प्रकार है। उन दैवी चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सतयुग' कहा है। उतने ही सौ दिव्य वर्ष की अर्थात् ४०० दिव्य वर्ष की 'सन्ध्या' होती है और उतने ही वर्षों का अर्थात् ४०० दिव्य वर्षों का 'संध्यांश' का समय होता है।

चार युगों का परिमाण - किसी भी युग के पूर्वसन्धिकाल को 'संध्या' और उत्तरसन्धिकाल को 'संध्यांश' कहाजाता है। सतयुग का कालपरिमाण - ४०००+४०० (संध्यावर्ष) + ४०० (संध्यांशवर्ष) = ४८०० दिव्यवर्ष बनता है। इसे मानुषवर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुणा करना पड़ेगा इस प्रकार ४८०० + ३६० = १७२८००० मानुष वर्षों का एक सतयुग होता है और शेष अन्य तीन-त्रेता, द्वापर, कलियुगों में 'संध्या' नामक कालों में तथा 'संध्यांश' नामक कालों में क्रमशः एक-एक हजार ओर एक-एक सौ घटा देने से उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकलआता है। ४८०० दिव्यवर्षों का सतयुग होता है, उसकी संख्या में से एक सहस्र और संध्या ४०० वर्ष व संध्यांश ४०० वर्ष में से एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष + ३०० संध्यावर्ष + ३०० संध्यांशवर्ष = ३६०० दिव्यवर्षों का त्रेतायुग होता है इसी प्रकार - २००० + २०० + २०० = २४०० दिव्यवर्षों का द्वापर और १००० + १०० + १०० = १२०० दिव्यवर्षों का कलियुग होता है।

जो यह पूर्व में चारों युगों को कालपरिमाण के रूप में गिनाया है यह बारह हजार दिव्य वर्षों का काल देवताओं का एक 'युग' कहा जाता है। देवों का एक युग मनुष्यों की एक चतुयुगी के परिमाण वाला होता है। एक चतुर्युगी १२ हजार दिव्य वर्षों के परिमाण वाली होती है। १२ हजार दिव्य वर्षों के काल परिमाण में ४३,२०,००० मानुष वर्ष होते हैं। बारह हजार दिव्य वर्षों का एक 'देवयुग' कहा है उससे इकहत्तर गुना समय अर्थात् १२००० × ७१ = ८,५२,००० दिव्यवर्षों का अथवा ८,५२,००० दिव्यवर्ष × ३६० = ३०,६७,२०,००० मानुषवर्षों का एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण माना गया है। वह सबसे महान् परमात्मा असंख्य 'मन्वन्तरों' को सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय को खेलता हुआ-सा बार-बार करता रहता है। देवयुगों को हजार से गुणा करने पर जो कालपरिमाण निकलता है, वह परमात्मा का एक 'दिन' और उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एक 'रात' समझनी चाहिये। १२००० × १००० = १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का ब्रह्म का एक दिन हुआ। यह १,२०,००,००० × ३६० = ४,३२,००,००,००० मानुषवर्षों का कालपरिमाण बनता है। यह परमात्मा की जाग्रत् अवस्था का दिन है, यह सृष्टि और उसकी स्थिति का काल है। इतना ही काल सुषुप्ति अवस्था का रात्रि-काल है। यही प्रलयावस्था कहाती है। जो लोग उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को और उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को समझते हैं वे ही वास्तव में दिन-रात = सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय काल के वेत्ता लोग हैं।

३. श्रुतिप्रशंसा

मनुस्मृतिकार ने उस काल में अपनी प्रजाजनों के विधि विधान के रूप में इस स्मृति का निर्माण करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखा कि स्मृति के कारण श्रुति का किसी भी प्रकार से अवमान न हो जाये। इसीलिए उन्होंने अपने शास्त्र के आरम्भ में बहुत प्रकार से श्रुति की प्रशंसा की है। वे लिखते हैं - वेद को श्रुति समझना चाहिए और धर्मशास्त्र को स्मृति समझना चाहिए। ये श्रुति और स्मृति शास्त्र सब स्थितियों और सब बातों में कुतर्क न करने योग्य हैं अर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का कुतर्क का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से धर्म उत्पन्न हुआ है।

अर्थ और काम में अनासक्त लोगों के लिए धर्म के उपदेश का विधान है और धर्म को जानने की इच्छा रखने वालों के लिए श्रुति अर्थात् वेद ही परम प्रमाण है। जो किसी का कोई धर्म मनु ने कहा है वह सब वेद में कहा हुआ है क्योंकि वह वेद सब प्रकार के ज्ञान से युक्त है। जो कोई मनुष्य धर्म के मूल वेद और वेदानुकूल स्मृति ग्रन्थों का तर्कशास्त्र के आश्रय

से अपमान करे उसका श्रेष्ठ लोग बहिष्कार कर दें, क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है।

विद्वान् मनुष्य इस सब को ज्ञान रूपी नेत्र से भली प्रकार देखकर और वेद के प्रमाण से कर्तव्य का निश्चय करके अपने धर्म अर्थात् कर्तव्य में स्थिर रहे। क्योंकि मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्ति और मरके परलोक में सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है। जहाँ कहीं श्रुति=वेद में दो पथक् आदेश विहित हों, ऐसे स्थलों पर वे दोनों की विधान धर्म माने हैं मनीषी विद्वानों ने उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए मैं यज्ञ करने के लिए तीन समयों का विकल्प है - (१) सूर्योदय के समय में (२) सूर्य उदय न हो उस समय में (३) जब न तारे दीखते हों और न सूर्य निकला हो उस समय में यज्ञ करना चाहिए। इन तीन विधानों में परस्पर विरोध न मान कर जिस समय सुविधा हो उसी समय यज्ञ कर लेना चाहिए।

४. धर्म

संपूर्ण वेद, वेद के जानने वालों की स्मृति और उनका शील, सज्जनों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता ये धर्म के मूल हैं। वेद, सत्पुरुषों का आचरण और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण ये चार धर्म के स्पष्ट लक्षण कहे हैं। "श्रुति - वेद, स्मृति - वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का अचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं।

५. ब्रह्मावर्त/आर्यावर्त

देव अर्थात् दिव्यगुण और दिव्य आचरण वाले विद्वानों के निवास से युक्त सरस्वती और दक्षवती नदी-प्रदेशों के जो बीच का स्थान है उस दिव्यगुण एवं आचरण वाले विद्वानों द्वारा बसाये और निवास से सुशोभित देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है। उस ब्रह्मावर्त देश में वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत अर्थात् वेदों के प्रारम्भ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो आचार है वह सदाचार कहलाता है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन इनको मिलाकर बना ब्रह्मावर्त से मिला हुआ 'ब्रह्मर्षि देश' है। इसी ब्रह्मावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों=विद्वानों के सान्निध्य से पृथिवी पर रहने वाले सभी मनुष्य अपने-अपने आचरण अर्थात् कर्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें।

उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में विन्ध्याचल के मध्यवर्ती विनशेन प्रदेश=सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर जो पूर्वदिशा का देश है और प्रयागप्रदेश से पश्चिम में जो देश है और प्रयागप्रदेश से पश्चिम में जो देश है, वह 'मध्यदेश' कहा जाता है। जो पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्रपर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे विद्वान् आर्यावर्त कहते हैं और जिस देश में स्वाभाविक रूप से कृष्णम ग विचरण करता है वह यज्ञों से सम्बद्ध=पवित्र, श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ कर्मों वाले व्यक्तियों से युक्त देश है, ऐसा समझना।

६. शिष्य/ब्रह्मचारी के कर्तव्य

मनुस्मृतिकार ने मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में उपनीत ब्रह्मचारी शिष्य के कर्तव्यों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं ब्रह्मचारी को वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति पर सदैव गुरु के दोनों

चरणों को छूकर दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करने के बाद पढ़ना चाहिये। गुरु के चरणों का स्पर्श हाथों को अदल-बदल करके करना चाहिए। बायें हाथ से बायां चरण और दायें हाथ से दायें पैर का स्पर्श करना चाहिये।

शिष्य सदैव वेद पढ़ने के आरम्भ और अन्त में 'ओ३म्' का उच्चारण करे। आरम्भ में ओंकार का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ बिखर जाता है अर्थात् भलीभांति ग्रहण नहीं हो पाता और बाद में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं रहता।

ब्रह्मचारी पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय (इन दश इन्द्रियों के समूह को) वश में करके और मन को रोक कर तथा युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे। प्रातःकालीन सन्ध्या के समय सूर्योदय तक गायत्री का जप करता हुआ बैठा रहे। सायंकालीन सन्ध्या में तारे निकलने तक (गायत्री जपता हुआ) बैठा रहे। प्रातःकालीन सन्ध्या में बैठकर जप करके रात्रिकालीन मानसिक मलिनता या दोषों को दूर करता है और सायंकालीन सन्ध्या करके दिन में सचित मानसिक मलिनता या दोषों को नष्ट करता है। अभिप्राय यह है कि दोनों समय सन्ध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके ब्रह्मचारी उन्हें आगे न करने के लिए संकल्प करता है तथा गायत्री-जप से अपने संस्कारों को शुद्ध पवित्र बनाता है।

अरण्य में जाकर जल के समीप इन्द्रियों को रोककर एकाग्रचित्त से नित्य चर्या का अनुष्ठान करता हुआ गायत्री जप करे। वेद के पठन-पाठन में और नित्यकर्म में आने वाले गायत्री जप या सन्ध्योपासना में तथा यज्ञ करने में अनध्याय का विचार या आग्रह नहीं होता अर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ अनध्याय का विचार लागू नहीं होता। नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है। अनध्याय में किए गए अग्निहोत्र को पुण्यरूप कहा गया है।

यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज अग्निहोत्र करना, भिक्षावृत्ति, भूमि में शयन, गुरु की सेवा, समावर्तन संस्कार पर्यन्त करता रहे। उपनयन संस्कार होने पर ही इस ब्रह्मचारी के लिए व्रतों के आदेश का पालन करना और विधि के अनुसार क्रमशः वेदज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। इस ब्रह्मचारी के जो-जो चर्म जो यज्ञोपवीत और जो मेखला, जो दण्ड तथा जो वस्त्र विहित किये हैं वह सब भी इसके व्रतों के अन्तर्गत ही हैं।

गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी अपने विद्यारूप तप की वृद्धि के लिये इन्द्रियों के समूह को वश में करके इन आगे वर्णित नियमों का पालन करे।

ब्रह्मचारी नित्य स्नान करके शुद्ध होकर ऋषियों तथा पितरों की भोजन वस्त्रादि से सन्तुष्टि, परमात्मा की उपासना तथा अग्निहोत्र किया करे।

ब्रह्मचारी गंध, मदकारक मदिरा आदि पदार्थ और मांस, माला, रस और स्त्री का संग, सब प्रकार की खटाई तथा प्राणियों की हिंसा छोड़ देवे। अंगों का मर्दन और उबटन, आंखों में अजन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ और नाच, गाना बजाना छोड़ देवे। द्यूत, झगड़ा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवे। सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्यस्खलित कभी न करे, काम से वीर्यस्खलित कर दे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्यव्रत का नाश कर दिया। ब्रह्मचारी द्विज अनजाने में स्वप्न में वीर्यस्खलित होने पर स्नान करके सूर्य की पूजा करके "पुनर्माभैत्विन्द्रियम्" इस ऋचा को तीन बार जपे।

पानी का घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी कुशाओं की जितनी आवश्यकता हो उतनी लाकर रखें और भिक्षा भी प्रतिदिन मांगे।

ब्रह्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वालों के और वेदाध्ययन और

प चमहायज्ञों से जो हीन नहीं अर्थात् जो प्रतिदिन इनका पालन करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के घरों से प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करे। ब्रह्मचारी गुरु के परिवार तथा मित्रों में भी भिक्षा न मांगे, अन्य घरों से यदि भिक्षा न मिले तो पूर्व-पूर्व घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले अर्थात् पहले मित्रों, परिचितों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहां न मिले तो सम्बन्धियों में, वहां भी न मिले तो गुरु के परिवार से भिक्षा मांग सकता है। पूर्व कहे हुए घरों के अभाव में सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले किन्तु अपनी वाणी को प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण में रखता हुआ पापी व्यक्तियों को छोड़ देवे अर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी अवस्था में भिक्षा-याचना के लिए मुँह न खोले। दूरस्थान अर्थात् जंगल आदि से समिधाएं लाकर उन्हें खुले स्थान में रख दें और फिर उनसे आलस्यरहित होकर सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय अग्निहोत्र करे। स्वस्थ होते हुए भी यदि ब्रह्मचारी सात दिन तक बिना भिक्षा मांगे तथा अग्निहोत्र बिना किये रहे तो वह 'अवकीर्णी' नामक प्रायश्चित्त व्रत करे। ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा मांगकर ही खाये, किसी एक ही मनुष्य का अन्न खाने वाला न बने। ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा से वृत्ति चलाने को उपवास के समान ही माना है।

ब्रह्मचारी देवताओं के उद्देश्यों से किए हुए यज्ञ आदि कर्म में व्रत के समान पित कर्म=श्राद्ध आदि में ऋषि के समान आदरपूर्वक बुलाये जाने पर भोजन कर ले, इस प्रकार से इसका व्रत भंग नहीं होता। किन्तु विद्वानों में यह कर्म अर्थात् यज्ञ और श्राद्ध में भोजन करना ब्राह्मण के लिए ही विहित किया है, यह कर्म क्षत्रिय और वैश्य के लिए विहित नहीं किया है।

गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर अथवा बिना प्रेरणा किये भी ब्रह्मचारी प्रतिदिन पढ़ने में और गुरु के हितकारक कार्यों में यत्न करे। ब्रह्मचारी शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों और मन को भी वश में करके अर्थात् सावधान होकर गुरु के सामने देखता हुआ हाथ जोड़कर खड़ा होवे। सदा उद्ध तपाणि रहे अर्थात् ओढ़ने के वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे, ओढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार ओढ़े कि वह दायें हाथ के नीचे से होता हुआ बायें कंधे पर जाकर टिके, जिसे दायां कन्धा और हाथ वस्त्र से बाहर निकला रह जाये। गुरु के द्वारा 'बैठो' ऐसा कहने पर गुरु के सामने उनकी ओर मुख करके बैठे। गुरु के समीप रहते हुए सदा अन्न=भोज्यपदार्थ, वस्त्र और वेशभूषा गुरु से सामान्य रखे और गुरु से पहले जागे तथा बाद में सोये।

प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु की बात या आज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना और संभाषा-बातचीत, ये लेटे हुए न करे, न बैठे-बैठे, न कुछ खाते हुए और न मुँह फेरकर खड़े हुए बातें करे। बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर, खड़े हुए गुरु के सामने जाकर, अपनी ओर आते हुए गुरु से उसकी ओर शीघ्र आगे बढ़कर दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर प्रतिश्रवण और बातचीत करे। गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर और दूर खड़े हों तो पास जाकर, लेटे हों और समीप ही खड़े हों तो विनम्र होकर प्रतिश्रवण और बातचीत करे।

गुरु के समीप रहते हुए इस ब्रह्मचारी का बिस्तर और आसन सदा ही गुरु के आसन से नीचा या साधारण रहना चाहिए और गुरु की आखों के सामने कभी मनमाने आसन में न बैठें। पीछे से भी अपने गुरु का केवल नाम न ले। अर्थात् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'आचार्य', 'गुरु' आदि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, अकेला नाम नहीं और गुरु की चाल, वाणी तथा चेष्टाओं की नकल न उतारे। जहां गुरु की बुराई अथवा निन्दा हो रही हो, अपने कान बन्द कर लेने चाहिए अर्थात् उसे नहीं सुनना चाहिए अथवा उस जगह से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए।

शिष्य अपने गुरु को दूर से नमस्कार न करे, न क्रोध में, जब अपनी स्त्री के पास बैठे हों न उस स्थिति में जाकर अभिवादन करे और यदि शिष्य सवारी पर बैठा हो तो उतरकर अपने गुरु को अभिवादन करे। शिष्य की ओर से गुरु की ओर आने वाली वायु में और उसके विपरीत

अर्थात् गुरु की ओर से शिष्य की ओर आने वाली वायु की दिशा में गुरु के साथ न बैठे तथा जहां गुरु को अच्छी प्रकार से सुनाई न पड़े ऐसे स्थान में कुछ बात न करे।

सामान्यतः ब्रह्मचारी के लिए गुरु के साथ एक आसन पर बैठना निषिद्ध है। किन्तु कुछ स्थितियों में वह बैठ सकता है। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्रह्मचारी बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी पर और महलों अथवा घरों में बिछाये जाने वाले बिछौने और चटाईयों पर तथा पत्थर, तख्ता, नौका पर गुरु के साथ बैठ जाये। गुरु के भी गुरु यदि समीप आ जायें तो उनसे अपने गुरु के समान ही आचरण करे और अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के आने पर गुरु से आदेश पाये बिना अभिवादन करने न जाये।

विद्या पढ़ाने वाले सभी गुरुओं में अपने वंश वाले सभी बड़ों में, और अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी सदैव यही (ऊपर वर्णित) बर्ताव करे। बड़े लोगों में और श्रेष्ठ गुरुपुत्रों में तथा गुरु के रिश्तेदारों में भी सदैव गुरु के समान ही बर्ताव करे। गुरु का पुत्र चाहे छोटा हो अथवा समान आयु वाला हो, अथवा यज्ञकर्म में दीक्षित होकर शिष्य बन चुका हो, वह पढ़ाता हुआ गुरु के समान सम्मान का अधिकारी है। गुरुपुत्र के अंगों को दबाना, नहलाना, झूठा भोजन करना और पैरों को धोना, ये कार्य न करे।

गुरु के अपने वर्ण की पत्नियां गुरु के समान ही पूजनीय हैं और भिन्न वर्ण की गुरुपत्नियों का तो केवल उठने और नमस्कार करने से ही आदर करना चाहिये। गुरुपत्नी के उबटन लगाना, स्नान कराना और शरीर दबाना, बालों को संवारना ये कार्य नहीं करने चाहिए। जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हों ऐसे गुण और दोषों को समझने में समर्थ युवक शिष्य को युवती गुरुपत्नी का चरणों का स्पर्श करके अभिवादन नहीं करना चाहिए। इस संसार में यह स्वाभाविक ही है कि स्त्री-पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण हो जाता है=दोष लग जाता है, इस कारण बुद्धिमान् व्यक्ति स्त्रियों के साथ व्यवहारों में कभी असावधानी नहीं करते अर्थात् ऐसा कोई बर्ताव नहीं करते जिससे सदाचार के मार्ग से भटक जाने की आशंका हो। क्योंकि संसार में स्त्रियां काम और क्रोध के वशीभूत होने वाले अविद्वान् को अथवा विद्वान् व्यक्ति को भी उसके मार्ग से उखाड़ने में अर्थात् उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने में पूर्णतः समर्थ हैं। अच्छा तो यही है कि युवक शिष्य युवती गुरुपत्नियों को 'यह मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए पूर्णविधि के अनुसार भूमि पर झुककर ही अभिवादन करे।

ब्रह्मचारी चाहे मुंडी हो, चाहे जटी हो या शिखी, इस ब्रह्मचारी को ग्राम में रहते सूर्य न तो अस्त हो न कभी उदय हो। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी को रात्रिवास गुरुकुल में ही करना है। अतः भिक्षा आदि कार्यों के लिए उसे ग्राम आदि में सूर्योदय के बाद जाना चाहिए और सूर्यास्त पूर्व लौट आना चाहिए। यदि गुरुकुल में भी उसे इच्छानुसार सोते हुए सूर्य का उदय हो जाये अथवा अनजाने में या प्रमाद के कारण सूर्य अस्त हो जाये तो दिन भर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे=खाना न खाये। जो प्रमाद से सूर्य के अस्त हो जाने पर और सोते-सोते सूर्य उदय होने पर प्रायश्चित्त नहीं करता है वह बड़े अपराध का भागी बनता है। अभिप्राय यह है कि ऐसी अवस्था में उसे बड़ा दोषी माना जायेगा, क्योंकि संध्याकालों में ब्रह्मचारी के लिये परमावश्यक कर्म संध्योपासना है और इस कर्म में प्रमाद करने से ब्रह्मचारी के पापों में फंसने का भय रहता है। ब्रह्मचारी प्रतिदिन प्रातः और सायं दोनों संध्याकालों में शुद्ध स्थान में आचमन करके प्रयत्नपूर्वक एकाग्र होकर यथाविधि परमेश्वर का जप करते हुए उपासना करे।

उत्तमगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह अब्राह्मण गुरु के यहाँ और वेदों में अपारंगत=सांड्गोपाङ्ग वेदों के अध्यापन में असमर्थ ब्राह्मण गुरु के समीप भी आजीवन निवास न करे, क्योंकि इनके पास शिष्य की प्रगति रुक जाती है। सांगोपांग वेदों के ज्ञाता विद्वान्

के पास रहकर ही उन्नति की उत्तम गति तक पहुंच सकता है। यदि ब्रह्मचारी शिष्य गुरुकुल में जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो शरीर छूटने पर्यन्त अपने गुरु की प्रयत्नपूर्वक सेवा करे। जो शरीर के त्याग होने तक अर्थात् मृत्युपर्यन्त गुरु की सेवा करता है, वह विद्वान् व्यक्ति परमात्मा के नित्यपद मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करता है।

विधि का ज्ञाता शिष्य स्नातक बनने अर्थात् समावर्तन कराने की इच्छा होने पर गुरु से आज्ञा प्राप्त करके शक्ति के अनुसार गुरु के लिए दक्षिणा प्रदान करे। किन्तु समावर्तन से पहले गुरु को दक्षिणा या भेंट रूप में कुछ नहीं देना चाहिए। भूमि, सोना, गाय, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, अन्न, वस्त्र अथवा शाक गुरु के लिए प्रीतिपूर्वक दक्षिणा में दे। आचार्य की यदि मृत्यु हो जाये तो गुरुपुत्र में अथवा गुरुपत्नी में अथवा गुरु के वंश वाले योग्य व्यक्ति में गुरु के समान व्यवहार करे। इन गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और सपिण्ड व्यक्ति के विद्यमान न होने पर शिष्य स्नान, आसन तथा अन्य नित्यकर्म करता हुआ अग्निहोत्र करते हुए अपने शरीर को साधे अर्थात् तपस्या से संयमित करे।

७. संस्कार

संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय ओर सुट् का आगम करने पर सिद्ध होता है। इसका अर्थ होता है-सजाना, सँवारना, संस्कार पद का निर्वचन करते हुए विद्वज्जन लिखते हैं :-

‘संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते’

अर्थात् संस्कार पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर सद्गुणों को आधान कर देने का नाम है। मनु ने मनुष्य जीवन में १६ संस्कारों को करने का विधान बतलाया है। मनुष्य के लिए इन संस्कारों को आवश्यक रूप से करने का विधान करते हुए मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपनी सन्तानों के निषेकादि संस्कार अवश्य करें। ये संस्कार इस जन्म तथा परजन्म को पवित्र करने वाले होते हैं।

(१) गर्भाधान संस्कार

ग हस्थ होने पर सन्तान प्राप्ति हेतु बल निषेचन द्वारा गर्भ स्थापना करना गर्भाधान कहलाता है। यह संस्कार यज्ञपूर्वक सम्पन्न होता है।

(२) पुंसवन संस्कार

स्त्री में गर्भाधान के चिह्न की स्थिति लक्षित होने पर दो-तीन मास में पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से यज्ञपूर्वक किया जाने वाला संस्कार है।

(३) सीमन्तोन्नयन संस्कार

गर्भ के चतुर्थ मास में गर्भ स्थिरता, पुष्टि एवं स्त्री के आरोग्य हेतु किया जाने वाला संस्कार। उक्त तीनों संस्कार शिशु जन्म से पूर्व गर्भकाल में सम्पन्न होते हैं।

(४) जातकर्म संस्कार

शिशु जन्म के समय नाभि काटने से पहले बालक का जातकर्म संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में बालक को मन्त्रोच्चारणपूर्वक सोने की शलाका से असमान मात्रा में घी, शहद चटाया जाता है तथा बालक की जिह्वा पर ॐ लिखा जाता है।

(५) नामकरण संस्कार

जन्म से दसवें दिन या बारहवें दिन अथवा किसी शुभमुहूर्त में या शुभ गुण वाले नक्षत्र में इस संस्कार द्वारा बालक का नाम रखा जाता है।

(६) निष्क्रमण

यह जन्म के चौथे मास में किया जाता है। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि शिशु का चौथे महीने में निष्क्रमण संस्कार करना चाहिए अर्थात् पिता के द्वारा शिशु को चौथे महीने में घर से बाहर ले जाकर पूर्णिमा को चन्द्रदर्शन और शुभदिन में सूर्य का दर्शन कराना चाहिए।

(७) अन्नप्राशन

अन्नप्राशन के लिए छटा महीना उपयुक्त माना गया है। मनु का कथन है कि शिशु के छठे महीने में अन्नप्राशन संस्कार कराना चाहिए। तथा अपने कुल की परम्परा के अनुसार शिव, विष्णु आदि देवताओं का दर्शन पूजन आदि शुभकर्म करते हुए शिशु का विभिन्न कलाओं व शिल्पों के प्रतीकों से परिचय कराना चाहिए।

(८) मुण्डन संस्कार या चूडाकर्म संस्कार

चूडा का अर्थ है 'बाल गुच्छ', जो मुण्डित सिर पर रखा जाता है, इसको शिखा भी कहते हैं। अतः चूडाकर्म या चूडाकरण वह कृत्य (संस्कार) है जिसमें जन्म के उपरान्त पहली बार सिर पर एक बाल-गुच्छ अर्थात् शिखा रखी जाती है। इसको मुण्डन संस्कार भी कहते हैं। मनु के अनुसार पहले या तीसरे वर्ष में मुण्डन संस्कार करना चाहिए।

(९) उपनयन संस्कार

उपनयन=उप-समीप, नयन-लेजाना अर्थात् समीप ले जाना- यह 'उपनयन' का अर्थ है। 'उपनयन' शब्द को दो प्रकार से समझा जाता है। प्रथम - शिशु को आचार्य (गुरु) के समीप ले जाना तथा द्वितीय - वह संस्कार जिसके द्वारा शिशु को आचार्य (गुरु) के समीप ले जाया जाता है।

'उपनयन' संस्कार सब संस्कारों में महत्त्वपूर्ण है। यह संस्कार विद्या सीखने वाले शिष्य को गायत्री मन्त्र सिखाकर किया जाता है। इसके लिए उचित अवस्था या काल निर्धारित है। ब्राह्मण कुमार का उपनयन गर्भाधान या जन्म से लेकर छठे वर्ष में, क्षत्रिय का आठवें तथा वैश्य का ११वें वर्ष में किया जाता है। 'उपनयन' संस्कार में 'यज्ञोपवीत' की मूल भूमिका है। इसलिए इसे 'यज्ञोपवीत' संस्कार भी कहा जाता है।

(१०) वेदारम्भ संस्कार

(वेदों का आरम्भ) वेदाध्ययन प्रारम्भ करने के पूर्व जो धार्मिक विधि की जाती है उसको 'वेदारम्भ संस्कार' कहते हैं। इस संस्कार के द्वारा शिष्य चारों वेदों के सांगोपांग अध्ययन के लिए नियम धारण करता है। प्रातः काल शुभमुहूर्त में आचार्य (गुरु) यज्ञादि का सम्पादन कर शिष्य को वैदिक मन्त्रों का अध्ययन आरम्भ कराता है। यह संस्कार उपनयन संस्कार वाले दिन ही या उससे एक वर्ष के अन्दर गुरुकुल में सम्पन्न होता है। वेदों के अध्ययन का आरम्भ गायत्री मन्त्र से किया जाता है।

(११) केशान्त संस्कार

इस संस्कार में सिर के तथा शरीर के अन्य भाग जैसे दाढ़ी आदि के केश बनाए जाते हैं। गुरु के समीप रहते हुए जब बालक विधिवत् शिक्षा ग्रहण करते हुए युवा अवस्था में प्रवेश करता है गुरु उसका केशान्त संस्कार करता है।

(१२) समावर्तन संस्कार

(उपाधि ग्रहण करना) वेद-वेदांगों एवं सम्पूर्ण धर्म शास्त्रों का अध्ययन कर लेने एवं शिक्षा समाप्ति के पश्चात् बालक को स्नातक की उपाधि प्रदान की जाती है। इस संस्कार में गुरु शिष्य को सम्पूर्ण सामग्रियों सहित स्नान करवाता है।

समावर्तन संस्कार के साथ मनुष्य के जीवन का पहला चरण अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त होता

है तथा ग हस्थ आश्रम आरम्भ होता है।

(१३) विवाह संस्कार

मनुस्मृतिकार ने तृतीय अध्याय में लिखा है कि तीन वेदों का, दो वेदों का अथवा एक वेद का अध्ययन पूर्ण करके अविलुप्त ब्रह्मचर्य स्नातक का विवाह संस्कार किया जाना चाहिए।

(१४) वानप्रस्थ संस्कार

केश पक जाने तथा पुत्र का पुत्र उत्पन्न हो जाने पर वानप्रस्थ संस्कार का विधान है।

(१५) संन्यास संस्कार

आयु के अन्तिम भाग में संन्यासी बनने के लिए यह संस्कार किया जाता है।

(१६) अन्त्येष्टि संस्कार

जीवन यात्रा पूरी होने पर किया जाने वाला अन्त्येष्टि संस्कार होता है।

मनुष्य जीवन में उपर्युक्त इन १६ संस्कारों का अत्यन्त महत्त्व है। मनु ने इन संस्कारों को आवश्यक रूप में करने का निर्देश दिया है। इन संस्कारों के करने से मनुष्य के पूर्व जन्म के बुरे कर्मों एवं संस्कारों का निवारण होता है। अतः ये संस्कार अवश्य किए जाने चाहिए।

मनुस्मृति

अध्याय-1

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।

प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

अन्वय - महर्षयः एकाग्रमासीनम् मनुम् अभिगम्य यथान्यायम् प्रतिपूज्य इदं वचनम् अब्रुवन् ।

हिन्दी अर्थ - महर्षि लोग एकाग्रचित्त बैठे हुए मनु के पास जाकर, और उनका यथोचित सत्कार करके यह बोले । १ ॥

मेधातिथि :-

वेदान्तवेद्यतत्त्वाय जगत्त्रितयहेतवे ।

प्रध्वस्ताशेषदोषाय परस्मै ब्रह्मणे नमः ॥१॥

चतुर्भिः पदश्लोकैर्विशिष्टकर्तृत्वमनन्यप्रमाणवेद्यपुरुषार्थोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्य प्रतिपाद्यते प्रतिष्ठार्थम् । प्रतिष्ठिते हि शास्त्रे कर्तृभिः स्वर्गयशसी प्राप्येते यावत्संसारमनपायिनी च भवतः । शास्त्रं च प्रतिष्ठां लभते यदि तत्र केचिदध्ययनश्रवणचिन्तनादिषु प्रवर्तन्ते । न च बुद्धिपूर्वव्यहारिणो ध्ययनादिष्वनवध तप्रयोजनाः प्रवर्तितुमर्हन्ति । अतः पुरुषार्थसिद्धानुपायपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रमारभ्यते इत्येतत्प्रतिपादनार्थं श्लोकचतुष्टयमाचार्यः पपाठ ।

न च वाच्यम्-“अन्तरेणैवादितः प्रयोजनवचनं वक्ष्यमाणशास्त्रपौर्वापर्यपर्यालोचनयैवेदं पर्यवस्यामः किं तत्प्रतिपादनार्थं न यत्नेनेति । किं उक्तमपि प्रयोजनं यावत्परस्तान्नावम ष्टं तावन्न निश्चीयते । न हि सर्वाणि पुरुषवचांस्यर्थं निश्चयनिमित्तम् । न चैषनियमः सर्वत्र प्रयोजनपरिज्ञानपूर्विकैव प्रवृत्तिः, स्वाध्यायाध्ययने तन्निबन्धनायाः प्रवृत्तेर्दर्शनात् । पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते । तथाहि भगवान्पाणिनिरनुक्तवैव प्रयोजनम् ‘अथ’ शब्दानुशासनमिति सूत्रसंदर्भमारभते ।”

अत्रोच्यते । आरम्भे नवध तप्रयोजना नैव प्रथमतो ग्रन्थमुपाददीरन् अनुपादानाच्च कुतः शास्त्रं कात्स्न्येन पर्यालोचयेयुः । किं च पौर्वापर्यपर्यालोचनया यो र्थो बुद्धिगोचरतामावहति स एव त्वादितः संक्षेपेणोच्यमानः सुग्रहो भवति । तदुक्तम् “इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारण” मिति ।

यत्तु-“उक्तमपि न निश्चीयते, पौरुषेयेभ्यो वाक्येभ्यो र्थनिश्चयाभावात् । ‘एवमेवायं पुरुषो वेदेति प्रत्ययो च त्वेवमर्थ इति’ - नात्र विवदामहे निश्चयो स्ति नास्तीति, ग्रन्थगौरवप्रसंगात् । अर्थसंशये पि प्रवृत्तिसिद्धौ नियतविषयसंशयोत्पत्तिर्नान्तरेण प्रयोजनवचनम् । अनुक्ते हि किमिदं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं काकदन्तपरीक्षादिलक्षणरूपं वेत्यपि संशयः स्यात् । अभिहिते तु प्रयोजने यं तावदेवमाह न श्रेयसः पन्थानं दर्शयामीति न च मे प्रवृत्तस्य काचित्क्षतिरस्ति । भवतु, पर्यालोचयामीति प्रवृत्तिसिद्धिः ।

या तु स्वाध्यायाध्ययने प्रवृत्तिः सा चार्यप्रयुक्तस्य, न स्वाधिकारप्रतिपत्त्या । नहि तदानीं बालत्वात्स्वाधिकारं प्रतिपत्तुमुत्सहते । परप्रयुक्त्यैव च प्रवृत्तिसिद्धिः । नाधिकारप्रतिपादनेनापि चावेद्यते । अतस्तत्र प्रवृत्तस्य प्रयोजनमर्थावबोधो तश्च प्रवृत्तिः । इह तु “यो नधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रम” मिति ग हीतवेदस्याध्ययनाधिकारः । तदानीं चाव्युत्पन्नबुद्धित्वात्प्रयोजनमन्विच्छति । भगवतः पुनः पाणिनेरतिसंक्षिप्तानि सूत्राणि । नैवार्थान्तराभिधानपरत्वाशङ्का । तत्र आकुमारं च यशः पाणिनेः प्रख्यातमिति सुप्रसिद्धप्रयोजनत्वादनपुन्यासः । अयं तु विततो ग्रन्थो नेकार्थवादबहुलः सर्वपुरुषार्थोपयोगी । तत्रसुखावबोधार्थं प्रयोजनाभिधाने न किञ्चित्परिहीणम् ।

द्वये च प्रतिपत्तारः - न्यायप्रतिसरणाः प्रसिद्धिप्रतिसरणाश्च । तत्र मनुः “मनुर्वे यत्किंचावदत्तद्भेषज” मिति-“ऋचो यजूषि सामानि मन्त्रा आथर्वणाश्च ये । सप्तर्षिभिस्तु यत्प्रोक्तं तत्सर्वं मनुरब्रवीदि” त्याद्यर्थवादेतिहासपुराणादिभ्यः प्रख्यात-प्रभावः लोके, तत्प्रसिद्धैव वा निरूपतिमूलजातेन प्रजापतिनेतृत्वात्प्रणीतमित्येतावतैव श्रोत्रियाः प्रवर्तन्त इति तान्प्रति कर्तुं विशेषसंबन्धोऽपि प्रवृत्तः । अत एव च प्रश्नप्रतिवचनभङ्ग्या प्रयोजनोपन्यासः । महर्षयः प्रष्टारः प्रजापतिर्वक्ता, धर्मलक्षणश्वार्थो न लोकावगम्यः, शास्त्रैकगोचरो यम् यत्र महर्षयोऽपि संशेरत इति एवंपर आदेशोऽपि-स तैः प ष्ट इति, नाहं प ष्ट इति । तथा त्मनो ब्रह्मणो कृत्रिमप्रतिभत्वं चेत्येवमादिः । तद्व्युत्पादनार्थो युक्तः शास्त्रारम्भ इति श्लोकचतुष्टयस्य तात्पर्यम् ।

यथा चानेन पुरुषार्थोपदेशपरता शास्त्रस्योच्यते तथा पदार्थयोजनात्प्रतिपादयिष्यामः ।

तत्र मनुमभिगम्य महर्षय इदं वचनमब्रुवन् ‘धर्मान्नो वक्तुमर्हसी’ति । स प ष्टः प्रत्युवाच ‘श्रूयता’मिति । एवं प्रश्नप्रतिवचने एकार्थप्रतिपादके तात्पर्येण भवतः । अतो धर्मा अत्र प्रतिपाद्यन्त इत्युक्तं भवति । धर्मशब्दश्च लाके श्रेयःसाधने प्रत्यक्षादिभिलोकिकैः । प्रमाणैः शब्दादितरैरविहिते प्रयुज्यते । अतः स श्रूयतामिति संबन्धे विशिष्टपुरुषार्थसाधनत्वमुक्तं भवति ।

मनुनाम कश्चित्पुरुषविशेषो नेकवेदशाखाध्ययनविज्ञानानुष्ठानसम्पन्नः स्मृतिपरम्पराप्रसिद्धः । तमभिगम्याभिमुख्येन तत्समीपं गत्वा, व्यापारान्तरत्यागेन, न यद च्छया, संगम्य । अनेन चाभिगमनप्रयत्नेन प ष्ट्यमानवस्तुगौरवं वक्तुश्च प्रामाण्यं ख्याप्यते । न ह्यकुशलः प्रतिवचने यत्नेन प ष्ट्यते । आगत्य ।

एकाग्रमासीनमेकाग्रं स्मिथमेकाग्रं सन्तम् । न त्वत्र ब स्याद्युपवेशनमासनम्, अनुपयोगात् । आसनेन स्वस्थव त्तिता लक्ष्यते । तथाभूतः प्रतिवचनसमर्थो भवति । ‘अभिगम्येति’ केवल एव मनुः कर्म । प्रश्नक्रियायास्त्वेकाग्रमासीनमिति विशेषणम् । कुशलप्रश्नानुरूपकथाप्रवृत्त्यादिनैकाग्रमविक्षिप्तमनस्कं ज्ञात्वा प्रश्नश्रवणे दत्तावधानमिदं वचनमब्रुवन् एकाग्रशब्दो रूढ्या निश्चलतामाह । प्रत्याहारेण परिहृतरागादिदोषसंसर्गस्य विकल्पनिवृत्तौ तत्त्वावबोधचिन्तायां मनसः स्थैर्यमेकाग्रता । तथाभूत एव च संनिहितरूपशब्दादिविषयावधारणे योग्यो भवति, न सदसद्विकल्पयुक्तः । अथवा योगतोऽग्रशब्दो मनसि वर्तते, अर्थग्रहणे चक्षुरादिभ्योऽग्रामित्वात् । प्रथमप्रवृत्तियुक्तः पुरः सुरो लोकेऽग्र उच्यते । एकस्मिन् ध्येये ग्राह्ये वा ग्रमस्येति विग्रहः, व्यधिकरणानामपि बहुव्रीहिर्गमकत्वात् । अत्रापि व्याक्षेपनिवृत्तिरेवेकाग्रता ।

प्रतिपूज्य यथान्यायम् । न्यायः शस्त्रविहिता मर्यादा-तानमतिक्रम्य-याद शी शास्त्रेणाभिवादनोपासनादिका गुरोः प्रथमोपसर्पणे पूजा विहिता तथा पूजयित्वा, भक्त्यादरौ दर्शयित्वा ।

महर्षयः । ऋषिर्वेदः तदध्ययनविज्ञानतदर्थानुष्ठानातिशययोगात् पुरुषेप्य षिशब्दः । महान्तश्च ते ऋषयश्च-तेषामेव गुणानामत्यन्तातिशयेन महान्तो भवन्ति । यथा “युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरुणामिति” । अथवा तपोविशेषात् पूजाख्यातिविशेषाद्वा महान्तः ।

इदं वचनमब्रुवन् । उच्यते नेनेति वचनम्-वक्ष्यमाणं द्वितीयश्लोकप्रश्नवाक्यमिति । तदेव प्रत्यासन्नत्वादिदमिति प्रतिनिर्दिशति । येषामपि प्रत्यक्षवस्तुप्रतिनिर्देशक इदंशब्दस्तेषामपि बुद्धिस्थत्वात् प्रश्नस्य प्रत्यक्षता । अथवोच्यते इति वचनं प ष्ट्यमानं वस्तुमब्रुवन् । वाक्यपक्ष इदं वाक्यमुच्चारितवन्तः । कर्मसाधने तु वचनशब्द इदमप च्छन् । द्विकर्मकश्च तदा ब्रू अकथितकर्मणा मनुना । तिस्र णां क्रियाणां मनुः कर्म ॥ १ ॥

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।

अन्तरप्रभावानां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥२॥

अन्वय - भगवन् सर्ववर्णानां अन्तरप्रभावानां च धर्मान् यथावत् अनुपूर्वशः नः वक्तुमर्हसि ।

हिन्दी अर्थ - हे भगवन् ! सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) और ‘अम्बष्ठादि’ अनुलोमज, ‘सूत’ आदि प्रतिलोमज, तथा ‘भूर्जकण्टक’ आदि संकीर्ण जातियों के यथोचित धर्मों को क्रमशः कहने के लिये आप योग्य हैं (अतः उन्हें कहिए) ॥ २ ॥

मेधातिथिः। अभिगम्य प्रतिपूज्य किमब्रुवन्नित्यपेक्षायां द्वितीयः श्लोकः। ऐश्वर्योदार्यशोवीर्यादौ भगशब्दः। सो स्यास्तीति, मनुः तेन संबोधनं **भगवन्निति।** वर्णशब्दश्च तिस्रु ब्राह्मणादिजातिषु वर्तते। सर्वग्रहणं शूद्रावरोधार्थम्। इतरथा महर्षीणां प्रष्ट त्वात् त्रैवर्णिकविषये प्रश्नः कृतः स्यात्। **अन्तरं** तन्मध्यम्। द्वयोर्जात्योः सङ्करादेका प्यपरिपूर्णा जातिः। अन्तरे प्रभव उत्पत्तिर्येषां ते न्तरप्रभवाः अनुलोमप्रतिलोमा मूर्धावसिक्ताम्बुषट्क्षत्त वैदेहकादयः। न हि ते मातापित्रोरन्यतरया पि। जात्या व्यपदेष्टुं युज्यन्ते। यथा रासभाश्वसंयोगजः खरो न रासभो नाश्वो, जात्यन्तरमेव। अतः वर्णग्रहणेनाग्रहणात्पथगुपादीयन्ते।

“नन्वनुलोमा मात जातीया इष्यन्ते।” नेति ब्रूमः। सद शानेव तानाहुरिति मात जातिसद शास्ते न तज्जातीया एव। सो प्येषां धर्मो वाचनिको न वस्तुस्वभावसिद्धः। अतः प्रमाणांतरागोचरत्वाद्धर्मपक्षपतितत्वे शास्त्रोपदेशार्हा एव। प्रतिलोमानामप्यर्हिसादयो धर्मा वक्ष्यन्ते। यत्तु धर्महीना इति तद्व्रतोपवासादिधर्माभावाभिप्रायेण। सर्वपुरुषोपकारिता चानेन शास्त्रस्य प्रदर्शयते।

यथावत्। ‘अर्हत्यर्थे वतिः’ - येन प्रकारेणानुष्ठानमर्हति इदं नित्यमिदं काम्यमिदमङ्गमिदं प्रधानम्। द्रव्यदेशकालकर्त्रादिनियमश्च प्रकारो र्हतेर्विषयः। **अनुपूर्वशः।** अनुपूर्वः क्रमः। येन क्रमेणानुष्ठेयानि सो प्युच्यताम्। “जातकर्मानन्तरं चौडमौ जीनिबन्धनेत्यादि”। यथावदित्यत्र पदार्थविषयं कात्स्न्यमुपात्तम्। क्रमस्तु पदार्थो न भवत्यतः पथगनुपूर्वश इत्युपात्तम्।

धर्मशब्दः कर्तव्याकर्तव्ययोर्विधिप्रतिषेधयोरदष्टार्थयोस्तद्विषयायां च क्रियायां दष्टप्रयोगः। तस्य तु किमुभयं पदार्थ उतान्यत्र गौण इति नायं विचारः क्रियते, ग्रन्थातरे विस्तरेण कृतत्वादिहानुपयोगाच्च। सर्वथा तावत् ‘अष्टकाः कर्तव्याः ‘न कल जं भक्षयेत्’ इत्यादावष्टकाविषया कर्तव्यता प्रतीयते, कल जभक्षणविषयश्च प्रतिषेधः। तदष्टकाख्यं कर्म धर्मस्तद्विषया वा कर्तव्यतेति फले न विशेषः धर्मरूपोपदेशाच्च यत्तद्विपरीतमधर्मो सावित्यर्थात्सिध्यति। अतो धर्माधर्मावुभावपि शास्त्रस्य विषय इत्युक्तं भवति। तत्राष्टकाकरणं धर्मो ब्रह्महत्यादिवर्जनं च धर्मः, अष्टकानामकरणमधर्मो ब्रह्महत्यायाश्च करणमधर्मः - अयं धर्माधर्मयोर्विवेकः।

अर्हसीति सामर्थ्यलक्षणया योग्यतया प्रवचनाधिकारमाचार्यस्याहुः - यतस्त्वं समर्थो धर्मान्वक्तुमतो धिकृतः सन्नध्येष्यसे ब्रूहीति। यो यत्राधिकृतस्तत्तेन कर्तव्यमिति सामर्थ्यगम्यं ब्रूहीत्यध्येषणापदमध्याहियते।। २।।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयम्भुवः।

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो।।३।।

अन्वय - हि प्रभो ! अस्य सर्वस्य अचिन्त्यस्य अप्रमेयस्य स्वयम्भुवः विधानस्य तत्त्वार्थवित् त्वम् एकः।

हिन्दी अर्थ - क्योंकि वेदज्ञ होने से धर्मोपदेश में समर्थ हे विद्वन् ! समस्त जगत के, जिनका चिन्तन से पार नहीं पाया जा सकता अथवा जिनमें असत्य कुछ भी नहीं है, और जिनमें अपरिमित सत्यविद्याओं का वर्णन है, उन स्वयम्भू परमात्मा द्वारा रचित विधानरूप वेदों के कर्तव्यरूप धर्मों या प्रतिपाद्य विषयों के, यथार्थरूप अथवा उनके रहस्यों को जानने वाले एक आप ही हैं अर्थात् इस समय धर्मों के विशेषज्ञ विद्वान् आप ही दष्टिगोचर हो रहे हैं, अतः आप ही उन्हें कहिये।।

विशेष - वेद सब सत्य विद्याओं के विधायक ग्रन्थ हैं, इस प्रकार वे जगत् के विधान रूप अर्थात् संविधान हैं। महर्षि लोग प्रशंसापूर्वक मनु से कह रहे हैं कि उन विधानरूप वेदों में कौन-कौन से करने योग्य कार्य अर्थात् कर्तव्यरूप धर्म विहित हैं, उन्हें भलीभांति समझने वाले विशेषज्ञ विद्वान् आप हैं, अतः हमें वर्णों और आश्रमों के धर्मों को बतलाइये।

कुछ विद्वानों की दष्टि में इस श्लोक का अर्थ किंचित भिन्न है। यथा - क्योंकि हे प्रभो ! एक आप ही इस सम्पूर्ण अपौरुषेय, अचिन्त्य तथा अप्रमेय वेद के अग्निष्टौमादि यज्ञकार्य ओर ब्रह्म के जानने वाले हैं।। ३।।

मेधातिथिः। “उक्तमद प्तार्थे व्यापारमात्रे धर्मशब्दो वर्तते। तत्र यथा ष्टकादौ तस्य प्रयोग एवं चैत्यवन्दनादावपीति तत्र कतमे धर्मा अत्रोच्यन्त” इति संशये धर्मविशेषप्रतिपादनार्थमुक्तसामर्थ्यप्रतिपादनार्थं च ‘त्वमेक इति’। **त्वमेवैको सहायो द्वितीयः। सर्वस्य विधानस्य कार्यतत्त्वार्थवित्। विधानं** शास्त्रं विधीयन्ते नेन कर्माणीति। तस्य स्वम्भुवो नित्यस्याकृतकस्यापौरुषेयस्य वेदाख्यस्य। **सर्वस्य** प्रत्यक्षाक्षरस्यानुमेयाक्षरस्य च। अग्निहोत्रं जुहुयादं सहस्रमानव इत्येतया आहवनीयमुपतिष्ठते इति प्रत्यक्ष एव वेदो यं होमं विधत्ते। एतयेति च त तीयया प्रत्यक्षस्यैव मन्त्रस्याहवनीयोपस्थाने विनियोगः। ‘अष्टकाः कर्तव्या’ इत्यत्र तु स्म त्पानुमीयते वेदः। ‘बर्हिर्देवसदनं दामिति’ लिङ्गादनेन बर्हिर्लुनातीति श्रुतेरनुमानम्। अयं हि मन्त्रो दर्शपूर्णमासप्रकरणे पठितो बर्हिर्लवनं च तत्राम्नातम्। अनेन मन्त्रेण लुनीयात् इत्येतत्तु नास्ति। मन्त्रः पुनारूपाद्वर्हिर्लवनप्रकाशनसमर्थः। प्रकरणात्सामान्यतः सिद्धो दर्शपूर्णमाससंबन्धः। स्वसामर्थ्येन तु बर्हिर्लवने प्रयुज्यते। एषा ह्यत्र प्रतीतिः। प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासावनेन मन्त्रेण कुर्यात्-कथमिति-यथा शक्नुयादित्यनुक्ता पि शक्तिः सर्वत्र सहकारिणी। किं च शक्नोति मन्त्रः कर्तुम् बर्हिर्लवनं प्रकाशयितुम्। ततः प्रकरणात् स्वसामर्थ्याच्चानेन मन्त्रेण बर्हिर्लुनातीति बुद्धौ शब्द आगच्छति। सविकल्पकविज्ञानैः पूर्वं शब्दः प्रतीयत इति। स बुद्धिस्थः शब्दो नुमेयो वेद उच्यते। वेदत्वं च तस्य दर्शपूर्णमासवाक्यमन्त्रवाक्याभ्यां श्रुत्यन्तराभ्यां स्वसामर्थ्येनोत्थापितत्वादिति कुमारलिपक्षः।

अथवा विधिर्विधानमनुष्ठानं प्रयोजनसंपत्तिः। तस्य स्वयम्भुवो नित्यस्यानादिपरम्परायातस्य, स्वयम्भुवा वेदेन वा प्रतिपाद्यस्य, सर्वस्य श्रूयमाणाक्षरप्रतिपाद्यस्य प्रतिपन्नार्थसामर्थ्यगम्यस्य च। द्विविधो हि वैदिको विधिः। कश्चित्साक्षाच्छब्दप्रतिपाद्यः। यथा ‘सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकाम’ इति सौर्यचरौ ब्रह्मवर्चसकामो धिक्रियते। कश्चित् शब्दप्रतिपन्नार्थसामर्थ्यगम्यः यथा तस्य चरोर्ब्रह्मवर्चसं साध्यत इयमितिकर्तव्यता आग्नेयवदित्यवगम्यते। उभयत्रापि चेयं प्रतीतिः शब्दावगममूलत्वाम् शाब्दी एव। उभावपि शब्दादभिधानतः प्रतीयेते, तथा चाभिधेयप्रतिपत्तिः विशेषस्तु व्यवधानादिकृतो न शाब्दतां विहन्ति यथा वापीस्थमुदकं हस्तेनाभिहतं प्रदेशान्तरमभिहन्ति तदपि हस्तसंयोगेनैवाभिहतं भवति, न तु साक्षात्। शर्कराणां रेचककर्मण्याद्यप्रयत्नकृता एवोत्प्लुत्योत्प्लुत्य पाताः। ताद शमेतत्। वैकृते कर्मणि विशिष्टेतिर्कृतव्यतासम्बन्धः। एवं विश्वजिता यजेतेत्युत्पत्तिर्नाधिकारशून्या स्तीति स्वर्गकाम इत्यधिकारावगतिः प्रतिपन्नार्थसामर्थ्यगम्या। अतो द्वैरूप्यं विधानस्य सर्वस्येति पदम्। सर्वस्य तात्पर्यमवरूपम्-वेदमूलाः स्म तय इति ज्ञापयितुम्। द्वितीये चैतद्दर्शयिष्यामः।

ननु लिङ्दिप्रतिपाद्यो र्थः कर्तव्यतारूपो विधिः। स च सर्वत्र प्रत्यक्षशब्दप्रतिपाद्य एव। तत्र किमुच्यते द्विविधो हि वैदिको विधिरिति। निर्वपेदिति कर्तव्यता वगम्यते। इतिकर्तव्यता र्थसामर्थ्यगम्या उक्तेन प्रकारेण।

नैष दोषः। निर्वपेद्यजेतेति न केवले धात्वर्थविषयत्वे वगते परिपूर्णा कर्तव्यता भवति यावदंशान्तराण्यधिकारेतिकर्तव्यताप्रयोगरूपाणि नावगतानि। एतैरंशैर्विततरूपो विधिः प्रतीयते। अतो शरूपाण्यपि विधिशाब्दाभिलष्यतया न विरुद्धानि।

एतदेवाह-**अचिन्त्यस्येति**। अप्रत्यक्षस्येत्यर्थः। प्रत्यक्षं ह्यनुभूयत इत्युच्यते, न चिन्त्यते इति, न स्मर्यत इति। **अप्रमेयस्य** कल्पस्य, प्रायशः स्म तिवाक्यमूलस्य। न हि प्रत्यक्षेण प्रमीयते। अतो प्रमेयस्येत्युच्यते। अथवा प्रमेयस्येत्यतया परिमातुमशक्यस्यातिमहत्त्वात्। अनेकशाखाभेदभिन्नो वेदो न शक्यते सर्वैः प्रमातुम्। अत एवाचिन्त्यस्य। यदतिबहु तद्दुर्ग्रहत्वादचिन्त्यमित्युच्यते। यथा च लोके वक्तारो भवन्ति, ‘अन्येषां का गतिः ? चिन्तयितुमप्येतन्न युज्यत’ इति। मनः किल सर्वविषयम्, अयं चातिमहत्त्वात्स्यापि न विषय इति। पदद्वयेन बाह्यान्तःकरणाविषयतया महत्त्वस्य ख्यापनेनाचार्यः प्रोत्साह्यते। त्वयैव केवलेनैवंविधो वेद आगमितो तस्तस्य यः कार्यरूपस्तत्त्वार्थस्तं वेत्सि जानीषे। कार्यमनुष्ठेयमुच्यते। यत्र पुरुषो नुष्ठात त्वेन विनियुज्यते-इदं त्वया कर्तव्यमिदं त्वया न कर्तव्यमिति-अग्निहोत्रादि कर्तव्यम् कल जभक्षणादि न कर्तव्यम्। प्रतिषेधो प्यनुष्ठानमेव। यद्ब्राह्मणवधस्यानुष्ठानं तदेव प्रतिषेधस्यानुष्ठानम्। प्रव त्तिश्च क्रिया निव त्तिश्च क्रियेति। न हि

परिस्पन्दमानसाधनसाध्यमेवानुष्ठानमुच्यते, किं तर्हि प्राप्ते तद्रूपे तन्निव त्तिरपि। यथा 'हितसेवी चिरायुरिति' यः प्राप्ते काले भुङ्क्ते प्राप्ते न भुङ्क्ते। अभोजनमपि हितमेव।

अथवा कार्यशब्दः प्रदर्शनार्थो विधेः प्रतिषेधस्य च। एतावदे वेदस्त्रय तत्त्वरूपः पारमार्थिको र्थः। यस्तित्त्वव त्तसंवर्णनरूपः "सो रोदीघरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व" मिति स न तत्त्वार्थः, विध्यन्तरेणैकवाक्यत्वात्प्रशांसापरत्वेन स्वार्थनिष्ठत्वाभावात्। अस्ति ह्यत्र विध्यन्तरम् 'तस्माद्धर्षिषि रजतं न देय'मिति। 'सो रोदीति' त्यादीनि 'पुरा स्य संवत्सराद् ग हे रोदनं भवती' त्यन्तानि तदेकवाक्यतापन्नानि बर्हिषि रजतदाननिन्दया तत्प्रतिषेधं स्तुवन्ति। तदुक्तं 'साध्ये र्थे वेदः प्रमाणं, न सिद्धरूपे'। अर्थवादानां हि सिद्धरूपो र्थः। न हि तदर्थस्य कर्तव्यता प्रतीयते। विध्युपदेशेपरत्वं च प्रतीयते। यदि च स्वार्थपरा अपि स्युस्तदा विधिपरत्वं व्याह्रयेत्। ततश्च प्रतीयमानैकवाक्यता बाध्येत। न च सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न्याय्यः। न च साध्यस्य सिद्धार्थपरत्वेनैकवाक्यता घटते। तदाहि न किञ्चिद्वेदेनोपदिश्यते। कर्तव्यम्। अतश्चाप्रमाणमेव वेदः स्यात्। विध्यर्थता चावगम्यमाना लिङ्गादीनां त्यक्ता स्यात्। तस्मात्कार्यरूपो वेदस्य तत्त्वार्थ इति मनुर्भगवानाह। जैमिनिना प्युक्तम् कार्ये र्थे वेदः प्रमाणम् 'चोदनालक्षणो र्थो धर्म' इति।

अतश्च निरवशेषपदार्थपरिज्ञानातिशययोगाद्धर्मप्रवचनसामर्थ्यं सिद्धवदुपादाय प्रभो इत्यामन्त्रणम्-हे प्रभो धर्माभिधानशक्त त्वमनुब्रूहि धर्मानिति। एवमनया त्रिश्लोक्या धर्मान् प ष्ट उत्तरेण श्लोकेन प्रतिजज्ञे।।३।।

सः तैः प ष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।

प्रत्युवाचार्यतान्सर्वान्महर्षीं च्छ्रूयतामिति।। ४।।

अन्वय - तैः महात्मभिः तथा सम्यक् प ष्टः सः अमितौजाः तान् सर्वान् महर्षीन् आर्च्यं श्रूयताम् इति प्रत्युवाच।

हिन्दी अर्थ - उन महर्षि लोगों द्वारा भलीभांति श्रद्धासत्कारपूर्वक उपर्युक्त प्रकार से पूछे जाने पर, वह अत्यधिक ज्ञानसम्पन्न महर्षि मनु उन सब महर्षियों का यथाविधि सत्कार करके 'सुनिए' ऐसा बोले।।४।।

मेधातिथिः। स मनुर्मितौजास्तेर्महर्षिभिर्महात्मभिः प ष्टस्तथा तान् प्रत्युवाच श्रूयतामिति। तथा तेन प्रागुक्तेन प्रकारेण। प च्छ्यमानवस्तुप्रश्नविधिश्च प्रकारवचने तथाशब्दे न्तर्भूतः। तेनार्थस्तथा प ष्टस्तान् धर्मान् प ष्टः प्रत्युवाच। अथवा तथेति प्रकारमात्रमाचष्टे। प ष्ट इति पूर्वश्लोकात्प च्छ्यमानवशिषो बुद्धौ विपरिवर्तत एव। तेन यत्प ष्टस्तत्प्रत्युवाच। 'श्रूयतामिति' प्रश्नप्रतिवचनयोरेककर्मता सिद्धा भवति। तदा च तथाशब्दः श्लोकपूर्णात्। आद्ये तु व्याख्याने तथाशब्दोपात्तैव प्रश्नप्रतिवचनयोरेककर्मता। सम्यक्शब्दः प्रतिवचनविशेषमणम्। सम्यक् प्रत्युवाच। प्रसन्नेन मनसा न क्रोधादियोगेन। अमितौजा अक्षीणवाग्विभवः। अमितमनन्तमोजो वीर्यमभिधानसामर्थ्यमस्येति। महात्मतया महर्षीणां धर्मपुष्टत्वं महर्षित्वं चाविरुद्धमित्याह महर्षीनिति। 'परोपकारी सततं महात्मे' त्युच्यते। तेन यद्यपि स्वयं विद्वान्सो धिगतयाथातथ्याः-अन्यथा महर्षित्वानुपपत्तेः-तथापि परार्थमप च्छन्। मनुः प्रख्याततरप्रमाणभावः। एतेन यदुच्यते तल्लोकेनाद्रियते। प्रत्ययतो यं समुपास्यते तः शास्त्रावतारार्थमुपाध्यायीकुर्मः। अस्माभिश्च प च्छ्यमानः प्रमाणतरीकरिष्यते जनेनेति। अत एवाच्यं तान् सर्वानित्यर्चनमविरुद्धम्। अन्यथा शिष्यस्योपाध्यायात्कीद श्यर्चेति। अर्चयतेराङ्पूर्वस्य त्यबन्तस्य रूपमार्च्येति। पाठान्तरम् 'अर्चयित्वा तातिति'।

अत्र यदुच्यते "यदि मनुना यं ग्रन्थः कृतः परापदेशो न युक्तः-स तैः प ष्टः प्रत्युवाचेति। 'अहं प ष्टः प्रत्यब्रुवामिति' न्याय्यम्। अथान्य एव ग्रन्थस्य कर्ता मानवव्यपदेशः कथमिति"-तदचोद्यम्। प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परापदेशेन ब्रुवते-'अत्राह' 'अत्र परिहरन्तीति', नैवम 'हं तैः प ष्ट इति'। यो यः पूर्वतरः स स प्रमाणतरो लोकेनाभ्युपगम्यते-'तत्प्रमाणं वादरायणस्येति'। अथवा भ गुप्रोक्ता संहितेयम्। मानवी तु स्म तिरुपनिबद्धेति मानवव्यपदेशः। प्रत्युवाच तान् महर्षीन्। किं तत्। यदहं प ष्टस्तत् श्रूयतामिति।। ४।।

आसीदिवं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ ५॥

अन्वय - इदम् तमोभूतम् अविज्ञेयम् अप्रतर्क्यम् अलक्षणम् अप्रज्ञानम् सर्वतः प्रसुप्तम् इव (आसीत्)।

हिन्दी अर्थ - यह सब जगत् सृष्टि के पहले प्रलय में अन्धकार से आवृत=आच्छादित था।उस समय न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य सब ओर सोया हुआ सा पड़ा था॥ ५॥

विशेष - इस श्लोक में मनुस्मृतिकार सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था का वर्णन कर रहे हैं। यह वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के "तमः आसीत्तमसा गूढमग्रे" इत्यादि मन्त्र के वर्णन से मेल खाता है।

मेधातिथिः। "क्व अस्ताः क्व निपतिताः। शास्त्रोक्तनिपतितधिर्मान् पृष्टस्तानेव वक्तव्यतया प्रतिज्ञाय जगतो व्याकृतावस्था- वर्णनमप्रकृतपुरुषार्थं च। सो यं सत्यो जनप्रवादः 'आम्नान् पृष्टः कोविदारानाचष्ट' इति। न चास्मिन् वस्तुनि प्रमाणं न च प्रयोजनमित्यतः सर्व एवायमध्यायो नाध्येतव्यः।

उच्यते। शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वमनेन सर्वेण प्रतिपाद्यते। ब्राह्मणाः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यते। 'तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुनेति' (श्लोः ४६)। वष्यति च-'एता दृष्ट्वा तु जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा। धर्मतो धर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मन' इति (अ० १२ श्लोक २३)॥ ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतव्यमित्यध्यायतात्पर्यम्।

मूलं त्वत्र मन्त्रार्थवादाः सामान्यतो दृष्टं च। तथा च मन्त्रः। "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकृतं सलिलं सर्वमा इदम् तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्"। (ऋग्वेद १०।१२६।३)। चन्द्रार्कान्यादिषु बाह्याध्यात्मिकेषु महाप्रलये प्रकाशकेषु नष्टेषु तम एव केवलमासीत्। तदपि तमः स्थूलरूपतमसा गूढं संव तम्। न हि तदानीं कश्चिदपि ज्ञाता स्ति। अतो ज्ञातुरभावात् कस्यचित् ज्ञानमस्तीतीतमसा गूढमुच्यते। अग्रे भूतस पृष्टः प्राक् अप्रकृतमज्ञातं सर्व आः आसीत्। इदं सलिलं सरणधर्मकम्, क्रियावत् यत्किञ्चिच्चेष्टावत्तत्सर्वं निश्चेष्टमासीत्। तुच्छेन सूक्ष्मेणाभु स्थूलमपिहितं प्रकृत्यात्मनि विशेषरूपं लीनमित्यर्थः। एतावता व्याकृतावस्था जगतो द्योतिता। चतुर्थेन पादेनाद्या स पृथ्वरथोच्यते। तपसस्तन्महिना महत्त्वेन एकं यदासीत्तदजायत विशेषात्मना भिव्यज्यते स्म। कर्मवशात्पुनः प्रादुर्बभूवेत्यर्थः। अथवा तस्यामवस्थायां तपसःकर्मणो महत्त्वेन हिरण्यगर्भात्मना जायत प्रादुरासीत्। यथा वक्ष्यति ततः स्वयंभूतिति (श्लोक० ६)।

सामान्यतो दृष्टेन महाप्रलयोऽपि संभाव्यते। यस्य ह्येकदेशे नाशे दृष्टस्तस्य सर्वस्यापि नाशो दृश्यते। यथा शालाऽपि क्वचिद्दह्यमाना दृष्टा कदाचित्सर्वो ग्रामो दह्यते। ये च कर्तृपूर्वा भावास्ते सर्वे विनश्वरा ग ह्यप्रासादादयः। कर्तृपूर्वं चेदं जगत्सरित्समुद्रशैलाद्यात्मकम्। अतो ग हादिवन्नङ्क्ष्यतीति संभाव्यते। "कर्तृपूर्वतैव न सिद्धेति" चेत्तन्निवेशविशेषवत्त्वादिना ग हादिवत्साऽपि साध्यत इत्यादि सामान्यतो दृष्टम्।

न च प्रमाणशुद्धौ तद्दूषणे वा प्रयतामहे निदं परत्वाच्छास्त्रस्य। एतद्धि यावन्न विचार्य निरूपितं तावन्नसम्यगवर्धायते। तथानिरूपणे च तर्कशास्त्रता स्यान्न धर्मशास्त्रता ग्रन्थविस्तरश्च प्रसज्यते। प्रक्रियाबहुलं चेदं सर्वमुपन्यसिष्यते। क्वचित्पौराणि प्रक्रिया, क्वचित्सांख्यानाम्। न तथा ज्ञातया ज्ञातया वा कश्चिद्धर्मधर्मायोर्विशेष इति निपुणतया न निरूप्यते। अर्थिता चेत्तत एवान्वेष्या। पदार्थयोजनाव्याख्यानमात्रं त्वध्यायस्योपदिश्यते तदेव करिष्यामः। तात्पर्यमुपदर्शितमेव।

आसीदिवं जगत्तमोभूतं तम इव। भूतशब्दो नेकार्थो ह्युपमायां प्रयुक्तः। यथा 'यत्तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्द इति' सामान्यभूतं इति सामान्यमिवेत्यर्थः। किं तमसा जगतः

साद श्यमत आह अपज्ञातम्। विशेषाणां स्वभावानां विकारणां प्रकृतावुपलयनादतः प्रत्यक्षेणाज्ञातम्। अनुमानात्तर्हि। ज्ञायेत, तदपि नालक्षणम्। लक्षणं लिङ्गं चिह्नं, तदपि तस्यामवस्थायां प्रलीनमेव, सर्वविकाराणां विशेषात्मना विनष्टत्वात्। अप्रतर्क्यम्। यद्रूपमासीत्तर्कयितुमपि न तद्रूपतया शक्यम्। सर्वप्रकारमनुमानं निषेधति। न सामान्यतो दष्टमनुमानमस्ति तद्रूपकावेदकं न विशेषतो दष्टमतश्चाविज्ञेयम्। नैव तर्ह्यासीदसदेवाजायतेति प्राप्तमेतन्निषेधति प्रसुप्तमिव सर्वतः। नासतः सत उत्पत्तिः। उक्तं च 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् कथमसतः सज्जायेते' त्याद्युपनिषत्सु। अतश्चाविज्ञेयमवच्छेदविषयैः प्रमाणैः। आगमात्ताद शादेव गम्यते। प्रसुप्तमिव जाग्रत्स्वप्नवतां परित्यज्य संप्रसादावस्था सुषुप्तिदष्टान्तत्वेनोपात्ता। यथा अयमात्मा सुषुप्त्यवस्थायां निःसंबोधक्लेशः प्रध्वस्ताशेषविकल्प आस्ते, न च नास्तीति शक्यते वक्तुं, प्रबद्धस्य सुखमस्वाप्समिति प्रत्यभिज्ञानदर्शनात्, एवं जगदागमात्सिद्धार्थरूपादाभासानुमानेभ्यश्च तार्किकाणामवसीयते। आसीदिति। वर्तमाना तु सा वस्था न कस्यचित् विज्ञेयेत्यत उक्तमविज्ञेयम्। सर्वतो नैकदेशप्रलय इत्यर्थः॥ ५॥

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यजयन्नित्तम्।

महाभूतादिव तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥ ६॥

अन्वय - ततः स्वयम्भूः अव्यक्तः तमोनुदः महाभूतादि व तौजाःऽभगवान् इदं व्यजयन् प्रादुरासीत्।

हिन्दी अर्थ - तब अपने कार्यों को करने में स्वयं समर्थ, किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला स्थूल रूप में प्रकट न होने वाला 'तम' रूप प्रकृति का प्रेरक=प्रकटावस्था की ओर उन्मुख करने वाला अग्नि, वायु आदि महाभूतों को भी उत्पन्न करने की महान् शक्ति वाला परमात्मा इस समस्त संसार को प्रकटावस्था में लाते हुए ही प्रकट हुआ॥ ६॥

विशेष - प्राचीन व्याख्याकार इस पद्य का किंचित भिन्न प्रकार से अर्थ करते हैं। यथा- तब स्वयम्भू (स्वेच्छा से शरीर धारण करने वाले) अव्यक्त=इन्द्रियों के अगोचर (नेत्रआदि इन्द्रियों से नहीं किन्तु योग से प्रत्यक्ष होने योग्य), अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले (प्रकृति प्रेरक), भगवान् आकाश आदि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए॥६॥

मेघातिथिः। तस्या महारात्र्या अनन्तरम्। स्वयं भवतीति स्वयंभूः। स्वेच्छया कृतशरीरपरिग्रहो, न संसार्यात्मवत्कर्मपरतन्त्रं शरीरग्रहणमस्य। अव्यक्तो ध्यानयोगाभ्यासभावनावर्जितानामप्रकाशः। अथवा 'अव्यक्तमिदमि' त्वेवं पठितव्यम्। इदमव्यक्तावस्थम् व्यजयन् स्थूलरूपैर्विकारैः प्रकाशमानयन्। यदिच्छया पुनर्जगत्प्रादुर्भवति। प्रादुरासीत्। प्रादुःशब्दः प्राकाश्ये। तमोनुदः। तमो महाप्रलयावस्था तां नुदति विनाशयति पुनर्जगत्स जत्यतस्तमोनुदः। महाभूतजानि पथिव्यादीनि। आदिग्रहणात्तद्गुणाः शब्दादयो गह्यन्ते। तेषु वत्तं प्राप्तमोजो वीर्यं सष्टिसामर्थ्यं यस्य स एवमुक्तः स्वयमसमर्थानि महाभूतानि जगन्निरवर्तयितुम्। यदा तु तेन तत्र शक्तितराधीयते तदा वक्षाद्यात्मना विक्रियन्त। न तु प्रकृतितशक्त्यवस्थानि प्रकृतिरूपापन्नानि महाभूतानि जगत्सर्गादौ महाभूतशब्देनाभिप्रेतानि। पाठान्तरं 'महाभूतानुव तौजा' इति। अनुव तमनुगतमिति प्रागुक्त एवार्थः॥ ६॥

यो सावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मो व्यक्तः सनातनः।

सर्वभूतमयो चिन्त्यः स एष स्वयमुद्बभौ॥ ७॥

अन्वय - यः असौ अतीन्द्रिय सूक्ष्मः अव्यक्तः सनातनः सर्वभूतमयः अचिन्त्यः स एव स्वयं उद्बभौ।

हिन्दी अर्थ - वह आत्मा के द्वारा अनुभव किया जा सकने वाला सूक्ष्मरूप अव्यक्त नित्य सब प्राणियों का आश्रयस्थान और चिंतन द्वारा पार न पाया जा सकने वाला है वही पहले स्वयं प्रकट हुआ॥ ७॥

मेघातिथिः। यो साविति। सर्वनामभ्यां सामान्यतः प्रसिद्धमिवं परं ब्रह्मोद्दिशति। यो सौ वेदान्तेष्वन्यासु चाध्यात्मविद्यास्वितहासपुराणेषु च प्रसिद्धो वक्ष्यमाणैर्धर्मैः स एष प्रादुरासीदित्यत्रोक्तः। स्वयमुद्बभौभावुद्भूतः शरीरग्रहणं कृतवान्। भातिरनेकार्थत्वादुद्भवे वर्तते। अथवा दीप्त्यर्थ एव।

स्वयम्प्रकाश आसीन्नादित्याद्यालोकापेक्षः। इन्द्रियाणामततीतो तीन्द्रियम्। अव्ययीभावः। अतीन्द्रियग्राह्यः सुप्सुपेति समासः। इन्द्रियाण्यतिक्रम्य ग ह्यते, न कदाचिदिन्द्रियस्य गोचरः। अन्यदेव तद्योगजज्ञानं येन ग ह्यते। अथवेन्द्रियाण्यतिक्रान्तमतीन्द्रियं मन उच्यते। परोक्षत्वादिन्द्रियाणामविषयः। तथा च वैशेषिकाः 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो। लिङ्ग'मित्यानुमानिकत्वं मनस प्रतिपन्नाः। (न्यायसूत्र १।१।१६)। तेन ग ह्यते। तथा च भगवान्यासः-'नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न तु शिष्टैरपीन्द्रियैः। मनसा तु प्रसन्नेन ग ह्यते सूक्ष्मदर्शिभिरिति'।। 'प्रसन्नेन' रागादिदोषैरकलुषितेन तदुपासनापरत्वेन लब्धसूक्ष्मदर्शनशक्तिभिः। सूक्ष्म इव सूक्ष्मो गुः। न ह्यसावणुस्थूलादिविकल्पानामाश्रयः। सर्वविकल्पातीतो ह्यसौ। उक्तं च 'यः सर्वपरिकल्पानामाभासे प्यनवस्थितः।

तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः।

व्यतीतो भेदसंसर्गाद्भवाभावौ क्रमाक्रमौ।

सत्यान ते च विश्वात्मा स विवेकात्प्रकाशत इति'।

सूक्ष्मत्वादव्यक्तः सनातनो व्यक्तस्वाभाविकेनानादिनिधनेनैश्वर्येण युक्तः। येषामपि कर्मप्राप्यं हैरण्यगर्भं पदं तन्मते पि सनातनत्वं सत्यप्यादिमत्त्वे न्तवत्त्वात्वाभावात्। न हि स्वर्गादिफलभोक्त त्वावस्था कदाचिदपैति।

सर्वाणि भूतानि मया स्रष्टाव्यानीत्येवंभावितचित्तो भूतात्मा एवं सम्पन्नः सर्वभूतमय इत्युच्यते। यथा म ण्मयो घटो म द्विकारत्वान्म दिभरारब्धशरीर एवं यः कश्चित्किचिदत्यन्तं भावयति स तन्मय इत्युपचारादुच्यते। यथा स्त्रीमयो यं पुरुषः, ऋद्धमयो, यजुर्मय इति। अथवा द्वैतदर्शने नैव चेतनाचेतनानि भूतानि प थक्त्वेन सन्ति, तस्यैवायं विवर्तः, अतो विवर्तानां भूतमयत्वात्तैश्च तस्याभेदाद्युक्तमेव तन्मयत्वम्। "कथं पुनरेकस्य नानारूपविवर्तितोपपत्तिरेकत्वाद्विरोधिनी उच्यते"। एवमाहुर्विवर्तवादिनः-यथा समुद्राद्वायुना भिहता ऊर्मयः समुत्तिष्ठन्ति, ते च न ततो भिद्यन्ते नापि लिप्यन्ते, सर्वथा भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्याः, एवमयं ब्राह्मणो विश्वविवर्तः।

अपिशब्दश्चात्र द्रष्टव्यः। स्वरूपे स्थितो ग्राह्यो विवर्तावस्थायामिन्द्रियग्राह्यः। एवं सूक्ष्मः, अपिशब्दात् स्थूलावस्थायां स्थूलः। अव्यक्तो व्यक्तश्च। शाश्वतो शाश्व तश्च। भूतमयस्तद्रूपरहितश्च। विवर्तावस्थाभेदेनैव व्याख्येयम्।

अचिन्त्यः आश्चर्यरूपः, सर्वविलक्षणया शक्त्या योगात्॥ ७॥

सो भिध्याय शरीरात्स्वात्सिस क्षुर्विविधाः प्रजाः।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवास जत्॥ ८॥

अन्वय - स्वात् शरीरात् विविधाः प्रजाः सिस क्षुः स अभिध्याय आदौ अप एव ससर्ज तासु बीजम् अवास जत्।

हिन्दी अर्थ - अपने शरीर=प्रकृति से अनेक प्रकार की प्रजाओं स ष्टि करने की इच्छा वाले उस परमात्मा ने ध्यान करके पहले अप-तत्व को ही रचा, और फिर उन अप-तत्वों में शक्तिरूपी बीज को छोड़ा॥ ८॥

मेधातिथिः। स पूर्वनिर्दिष्टविशेषणैः "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" इत्यादिभिर्मन्त्रैर्लब्धहिरण्यगर्भभिधानः। प्रजाः विविधा नानारूपाः सिस क्षुः स्रष्टुमिच्छन् अपः उदकम् आदौ प्रथमं ससर्जात्पादितवान्। शरीरात् स्वात्-यत्नेन ग हीतं शरीरम्। अद्वैतदर्शने प्रधानमेव तस्येदं शरीरं, तदिच्छानुवर्तित्वात् स्वतः शरीरनिर्माणहेतुत्वाच्च। सर्वलोकानां शरीरं किं भौतिकेन व्यापारेण कुद्दालखननादिना ससर्ज। नेत्याह। कथं तर्हि। अभिध्याय। 'आप उत्पद्यन्ताम्' एवमिच्छामात्रेण। अत्रेत्यं चोद्यते-"प थिव्यादीनां तदानीमभावादपां स ष्टानां क आधारः।" अन्येभ्य इदमुच्यते। स्रष्टुरपि परमेश्वरस्य ग हीतशरीरस्य क आधार इत्यपि वाच्यम्। अथ विलक्षणैश्वर्यातिशययोगादन्यैव सा कत'शक्तिरसंचोद्या, प्रकृतधर्मसामान्येनेत्येवमेष्वपि द्रष्टव्यम्। तासु वीर्यं शुक्रमवास जत् न्यषि चत्॥ ८॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।

तस्मि जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ ६॥

अन्वय - तत् सहस्रांशुसमप्रभम् हैमम् अण्डम् अभवत् तस्मिन् सर्वलोकपितामहः ब्रह्मा स्वयं जज्ञे।

हिन्दी अर्थ - फिर वह बीज हजारों सूर्यों की ज्योति के समान सुनहरी अण्डे के रूप में परिणत हो गया फिर उसमें सब लोगों के पितामह के समान ब्रह्मा अपने आप उत्पन्न हुए॥ ६ ॥

मेधातिथिः। प्रथमं प्रधानं सर्वतोभवं म द्रूपं सम्पद्यते। हिरण्यगर्भवीर्यसंयोगात्काठिन्यं प्रतिपद्यते। तदण्डं समभवदित्युच्यते। हेमन् इदं हैमं स्वर्णमयमित्यर्थः। अंशुसामान्यात्तस्य सुवर्णमयता। “ननु चागमिको यमर्थः, न चात्र इवशब्दः श्रूयते, तत्र कथमुपचारतो व्याख्यानमसति प्रमाणान्तरे।” उच्यते। वक्ष्यति-‘ताभ्यां स शकलाभ्यां तु दिवं भूमिं च निर्ममे’ इति। इयं च भूमिमर्ण्मयी न सर्वतः सुवर्णमयीत्यत उपचार आश्रितः। सहस्रांशुरादित्य इत्यर्थः। अंशवो रश्मयस्तत्तुल्या प्रभा दीप्तिस्तस्याण्डस्य। तस्मिन्नण्डे स्वयं ब्रह्मा जज्ञे जातः संभूतः। ब्रह्मा हिरण्यगर्भ एव। स्वयमिति उक्तार्थम्। योगशक्त्या प्राग् हीतं शरीरं परित्यज्यान्तरण्डकनुप्राविशत्। अथवा शरीर एवापः ससर्ज ततो न्तरण्डं स्वशरीरं जग्राह।

अथवा न्यो ‘यो सा’वित्यत्र निर्दिष्टः (श्लो० ७) अन्यश्चायमण्डजो ब्रह्मेति। तथा च वक्ष्यति (श्लो० ११) “तद्विस ष्ट, इति। तेनेश्वरेण स ष्टः।” कथं तर्हि स्वयं जज्ञे, स्वयंभूतश्च तत्र ब्रह्मोच्यते”। नैष दोषः। पित नाम्ना पुत्रोव्यपदिश्यते। आत्मा हि जज्ञ आत्मन, इति। अनिदम्परेरभ्य आगमेभ्यो लिखितमाचार्येण, नचात्राभिनिवेष्टव्यम्। ‘स एव स्वयं जायतामन्यो वा तेन स ज्यतामिति’ न धर्माभिधान उपयुज्यत इत्युक्तम्। सर्वलोकानां पितामह इति संज्ञा तस्य, उपचारतो वा सर्वस्रष्ट त्वात् पितुरपि सकाशादधिकः पितामहः पूज्यः॥ ६॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्म तः॥ १०॥

अन्वय - आपो नारा इति प्रोक्ताः ता अयनं यत् ते नारायणः स्म तः वै आपः नरसूनवः।

हिन्दी अर्थ - जल और जीवों का नाम नारा है। अयन अर्थात् निवासस्थान है जिसका इसलिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम ‘नारायण’ है क्योंकि अप् नामक प्रकृति की प्रथम विक्षोभावस्था अथवा जीव परमात्मा से उत्पत्ति=जन्मादि धारण करते हैं॥ १०॥

मेधातिथिः। यः कुत्रचिन्नारायणशब्देन कर्तृज्ञात शक्त्यतिशययोगेन जगत्कारणपुरुषतया गमेष्वाम्नातः सो यमेव। न शब्दभेदार्थभेदः। ब्रह्मा नारायणो महेश्वर इत्येक एवार्थो नोपासनाकर्मतया भिद्यते। तथा च द्वादशे दर्शयिष्यामः। यथा चैतत्तथोच्यते। आपो नरा इत्यनेन शब्देन प्रोक्ताः। ननु नायं व द्वयवहारो थ च न तथा प्रसिद्धो त आह-आपो वै नरसूनवः। स तावद् भगवन्नारः, पुरुष इति प्रसिद्धः। आपश्च तस्य सूनवो पत्यानि। अतस्ता नरशब्देनोच्यन्ते। द ष्टो हि पित शब्दो पत्ये, वसिष्ठस्यापत्यानि वसिष्ठा भ गोयरपत्यानि भ गवः तथा बभ्रुमण्डुलोमक इत्याद्यभेदोपचारेण। ता आपो नरशब्दवाच्याः। यत् येन प्रकारेण अस्य प्रजापतेः पूर्वमयनं प्रथमसर्ग आश्रयो वा गर्भस्थस्य, तेन हेतुना नारायणः स्म तः नरा अयनमस्येति नारायण इति प्राप्ते ‘अन्येषामपि द श्यते, (पा० सू० ६।३।१३४) इति दीर्घः। ‘पुरुष इति’ यथा। अथवा सामूहिको ण्॥ १०॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्कम्।

तद्विस ष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥ ११॥

अन्वय - यत् यत् कारणम् नित्यम् अव्यक्तम् सदसदात्कम् तत् विस ष्टः पुरुषः ब्रह्मा इति कीर्त्यते।

हिन्दी अर्थ - जो वह उपर्युक्त स ष्टि का करण नित्य अव्यक्त सत्-असत् स्वरूप परमात्मा है उससे उत्पन्न पुरुष लोक में ‘ब्रह्म’ इस नाम से पुकारा जाता है॥ ११॥

मेधातिथिः। कारणमेव न कार्यो न परेच्छाविधेयशरीरः, स्वाभाविकेन महिम्ना युक्तम् अव्यक्तं

नित्यमित्युक्तार्थम् । सदसदात्मकम् । सच्चासच्च सदसती । ते आत्मा स्वभावो यस्य तदेवमुच्यते । कथम्पुनरेकस्य विरुद्धभावाभावरूपधर्मद्वयस्य योगः ।। उच्यते । अर्वाङ्दर्शनानां तद्विषयाया उपलब्धारे भावात्सत्ताव्यवहारायोग्यत्वादसदात्मेत्युच्यते । आगमेभ्यः सर्वस्यास्य तत्कारणत्वावगमात्सदात्मकम् । अतः प्रतिपत्त भेदादुभयतोऽपि व्यवहारो ब्रह्मण्यविरुद्धः ।

“ननु च सर्व एव भावा एवरूपाः स्वेन रूपेण सदात्मकाः पररूपेणासन्तः । किमुच्यते ब्रह्मण्यविरुद्ध इति ।” उच्यते । अद्वैतदर्शने नैवान्यद्ब्रह्मणः किञ्चिदस्तीति किं तत् परं यत् तद्रूपतया भाव इत्युच्यते ।

तेन विसष्ट उत्पादितो न्तरण्डं निर्मितः पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते । यो सावुग्रतपसां देवासुरमहर्षीणां वरदानार्थं तत्र तत्रोपविष्ट इति महाभारतादौ श्रूयते स एष तेन महापुरुषेण परेण ब्रह्मणा प्रथमं विसष्टः ।

अन्ये तु ‘त्वमेवैक’ इत्याद्यन्यथा वर्णयन्ति । अस्येति प्रत्यक्षाभिनयेन जगन्निर्दिश्यते । सर्वस्यास्य जगतो यद्विधानं निर्माणं तत्स्वयम्भुवः संबन्धि । अचिन्त्यमद्भुतरूपं विचित्रमतिमहदप्रमेयं न शक्यं सर्वेण ज्ञातुम् । तथा ऋषिः । ‘को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसष्टिरिति ।’ किमिदं जगत्सर्वमुपादानमपेक्ष्य जायत उत नैर्माणिकमात्रम्, यथा बुद्धस्य दर्शनम् । किमीश्वरेच्छाधीनमुत केवलकर्मवशजमुत स्वाभाविकमप्रमेयम् । तथा किं महदादिक्रमेणोत्पद्यत उत द्व्यणुकादिक्रमेण । अस्य त्वं कार्यं तत्त्वमर्थं च वेत्सि । ‘कार्यं’ महतो हङ्कारो विशेषास्तन्मात्राण्ययहंकारस्य, तन्मात्राणां विशेषाः प चमहाभूतानि, अहङ्कारस्येन्द्रियाण्येकादश । विशेषाणामपि पिण्डः कार्यं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः । तेषामपि प्रत्ययात् तत्त्वं स्वभावो, यथा महतो मूर्तिमात्रत्वम् प्रधानस्य सर्वस्य विकारावस्था महदित्युच्यते । प्रकृतेर्महानिति । प्रकृतिः प्रधानमित्येको र्थः । अहङ्कारस्य तत्त्वमस्मिप्रत्ययमात्रत्वम् । अविशेषाणामविशेषप्रत्ययसंवेद्यत्वमिति । अर्थः, -प्रयोजनम् । पुरुषार्थमिदं वस्त्वनेन प्रकारेण पुरुषायोपयुज्यते इमं चार्थं साधयति । यद्यपि धर्मं जिज्ञासमानस्य जगन्निर्माणज्ञता आचार्यसंबन्धिनि न क्वचिदुपकारिणी, न च प्रष्टव्या, तथा प्यन्यतो दुर्विज्ञानं महर्षीणां वैषम्याज्जगन्निर्माणमादौ प्रश्नार्हं भवति मनोश्च वचनीयम् । यद्वस्तु प्रमाणषट्कस्याप्यविषयस्तदपि त्वमार्षेण चक्षुषा वेत्सि । धर्मः पुनर्वेदगोचरः सो वश्यं त्वया विज्ञात इत्येवं प्रकृतविषयैव प्रवक्त प्रशंसा ।

एवं स्तुत्या प्रोत्साहितो जगन्निर्माणमेव तावद्वक्ति ‘आसीदिदमिति’ । (श्लो० ५)

‘ततः स्वयम्भूरिति’ (श्लो० ६) । प्रधानमेवैतैः शब्दैरभिधीयते । स्वयं भवति परिणमति विक्रियामेति महदादितत्त्वभावेन । न कश्चिदीश्वरः स्वभावसिद्धो स्ति, यस्येच्छामचेतनं प्रधानमनुवर्तते । वस्तुस्वभाव एवायं यदुत प्रकृतिरूपं प्रधानं पुनर्विक्रियते । यथा क्षीरमचेतनं मण्डकावस्थाभिर्दधीभवति । भगवानिति । स्वव्यापार ईश्वरः । महाभूतादिद्वारेण प्रव त्तः स्वकार्योत्साह ‘ओजः’ सामर्थ्यम् । आदिशब्दः प्रकारे व्यस्वस्थायाम् । तेन महदादिकारणमव्यक्तं भवति । विकारावस्थायां प्रच्युतं प्रागुपात्सूक्ष्मभावात् प्रकाशमयन् ‘तमो नुदती’ त्युच्यते । अर्थशब्दध्याहारेण वा प्रधाने पुल्लिङ्गनिर्देशः पुरुषशब्दश्च प्रधानादिषु द ष्टः, ‘तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणामिति, (मनु० १।१६) ।

यो साविति (श्लो० ७) पूर्ववत् । सो भिध्यायेति (श्लो० ८) । अभिध्यानं गुणतः, अचेतनत्वात्प्रधानस्याभिध्यानासंभवात् । यथा कश्चिदभिध्यायैव कार्यं निर्वर्तयेत् अन्यकार्यनिरपेक्षमेव वस्तुस्वाभाव्येन परिणममानमीश्वरेच्छानपेक्षतया भिध्यायेत्युच्यते अप आदौ ससर्ज । महाभूतान्तरापेक्षया तासामादित्वं, न तु महदादितत्त्वोत्पत्तेः । वक्ष्यति हि ‘तेषामिदं तु सप्तानामिति’ । प्रथमं तत्त्वोत्पत्तिस्ततो भूतानाम् । तासु वीर्यमिति । वीर्यं शक्तिमवास जत् । प्रधानमेव कर्तृ भवति ।

सर्वतः प्रधानं प थिव्यादिभूतोत्पत्तौ काठिन्यमेति, अण्डरूपं सम्पद्यते । तदण्डमिति (श्लो० ९) यथा तत्त्वानि स्त्रीपुरुषसंयोगं विनोत्पन्नानि प्रथममेवं पूर्वकर्मवशेन ब्रह्माऽपि स्वमहिम्नैव । अयोनिजं तस्य शरीरं दंशमशकादिवत् ।

तद्विसष्टः (श्लो० ११) । तेन प्रधानेन विसष्टः । तन्मयत्वात्तच्छरीरस्य तद्विसष्ट इत्युच्यते । शेषं पूर्ववत् ।

यदत्रार्थतत्त्वं तदस्माभिरुक्तमेव । अर्थवादा एते यथाकथंचिद्गुणवादेन नीयन्ते ॥ ११ ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।

स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्धिधा ॥ १२ ॥

अन्वय - तस्मिन् अण्डे नित्यम् परिवत्सरं उषित्वा स भगवान् स्वयमेव आत्मनः ध्यानात् तदण्डं द्विधा अकरोत् ।

हिन्दी अर्थ - उस अण्डे में एक वर्ष तक (=ब्रह्मा के वर्षप्रमाण के अनुसार ३६० ब्राह्मदिन तक) निवास करके उस भगवान् ने स्वयं ही अपने ध्यान से उस अण्डे को दो टुकड़ों में कर दिया ॥१२॥

मेधातिथिः । स भगवान् ब्रह्मा परिवत्सरं संवत्सरमुषित्वा तदण्डमकरोद्धिधा । तावता कालेन गर्भः परिपच्यते । तस्मिन्नण्डे स्थित उत्पन्नः सर्वज्ञः कथं निर्गच्छेयमिति ध्यातवान् । अण्डमपि तावत्कालेन भिन्नं जातं परिपाकात् । अतः काकतालीयन्यायेन तदण्डमकरोद्धिधेत्युच्यते ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।

मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

अन्वय - स ताभ्यां शकलाभ्यां दिवं भूमिं मध्ये व्योमः अष्टौ दिशश्च अपां शाश्वतं स्थानं च निर्ममे ।

हिन्दी अर्थ - उस ब्रह्मा ने उन दोनों टुकड़ों से द्युलोक आज्ञैर पृथिवीलोक की और बीच में आकाश और आठों दिशाओं की तथा जलों के नित्य स्थान-समुद्रों की रचना की ॥ १३ ॥

मेधातिथिः । शकलम् अण्डपालम् ताभ्यामण्डकपालाभ्यामुत्तरेण दिवं निर्ममे निर्मितवान्, अधरेण पृथिवी, मध्ये व्योमाकाशं दिशो षट् च प्रागाद्याः, अवान्तरदिग्भिर्दक्षिणपूर्वादिभिः सह । अपां स्थानमन्तरिक्षे, समुद्रमाकाशं च पृथिवीपातालगतम् ॥१३॥

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्कम् ।

मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

अन्वय - आत्मनः एव च सदसदात्कम् मनः मनसश्चापि अभिमन्तारं अहंकारं बबर्ह ।

हिन्दी अर्थ - और फिर उस परमात्मा ने स्वाश्रयस्थित प्रकृति से जो कारणरूप में विद्यमान रहे और विकारी अंश के कार्यरूप में जो अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले 'महत्' नामक तत्त्व को और महत्तत्त्व से 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करने वाले सामर्थ्यशाली 'अहंकार' नामक तत्त्व को उत्पन्न कर प्रकट किया ॥ १४ ॥

विशेष - ब्रह्मा ने परमात्मा से सत्-असत् आत्मा वाले 'मन' की सृष्टि की तथा मन से पहले 'अहम्=मैं' इस अभिमान से युक्त एवं अपने कार्य को करने में समर्थ अहंकार की सृष्टि की ॥१४॥

मेधातिथिः । तत्त्वसृष्टिरिदानीमुच्यते । या च यथावयवा पश्चादुक्ता र्थाद्वा पूर्वमिति तथोक्तन्तत् । प्रधानात् स्वस्माद्रूपान्मन उद्भवतवान् । प्रातिलोभ्येनेयं तत्त्वोत्पत्तिरिहोच्यते । मनसः पूर्वमहंकारमभिमन्तारम् । अहमित्यभिमानिता हंकारस्य वृत्तिः । ईश्वरं कार्यनिर्वर्तनसमर्थम् ॥ १४ ॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।

विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पचेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

अन्वय - सर्वाणि त्रिगुणानि च आत्मानेव महान्तं च विषयाणां ग्रहीतृणि पचेन्द्रियाणि शनैः (उद्बबर्ह) ।

हिन्दी अर्थ - पुनः उसने सब त्रिगुणात्मक पाँच - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक तन्मात्राओं को तथा आत्मोपकारक अथवा निरन्तर गमनशील 'मन' इन्द्रिय को और विषयों को ग्रहण करने वाली दोनों वर्गों की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों-आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा एवं चकार से पाँच कर्मेन्द्रियों-हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु, को यथाक्रम से उत्पन्न कर प्रकट किया ।

विशेष - अहंकार से पहिले आत्मोपकारक 'महत्' तत्त्व=बुद्धि की तथा सम्पूर्ण त्रिगुण (सत्त्व, रजस् ओर तमस् से युक्त) विषयो की और रूप-रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाली नेत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रियों की तथा पांच शब्दतन्मात्रा आदियों की सृष्टि की ॥ १५ ॥

मेधातिथिः। महानिति संज्ञया साङ्ख्यानां तत्त्वं प्रसिद्धम्। आत्मानमिति महता सामानाधिकरण्यम्। सर्वपिण्डस ष्टौ च महत्तया तुस्यूतमत आत्मव्यवहारः। अहंकारात्पूर्वं पूर्वेण न्यायेन ससर्ज। सर्वाणि त्रिगुणानि च। यथानुक्रान्तं यथानुक्रम्यते तत्सर्वं त्रिगुणम्। सत्त्वरजस्तमांसि गुणाः। क्षेत्रज्ञाः केवलं निर्गुणाः। प्राकृतो भागः सर्वः सत्त्वरजस्तमोमयः। प चेन्द्रियाणि, तेषां निर्देशविषयाणां रूपरसादीनां यथास्वं ग्रहीतृणि विज्ञानजनकानि। प च 'श्रोत्रं त्वगित्यादिना' वक्ष्यन्ते विशेषनामानि। चशब्देन विषयांश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् प थिव्यादीनि च ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्।

सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

अन्वय - तेषां अमितौजसाम् षण्णामप्यपि सूक्ष्मान् अवयवान् आत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे।

हिन्दी अर्थ - ऊपर वर्णन किए गये उन तत्त्वों में से अत्यधिक शक्तिवाले छहों तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राएं तथा छठे अहंकार के सूक्ष्म अवयवों को उनके आत्मभूत तत्त्वों के विकारी अंशों अर्थात् कारणों में मिलाकर पांचों सूक्ष्म महाभूतों-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की सृष्टि की ॥ १६ ॥

मेधातिथिः। तेषां षण्णां या आत्ममात्रास्तासु सूक्ष्मानवयवान् सन्निवेश्य सर्वभूतानि निर्ममे। तत्र षट्सङ्ख्यया वक्ष्यमाणानि प च तन्मात्राणि अतिक्रान्तश्चाहंकारः प्रतिनिर्दिश्यते। आत्ममात्रास्तेषां स्वविकाराः-तन्मात्राणां भूतानि, अहंकारस्येन्द्रियाणि। प थिव्यादिषु भूतेषु शरीररूपतया तिष्ठत्सु सूक्ष्मानवयवांस्तन्मात्राहंकारान् सन्निवेश्य-यथास्थानं योजनं कृत्वा-सर्वभूतानि देवमनुष्यतिर्यक्पक्षिस्थावरादीनि निर्ममे। एतदुक्तं भवति। षड्विशेषा अवयवा एकदेशारम्भकाः सर्वस्य जगतस्तस्य तदारब्धत्वात् सूक्ष्मत्वं तन्मात्रसंज्ञयैव सिद्धम्। तानि संनिवेश्य संनिहत्य तेषामेवात्ममात्रास्तद्विकाराः। भूतेन्द्रियाणि निर्ममे। तैश्च पिण्डसृष्टिम् चकरात्। 'मात्रास्वि' त्यत्र 'मात्राभि' रिति युक्तः पाठः ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तानीमान्याश्रयन्ति षट्।

तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

अन्वय - यत् षट् सूक्ष्माः मूर्त्यवयवाः, इमानि, तानि आश्रयः तस्मात् मनीषिण तस्य मूर्तिं शरीरमिति आहुः।

हिन्दी अर्थ - क्योंकि प्रकृति रूपी मूर्ति के छः सूक्ष्म अवयव और उनकी कार्यभूत इन्द्रियां और पंचमहाभूत, ये उस परमात्मा के आश्रित रहते हैं इसी कारण मनीषी लोग उस परमात्मा की प्रकृतिरूपी मूर्ति को उसका 'शरीर' कहते हैं ॥ १७ ॥

मेधातिथिः। 'मूर्तिः' शरीरम्। तदर्थस्तत्संपादका अवयवाः। सूक्ष्माः क्षुब्धस्वरूपाश्च अविशेषाख्याः। तानीमान्द्विन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि च भूतान्याश्रयन्ति। तस्योत्पत्तेर्भूतान्याश्रयन्तीत्युच्यते। तदाश्रयोत्पत्तिस्तेषाम्। पठितं च, 'प चयः प चभूतानी' ति (साङ्ख्यकारिका २२) येन कारणेनाश्रयन्ति तस्मात् कारणात् 'शरीरम् तस्य' प्रधानस्य येयं मूर्तिः, शरीमित्युच्यते। मनीषिणः। मनीषा बुद्धिस्तद्वन्तः पण्डिताः।

अथवा विपरीतः कर्तृभावः। सूक्ष्माः कर्तार 'इन्द्रियाणि' कर्म। अवयवाश्चेन्द्रियाणामाश्रयभावं प्रतिपाद्यमाना 'आश्रन्ती' त्युच्यते। यथा 'बहुभिर्भुक्त' इति, भोजयन् 'भुक्त' इत्युच्यते। अथवा नेकार्थत्वाद्भातूनामाश्रयन्ति जनयन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।

मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम्॥ १८॥

अन्वय - तदा कर्मभिः सह महान्ति भूतानि सूक्ष्मैः अवयवैः च (सह) मनः सर्वभूतकृदव्ययम् आविशन्ति।

हिन्दी अर्थ - तब जगत् के तत्त्वों की सृष्टि होने पर अपने-अपने कर्मों के साथ शक्तिशाली सभी सूक्ष्म महाभूत और समस्त सूक्ष्म अवयवों अर्थात् इन्द्रियादि के साथ मन सब भौतिक प्राणि-शरीरों को जन्म=जीवनरूप देने वाले अविनाशी आत्मा को आवेष्टित करते हैं (और इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की रचना होती है)॥ १८॥

विशेष - कुछ विद्वान् इस पद्य का अर्थ इस प्रकार करते हैं - विनाशरहित एवं सब भूतों के कर्ता उस ब्रह्म से अपने-अपने कर्मों से युक्त पंचमहाभूत आकाश आदि और सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि हुई॥ १८॥

मेधातिथिः। तदेतत्प्रधानं सर्वभूतकृद्भवति। अव्ययमविनाशं कारणात्माना। कथं सर्वाणि भूतानि करोति ? यतस्तदाविशन्तीमानि। कानि पुनस्तानि। मनः सूक्ष्मैरवयवैः सह तन्मात्रैर्बुद्धयहंकारेन्द्रियलक्षणैः। अनन्तरं महान्ति भूतानि पथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि। सह कर्मभिः। धृतिःसंहननपक्तिव्यूहावकाशाः। पथिव्यादीनां यथाक्रमं कर्माणि। तत्र धृतिः धारणं सरणपतनधर्मकस्य एकत्रावस्थानम्। संग्राहकाद्विकीर्णस्य संहननम्। यथा पांसवो विकीर्णा उदकेन संहन्यन्ते पिण्डीक्रियन्ते। पक्तिरत्रौषधतणादेस्तेजसः कार्यतया प्रसिद्धा। व्यूहो विन्यासः सन्निवेशः। अवकाशाः मूर्त्यन्तरेणप्रतिबन्धः। न हि यस्मिन्देशे मूर्तिरेकास्थिता तत्र मूर्त्यन्तरस्य स्थानम्। सुवर्णापिण्डे न कस्यचिदन्तः संभवः। मनोग्रहणं सर्वेन्द्रियप्रदर्शनार्थम्। कर्मग्रहणेन च कर्मेन्द्रियाणि वा गृह्यन्ते।

अथवा तत्कार्यं सूक्ष्मैरवयवैर्युक्तं महान्ति भूतान्यधितिष्ठति पश्चादित्येवं योजना। इन्द्रियाणि च, मनःशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्॥१८॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।

सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्भवयम्॥ १९॥

अन्वय - अव्ययात् तेषां तु महौजसान् सप्तानांपुरुषाणां सूक्ष्माभ्यः मूर्तिमात्राभ्यः इदम् व्ययम् सम्भवति।

हिन्दी अर्थ - इस प्रकार विनाश रहित परमात्मा से और द्वितीयार्थ में सृष्टि के मूल कारण अविनाशिनी प्रकृति से उन्हीं महाशक्तिशाली सात तत्त्वों-महत्, अहंकार तथा पांच तन्मात्राओं के जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी अंशों से यह दृश्यमान विनाशील विकाररूप जगत् उत्पन्न होता है। १९॥

विशेष - सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम -“जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्त्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच-सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पांच कर्म इन्द्रियां हैं, और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पंचतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त करते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियां, वक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है।

मेधातिथिः। सूक्ष्मात्स्थूलमुत्पद्यते सम्भवति अव्ययाद् व्ययमित्येतावति तात्पर्यम्, न तु षण्णां सप्तानां वा तत्त्वानां मात्राभ्य इति। चतुर्विंशतितत्त्वानि। तानि सृष्टौ सर्वेषां निमित्तम्। अथवा पिण्डसृष्टौ सप्तैव प्रधानं कारणम्, षड्विशेषाः सप्तमो महान्। तेषां भूतेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तेषु चोत्पन्नेषु पिण्डीभवति शरीरम्।

अव्ययात् प्रधानादुपसंहतसर्वविकारादेकीभतादिदं बहुधा विप्रकीर्णं विश्व रूपं जगदुत्पद्यते। किं युगपदेव समस्तैर्विकारैः स्थूलरूपैः प्रधानं विक्रियते ? नेत्याह तेषामिदमिति। याद शः प्रागुक्तः क्रमस्तेनैव। प्रकृतेर्महांस्ततो हंकारस्तस्माद्गणस्तु षोडशक इति (सांख्यका-२२)। पुरुषशब्दस्तत्त्वे पुरुषार्थत्वात्प्रयुक्तः। महौजसांस्वकार्ये वीर्यवताम्। अपरिमितविकारहेतुत्वान्महत्वम्। तेषां याः सूक्ष्मा मूर्तिमात्रा :- मूर्तिः शरीरं, तदर्थं मात्राः, ताभ्य इदं भवति। अत उच्यते अव्ययाद्व्ययमितिः।

काः पुनस्तेषां सूक्ष्मा मात्राः। न हि तन्मात्राणामन्या मात्राः संभवन्ति येन तेषां सूक्ष्मा मात्रा इति व्यतिरेक उपपद्यते।

न तेषां स्वगतमात्रापेक्षत्वम् किं तर्हि तन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मो महान्महतः प्रकृतिरिति॥ १६॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।

यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्म तः॥२०॥

अन्वय - एषाम् आद्याद्यस्य गुणं तु परः परः च यः यः यावतिथः सः सः तावद्गुणः स्म तः।

हिन्दी अर्थ - इन पूर्व पद्य में चर्चित प चमहाभूतों में पूर्व-पूर्व के भूतों के गुण को परला-परला अर्थात् उत्तरोत्तर बाद में उत्पन्न होने वाला भूत प्राप्त करता है और जो-जो भूत जिस संख्या पर स्थित है वह-वह उतने ही अधिक गुणों से युक्त माना गया है॥ २०॥

विशेष - प च महाभूतों का क्रम और गुण - जैसे, प चमहाभूतों का निश्चित क्रम है-१. आकाश, २. वायु, ३. अग्नि, ४. जल, ५. पृथिवी। उनमें आकाश प्रथम स्थान पर है, इस प्रकार उसका केवल एक अपना शब्द गुण ही है। वायु द्वितीय स्थान पर है, अतः उसके दो गुण हैं-एक अपने से पहले वाले आकाश का शब्द तथा दूसरा अपना स्पर्श गुण। इसी प्रकार तृतीय स्थानीय अग्नि में दो अपने से पहले वाले आकाश और वायु नामक भूतों के क्रमशः शब्द, स्पर्श गुण हैं, तथा तीसरा अपना रूप गुण। चतुर्थ स्थानीय जल के इसी प्रकार चार गुण हैं-शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पंचमस्थानीय पृथिवी में पांच गुण हैं-शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध।

मेधातिथिः। पूर्वश्लोके केचिदन्यथा सप्तसंख्यां परिकल्पयन्ति। प चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वर्गीकृतान्येकीभवन्ति बोधहेतुतयैकेन धर्मेण योगादेकत्वेन निर्दिश्यन्ते। एवं कर्मेन्द्रियाणि। तौ च वर्गाद्वित्वाद्द्वौ पुरुषौ भवतः। प चभूतानि भेदेनैव निर्दिष्टानि कार्यवैलक्षण्यात्। तदेवं सप्तपुरुषास्तेषां या मूर्त्यर्थाः सूक्ष्मा मात्राः निर्माणकार्याणि तन्मात्राण्यहंकारश्च। अन्यत्समानम्।

अतश्च भूतानां पूर्वश्लोके संनिधानादेषामिति तेषां प्रतिनिर्देशः। यद्यपि च व्यवहिते बहूनि वचनानि संनिहितानि तथापि य इहार्थः प्रतिपाद्यते विशिष्टसंख्याकत गुणवत्त्वं तद् भूतानामेव संभवति नान्येषां, प्रकृतत्वे सत्यपि।

अतो यं श्लोकार्थः। एषां भूतानां यद्यत आद्यं तस्य यद्रूपं ततो न्तरं पठितं तत्तत्पूर्वस्य संबन्धेन गुणं गृह्णाति। गुणशब्देन शब्दादयः प चोच्यन्ते। आद्यत्वं चात्र वक्ष्यमाणया व्यवस्थया काशं जायत इति। गुणत्वं च शब्दादीनां तत्रैव वक्ष्यति। यो य आकाशदिलक्षणो र्थो यावतिथः यावतां पूरणः। 'वतोश्चिक्'द्वितीये तृतीये वा स्थाने स्थितः स तावद्गुणः। तावन्तो गुणास्तस्य भवन्ति। द्वितीयस्थाने स्थितो द्विगुण इत्यादि। परस्परआद्याद्यगुणसम्बन्धित्वं प्रथमे र्धश्लोक उक्तम्। तत्र यः स्वशब्देन यस्यैव यो गुणो भिहितः 'तस्य शब्दगुणं विदुः', (श्लो० १।७५) तद्रूपगुणमुच्यते, (श्लो० १।७७) इत्यादि, ततश्च पूर्वगुणावाप्तौ द्वैगुण्यम् आकाशं वर्जयित्वा भूतानां प्राप्तम्। अत उक्तं यो यो यावतिथ इति। तेन द्विगुणो वायुस्त्रिगुणं तेजश्चतुर्गुणं आपः प चगुणा भूतिरिति।

आद्याद्यस्येति कथम्? आद्यास्याद्यस्येह भवितव्यम् नित्यवीप्सयोरिति द्विवचनेन। यथा परः पर इति।

छन्दोभिरविशेषात् स्म तीनां लुग्व तानुरोधाच्चैवं पठितम्॥ २०॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पथक् पथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ २१॥

अन्वय - सः तु सर्वेषां नामानि प थक् प थक् कर्माणि च प थक् संस्थाश्च आदौ वेद शब्देभ्यः एव निर्ममे।

हिन्दी अर्थ - उस परमात्मा ने सब पदार्थों के नाम (यथा-गौ-जाति का 'गौ', अश्वजाति का 'अश्व' आदि) और भिन्न-भिन्न कर्म (यथा-ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के हिंस्र-अहिंस्र आदि कर्म तथा प थक् प थक् विभाग जैसे प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि या व्वस्थाएं यथा-चार वर्णों की व्यवस्था स ष्टि के प्रारम्भ में वेदों के शब्द से ही बनार्यी अर्थात् मन्त्रों के द्वारा यह ज्ञान दिया।। २१।।

विशेष - भाषाशास्त्रियों के लिए यह प्रश्न अब तक भी अनुत्तरित है कि आरम्भ में पदार्थों का नामकरण कैसे हुआ होगा। मनुस्मृतिकार के अनुसार - स ष्टि के प्रारम्भ में वेदशब्दों के द्वारा ही मनुष्यों को नाम, कर्म, विभाग आदि का ज्ञान हुआ। परमात्मा वेदशब्दों के रूप में यह सब ज्ञान दिया।

मेधातिथिः। स प्रजापतिः सर्वेषामर्थानां नामानि चक्रे। यथा कश्चित् पुत्राणांजातानामन्येषां वा संव्यवहारार्थं करोति, 'व द्विरादैच्' 'धीश्रीस्त्री'मिति। शब्दार्थसंबन्धं कृतवान् गौरश्वः पुरुष इति। कर्माणि च निर्ममे धर्माधर्माख्यान्यद ष्टार्थान्यग्निहोत्रादीनि च। स ष्ट्वा च कर्माणि तत्र संस्था व्यवस्थाश्चकार, 'इदं कर्म ब्राह्मणेनैव कर्तव्यं, काले मुष्मै च फलाय'। अथवा द ष्टार्था मर्यादा संस्था। 'गोप्रचार इह च प्रदेशे न कर्तव्यः' 'इदं उदकं सस्यसेकार्थकमुष्मिन् ग्रामे न देयं यावत्तस्माद्ग्रामादस्माभिरयमुपकारो न लब्धः'। द ष्टार्थानि च कर्माणि निर्ममे। तत्र यान्यद ष्टार्थानि तानिवेदशब्देभ्यो वैदिकेभ्यो वाक्येभ्यः।

ननु सर्वस्य तेनैव स ष्टत्वात्तस्यैव स्वातन्त्र्याद्वेदं ससर्ज कर्मानुष्ठानपरिपालनार्थमित्येवं वक्तव्यम्। वेदस ष्टिश्च वक्ष्यते 'अग्निवायुरविभ्ययश्चे' त्यत्रान्तरे (श्लो० १।२३)।

उच्यते। भिन्नमत्र दर्शनम्। केचिदाहुरन्यस्मिन्कल्पे वेदास्तेनाधीतास्ते च महाप्रलयेन प्रलीनाः पुनरन्यस्मिन् कल्पे सुप्तप्रतिबुद्धवत्सर्वं प्रथमं प्रतिभाति, स्वप्नपठितो यथा कस्यचिच्छ्लोकः प्रतिभाति। भाति च वेदे 'गौरनुबन्ध्यो श्वस्तूपरो गोम गः (यजुर्वेद ४।१) इत्यादिवाक्येभ्यः शब्दानुस्मृतिपूर्वकं झटिति तानर्थान् स्मृत्त्वोत्पद्यमानांश्च पदार्थान् द ष्ट्वा अस्यार्थस्यायं शब्दः कल्पान्तरे नामासीत्संप्रत्यस्यैव क्रियतामित्युभयं वेदशब्देभ्य एव नामानि कर्माणि च स ष्टवान्। अथवा नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलये पि। यो सौ पुरुषः केषांचिदिष्टस्तथा वेदा आसते। स एवान्तरण्डं ब्रह्माख्यं पुरुषं निर्माय वेदानध्यापयामास। एवं स ब्रह्मा वेदशब्देभ्यः सर्वं निर्मितवान्।

यदत्र तत्त्वं तदस्माभिरुक्तमेव। अथ पौराणिकी प्रक्रिया प्रयुज्यते। सा स्माभिः प्रदर्श्यत। एव। आदौ जगत्सर्गे इत्यर्थः। अथवा दौ यानि नामान्यनपन्नष्टानि न पुनरिदानीन्तनान्यशक्तिजानि गाव्यादीनि। प थक्। न यथाशरीरं तत्त्वसमुदायरूपमेवं निर्ममे-किं तर्हि-प थक्।। २१।।

कर्मात्मनां च देवानां सो स जत्प्राणिनां प्रभुः।

साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्।। २२।।

अन्वय - स प्रभुः कर्मात्मनां देवानां प्राणिनां च साध्यानां गणं च सनातनम् सूक्ष्मं यज्ञं चैव अस जत्।

हिन्दी अर्थ - उस परमात्मा ने कर्म ही स्वभाव है जिनका ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवों के मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सामान्य प्राणियों के और साधक कोटि के विशेष विद्वानों के समुदाय को तथा स ष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलय काल तक निरन्तर प्रवहमान सूक्ष्म संसार अर्थात् महत् अहंकार प चतन्मात्रा आदि सूक्ष्म रूपमय और सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को रचा।। २२।।

विशेष - उपरिलिखित पद्य में 'सूक्ष्मम्' पद को कुछ व्याख्याकारों ने साध्य पद के साथ जोड़ कर इस पद का अर्थ 'सूक्ष्मदेवयोनि विशेष' किया है। कुछ अन्य व्याख्याकारों के मत में सूक्ष्म पद 'यज्ञम्' का विशेषण है जो कि आरम्भिक स ष्टि यज्ञ का वाचक है।

मेधातिथिः। कर्मात्मानः शरीरिणः प्राणिनः कर्मसु तत्परा मनुष्या उच्यन्ते। तेषामर्थसिद्धये यज्ञमस जत्। ये ब्रह्मोपासनास्वनभिरताः पुत्रपशुवादिफलार्थिनश्चै द्वैतपक्षाश्रितास्ते कर्मानुष्ठानपरत्वात्कर्मात्मान उच्यन्ते षष्ठ्यपि तादर्थ्यं ब्रूत इति तदर्थं यज्ञमस जदिति गम्यते। देवां च गणं तदर्थमेवास जत्। कर्मात्मनां च इत्ययमदेशे चः पठितः। तस्य देशो देवानामित्यतो नन्तरम्।

यज्ञं ससर्ज। अग्निरग्नीषोमाविन्द्राग्नी इत्यादिं यज्ञसिद्धयर्थं देवानां गणमस जत्। तथा साध्यानां देवानां गणमित्यनुषज्यते भेदेनोपादानमहविर्भाक्त्वात्तेषाम्, स्तुतिभाज एव ते केवलम्। 'यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः, इति-साध्या वै नाम देवा' इति-साध्या वै नाम देवा आसन्' इति। अथवा ब्राह्मणपरिव्राजकवत्। सूक्ष्मम् मरुतो रुद्रा अङ्गिरस इत्येतदपेक्षया साध्यगणः सूक्ष्मः। साध्यग्रहणं चान्यासामप्यहविः संबन्धिनीनां देवतानां वेदोस्तुनीतिरित्यादीनां प्रदर्शनार्थम्।

अन्ये तु कर्मात्मनां देवानां प्राणिनामिति समानाधिकरणानि मन्यन्ते। कर्माणि आत्मा स्वभावप्रतिलम्भो येषां ते कर्मात्मानः यागादिकर्मनिर्वर्तनपरत्वात् प्र धानतया वा कर्मात्मानः।

काश्चिद्देवता यागादिकर्मण्येव स्वरूपत इतिहासे श्रूयन्ते। यथेन्द्रो रुद्रो विष्णुरिति। अन्यासां तु याग एव देवतात्वं न स्वरूपतः। अक्षा ग्रावाणो रथाङ्गानि। न हि यथा भारते इन्द्रादीनां व त्रादिभिरसुरैर्युद्धादि कर्म श्रूयते तथा क्षादीनां वर्ण्यते। अस्ति च सूक्ते हविः संबंधे तेषामपि देवतात्वम्। अक्षाणाम्-प्रावेपामा' इति (ऋग्वेद १०।३४।१) ग्राव्याम्-प्रावे वदन्त्विति' (ऋग्वेद १०।६४।१)। वनस्पते वीड्वङ्ग, इति (ऋग्वेद ६।४।२६) रथाङ्गानाम्। अत एव प्राणिनामिति। द्विविधा हि देवताः-प्राणवत्यस्तद्रहिताश्च। यथेन्द्रादयः पुरुषविग्रहाः प्राणवन्तः पुराणे वर्ण्यन्ते नाक्षादयः। इतिहासदर्शनाश्रयश्चायं सर्वः सर्गादिप्रप चः। चशब्दश्चात्र द्रष्टव्यः, प्राणिनामप्राणिनामपि। निरुक्तदर्शने पि द्विविधा देवताः। अश्वाः-मानोमित्र' इति (ऋग्वेद १।१६२।१) शकुनिः-कनिक्रददिति' (ऋग्वेद ५।८३।१), गावः-आगावो अग्निति, (ऋग्वेद ६।२८।१)। एताः प्राणवत्यः। अप्राणा उक्ताः।

सनातनग्रहणं यज्ञविशेषणम् पूर्वकल्पे पि यज्ञस्य भावात्प्रवाहनित्यतया नित्यत्वम्॥ २२॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्धयर्थं ग्यजुः सामलक्षणम्॥ २३॥

अन्वय - ब्रह्म यज्ञसिद्धयर्थं अग्निवायुरविभ्यस्तु ऋग्यजुःसाम लक्षणं त्रयं सनातनं दुदोह।

हिन्दी अर्थ - उस परमात्मा ने जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए अग्नि, वायु और रवि से अर्थात् उन के माध्यम से ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम=उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले नित्य वेदों को दुहकर प्रकट किया॥ २३॥

विशेष - वेदों की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में बहुत अधिक मतभेद हैं। पाश्चात्य विद्वान् और अधिकांश आधुनिक भारतीय विद्वान् वेदों को उन ऋषि गीतों का संकलन मानते हैं जो ईसा से कुछ हजार वर्ष पूर्व संकलित किये गये।

मनुस्मृति के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं जिन्हें अग्नि, वायु और रवि आदि ऋषियों के माध्यम से सृष्टि के आरम्भ में ही प्रकट किया गया।

मेधातिथिः। तिस्र एवदेवता अग्निप्रभ तय अति नैरुक्ताः, सत्यप्यभिधाननानात्वे। अतस्तेन दर्शनेनोच्यते। एताभ्यस्तिस्र भ्यो यज्ञसिद्धयर्थम् यागसंप्रदानत्वात्तासां चतुर्थी। त्रयम् ग्यजुःसामलक्षणं ब्रह्म वेदाख्यं दुदोह।

द्विकर्मको यं धातुः। प्रधानं कर्मत्रयम्' अप्रधानेन द्वितीयेन कर्मणा भवितव्यम्। न च तदस्ति। अतः प चम्येवेयमिति मन्यामहे। अग्न्यादिभ्यो दुदोहाक्षारयद्भावयत्।

"कथं पुनरग्न्यादिभ्यो वर्णत्मा शब्दो मन्त्रवाक्यानि ब्राह्मणवाक्यानि च भवेयुः"। किं नोपपद्यते ? कः शक्तीरदष्टा असतीर्वक्तमर्हति।

“नाख्यातार्थो विकल्पयितुं युक्तः। प चमो तर्हि किमर्था ? ‘दुहि याचीति’ द्वितीयया भवितव्यम्। किंच द ष्टप्रमाणविरोधी प्राग्व तो र्थ उच्यमानो न मनः परितोषमाधत्ते प्रामाणिकानाम्।”

परिहृतो विरोधः स्वरूपपरत्वाश्रयणेनैषामागमानाम्। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः, सामवेद आदित्यादिति। अग्न्यादयोऽपि देवता एश्वर्यभाजो निरतिशयशक्तिश्च प्रजापतिस्तत्र का नामानुपपत्तिः ? अस्मिन् दर्शने प चम्यपि विवक्ष्या। अतः कारकाणि कथितानि यत्रापादानसंज्ञेत्यपादानविवक्षायां भाष्ये समर्थितानि।

“अन्यदर्शने कथम्।” चतुर्थी तावद्युक्तैव।

अर्थवादाश्चैते। तत्र द्वितीयं कर्मात्मैव-प्रजापतिरात्मानं दुहोह। दोहनं चाध्यापनं परसङ्क्रान्तिसामान्येन। अथापि प चमी, तत्राप्याग्नेया मन्त्रा आदाव ग्वेदे-अतो ग्नेरजायतेत्युच्यते। यजुर्वेदेऽपि “इषेत्वोर्जेत्वेति”-‘इट्’ अत्रं तत् मध्यस्थानत्वाद्वायुना वर्षादानेन क्रियते। ‘उक्’ प्राणः, स वायुरेव। अत आदितो वायुकार्यसम्बन्धाद्वायोरित्युपमा। अथवा ध्वर्य- वमार्त्विज्यं बहुप्रकाराश्चेष्टाश्च सर्वा वयोरित्यनेन सामान्येन वायुर्जन्म यजुर्वेदस्य। अनधिकारस्य सामगीत्ययोग्यत्वादुत्तमाध्ययनानि सामान्युत्तमस्थानानश्चादित्य इति।। २३।।

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।

सरितः सागरा छैलान् समानि विषमाणि च।। २४।।

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।

स ष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः।। २५।।

अन्वय - स्रष्टुमिच्छन् कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि तथा ग्रहान् सरितः सागरा छैलान् च समानि विषमाणि तपः वाचं रतिं च कामं क्रोधमेव च इमाः प्रजाः च ससर्ज।

हिन्दी अर्थ - स ष्टि उत्पन्न करते हुए उस परमात्मा ने समय और समयविभागों-निमेष, काष्ठा, कला, दिन-रात आदि को-नक्षत्रों-अश्विनी, भरणी आदि को तथा ग्रहों-सूर्य, चन्द्र आदि को नदियों, पर्वतों और ऊँचे-नीचे स्थानों को और तप, वाणी, प्रसन्नता तथा काम, क्रोध को, इन सब प्रजाओं और शेष सारी स ष्टि को रचा।। २४, २५।।

मेधातिथिः। धर्मसामान्यादाह। द्रव्यात्मा कालो वैशेषिकाणां, क्रियारूपो न्येषाम्। आदित्यादिगतिप्रतान आव तिमान्। कालविभक्तयो विभागा मासत्त्वयनसंवत्सराद्याः। नक्षत्राणि कृत्तिकारोहिण्यादीनि। ग्रहा आदित्यादयः। सरितो नद्यः। सागराः समुद्राः। शैलाः पर्वताः। सभानि स्थलान्येकरुपा भूभागा खातप्रदरवर्जिताः। विषमाणि आरोहावरोहवन्ति।। २४।।

मेधातिथिः। रतिर्मनसः परितोषः। कामो भिलाषो मन्मथो वा। अत्यत्रसिद्धम्। एवमादिकां स ष्टिं ससर्ज इमाम्। अत्र-श्लोके पूर्वा च या स ष्टिरुक्ता। इमाः प्रजाः स्रष्टुमिच्छन्। देवासुरा यक्षराक्षसगन्धर्वाद्यास्तदुपकरणं तदात्मधर्मवच्छरीरं धर्मं चादावस जदित्यर्थः।

“अथ केयं वाचोयुक्तिः स ष्टिं ससर्जेति।”

य एवार्थः स ष्टिं कृतवानिति। सर्वे धातवः करोत्यर्थस्य विशेषावच्छिन्ने वर्तन्ते। पचति-पाकं करोति, यजति-यागं करोति। तत्र कृदन्ताद्विशेषे वगत आख्यातगतो धातुः करोत्यर्थमात्रप्रतिपादनपरो भवति। तस्मिन्नपि कुतश्चत्प्रतिपन्ने पुनः प्रतिपादने नुवाददोषो मा भूदिति कालकारकादिषु तात्पर्यम्। अथवा स ज्यमानविशेषा प्रमाणावच्छिन्ना ‘स ष्टिः’ सामान्येस ष्टेः कर्म; यथा स्वपोषं पुष्ट इति।। २५।।

कर्मणां च विवेकाय धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।

द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः।। २६।।

अन्वय - कर्मणां विवेकाय च धर्माधर्मौ व्यवेचयत् इमाः प्रजाः च सुखदुःखादिभिः द्वन्द्वैः अयोजयत्।

हिन्दी अर्थ - और फिर कर्मों के विवेचन के लिए धर्म-अधर्म का विभाग किया तथा इन

प्रजाओं को सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों=दो विरोधी गुणों या अवस्थाओं से जोड़ों से संयुक्त किया।। २६।।

मेधातिथिः। धर्माधर्मो व्यवचयद् विवेकेन पथभावेन व्यवस्थापितवान्। अयं धर्म एवायमधर्म एव। “ननु च नैवायं विवेको स्ति। सन्ति हि कर्माण्युभयरूपाणि धर्माधर्मात्मकानि। यथाहुः-शबलानि वैदिकानि कर्माणि हिंसासाधनकत्वात्। यथा ज्योतिष्टोमः स्वरूपेण धर्मो हिंसाङ्गत्वाधर्म” इति अत आह। कर्मणां तु विवेकाय। कर्मशब्देनात्र प्रयोगः कर्मणामनुष्ठानमुच्यते। स एव पदार्थो न्यथा प्रयुज्यमानो विपरीतस्वभावो भवति। धर्मः सन्नधर्मरूपतामापद्यते धर्मो धर्मत्वम्। तथा हिंसैव। हिंसा बहिः प्रयुज्यमाना अधर्मः सः, ‘न हिंस्यात्सर्वभूतानीति’ प्रतिषेधगोचरत्वात्। अन्तर्वेदि कृता अग्नीषोमीये धर्मः, विधिलक्षणत्वात्। एवं तपो धर्मः, तदेव तु दम्भेनासामर्थ्यादिना वा क्रियमाणमधर्मः। एवं देवरगमनं स्त्रीणामधर्मः, गुरुनियुक्तानां पुत्रार्थिनीनां घ ताक्ताद्यनुग्रहेण धर्मः। अतः स्वरूपैकत्वे पि प्रयोगभेदाद्धर्माधर्मव्यवस्था। एकत्वे पि प्रमाणान्तरदृष्ट्या स्वरूपभेद एव।

अथ च कर्मफलेषु कर्मशब्दैः, कारणे कार्योपचारात्। तेनैतदुक्तं भवति। कर्माणि व्यवचयत् कर्मफलविभागाय। कः पुनः कर्मणां फलविभागो त उक्तं द्वन्द्वरयोजयत् सुखदुःखादिभिः। धर्मस्य फलं सुखमधर्मस्य दुःखम्। अत उभयकारिणो द्वन्द्वर्योज्यन्ते, धर्मकारित्वात्सुखेनाधर्मकारित्वाद्दुःखेन। द्वन्द्वशब्दो यं रुढ्या परस्परविरुद्धेषु पीडाकरेषु वर्तते शीतोष्णवृष्ट्यातपक्षुत्सौहित्यादिषु। आदिग्रहणं सामान्यविशेषभावेन ज्ञेयम्।

केवलौ सुखदुःखशब्दौ स्वर्गनरकयोर्वाचकौ निरतिशयानन्दपरितानवचनौ वा। विशेषः स्वर्गग्रामपुत्रपशवादिलाभस्तपहारश्चादिशब्दस्य विषयः।

कर्मणां पूर्वमुत्पत्तिरुक्ता। अनेन तेषामेव प्रयोगविभागः फलाविभागश्च प्रजापतिना कृत इति प्रतिपाद्यविवेकः।। २६।।

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्म ताः।

ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः।। २७।।

अन्वय - दशार्धानां तु याः विनाशिन्यः अण्व्यः मात्राः स्म ताः ताभिः सार्धं इदं सर्वं अनुपूर्वशः सम्भवति।

हिन्दी अर्थ - दश के आधे अर्थात् पांच महाभूतों की ही जो विनाशशील अर्थात् अपने अहंकार करण में लीन होकर नष्ट होने के स्वभाव वाली सूक्ष्म तन्मात्राएं कही गई हैं उनके साथ अर्थात् उनको मिलाकर ही यह समस्त संसार क्रमशः - सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर, स्थूलतर से स्थूलतम के क्रम से उत्पन्न होता है।। २७।।

मेधातिथिः। उपसंहारो यम्। दशार्धानां प चानां महाभूतानां या अण्व्यः सूक्ष्मा मात्रा अवयवास्तन्मात्रास्ता विनाशिन्यः। परिणामधर्मित्वात् स्थौल्यप्रतिपत्त्या विनाशिन्य उच्यन्ते। ताभिः सार्धमिदं जगत्सर्वं सम्भवत्युत्पद्यते। अनुपूर्वशः क्रमेण। सूक्ष्मात्स्थूलं स्थूलात्स्थूलतरम्। याद शो वा क्रम उक्तः प्राक्।। २७।।

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।

स तदेव स्वयं भेजे स ज्यमानः पुनः पुनः।। २८।।

अन्वय - स प्रभुः प्रथमं यं तु यस्मिन् कर्मणि न्ययुङ्क्त पुनः पुनः स ज्यमानः सः तदेव स्वयं भेजे।

हिन्दी अर्थ - उस परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में जिस प्राणी को जिस कर्म में लगाया प्रत्येक सृष्टि-उत्पत्ति समय में वह फिर उत्पन्न होता हुआ अर्थात् जन्म धारण करता हुआ उसी कर्म को ही अपने आप प्राप्त करने लगा।। २८।।

मेधातिथिः। अस्यायमर्थः। यद्यपि प्रजापतिरीश्वरो भूतसृष्टौ शक्नोति यथेच्छं प्राणिनः स्रष्टुं तथापि न पूर्वकल्पकृतानि कर्माण्यनपेक्ष्य प्राणिनः स जति। येन याद शं पुराकल्पे कर्म कृतं तत्कर्माक्षिप्तायां

जातौ तं जनयति, -न-जात्यन्तरे। शुभेन कर्मणा तत्फलोपभोग्यायां देवमनुष्यादिजातौ जनयति, विपरीतेन तिर्यक्प्रेतादिषु। यथैव भूतेन्द्रियगुणाः कल्पादौ प्रकृतिस्था उद्भवन्ति एवं कर्माण्यपि प्रलये स्वप्रकृतिस्थानि पुनरुद्भवन्ति सर्गादौ। 'ततः शेषेणे'त्येष न्यायस्तत्राप्यस्त्येव।

“यदि तर्हि कर्मापेक्षोत्पत्तिः, क्व प्रजापतेरैश्वर्यमुपयोगि कीदृशं वा सापेक्षमैश्वर्यम् ?”

तस्मिन् सति जगत् उत्पत्तेः कथमनुपयोगः। न तमन्तरेण स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः सन्ति नित्यत्वात्तस्य। स्वकृतान्यपि कर्माणि कारणं तदिच्छा पि प्रकृतिपरिणामश्च। एतस्याः कारणसामम्या इदं जगदुत्पद्यते तिष्ठति प्रलीयते च। सापेक्षस्याप्यैश्वर्यं न विहन्यते। यथेह राजादिरीश्वरो भत्यादीन् फलेन योजयेदेवमेवादिकर्मानुरूपेणैव योजयति। न चानीश्वरः।

“ननु नास्य श्लोकस्यायमर्थः प्रतीयते। किं तर्हि प्रतीयते ? विधातुरेव प्राणिनां कर्मविनियोगे स्वातन्त्र्यम्। स यं प्राणिनं प्रथमं सर्गादौ यस्मिन् कर्मणि हिंसात्मके तद्विपरीते वा युङ्क्त स तदेव कर्म करोति। न पित्रादेरनुशासनमपेक्ष्य स्वेच्छया न्यथा प्रवर्तते, किं तर्हि, प्राक्प्रजापतिनियोगवशात्साध्वसाधु वा स्वयमन्यानुशासननिरपेक्षो पनुतिष्ठति। स ज्यमानः पुनर्जायमानः। कल्पान्तरे स्मिन्नेव वा कल्पे प्रजापतिरेव क्षेत्रज्ञास्तत्कर्तृत्वेन न्युङ्क्ते। अतस्तन्नियोगमेवानुवर्तमानाः प्राचीनं शुभमशुभं वा कर्म कुर्वन्ति। तदुक्तम्।

“कर्तृत्वं प्रतिपद्यन्ते अनीशाः स्वेषु कर्मसु।

महेश्वरेण प्रेर्यन्ते शुभे वा यदि वा शुभे;।। इति।

‘अज्ञो जन्तुरनीशो यमान्मनः सुखदुःखयोः।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।।”

उच्यते। एवं सति कर्मफलसम्बन्धस्त्यक्तः स्यात् पुरुषकारानर्थक्यं च स्यात्। अग्निहोत्रादिकर्माद्युपदेशो ब्रह्मोपासनाश्च व्यर्थाः प्रसज्येरन्। य एवेश्वरस्वरूपानभिज्ञानस्त एव दष्टादष्टार्थेषु कर्मसु प्रवर्तेरन्। ये तु तदधीनं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च मन्यन्ते तेषां सर्वत्राप्रवृत्तिप्रसङ्गः। कृतमपि न तत्कर्म फलति-अकर्तारो पि भोक्ष्यामह इति मन्यमाना उदासीरन्। न च व्याधिरिवापथ्याद्विदुषां बलादिच्छोपजायते कर्तृत्वं ईश्वरप्रेरणया। अथ कर्मफलसष्ट्या तदिच्छा निश्चिता अस्मात्कर्मण इदं कर्तृत्वं भवतीति, न तर्हि यं तु कर्मणी त्येतदस्ति। शास्त्रादेव नियोगः प्रतिपत्तव्यः। तस्माद्यं पुरुषं स प्रभुः प्रथमं न्ययुङ्क्त-अनादौ संसारे ‘प्रथमं’ वर्तमानापेक्षम्, नियोक्तृत्वं चास्य सर्वभावेषु, दिक्कालनिमित्तकारणत्वात्।

अन्ये तु व्याचक्षत। जात्यन्तरापन्नस्यात्मनो न पूर्वजातिसंस्कारापेक्षा। अतः स्वभावानुवृत्तिः। यं जातिविशेषं यस्मिन्कर्मणि नियुक्तवान् परवधादौ स सिंहादिजातीय आत्मा सम्पन्नो मनुष्यत्वे मार्दवमभ्यस्तमपि हित्वा जातिधर्मं प्रतिपद्यते अन्येनानुपदिष्टमपि। स्वाभाव्यात्प्रजापतिकृत्वात् कर्माणि बलवन्ति प्रागभ्यासं जात्यन्तरगतस्य विस्मारयन्तीति प्रदर्शितं भवति।। २८।।

हिंसाहिंसे म दुक्रूरे धर्माधर्माव तान ते।

यद्यस्य सो दधात्सर्गं तत्तस्य स्वयमाविशत्।। २६।।

अन्वय - हिंसाहिंसे म दुक्रूरे धर्माधर्मौ ऋतान ते यस्य यत् सर्गं सः अदधात् तस्य तत् स्वयम् आविशत्।

हिन्दी अर्थ - हिंसा (सिंह, व्याघ्र आदि का) अहिंसा (म ग आदि का) दयायुक्त और कठोरतायुक्त धर्म तथा अधर्म असत्य और सत्य जिस प्राणी का जो कर्म सृष्टि के प्रारम्भ में उस परमात्मा ने धारण कराना था उस को वही कर्म अपने आप ही प्राप्त हो गया।। २६।।

विशेष - २८वें तथा २६वें पद्य में मनुस्मृतिकार इस जगत् की विविधता के कारण रूप से कर्म व्यवस्था का दिग्दर्शन करा रहे हैं। पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों के प्रभाव के कारण ही कुछ प्राणी स्वभावतः हिंसक तथा क्रूर हुए। कुछ अहिंसक और म दु हुए।

मेधातिथिः। हिंस्रं परप्राणवियोगकरं सर्पसिंहहस्तादि। तद्विपरीतमहिंस्रं रुरुष षतादि। म दु पेशलमनायासकरम्। क्रूरं कठिनं परदुःखोत्पादनात्मकम्। अन्यत्प्रसिद्धम्। यदेतद् द्विशः प्रसिद्धं कर्मजातं ततो यस्य यदेव अदधाद्वतवान् कल्पितवान् स प्रजापतिः सर्गे स ष्ट्यादौ पूर्वकर्मानुरूप्यमवेक्ष्य, तत्कर्म स स ष्टः प्राणी स्वयमाविशत् प्रतिपद्यते। भूतकालता न विवक्षिता। अद्यत्वे पि जातिधर्मस्यानुपदिष्टस्य स्वयम्प्रतिपत्तिदर्शनात्।। २६।।

यथर्तुलिङ्गान्य तवः स्वयमेवर्तुपर्यये।

स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः।। ३०।।

अन्वय - यथा ऋतवः ऋतुपर्यये स्वयमेव ऋतुलिङ्गानि अभिपद्यन्ते तथा देहिनः स्वानि स्वानि कर्माणि (अभिपद्यन्ते)।

हिन्दी अर्थ - जैसे ऋतुएं ऋतु-परिवर्तन होने पर अपने आप ही अपने-अपने ऋतुचिहनों -जैसे, वसन्त आने पर कुसुम-विकास, आम्रम जरी आदि को प्राप्त करती हैं उसी प्रकार देहधारी प्राणी भी अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं।। ३०।।

मेधातिथिः। अत्र द ष्टान्तः। अचेतना अपि यथा भावास्तन्मर्यादयैव व्यवस्थितस्वभावाः एवं चेतना अपि पुरुषकृतकर्मसहायेन प्रजापतिना कृतां मर्यादां नातिक्रामन्ति, यस्यां जातास्तदेव कुर्वन्ति नान्यदिच्छन्तो पि शक्नुवन्ति कर्तुम्।

ऋतवो वसन्तादयः। स्वलिङ्गानि चिह्नानि पत्रफलकुसुमशीतोष्णवर्षादीनि। पर्यये। यस्यर्तोयः पर्यायः स्वकार्यावसरः तस्मिन्! स ऋतुस्तं धर्मं स्वयमेव प्रतिपद्यते, न पुरुषप्रयत्नमपेक्षते। चूतम जर्यो वसन्ते स्वयमेव पुष्यन्ति, न मूले सलिलसेकमपेक्षन्ते। एवं पुरुषकर्माण्यद ष्टानि। नास्ति स पदार्थो यो न कर्मापेक्षते। तथाहि। वर्षाणां स्वस्वभावो यो व ष्टिप्रदः ...भवति च राजदोषाद्राष्ट्रदोषाद्वा कदाचिदवग्रहः। तस्मात्कर्मशक्तिरेवानपसार्या।

व तनुरोधदसकृद तुग्रहणम्।,

अन्ये तु श्लोकत्रयमप्यन्यथा व्याचक्षते। कर्मशक्तीनां स्वभावनियमो नेनोच्यत इत्याहुः।

(२८) यत्फलं यस्मिन्कर्मण्याहितं प्रजापतिना स कर्मविशेषः पुनः पुनः स ज्यमानो नुष्ठीयमानः स्वयं तत्फलं भजते ददातीत्यर्थः। तेन यागः कृतो यदा फलिष्यति न तदा किंचिदन्यदपेक्षत इति प्रतिपादितं भवति। सेवा ही स्वकृता पि मन्त्रिपुरोहितादिवाक्यमपेक्षते। नैवं यागः। द ष्टस्तु व्यापारस्तेनापेक्ष्यते। द ष्टादुष्टकारणद्वयजन्यत्वात्सर्वस्य कार्यस्याद ष्टान्तरापेक्षा निषिध्यते तदानीम्।

(२९) कर्मणीष्टानिष्टफलप्रदानि विधिप्रतिषेधविषयाणि। कर्माणि द्विश उदाहरति-हिंस्राहिंस्रे इति। हिंस्रा प्रतिषिद्धा। तस्या नरकादिफलप्रदानं नियमितम्, यो ब्राह्मणायावगुरेत् यो मामकायावगुरेत् शतेन यातयादिति वाक्यशेषेभ्यः। सा ततः स्वभावान्न च्यवते। प्रायश्चित्तेषु विशेषं वक्ष्यामः। अहिंस्रं विहितम्। तस्यापि नेष्टफलदानात् स्वभावच्युतिरस्ति। धर्माधर्मयोरेव विशेषा एते। विहितं कर्म धर्मः, प्रतिषिद्धमधर्मः, तयोर्विशेषाः सत्यान तादयः। सत्यं विहितमन तं प्रतिषिद्धम्। एवं सर्वाणि पूर्वोत्तरपदानि विहितप्रतिषिद्धविशेषप्रदर्शनानि।

(३०) अव्यभिचारितद ष्टकार्यकारणसंबन्धीनि कर्माणि। द ष्टान्तः यथर्तुलिङ्गानीति। शेषं समानम्।

लोकानां तु विवद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।। ३१।।

अन्वय - लोकानां तु विवद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।

हिन्दी अर्थ - तत्पश्चात् उस परमात्मा ने प्रजाओं अर्थात् समाज की विशेष व द्वि=शान्ति, सम द्वि एवं प्रगति के लिए मुख बाहु, जंघा और पैर के गुणों की तुलना के अनुसार क्रमः ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य ओर शूद्र वर्ण को निर्मित किया। अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण किया।। ३१।।

मेधातिथिः। पथिव्यादीनां लोकानां विवद्धर्थम्। 'वद्धिः' पुष्टिर्बाहुल्यं वा। ब्राह्मणादिषु चतुर्षु वर्णेषु सत्सु त्रयाणां लोकानां वद्धिः। इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति। ते च यागाद्यधिकृताः। अतस्तैः कर्म कृतमुभौ लोकौ वर्धयति। पुरुषकर्म-प्रचोदिता देवाः। आदित्याज्जायते वष्टिरिति। अस्यापि लोकस्य सष्टिवद्धिः। ब्राह्मणादीन् वर्णान्निरवर्तयन्निर्वर्तितवान् असजत्। मुखबाहूरुपादतः। यथाक्रमम्, मुखाद्ब्राह्मणं, बाहुभ्यां राजन्यम्, ऊरुभ्यां वैश्यम्, शूद्रं पादत इति। तसिः अपादाने। कारणात्कार्यं निष्कृष्यत इवेति भवति अपाये सति अपादानत्वम्।

आद्यं कचिद्ब्राह्मणं स्वमुखावयवेभ्यो दैव्या शाक्त्या निर्मितवान्। अद्यतनानां सर्वेषां मिथुनसम्प्रयोगद्वारेण तत्त्वेभ्य उत्पत्तिदर्शनात्।

परमार्थतः स्तुतिरेषा वर्णनामुत्कर्षापकर्षप्रदर्शनार्थम्। सर्वेषां भूतानां प्रजापतिः श्रेष्ठः। तस्यापि सर्वेषामङ्गानां मुखम्। ब्राह्मणोऽपि सर्वेषां वर्णानां प्रशस्यतमः। एतेन सामान्येन ब्रह्ममुखादुत्पन्न इत्युच्यते। मुखकर्माध्यापनाद्यतिशयाद्वा मुखत इत्युच्यते क्षत्रियस्यापि बाहुकर्म युद्धम्। वैश्यस्याप्यूरुकर्म पशून् रक्षतो गोभिश्चरन्तीभिर्भ्रमणं स्थलपथवारिपथादिषु वाणिज्यायै गमनम्। शूद्रस्य पादकर्म शुश्रुषा।। ३१।।

द्विधा कृत्वा त्मनो देहमर्धेन पुरुषो भवत्।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमस जत्प्रभुः।। ३२।।

अन्वय - आत्मनः देहं द्विधा कृत्वा अर्धेन पुरुष अर्धेन नारी अभवत् तस्यां सः प्रभु विराजन् असजन्।

हिन्दी अर्थ - वह ब्रह्मा अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गया। फिर उस स्त्री में उस ब्रह्मा ने 'विराट्' नामक पुरुष को उत्पन्न किया।। ३२।।

मेधातिथिः। एषा सष्टिः साक्षात्परस्य पुरुषस्य। इयं तु ब्रह्मणः, तस्येवेत्यन्ये। यत्तदन्तरण्डंसमुद्गतं शरीरं तद् द्विधा कृत्वा र्धेन पुरुषो भवत् पुमान् सम्पन्नः शुक्रसेकसमर्थः। अर्धेन नारी गौरीश्वरभङ्गाद्या। अथवा पथगेव तां निर्मितवान्। तां निर्माय तस्यां मैथुनेन धर्मेण विराडिति यस्य नाम प्रसिद्धं तं जनितवान्। एतदुच्यते-प्रजापतिः स्वां दुहितरमगच्छत्। इदमपि जायापत्योः शरीरमात्रभेदात् सर्वत्र कार्येष्वविभागात् तदालम्बनं द्वैधङ्कारवचनम्।। ३२।।

तपस्तप्त्वा स जद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।

तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः।। ३३।।

अन्वय - द्विजसत्तमाः स विराट् पुरुषः तपः तप्त्वा यं तु असजत् तं अस्य सर्वस्य स्रष्टारं माम् वित्।

हिन्दी अर्थ - हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! उस विराट् नामक पुरुष ने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया उसे इस सब संसार के रचयिता मुझ मनु को समझो अर्थात् वह मैं मनु ही हूँ।। ३३।।

मेधातिथिः। स विराट् तपस्तप्त्वा यं पुरुषमसजत् तं मां वित्तजानीध्वम्। एवं स्मृतिपरम्परया नात्र वः किंचिदविदितं मम वर्णयितव्यमस्ति। तन्मध्ये शुद्धिमात्मन आचष्टे। अस्य सर्वस्य स्रष्टारम्। अनेन सर्वशक्तिमाह। जन्मकर्मातिशयवन्तं मां प्रत्ययिततरीकरिष्यतीत्यभिप्रायः। निश्चयोत्पत्त्यर्थं च, अन्यतो वगतेऽपि मनुजन्मनि स्वयमभिधानात्। यथा न्यतः श्रुतोऽपि कश्चित् पच्छयते, 'देवदत्तस्य त्वं पुत्र' इति, 'वाढमिति' तेनोक्ते निश्चय उपजायते। अभिजनवर्णनं कवीनामत्रपाकरं सत्यामपि पारम्पर्येणात्मस्तुतौ। द्विजसत्तमा इत्यामन्त्रणम्। 'सत्तमाः' साधुतमाः श्रेष्ठा इति यावत्।। ३३।।

अहं प्रजाः सिसक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।

पतीन्प्रजानामसजं महर्षीनादितो दश।। ३४।।

अन्वय - प्रजाः सिसक्षुस्तु अहं सुदुश्चरम् तपः तप्त्वा आदितः प्रजानां पतीन् दश महर्षीन् असजम्।

हिन्दी अर्थ - प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा वाले मैंने कठोर तपस्या करके पहले प्रजाओं के पतिरूप दश महर्षियों को उत्पन्न किया।। ३४।।

मेधातिथिः। अहमस जमुत्पादितवान्। दश प्रजापतीन्महर्षीन्। आदितः सुदुश्चरं तपः कृत्वा। सुष्ठु दुःखेन तपश्चर्यते तिपीडाकरं बहुकालं च।। ३४।।

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।

प्रचेतसं वसिष्ठं च भगुं नारदमेव च।। ३५।।

अन्वय - स्पष्टम्।

हिन्दी अर्थ - वे दश प्रजापति ऋषि ये हैं-मरिचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भगु और नारद।।३५।।

मेधातिथिः। तान्महर्षीन्नामतो निर्दिशति-मरीचिमिति।। ३५।।

एते मनूस्तु सप्तान्यानस जन् भूरितेजसः।

देवान् देवनिकायांश्च महर्षीश्चामितौजसः।। ३६।।

अन्वय - एते मनूस्तु भूरितेजसः अन्यान् सप्तान् अस जन् देवान् देवनिकायान् च अमितौजसः महर्षीन् च (अस जन्)।

हिन्दी अर्थ - इन दश मनुओं ने अत्यधिक तेजस्वी अन्य सात मनुओं को उत्पन्न किया और देवताओं देवगणों तथा महातेजस्वी महर्षियों को यक्ष आदि को भी उत्पन्न किया।। ३६।।

मेधातिथिः। एते महर्षयः सप्तान्यान्यमनूनस जन्। अधिकारशब्दो यं मनुरिति। मन्वन्तरेः यस्य प्रजासर्गे तत्स्थितौ वा धिकार उक्तेन प्रकारेण स मनुरित्युच्यते। भूरितेजस अमितौजस इति चैक एवार्थः। एकं प्रथमान्तं ऋषुर्विशेषणम्, द्वितीयं द्वितीयान्तं ऋषुर्व्यानां मन्वादीनां विशेषणम्।

“ननु देवा ब्रह्मणैव स ष्टाः।”

सत्यम् न सर्वे। अपरिमिता हि देवसङ्घाताः। देवनिकाया हि देवस्थानानि स्वर्गलोकब्रह्मलोकादीनि।। ३६।।

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसो सुरान्।

नागान् सर्पान् सुपर्णांश्च पितृणां च पथग्गणान्।। ३७।।

विद्युतो शनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनुषि च।

उल्कानिर्घातकेतूँश्च ज्योतीष्युच्चावचानि च।। ३८।।

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान् विविधांश्च विहङ्गमान्।

पशून् मगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः।। ३९।।

कृमिकीटपतङ्गांश्च युकामक्षिकमत्कुणम्।

सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पथग्विधम्।। ४०।।

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।

यथाकर्म तपोयोगात् स ष्टं स्थावरजङ्गमम्।। ४१।।

अन्वय - स्पष्टम्।

हिन्दी अर्थ - और फिर यक्ष, राक्षस, पिशाचों को गन्धर्व, अप्सराओं और असुरों को और नाग, सर्प, गरुड़ों को, पितरों के पथक्-पथक् गणों को, और बिजली, गिरने वाली बिजलियों, बादलों को, सीधे इन्द्रधनुषों, टेढ़े इन्द्रधनुषों को, उल्काओं, उत्पात की आवाजों, पुच्छल तारों और छोटे-बड़े तारों को, किन्नरों, वानरों, मछलियों को, विविध प्रकार के पक्षियों को, ग्राम्यपशुओं, वन्य पशुओं, मनुष्यों को दोनों ओर दांत वाले हिंसक पशुओं को, छोटे कीड़ों, बड़े कीड़ों, उड़ने

वाले कीड़ों, जूं, मक्खी, खटमलों और सब डंसने वाले मच्छरों को विविध प्रकार के स्थावरों को उत्पन्न किया। इस प्रकार दश प्रजापति मनुओं ने मेरे आदेश से तपोबल के द्वारा यह सब स्थावर-जंगम जगत् कर्मानुसार रचा।। ३७-४१।।

मेधातिथिः। यक्षादीनां स्वरूपभेदश्चेतिहासादिप्रमाणक एव, न प्रत्याक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेन परिच्छिद्यते। तत्र वैश्रवणानुचरा यक्षाः। रक्षांसि विभीषणादयः। तेभ्यः क्रूरतराः पिशाचाः अशुचिमरुदेशादिवासिनो, निकृष्टा यक्षराक्षसभ्यः। हिंसास्तु सर्व एव। छद्मना केचित् प्राणिनां जीवमाकर्षन्त्यदष्ट्या शक्त्या व्याधीश्च जनयन्तीत्यैतिहासिका मन्त्रवादिनश्च। गन्धर्वा देवानुचरा गीतन प्रप्रधानाः। अप्सरसो देवगणिका उर्वश्याद्याः। असुरा देवशत्रवो व त्रविरोचनहिण्याक्षप्रभ तयः। नागा वासुकितक्षकादयः। सर्पाः प्रसिद्धाः। सुपर्णाः पक्षिविशेषा गरुत्मत्प्रभ तयः पितरः सोमपाज्यपादिनामानः स्वस्थाने देववद्वर्तन्ते। तेषां गणमस जन्।।३७।।

मेधातिथिः। मेघोदरद श्यं मध्यमं ज्योतिर्विद्युदुच्यते। यस्यास्तडित्सौदामिनीत्यादयः पर्याया विशेषाश्रयाः। अशनिः शिलाभूता हिमकणिकाः सूक्ष्मद श्याश्च वर्षधारादिवत्पतन्त्यो वेगवद्वातप्रेरिताः सस्यादिविनाशिन्य उच्यन्ते। मेधा अभ्रोदकमरुज्ज्योतिः संघाता आन्तरिक्षाः। रोहितं दण्डाकारमन्तरिक्षे नीललोहितरूपं कदाचित् द श्यते। आदित्यमण्डललग्नं कदाचित् कदाचित्प्रदेशान्तरे पि। तस्यैव विशेष इन्द्रधनुः। वक्रत्वं धनुराकारता धिका स्य। उल्का संध्याप्रदोषादौ विसारिप्रभाण्युत्पाते दिक्षु पतन्ति यानि ज्योतीषि द श्यन्ते। निर्घातः भूम्यन्तरिक्ष उत्पातशब्दः। केतव उत्पाते द श्यमानानि शिखावन्ति ज्योतीषि प्रसिद्धानि। अन्यान्यपि ध्रुवागस्त्यारुन्धतीप्रभ तीनि नानाप्रकाराणि।। ३८।।

मेधातिथिः। अश्वमुखाः प्राणिनो हिमवदादिपर्वतेषु भवन्ति ते किन्नराः वानरा मर्कटमुखाः पुरुषविग्रहाः। विहङ्गमाः पक्षिणः। अजाविकोष्ट्रगर्दभादयः पशवः। म गा रुरूप षतादयः। व्यालाः सिंहव्याघ्रादयः। द्वे दन्तपंक्ती उत्तराधरे येषां भवतस्ते उभयतोदतः।।३९।।

मेधातिथिः। कृमयो त्यन्तसूक्ष्माः प्राणिनः। कीटास्तेभ्य ईषत्स्थूला भूमिचराः। पतङ्गाः शलभादयः। स्थावरं व क्षपर्वतादि। प थग्विधं नानाप्रकारम्। 'क्षुद्रजन्तव' इत्येकवद्भावः।। ४०।।

मेधातिथिः। एवमिति प्रक्रान्तप्रकारपरामर्शः एतैर्मात्मभिर्मरीच्यादिभिः। इदं सर्वं स्थावरजंगमं स ष्टम्। यथाकर्म यस्य जन्मान्तरे याद शं कर्म तदपेक्षम्। यस्यां जातौ यस्य तु युक्तमुत्पत्तुं कर्मवशात्स तस्यामेवोत्पादितः। मन्त्रियोगान्मदाज्ञया। तपोयोगान्महत्कृत्वा तपः। यावत्किंचिन्महदैश्वर्यं तत्सर्वं तपसा प्राप्यमित्येतदनेनाह।। ४१।।

येषां तु याद शं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।

तत्तथा वो भिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि।। ४२।।

अन्वय - इह येषां भूतानां याद शं कर्म तत् यथा कीर्तितम्। इह जन्मनि च क्रमयोगं वः अभिधास्यामि।

हिन्दी अर्थ - इस जगत् में जिन प्राणियों के जो हिंसा-अहिंसा कर्म हैं वे पूर्व में वैसे ही कह दिये गये हैं। अब प्राणियों के जन्म में जो एक निश्चित प्रकार है उसको तुम्हें बताऊंगा।।४२।।

मेधातिथिः। येषां भूतानां याद शं कर्म स्वभावतो हिंसा-अहिंसा वा तद्वत्तथैव कीर्तितम्। इदानीं जन्मक्रमयोगमभिधास्यामि।

“क्व पुनः कर्म कीर्तितम्। यत्रेदं यक्षरक्ष इत्यादि नामनिर्देशो न कर्मनिर्देशः।” उच्यते। नामनिर्देशादेव कर्मावगतिः, कर्मनिमित्तत्वाद्देवां नामप्रतिलम्भस्य। तथाहि यक्षणाद्भक्षणादशनाद्वा 'यक्षाः'। रहसि क्षणान्द रक्षणाद्वा 'रक्षांसि'। पिशिताशनात् 'पिशाचाः'। अद्भ्यः स ता इति 'अप्सरसः'। अम ताख्यायाः सुराया अलाभादसुराः। इत्याद्यप्यूहम्। जन्मनि क्रमयोगो जरायुजाण्डजा इत्यादि वक्ष्यते।। ४२।।

पशवश्च म गाश्चैव व्यालोश्चोभयतोदतः।

रक्षांसि च पिशाचाश्च मानुषाश्च जरायुजाः।। ४३।।

अन्वय - पशव म गाः च उभयोदत व्यालाश्च रक्षांसि पिशाचाश्च मानुषाश्च जरायुजाः (भवन्ति)।

हिन्दी अर्थ - ग्राम्यपशु गौ आदि अहिंसक व त्ति वाले वन्यपशु हिरण आदि और दोनों ओर दांत वाले हिंसक व त्ति वाले पशु सिंह, व्याघ्र आदि तथा राक्षस पिशाच तथा मनुष्य ये सब 'जरायुज' अर्थात् झिल्ली से पैदा होने वाले हैं।। ४३।।

मेधातिथिः। एते जरायुजाः। जरायुरुत्वं गर्भशय्या। तत्र प्रथमं ते सम्भवन्ति। ततो मुक्ता जायन्ते। एष एतेषां जन्मक्रमः। दन्तशब्दसमानार्थो दत्शब्दो न्यो स्तीत्युभयतोदत इति प्रथमाबहुवचने रूपं युज्यते।। ४३।।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।

यानि चैवम्प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च।। ४४।।

अन्वय - पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याः कच्छपाश्च यानि च एवं प्रकाराणि स्थलजानि औदकानि च अण्डजाः (भवन्ति)।

हिन्दी अर्थ - पक्षी, साप, मगरमच्छ तथा कछुए ओर अन्य जो इस प्रकार के भूमि पर रहने वाले और जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब 'अण्डज' अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं।। ४४।।

मेधातिथिः। नक्राः शिशुमारादयः। कच्छपः कूर्मः। यानि चैवम्प्रकाराणि कृ क ल। स। दी नि स्थलजानि। एवरूपाण्यौदकानि जलजानि शंखादीनि।। ४४।।

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।

ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीद शम्।। ४५।।

अन्वय - दंशमशकं यूका-मक्षिक-मत्कुणम् अन्यत् च यत् किंचित् ईद शम् ऊष्मणः उपजायन्ते स्वेदजम् (इति कथ्यन्ते)।

हिन्दी अर्थ - डंक से काटने वाले डांस और मच्छर आदि जूँ, मक्खियां, खटमल, जो और भी कोई इस प्रकार के जीव हैं, जो ऊष्मा अर्थात् सीलन और गर्मी से पैदा होते हैं। वे सब 'स्वेदज' अर्थात् पसीने या सीलन से उत्पन्न होने वाले कहाते हैं।। ४५।।

विशेष - इस श्लोक में श्वेद का अर्थ केवल पसीना मात्र नहीं है। वस्तुतः श्वेद एक उपलक्षण रूप में प्रयुक्त है जो प्राकृतिक पदार्थों में उत्पन्न सीलन अथवा तापयुक्त सीलन तथा नवमेघकृत सेचन का बोधक है।

मेधातिथिः। स्वेदः पार्थिवानां द्रव्याणामग्न्यादित्यादितासंबन्धादन्तः क्लेदस्ततो जायते दंशमशकादि। अन्यदपि यदीद शमत्यन्तसूक्ष्मं पुत्तिकापिपीलिकादि यदूष्मण उपजायते। 'ऊष्मा' स्वेद एव, तद्धेतुर्वा तापः। 'उपजायन्ते' इति पाठे 'ये चान्ये केचिदीद शा' इति पठितव्यम्।। ४५।।

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।

ओषध्यः फलापाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः।। ४६।।

अन्वय - बीजकाण्ड प्ररोहिणः सर्वे स्थावराः उद्भिज्जाः (तेषु) बहुपुष्पफलोपगाः फलापाकान्ता ओषध्यः।

हिन्दी अर्थ - बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले सब स्थावर व क्ष आदि 'उद्भिज्ज'-भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। उनमें-फल आने पर पककर सूख जाने वाले और जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं। वे औषधियाँ कही जाती हैं।। ४६।।

मेधातिथिः। उद्भेदनमुद्भित्। भावे क्विप्। ततो जायन्त इति उद्भिज्जाः। उप्तं बीजं भूमिं च भित्वा विदार्य जायन्ते व क्षाः। सर्वे बीजात्काण्डाच्च प्ररोहन्ति जायन्ते मूलस्कन्धादिना द ढीभवन्ति। तथौषध्यः। औषध्य इति युक्तम्। ईकारः कृदिकारादिति, छान्दसो वा। इदं तासां स्वाभाविकं कर्म।

पाकान्ताः फलपाकः अन्तो नाश आसामिति। पक्वे फले ब्रीह्यादयो नश्यन्ति बहुना च पुष्पफलेनोपगताः युक्ता भवन्ति। औषधीनां व क्षाणां च यथासम्भवमेतद्विशेषणम्॥ ४६॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्म ताः॥

पुष्पिणः फलिनश्चैव व क्षास्तूभयतः स्म ताः॥ ४७॥

अन्वय - ये अपुष्पाः फलवन्तः ते वनस्पतयः स्म ताः। पुष्पिणः फलिनः च उभयत एव (ते) व क्षाः।

हिन्दी अर्थ - जिन पर बिना फूल आये ही फल लगते हैं, वे 'वनस्पतियां' कहलाती हैं। यथा-पीपल, गूलर आदि और फूल लगकर फल लगने वाले दोनों से युक्त होने के कारण वे उद्भिज्ज स्थावर जीव 'व क्ष' कहलाते हैं॥ ४७॥

मेधातिथिः। विना पुष्पेण फलं जायते येषां ते वनस्पतयः कथ्यन्ते, न व क्षाः पुष्पिणः फलिनश्च व क्षा उभययोगात्। क्वचिद्वनस्पतयो व क्षा अपि उच्यन्ते, व क्षाश्च वरस्पतयो पि। तत्र विशेषहेतुं दर्शयिष्यामः।

वयं तु ब्रूमः। नायं शब्दार्थसम्बन्धविधिव्याकरणस्मृतिवत्। तेन नायमर्थो य एवंस्वभावास्ते वनस्पत्यादिशब्दवाच्याः, किं तर्हि पुष्पफलानां जन्मोच्यते। तस्य वक्तव्यतया प्रकृतत्वात् 'क्रमयोगं तु जन्मनीति'। द्विधा फलानामुत्पत्तिः। अन्तरेण पुष्पाणि जायन्ते पुष्पेभ्यश्च। एवं पुष्पाणि व क्षेभ्यश्च। तेन यद्यप्येवमभिधानं 'ये फलिनस्ते वनस्पतयो ज्ञेयास्तथापि प्रकरणसामर्थ्याद्यत्तदोर्व्यत्ययः कर्तव्यः। 'ये वनस्पतय इति एवं प्रसिद्धास्ते पुष्पाः फलवन्तस्तेभ्यः पुष्पमन्तरेण फलानि जायन्ते इति।' सामर्थ्याच्चायं क्रमो वतिष्ठते। यथा 'वाससा स्तम्भं परिवेष्टयेति' वाससि परिधातव्ये यमर्थो स्य भवति-'स्तम्भे निधाय वासः परिधापयेति।'

प्रसिद्धमप्येतदनूद्यते 'तमसा बहुरूपेणेत्ये' तत्प्रतिपादयितुम्॥ ४७॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव त णजातयः।

बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च॥ ४८॥

अन्वय - विविधं गुच्छगुल्मं तथैव त णजातयः, बीजकाण्डरुहाणि, प्रतानाः वल्ल्यः च (सर्वा उद्भिज्जाः) एव।

हिन्दी अर्थ - अनेक प्रकार के जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'झाड़' आदि एक जड़ से अनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' आदि उसी प्रकार घास की सब जातियां, बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले उगकर फैलने वाली 'दूब' आदि और उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें ये स्थावर भी 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं॥ ४८॥

मेधातिथिः। याः संहता भूमेर्बद्धाः एकमूला अनेकमूलाश्च लता उत्तिष्ठन्ति न च व द्विं महतीं प्राप्नुवन्ति तासां सङ्घातो 'गुच्छगुल्म' शब्दवाच्यः त ष्णमूलकादिः। तयोस्तु भेदः पुष्पवदपुष्पकृतो वा। अन्या वा 'त णजातयः' कुशशाद्वलशङ्खपुष्पीप्रभ तयः। प्रताना दीर्घा भूमिगतास्त णप्ररोहाः। 'वल्ल्यो' व्रतत्यः भूमेरुत्पद्य व क्षमन्यं वा कचित्परिवेष्टयोर्ध्वमारुहन्ति। सर्वमेतत् व क्षवत् बीजकाण्डरुहम्॥ ४८॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ ४९॥

अन्वय - कर्महेतुना बहुरूपेण तमसा वेष्टिताः एते सुखदुःखसमन्विताः अन्तःसंज्ञाः भवन्ति।

हिन्दी अर्थ - पूर्वजन्मों के बुरे कर्मफलों के कारण बहुत प्रकार के अज्ञान आदि तमोगुण से घिरे हुए या भरपूर ये स्थावर जीव सुख और दुःख के भावों से संयुक्त हुए आन्तरिक चेतना वाले होते हैं। अर्थात् इनके भीतर चेतना तो होती है, किन्तु अत्यधिक तमोगुण के कारण चेतना और भावों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता॥ ४९॥

मेधातिथिः। 'कर्म' अधर्माख्यं हेतुर्यस्य तमसस्तेन वेष्टिता व्याप्ताः। बहुरुपेण विचित्रदुःखानुभवतिमितेन। यद्यपि सर्वं त्रिगुणं तथा प्येषां तम उद्विक्तम् अपचिते सत्त्वरजसी। अतस्तमोबाहुल्यान्नित्यं निर्वेददुःखादियुक्ता अधर्मफलमनुभवन्तः सुचिरमासते।

सत्त्वस्यापि तत्र भावात् कस्यांचिदवस्थायां सुखलेशमपि भु जते। तदाह सुखदुःखसमन्विता इति। अन्तः संज्ञेति। 'संज्ञा' बुद्धिस्तल्लिङ्गस्य बहिर्विहारव्याहारादेः कार्यस्य चेष्टारूपस्याभा भवावादान्त संज्ञा उच्यन्ते। अन्यथा न्तरेव सर्वः पुरुषश्चेतयते। अथवा यथा मनुष्याः कण्टकादितोदं चेतयन्ते नैवं स्थावराः। ते हि महान्तं प्रतोदं परशुविदारणादि दुःखासंज्ञायामपेक्षन्ते। यथा स्वापमदमूर्च्छावस्थागताः प्राणिनः।

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।

घोरे स्मिन् भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि॥ ५०॥

अन्वय - अस्मिन् घोरे नित्यं सततयायिनि भूतसंसारे ब्रह्माद्याः एतदन्ताः तु गतयः समुदाहृताः। **हिन्दी अर्थ -** इस दुःखों से भरे निरन्तर प्रवहमान प्राणियों के संसार में ब्रह्मा से लेकर इन स्थावर योनियों की स्थिति पर्यन्त की गतियां-अवस्थाएं कह दी हैं॥ ५०॥

मेधातिथिः। एषो न्तोवसानं वल्लीगतिर्यासां गतीनां ता एतदन्ताः। कृतकर्मफलोपभोगार्थमात्मनस्तत्तच्छरीरसम्बन्धो। गतिरुच्यते। अस्याः स्थावरात्मिकाया गतेरन्या निकृष्टा दुःखबहुला गतिर्नास्ति। ब्रह्मगतेश्चान्या द्योत्तमा गतिरानन्दरूपा नास्ति। एता गतयः शुभाशुभैः कर्मभिर्धर्माधिर्माख्यैः प्राप्यन्ते। परब्रह्मावाप्तिस्तु मोक्षलक्षणा केवलानन्दरूपा ज्ञानात् ज्ञानकर्मसमुच्चयाद्वेति वक्ष्यामः।

भूतसंसारे 'भूतानां' क्षेत्रज्ञानां संसारे जन्ममरणप्रबन्धे जात्यन्तरागमने। घोरे प्रमादालस्यवतां भीषणे, इष्टवियोगानिष्टयोगोत्पत्त्या। सततं सर्वकालं गमनशीले विनाशिन्यसारे पिनित्यं घोरे न कदाचिदघोरे। देवादिगतिष्वपि सुचिरं स्थित्वा मर्तव्यमिति नित्यं घोरः। तदनेन धर्माधर्मनिमित्तत्वसंवर्णनेन संसारस्य शास्त्रस्य महाप्रयोजनता प्रतिपदिता भवति। शास्त्राद्धि धर्माधर्मयोर्विवेकज्ञानमित्यध्येतव्यम्॥ ५०॥

एवं सर्वं स स ष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।

आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्॥ ५१॥

अन्वय - एवं सः अचिन्त्य पराक्रमः सर्वं माम् च स ष्ट्वा कालं कालेन भूयः पीडयन् आत्मनि अन्तर्दधे। **हिन्दी अर्थ -** इस प्रकार वह अनन्त शक्तिवाला ब्रह्मा समस्त संसार और मुझ मनु को उत्पन्न करके प्रलयकाल को स ष्टि-उत्पत्ति के काल से पीड़ित करते हुए परमात्मा में अन्तर्धान हो गया॥ ५१॥

मेधातिथिः। एवं किंचित्साक्षात्किंचित्प्रजापतिनियोगेन स भगवान् सर्वमिदं जगत्स ष्ट्वोत्पाद्य मां च जगत्स्थितौ नियोज्य। अचिन्त्य आश्चर्यरूपो महान् प्रभावः पराक्रमः सर्वविषया शक्तिर्यस्य स स्रष्टा न्तर्दधे न्तर्धानं कृतवानिच्छाग हीतं शरीरं योगशक्त्योज्जित्वा पुनरप्रकाशः संव त्तः। आत्मनीति। यथा न्ये भावाः प्रकृतावन्तर्धीयन्त एवं सो न्यत्रेत्येव न, किं तर्ह्यात्मन्येव प्रलीनः न हि तस्यान्या प्रकृतिरस्ति यत्रान्तर्धीयेत, सर्वभूतानां तत्प्रकृतित्वात्। जगत्सर्वव्यापारान्निव त्तिर्वा न्तर्धानम्। भूयःकालं कालेन पीडयन्। स ष्ट्वेत्येतक्रियापेक्षः शता द्रष्टव्यः। प्रलयकालं सर्गस्थितकालेन विनाशयन्। भूयः पुनः पुनरित्यर्थः। वक्ष्यति 'अनन्ताः सर्गसंहारा' इति॥ ५१॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥ ५२॥

अन्वय - यदा स देवः जागर्ति तदा इदं जगत् चेष्टते, यदा (सः) शान्तात्मा स्वपिति तदा सर्वं निमीलति।

हिन्दी अर्थ - वह परमात्मा जागता है अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के लिए प्रवृत्त होता है तब समस्त संसार चेष्टायुक्त होता है, और जब यह शान्त आत्मा वाला सभी कार्यों से शान्त होकर सोता है अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति, स्थिति के कार्य से निवृत्त हो जाता है तब यह समस्त संसार प्रलय को प्राप्त हो जाता है।। ५२।।

मेधातिथिः। स देवो यदा जागर्ति यदैवदिच्छतीदं जगदुत्पद्यतामेतां स्थितिं च कालमियन्तं लभतामिति तदा चेष्टते। मानसवाचिकभौतिकैर्व्यापारैरान्तरैर्बाह्यैश्च श्वासप्रश्वासाहारविहारकृषियागादिभिर्युक्तं भवति। यदा स्वपिति यदा निवृत्तेच्छो भवति जगत्सर्गस्थितिभ्यां, तदा सर्वं निमीलति प्रलयं प्राप्नोति। जागर्या स्वापश्च प्रजापतेरिच्छाप्रवृत्तिनिवृत्ती उच्येते। शान्तात्मत्वं भेदावस्थोपसंहारः।। ५२।।

तस्मिन् स्वपित तु सुस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः।

स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमच्छति।। ५३।।

अन्वय - सुस्थे तस्मिन् स्वपित कर्मात्मानः शरीरिणः स्वकर्मभ्यः निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमच्छति।

हिन्दी अर्थ - सृष्टि-कर्म से निवृत्त हुए उस परमात्मा के सोने पर कर्मों - श्वास-प्रश्वास, चलना-सोना आदि कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे देहधारी जीव भी अपने-अपने कर्म से निवृत्त हो जाते हैं और 'महत्' तत्व सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की अवस्था को या अपने कारण में लीन होने की अवस्था को प्राप्त करता है।। ५३।।

मेधातिथिः। पूर्वव्याख्यानश्लोको यं विस्पष्टार्थः। स्वस्थे सुस्थिरे। शान्तात्मवच्छुद्ररूपे। स्वात्मन्यवसीनमौपाधिकभेदनिवृत्तिः। कर्मात्मानः कर्मप्रधानाः संसारिणः क्षेत्रज्ञाः शरीरिणः। कर्मसम्बन्धेन शरीरसंबन्धानुभवादेव मुच्यन्ते। तस्मिन्स्वपिति शयाने स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते। शरीरचेष्टानिवृत्तिरेतेनोच्यते। मनश्च ग्लानिमच्छति। एतेनान्तरव्यापारनिवृत्तिः। अतो बाह्यान्तरव्यापारनिवृत्त्या प्रलयः प्रतिपादितो भवति। ग्लानिर्निरुत्साहः स्वव्यापारे शक्ततामच्छति प्राप्नोति।। ५३।।

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।

तदा यं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निवृत्तः।। ५४।।

अन्वय - तस्मिन् महात्मनि यदा युगपत्तु प्रलीयन्ते तदा अयं सर्वभूतात्मा निवृत्तः सुखं स्वपिति।

हिन्दी अर्थ - उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में जब एक साथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं तब यह सब प्राणियों का आश्रय स्थान परमात्मा सृष्टि-संचालन के कार्यों से निवृत्त हुआ-हुआ सुखपूर्वक सोता है।। ५४।।

मेधातिथिः। यादोर्व्यत्ययेनायं श्लोको व्याख्यातव्यः। अन्यथा पूर्वश्लोकापेक्ष्येतरैतराश्रयः प्रसज्येत। एतदुक्तम्, यदा स्वपिति तदा निमीलति सर्वम्।

सुखं स्वपिति निवृत्तः। सुखस्वरूपमेव परं ब्रह्म, न तस्य स्वापावस्थायां सुखमन्यदा दुःखम्। स्वापश्च तस्य यादृशः स प्रागुक्त एव। निवृत्तिश्च तस्य सर्वकालम्। न ह्यसौ परमात्मा विद्योपप्लवतरङ्गैराम श्यते, केवलसुखमयः। तस्य सर्वस्य कर्तृत्वं उपपद्यते। यथा यं पुरुष उपरतो गृहकृत्येभ्यः कृतकृत्यतया जितं मया धनं गृहोपयोगिनिरुपद्रवश्चास्मि संवृत्त इत्येवं सुखं स्वपिति निवृत्तो रिनाशंकात्मबाध एवमुपमीयते सावपि। तस्यापीदं जगत् कुटुम्बभूतमिति प्रशंसा।

प्रधानविषयो वा यं श्लोको वर्णनीयः। तदा प्रधानं स्वपिति यदा युगपत्सर्वाणि भूतानि तत्र प्रलीयन्ते तदात्मतां कारणरूपतामापद्यन्ते विकारावस्थामुज्जन्ति युगपद्यावन्ति त्रैलोक्योदरवर्तीनि। स्वापश्च परिणामनिवृत्तिं पुनर्ज्ञानोपसंहतिः अचेतनस्य प्रधानस्य। सुखं चोपचारतो चेतनत्वादेव।। ५४।।

तमो यं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठन्ति सेन्द्रियः।

न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः।। ५५।।

अन्वय - अयं तु तमः समाश्रित्य सेन्द्रियः चिरं तिष्ठति, कर्म च न कुरुते, तदा मूर्तितः उत्क्रामति ।

हिन्दी अर्थ - यह जीव तो अज्ञान का आश्रय कर इन्द्रियों सहित बहुत समय तक रहता है किन्तु अपने कर्म नहीं करता है फिर उसके पश्चात् शरीर से निकल जाता है ॥ ५५ ॥

मेधातिथिः । इदानीं संसारिणः पुरुषस्य मरणं देहान्तरप्राप्तिश्चाभ्यां श्लोकाभ्यां कथ्यते । तमो ज्ञाननिवृत्तिस्तां समाश्रित्य चिरं तिष्ठत्यास्ते सेन्द्रियः । न च स्वं कुरुते कर्म श्वासप्रश्वासादिकम् । तदा मूर्तितः शरीरादुत्क्रामति गच्छति ।

ननु च सर्वगत आत्मा काशवद्विभुस्तस्य कीदृशुत्क्रान्तिः ?

कर्मोपार्जितशरीरत्याग एवोत्क्रान्तिः, न पुनर्मूर्तस्येवार्थस्य देशादेशान्तरगमनम् । अथवा कैश्चिदधिष्ठिते-अस्त्यन्यदन्तराभवं शरीरं सूक्ष्मं यस्येयमुत्क्रान्तिः । अन्यैस्त्वन्तराभवदेहो नेष्यते । यथाह भगवान्व्यासः । “अस्मिन्देहे व्यतीते तु देहमन्यत्रराधिप । इन्द्रियाणि वसन्त्येव तस्मान्नास्त्यन्तराभवः ॥” साङ्ख्या अपि केचिन्नन्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभ तयः ।

“को मन्तराभवो नामः ।”

अस्मि छरीरे नष्टे मात कुक्ष्यादिस्थानं द्वितीयशरीरग्रहणार्थं यावन्न प्राप्तं, तावदन्तरा निरुपभोगं शरीरमुपजायते सूक्ष्मं, यस्य न क्वचित्संयोगो नाग्न्यादिदाहो न महाभूतैः प्रतिबन्धः ।

अन्ये तु मूर्ति परमात्मानमाहुः । सर्वात्मरूपः परमात्मा समुद्रस्थानीयस्ततः प्रादुर्भवन्ति जीवा अविद्यावशाद्भेदमुपयन्ति, महोदधेरिवोर्मयः । तस्य च ततो निष्क्रामतः पुर्यष्टाकाख्यं लिङ्गमभ्युपगम्यते, पूर्वकृतधर्माधर्मवशात्प्रत्येकस्य जीवस्य वासः स्थानीयं सूक्ष्मं शरीरम् । यथा पुराण उक्तम् “पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाख्येन स युज्यते । तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु ॥” ते च प्राणापानव्यानोदानसमानाः प च बुद्धीन्द्रियवर्ग एवं कर्मेन्द्रियवर्गो षट् मन इत्येतत्पुर्यष्टकम् । तच्छरीरं न नश्यति आमोक्षावस्थायाः । तदुक्तं “संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्” ॥ ५५ ॥

यदा णुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थासु चरिष्णु च ।

समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुचति ॥ ५६ ॥

अन्वय - यदा अणुमात्रिकः भूत्वा स्थासु चरिष्णु च बीजम् संसृष्टः समाविशति तदा मूर्तिं विमुचति ।

हिन्दी अर्थ - जब अणुमात्रिक होकर स्थिरताशील स्थावर जीवों में और विचरणशील जीवों में बीज के रूप में अपने सूक्ष्म अवयवों से संयुक्त होकर प्रवेश करता है तब शरीर को धारण करता है ॥ ५६ ॥

मेधातिथिः । अण्व्यः सूक्ष्मा मात्रा अवयवा यस्य सो णुमात्रिकः । पुर्यष्टकमन्तराभवदेहो वा स्वभावत एव वा त्मानः सूक्ष्माः । यथोक्तम् । “स एष आत्मा न्तर्हृदये णीयानित्यादि । बीजं शरीरोत्पत्तिकारणम् । स्थासु व क्षादिजन्महेतुभूतम् । चरिष्णु जङ्गमम् । समाविशत्यधितिष्ठति प्रतिनिबध्यते । यदा तेन संसृष्टः प्राणादिभिस्तदा मूर्तिं विमुचत्याबध्नाति शरीरं गहणातीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।

स जीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

अन्वय - एवं स जाग्रत् स्वप्नाभ्यां इदं सर्वं चराचरम् अजस्रं स जीवयति प्रमापयति च ।

हिन्दी अर्थ - इस प्रकार वह अविनाशी परमात्मा जागने और सोने की अवस्थाओं के द्वारा इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है और फिर मारता है अर्थात् कारण में लीन करता है ॥ ५७ ॥

मेधातिथिः । उपसंहारः पूर्वोक्तस्य । आत्मसम्बन्धिभ्यां जाग्रत्स्वप्नाभ्यां चराचरम् स्थावरं जङ्गमं जीवयति मारयति च जगत् । अव्ययो विनाशी ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वा सौ मामेव स्वयमादितः।

विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्॥ ५८॥

अन्वय - असौ इदं शास्त्रं तु कृत्वा आदितः मामेव विधिवत् स्वयं ग्राहयामास अहं तु मरीच्यादीन् मुनीन्।

हिन्दी अर्थ - उस ब्रह्मा ने इस 'मनुस्मृति' शास्त्र को रचकर सबसे पहले मुझ मनु को ही विधि-अनुसार स्वयं पढ़ाया और फिर मैंने मरीची आदि दश मुनियों को पढ़ाया॥ ५८॥

मेधातिथिः। इह शास्त्रशब्देन स्मार्तो विधिप्रतिषेधसमूह उच्यते, न तु ग्रन्थस्तस्य मनुना कृतत्वात्। तथा हि मानव इति व्यपदेशो स्य। इतरथा हि हैरण्यगर्भ इति व्यपदिश्येत। केचित्तु हिरण्यगर्भनापि कृते ग्रन्थे मनुना बहूनां प्रकाशितत्वात्तेन व्यपदेशो युज्यत एव। यथा हिमवति प्रथममुपलभ्यमाना गङ्गा न्यतो प्युत्पन्ना हैमवतीति व्यपदिश्यते, यथा च नित्यं दर्शनात्काठकं प्रवचनं कठेन व्यपदिश्यते। सत्त्वप्यन्येष्वध्येत ष्वध्यापयित षु च प्रवचनप्रकर्षात्कठेन व्यपदेशः। नारदश्च स्मरति- 'शतसाहस्रो यं गन्ध प्रजापतिना कृतस्ततः स मन्वादिभिः क्रमेण संक्षिप्त' इति। अतो न्यकृतत्वे पि मानवव्यपदेशो न विरुद्धः। शास्त्रशब्देन ग्रन्थाभिधानमपि शासनरूपार्थप्रतिपादकत्वाद्दृष्टमेव।

मामेव ग्राहयामासाहं तेनाध्यापित इत्यर्थः। 'स्वयमादितो' 'विधिव' दित्येभिः पदैरागमस्याविभ्रंश उच्यते। ग्रन्थकारेण हि स्वकृतो ग्रन्थो यः स्वयमध्याप्यते प्रथमं तत्र मात्रा पि न परिहीयते। अन्यस्य हि तस्मादधिगतवतो न्यमध्यापयतो न तद्ग्रन्थाविनाशे यत्नो भवति। कर्तुराष्यध्यापितपूर्वस्य प्रतिष्ठापितो मया पूर्वमयं ग्रन्थ इति द्वितीयवारं प्रमादालस्यादिना भ्रंशः संभाव्यते। अत आदित इत्युक्तम्। विधिवच्छिष्योपाध्याययोरनन्यमनस्कतादिगुणो वहितचित्तता 'विधिः'। अर्हं वतिः।

मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्। मरीच्यादयः प्रसिद्धप्रभावास्तैरप्येतन्मत्सकाशादधीतमित्यात्मनो विशिष्टशिष्यसम्बन्धेन सिद्धमौपाध्यायिकं दर्शन्यमहर्षीणां शास्त्रमाहात्म्येन च श्रद्धातिशयं जनयत्यध्ययनाविरामाय। एवंविमेमेतन्महच्छास्त्रं यन्मरीच्यादिभिरप्यधीतम्। एष चेद शो महात्मा मनुस्तेषामुपाध्याय इति युक्तमेतस्य सकाशादेतद्ग्रन्थाध्ययनमित्याशास्त्रपरिसमाप्तेर्नोपरमन्ते श्रोतार इत्युभयथा पि शास्त्रप्रशंसा॥ ५८॥

एतद्वो यं भ गुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।

एतद्धि मत्तो धिजगे सर्वमेषो खिलं मुनिः॥ ५९॥

अन्वय - अयं भ गुः एतत् शास्त्रं अशेषतः वः श्रावयिष्यति हि एष मुनिः एतत्सर्वं अखिलं मत्तः अधिजगे।

हिन्दी अर्थ - यह भ गु मुनि इस मनुस्मृति शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से आप लोगों को सुनायेगा क्योंकि इस मुनि ने इस सम्पूर्ण मनुस्मृति शास्त्र को भलीभांति मुझ मनु से पढ़ा है॥ ५९॥

मेधातिथिः। एतच्छास्त्रं वो युष्माकमयं भ गुरशेषतः सर्वं श्रावयिष्यति कर्णपथं नेष्यत्यध्यापयिष्यति व्याख्यास्यति च। एतच्छास्त्रस्यैतदा प्रत्यवमर्शः। एतच्छास्त्रमेव मुनिरखिलम् अशेषं मत्तो मत्सकाशादधिजगे धिगतवान् ज्ञातवान्। गुरुमुखाद्विद्या निष्क्रामतीव शिष्यः प्रतिगृह्णातीवेत्यतः अपादाने तसिर्मत्त इति युक्तः। भ गुस्तु महर्षीणां प्रख्याततरप्रभावः। तस्य प्रवक्तृत्व-नियोगेनानेकाशेषनिरतिशयविद्याविदामागमरम्परया गतमेतच्छास्त्रमिति प्रदर्श्यते। अतश्च केषांचिदयमपि प्रवृत्तिप्रकारो दृश्यते, बहुभ्यो महात्मभ्यः शास्त्रमिदवतीर्णमिति किमिति नाधीमह इत्यध्ययनादिप्रवृत्त्याभिमुख्यं शास्त्रे जन्यते॥ ५९॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भ गुः।

तानब्रवीद षीन्सर्वान् प्रीतात्मा श्रूयतामिति॥ ६०॥

अन्वय - ततः तेन मनुना तथा उक्तः स महर्षिः भ गुः प्रीतात्मा तान् सर्वान् ऋषीन् श्रूयतामिति अब्रवीत्।

हिन्दी अर्थ - उसके बाद उस महर्षि मनु के द्वारा इस प्रकार कहने पर वह महर्षि भगु प्रसन्नचित्त होकर जिज्ञासा की दृष्टि से आये उन सब ऋषियों को 'सुनिये' ऐसा बोले।। ६०।।

मेधातिथिः। स महर्षिर्भगुस्तेन मनुना तथोक्त एष वः श्रावयिष्यतीति नियुक्तस्ततो नन्तरं तान षीनब्रवीच्छ्रूयतामिति। प्रीतात्मानेकशिष्यसन्निधावहमत्र नियुक्त इति बहुमानेन प्रीतात्मत्वं प्रवक्त त्वयोग्यतयाज्ञाकरो हमनेन सम्भावित इत्यात्मनि भगोर्बहुमानः।। ६०।।

स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड् वंश्या मनवो परे।

स षट्वन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः।। ६१।।

अन्वय - अस्य स्वायम्भुवस्यास्य मनोः वंश्या अपरेः महात्मनः महौजसः षड् मनवः स्वाः स्वाः प्रजाः स षट्वन्तः।

हिन्दी अर्थ - इस स्वायम्भुव मनु के वंश के अन्य महात्मा तथा महान् ओजस्वी छः मनु और हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने प्रजाओं की दृष्टि की थी।। ६१।।

मेधातिथिः। उपाध्यायो धर्मान्य ष्टो जगदुत्पत्त्यादि वर्णितवान्। तथैव शिष्योऽपि तन्नियुक्तस्तच्छेषमेव वर्णयितुमारब्धः। अस्येति साक्षात्कारेण मनुं प्रत्यवम शति। अस्मदुपाध्यायस्य स्वायम्भुव इति ख्यातस्य षडन्ये परे मनवो वंश्या एकस्मिन्वंशे कुले जाताः सर्वे वंश्याः। सर्वे हि साक्षाद्ब्रह्मणा स ष्टा इत्येककुलसम्भवाद्द्वंश्या उच्यन्ते। अथवा एकस्मिन्कार्ये धिकृता वंश्या एककर्मान्वयेन प्राणिनां वंशव्यवहारो भवति। 'द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्याः।' तेषां चैकं धर्म दर्शयति स षट्वन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः इति। मन्वन्तरे मन्वन्तरे यस्य मनोरधिकारः स एव प्रजानां पूर्वमन्वन्तरनिष्ठानां ऋष्या पालयिता च। अतो येन याः प्रजाः स ज्यन्ते तास्तस्य स्वा भवन्ति।। ६१।।

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।

चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च।। ६२।।

अन्वय - स्पष्टम्।

हिन्दी अर्थ - उनके नाम हैं-स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महातेजस्वी विवस्वत का पुत्र-वैवस्वत।। ६२।।

मेधातिथिः। तान्मनूनामतो निर्दिशति। महातेजा इति विशेषणम्। अन्यानि नामानि रूढ्या संबन्धेन वा। विवस्वत्सुत इति समासपदरूपं शब्दान्तरं कृष्णसर्पनरसिंहादिशब्दवत्।। ६२।।

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।

स्वे स्वे न्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्।। ६३।।

अन्वय - स्वायम्भुवाद्याः एते भूरितेजसः सप्त मनवः स्वे स्वे अन्तरे इदं सर्वं चराचरम् उत्पाद्य आपुः।

हिन्दी अर्थ - स्वायम्भुव आदि इन सात महातेजस्वी मनुओं ने अपने-अपने सप्तिकाल में इस समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करके उसका पालन किया।। ६३।।

मेधातिथिः। अत्र सप्त मनवो मया प्रोक्ताः। अन्यत्र चतुर्दश पठ्यन्ते। स्वे स्वे न्तरे वसरे प्राप्ते धिकारकाले इति यावत्। उत्पाद्य प्रजा आपुः पालितवन्तः। स्वे स्वे न्तरेधिकारावसरे, यस्य मनोर्यस्मिन्काले प्राप्तः सर्गस्थितिपालनाधिकारः।

अन्ये त्वन्तरशब्दं मासादिशब्दवत्कालविशेषवाचिनं मन्यन्ते। तदयुक्तम्। मनुशब्दोपसंहितः कालविशेषविषयो मन्वन्तरो नाम कालो न तु केवल इति।। ६३।।

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा, त्रिंशत् तु ताः कला।

त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः।। ६४।।

अन्वय - दश च अष्टौ च निमेषाः काष्ठा, ता त्रिंशत् कला, त्रिंशत्कलाः मुहूर्तः स्यात्, तावत् तु अहोरात्रम्।

हिन्दी अर्थ - दश और आठ मिलाकर अर्थात् अठारह निमेषों की एक काष्ठा होती है। उन तीस काष्ठाओं की एक कला होती है, तीस कलाओं का मुहूर्त होता है, और उतने ही अर्थात् ३० मुहूर्तों के एक दिन-रात होते हैं।। ६४।।

विशेष - एक बार पलक झपकने के समय को निमेष कहते हैं। विद्वज्जन पद्य में निर्दिष्ट प्राचीन काल परिमाण की तुलना आधुनिक काल परिमाण से इस प्रकार करते हैं - आधुनिक काल-विभाग के अनुसार इस समय को निम्न प्रकार बांटा जा सकता है - ०.१७७७७ सैकिण्ड का निमेष, ३.२ सैकेण्ड की १ काष्ठा, १ मिनट ३६ सैकिण्ड की १ कला, ४८ मिनट का १ मुहूर्त और २४ घण्टे के एक दिन-रात होते हैं।

मेधातिथिः। स्थितिप्रलयकालपरिमाणनिरूपणार्थं ज्योतिःशास्त्रागोचरं कालविभागं वक्तुमुपक्रमते। अष्टादश निमेषाः काष्ठा नाम कालो भवति। त्रिंशत्काष्ठाः कला। त्रिंशत्कला एको मुहूर्तः स्यात्। तावतः त्रिंशदित्यर्थः। त्रिंशन्मुहूर्तः अहोरात्रम्। विद्यादिति क्रियापदमाहृत्य तावत् इति द्वितीयाबहुवचनम्। अथ को यं निमेषो नाम। अक्षिपक्ष्मणोर्नैसर्गिककम्प उन्मेषसहचारी अन्यैस्तु पठितं यावता कालेन व्यक्तमक्षरमुच्चार्यते स निमेषः।। ६४।।

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।

रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः।। ६५।।

अन्वय - सूर्यो मानुषदैविके अहोरात्रे विभजते भूतानां स्वप्नाय रात्रिः कर्मणां चेष्टायै अहः।

हिन्दी अर्थ - सूर्य मानुष=मनुष्यों के और दैवी=देवों के दिन-रातों का विभाग करता है, उनमें प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है और कामों के करने के लिए 'दिन' होता है।। ६५।।

मेधातिथिः। अहश्च रात्रिश्च ते अहोरात्रे। तयोर्विभागं करोति आदित्यः। उदित आदित्ये यावत्तदीया रश्मयो द श्यन्ते तावदहर्व्यवहारः। अस्तमिते तु प्रागुदयाद्रात्रिव्यवहारः। मनुष्यलोके देवलोके वा।

यत्र तर्ह्यादित्यो न व्याप्नोति रश्मिभिस्तत्र कथयसमहोरात्रविभागो विज्ञेयो तआह। रात्रिः स्वप्नायेति। स्वयंप्रभेषु भूतेषु नित्यप्रकाशित्वात्कर्मचेष्टाकार्यारम्भेण स्वापेन च विभागः। यथैवौषधीनां नियतः प्रादुर्भावकालः स्वाभाव्यादेवं कर्मचेष्टास्वापावपि कालस्वभावत एव नियतौ।। ६५।।

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः, प्रविभागस्तु पक्षयोः।

कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी।। ६६।।

अन्वय - पित्र्ये मासः, रात्र्यहनी तु पक्षयोः प्रविभागः कर्मचेष्टासु कृष्णः अहः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी।

हिन्दी अर्थ - पितरों के लिए मनुष्यों का एक मास रात-दिन के समान है, अर्थात् मनुष्यों के ३० दिन-रात का एक मास पितरों के एक दिन-रात होते हैं उनमें दो पक्षों का विभाग किया जाता है। पितरों के काम करने के लिए 'कृष्णपक्ष' उनके दिन के समान है और 'शुक्लपक्ष' सोने के लिए उनकी रात है।। ६६।।

मेधातिथिः। यो मनुष्याणां मासः स पितृणामहर्निशम्। कतरदहः कतमा च रात्रिरिति प्रविभागः। इदमहरियं रात्रिरित्येष विभागः। पक्षयोः प चदशरात्रिसम्मितयोरर्द्धमासाख्ययोर्व्यवस्थितः। पक्षाश्रित इत्यर्थः। एकः पक्षो हरपरो रात्रिस्योश्च भिन्नस्वभावत्वान्नियतक्रमत्वाच्च विशेषमाह। अहः कृष्णः पक्षः। शुक्लः पक्षः शर्वरी रात्रिः। 'कर्मचेष्टाभ्य' इति युक्तः पाठः। यथा 'स्वप्नायेति'। तादर्थ्यमेव विषयभावेन विवक्षितम् व तानुरोधदतः सप्तमी।। ६६।।

दैवे रात्र्यहनी वर्ष प्रविभागस्तयोः पुनः।

अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्यादक्षिणायनम्।। ६७।।

अन्वय - वर्षम् दैवे रात्र्यहनी तयोः पुनः प्रविभागः तत्रोदगयनम् अहः दक्षिणायनम् रात्रिः स्यात्।

हिन्दी अर्थ - मनुष्यों का एक वर्ष एक दैवी 'दिन-रात' होते हैं उन दैवी 'दिन-रात' का फिर विभाग है-उसमें सूर्य की भूमध्य रेखा से उत्तर की ओर स्थिति अर्थात् 'उत्तरायण' दैवी दिन कहलाता है, और सूर्य की दक्षिण की ओर स्थिति अर्थात् 'दक्षिणायन' दैवी रात है।। ६७।।

विशेष - सूर्य के उत्तर तथा दक्षिण अयन छह-छह मास के होते हैं। उत्तरायण में सूर्य की स्थिति भूमध्य रेखा के उत्तर में होती है। यह स्थिति मकर रेखा से उत्तर कर्क रेखा की ओर होती है। सूर्य के इस स्थिति काल में माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये छह मास तथा शिशिर वसन्त और ग्रीष्म ऋतुयें होती हैं। दक्षिणायन में सूर्य की स्थिति भूमध्य रेखा के दक्षिण में होती है। यह स्थिति कर्क रेखा से दक्षिण मकर रेखा की ओर की है। इस काल में श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, आग्रहायण और पौष मास तथा वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुयें होती हैं। आरम्भ उत्तरायण मकर संक्रान्ति से तथा दक्षिणायन का आरम्भ कर्क संक्रान्ति से माना जाता है।

मेधातिथिः। वर्ष मनुष्याणां द्वादशमासास्तदेकमहोरात्रं देवानाम्। तयोश्च विभाग उदगयनदक्षिणायनाभ्याम्। तत्रोदीचीं दिशमभिप्रतिष्ठमानस्यादित्यस्य षण्मासा उदयगनं भवति। 'अयनं' गमनमधिष्ठानं वा। तस्यां दिशि षण्मासानादित्य उदेति। ततः पराव तस्य दक्षिणायनम्। तथा हि दक्षिणां दिशमाक्रम्योदीचीं हित्वा ह्युदयं करोति।। ६७।।

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।

एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत।। ६८।।

अन्वय - ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य एकैकशः युगानाम् यत् प्रमाणं तत् क्रमश् समासतः निबोधत्।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्म अर्थात् परमात्मा के दिन-रात तथा एक-एक युगों का जो कालपरिमाण है उसे क्रमानुसार और संक्षेप से सुनो।। ६८।।

मेधातिथिः। ब्रह्मा प्रजानां स्रष्टा तस्य यो लोकस्तत्र क्षपाहस्याहोरात्रस्य यत्प्रमाणं युगानां चैतत्समासतः संक्षेपेण निबोधत मत्सकाशाच्छ गुत। एकैकशः एकैकस्य युगस्य।

वक्ष्यमाणस्य प्रकरणस्य पिण्डार्थकथनार्थो यं श्लोक श्रोतृणामवधानार्थः। तथा च संबोध्यन्ते निबोधतेति। प्रकृते कालविभागे पुनः प्रतिज्ञानं प्रकरणान्तरत्वज्ञापनार्थम्। तेन वक्ष्यमाणो र्थो न शास्त्रारम्भशेष एव, अपि तु धर्मायापि। तथा च वक्ष्यति 'ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुरिति। तद्विज्ञानाच्च पुण्यं भवतीत्यर्थः।। ६८।।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।

तस्य यावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः।। ६९।।

अन्वय - तत् चत्वारि सहस्राणि वर्षाणां कृतं युगम् आहुः तस्य यावच्छती सन्ध्या तथाविधः सन्ध्यांशः।

हिन्दी अर्थ - उन दैवी चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सतयुग' कहा है। उतने ही सौ दिव्य वर्ष की अर्थात् ४०० दिव्य वर्ष की 'सन्ध्या' होती है और उतने ही वर्षों का अर्थात् ४०० दिव्य वर्षों का 'सन्ध्यांश' का समय होता है।। ६९।।

विशेष - चार युगों का परिमाण - किसी भी युग के पूर्वसन्धिकाल को 'सन्ध्या' और उत्तरसन्धिकाल को 'सन्ध्यांश' कहाजाता है। श्लोक के अनुसार सतयुग का कालपरिमाण - ४०००+४०० (सन्ध्यावर्ष) + ४०० (सन्ध्यांशवर्ष) = ४८०० दिव्यवर्ष बनता है। इसे मानुषवर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुणा करना पड़ेगा इस प्रकार ४८०० + ३६० = १७२८००० मानुष वर्षों का एक सतयुग होता है।

मेधातिथिः। प्रकृतत्वाद्देविकानि वर्षाणिपरिग ह्यन्ते। तथा च पुराणकारः "इत्येतद षिभिर्गीतं दिव्ययासङ्ख्यया द्विजाः।। दिव्येनैव प्रमाणेन युगसंङ्ख्या प्रकीर्तिता।" तानि चत्वारि सहस्राणि

कृतयुगं नाम कालः। तस्य कृतयुगस्य तावन्त्येव शतानि, चत्वारि सन्ध्या। सन्ध्यांशस्तस्य तथाविधः तत्परिमाणश्चत्वारि वर्षशतानित्यर्थः। यत्रातीतस्य कालस्यागामिनश्च स्वाभावानुवृत्तिः सा सन्ध्या। उभयकालधर्मानुविधानं सन्ध्यांशः, यत्रेषत्पूर्वधर्मानुवृत्तिर्भूयसी भाविनो युगस्य ॥ ६६॥

इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।

एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७०॥

अन्वय - इतरेषु च त्रिषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु सहस्राणि च शतानि एकापायेन वर्तन्ते।

हिन्दी अर्थ - ओर शेष अन्य तीन-त्रेता, द्वापर, कलियुगों में 'संध्या' नामक कालों में तथा 'संध्यांश' नामक कालों में क्रमशः एक-एक हजार ओर एक-एक सौ घटा देने से उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकलआता है।

विशेष - ४८०० दिव्यवर्षों का सतयुग होता है, उसकी संख्या में से एक सहस्र और संध्या ४०० वर्ष व संध्यांश ४०० वर्ष में से एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष + ३०० संध्यावर्ष + ३०० संध्यांशवर्ष = ३६०० दिव्यवर्षों का त्रेतायुग होता है इसी प्रकार - २००० + २०० + २०० = २४०० दिव्यवर्षों का द्वापर और १००० + १०० + १०० = १२०० दिव्यवर्षों का कलियुग होता है ॥ ७०॥

मेधातिथिः। कृतयुगादन्येषु त्रेतादिषु त्रिषु युगेषु सन्ध्यासन्ध्यांशसहितेषु सहस्राण्येकापायेन वर्तन्ते हानिरपायः। एकं सहस्रं हीनं त्रेतायां कृतयुगात्। एवं त्रेतातो द्वापरस्य-द्वापरात्कलेः। एवं च त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेता, द्वे द्वापरः, एकं कलिरिति भवति। शतानि हीयन्ते सन्ध्यातदंशयोः।

विशिष्टो हःसङ्घातो युगाख्यस्तस्य विशेषाः कृतादयः।

तावच्छतीति ईकारः स्मर्तव्यः। इह स्मृतिः। तावतां शतानां समाहारः तावच्छब्दस्य 'बहुगणवतुडतीति' वत्त्वन्तत्वात्संख्यासंज्ञायां सत्यां 'संख्यापूर्वो द्विगुरिति' द्विगुसंज्ञायां सत्यां- 'टापोपवादो द्विगो' रिति ङीप्। तत् परिमाणमस्य इति। 'यत्तदेतेभ्य' इति वतुप्। 'आ सर्वनाम्न' इत्याकारः। अन्यथा बहुव्रीहौ तावन्ति शतानि यस्याः, शतशब्दस्याकारान्तत्वात् 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापा भवितव्यम्। तस्मिन्कृते 'तावच्छता' इति स्यादित्यभिप्रायः ॥ ७०॥

यदेतत्परिसङ्ख्यातमादावेव चतुर्युगम्।

एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१॥

अन्वय - यदेतत् आदौ चतुर्युगम् परिसङ्ख्यातम् द्वादशसाहस्रं देवानां युगम् उच्यते।

हिन्दी अर्थ - जो यह आदौ पूर्व में चारों युगों को कालपरिमाण के रूप में गिनाया है यह बारह हजार दिव्य वर्षों का काल देवताओं का एक 'युग' कहा जाता है ॥ ७१॥

विशेष - देवों का एक युग मनुष्यों की एक चतुर्युगी के परिमाण वाला होता है। पूर्व श्लोकों में एक चतुर्युगी १२ हजार दिव्य वर्षों के परिमाण वाली होती है। १२ हजार दिव्य वर्षों के काल परिमाण में ४३,२०,००० मानुष वर्ष होते हैं।

मेधातिथिः। यदेतदिति लौकिकी वाचो युक्तिः समुदायेन प्रक्रान्तो र्थः पराम श्यते। यदेतच्चतुर्युगं परिसंख्यातं चत्वारि सहस्राणीत्यादिना निश्चितसंख्यमादौ प्रागस्माच्छलोकात्-एतस्य चतुर्युगस्य द्वादशभिः सहस्रैर्देवानां युगमुच्यते। द्वादशचतुर्युगसहस्राणि 'देवयुगं' नाम काल इत्यर्थः। सहस्रशब्दात्स्वार्थे ण्। द्वादश सहस्राणि परिमाणे यस्मिन्निति विग्रहः ॥ ७१॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसङ्ख्याया।

ब्राह्मभेकहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥ ७२॥

अन्वय - दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसङ्ख्याया ब्राह्म एकं अहः तावती च रात्रिरेव ज्ञेयम्।

हिन्दी अर्थ - देवयुगों को हजार से गुणा करने पर जो कालपरिणाम निकलता है, वह परमात्मा

का एक 'दिन' और उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एक 'रात' समझनी चाहिये।। ७२।।

विशेष - $92000 \times 9000 = 9,20,00,000$ दिव्यवर्षों का ब्रह्म का एक दिन हुआ। यह $9,20,00,000 \times 360 = 8,32,00,00,000$ मानुषवर्षों का कालपरिमाण बनता है। यह परमात्मा की जाग्रत् अवस्था का दिन है, यह सृष्टि और उसकी स्थिति का काल है। इतना ही काल सुषुप्ति अवस्था का रात्रि-काल है। यही प्रलयावस्था कहाती है।

मेधातिथिः। देवयुगसाहस्रं ब्राह्ममेकमहः। तावती ब्रह्मणो रात्रिर्देवयुगसहस्रमेव। परिसङ्ख्या सङ्ख्यानेन यत्सहस्रमिति सम्बन्धः। श्लोकपूरणार्थश्चायमनुवादः। न ह्यसङ्ख्यया सहस्रादिव्यवहारः। हेतौ त तीया।। ७२।।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।

रात्रिं च तावतीमेव ते होरात्रविदो जनाः।। ७३।।

अन्वय - (ये) तत् युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहः तावतीमेव च रात्रिं विदु ते वै अहोरात्रविदः जनाः (सन्ति)।

हिन्दी अर्थ - जो लोग उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को और उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को समझते हैं वे ही वास्तव में दिन-रात = सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय काल के वेत्ता लोग हैं।। ७३।।

मेधातिथिः। युगसहस्रमन्तो यस्याहनस्तद्वै युगसहस्रान्तम्। ये मनुष्या एतज्जानते ते होरात्रविदः। किं तेषामित्यपेक्षायां पुण्यं भवतीति सम्बन्धः। ब्राह्मस्याहनः परिमाणवेदनं पुण्यमतस्तद्वैदित्यमिति स्तुत्या विधिप्रतिपत्तिः।। ७३।।

तस्य सोहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।

प्रतिबुद्धश्च स जति मनः सदसदात्मकम्।। ७४।।

अन्वय - स प्रसुप्तः तस्य अहर्निशस्यान्ते प्रतिबुद्धश्च सदसदात्मकम् मनः स जति।

हिन्दी अर्थ - वह प्रलय-अवस्था में सोया हुआ-सा परमात्मा उस दिन-रात के बाद जागता है=सृष्ट्युत्पत्ति में प्रवृत्त होता है और जागकर जो कारणरूप में विद्यमान रहे और जो विकारी अंश से कार्यरूप में अविद्यमान रहे, ऐसे स्वभाव वाले 'महत्' नामक प्रकृति के आद्यकार्यतत्त्व की सृष्टि करता है।। ७४।।

मेधातिथिः। स ब्रह्मा तावती दीर्घा निशां निद्रां अनुभूय प्रतिबुध्यते। ततः पुनर्जगत्स जति। स्वापो ब्राह्मण उक्तरूपः। न ह्यासौ प्राकृतपुरुषवत्स्वपिति, नित्यं प्रतिबोधात्। तत्र सर्गक्रममाह। मनः सदसदात्मकमिति।

ननु चाप एव ससर्जादावित्युक्तम्।

केचिदाहुर्द्विविधः प्रलयः महाप्रलयो वान्तरप्रलयश्च। अवान्तरप्रलये यं क्रमः। मनश्चात्र न तत्त्वान्तर्गतं, तस्य पूर्वमुत्पन्नत्वात् किं तर्हि प्रजापतिः प्रबुद्धः सन् 'मनः' सर्गाय 'स जति' नियुङ्क्ते इत्यर्थः। द्वितीये तु महाप्रलयपक्षे मनःकारणत्वान्महत्त्वमेव मनस्ततश्च न प्रागुक्तक्रमहानिः। पुराणे हि "मनो महान्मतिर्बुद्धिर्महत्त्वं च कीर्त्यते। पर्यायवाचकाः शब्दा महतः परिकीर्तिता" इति।। ७४।।

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसक्षया।

आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः।। ७५।।

अन्वय - सिसक्षया मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं आकाशं जायते तस्य गुणं शब्दं विदुः।

हिन्दी अर्थ - सृष्टि को रचने की इच्छा से फिर वह परमात्मा महत्त्व की सृष्टि को विकारी भाव में लाता है=अहंकार के रूप में विकृत करता है फिर उसके विकारी अंश से प्रेरित

हुआ-हुआ 'आकाश' उत्पन्न होता है। उस आकाश का गुण 'शब्द' को मानते हैं।। ७५।।

मेधातिथिः। उक्ता प्येषा तत्त्वस्य स ष्टिः यो विशेषो नोक्तस्तत्प्रतिपादनाय पुनरुच्यते। विकुरुते विशेषतः करोति ब्रह्मणा चोद्यमानम्। तस्माच्चोदितादाकाशं जायते। तस्याकाशस्य शब्दोख्यो गुणो भवति। गुण आश्रित उच्यते, आकाशं तस्याश्रयः। न ह्याकाशं बिना शब्दस्य सम्भवः।। ७५।।

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।

बलवा जायते वायुः, स वै स्पर्शगुणो मतः।। ७६।।

अन्वय - आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः बलवान् वायुः जायते। स वायुः स्पर्शगुणो वै मतः।

हिन्दी अर्थ - उस आकाश के विकारोत्पादक अंश से सब गन्धों को वहन करने वाला शुद्ध और शक्तिशाली 'वायु' उत्पन्न होता है वह वायु निश्चय से 'स्पर्श' गुणवाला माना गया है। ७६।।

मेधातिथिः। भूताद्भूतान्तरस्योत्पत्तिर्नेष्यते। महतः सर्वभूतानामुत्पत्त्यभ्युपगमात्। तेनैवं व्याख्यायते। आकाशादनंतरं महतो विकुर्वाणास्पर्शतन्मात्रभावंगताद्वायुर्जायते। सर्वगन्धान् शुचीनशुचीश्च वहति। अथ च शुचिः पवित्रः। बलवान्। यावती काचिद्विकृतिश्चेष्टारूपा सा वायुकर्म कम्पाक्षेपोर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनादिलक्षणा। यत्किंच चलितं स्पन्दितं तत्सर्वं वाय्वायत्तमित्येतत्प्रदर्शयितुं बलवानित्युक्तम्।

उत्तरत्रापि याः प चम्यस्ता न जन्यर्थापेक्षाः, किं तर्हि वायोः परतो न्तरमित्येवं योजनीयाः।। ७६।।

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।

ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते।। ७७।।

अन्वय - वायोः अपि विकुर्वाणात् विरोचिष्णु तमोनुदम् भास्वत् ज्योतिरुत्पद्यते तत् रूपगुणमुच्यते।

हिन्दी अर्थ - उस वायु के भी विकारोत्पादक अंश से उज्ज्वल अन्धकार को नष्ट करने वाली प्रकाशक 'अग्नि' उत्पन्न होती है उसका गुण 'रूप' कहा है। ७७।।

मेधातिथिः। विरोचिष्णु भास्वदिति समानार्थेन शब्दद्वयेन स्वपरप्रकाशता प्रतिपाद्यते। स्वयं दीप्तिमत्परं च भासयति।। ७७

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्म ताः।

अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा स ष्टिरादितः।। ७८।।

अन्वय - ज्योतिषश्च विकुर्वाणात् रस गुणा आपः स्म ताः। अद्भ्यः गन्धगुणा भूमिः इत्येषा स ष्टि आदितः।

हिन्दी अर्थ - और अग्नि के विकारोत्पादक अंश से 'रस' गुण वाला जल उत्पन्न होता है और जल से 'गन्ध' गुण वाली भूमि उत्पन्न होती है। यह इस प्रकार प्रारम्भ से लेकर यहां तक वर्णित स ष्टि उत्पन्न होने की प्रक्रिया है।। ७८।।

मेधातिथिः। रसो मधुरादिसलिलगुणः। गन्धः सुरभिरसुरभिश्च स भूमेर्गुणः। तथा च वैशेषिकाः 'क्षितावेव गन्ध' इति। एते सांसिद्धिका एकैकस्य गुणाः संसर्गात्तु सङ्कीर्यन्ते। तदुक्तं 'यो यो यावत्तिथ' इति।

एतच्च गुणानुकथनमध्यात्मचिन्तायामुपयुज्यते। उक्तं हि पुराणकारेण-“दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिनः”।। अहंकारचिन्तकाः। “महात्मकाः सहस्राणि दश तिष्ठन्ति विज्वराः।। पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः।। पुरुषं निर्गुणं प्राप्य परिसङ्ख्या या विद्यते।।” ७८।।

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।

तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥ ७६॥

अन्वय - प्राक् यत् द्वादश साहस्रम् दैविकं युगमुदितम् तदेकसप्ततिगुणम् इह मन्वन्तरमुच्यते।
हिन्दी अर्थ - पहले श्लोकों में बारह हजार दिव्य वर्षों का एक 'देवयुग' कहा है उससे इकहत्तर गुना समय अर्थात् $12000 \times 79 = 9,48,000$ दिव्यवर्षों का अथवा $9,48,000$ दिव्यवर्ष $\times 360 = 3,40,67,20,000$ मानुषवर्षों का यहां एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण माना गया है॥ ७६॥
मेधातिथिः। एकसप्ततिदैविकानि युगानि मन्वन्तरं नाम कालः॥ ७६॥

मन्वन्तराण्यसङ्ख्यानि सर्गः संहार एव च।

क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः॥ ८०॥

अन्वय - परमेष्ठी असंख्यानि मन्वन्तराणि सर्गः संहारस्य एव क्रीडन् इव पुनः पुनः कुरुते।
हिन्दी अर्थ - वह सबसे महान् परमात्मा असंख्य 'मन्वन्तरों' को सृष्टि-उत्पत्ति और प्रलय को खेलता हुआ-सा बार-बार करता रहता है॥ ८०॥
मेधातिथिः। नैषां सङ्ख्या विद्यत इत्यसङ्ख्यानि
 "ननु चतुर्दश मन्वन्तराणीति सङ्ख्या श्रूयते ज्योतिः शास्त्रादौ"।
 उच्यते आव त्वा ह्यसङ्ख्यानि। यथा द्वादशमासाः।

सर्गसंहारयोप्याव तिरनुपरतैव।

क्रीडन्निवैतत्कुरुते इति। "सुखार्थितया क्रीडा। तस्य चाप्तकामत्वादानन्दैकरूपत्वाच्च न क्रीडाप्रयुक्तौ सर्गसंहारौ।" अत इवशब्दः प्रयुक्तः। अत्र यथा परिहारः स प्रागुक्त एव। लीलया निष्प्रयोजनापि लोके राजादीनां प्रवर्तिर्दृश्यते इति ब्रह्मविदः ॥८०॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।

नाधर्मणागमः कश्चिन्मनुष्यानुपवर्तते॥ ८१॥

अन्वय - कृते युगे सकलः धर्मः सत्यं च चतुष्पात् मनुष्यान् प्रति कश्चित् आगमः अधर्मण न उपवर्तते।

हिन्दी अर्थ - सतयुग में समस्त धर्म एवं सत्य चार पैरों वाला अर्थात् तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान वाला होता है। मनुष्यों में कोई भी लाभप्राप्ति अधर्म के द्वारा नहीं की जाती॥ ८१॥

मेधातिथिः। चत्वारः पादा यस्य स चतुष्पाद्धर्मः। यागादेश्च धर्मत्वात्तस्य चानुष्ठेयस्वभावत्वाद्धिग्रहाभावात् पादशब्दः शरीरावयववचनः। किं तर्हि अंशमात्रवचनः। न हि धर्मस्य शरीरमस्ति पुरुषविधं पशुपक्ष्यादिविधं वा। तेन स्वांशैश्चतुर्भिरुपेतश्चतुष्पादुच्यते। तेन यो यं धर्मः चतुष्पात्सकलः कृतयुग आसीत्। यागस्य तावत्प्रयोगावस्थस्य चत्वारोहोत काः, होता ब्रह्मा उद्गाता अध्वर्युरिति। चत्वारो वर्णाः कर्तार आश्रमा वा। सर्वथा यावान्देदे धर्म उक्तः स सर्वस्तस्मिन्काले शतोऽपि न हीनः अविगुणः सर्वो नुष्ठीयते। बाहुल्येन चतुःसङ्ख्या। एवं दानादिष्वपियोज्यम्। दाता द्रव्यं पात्रं भावतुष्टिः। अथवा यागदानतपांसि ज्ञानं च। तथा वक्ष्यति- 'तपः परमिति'।

अथवा धर्मप्रतिपादकं वाक्यं धर्मः। तस्य च चत्वारः पादाः चत्वारि पदजातानि। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तथा चाह। "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः" (ऋग्वेद १।१६४।४५)। मनस ईषिणः समर्था विद्वांसो धार्मिकाः अद्यत्वे तु 'गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति'। न हि प्रकाशन्ते 'तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ति'। चतुर्थं भागं वैदिका मनुष्या वदन्ति। एतदुक्तं भवति आदौ न वेदवाक्यं किञ्चिदन्तिरतम्, न च काचिद्वेदशाखा। अद्यत्वे तु बह्वन्तरितम्। सत्यं चैव सकलमित्यनुषङ्गः। सत्यपि सत्यस्य विहितत्वाद्धर्मत्वे प्राधान्यार्थं पथगुपदेशः, हेत्वर्थं वा। सकलस्य धर्मानुष्ठानस्य सत्यं हेतुः। ये त्वन तिनस्ते लोकावर्जनार्थं किञ्चिदनुतिष्ठन्त्यन्यत्

त्यजन्ति।

नाधर्मेण निषिद्धेन मार्गेण कश्चिदागमो विद्या वा र्थो वा नुष्ठातुरुपवर्तते आगच्छति युगस्वाभाव्यात्। न मनुष्या अधर्मेण विद्यामागमयन्ति नापि धनमर्जयन्ति। विद्याधने धर्मानुष्ठानकारणे, तत्परिशुद्धिः सकलधर्मसद्भावस्य हेतुत्वेनानेनोच्यते।। ८१।।

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।

चौरिकान तमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः।। ८२।।

अन्वय - इतरेषु आगमात् धर्मः तु पादशः अवरोपितः (भवति) चौरिकान तमायाभिश्च धर्मः पादशः अपैति।

हिन्दी अर्थ - अन्य तीन युगों - त्रेता, द्वापर, कलि में अधर्म के द्वारा लाभप्राप्ति करने के कारण धर्म का एक-एक चरण घटता जाता है और इस प्रकार चोरी, झूठ, धोखा करना आदि के कारण धर्म चौथाई-चौथाई कम होता जाता है।। ८२।।

मेधातिथिः। कृतयुगादन्येषु युगेष्वगमाद्धेदाख्याद्धर्मः पादशः युगेयुगे पादेनावरोपितो व्यपनीतः। अन्तर्हिता वेदशाखाः, पुरुषाणां ग्रहणावधारणशक्ति वैकल्यात्।

यो प्यद्यत्वे धर्मो ज्योतिष्टोमादिः प्रचरति सोऽपि चौर्यादिभिः पादशो हीयते। ऋत्विजां यजमानानां दातृणां सम्प्रदानानां चैतैर्दोषैर्युक्तत्वात् यथाविधि धर्मो निष्पद्यते। फलमतो यथोक्तं न प्राप्यते। तेन धर्मापाय हेतूनां चौरकादीनां न युगेयथासंख्यं सम्बन्धः सर्वेषामद्योपलम्भात्।। ८२।।

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।

कृते त्रेतादिषु दृश्यां वयो हसति पादशः।। ८३।।

अन्वय - कृते अरोगाः सर्वसिद्धार्थाः चतुर्वर्षशतायुषः त्रेतादिषु एषामायुः पादशः हसति।

हिन्दी अर्थ - सतयुग में मनुष्य रोगरहित जिनके सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, ऐसे तथा चार सौ वर्ष की आयु वाले होते हैं, और त्रेता, द्वापर, कलियुगों में इनकी आयु चौथाई-चौथाई घटती रहती है।। ८३।।

मेधातिथिः। अधर्मस्य रोगकारणस्याभावादरोगाः। 'रोगो' व्याधिः। सर्व एव चत्वारो वर्णा सिद्धाभिप्रेतार्थाः। अर्थः प्रयोजनम्। अथवा सर्वे र्थाः सिद्धाः येषां काम्यानां कर्मणाम्। प्रतिबन्धकाभावादव्याक्षेपेणाशेषफलसिद्धिः। चतुर्वर्षशतायुष इति।

ननु 'स ह षोडशं वर्षशतमजीवदिति परममायुर्वेदे श्रूयते।

अत एवाहुः। वर्षशतशब्दोऽत्र वयो वस्थाप्रतिपादकः। चत्वारि वयांसि जीवन्तीति, न पुरायुषः प्रमीयन्ते, नाप्राप्य चतुर्थं वयो म्रियन्ते। अतएव द्वितीये श्लोकार्धे वयो हसतीत्याह। पूर्वत्र वयसो व द्वावुक्तायामुत्तरत्र तस्यैवं हासाभिधानोपपत्तिः। पादश इति। न चात्र चतुर्थो भागः पादः, किं तर्हि, भगमात्रमंशत आयुः क्षीयत इत्यर्थः। तथा च केचिद्बाला म्रियन्ते केचित्तरुणाः केचित्प्राप्तजरसः। परिपूर्णमायुर्दुर्लभम्।। ८३।।

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।

फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम्।। ८४।।

अन्वय - मर्त्यानाम् वेदोक्तं आयुः कर्मणां च आशिषः शरीरिणाम् च प्रभावः लोके अनुयुगं फलन्ति।

हिन्दी अर्थ - मनुष्यों की वेदों में कही हुई आयु तथा कर्मों के फल और देहधारियों पर होने वाले समस्त प्रभाव ये इस संसार में युगों के अनुसार ही अर्थात् अच्छे युग में अच्छाई अधिक और बुरे युग में बुराई अधिक, इस प्रकार फलदायक होते हैं।। ८४।।

मेधातिथिः। केचिदाहुर्वैदिकैः कर्मभिः सहस्रसंवत्सरादिभिरपेक्षितमायुः वेदोक्तम्, तत् अनुयुगं फलति, युगानुरूपेण सम्पद्यते, न सर्वेषु युगेषु। नाद्य कश्चित्सहस्र-संवत्सरजीवी; यः सर्वश्चर जीवति स

वर्षशतम्।

तदपरे नाद्रियन्ते। यतो दीर्घसत्रेषु संवत्सरशब्दे दिवसेषु व्यवस्थापिते विधेयान्तरविरोधाद्वाक्यभेदापत्तेः। एष हि तत्र ग्रन्थः। 'प चप चशतस्त्रिव तः संवत्सरा' इत्यादि। तत्र त्रीण्यहानि गवामयनप्रकृतित्वात्प्राप्तानि। विशिष्टा तु सङ्ख्या प च-प चाशत इति। अप्राप्ता विधेया, यद्यपरा संवत्सरता प्रतीयेत वाक्यं भिद्येत। तत्रावश्मन्यतरस्यानुवाद आश्रयितव्यः। संवत्सरशब्दः सौरसावनादिमानभेदेन षष्ट्यधिकशतत्रयात्मनो हः सङ्घातादन्यत्रापि द ष्टप्रयोग एवेति। तस्यैव लक्षणया दिवसेष्वनुवादो युक्त इति।

अन्ये तु मन्त्रार्थवादिषु 'शतमिन्नु शरदोअन्ति देवाः' (ऋग्वेद १।८६।६) 'शतायुर्वे पुरुषः' (काठक ३४।५) इति शतशब्दश्च बहुनामसु पठितः, बहुत्वं चानवस्थितम्। युगानुरूपेण दीर्घजीविनो ल्यायुषश्च भवन्ति। यथाश्रुतव्याख्याने तु कलौ सर्वे शतायुषश्च भवन्ति। अथवा आयुःकामस्य यानि कर्माणि, न च तत्र प्रमाणं श्रुतम्' तत्रानुयुगं परिमाणं वेद्यम्।

आशिषः। अन्या अपि फलविषया वेदशासनाः काम्यानां कर्मणाम्। आयुषः काम्यत्वे पि प्राधान्यात्प थगुपदेशः। तथा ह्याह "आयुर्वे परमः कामः"।

प्रभावो लौकिकी शक्तिरणिमादिगुणयोगः, अभिशापो, वरदानम्।

अनुयुगं फलन्ती सर्वत्र योज्यम्॥ ८४॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।

अन्ये कलियुगे नृणां युगहासानुरूपतः॥ ८५॥

अन्वय - युगहासानुरूपतः कृतयुगे अन्ये धर्माः त्रेतायां द्वापरे अपरे कलियुगे अन्ये।

हिन्दी अर्थ - युग के हास के अनुसार मनुष्यों के सतयुग में दूसरे धर्म माने हैं त्रेता और द्वापर में उससे भिन्न धर्म हैं कलियुग में दूसरे धर्म हैं।

मेधातिथिः। उक्तस्य कालभेदेन पदार्थस्वभावभेदस्योपसंहारः। धर्मशब्दो न यागादिवचन एव, किं तर्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते। अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रतियुगं भवन्ति, यथा प्राक् दर्शितम्। यथा वसन्ते न्यः पदार्थानां स्वभावो न्यो ग्रीष्मे न्य एव वर्षास्वेवं युगेष्वपि। अन्यत्वं चात्र न कारणानां द ष्टकार्यत्यागेन कार्यान्तरजनकत्वम्, अपि त्वपरिपूर्णस्य कार्यस्योत्पत्तेः शक्तेरपचयात्। तदाह युगहासातुरूपत इति। हासो न्यूनता॥ ८५॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ ८६॥

अन्वय - कृतयुगे तपः परं त्रेतायां ज्ञानमुच्यते द्वापरे यज्ञमेवाहुः कलौ युगे एक दानम्।

हिन्दी अर्थ - सतयुग में तप को सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। त्रेतायुग में ज्ञान को श्रेष्ठ धर्म कहा है। द्वापर युग में यज्ञ को ही श्रेष्ठ धर्म कहते हैं। कलियुग में दान ही एकमात्र श्रेष्ठ धर्म है॥ ८६॥

मेधातिथिः। अयमन्यो युगस्वभावभेदः कथ्यते। तपःप्रभ तीनां वेदे युगभेदेन विधानाभवात्सर्वदा सर्वाण्यानुष्ठेयानि। अयं त्वनुवादो यथाकथंचिदाख्येयः। इतिहासेषु ह्येवं वर्ण्यते। तपः प्रधानं तच्च महाफलम्। दीर्घायुषो रोगवर्जितास्तपसि समर्था भवन्त्यनेनाभिप्रायेणोच्यते। ज्ञानम् अध्यात्मविषयं; शरीरक्लेशादन्तर्नियमो नातिदुष्करः। यागे तु न महाक्लेश इति द्वापरे यज्ञः प्रधानम्। दाने तु न शरीरक्लेशो नान्तःसंयमो न चातीव विद्वत्तोपयुज्यत इति सुसम्पादता॥ ८६॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।

मुखबाहूरुपज्जानां प थक्कर्माण्यकल्पयत्॥ ८७॥

अन्वय - अस्य सर्वस्य सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः मुखबाहूरुपज्जानां प थक् कर्माणि अकल्पयत्।

हिन्दी अर्थ - समस्त संसार की सुरक्षा, व्यवस्था एवं समृद्धि के लिए महातेजस्वी परमात्मा ने मुख, बाहु, जंघा और पैर की तुलना से निर्मितों के अर्थात् क्रमशः ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र वर्णों के पथक्-पथक् कर्म बनाये।। ८७।।

मेधातिथिः। उक्तः कालविभागः। ब्राह्मणदीनां गुणा इदानीं कथ्यन्ते। तत्रायमुपक्रमः। सर्वस्य सर्गस्य सर्वेषां लोकानां गुप्त्यर्थं रक्षार्थम्। महातेजाः प्रजापतिः मुखादिजातानां ब्राह्मणादीनां चतुर्णां वर्णानां दष्टादष्टार्थानि कर्माण्यकल्पयद् व्यवस्थापितवान्।। ८७।।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।। ८८।।

अन्वय - ब्राह्मणानाम् अध्यापनमध्ययनम् तथा यजनं याजनं, दानं प्रतिग्रहं चैव अकल्पयत्।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मणों के पढ़ना-पढ़ाना तथा यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना, ये छः कर्म बनाये अर्थात् निर्धारित किये।। ८८।।

मेधातिथिः। तानीदानीं कर्माण्युच्यन्ते।। ८८।।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। ८९।।

अन्वय - प्रजानां रक्षणं दानम् इज्या अध्ययनमेव च विषयेषु च अप्रसक्तिः समासतः क्षत्रियस्य (कर्माणि सन्ति)।

हिन्दी अर्थ - प्रजाओं का रक्षण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा विषयों से विमुख रहना - संक्षेपतः ये क्षत्रिय के कर्म हैं।। ८९।।

मेधातिथिः। विषयाः अभिलाषजनका गीतशब्दादयो भावा उच्यन्ते। तत्राप्रसङ्गः पुनः पुनरसेवनम्।। ८९।।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। ९०।।

अन्वय - पशूनां रक्षणं दानम् इज्या अध्ययनमेव च वणिक् पथं कुसीदं च कृषिमेव च वैश्यस्य (कर्माणि सन्ति)।

हिन्दी अर्थ - पशु पालन, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, शास्त्र सम्मत ब्याज का लेन देन करना और खेती करना - ये सब वैश्य के कर्म हैं।

विशेष - ब्याज के सन्दर्भ में ऋषिमत यह है कि सवा रुपये सैंकड़े से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाये, उससे आगे कौड़ी न लेवे न देवे।

मेधातिथिः। वणिक्पथः वणिक्कर्मणा स्थलपथवारिपथादिना धनार्जनम्। उपयुज्यमानदेशान्तरीयद्रव्यसन्निधापनं यस्य राज्ञो विषये वसति। कुसीदं वद्ध्या धनप्रयोगः।। ९०।।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया।। ९१।।

अन्वय - प्रभुः शूद्रस्य तु एतेषां वर्णानां एव अनसूयया शुश्रुषाम् एकमेव कर्म समादिशत्।

हिन्दी अर्थ - जो विद्याहीन-जिसको पढ़ने से विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना, यही एक कर्म करने की आज्ञा दी है।। ९१।।

विशेष - चिन्तक विद्वानों का मत है कि शूद्र जन्मना नहीं होता, किन्तु वह व्यक्ति शूद्र होता

है, जो उपनयन में दीक्षित होकर ब्रह्मजन्म अर्थात् वेदाध्ययन रूपी द्वितीय जन्म को प्राप्त नहीं कर सका। द्विजों को द्विज इसलिए कहा जाता है कि उनका अध्ययनरूपी दूसरा ब्रह्मजन्म उपनयन के समय होता है “द्विर्जायते इति द्विजः।” शूद्र का यह दूसरा जन्म न होने से उसका पर्यायवाची शब्द ‘एकजातिः’ = एक जन्म वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि मनु जन्मना नहीं, व्यक्ति को कर्मणा शूद्र मानते हैं। पुनः वे ६/३३५ तथा १०/६५ में लिखते हैं कि वह उत्तम कर्मों से उच्च वर्ग को प्राप्त कर सकता है।

मेधातिथिः। प्रभुः प्रजापतिरेकं कर्म शूद्रस्यादिष्टवान्। एतेषां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शुश्रूषा त्वया कर्तव्या। अनसूयया निन्दया। चित्तेनापि तदुपरि विषादो न कर्तव्यः। शुश्रूषा परिचर्या तदुपयोगिकर्मकरणं शरीरसंवाहनादि तच्चित्तानुपालनम्।

एतद्दष्टार्थं शूद्रस्य। अविधायकत्वाच्चैकमेवेति न दानादयो निषिध्यन्ते। विधिरेषां कर्मणामुत्तरत्र भविष्यति। अतः स्वरूपं विभागेन यागादीनां तत्रैव दर्शयिष्यामः॥ ६१॥

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।

तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा॥ ६२॥

अन्वय - नाभे ऊर्ध्वं पुरुषःमेध्यतरः परिकीर्तितः तस्मान् स्वयम्भुवा अस्य मुखं मेध्यतमम् उक्तम्।

हिन्दी अर्थ - नाभि के ऊपर पुरुष शरीर को अपेक्षाकृत अधिक पवित्र माना गया है इस विचार के अनुसार ब्रह्मा ने इस पुरुष के मुख को सर्वाधिक पवित्र कहा है॥ ६२॥

मेधातिथिः। आपादान्तान्मेध्यः पुरुषः। तस्य नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यम्। ततोऽपि मुखम्। एतच्च स्वयमेव जगत्कारणपुरुषेणोक्तम्॥ ६२॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्।

सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥ ६३॥

अन्वय - उत्तमाङ्गोद्भवात् ज्यैष्ठ्यात् ब्रह्मणः धारणात् च अस्य सर्वस्य एव सर्गस्य ब्राह्मणः धर्मतः प्रभुः (अस्ति)।

हिन्दी अर्थ - उत्तम अंग = मुख से उत्पत्ति होने के कारण चारों वर्णों में सबसे पहले उत्पन्न होने से या सबसे बड़ा होने के कारण और वेद को धारण करने के कारण इस सम्पूर्ण संसार का ही ब्राह्मण धर्म से स्वामी है॥६३॥

मेधातिथिः। ‘उत्तमाङ्गं’ मूर्धा, तत् उद्भव उत्पत्तिर्ब्राह्मणस्य। ज्यैष्ठ्यासावन्येभ्यो वर्णेभ्यः पूर्वं ब्रह्मणा स ष्टः। ‘ब्रह्मणो’ वेदस्य धारणात्तस्य हि सविशेषं तद्विहितमतः सर्वस्य जगतोऽस्माद्धेतुत्रयाद् ब्राह्मणः प्रभुः प्रभुरिव। प्रभुर्विनयेनोपसर्पणीयः, तदाज्ञायां च धर्मं स्थातव्यम्। धर्मतः प्रभुर्धर्मं प्रभुरित्यर्थः। आद्यादित्वात्तसिः॥ ६३॥

तं हि स्वयम्भूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वा दितो स जत्।

हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥ ६४॥

अन्वय - तं हि स्वयम्भूः तपः तप्त्वा स्वात् आस्यात् हव्यकव्याभिवाह्याय अस्य सर्वस्य गुप्तये च आदितः अस जत्।

हिन्दी अर्थ - उस ब्राह्मण को ब्रह्मा ने तपस्या करके अपने मुख से हव्य=देवों का भाग कव्य=पितरों का भाग उन तक पहुंचाने के लिए और इस सम्पूर्ण संसार की रक्षा के लिए सबसे पहले उत्पन्न किया॥ ६४॥

मेधातिथिः। पूर्वस्यैव हेतुत्रयस्य विशेषार्थमिदम्। अन्यस्यापि पुरुषस्योत्तमाङ्गं प्रधानम्। तं पुनर्ब्राह्मणं स्वयम्भूः स्वादास्यान्मुखादस जत्। तपश्च कृत्वैषोत्तमाङ्गादुत्पत्तिः। ज्यैष्ठ्यमाह आदितः। यद्देवानुद्दिश्य क्रियते तद्धव्यम्। पितॄनुद्दिश्य यत् क्रियते तत्कव्यम्। तयोरभिवहनाय, देवान्पितॄंश्च प्रति प्रापणाय।

अभिवाह्यायेति भावे कृत्यः कथञ्चिद्द्रष्टव्यः। सकर्मत्वाद्वहतेः। तेन च कर्मणा सर्वस्य त्रैलोक्यस्य गुप्तिः परिपालनं भवति। इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति। ते च शीतोष्णवर्षैरोषधीः पचन्ति पाचयन्ति। अतः परस्परपकाराद्गुप्तिः॥ ६४॥

यस्यास्येन सदा शनन्ति हव्यानि त्रिदिवोकसः।

कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः॥ ६५॥

अन्वय - यस्यास्येन त्रिदिवोकसः हव्यानि पितरः कव्यानि च सदा अस्नन्ति ततः अधिकं किं भूतम्।

हिन्दी अर्थ - जिस ब्राह्मण के मुख के द्वारा देवता लोग हव्य भागों को और पितर लोग कव्यभागों को सदा खाया करते हैं उससे अधिक श्रेष्ठ कौन प्राणी होगा ? ॥६५॥

मेधातिथिः। हव्यादिवहनं पूर्वोक्तं दर्शयति। त्रिदिवमोको गृहं येषां त एवमुच्यन्ते स्वर्गवासिनो देवाः। ब्राह्मणेन भुक्तमन्नं देवा उपतिष्ठन्ति। श्राद्धे पितृस्य कर्मणो ङ्गभूतं विश्वेदेवानुद्दिश्य ब्राह्मणभोजनं विहितम्। तदपेक्ष्यैतदुक्तम्। किं भूतमन्यदधिकं श्रेष्ठं ततस्तस्मादिति स्वयं विस्मयते। देवाः पितरश्चोत्तमस्थानामध्यमस्थानाश्चाप्रत्यक्षा न तेषां भोजनोपायो न्योस्त्यन्यतो ब्राह्मणभोजनादतो महान्ब्राह्मणः॥ ६५॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्म ताः॥ ६६॥

अन्वय - स्पष्टम्।

हिन्दी अर्थ - सभी स्थावरों और जंगम भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ हैं प्राणधारियों में बुद्धि से कार्य करने वाले पांच जीव श्रेष्ठ हैं बुद्धिजीवी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं॥ ६६॥

मेधातिथिः। पृथिव्यां ये भावाः स्थावरा व क्षादयो जङ्गमाः कृमिकीटादयस्ते भूतशब्देनोच्यन्ते। तेषां ये प्राणिन आहारविहारदिचेष्टासमर्थास्ते श्रेष्ठाः। ते हि पटुतरं सुखमनुभवन्ति। तेषां ये बुद्ध्या जीवन्ति हिताहिते विचिन्तवन्ति श्वश्रु गालादयः। ते हि धर्मणोपतप्ताः छायामुपसर्पन्ति, शीतेनार्दिता आतपं; निराहारं स्थानं त्यजन्ति। तेषामधिकतरा मनुष्याः तेषां च ब्राह्मणाः। ते हि लोके पूज्यतमाः, न च सर्वेण परिभूयन्ते। जातिमात्राश्रयं हि तद्वधे महत्प्रायश्चित्तम्॥ ६६॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।

कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥ ६७॥

अन्वय - स्पष्टम्।

हिन्दी अर्थ - और ब्राह्मणों में विद्वान् श्रेष्ठ हैं। विद्वानों में कर्तव्य बुद्धि रखने वाले श्रेष्ठ हैं। कर्तव्य-बुद्धि रखने वालों में कर्तव्यों को आचरण में लाने वाले और उन आचरणकर्त्ताओं में भी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं॥ ६७॥

मेधातिथिः। विदुषां श्रेष्ठ्यं महाफलेषु यागादिष्वधिकारात्। तेषामपि कृतबुद्धयः परिनिष्ठितवेदतत्त्वार्था न बौद्धादिभिः कलुषीक्रियन्ते। तेषामपि कर्तारः कर्मणामनुष्ठातारः। ते हि विहितकरणात्प्रतिषिद्धासेवनाच्च नोपहन्यन्ते। तेषामपि ब्रह्मवादिनः ब्रह्मस्वरूपत्वात्तत्र ह्यक्षयानन्दः॥ ६७॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिधर्मस्य शाश्वती।

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ६८॥

अन्वय - विप्रस्य उत्पत्तिरेव धर्मस्य शाश्वती मूर्तिः हि सः धर्मार्थम् उत्पन्नः ब्रह्मभूयाय कल्पते।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण का जन्म होना ही धर्म की शाश्वत मूर्ति के रूप में है अर्थात् उसका शरीर ही मानो धर्म की प्रत्यक्ष मूर्ति है क्योंकि वह धर्म-वृद्धि के लिए उत्पन्न होकर मोक्ष-प्राप्ति

के योग्य बनता है।। ६८।।

मेधातिथिः। विद्वत्तादिगुणसम्बन्धिनो ब्राह्मणस्य विशेषे दर्शिते जातिमात्र-ब्राह्मणं कश्चित्तवमन्येत तन्नैव त्यर्थमिदमुच्यते। उत्पत्तिरेव गुणानपहाय जन्मैव, ब्राह्मणस्य जातिरेव शाश्वती धर्मस्य मूर्तिः शरीरम्। धर्मार्थमुत्पन्नो द्वितीयेन जन्मनोपनयनेन संस्कृतः। सा हि तस्य धर्मार्थोत्पत्तिर्ब्रह्मत्वाय कल्पते सम्पद्यते। धर्मशरीरमुज्झित्वा परानन्दभागभवतीति स्तुतिः।। ६८।।

ब्राह्मणो जायमानो हि प थिव्यामधिजायते।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये।। ६९।।

अन्वय - ब्राह्मणः जायमानोः हि प थिव्यां अधिजायते। सर्वभूतानां धर्मकोषस्य गुप्तये (सः) ईश्वरः।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण पैदा होते ही प थिवी पर सबसे बड़ा होता है, क्योंकि सब प्राणियों के धर्मरूप की रक्षा करने के लिए वही समर्थ है।। ६९।।

मेधातिथिः। सर्वलोकस्योपरि भवति। श्रेष्ठ्यमुपरिभावेनाह। ईश्वरः सर्वभूतानामिति प्रभुत्वं, धर्माख्यस्य कोषस्य गुप्तये जायते। द्रव्यस चयः कोषः। उपमानाद्धर्मस चय उच्यते कोष इति।। ६९।।

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।

श्रेष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणो हति।। १००।।

अन्वय - जगतीगतं यत्किञ्चित्, इदं सर्वं ब्राह्मणस्य स्वम्, श्रेष्ठ्येन अभिजनेन इदं सर्वं वै ब्राह्मणः अर्हति।

हिन्दी अर्थ - संसार भर में जो भी कुछ है यह सब ब्राह्मण का ही धन है। सब वर्णों में श्रेष्ठ और पूर्वोत्पन्न होने से बड़ा होने के कारण इस सब धन का निश्चय से ब्राह्मण अधिकारी है।। १००।।

मेधातिथिः। असन्तुष्टस्य प्रतिग्रहादिषु पुनः प्रव तौ द ष्कृतितामाशङ्क्य समाधत्ते। सर्वमिदं त्रैलोक्यान्तर्वर्ति। धनं ब्राह्मणस्य स्वम्। नात्र प्रतिग्रहो विद्यते। प्रभुत्वेनासौ ग ह्णाति, न प्रतिग्रहीत तयेति। प्रशंसैषा न विधिरत एवार्हतिशब्दः। अभिजनो भिजातताविशिष्टत्वम्।। १००।।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।

आन शंस्याद्ब्राह्मणस्य भु जते हीतरे जनाः।। १०१।।

अन्वय - ब्राह्मणः स्वमेव भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति हि इतरे जनाः ब्राह्मणस्य आन शंस्यात् भु जते।

हिन्दी अर्थ - सभी धन ब्राह्मण का होने के कारण ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है और अपना ही दान करता है क्योंकि दूसरे लोग तो ब्राह्मण की दया के कारण ही सब पदार्थों का भोग करते हैं।। १०१।।

मेधातिथिः। यत्परग ह आतिथ्यादिरूपेण भुङ्क्ते तदात्मीयमेव। नैवं मन्तव्यं परपाकेनेति। स्वं वस्ते याचित्वा याचित्वा वा वस्त्रं लभते नासौ तस्य लाभाय, अपि तु स्वकस्याच्छादने विनियोगः। तिष्ठतु तावदात्मोपयोगि यद् ग ह्णाति तत्र प्रभुत्वम्। यदन्येभ्यो ददाति परकीयं तदपि तस्य नानुचितम्। आन शंस्यं कारुण्यम्। तदीयया महासत्त्वतया प थिव्यां राजानः, स्वानि धनान्युपभु जते। अन्यथा यद्यसाविच्छेत् 'अहमेतदादाय स्वकार्ये विनियु जीयेति' तदा सर्वे निर्धनाः निरुपभोगाः स्युः।। १०१।।

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणां चानपूर्वशः।

स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्।। १०२।।

अन्वय - तस्य अनुपूर्वशः शेषाणाम् कर्म विवेकार्थम् स्वायम्भुवः धीमान् मनुः इदं शास्त्रम्

अकल्पयत्।

हिन्दी अर्थ - उस ब्राह्मण के और क्रमशः शेष वर्णों - क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के कर्मों के ज्ञान के लिए ब्रह्मा के पुत्र बुद्धिमान मनु ने इस मनुस्मृति शास्त्र को बनाया है।। १०२।।

मेधातिथिः। सर्वस्याः ब्राह्मणस्तुतेः फलप्रदर्शनार्थं श्लोको यम्। एवंविधमिदं महार्थं शास्त्रं यत्तस्य-स्वमहिम्ना त्यन्तिकेन महत्तमस्य ब्राह्मणस्य कर्मविवेकार्थ-इमानि कर्माणि कर्तव्यानि इमानि वर्ज्याणि-एष विवेकस्तदर्थम्। शेषाणां च क्षत्रियादीनाम्। अनुपूर्वशः प्राधान्याद्-ब्राह्मणस्यानुषङ्गात्क्षत्रियादीनामिदं शास्त्रमकल्पयत्कृतवान्।। १०२।।

विदुषा ब्राह्मणनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।

शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित्।। १०३।।

अन्वय - अन्येन केनचित् न (अपितु) विदुषा ब्राह्मणेन इदं शास्त्रं प्रयत्नतः अध्येतव्यम् शिष्येभ्यश्च सम्यक् प्रवक्तव्यम्।

हिन्दी अर्थ - किसी अन्य को नहीं अपितु विद्वान् ब्राह्मण को इस शास्त्र का प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करना चाहिए तथा शिष्यों के लिए भली प्रकार से प्रवचन करना चाहिए।

विशेष - इस श्लोक में "ब्राह्मण को ही इस शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए अन्य को नहीं" इस कथन के प्रसंग में मनुस्मृति के प्राचीन व्याख्याकार मेधातिथि का मत है कि यह कोई विधान नहीं है अपितु अर्थवाद रूप में शास्त्र की स्तुति है कि यह मनुस्मृति इतना महत्वपूर्ण शास्त्र है कि इसका पठन पाठन विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा ही किया जाना चाहिए।

मेधातिथिः। अध्येतव्यं प्रवक्तव्यमित्यर्हे कृत्यो न विधौ। द्वितीयादध्यायात्प्रभृति शास्त्रं प्रवर्तिष्यते। अयं ह्यध्यायो र्थवाद एव। नात्र कश्चिद्विधिरस्ति। तेन यथा 'राजभोजनाः शालयः' अति शालिस्तुतिर्न राज्ञो न्यस्येति तद्भोजननिषेधः, एवमत्रापि नान्येन केनचिदिति नायं निषेधः, केवलं शास्त्रस्तुतिः- 'सर्वस्मि जगति श्रेष्ठो ब्राह्मणः, सर्वशास्त्राणां शास्त्रमिदमतस्ताद शस्य विदुषो ब्राह्मणस्याध्ययनप्रवचनार्हे न सामान्येन शक्यते अध्येतुं प्रवक्तुं वा। अत एवाह प्रयत्नत इति। यावन्न महान्प्रयत्न आस्थितो शास्त्रान्तरैस्तर्कव्याकरण-मीमांसादिभिः संस्कृत आत्मा, तावदेतत्प्रवक्तुं न शक्यते। अत एवाध्ययनेन श्रवणं लक्ष्यते। तत्र हि विद्वत्तोपयोगिनी न सम्पाठे। विधौ ह्यध्ययने विद्वत्ता दष्टायैव स्यात्। न च विधौ श्रवणमध्ययनेन लक्ष्यत इति युक्तं वक्तुम्। न विधये लक्षणार्थता युक्ता। अर्थवादे तु प्रमाणान्तरानुसारेण गुणवादो न दोषाय। तस्मात्त्रैवर्णिकार्थं शास्त्रम्। एतच्च परस्ताद्विशेषतो वक्ष्यते।। १०३।।

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।

मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न। लिप्यते।। १०४।।

अन्वय - इदं शास्त्रम् अधीयानः शंसितव्रतः ब्राह्मणः नित्यं मनोवाग्देहजैः कर्मदोषैः न लिप्यते।

हिन्दी अर्थ - इस शास्त्र को पढ़ता-पढ़ाता हुआ श्रेष्ठ व्रताचरण करने वाला ब्राह्मण कभी भी मानसिक वाचिक और शारीरिक कर्मदोषों से लिप्त नहीं होता।। १०४।।

मेधातिथिः। एवं सम्बन्धिहारेण ब्राह्मणार्थतया शास्त्रं स्तुत्वा धुना साक्षात्स्तौति। इदं शास्त्रं जानानः शंसितव्रतो भवतीति परिपूर्णयमनियमानुष्ठायी भवति। शास्त्रादननुष्ठाने प्रत्यवायं ज्ञात्वा तद्भ्यादनुतिष्ठति सर्वान् यमनियमान् यथाशास्त्रं सर्वमनुतिष्ठति। अनुतिष्ठन्निहितातिक्रमप्रतिषिद्धकर्मजनितैर्दोषैः पापैः न लिप्यते न सम्बध्यते।। १०४।।

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्तसप्त परावरान्।

पथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेको पि सोहर्ति।। १०५।।

अन्वय - (एताद ग्ब्राह्मणः) पवित्रम् परावरान् सप्त सप्त वंश्यान् च पुनाति इमां च कृत्स्नां पृथिवीमपि सः एकोऽपि अर्हतिः।

हिन्दी अर्थ - इस शास्त्र को पढ़ने-पढ़ाने वाला ब्राह्मण श्राद्ध की पंक्ति को और आने वाली पुत्र-प्रपौत्र आदि, पहली पिता-दादा आदि सात-सात पीढ़ियों को पवित्र करता है और इस सम्पूर्ण पृथ्वी को भी वह अकेला पाने का अधिकारी बन जाता है।। १०५।।

मेधातिथिः। पङ्क्तिपावनो भवति। विशिष्टानुपूर्वीकः सङ्घातः पङ्क्तिरुचते। तां पुनाति निर्मलीकरोति। सर्वे दुष्टास्तत्सन्निधाना- ददुष्टाः सम्पद्यन्ते। वंश्यान्स्वकुलसम्भूतान्सप्त परानुपरितनान्पित्रादीनागामिनो वरान् जनिष्यमाणान्। समुद्रपर्यन्तां पृथिवीं प्रतिग्रहीत मर्हति। धर्मज्ञता हि प्रतिग्रहाधिकारे हेतुः, इतश्च सर्वे धर्मा ज्ञायन्ते।। १०५।।

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।

इदं यशस्यं सततमिदं निःश्रेयसं परम्।। १०६।।

अन्वय - इदं स्वस्त्ययनं इदं श्रेष्ठं बुद्धिविवर्धनम् इदं यशस्यम् आयुष्यम् इदं निःश्रेयसं परम्।

हिन्दी अर्थ - यह शास्त्र कल्याण करने वाला है। यह बुद्धि बढ़ाने वाला श्रेष्ठ साधन है, यह यश बढ़ाने वाला है, यह मोक्ष प्रदान कराने में परम श्रेष्ठ साधन है।।१०६।।

मेधातिथिः। स्वस्त्यभिप्रेतस्यार्थस्याविनाशः। अयनं प्रापणम्। स्वस्ति प्राप्यते येन तत्स्वस्त्ययनम् श्रेष्ठमन्येभ्यो जपहोमादिभ्यः। न हि शास्त्रमन्तरेण तेषामनुष्ठानं सम्भवति, अतस्तदनुष्ठानहेतुत्वाच्छ्रेष्ठमेतत्। अथवा धर्मज्ञानार्थवाक्यान्येव श्रेयस्यान्यनुष्ठानं तु क्लेशकरमत उच्यते श्रेष्ठमिति इदं बुद्धिविवर्धनम्। शास्त्रे ह्यासेव्यमाने तदर्थस्य प्रकाशनाद्ग्रन्थिप्रमोक्षाद्बुद्धिविवर्द्धिः प्रसिद्धैव। इदं यशस्यम्, धर्मज्ञः संशयानैः पच्छ्यमानः ख्यातिं लभते। यशसो निमित्तं 'यशस्यम्'। विद्वत्तौ दार्यादिगुणवत्तया प्रसिद्धिर्यशः निःश्रेयसं दुःखाननुविद्धायाः प्रीतेः स्वर्गापवर्ग-लक्षणायास्तत्प्राप्तिहेतुकर्मज्ञानहेतुत्वान्निःश्रेयसं परं श्रेष्ठम्।। १०६।।

अस्मिन् धर्मो खिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः।। १०७।।

अन्वय - अस्मिन् अखिलेन धर्मः कर्मणां गुणदोषौ च चतुर्णामपि वर्णानां शाश्वतः आचारश्च उक्तः।

हिन्दी अर्थ - इस मनुस्मृति शास्त्र में सम्पूर्ण धर्म को और कर्मों के गुण-दोषों को तथा चारों वर्णों का सनातन आचार-व्यवहार कहा गया है।।१०७।।

मेधातिथिः। इदानीं स्वशास्त्रस्य स्वविषये साकल्येन वत्तेरन्यनिरपेक्षतामाह। कश्चिद्यो नाम धर्मः स सर्वः शास्त्रे स्मिन्कात्स्न्येनाभिहितः। न तस्माद्धर्मज्ञानाय शास्त्रान्तरापेक्षा कर्तव्येत्यतिशयोक्तिः स्तुतिः। अस्मिन् शास्त्रे धर्मः स्मार्तो खिलेन निःशेषणोक्तः। गुणदोषौ च कर्मणाम्। इष्टानिष्टे फले 'गुणदोषौ कर्मणां' यागादिब्रह्महत्यादीनाम्। एवं हि साकल्यं भवति यत् कर्मस्वरूपमितिकर्तव्यताफलविशेषः कर्तव्यविशेषसम्बन्धो नित्यकाम्यताविवेकः। एतत्सर्वं गुणदोषपदेन प्रतिज्ञातम्। धर्म इत्युक्ते कर्मग्रहणं वत्तपूर्णाथम्।

चतुर्णामपि वर्णानाम्। एतदपि साकल्यार्थम्। यो नाम कश्चिद्धर्मं धिक्कृतस्तस्य सर्वस्येतो धर्मलाभः। आचारश्चैव शाश्वतः। आचारप्रमाणको धर्म 'आचार' इत्युक्तः। द्वितीये चैनं विवेक्ष्यामः। शाश्वतो वद्धपरम्परया नेदानीन्तनैः प्रवर्तितः।। १०७।।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।

तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः।। १०८।।

अन्वय - श्रुत्युक्तः स्मार्तः च आचारः एव परमो धर्मः तस्मात् आत्मवान् द्विजः अस्मिन् सदा नित्यं युक्तः स्यात्।

हिन्दी अर्थ - वेदों में कहा हुआ और स्मृतियों में भी कहा हुआ जो आचरण है वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, इसीलिए आत्मोन्नति चाहने वाले द्विज को चाहिए कि वह इस श्रेष्ठाचरण में सदा निरन्तर प्रयत्नशील रहे।। १०८।।

मेधातिथिः। परमः प्रकृष्टो धर्म आचारस्तथा श्रुतौ वेदे य उक्तः, स्मार्तः स्मृतिषूक्तस्तस्मादाचारधर्मे नित्यं युक्तः स्यान्नित्यमनुतिष्ठेदात्मवानात्मनो हितमिच्छन्। सर्वस्या त्मास्त्यतो मनुष्या तद्धितपरत्वमुच्यते।। १०८।।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।

आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाक्स्मृतः।। १०९।।

अन्वय - आचारात् विच्युतः विप्रः वेदफलं न अश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाक् भवेत्।।

हिन्दी अर्थ - जो धर्माचरण से रहित विप्र है वह वेद-प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता, और जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।।१०९।।

मेधातिथिः। प्रकारान्तरेणेषमाचारस्तुतिः। आचारात्प्रच्युत आचारहीनो न वेदफलं प्राप्नोति। वेदविहितकर्मानुष्ठानफलं वेदफलमित्युक्तम्। समग्राण्यविकलानि वैदिकानि कर्माण्यनुतिष्ठन्त्याचारभ्रष्टो न ततः पुत्रकामादिफलमश्नुत इति निन्दा। एष एवार्थो विपर्ययेणोच्यते। आचारेण तु संयुक्तः सकलं फलं प्राप्नोति, काम्यानाम्। अत्र यद्वदन्ति “सम्पूर्णवचनादाचारहीनस्याप्यस्ति काम्येभ्यः फलसम्बन्धो न कृत्स्नफललाभ” इति तन्न किञ्चित्, अर्थवादत्वादस्य।। १०९।।

एवमाचारतो दष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगहुः परम्।। ११०।।

अन्वय - एवम् आचारतः धर्मस्य गतिम् दष्ट्वा मुनयः सर्वस्य तपसः परं मूलम् आचारम् जगहुः।

हिन्दी अर्थ - इस प्रकार धर्माचरण से ही धर्म की प्राप्ति, सिद्धि एवं अभिवृद्धि देखकर मुनियों ने धर्माचरण को ही स्वीकार किया है।।११०।।

मेधातिथिः। यावत्किञ्चित्तपः प्राणायाममौनयमनियमकृच्छ्रचान्द्रायणानशनादि तस्य सर्वस्य फलप्रसवे मूलमाचारो तस्तमेव मुनयस्तपः फलार्थिनो मूलत्वेन कारणतया जगहुः गहीतवन्तः। आचाराद्दष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिं प्राप्तिमतिक्लेशकरं तपस्तथाप्याचारहीनस्य न फलतीति श्रुतिः।। ११०।।

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।

व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम्।। १११।।

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।

महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम्।। ११२।।

वतीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।

भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च।। ११३।।

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।

राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्।। ११४।।

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मस्त्रीपुंसयोरपि।

विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम्।। ११५।।

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च सम्भवम्।

आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा।। ११६।।

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसम्भवम्।

निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम्॥ ११७॥

देशधर्मा जातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान्।

पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रे स्मिन्नुक्तवान्मनुः॥ ११८॥

अन्वय - स्पष्टम्।

हिन्दी अर्थ - जगत् की उत्पत्ति (प्रथम अध्याय में), संस्कारों की विधि ब्रह्मचारी के व्रतों की विधि, गुरुसेवा, अभिवादन आदि शिष्टता के व्यवहार (द्वितीय अध्याय में) और स्नान=समावर्तन संस्कार की श्रेष्ठ विधि, विवाह के लिए स्त्री-प्राप्ति और विवाहों के लक्षण, पाँच यज्ञों का विधान श्राद्ध की सनातनविधि (तृतीय अध्याय में), व्रतियों के लक्षण तथा स्नातक गृहस्थियों के व्रत (चतुर्थ अध्याय में), और भक्ष्याभक्ष्य, शरीरशुद्धि, द्रव्यों की शुद्धि, स्त्रियों के धर्म (पंचम अध्याय में), वानप्रस्थ, संन्यासियों के धर्म एवं मोक्षविधान (षष्ठ अध्याय में), और राजा के सभी धर्म (सप्तम अध्याय में), अभियोगों के फैसले, गवाहों से प्रश्न पूछने, दायभाग के बटवारे के नियम, जुए का वर्णन चोर, डाकू आदि लोककण्टकों का निवारण, वैश्यशूद्रों के व्यवहार (नवम अध्याय में), और वर्णसंस्कारों की उत्पत्ति, वर्णों के अल्पकालीन धर्म (दशम अध्याय में) तथा प्रायश्चित्त करने की विधि (ग्यारहवें अध्याय में) और कर्मों के आधार पर तीन प्रकार की संसार की गतियां मुक्ति वर्णन कर्मों के गुण दोषों की परीक्षा (द्वादश अध्याय में), देश के धर्मों को सनातन जातिधर्मों एवं कुल धर्मों को और पाषण्डी लोगों के धर्मों को मनु ने इस शास्त्र में कहा है॥ ११७-११८॥

मेधातिथिः। उक्ता धर्मा अत्र विशिष्यन्ते। श्रोत प्रवत्यर्थं चानन्तफलता धर्मस्योक्ता 'एतदन्ता' स्त्वित्यादिना। तत्रातीन्द्रियो यमनन्तो दुष्पार इति मन्वाना अवसीदेयुरत अत्साहजनार्थं शास्त्रार्थसङ्कलनात्मिकामनुक्रमणीं पठति। एतावन्त्यत्र वस्तूनि, नातिबहूनि, शक्यन्ते श्रद्धधानैः पुरुषैर्ज्ञातुमिति। सङ्क्षेपोपदिष्टमार्ग आक्रम्यमाणो न दुःसहो भवतीति।

जगतश्च समुत्पत्तिमिति कालपरिमाणं तत्स्वभावभेदो ब्राह्मणस्तुतिरित्यादि सर्वं जगदुत्पत्तावन्तर्भूतम्। एतच्चार्थवादतयोक्तं न प्रमेयतया। संस्कारविधिं व्रतचर्योपचारं च। गर्भाधानादयः संस्काराः। तेषां विधिः कर्तव्यता। ब्रह्मचारिणो व्रतचर्याया उपचारो नुष्ठानमितिकर्तव्यता वा। एतद्द्वितीयाध्यायप्रमेयार्थः। स्नानं गुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषः॥ ११७॥

मेधातिथिः। दाराणामधिगमनं भार्यासङ्ग्रहः। विवाहानां ब्राह्मादीनां तत्प्राप्त्युपायानां च लक्षणं स्वरूपाधिगमने हेतुम्। महायज्ञाः पंच वैश्वदेवादयः। श्राद्धस्य पितृयज्ञस्य कल्पो विधिरितिकर्तव्यता। 'पर' ग्रहणं 'शाश्वत' ग्रहणं च वत्तपूरणार्थम्। एष तृतीयाध्यायार्थः॥ ११२॥

मेधातिथिः। वत्तीनां जीवनोपायानां धनार्जनात्मकानां भत्यादीनां लक्षणम्। स्नातकस्य समाप्तवेदाध्ययनस्य गुरुकुलान्निवृत्तस्य व्रतानि नेक्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यादीनि। एष चतुर्थार्थः। भक्ष्याभक्ष्यम्। 'पंच पंचनखा भक्ष्या' 'अभक्ष्यं' जलाण्डवादि। शौचं कालकृतं जन्मादावुदकादिना च द्रव्यशुद्धिः। स्त्रीधर्मयोगः सम्बन्धो बालयुवत्यादि। एतत्पाचमिकम्॥ ११३॥

मेधातिथिः। तापसाय हितं तापस्यम्। तपः प्रधानस्तापसो वानप्रस्थस्तस्य धर्मस्तापस्यम्। मोक्षः परिव्राजकधर्मः। संन्यासश्च तद्विशेष एव। स च तत्रैव दर्शयिष्यते। षष्ठाध्यायवस्त्वेतत्। राज्ञः पथिवीपालनाधिकृतस्य प्राप्तैश्वर्यस्य धर्मो खिलो दृष्टार्थो दृष्टार्थश्च। एष सप्तमाध्यायगोचरः। कार्याणाम् पादानादीनां विनिर्णयां विचार्य संशयच्छेदेनावधारणमनुष्ठेयनिश्चयः॥ ११४॥

मेधातिथिः। साक्षिणां च प्रश्ने यो विधिः। प्राधान्यात्पथङ्निर्देशः। आष्टमिको यमर्थः।

धर्मः स्त्रीपुंसयोरित्येकदेशे स्थितयोः प्रवासवियुक्तयोश्च परस्परं वत्तिः। रिक्थविभागधर्मः। द्यूतम्। तद्विषयो विधिः द्यूतशब्दनोक्तः। कण्टकादीनां चोराटविकादीनां शोधनं राष्ट्रान्निरसनोपायः। यद्यपि विभागादिरष्टादशपदान्तर्गतत्वात्कार्याणां चेत्यनेनैवोपादानाद् पादानादिवन्न पथङ्निर्देश्यः -अध्यायभेदात्

प थङ्गनिर्देशः ॥ १५ ॥

मेधातिथिः। वैश्य-शूद्रयोरुपचारः स्वधर्मानुष्ठानम् संकीर्णानां क्षत्त वैदेहकादीनां सम्भवमुत्पत्तिम्। आपद्धर्मं च स्वव त्या जीवतां प्राणात्यये यो धर्मः। एतद्दशमे। प्रायश्चित्तविधिरेकादशे ॥ ११६ ॥

मेधातिथिः। संसारगमनम्। धर्मेण धर्मी लक्ष्यते, संसारी पुरुष आत्मा, तस्य गमनं देहादेहान्तरप्राप्तिः। अथवा संसारविषयाः प थिव्यादयो लोका उच्यन्ते, तत्र गमनम् पूर्ववत्। त्रिविधम् उत्तमाधममध्यमम् कर्मसम्भवं शुभाशुभकर्मनिमित्तम्। निःश्रेयसम् न केवलं कर्मनिमित्ता गतय उक्ताः यावद्यतः परमन्यच्छ्रेयो नास्ति तदुपायो प्यध्यात्मज्ञानमुक्तम्। कर्मणां च विहितप्रतिषिद्धानां गुणदोषपरीक्षा ॥ ११७ ॥

मेधातिथिः। तदेव साकल्याभिधानं द्रढयति। प्रतिनियते देशे नुष्ठीयमाना व सर्वस्यां प्रथिव्यां ते देशधर्माः। ब्राह्मणादिजात्याश्रया जातिधर्माः। कुलधर्माः प्रख्यातवंशप्रवर्तिता इति। पाषण्डं प्रतिषिद्धव्रतचर्याः वाह्यस्मृतिसमाश्रयास्तत्र ये धर्माःपाषण्डिनो विकर्मस्थानिति। गणः सङ्घातो, वणिक्कारुकुशीलवादीनाम्। तान्सर्वधर्मान्भगवान्मनुरस्मि छास्त्रे उक्तवान् ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवा छास्त्रं पुरा प ष्टो मनुर्मया।

तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशात्रिबोधत ॥ ११६ ॥

अन्वय - यथा पुरा मया प ष्टः मनु इदं शास्त्रम् उक्तवान् तथा अद्य यूयमपि मत् सकाशात् निबोधत्।

हिन्दी अर्थ - महर्षियों से भ गु मुनि कहते हैं-पहले मेरे पूछने पर महर्षि मनु ने मुझे इस शास्त्र का उपदेश किया था वैसे ही आज आप लोग भी मुझ से सुनो ॥ ११६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमो ध्यायः ॥ १ ॥

मेधातिथिः। अवधानार्थः प्रतिबोधः ॥ ११६ ॥

इति श्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये प्रथमो ध्यायः ॥ १ ॥

मनुस्मृति

अध्याय-2

विद्वद्भिः सेवितः सदिभर्नित्यमद्वेषरागिभिः।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।। १।।

अन्वय - अद्वेषरागिभिः सदिभ विद्वद्भिः नित्यं सेवित यो हृदयेन अभ्यनुज्ञातः धर्मः तं निबोधत।

हिन्दी अर्थ - रागद्वेष रहित विद्वानों के द्वारा सेवित तथा अपने हृदय अर्थात् आत्मा द्वारा मान्य जो धर्म है उसे सुनो।।१।।

मेधातिथिः। प्रथमो ध्यायःशास्त्रप्रतिपाद्यार्थतत्त्वदर्शनार्थो नुक्रान्तः। जगत्स प्ट्यादिवर्णनं च तच्छेषमेव व्याख्यातम्। इदानीं शास्त्रमारभते। तत्र प्रतिज्ञातो र्थो जगत्सर्गादिवर्णनेन व्यायाद्विस्म त इत्यनुसन्धानार्थं पुनः शिष्यान्प्रति बोधयति। यो धर्मो भवतां शुश्रूषितस्तमिदानीं मयोच्यमानं निबोधतावहिता भूत्वा श्रणुत। प्रथमे ध्याये प चषाः श्लोकाः प्रयोजनादिप्रतिपादनार्थाः। परिशिष्टमर्थवावरूपम्। तच्चेन्नातिसम्यगवधारितं न धर्मपरिज्ञाने महती क्षतिः। इह तु साक्षाद्धर्म उपदिश्यते। ततो वधानवदिभरवधारणीयो यमर्थ इति पुनरुपन्यासफलम्। धर्मशब्द उक्तार्थो प्टकाद्यनुष्ठानवचनः। बाह्यदर्शननिस्तु भस्मकपालादिधारणमपि धर्म मन्यन्ते। तन्नैव त्थर्थ विद्वद्भिरित्यादीनि विशेषणपदानि। विद्वांसः शास्त्रसंस्कृतमतयः प्रमाणप्रमेयस्वरूपविज्ञानकुशलाः। ते च वेदार्थविदो विद्वांसो नान्ये। यतो वेदादन्यत्र धर्म प्रति ये ग हीतप्रामाण्यास्ते विपरीतप्रमाणप्रमेयग्रहणादविद्वांस एव। एतच्च मीमांसातस्तत्त्वतो निश्चीयते। सन्तः साधवः प्रमाणपरिच्छिन्नार्थानुष्ठायिनो हिताहितप्राप्तिहारार्थाय यत्नवन्तः। हिताहितं च द ष्टं प्रसिद्धम्। अद ष्टं च विधिप्रतिषेधलक्षणम्। तदुपानबाह्या असन्त उच्यन्ते। अत उभयमत्रोपात्तं ज्ञानमनुष्ठानं च। विद्यमानतावचनः सच्छब्दो न सम्भवति, आनर्थक्यात्। यद्धि येन सेव्यते तत्तेन विद्यामानेनैव। सेवा नुष्ठानशीलता। भूतप्रत्ययेनानादिकाल-प्रव ततामाह। नायमष्टकादिधर्मो द्यत्वे केनचित्प्रवर्तित इतरधर्मवत्। एतदेव नित्यशब्देन दर्शयति। यावत्संसारमेष धर्मः। बाह्यधर्मास्तु सर्वे मूर्खदुःशीलपुरुषप्रवर्तिताः कियन्तं कालं लब्धावसरा अपि पुनरन्तर्धीयन्ते। न हि व्यामोहो युगसहस्रानुवर्ती भवति। सम्यग्ज्ञानमविद्यया स छन्नमपि तत्क्षये निर्मलतामेवैति। न हि तस्य निर्मलतया छेदसम्भव इति।

अद्वेषरागिभिः। इदं बाह्यधर्मानुष्ठाने द्वितीयं कारणम्। व्यामोहः पूर्वमुक्तः। अनेन लोभादय उच्यन्ते, रागद्वेषग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्। लोभेन मन्त्रतन्त्रादिषु प्रवर्तयन्ति। अथवा रागद्वेषयोर्लोभो न्तर्भूतः। आत्मनि ये भोगोपायास्तेषु रक्ताः उपायान्तरेण जीवितुमसमर्था लिङ्गधारणादिना जीवन्ति। तदुक्तं 'भस्मकपालादिधारणं, नग्नता, काषाये च वाससी-बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति'। द्वेषो विपरीतानुष्ठानकारणम्। द्वेषप्रधाना हि नातीव तत्त्वाधारणे समर्था भवन्त्यतो धर्ममेव धर्मत्वेनाधसवस्यन्तीति। अथवोभावपि रागद्वेषौ तत्त्वाधारणे प्रतिबन्धकौ। सत्यामपि कस्या चिच्छास्त्रवेदनमात्रायां लब्धे पि विद्वच्चपदेशे रागद्वेषवत्तया विपरीतानुष्ठानं सम्भवति। जना अपि यथावच्छास्त्रं कस्यचिद् द्वेष्यस्योपघाताय प्रियस्य चोपकाराय कोटसाक्ष्याद्यधर्म सेचन्ते। तेषां वेदमूलमेवानुष्ठानमित्यशक्यनिश्चयं कारणान्तरस्य रागद्वेषलक्षणस्य सम्भवात्। अतस्तत्प्रतिषेधः।

अत्र चोद्यते। "सदिभरिति सच्छब्दः साधुतावचनो वर्णितः। कीद शी च साधुता तस्य यदि रागद्वेषाभ्यामधर्मं प्रव त्तिः सम्भाव्यते। तस्मादद्वेषरागिभिरिति न वक्तव्यम्।" एवं तर्हि हेतुत्वेनोच्यते। यतो रागादिवर्जिता अतः सन्तो भवन्ति। रागद्वेषप्रधानत्वाभावश्चात्र प्रतिपाद्यते। न सर्वेण सर्वं तदभावयोग्यावस्थागतस्य हेतोर्निरन्वयमुच्छिद्यते। तथा च श्रुतिः-"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्तीति।" रागो विषयोपभोगग धनुता। तत्प्रतिषेधव्यापारो द्वेषः। लोभो मात्सर्यमसाधारण्येन स्प हा, परस्य चैतन्माभूद्भिभवख्यात्यादि। चित्तधर्मा एते। अथवा चेतनावत्सु स्त्रीसुतसुहृद्बान्धवादिषु स्नेहो रागः; लोभो चेतनेष्वपि धनादिषु स्प हा। हृदयेन। हृदयशब्देन चित्तमाष्टे। अनुज्ञानं च हृदयस्य प्रसादः। एषा हि स्थितिः। अन्तर्हृदयवर्तीनि बुद्ध्यादितत्त्वानि। यद्यपि बाह्यहिंसा भक्ष्यभक्षणादिषु मूढा धर्मबुद्ध्या प्रवर्तन्ते, तथा पि हृदयाक्रोशनं तेषां भवति। वैदिकेत्वनुष्ठाने परितुष्यति मनः।

तदस्य सर्वस्यायमर्थः। न मया ताद शो धर्म उच्यते यत्रैते दोषाः सन्ति। किन्तु य

एवंविधैर्महात्मभिरनुष्ठीयते स्वयं च यत्र चित्तं प्रवर्तयति वा। अत आदरातिशय उच्यमानेषु धर्मेषु युक्तः। अथवा हृदयं वेदः। स ह्यधीतो भावनारूपेण हृदयस्थितो 'हृदयम्'। ततश्च त्रितयमत्रोपात्तम्। यदि तावदविचार्यैव स्वाग्रहात्काचित्प्रवृत्तिः कस्यचित्तथा प्यत्रैव युक्ता। एतद्धृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यनेनोच्यते। अथाप्ययं न्यायो 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति, तदप्यत्रैवास्ति। विद्वांसो ह्यत्र निष्कामाः प्रवृत्तपूर्वा अनिन्द्याश्च लोके। अथाप्रामाणिकी प्रवृत्तिः, सा पि यवेदप्रामाण्यात्सिद्धैवेति। सर्वप्रकारं प्रवृत्त्याभिमुख्यमनेन जन्यते।

अन्ये त्वेतं श्लोकं सामान्येन धर्मलक्षणार्थं व्याचक्षते। एवंविधैर्यः सेव्यते स धर्मो वगन्तव्यः। प्रत्यक्षवेदविहितस्य स्मार्तस्य वा चारतः प्राप्तस्य सर्वस्यैतल्लक्षणं विद्यते। अत्र तु य एतैः सेव्यते तं धर्मं निबोधतेति पाठो युक्तः॥ १॥

कामात्मता न प्रशस्ता, न चैवेहास्त्यकामता।

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥ २॥

अन्वय - इह कामात्मता अकामात्मता च प्रशस्ता नास्ति। हि वेदाधिगमः वै वैदिकः कर्मयोगः काम्यः।

हिन्दी अर्थ - इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म ये सब कामना से ही सिद्ध होते हैं॥ २॥

मेधातिथिः। फलाभिलाषः कर्मप्रवृत्तेर्हेतुर्यस्य स मामात्मा तद्भावः कामात्मता। तत्प्रधानता 'आत्म' शब्देन प्रतिपाद्यते। सा न प्रशस्ता निन्दिता।

अतश्च निन्दया प्रतिषेधानुमाने 'न कर्तव्येति' प्रतीयते। अर्थात्सौर्यादीनां सर्वेषां काम्यानां निषेधो यम्। अथवा किं विशेषेण ब्रूमः सौर्यादानामिति, सर्वमेव क्रियानुष्ठानं फलसिद्धयर्थं, न स्वरूपनिष्पत्तये। न च काचन निष्फला क्रिया। यदपि- 'न कुर्वीत वथा चेष्टा'मिति, 'भस्मनि हुतं विषयान्तरे देशराजवार्ताद्यन्वेषणं'-तत्रापि क्रियाफलं विद्यते। किन्तु प्रधानफलं स्वर्गग्रामादि पुरुषस्य यद्दष्टादष्टयोरुपयुज्यते तदभावाद् वथा चेष्टेत्युच्यते। अथोच्यते-भवतु क्रिया फलवती। तद्विषये भिलाषो न कर्तव्यः वस्तुस्वाभाव्यात्फलं भविष्यति-अत्रापि सौर्यादीनामफलत्वं, "काम्यमानं फलं ज्ञातम् नानिच्छोस्तदभविष्यती" ति। न च लौकिकी प्रवृत्तिर्यते फलाभिसन्धिनिरपेक्षा। न चात्र विशेषः श्रुतौ-वैदिकेषु कर्मसु फलं नाभिसन्धेयमिति। तत्र फलवत्सु श्रुतेषु कामनानिषेधादप्रवृत्तौ श्रुतिविरोधः। नित्येषु तु प्राप्तिरेव नास्ति। विशेषानुपादानाच्च लौकिकव्यापारनिवृत्तौ दुष्टविरोधः। तदिदमापतितम्, न किंचित्केनचित्कर्तव्यं सर्वैस्तूष्णीभूतैः स्थातव्यम्"।

उच्यते। यत्तावदुक्तं काम्येषु सौर्यादिषु निषेधप्रसंग इति, -तत्र वक्ष्यति 'यथासङ्कल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुत'इति। निषेधे हि कुतः सङ्कल्पः कुतश्च कामावाप्तिः यदपि विशेषानुपादानाल्लौकिके पि प्रसक्त इति-तत्रोपात्त एव विशेषः, 'यो धर्मस्तं निबोधतेति' धर्मस्य प्रकृतत्वात्। यदप्युक्तं नित्येषु फलाश्रवणात्फलाभिसन्धेः प्राप्तिरेव नास्ति, किं निषेधेनेति,-तत्राप्युच्यते। फलाभावात्कश्चित्सम्यक्शास्त्रार्थमजानानो न प्रवर्तेत, सौर्यादिषु च श्रुतफलेषु फलाभिसन्धिपूर्विकां प्रवृत्तिं दष्ट्वा सामान्यतोदष्टेन यत्कर्तव्यं तत्फलहेतोः क्रियत इत्यश्रुतमपि फलमभिसन्धेयमिति तन्निरर्थमित्युक्तं। यद्यप्ययं न्यायो यत्फलवच्छ्रुतं तत्तथैव कर्तव्यम्, यदपि निष्फलयेव कर्तव्यतया शास्त्रेण यावज्जीवादिपदैर्विनैव विश्वजिन्यायेन फलकल्पनया वगमितं तस्यान्यथानुष्ठाने प्रसङ्ग एव नास्ति, तथापि य एतं न्यायं प्रतिपत्तुमसमर्थः स वचनेन प्रतिपाद्यते। न्यायताः प्रतिपत्तौ हि गौरवम्, वचनात्तु लघीयसी सुखप्रतिपत्तिरिति सुहृद्भूत्वा प्रमाणसिद्धमर्थमुपदिशति स्म।

कामशब्दो यं यद्यपि हृच्छयवचनो दष्टस्तथा पि तस्येहासम्भवात्काम इच्छा भिलाष इत्यनर्थान्तरम्। तत्र वक्ष्यमाणपर्यालोचनया फलाभिलाषेण न सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्ययमर्थः स्थास्यति।

परस्तु कामात्मतामिच्छामात्रसंबन्धमात्रं पदार्थं मन्वानश्चोदयति। "न चैवेहास्त्यकामतेति। न चेह लोके काचिदकामिनः प्रवृत्तिरस्तीत्यर्थः। आस्तां तावत्कृषिवाणिज्यादि व्युत्पन्नबुद्धिना क्रियमाणम्,

यः स्वयं वेदाधिगमो वेदाध्ययनं बालः कार्यते पित्रादिना ताड्यमानः सोऽपि न काममन्तरेणोपपद्यते । अध्ययनं हि शब्दोच्चारणरूपम् । न चोच्चारणमिच्छया बिना निर्घातध्वनिवदुत्तिष्ठति । इच्छति चेत्किमिति ताड्यत इति । सैव तथेच्छोपजन्यते । अभिमते तु विषये स्वयमुपजायत इत्येतावान्विशेषः । यश्चायं वैदिको वेदविहितः कर्मयोगो दर्शपूर्णमासादिकर्मानुष्ठाने नित्यत्वेनावगतः सोऽपि न प्राप्नोति । न ह्यनिच्छतो देवतोद्देशेन स्वद्रव्यत्यागोपपत्तिः । तस्मात्कामात्मतानिषेधे सर्वश्रौतस्मार्तकर्मनिषेधः प्रसक्त इति ॥ २ ॥

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्म ताः ॥ ३ ॥

अन्वय - कामो वै सङ्कल्पमूलः, यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्म ताः ।

हिन्दी अर्थ - कामना का मूल संकल्प है, यज्ञ संकल्प से उत्पन्न होते हैं तथा व्रत, नियम और धर्म सभी संकल्प से ही उत्पन्न कहे गये हैं ।

मेधातिथिः । ततश्च यदुक्तं यागस्य कामेन विना न स्वरूपनिष्पत्तिरिति, तदनेन विस्पष्टं कृत्वा कथयति । सङ्कल्पो यागादीनां मूलं, कामस्य च । यागादीश्चिकीर्षन्नवश्यं सङ्कल्पं करोति । सङ्कल्पे च क्रियमाणे तत्कारणेन कामेन सन्निधातव्यमनिष्टेनापि । यथा पाकार्थिनो ज्वलनं कुर्वतस्तत्समानकारणो धूमोऽप्यनिष्टो जायते । तत्र न शक्यं यज्ञादयः करिष्यन्ते कामश्च न भविष्यतीति ।

अथ कोऽयं सङ्कल्पो नाम यः सर्वक्रियामूलम् ? उच्यते । यच्चेतःसन्दर्शनं नाम यदनन्तरं प्रार्थनाध्यवसायौ क्रमेण भवतः । एते हि मानसा व्यापाराः सर्वक्रिया-प्रवृत्तिषु मूलतां प्रतिपद्यन्ते । न हि भौतिका व्यापारास्तमन्तरेण सम्भवन्ति । तथाहि-प्रथमं पदार्थस्वरूपनिरूपणम् अयं पदार्थ इमामर्थक्रियां साधयतीति यज्ञानं स इह सङ्कल्पो भिप्रेतः । अनन्तरं प्रार्थना भवति इच्छा । सैव कामः । 'कथमहमिदमनेन साधयामीतिः इच्छायां सत्यामध्यवस्यति करोमीति निश्चिनोति सोऽध्यवसायः ततः साधनोपदाने बाह्यव्यापारविषये प्रवर्तते । तथाहि-बुभुक्षित आदौ भुजिक्रियां पश्यति, तत इच्छति भु जीयेति, ततोऽध्यवस्यति व्यापारान्तरेभ्यो विनिवृत्त्य भोजनं करोमीति, ततः कर्मकरणस्थानाधिकारिण आह 'सज्जीकुरुत, रसवतीं स चारयतेति' ।

नन्वेवं सति न यज्ञादयः सङ्कल्पमात्राद्भवन्त अपि तु सङ्कल्पिप्रार्थनाध्यवसायेभ्यः; तत्र किमुच्यते-यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः इति । सङ्कल्पस्याद्यकारणत्वाददोषः । अत एवोत्तरत्र 'नाकामस्य क्रिया काचिद् द श्यत' इति वक्ष्यति । व्रतानि मानसोऽध्यवसायो व्रतम् । 'इदं मया यावज्जीवं कर्तव्यमिति' यद्विहितम् । यथा स्नातकव्रतानि । यमधर्माः प्रतिषेधरूपाः अहिंसादयः । कर्तव्येषु प्रवृत्तिः निषिद्धेभ्यो निवृत्तिः नान्तरेण सङ्कल्पमस्ति ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिद् द श्यते नेह कर्हिचित् ।

यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

अन्वय - इह अकामस्य काचिद् क्रिया कर्हिचित् न द श्यते हि यत् किञ्चित् कुरुते तत् तत् सकामस्य चेष्टितम् (एव भवति) ।

हिन्दी अर्थ - इस संसार में निष्काम व्यक्ति में कोई क्रिया कभी नहीं देखी जाती । क्योंकि वह जो कुछ करता है वह उसकी सकाम चेष्टा ही होती है ।

मेधातिथिः । पूर्वेण शास्त्रीये प्रवृत्तिनिवृत्ति संकल्पाधीने व्याख्याते । अनेन लौकिकेषु कर्मसु तदधीनतोच्यत इति विशेषः । नेह लोके कर्हिचित्कदाचिदपि जाग्रदवस्थायां क्रिया काचिदनुष्ठेयत्वेनानिच्छतः सम्भवति । यत्किञ्चिल्लौकिकं वैदिकं वा कुरुते कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च तत्सर्वं कामस्य चेष्टितम् । हेतुत्वाच्चेष्टितं कामस्यैवेत्युक्तम् । तदिदमसिङ्कटम्-कामात्मता न प्रशस्ता, च चानया बिना किञ्चिदनुष्ठानमस्ति ॥ ४ ॥

तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।

यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्वाङ्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

अन्वय - तेषु सम्यग्वर्तमानः अमरलोकतां गच्छति, यथा सङ्कल्पितः च सर्वान् एव कामान् समश्नुते।

हिन्दी अर्थ - उन वेदोक्त कर्मों में अच्छी प्रकार संलग्न व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है और संकल्प की गई सभी कामनाओं को भलीभांति प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

मेधातिथिः। अत्र प्रतिविधत्ते-तेषु कामेषु सम्यग्वर्तितव्यम्। “का पुनः सम्यग् वृत्तिः ?” यद्यथा श्रुतं तत्तथैवानुष्ठेयम्। नित्येषु फलं नाभिसन्धेयम्, अश्रुतत्वात्। काम्येषु त्वनिषेधः तेषां तथाश्रुतत्वात्। फलसाधनतयैव तानि विधितो वगम्यन्ते। फलानिच्छोस्तदनुष्ठानमश्रुतकरणं स्यात्। नित्येषु फलाभिसन्धिर्व्यामोह एव। न ह्यभिसन्धिमात्रात्प्रमाणतो नवगते फलासाधनत्वे फलमुत्पद्यते।

एवं कुर्वन् गच्छति प्राप्नोत्यमरलोकताम्। अमराः देवाः तेषां लोकः स्वर्गः। तन्निवासात् अमरेषु लोकशब्दः। स्थानस्थानिनोरभेदात् ‘म चाः क्रोशन्तीति’ वत्। तेनायं समासः। अमराश्च ते लोकाश्च अमरलोकास्तद्भावः अमरलोकता। देवजनत्वं प्राप्नोति देवत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः। व तानुरोधादेवमुक्तम्। अथवा मरान्लोकयति पश्यत्यमरलोकः। ‘कर्मण्यम्’। तदन्ताद्भावप्रत्ययः। (पाणिनि सू० ३।२।१९) देवदर्शी सम्पद्यते। अनेनापि प्रकारेण स्वर्गप्राप्तिरेवोक्ता भवति। अथवा मर इव लोक्यते लोके। अर्थवादश्चायम्। नात्र स्वर्गः फलत्वेन विधीयते। नित्यानां फलाभावात्काम्यानां च नानाफलश्रवणात्। तेन स्वर्गप्राप्त्या शास्त्रानुष्ठानसम्पत्तिरेवोच्यते। लक्षणया यदर्थं कर्मणामनुष्ठानं तत्सम्पद्यत इत्यर्थः। तत्र नित्यानां प्रत्यवायानुत्पत्तिर्विध्यर्थसम्पत्तिर्वा प्रयोजनम्। काम्येषु तु यथासङ्कल्पितान् यथाश्रुतं सङ्कल्पितान्। प्रयोगकाले यस्य कर्मणो यत्फलं श्रुतं तत्सङ्कल्प्य अभिसन्धय मनसा कामयित्वेदमहमतः फलं प्राप्नुयामिति। ततः सर्वाङ्कामान् काम्यान्थान् समश्नुते प्राप्नोति। अतः परिहृता संकटापत्तिः, यतो न सर्वविषयः कामो निषिध्यते, किं तर्हि, नित्येषु फलाभिलाषलक्षणः। साधनसम्पत्तिस्तु काम्यैव।

ब्रह्मवादिनस्तु सौर्यादीनां निषेधार्थं कामात्मतेति मन्यन्ते। फलार्थितया क्रियमाणा बन्धात्मका भवन्ति। निष्कामस्तु ब्रह्मार्पणन्यायेन कुर्वन्मुच्यते। तदुक्तं भगवता कृष्णद्वैपायनेन ‘मा कर्मफलहेतुर्भूः’ (भ० गी० २.४७)। तथ “साधनानामकृत्स्नत्वान्मौख्यात्कर्मकृतस्तथा। फलस्य चाभिसन्धानादपवित्रो विधिः स्मृतः” इति। बहवश्चात्र व्याख्याविकल्पाः, असारत्वानु न प्रदर्शिताः ॥ ५ ॥

वेदो खिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

अन्वय - अखिलः वेद तद्विदाम् स्मृतिशीले च साधूनां च आचारः आत्मनः तुष्टिरेव च धर्ममूलम्।

हिन्दी अर्थ - संपूर्ण वेद, वेद के जानने वालों की स्मृति और उनका शील, सज्जनों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता ये धर्म के मूल हैं।

मेधातिथिः। पूर्वपक्षः-को स्याभिसम्बन्धः। यावता धर्मो न वक्तव्यतया प्रतिज्ञातः। स च विधिप्रतिषेधजलक्षणः। तत्र न वेदस्य धर्ममूलता विधेया ‘वेदो धर्ममूलत्वेन ज्ञातव्यो धर्मप्रामाण्य आश्रयणीयः’ इति, अन्तरेणैवोपदेशं तत्सिद्धेः। न हि मन्वाद्युपदेशसमधिगम्यं वेदस्य धर्ममूलत्वम्। अपि तु अबाधितविषयप्रतीतिजनकत्वेनापौरुषेयतया च पुरुषसंगदोषैरपि मिथ्याभिधानाशङ्काभावात्, स्वतश्च शब्दस्यादुष्टत्वात्प्रत्यक्षवत्त्वतः प्रामाण्यसिद्धिः। अथोच्यते-‘न्यायतः सिद्धं वेदस्य प्रामाण्यमनूद्य मन्वादिस्मृतीनां तन्मूलता वचनेन ज्ञाप्यते इति’-तदपि न। तत्रापि पूर्वज्ञानसापेक्षत्वात्स्मरणस्य भ्रान्तिविप्रलम्भादीनां महाजनपरिग्रहादिना निरस्तत्वादतीन्द्रियार्थदर्शनस्याशक्यभावाच्च पुरुषस्य च स्वानुभवसिद्धेर्वेदार्थस्मरणस्य वेदमूलतैवावशिष्यते। न हि वेदविदां कार्यार्थविषयं स्मरणं (न) सम्भवति। वेदस्य च मूलत्वेन मूलान्तरकल्पनाया अनवसरः।

नाप्येतद्युज्यते वक्तुम्-‘स्म तिशीले च तद्विदामित्येतदप्यनूद्यते, बाह्यस्म तीनामप्रामाण्याय’-यतस्तासां न्यायत एव सिद्धमप्रामाण्यम्। न हि शाक्यभोजकक्षपणकादीनां वेदसंयोगसम्भवो येन तन्मूलतया स्वविषये प्रमाणं स्युः, स्वयमभ्युपगमात्, तैश्च वेदस्याप्रामाण्याभिधानात्। प्रत्यक्षवेदविरुद्धार्थोपदेशाच्च तत्रासम्भवः, तासु स्म तिषु वेदाध्ययननिषेधात्। सति हि वेदाध्येत त्वे बुद्धादीनां तन्मूलता स्यान्न वेति जायते विचारणा। यत्र तु तत्सम्बन्धो दूरापेतस्तत्र का तन्मूलताशङ्का। स्वयं च मूलान्तरं परम्परायातमभ्युपगच्छन्ति-‘पश्याम्यहं भिक्षुकाः दिव्येन चक्षुषा सुगतिं दुर्गतिं च’। एवं सर्व एव बाह्या भोजकपा चरात्रिकनिर्ग्रन्थानार्यवादपाशुपतप्रभ तयः स्वसिद्धान्तानां प्रणेतृन्पुरुषातिशयान् देवताविशेषांश्च प्रत्यक्षतदर्थदर्शिनो भ्युपयन्ति, न वेदमूलमपि धर्ममभिमन्यन्ते। प्रत्यक्षेण च वेदेन विरुद्धास्तत्रार्था उपदिश्यन्ते। तथाहि हिंसा चेद्धर्म उच्यते संसारमोचकादिभिः, सा चात्र प्रत्यक्षतः प्रतिषिद्धा। तथा न्यत्र तीर्थस्नानामधर्मो भ्युपेयते, इह त्वहरहः स्नायात्तीर्थानि सेवेतेति च विधिः। तथा म्नीषोमीयवधः क्वचित्पापहेतुरिष्यते, स च ज्योतिष्टोमविधिना विरुद्धः। तथा न्ये सर्वानेव यागहोमानात्मार्थान्सम्मन्यन्ते, देवताभेदविधिभिर्नानादैवत्यास्ते वगमिताः। अतो विरोधः।

ये प्याहुः-ग्रहणाग्रहणवदुदितानुदितहोमकालवत्प्रत्यक्षश्रुतिविरोधदर्शनात् स्यात्सम्भवः शाखान्तरस्योच्छिन्नस्यानुच्छिन्नस्य वा तद्विरुद्धार्थविधिपरस्य। अनन्ता हि वेदशाखाः। ताः कथमेकस्य प्रत्यक्षाः। उत्सादश्च सम्भवतीति। तत्र स्यात्ताद शी वेदशाखा यस्यामयं नरास्थिपात्र-भोजननग्नचर्यादिरुपदिष्टो भवेत्।

उच्यते। न वयं ब्रूमः वेदे विरुद्धार्थोपदेशासम्भव इति। किन्तु समकक्षत्वात्तयोर्विकल्पित-प्रयोगयोरव्याघातः। इह तु कल्प्यो वेदः। न च प्रत्यक्षविरोधिकल्पनाया अवसरः। न च सम्भवमात्रेण तावता निश्चयः। निश्चितस्तु तद्विरुद्धप्रत्यक्षविधिः। अनिश्चितेन न वा निश्चितं बाध्यते। शाखोत्सादपक्षं चात्रैव श्लोके परस्तात्प्रप चयिष्यामः। सर्वत्र च प्रत्यक्षश्रुतिभिर्मन्वादिस्म तीनां व्यतिषङ्ग क्वचिन्मन्त्रेण क्वचिद्देवतया क्वचिद् द्रव्यविधिभिः। न च बाह्यासु तत्सम्भवतीति तासामप्रामाण्यम्।

एवमाचारस्यापि वेदविद्भिर्भरद ष्टार्थतया चर्यमाणस्य स्म तिवदेव प्रामाण्यं मूलसम्भवात्। असाधाचारस्यापि द ष्टकारणादिसम्भवादविदुषां च भ्रान्त्यादिसम्भवादप्रामाण्यम्। एवमात्मनस्तुष्टेरपि। यदि च वेदस्म त्याचाराणां मन्वाद्युपदेशसमधिगम्यं प्रामाण्यं मन्वादीनां कथम्। तत्राप्युपदेशान्तरात् स्मार्ताच्च मनुरब्रवीदित्यादेः। तत्र कथम्। तस्मादिदं प्रमाणमिदमप्रमाणमिति युक्तित एतदवसेयम् नोपदेशयतः। तथाचायमनर्थकः श्लोकः। एतत्समानरूपा उत्तरे पि।

सिद्धान्तः। अत्रोच्यते। इह ये धर्मसूत्रकारा अव्युत्पन्नपुरुषव्युत्पादनार्थं पदार्थसम्पादनपरतया ग्रन्थसन्दर्भानारभन्ते तत्र यथैवाष्टकादीनां वेदात्स्वयं कर्तव्यतामवगम्य परावबोधनार्थमुपनिबन्धः, एवं प्रमाणान्तरसिद्धस्य वेदप्रामाण्यादेः। सन्ति केचित्प्रतिपत्तारो ये न्यायतस्तत्त्वविवेचनासमर्था ऊहापोहादिरूपबुद्धयभावात्। तान्प्रतिन्यायसिद्धो प्यर्थः सुहृदुपदेशवदुपदिश्यते। तत्र यन्न्यायतः सिद्धं वेदस्य धर्ममूलत्वं तदेवानेनानूद्यते। वेदो धर्ममूलम्। धर्मस्य मूलत्वेन वेदो विचार्य युक्त्या सिद्धो, नात्राप्रामाण्यशङ्का कर्तव्या। भवन्ति च लोके प्रमाणान्तरसिद्धानामर्थानुपदेष्टारः। ‘न त्वया जीर्णोभोक्तव्यमजीर्णप्रभवा हि रोगाः’। न चैतद्वक्तव्यम्-“ये न्यायतो वेदस्य धर्ममूलत्वं न शक्नुवन्ति प्रतिपत्तुं ते वचनादपि न प्रत्येष्यन्ति”। यतो द श्यते ये आप्तत्वेन प्रसिद्धास्तदीयं वचनमविचार्यैव केचन प्रमाणयन्ति। तदेवं सर्वमिदं प्रकरणं न्यायमूलं, न वेदमूलम्। अन्यत्रापि व्यवहारस्म त्यादौ यत्र न्यायमूलता तत्र यथावसरं दर्शयिष्यामः। अष्टकादीनां यथा वेदमूलता तथा त्रैव निर्दिश्यते।

वेदशब्देनर्ग्युजुःसामानि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते। तानि चाध्येतृणां वाक्यान्तरेभ्यः प्रसिद्धभेदानि। उपदेशपरम्परासंस्कृता अध्येतारः श्रुत्वाैव वेदो यमिति प्रतिपद्यन्ते यथा ब्राह्मणो यमिति। तत्र वाक्यसमूहे पि अग्निमीले’ ‘अग्निर्वै देवानामवम’ इत्यादौ ‘संसमिद्यवसे’ अथ महाव्रतमि’त्यन्ते, वेदशब्दः प्रयुज्यते, तदवयवभूतेषु केवलेषु वाक्येष्वपि। न च ग्रामादिशब्दवद् गौणमुख्यता विद्यते। तत्र समुदायेषु हि व ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त इत्येष न्यायः। ग्रामशब्दो हि प्रसिद्धभूयिष्ठप्रयोगः

समुदाय एव, 'ग्रामो दग्ध' इत्यादिपदसम्बन्धात्तदवयवे वर्तते। कतिपयशालादाहे पि लौकिका 'ग्रामोदग्ध' इति। प्रयु जते। अथवा तत्रापि समुदायवचन एव। दाहस्त्वेकदेशवर्ती समुदायसम्बन्धितया व्यपदिश्यते। अवयवद्वारक एव समुदायस्य क्रियासम्बन्धः। एष एव समुदायस्य क्रियासम्बन्धो यो वयवानाम्। न ह्यवयवान्परिहाप्य समुदायो द्रष्टुं स्पष्टुं वा शक्यते। व्युत्पाद्यते च वेदशब्दः। विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यं धर्मलक्षणमर्थमस्मादिति 'वेदः'। तच्च वेदनमेकैकस्माद्वाक्याद्भवति, न यावान ग्वेदादिशब्दवाच्यो ध्यायानुवाकसमूहः। एवं चोदाहरणे जिह्वाच्छेद इत्येकवाक्यविषयो प्ययं दण्डः। कृत्स्नो धिगन्तव्य इति कृत्स्नग्रहणं सकलवेदवाक्याध्ययनप्राप्त्यर्थम्। अन्यथा कतिचिद्वाक्यान्यधीत्य कृती स्यात्, न पुनः कृत्स्नं वेदम् इति। अत्रैतन्निरूपयिष्यामः।

स च वेदो बहुधा भिन्नः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः सात्यमुग्निराणायनीयादिभेदेन; एकशतमध्वर्यूणां, काठकवाजसनेयकादिभेदेन; एकविंशतिर्वाह्व च्या आश्वलायनैतरेयादिभेदेन; नवधा आथर्वणं मोदकपैप्पलादकादिभेदेन।

"ननु नैव केचिदाथर्वणं वेदं मन्यन्ते यतः 'त्रयी विद्या ऋचः सामानि यजूंषीति' 'वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः'। तथा 'त्रेवेदिकं व्रतं चरेदि'त्यादौ न क्वचिदाथर्वणनामाप्यस्ति। प्रतिषेधश्च श्रूयते 'तस्मादाथर्वणेन न शंसेरिति'। अतस्त्रयीबाह्यानाथर्वणिकान्पाषण्डिनः प्रतिजानते"।

तदयुक्तम्। अविगानेन शिष्टानां वेदव्यवहारात्। 'श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीरित्यत्रापि व्यवहारः। श्रुतिर्वेद इत्येको र्थः न च वेदशब्दश्वाच्यता ग्निहोत्रादिवाक्यानामपि धर्मप्रमाण्ये कारणम्। इतिहासायुर्वेदयोरपि वेदव्यवहारदर्शनात् 'इतिहासपुराणं प चमं वेदानां वेदमिति'। किं तर्हि अपौरुषेयत्वे सत्यनुष्ठेयार्थावबोधकत्वाद् विपर्ययाभावाच्च। तच्चाथर्ववेदे पि सर्वमस्ति; ज्योतिष्टोमादिकर्मणां यजुर्वेदादिष्विव तत्राप्युपदेशात्। अभिचारमूलककर्मणां बाहुल्येन तत्रोपदेशादवेदत्वमिति विभ्रमः केषांचित्। अभिचारा हि परप्राणवियोगफलत्वात्प्रतिषिद्धाः; आथर्वणिकैश्च त एव प्राधान्येनानुष्ठीयन्ते राजपुरोहितैरतस्ते निन्द्यन्ते। यतु "वेदैरशून्य" इत्यादावथर्ववेदस्यानिर्देश इति। अर्थवादा एते। किं तत्र निर्देशनानिर्देशन वा। मन्त्रभेदाभिप्रायं वैतद्वचनं त्रयो वेदास्त्रयी विद्येत्यादि। न हि चतुर्थं मन्त्रजातमस्ति ऋग्यजुःसामव्यतिरेकेण। प्रेषनिविन्निगदेन्द्रगाथादीनामत्रैवान्तर्भावात्। अथर्ववेदे चर्च-एव मन्त्रत्वेन समाम्नाताः। अत ऋग्वेद एवायं मन्त्राभिप्रायेण। यस्तु प्रतिषेधः स विपरीतसाधनः प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधोपपत्तेः। अयं वा स्यार्थः। अथर्ववेदाधीतैर्मन्त्रैस्त्रैवेदिकं कर्म न मिश्रयेत्। वाचः स्तोमे सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि विनियुक्तानि तत्रार्थवेदाधीतानां प्रतिषेधः।

स वेदो विशिष्टः शब्दाशिरपौरुषेयो मन्त्रब्राह्मणख्यो नेकशाखाभेदभिन्नः धर्मस्य मूलं प्रमाणं परिज्ञाने हेतुः। कारणं मूलम्। तच्च वेदस्म त्योर्धर्मं प्रतिज्ञापकतयैव, न निर्वर्तकतया न च स्थितिहेतुतया, व क्षस्येव।

धर्मशब्दश्च प्राग् व्याख्यातः। यत्पुरुषस्य कर्तव्यं प्रत्यक्षाद्यवगम्यविलक्षणेन स्वभावेन श्रेयःसाधनम्। कृषिसेवादि भवति पुरुषस्य कर्तव्यं, तस्य च तत्साधनत्वस्वभावो न्यव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते। याद शेन व्यापारेण कृष्यादेर्ग्रीह्यादिसिद्धिः सा पि प्रत्यक्षाद्यवगम्यैव। यागयादेस्तु साधनत्वम् येन च रूपेणापूर्वोत्पत्तिव्यवधानादिना तन्न प्रत्यक्षाद्यवगम्यम्। श्रेयश्चाभिलषितस्वर्गग्रामादिफलप्राप्तिः सामान्यतः सुखशब्दवाच्या। व्याधिनिर्धनत्वासौख्यनरकादिफलप्राप्तिः सामान्यतो दुःखशब्दवाच्या तत्परिहारश्च। अन्ये तु परमानन्दादिरूपं 'श्रेयः'।

अयं धर्मो ब्राह्मणवाक्येभ्यो वगम्यते लिङ्गादियुक्तेभ्यः। क्वचिच्च मन्त्रेभ्यो पि 'वसन्ताय कपि जजलानालभत' इत्येवमादिभ्यः।

तत्र कामपदयुक्तानि वाक्यादि फलार्थमनुष्ठानमवगमयन्ति। 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामो' 'वैश्वदेवीं साङ्गहण्णीं निर्वपेद् ग्रामकाम' इति। तानि फलमनिच्छता न क्रियन्ते। अन्यानि यावज्जीवादिपदैर्नित्यतया समर्पितानि। तानि न फलहेतोरनुष्ठीयन्ते, फलस्याश्रुत्वात्। न च "विश्वजिता यजेते" त्यादिवदश्रुतफलत्वे पि फलकल्पना। यतो यावज्जीवादिपदैर्विनैव फलेन कर्तव्यतया वगम्यन्ते।

तत्राकरणे शास्त्रार्थातिक्रमदोषः। तत्र तत्परिहारार्थं तानि क्रियन्ते। प्रतिषेधानामपि, 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पेया' इत्यथैव वार्ता। न हि फलार्थं प्रतिषिद्धवर्जनमपि तु प्रत्यवायपरिहारार्थम्। अखिल कृत्स्नः। न किञ्चित्पदं वर्णो मात्रा वा यन्न धर्माय।

अत्र चोदयन्ति। ननु च विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मको वेदः। धर्मश्च कर्तव्यातास्वभाव इत्युक्तम्। तत्र युक्तं यद्विधिवाक्यानि धर्मे प्रमाणं स्युः। तेभ्यो हि यागादिविषया कर्तव्यता प्रतीयते। 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'दघ्ना जुहोति' 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' 'स्वर्गकामो जुहोतीति'। अत्र ह्यग्निहोत्राख्यं कर्म कर्तव्यतया प्रतीयते। 'दध्नेति' तत्रैव द्रव्यम्। 'यदग्नये चेति' देवता। 'स्वर्गकाम' इत्याधिकारः। यत्तु "अग्निर्वै सर्वा देवता अग्निरेव दैव्यो होता स देवानाह्वयति च जुहोति च" इत्यादयः, तथा "प्रजापतिर्वपामात्मन उदखिदत्।" इत्यादयः, न तैः किञ्चित्कर्तव्यमुपदिश्यते। केवलं पुरावत्तमन्यद्वा साम्प्रतिकं भूतमनुवदन्ति। प्रजापतिना पुरा आत्मनो वपोत्खाता। उदखिदत्-किमस्माकमेतेन ? तथा ग्नेरपि सर्वदेवतात्मत्वं नाग्नेयकर्मण्युपयुज्यते। अग्निशब्देनोद्देशार्थनिवृत्तेः। अन्यदेवत्ये न्यत्वादग्नेरुद्देश एव नास्ति। आवाहनस्यापि वचनान्तरेण "अग्निमग्न आवहे"-त्यादिना विहितत्वात्। 'स देवानाह्वयति च जुहोति' चेत्यादिरनर्थकः। मन्त्रा अपि "न म त्पुरासीदम तं न तर्हि" सुदेवो अद्य पतेदनाव त्" इत्यादयो भाववत्परिदेवनादिरुपार्थाभिधायिनः कं धर्मं प्रमिमते? तस्मिन्काले न म त्पुरातो नाप्यम तं जीवितं, प्राक् स ष्टेभूतानामनुत्पन्नत्वान्न कस्यचिज्जीवितमासीन्नापि म त्पुः, प्रलये सर्वेषां म त्वाद्भवतु वा म त्पुर्मा वा; न किञ्चिदेतेन कर्तव्यमुपदिष्टं भवति। एवं सुदेवो सौ महापुण्यो, देवतुल्यो मनुष्यो यो ह्य प्रपतेच्छ्वभ्र आत्मानं क्षिपेदनाव दाव त्तिः प्रत्युज्जीवनं यस्मत्प्रपातान्न भवति। उर्वश्या विप्रलब्धः पुरुरवाः परिदेवया चक्रे। तथा नामधेयम् "उदिभदा यजेत" "बलभिदा यजेत" इत्यादि न कस्यचिदर्थस्य क्रियाया द्रव्यस्य वा विधायकमाख्यातेन क्रियाया विधानाद्द्रव्यवचनत्वाच्च बलभिदादेः। सोमस्य वा व्यक्तचोदनत्वेन प्रकृतितः प्राप्तत्वान्न क्लेशेन द्रव्यवचनता कल्प्यते। तस्मान्नाम्ना न धर्म उपदिश्यते। अतः कथमुच्यते कृत्स्नो वेदो धर्ममूलमिति।

उच्यते। अनयैवाशङ्कया खिलग्रहणं कृतम्, यतः सर्वेषामेतेषां धर्मप्रतिपादनपरत्त्वम्। तथा ह्यर्थवादा नैव विधायकेभ्यो वाक्येभ्यः प थगर्थाः येन धर्मं न प्रमिमीरन्। विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वे विधिपरत्वावगमात्, तत्परत्वे च सिद्धायामेकवाक्यतायां, यथा तदर्थानुगुण्यं प्रतिपद्यन्ते तथा व्याख्येयाः। अतः प्रजापतेर्वपोत्खादनवचनं न स्वार्थनिष्ठम् किं तर्हि विधिशेषम्। न च विधेयं द्रव्यगुणादि अर्थवादेभ्यः प्रतीयते इति प्रकारान्तरेण विधेयार्थस्तावकत्वेन तच्छेषतां प्रतिपद्यन्ते। तदपि तत्र प्रतीयत एव। इत्थं नाम पशुयागः कर्तव्यो यदसत्सु पशुषु गत्यन्तराभावात्प्रजापतिना त्मैव पशुत्वेन कल्पितो वपा चोत्खिन्ना। यतस्तत्सहितान्येव विधायकानि यत्रार्थवादाः सन्ति। यद्यपि तैर्विना पि भवति विध्यर्थावगतिः, विध्युद्देशादेव "वसन्ताय कपि जलानालभत" इति, तथापि न तेषामानर्थक्यम्। तेषु हि सत्सु न केवलादवगतिः। न च केनचित्कृतो वेदो येनोच्यते 'यथा न्यत्र न सन्ति तथात्रापि मा भूवन्'। सत्स्वर्थवादेष्वस्माभिर्गतिर्वक्तव्या। सा चोक्ता। न चायमलौकिको र्थः। लोके पि हि स्तुतिपदानि द श्यन्ते विधिशेषभूतान्येव। यथा भ तिदाने प्रव तस्य स्वामिनः कश्चिद्भ तकः प्रीत्या चष्टे साधुर्देवदत्तो नित्यसन्निहितः परिचर्याभूमिज्ञस्तत्परश्चेति। अतो विधेयार्थस्तुतिद्वारेणार्थवादा विधायका एव तथा क्वचिदर्थवादादेव विधेयविशेषावगतिः। यथा "अक्ताः शर्करा उपदधाति"। अत्र ह्य जनसाधनं सर्पिस्तैलादि यत्किं चद्विधिना पेक्षितम्। "तेजो वै घ तम्" इत्यर्थवादे घ तस्तुत्या घ तमध्यवसीयते। "एव प्रतितिष्ठन्ति य एता रात्रीरुपयन्तीति" रात्रिष्वर्थवादादधिकारावगमः। तस्मादर्थवादा अपि धर्ममूलम्।

मन्त्रास्तु केचिद्विधायका एव। यथा "वसन्ताय कपि जलानिति"। आधारे देवताविधिर्मान्त्रवर्णिक एव। न हि तत्र देवता कर्मोत्पत्तिवाक्ये श्रुता नापि वाक्यान्तरेण विहिता। मन्त्रस्तु विहितो नियुक्तः "यत् इन्द्र" इत्यादिः। अतो स्मान्मन्त्रवर्णाद्देवताप्रतिपत्तिः। सहस्रशश्च मान्त्रवर्णिका देवताविधयः सन्ति। ये प्यन्ये क्रियमाणानुवादिनस्ते पि स्म तिलक्षणं धर्ममेव बुद्धं कुर्वन्तीति भवन्ति

धर्ममूलमनुष्ठेयार्थप्रकाशनेन ।

नाम त्वाख्यातार्थादभिन्नार्थवत्सुप्रसिद्धधर्ममूलभावम् । गुणविधयश्च प्रायशो नामाश्रया एव । “शरदि वाजपेयेन यजेत स्वराज्यकामो वाजपेयेनेति” । तस्मात्सिद्धं कृत्स्नस्य वेदस्य धर्ममूलत्वम् ।

अन्ये तु श्येनादिवाक्यानां धर्मोत्पत्तिमत्त्वाभावमाशङ्कामाना निषेधानां च “न लशुनं भक्षयेदि” त्यादीनामखिलग्रहणं मन्यन्ते । “अभिचारा हि श्येनादयो मारणात्मानो हिंसारूपाः । क्रूरत्वाच्च हिंसाया” अभिचाराणां च प्रतिषेधादधर्मत्वम् । अतो न कृत्स्नो वेदो धर्ममूलम् । कर्तव्यश्च धर्म उक्तः । ब्रह्महत्यादिश्च न कर्तव्यः । अतः कथं तद्वाक्यानि धर्ममूलं स्युः ? किं च ये पि पशुयागा अग्नीषोमीयादयस्ते पि हिंसासाधकत्वाद् दूरापेतधर्मभावाः । हिंसा हि पापमिति सर्वप्रवादेष्यभ्युपगमः । उक्तं च ‘यत्र प्राणिवधो धर्मः अधर्मस्तत्र कीद शः’ ।”

कथं पुनरियमाशङ्का पनुद्यते ? अखिलग्रहणात् । न ह्यस्यान्यत्प्रयोजनमस्ति । हेतुर्नोक्त इति चेदागमग्रन्थो यं सिद्धमर्थमाह । हेत्वर्थिनो मीमांसातो विनीयन्ते । अस्माभिरुक्तं य आगममात्रेण प्रतियन्ति तान्प्रत्येतदुच्यते ।

विवरणकारास्तु युक्तिलेशमात्रं दर्शयन्ति । यदुक्तं श्येनादयः प्रतिषिद्धत्वादधर्म इति तत्सत्यम् । तथापि प्रतिषिद्धेष्वपि तेषु यो त्यन्तप्रव द्द्वेषो न हिंस्याद् भूतानीत्यतिक्रान्तनिषेधाधिकारस्तस्य ते शत्रुवधलक्षणां प्रीतिमनुष्ठीयमानां निर्वर्तयन्तीत्येतावतां शन वेदस्य धर्ममूलत्वं श्येनादिवाक्येष्वपि न विहन्यते । निषेधेष्वपि यो रागतः प्रव तो हनने स निषेधे नियुज्यते । एतदेव निषेधस्यानुष्ठानं यन्निषिध्यमानस्यानुष्ठानम् । अग्नीषोमीयादौ तु नैव हिंसाप्रतिषेधो स्ति द्वेषलक्षणया लौकिक्या हिंसाया निषेधेन निषिद्धत्वात् । शास्त्रीया तु विधिलक्षणा न निषेधेन विषयीक्रियते, लौकिक्यां चरितार्थत्वात्निषेधस्य । न च सामान्यतो द ष्टेन हिंसात्वाल्लौकिकहिंसावद्वैदिक्याः पापहेतुत्वमापादयितुं शक्यते । यतो न हिंसात्वं पापहेतुत्वे कारणम् अपि तु प्रतिषेधेन विषयीकरणम् । न चात्र प्रतिषेधो स्तीत्युक्तम् ।

कैश्चित्तु मूलशब्दः कारणपर्यायो व्याख्यायते । धर्मस्य वेदो मूलं प्रतिष्ठाकारणं साक्षात्प्रणाड्या च । ‘स्वाध्यायमधीयीत’ ‘ऋग्वेदं धारयन्विप्र’ इत्यादिचोदनासु साक्षात् । अन्यत्र तु अग्निहोत्रादिकर्मस्वरूपज्ञापकतया प्रणाड्या ।

स्म तिशीले च तद्विदाम् । अनुभूतार्थविषयं विज्ञानं स्म तिरुच्यते । तच्छब्देन वेदः प्रत्यवम श्यते । तं विदन्ति तद्विदः । वेदार्थविदामिदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति यत्स्मरणं तदपि प्रमाणम् ।

“ननु च स्म तिरं प्रमाणमित्याहुः । सा हि पूर्वप्रमाणावगतप्रमेयानुवादिनी नाधिकमर्थं परिच्छिनतीति वदन्ति ।”

सत्यम् । ये स्मरन्ति तेषामाद्यमेव तत्र शब्दादि प्रमाणं नात्मीया स्म तिः । अस्माकं तु मन्वादिस्म तिरेव प्रमाणम् । नहि वयं तामन्तरेणान्यतो ष्टकादिकर्तव्यतामवगच्छामः । तच्च मन्वादीनामीद शं स्मरणं तत्कृतेभ्यो वाक्येभ्यः स्म तिपरम्परायातेभ्यो वसीयते । तस्माच्च स्मरणादनुभूतो यमर्थः प्रमाणेन मन्वादिभिरिति निश्चिनुमो, यत एते स्मरन्ति, न ह्यननुभूतस्य स्मरणोपपत्तिः ।

“ननु कल्पयित्वा ग्रन्थमुपनिबन्धीयुरननुभूयैव केनचित् प्रमाणेन । यथोत्पाद्यवस्तु कथानकं केचन कवयः कथयेयुः” ।

अत्रोच्यते । भवेदेवं यद्यत्र कर्तव्यतोपदेशो न स्यात् । कर्तव्यतोपदेशो ह्यनुष्ठानार्थः । न च केचित्स्वेच्छया कल्पिते बुद्धिपूर्वव्यवहारिणो नुष्ठातुमर्हन्ति ।

“भ्रान्त्या प्यानुष्ठानसिद्धिदिति” चेत् । स्यादप्येकस्य भ्रान्तिः, सर्वस्य जगतो भ्रान्तिर्यावत्संसारभाविनी चेत्यलौकिकी कल्पना । न च सम्भवति मन्वादीनां वेदमूलत्वे भ्रान्त्यादेरवसरः । अतएव प्रत्यक्षतोमन्वादयो धर्मान्दद शुरिति नाभ्युपगम्यते । इन्द्रियैरर्थानां सन्निकर्षे यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । न च धर्मस्येन्द्रियैः सन्निकर्षः सम्भवति, तस्य कर्तव्यतास्वभावत्वात् । असिद्धं च कर्तव्यम् । सिद्धवस्तुविषयश्च सन्निकर्षः ।

अनुमानादीनि तदात्वे यद्यप्यसन्तमर्थमवगमयन्ति पिपीलिकाण्डस चारेण हि भविष्यन्ती व ष्टिमनुमिमते तथापि न तेभ्यः कर्तव्यतावगतिः। तस्मात्कर्तव्यतास्मरणस्यानुरूपकारणकल्पनायां वेद एवोपदिश्यते। स च वेदो नुमीयमानो मन्वादिभिरुपलब्धः। इदानीमुत्सन्ना सा शाखा यस्याममी स्मार्ता धर्मा आसन्। तथा किमेका शाखा थ बह्वचः तासु च कश्चिदष्टकादिः कस्याचिदित्येतदनुमानं प्रवर्तते। अथाद्यत्वे पठ्यन्त एव ताः शाखा। किन्तु विप्रकीर्णास्ते धर्माः। कस्याचिच्छाखायामष्कदीनां कर्मणामुत्पत्तिः, कस्याचिद् द्रव्यं, क्वचिद्देवता, क्वचिन्मन्त्र इत्येवं विप्रकीर्णानां मन्वादयो ङ्गोपसंहारं सुखावबोधार्थं चक्रुः।

अथ मन्त्रार्थवादलिङ्गमात्रप्रभवा एते धर्माः अथायमनादिरनुष्ठेयो र्थो विच्छिन्नपारम्पर्यसम्प्रदायायातो वेदवन्नित्य उतास्मदादीनामिव मन्वादीनामपि परप्रत्ययानुष्ठानो नित्यानुमेयश्रुतिक इत्येवमादि बहुविकल्पं विचारयन्ति विवरणकाराः।

एतावांस्तु निर्णयः। वैदिकमेतदनुष्ठानं स्मार्तानां वैदिकैर्विधिभिर्व्यतिषङ्गावगमादनुष्ठातृणां च तद् दष्टवानुष्ठानात्। व्यतिषङ्गश्च दर्शितः। क्वचिद्वैदिकमङ्गम् प्रधानं स्मार्तं, क्वचिदेतदेव विपरीतं क्वचिदुत्पत्तिः क्वचिदाधिकारः क्वचिदर्थवाद इति। एवं सर्व एवं स्मार्ता वैदिकैर्व्यतिषक्ताः। निपुणतश्चैतन्निर्णीतमस्माभिः स्म तिविवेके-स्मार्तवैदिकयोर्नित्यं व्यतिषङ्कात्परस्परम्। कर्त तः कर्मते वा पि वियुज्येते न जातु तौ।। प्रत्यक्षश्रुतिनिर्दिष्टं ये नुतिष्ठन्ति केचन। त एव यदि कुर्वन्ति तथा स्याद्वेदमूलता।। प्रामाण्यकारणं मुख्यं वेदविदिभः परिग्रहः। तदुक्तं कर्त सामान्यादनुमानं श्रुतीः प्रति।। विशेषनिर्धारणे तु न किञ्चित्प्रमाणं न च प्रयोजनम्।

उत्सादो पि सम्भाव्यते। द श्यन्ते हि प्रविरलाध्येत का अद्यत्वे पि शाखाः।

ताभ्यः सम्भाव्यभाव्युत्सादाभ्यो विधिमात्रमर्थवादविरहितम द्ध त्योपनिबद्धं स्म तिकारैरिति कैश्चिदभ्युपगम्यते। “ब्राह्मणोक्ता विधयः तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्त” इत्यापस्तम्बः (१।४।१०)

अत्र तु यैव महाप्रयोजना शाखा यस्यां सर्वे स्मार्ता गार्ह्याश्च सर्ववर्णाश्रमधर्मा आम्नातास्तस्या उपेक्षणमसम्भाव्यम्, सर्वाध्येतृणाचोत्साद इत्यादि बह्वद ष्टं प्रकल्प्यम्। विप्रकीर्णानां त्वर्थवादगहनानां ऋत्वर्थपुरुषार्थतया च दुर्विज्ञानानां प्रयोगोन्नयनमभियुक्तानां न्यायतो निश्चितार्थानां घटते। अस्मिन्तु पक्षे विरोधद्वयस्यापि प्रत्यक्षश्रौतत्वाद्धिकल्पेन स्म तेर्बाधः। स च विशिष्टानां नाभिप्रेतः। स्म तिकाराश्च बाधमनुमेयश्रुतिमूलत्वं च प्रतिपन्नाः। एवमप्याह गौतमः (३।३५)-“एकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् ग्राहस्थस्य प्रत्यक्षविधानादिति। ननु सर्व एवाश्रमाः प्रत्यक्षविधानाः। स्वमतमेव चेदत् गौतमेनाचार्योपदेशेनोपदिष्टम्-‘तस्याश्रमविकल्पम्’ (३।१९) इत्याद्युपक्रम्यानेनोपसंहृतत्वात्।

मन्त्रार्थवादप्रमाणभावो प्यविरुद्धः। यद्यप्यर्थवादा विध्युद्देशस्तुतिपरा न स्वार्थस्य विधायकास्तथापि केषां चिदन्यपरतैव नोपपद्यते यावत्स्वार्थविषयो विधिर्नावगमितः। यथा ‘स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्चे’त्यादेः प चाग्निविधिशेषतैवमेतावतैव नोपपद्यते यावद्धिरण्यस्तेयादेः प्रतिषेधो नावगमितः। य एतां विद्यामधीते स हिरण्यस्तेयाद्यप्याचरंस्तैश्च संवसन्न पतति, अन्यथा तु पततीत्यवगतिरविरुद्धा।

“अथविध्युद्देशो विधेः प्रतिपादको, नार्थवाद” इति, केनैषा परिभाषा कृता। ‘एते पतन्ति चत्वार’ इत्यत्राप्याख्यातश्रवणमस्ति। ‘लिङ्गादयो न सन्तीति’ चेत् प्रतितिष्ठन्तीति’ रात्रिष्वपि नैव लिङ्गश्रुतिरस्ति। अथ ‘तत्राधिकाराकाङ्क्षायामेकवाक्यतायायां सत्यां प चमलकारादिकल्पनया विध्यवसायः, एवमत्रापि भविष्यति। बहवश्च द्रव्यदेवताविधयो र्थवादावगम्याः सन्ति। तत्र यस्य विधेः शेषा अर्थवादास्तद्विधिर्नैव द्रव्यदेवतादेरपेक्षितत्वाद्धिशेषसमर्पणमात्रे व्यापारान्तर्गतविशेषाव-गतिरर्थवादाधीना न दोषाय। इह तु तदसम्बद्धस्य विध्यन्तरस्येयमाणत्वाद्वाक्यभेदापत्तिरतश्च न प्रकृतिशेषता। तदभावे च तन्मूला प्रतिषेधावगतिर्न स्यादतश्च ‘अक्ताः शर्करा उपदधाति’ तेजो वै घ तमित्यनेन वैषम्यमित्याहः।”

तदसत्। सत्यप्यर्थान्तरत्वे तदेकवाक्यतामूलत्वादस्यावगतेनास्ति वाक्यभेदादिचोद्यापत्तिः। मन्त्राः प्रयोगप्रकाशकत्वेन रूपादेवावगततास्तस्य प्रयोगस्यान्यतो सिद्धेः प्रकाशकत्वनिर्वहणाय प्रकाशं

कल्पयन्ति । न वा सतोरुपत्त्यधिकारयोः प्रकाशनमष्टकायाः सम्भवतीत्युत्पत्त्यधिकार-
विनियोगप्रयोगबोधका मन्त्राः । एवं मान्त्रवर्णिकाश्च विधयोः प्युगम्यन्ते । यथा धरे देवताविधिः ।
चतुष्पाद्धि धर्मो भ्युपगतस्तत्रात्पतरांशः श्रुतः, सकलेतरांशबोधहेतुस्तथाविध एव, विधौ सम्बन्धग्रहणादिति ।
सर्वथा तावत्सम्भवति वेदसंयोगः ।

मनुर्बहुभिर्बहुशाखाध्यायिभिः शिष्यैरन्यैश्च श्रोत्रियैः सङ्गस्तेभ्यः शाखाः श्रुत्वा ग्रन्थं चकार । ताश्च
मूलत्वेन प्रदर्श्य ग्रन्थं प्रमाणीकृतवान् । एवमन्ये तत्प्रत्ययादनुष्ठानमादृतवन्तो न मूलोपलम्भे यत्नं
कुर्वन्ति । अस्माकं चैतदनुमानम् ।

अतो विरोधेसत्यपि तुल्ये श्रौतत्वे बाधोपपत्तिः । प्रत्यक्षया श्रुत्या प्रयोगसम्पत्तौ श्रुत्यन्तरं प्रत्याकाङ्क्षैव
नास्ति । यथा सामिधेनीषु साप्तदश्यपा चदश्ययोः पा चदश्येन प्रकृतिरवरुद्धा साप्तदश्यं प्रत्यक्षश्रुतमपि
नाकाङ्क्षति । आभिधानिकोद्घर्षः सन्निकृष्यते भिहितार्थाकाङ्क्षावगम्यं प्रत्ययं विप्रकर्षाद् दुर्बलं बाधते ।
न चैतावता प्रामाण्यापत्तिः । यथा प्राकृतान्यङ्गानि विकृतिषु चोदकप्राप्तानि वैकृतिकैर्बिर्बुध्यमानानि
बाध्यन्ते तद्वदेव द्रष्टव्यम् ।

यत्र सम्प्रदायविच्छेदस्तत्र च परम्परापत्तिः । न हि तत्र कस्यचित्प्रमाणं प्रव त्तम् । नित्यानुमेयपक्षोऽपि
सम्प्रदायपक्षान्नातीव भिद्यते । मन्वादिस्मरणस्य वयं मूलं परीक्षितुं प्रव त्ताः । यदि च तेषामप्यसावनुमेयो
वेदो वयमिव न ते स्मर्तारः । न च यः पदार्थो न कस्यचित्प्रत्यक्षस्तस्यानुमेयता सम्भवत्यन्वयासम्भवात् ।
क्रियादिषु सामान्यतोऽस्त्येव सम्बन्धदर्शनम् । यदिचा र्थापत्यवसेयाः क्रियादयो न
चेहान्यथा नुपपत्तिरस्ति ।

तस्मादस्ति मन्वादीनामस्मिन्नर्थे वेदसम्बन्धो, न पुनरयमेव प्रकार इति निर्धारयितुं शक्यम् । द्रवीयसी
कर्तव्यतावगतिर्वेदविदां वेदमूलैव युक्ता कल्पयितुं, न भ्रान्त्यादिमूलेत्यवगत्यनुरूपकरणकल्पना कृता
भवति । तत्रोत्सादविप्रकीर्णं मन्त्रार्थवादे प्रत्यक्षवेदानां कारणानां सम्भवात्कल्प्यत्वमुपशेते । प्रत्यक्षोऽपि
विधिः क्वचिन्मूलत्वेन द श्यते 'च मलवद्वाससा सह संवदे'दिति । स चाध्ययने चोपनयने च पठ्यते ।
तदेतल्लेशतोऽस्माभिरुक्तम् । विस्तरस्तु स्मृतिविवेकाज्जातव्यः ।

शाखाः काश्चित्समुत्सन्नाः, पक्षो नैष मतो मम ।
पक्षे स्मिन्न प्रमाणं हि वहवद ष्टं प्रसज्यते ।
उपपन्नतर पक्षो विक्षिप्तानां ततस्ततः ।
उत्पत्त्यादिसमाहारः प्रायशो द श्यते ह्यदः ।।
अनेकशिष्योपाध्यायैः श्रोत्रियैराद तो परैः ।
शक्तो रचयितुं श्रुत्वा शाखां तां तां कुतश्चन ।।
उपपन्नस्तदानीं च द ष्टमूलैः परिग्रहः ।
निश्चयोऽस्माकमप्यद्य यथा सम्भवतः स्थितः ।।
प्रयोगद्योतका मन्त्रा, द्योतनं तस्य नामतः ।
नर्तेविकारोत्पत्तिभ्यो प्रयोगस्यास्ति सम्भवः ।।
विशिष्टदेवतालाभ आघारे मान्त्रवर्णिकः ।
प्रकाशकत्वान्मन्त्रस्य तन्निर्वहणहेतुकः ।।
या सिद्धरूप एकस्मिन् रूपान्तरगतिर्भवेत् ।
न सा स्वरूपनाशाय विश्वजित्यधिकारवत् ।।
प्रतिपन्ने विधौ युक्तं तत्सम्बन्धार्थकल्पनम् ।
गतिर्मन्त्रार्थवादेभ्यो न द ष्टा चेद्विधेः क्वचित् ।।

लिङ्गादिगम्यं भगवान्विधिं स्मरति पाणिनिः ।
 न शक्तास्ते विधिं वक्तुं सिद्धवस्त्वभिधायिनः ॥
 व्याख्येयो गुणवादेन यो र्थवादादतत्परात् ।
 अर्थो धिगन्तुमिष्येत कथं स्यात्तस्य सत्यता ॥
 भिन्द्याद्वाक्यं न प्रतिष्ठा साकाङ्क्षा रात्रयो यतः ।
 विशेषे तद्गते युक्ता वाक्यशेषावगम्यता ॥
 स्तेयादीनां निषेधे पि विध्यन्तरगतिर्ध्रुवा ।
 ततश्च वाक्यभेदः स्यान्नोपन्यासस्ततः समः ॥
 वाचः स्तोमे प्रयुज्यन्ते सर्वे मन्त्रा विधिश्रुतेः ।
 नाष्टकादौ विशेषो स्ति हेतुर्मन्त्रस्य बोधने ॥
 विना सामान्यसम्बन्धात्लिङ्गं च विनियोजकम् ।
 न च नास्त्यस्य सम्बन्धो विना प्रकरणादिभिः ॥
 परिहारं ब्रुवन्त्यत्र केचित्तन्मूलवादिनः ।
 रात्रिषु प्रतितिष्ठन्तीत्यसत्त्वेव लिङ्गादिषु ॥
 प चमेन लकारेण तदर्थगतिरिष्यते ।
 पतन्ति न म्लेच्छितवा इत्यादिषु तथा भवेत् ॥
 ऋचां विधिर्वाचस्तोमे सर्वदाशतयीरिति ।
 दशभ्यो मण्डलेभ्यस्ता वर्जिताः पठिता बहिः ॥
 सामान्यसम्बन्धकारी समाख्यैवेति गीयते ।
 समाख्या ग ह्यमन्त्राणां तेनव ते नास्ति कर्मणाम् ॥
 प चाग्निविद्याशेषत्वं हिरण्यस्तेननिन्दया ।
 स्तेनो हिरण्यवाक्यस्य, न विना तन्निषेधतः ॥
 शेषत्वावगमो र्थात्तु तदकर्तव्यता तु या ।
 द्रढिम्ने शेषतायाः, सा न पुनस्तद्विरोधिनी ॥
 नित्यानुमेयपक्षो यो वा प्यागमपरम्परा ।
 तयोरन्धप्रवाहत्वं न भेदः कश्चिदीक्ष्यते ॥

एवं सति या गौतमेन प्रत्यक्षविधानता ग्राहस्थ्यस्मोक्ता सा शब्दस्याव्यवहितव्यापाराभिप्रायेण ।
 श्रवणानन्तरं यो र्थः प्रतीयते स प्रत्यक्षः । यस्तु प्रतीते र्थे तत्सामर्थ्यपर्यालोचनया गम्यः स
 विलम्बितत्वात्प्रतिपत्तेर्न प्रत्यक्ष इति सर्वमुपपन्नम् ।

स्म तिशीले च तद्विदाम् । स्म तिश्च शीलं च स्म तिशीले । शीलं रागद्वेषप्रहाणमाहुः । तच्च धर्ममूलं
 वेदस्म तिवन्न ज्ञापकतया किन्तु निर्वर्तकत्वेन । रागद्वेषप्रहाणाद्धि धर्मो निर्वर्तते ॥

ननु च श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तम् । रागद्वेषप्रहाणमेव च तत्त्वभावम् । तत्रासति व्यतिरेके किमुच्यते
 रागादिप्रहाणाद्धर्मो निर्वर्तत इति ।

उक्तकस्माभिर्धर्मशब्दो यं स्म तिकारैः कदाचिद्विधिनिषेधविषयभूतायां क्रियाया प्रयुज्यते,
 कदाचित्तदनुष्ठानजन्ये आफलप्रदानावस्रूथायिनि कस्मिश्चिदर्थे । तस्य च सद्भावे शब्द एव
 प्रमाणम् । यदि हि यागस्तथाविधं वस्त्वनुत्पाद्य विनश्येत्तदा कालान्तरे कुतः फलोत्पत्तिः । तदेतद्वस्तु

धर्मशब्देनात्राभिप्रेतम्। तस्य शीलं मूलमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्। तदभिप्राया एव व्यवहाराः “एक एव सुहृद्भर्मो निधने प्यनुयाति यः” इति। क्रिया अनुष्ठानसमनन्तरमेव नाशात्कृतः कालान्तरान्वयः। अत्र चोद्यते। ननु सर्व एव श्रुतिस्मृतिविहितो र्थो धर्मस्य मूलम्। शीलस्यापि तत्रान्तर्भावाद्-भेदेनोपादानमनर्थकम्। विधायिष्यते च ‘इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्विवादिनां शम्। यस्मिजिते जितावेतौ भवतः प चकौ गणा ‘विति। अयमेव मनसो जयो यो रागद्वेषयोः परित्याग इति वक्ष्यामः। केचिदाहुरादरार्थः प थगुपदेशः। एतद्धि सर्वकर्मणामनुष्ठान उपयुज्यते, स्वप्रधानं च अग्निहोत्रादिकर्मवत्। सर्ववर्णधर्मशचायं सर्वाश्रमधर्मश्च, अतः सामान्यधर्मलक्षणवसरे स्मिन्न्युच्यते।

वयं तु ब्रूमः। समाधि शीलमुच्यते। तथाहि ‘शील समाधाविति’ धातुषु पठ्यते। समाधानं च मानसो धर्मः। यच्चेतसो न्यविषयव्याक्षेपपरिहारेण शास्त्रार्थनिरूपणप्रवणता तच्छीलमुच्यते।

द्वन्द्वश्चायमितरेतरयो। तेन पस्परसापेक्षयोः स्मृतिशीलयोः धर्मं प्रति प्रामाण्यमेवाभिप्रेतं, न पूर्ववन्निरर्तकत्वम्। एतदुक्तं भवति। समाधानवती या स्मृतिः सा प्रमाणं न स्मृतिमात्रम्। तेन सत्यपि वेदार्थवित्त्वे यदतत्पराणां स्मरणं न तद्धर्ममूलं भ्रान्त्यादिसम्भवाच्छास्त्रार्थावधानशून्यानाम्।

चशब्द इह पठ्यते। स तद्विदामित्यस्मादनन्तरं द्रष्टव्यः। व तानुरोधात्त्वेवं पठितः। समुच्चयार्थश्चासौ पूर्वप्रकृतस्य च समुच्चेतव्यस्याभावात् तीये पादे यत्साधूनामित्युक्तं तत्समुच्चिनोति। अतस्त्रीणि विशेषणान्यत्राश्रीयन्ते। विदुषामुपाध्यायादागमितविद्यानां तथा तदभ्यासपराणामनुष्ठानपराणां च स्मृतिः प्रमाणम्। एतत्सर्वं मन्वादीनामासीदिति स्मर्यते। नान्यथा तत्कृतेषु ग्रन्थेषु शिष्टानां परिग्रहोपपत्तिः। यद्येवं स्पष्टमेव वक्तव्यम्, ‘मन्वादिवाक्यानि धर्ममूलमिति।’ किमेतेन लक्षणेन।

सत्यम्। यः कथञ्चित्प्रामाण्ये विप्रतिपद्येत तं प्रति न्यायशास्त्रप्रसिद्धं प्रामाण्यहेतुकथनमेतत्। अद्यत्वे पि यस्यैतद्धेतुसद्भावः सो पि मन्वादिवाक् ग्राह्यवाक्यः स्यात्। तथा च विदुषां प्रायश्चित्ताद्युपदेशे तथाभूता एव परिषत्त्वेन प्रमाणीभवन्ति “एको पि वेदविद्धर्मं यो व्यवस्येद् द्विजोत्तम” इति। अत एव स्मृतपरिगणना मनुष्णियुर्मो डिगारा इति निर्मूला। तथा हि पैठीनसिबौधायनप्रचेतःप्रभ तयः शिष्टैरेवरूपाः स्मर्यन्ते। न च परिगणनायामन्तर्भाविताः। सर्वथा यमविगानेन शिष्टाः स्मरन्ति वदन्ति वा एवंविधैर्गुणैर्युक्तम्। तेन चैतत्प्रणीतमिति तस्य वाक्यं सत्यपि पौरुषेयत्वे धर्मं प्रमाणं स्यादिति स्मृतिशीले च तद्विदाम् इत्यस्यार्थः।

अद्यत्वे य एवंविधैर्गुणैर्युक्त ईद शनैव च हेतुना ग्रन्थमुपनिबन्धीयात्स उत्तरेषां मन्त्रादिवत्प्रमाणीभवेत्। इदानीन्तनानां तु यदेव तत्र तस्य बोधकारणं तदेव तेषामस्तीति न तद्वाक्यादवगतिः। इदानीन्तनो हि यावन्मूलं न दर्शयति तावन्न विद्वांसस्तद्वाक्यं प्रमाणयन्ति। दर्शिते तु मूले प्रमाणीकृते ग्रन्थे कालान्तरे यदि कथा चिदष्टकादिमूलतुल्यता स्यात्तदा तेषां शिष्टपरिग्रहान्यथानुपपत्त्या तन्मूलानुमानं युक्तम्।

आचारश्चैव साधूनाम्। चशब्देन वेदविदामिति सम्बध्यते। पदद्वयेन शिष्टत्वं लक्ष्यते। शिष्टानां च आचारः सो पि धर्मं मूलम्। आचारो व्यवहारः अनुष्ठानम्। यत्र श्रुतिस्मृतिवाक्यानि न सन्ति शिष्टाश्च धर्मबुद्ध्या नुतिष्ठन्ति तदपि वैदिकमेव पूर्ववत्प्रतिपत्तव्यम्। यथा विवाहादौ कङ्कणबन्धनादि माङ्गलिकत्वेन यत्क्रियते, या च कन्यायास्तदहर्विवाहयिष्यणायाः प्रख्यातव क्षयक्षचतुष्पथादिपूजा-देशभेदेन, तथा चूडासङ्ख्या देशभेदश्च, या चातिथ्यादीनां गुर्वादीनां चानुवृत्तिः प्रियहितवचनाभिवादनाभ्युत्थानादिरूपा, तथा प शिनसूक्तं त गणपाणयो धीयते अश्वमेधमश्वं यथा समर्पयन्तः। ईद श आचारः।

एषो पि हि स्वभावभेदेन पुरुषाणां मनःस्वास्थ्यादिभेदेनानेकरूपः प्रतिविशेषमानन्त्यादशक्यः ग्रन्थेनोपनिबद्धम्। यदेव बहुशः प्रियमस्येत्युपलक्षितं तदेवावसरान्तरे विपरीतं सम्पद्यते। तथा पर्युपासनं ग हस्थेनातिथेः क्रियमाणं कस्यचित्प्रीतिकरं ‘ममायं भ त्ववत्तिष्ठतिः’, अन्यस्त्वन्यथा, निर्यन्त्रणया न लभ्यत आसितुम्, आसितुमस्मिन्सति इति पर्युपासनयैव विरज्यति। न तत्र सामान्यतः शक्यं वेदानुमानं न विशेषतः। अष्टकादीनां तु नियतेकरूपसमस्तप्रयोगस्मरणमित्येष स्मृत्याचाराणां भेदः।

आत्मनस्तुष्टिरेव च। धर्ममूलमित्यनुषज्यते। वेदविदां साधूनामिति च। अस्याश्च धर्ममूलत्वं प्रामाण्येनैवेत्याहुः। चत्र ह्येवंविधानान प्ठेये र्थे मनः प्रसीदति द्वेषो न भवति स धर्मः।

“ननु च यस्य प्रतिषिद्ध एवार्थे मनः प्रसीदेत्स धर्मः प्राप्नोति। विहिते च किङ्कथिका स्यात् स न धर्म इति।”

एवमेतदीद शानां महात्मनां मतिमतां महाप्रभावो मनःप्रसादो येनाधर्मो पि धर्मतामेति धर्मश्चाधर्मतां न रोगद्वेषादिदोषवताम्। यथा रुमायां यत्किं चिद्द्रव्यं प्रविशति तत्सर्वं लवणसात्सम्पद्यते, एवं वेदविदां सहस्रोत्पन्नेन मनःपरितोषेण सर्वं निर्मलीक्रियते। अतो यथा प्रतिषिद्धमपि ग्रहणं षोडशनि विधिना नुष्ठीयमानं न दोषाय। न चात्र ग्रहणवद्विकल्पः। प्रतिषेधा ह्यात्मतुष्टिव्यतिरेकेणान्यत्र विषये व्यवस्थाप्यन्ते। अथवा नैव तेषामधर्मे आत्मा परितुष्यति। यथा विषघ्नीमेवौषधीं नकुलो दशति नान्याम्। अत उच्यते “नकुलो यां यां दशति सा सा विषघ्नीति।” इह भवन्तश्चाहुः। ये वैकल्पिकाः पदार्थास्तेषु यस्मिन्पक्षे मनः प्रसीदति स पक्ष आश्रयितव्यः। वक्ष्यति च द्रव्यशुद्धौ प्रायश्चित्तेषु च “तस्मिन्तात्तपः कुर्याद्वावत्तुष्टिकरं भवेत्”। अथवा यो श्रद्धधानो नास्तिकतया तस्यानधिकारमाह। नास्तिकस्य हि न वैदिकं कर्म कुर्वतो प्यात्मा तुष्यति। अतस्तेन क्रियमाणमपि कर्म निष्फलमेव। अथवा सर्वकर्मविषयो भावप्रसाद उपदिश्यते, अनुष्ठानकाले क्रोधमोहशोकादि त्यक्त्वा प्रमुदितेन भाव्यम्। अतश्च शीलवदस्याः सर्वशेषतया धर्ममूलत्वाभिधानम्॥ ६॥

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।

स सर्वो भिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ ७॥

अन्वय - यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मः मनुना परिकीर्तितः स सर्वः वेदे अभिहितः हि सः सर्वज्ञानमयः।

हिन्दी अर्थ - जो किसी का कोई धर्म मनु ने कहा है वह सब वेद में कहा हुआ है क्योंकि वह वेद सब प्रकार के ज्ञान से युक्त है॥ ७ ॥

मेधातिथिः। यदुक्तं वेदवित्सम्बन्धेन स्म तेः प्रामाण्यं तदनेन प्रकटयति। यः कश्चिद्धर्मो वर्णधर्म आश्रमधर्मः संस्कारधर्मः सामान्यरूपो विशेषरूपश्च कस्यचिद्ब्राह्मणादेर्वर्णस्य। मनुना परिकीर्तितः। स सर्वो पि वेदे भिहितः प्रतिपादितः। यथा चैतत्तथा पूर्वश्लोक उक्तः। सर्वज्ञानमयो हि सः। सर्वेषां ज्ञानानामद ष्टविषयाणां हेतुनिमित्तं वेदः। सर्वज्ञानैर्निर्मित इवेति ज्ञाने तद्विकारत्वमध्यारोप्य मयट् कृतः। यो हि यद्विकारः स तन्मयस्तत्त्वभाव इत्युच्यते। वेदश्च ज्ञानहेतुत्वात्तन्मय इति सत्कार्यदर्शने कारणं कार्यस्वभावमिति। अथवा सर्वज्ञानाद्धेतोः आगतः ‘हेतुमनुष्येभ्य’ (पा०सू० ४-३-८) इति मयट् क्रियते॥ ७॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।

श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मं निविशेत वै॥ ८॥

अन्वय - विद्वान् इदं सर्वं तु निखिलं ज्ञानचक्षुषा समवेक्ष्य श्रुतिप्रामाण्यतः स्वधर्मं वै निविशेत।

हिन्दी अर्थ - विद्वान् मनुष्य इस सब को ज्ञान रूपी नेत्र से भली प्रकार देखकर और वेद के प्रमाण से कर्तव्य का निश्चय करके अपने धर्म अर्थात् कर्तव्य में स्थिर रहे।

मेधातिथिः। सर्वं ज्ञेयं कृतकाकृतमम्। शास्त्रगोचरं प्रत्यक्षादिगोचरमप्रत्यक्षादिगोचरम्। समवेक्ष्यैतज्ज्ञानचक्षुषा तर्कव्याकरणनिरुक्त- मीमांसादिविद्यास्थानश्रवणचिन्तनात्मेकन। चक्षुरिव चक्षु शास्त्राभ्यासो, ज्ञानस्य कारणत्वसामान्यात्। यथा चक्षुषा रूपं ज्ञायते एवं शास्त्रेण धर्म इति सामान्यम्। समवेक्ष्य सम्यग्विचारपूर्वकं निरूप्य। श्रुतिप्रामाण्यतो वेदप्रामाण्येन धर्मं निविशेत। धर्ममनुतिष्ठेत्।

सर्वेषु हि शास्त्रेषु सम्यग्ज्ञातेषु वेदप्रामाण्यमेवावतिष्ठते। नाज्ञातेषु। तथाहि तानि शास्त्राणि निपुणत्वेन चिन्तयन् न तेषां प्रामाण्ये सम्यग्युक्तिरस्ति, वेदे त्वस्तीति निश्चिनोति। सर्वग्रहणं ज्ञेयविशेषणम्। निखिलशब्दश्च समवेक्ष्येति क्रियाविशेषणम्। निखिलं समवेक्ष्य निःशेषेण पूर्वपक्षेण

शास्त्रान्तराणां प्रामाण्ये, वेदस्य वा प्रामाण्ये यावत्यः काश्चन युक्तयः प्रतिभासन्ते ताः सर्वाः प्रदर्श्य, सिद्धान्तसिद्धैर्हेतुभिर्यथालक्षणलक्षितैर्निराकृत्य स्वपक्षसाधने चोपन्यस्ते वेदप्रामाण्यमवतिष्ठत इति निखिलशब्देन प्रदर्श्यते। तेन तौ निखिलसर्वशब्दौ पर्यायावपि भिन्नविषयत्वान्न पुनरुक्तौ। स्वग्रहणमनुवादः। यो ह्यन्यस्य धर्मः सो न्यस्याधर्म एव॥ ८॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ ६॥

अन्वय - हि मानवः श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम् अनुतिष्ठन् इह कीर्तिं प्रेत्य च अनुत्तमं सुखम् आप्नोति।

हिन्दी अर्थ - क्योंकि मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरोद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्ति और मरके परलोक में सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है॥ ६॥

मेधातिथिः। यो नास्तिकतया वैदिकानि निष्फलानि कर्माणीति व्यामुह्य न तदनुष्ठाने प्रवर्तत तस्य प्रवृत्त्यर्थं सुहृद् भूत्वा दष्टफलप्रदर्शनं करोति। तिष्ठतु तावदन्यत्फलम्। श्रुतौ स्मृतिषु च यदुदितमुक्तं धर्माख्यं कर्म तदनुतिष्ठन्निहारिर्मल्लोके यावज्जीवति तावत्कीर्तिं प्रशस्यतां पूज्यतां सौभाग्यं लभते। न्याय्ये पथि स्थितो महापुण्यो यमिति सर्वेण पूज्यते, प्रियश्च सर्वस्य भवति। प्रेत्य देहान्तरे। यस्मादन्यदुत्तमं नास्ति तत्सुखं प्राप्नोति। प्रायेण स्वर्गकामस्याधिकारः। निरतिशया च प्रीतिः स्वर्गस्तत उच्यते अनुत्तममिति। तस्मान्नास्तिकस्यापि दष्टफलार्थिनो त्रैव प्रवृत्तिः प्रयुक्तेत्येवम्परमेतत्॥ ६।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥ १०॥

अन्वय - वेदः तु श्रुतिः विज्ञेय धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। सर्वार्थेषु अमीमांस्ये हि धर्मः ताभ्यां निर्बभौ।

हिन्दी अर्थ - वेद को श्रुति समझना चाहिए और धर्मशास्त्र को स्मृति समझना चाहिए। ये श्रुति और स्मृति शास्त्र सब स्थितियों और सब बातों में कुतर्क न करने योग्य हैं अर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का कुतर्क का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से धर्म उत्पन्न हुआ है॥ १०॥

मेधातिथिः। किमिदं शब्दार्थसम्बन्धस्मरणमभिधानकोशशास्त्रम्-‘आत्मभूः परमेष्ठी’त्यादिवन्न धर्मशास्त्रं, येनेदमुच्यते ‘श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिरिति।’

उच्यते। इह सदाचारो न श्रुतिर्न स्मृतिर्निबन्धाभावात्। निबद्धाक्षरा हि स्मृतयः प्रसिद्धाः। अतस्तस्य स्मृतिव्युत्पत्तयति। यत्कार्यं धर्मशास्त्रार्थं तत् धर्मशास्त्रम्। यत्र धर्मः शिष्यते कर्तव्यतया प्रतीयते सा स्मृतिः। निबन्धानिबन्धावप्योजकौ। शिष्टसमाचारादपि धर्मस्य कर्तव्यतावगतिः। सापि स्मृतिरेव। ततश्च यत्र कस्मैचित्कार्याय स्मृतेरुपादानं तत्र सदाचारोपि ग्रहीतव्यः।

धर्मशास्त्रं चेत्स्मृतिर्वेदोपि सर्वमुख्यं धर्मशासनमिति तस्यापि स्मृतिव्युत्पत्तयति तन्नित्यं त्वर्थमाह श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः। यत्र श्रूयते धर्मानुशासनशब्दः सा श्रुतिः। यत्र च स्मर्यते सा स्मृतिः। तच्च समाचारे प्यस्तीत्यतः सोपि स्मृतिरेव। न हि तत्राप्यस्मृत्यैव शब्दे प्रामाण्यम्। अथवा श्रुतिग्रहणं स्मृतेर्वदतुल्यत्वार्थम्।

“किं पुनः श्रुतिस्मृत्योः समानं कार्यं यत्सकाचारे प्यनेन प्राप्यते॥”

उच्यते। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये। ‘ते’ श्रुतिस्मृति। सर्वेष्वर्थेष्वत्यन्तासंभाव्येष्वपि दष्टविषयैः प्रमाणैः-यथा तस्मादेव हिंसालक्षणत्पदार्थात्क्वचिदभ्युदयः क्वचित्प्रत्यवायः, ‘सुरापानान्नरकः सोमपानात्पापशुद्धिः’ इत्यादौ पक्षप्रतिपक्षगमने विचारो न कर्तव्यः। आशङ्कापक्षान्तरसम्भावनं मीमांसनम्। यथा-“हिंसा चेत्पापहेतुः स्वरूपाविशेषाद्द्वैदिक्यपि तथा भवितुमर्हति। अथ वैदिक्यभ्युदयहेतुर्लौकिक्यपि तथा स्यात्, तद्गुणसमानत्वात्”। यस्य यदूपं वेदादवगतं तस्य तद्विपरीतरूपसम्भावनम्-

सत्कर्माश्रयैरसम्यग्धेतुभिर्यद्विचारणं तत्सिद्धान्ताभिनिवेशः स इह प्रतिषिध्यते। न पुनरयमर्थो वेदस्याद्यः पूर्वपक्ष उतस्विद्यः सिद्धान्त इत्येषा मीमांसा निषिध्यते। यतो वक्ष्यति "यस्तर्केणानुसन्धते स धर्म वेद नेतर" इति।

"किं पुनरयमद प्तार्थो मीमांसनप्रतिषेधः।"

नेति ब्रूमः। ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ। अनेन तार्किकप्रमाणानां वेदार्थविपरीतसाधनानामाभासतामाह। ईदं शा हि तेषां हेतवः - "वैदिकी हिंसा पापहेतुः, हिंसात्वालौकिकहिंसावत्।" तत्र हिंसायां पापहेतुत्वं न कुतश्चिदन्यतः प्रमाणात्सिद्धमन्तरेणागमम्। एवं चेन्नास्ति हिंसायाः पापसाधनसिद्धौ हेतुः यावदागमः प्रामाण्येन नाभ्युपगतः। अभ्युगते चागमप्रामाण्ये तद्विरुद्धो हेतुनं युज्यते, अप्रामाण्यापत्तेरागमस्य। ततश्चेतरेतरव्याघातः। पूर्वं प्रामाण्येन परिग्रहः पश्चादप्रामाण्यमिति। सो यं स्ववचनविरुद्धः पक्षः। नैनं तार्किका अनुमन्यन्ते, 'मम माता बन्ध्येति' वत्। आगमविरुद्धश्च।

अथोच्यते-"नैवागमः प्रमाणम्। कथं तद्विरोधोद्भावनं दूषणम्। अन तव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। कारीर्यादिकर्मणां तत्समनन्तरफलार्थितया नुष्ठीयमानानां न नियमतो नुष्ठानसमनन्तरं फलप्राप्तिः। कालान्तरे भविष्यतीति चेदुक्तमत्र-'कृता शरदि कारीरी भ शं शुष्यत्सु शालिषु। वसन्ते जायते वष्टिस्तस्येदं न भवेत् फलमिति।' यान्यप्यन्यत्र भाविफलानि ज्योतिष्टोमादीनि तत्रापि निरन्वयविनाशात्कर्मणो वर्षशते फलं भविष्यतीति निःसन्दिग्धवैतालिकव्यवहारोपममेतत्। तस्मादन तम्। व्याघातः-उदिते होतव्यमनुदिते जुह्वतो दोषः। "प्रातःप्रातरन तं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति ये ग्निहोत्रम्।" तथा नुदिते होतव्यं-"यथा अतिथये प्रदुताय दद्यात्ताद गेद्यज्जुहुया" दित्येक्रत्रोदितहोमो विधीयते नुदितहोमनिन्दया तदेव विपरीतमन्यत्। तत्र कः पक्ष आश्रीयतामित्यनध्यवसायः। यदेवाग्निहोत्राद्येकस्यां शाखायां विद्यते तदेव शाखान्तरे पि। सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मत्यभ्युपगमः। ततश्च पुनरुक्तम्।"-

तत्रान तमेव तन्न भवतीत्येनेनैव पादेन प्रतिपाद्यते। यतो वेदाद्धर्म एव कर्तव्यतामात्रं यागादिविषयं निर्बभाविति गम्यते। न पुनः कालविशेषः फलस्योत्पत्तौ, अधिकारवाक्येषु कालविशेषाश्रवणात्। विधितो हि फलं भवतीत्येतावद् गम्यते। कालावच्छेदो न विधिः। धात्वर्थसम्बन्धिनो हि कालविभागा भूतभविष्यद्वर्तमानाः। न चैतद्धात्वर्थफलं किन्तु वैधम्। धात्वर्थफलं हि तदानीमेव निर्वर्तते देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो हविर्विकारादि। यदि कश्चित्कस्यचिदाज्ञाकरो भवति तेन प्रेष्यते 'गच्छ याहि ग्राममिति'। स आज्ञासम्पादने प्रव त्तः कदाचित्प्रारम्भ एव वेतनफलं लभते, कदाचिन्मध्ये, कदाचित्कृते आज्ञाविषये समनन्तरमन्येद्युर्वा कालान्तरे थवा। एवमेतच्छास्त्रफलमनियतकालम्। दिव्यव ष्ट्यादेस्तु स्वाभाव्येन प्रत्यासृत्तिमात्रं गम्यते। न तु तदहरेवोत्पत्तिः। प्रतिबन्धकानि च यथा फलस्यैवंविधस्य लोके भवन्ति तथा वेदे पि, पुराकृतं दुष्कृतादि। तथा च वेद एवैतद्दर्शयति, 'यदि न वर्षेत्तथैव वसेदिति'। सर्वस्वारे तु विवदन्ते। नैतत्क्रतुफलम्। अङ्गमेतत् मरणम्। ऋतुफलं यः कामयेतानामयः स्वर्गलोकमियामिति। यच्चोक्तं हिंसायां लोकवेदयोन विशेष इति तत्र शास्त्रावगम्यो हि तस्या अयं स्वभावो न प्रत्यक्षादिगोचरः। तत्र च भेदः। रागलक्षणालौकिकी हिंसा, विधिलक्षणा लौकिकी हिंसा। विधिलक्षणा त्वग्नीषोमीयस्येति महान्भेदः।

तस्मान्न किं चिद्वेदे न तम्। व्याघातं परस्तात्परिहरिष्यति श्लोकेनैव।। १०।।

यो वमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। ११।।

अन्वय - यः द्विजः ते मूले हेतुशास्त्राश्रयात् अवमन्येत सः साधुभिः बहिष्कार्यः (यतो हि) वेदनिन्दकः नास्तिकः।

हिन्दी अर्थ - जो कोई मनुष्य धर्म के मूल वेद और वेदानुकूल स्मृति ग्रन्थों का तर्कशास्त्र के आश्रय से अपमान करे उसका श्रेष्ठ लोग बहिष्कार कर दें, क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है।। ११।।

मेधातिथिः। असत्यप्रामाण्यहेतौ वेदस्य यो द्विजो हेतुशास्त्राश्रयाद्धेतुशास्त्रं नास्तिकतर्कशास्त्रं बौद्धचार्वाकादिशास्त्रम्, यत्र वेदो धर्मायेति पुनः पुनरुद्धृष्यते, ताद श तर्कमाश्रित्य यो वज्रां कुर्यात् श्रुतौ स्म तौ च। केनचिदकार्यान्निवर्त्येत 'मैवं कार्षीः प्रतिषिद्धं वेदेनेति' तमनाद त्य चिकीर्षेत् 'किं नाम यदि वेदे स्म तिषु प्रतिषिद्धं, नहि किंचित् तयोः सम्यक् प्रामाण्यमस्तीति' कथयेत् मनसा वा विचिन्तयेत्। तर्कशास्त्रेषु निबद्धादरो यदि द श्येत। स साधुभिः शिष्टैर्बहिःकार्यस्तिरस्कार्यः तत्तत्कार्येभ्यो योजनाध्यापनातिथिसत्कारादिभ्यः। क्रियाविशेषस्यानिर्देशाद्धिद्वदहैभ्य इति गम्यते। यतो विद्वान्सम्यगसंस्कृतात्मा तार्किकगन्धितगयैवं व्यवहरति। आसु च क्रियासु विद्वानधिक्रियते। अतएव पूर्वश्लोके विचार ईद शः प्रतिषिध्यते यस्तदवज्ञानपरतया किंक्रयते नतु यस्तदर्थविशेषजिज्ञासया। एवमर्थमेव हेतुमाहनास्तिको वेदनिन्दकः। अतश्च पूर्वपक्षे यो वेदस्याप्रामाण्यं ब्रूयान्नासौ नास्तिकः स्यात्। सिद्धान्तदाढ्यार्थमेव पूर्वपक्षे हेतुकथनम्। वेदनिन्दक इति स्म तिग्रहणं न कृतम्। तुल्यत्वेनोभयोः प्रकृतत्वादन्वतरनिर्देशेनैव सिद्धमुभयस्यापि ग्रहणमित्यभिप्रायः।। ११।।

वेदः स्म तिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। १२।।

अन्वय - वेदः स्म तिः सदाचारः स्वस्य आत्मनः प्रियं च, एतत् चतुर्विधं धर्मस्य साक्षात् लक्षणम् प्राहु।

हिन्दी अर्थ - वेद, सत्पुरुषों का आचरण और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरोद्ध प्रियाचरण ये चार धर्म के स्पष्ट लक्षण कहे हैं।।१२।।

विशेष - "श्रुति - वेद, स्म ति - वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का अचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं।।१२।।

मेधामितिः। यस्त्वेतमर्थमविदित्वा वेदशब्दस्य विवक्षितार्थत्वमेव मत्वा स्म तिनिन्दकस्य न बहिष्कारः, अनेन वेदनिन्दकस्यैव विहित इति प्रतिपद्येत। तं प्रत्याह-नात्र कश्चिद्विशेषः। वेदनिन्दाप्रतिषेधेन स्म तिसदाचारात्मतुष्टीनामपि निन्दकस्य बहिष्कारो नेन विहितः। तेषामपि वेदमूलं धर्माभिधानम्। अतः स्म त्यादिनिन्दको वेदनिन्दक एव।

"ननु श्लोकद्वयेन नार्थः। एवं वक्तव्यम्। श्रुत्यादीनात्मतुष्ट्यन्तान्हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। यो निन्देत्स बहिष्कार्यः साधुभिर्नास्तिकत्वतः"।

उच्यते। नाचार्या ग्रन्थगौरवं मन्यन्ते। बुद्धिगौरवं यत्नेन परिहरन्ति। तस्मिन्हि सति असम्यगवबोधो धर्मस्य। स च पुरुषार्थं विहन्ति।

भेदनिर्देशे पि हि चोदयेयुर्वेदग्रहणमेव कर्तव्यम् सर्वस्य धर्मस्य वैदिकत्वात्। तस्माद्विस्पष्टार्थं भेदेनोभयनिर्देशः, सङ्क्षिप्तरुचीनां पूर्वश्लोकः। अन्येषां श्लोकद्वयम्।

स्वस्य च प्रियमात्मनः इत्यनेन प्रागुक्ता आत्मतुष्टिरेवोक्ता। स्वग्रहणं व त्पूरणार्थम्। तत्साक्षाद्धर्मस्य लक्षणं निमित्तं, ज्ञापकम्, न पुनः प्रत्यक्षम्। यथा न्यैरुक्तं 'साक्षात्कृतधर्माण' इति। विधाशब्दः प्रकारवचनः। एकमेव धर्मं प्रमाणं वेदाख्यम्। तस्य त्वेते भेदाः स्म त्यादयः।

अन्ये तूपसंहारार्थमिमं श्लोकं व्याचक्षते। समाप्तं धर्मलक्षणकरणमिति पुनः पाठः समाप्तिं सूचयति। यथा द्विरभ्यासो वेदाङ्गेषु 'सस्थाजपेनोपतिष्ठन्त उपतिष्ठन्त' इति। तथा च पिण्डीकृत इव प्रागुक्तो र्थो हृदि वर्तते। यथा नैयायिका 'अनित्यः शब्द' इति प्रतिज्ञाय साधनोपन्यासं कृत्वा निगमयन्ति 'तस्मादनित्यः शब्द इति'। प्रायेण चैषा ग्रन्थकाराणां रीतिः। तथा महाभाष्यकारो पि क्वचित्सूत्रं वार्तिकं वा पठित्वा व्याख्याय पुनः पठति।। १२।।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥ १३॥

अन्वय - स्पष्टम्।

हिन्दी अर्थ - अर्थ और काम में अनासक्त लोगों के लिए धर्म के उपदेश का विधान है और धर्म को जानने की इच्छा रखने वालों के लिए श्रुति अर्थात् वेद ही परम प्रमाण है॥१३॥

मेधातिथिः। गोभूमिहिरण्यादिधनमर्थः। तत्र सक्तिस्तात्पर्येण तदर्जनरक्षणार्थं कृषिसेवादिव्यापारकरणम्। कामः स्त्रीसम्भोगः। तत्र सक्तिः नित्यं तदासेवनं तदङ्गानां च गीतवादित्रादीनाम्। तद्वर्जितानां पुरुषाणां धर्मज्ञानं धर्मावबोधो विधीयते विशेषेण धीयते, व्यवस्थितं भवति। धीङ् आधाने' इत्यस्यैद्रूपम्। किमर्थं पुनस्तत्र सक्तानां न भवति धर्मज्ञानम्। यावता ते पि यथाक्षणं तदिविरोधिन्यवसरे भोजनादावितिहासश्रवणा- दन्योपदेशात्समाचाराद्वा शक्नुवन्ति ज्ञातुम् इत्यत आह धर्म जिज्ञासमानानामिति। मुख्यं प्रमाणं धर्मं वेदः, स च तैर्न शक्यो ज्ञातुम्। अत्यन्तदुर्विज्ञानो ह्यसौ निगमनिरुक्तव्याकरणतर्कपुराणमीमांसाशास्त्रश्रवणमपेक्षते स्वार्थबोधे।

न चेयान्प्रन्थराशिः सर्वव्यापारपरित्यागेन विना शक्य आसादयितुम्। समाचारेतिहासादेः। कतिपये धर्मा अवगम्यन्ते, न वेदादिवत्समस्ताङ्ग्युक्तो ज्योतिष्टोमादि प्रयोगः। अत उक्तम्-प्रमाणं परमं श्रुतिः। न तु समाचारादेः प्रामाण्यापकर्षः।

तदुक्तं "यो हेरिव धनाद्भीतो मिष्टान्नाच्च विषादिव। राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति"। अपरे त्वर्थकामा दष्टफलैषिण उच्यन्ते। तत्र 'सक्तानां' पूजाख्यात्यादिकामानां दष्टफलार्थितया लोकपक्तिमात्रप्रयोजनानां 'न धर्मज्ञानं' धर्मानुष्ठानं 'विधीयते' उपदिश्यते। ज्ञायते स्मिन्निति ज्ञानमनुष्ठानमित्युच्यते। अनुष्ठीयमानो हि धर्मो व्यक्ततरो भवति शास्त्रावगमकालतो पि। अतो नुष्ठानं धर्मज्ञानमुच्यते। अत एवदुक्तं भवति। यद्यपि धर्मानुष्ठानाल्लोकपक्त्यादि दष्टं प्रयोजनमुपलभ्यते तथापि न तत्सिद्धिपरतया तत्र प्रवर्तितव्यम्, किं तर्हि शास्त्रेण तच्चोदितमिति कृत्वा। तथा च प्रव तौ यदि दष्टमपि भवति भवतु, न विर्चायते। तथा च श्रुतिः स्वाध्यायस्य दष्टं फलमनुवदति "यशो लोकपक्तिरिति" "लोकः पच्यमानश्चतुर्भिरेनं भुनक्ति अर्चया दानेनाजेयतया चावध्यतया" इत्यादि। श्लोकश्चात्र भवति-

"यथेक्षुहेतोहिर सेचितं पयस्त णानि वल्लीरपि च प्रसि चति।

तथा नरो धर्मपथेन स चचरन्त्यशश्च कामांश्च वसूनि चाश्नुते॥"

ननु च यस्य यः स्वभावो गतः सो न्योद्देशेनाप्यनुष्ठीयमानो न स्वभावाच्च्यवते करोत्येव तत्कार्यम्। यथा विषमौषधोद्देशेनापि पीतं हन्त्येव। अतो दष्टार्थतयाप्यनुष्ठीयमानानि कर्माणि शास्त्रीयाण्यदष्टार्थान्यपि भविष्यन्ति। को भवतो मत्सरो लोकोवर्जनहेतुतया न प्रवर्तितव्यमिति येनात्थ। अत आह 'धर्म जिज्ञासमानानां' वेदो धर्म प्रमाणम्। तेन चैतदुक्तम्-दष्टफलकामार्थानां नादष्टं भवति। केवलं अदष्टं न भवति। यावत्प्रतिषिद्धसेवनादधर्मो पि भवति॥ १३॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्म तौ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः॥ १४॥

अन्वय - यत्र तु श्रुतिद्वैधं स्यात् तत्र उभौ धर्मौ स्म तौ। मनीषिभिः तौ उभावपि सम्यक् धर्मौ उक्तौ।

हिन्दी अर्थ - जहाँ कहीं श्रुति=वेद में दो पथक् आदेश विहित हों, ऐसे स्थलों पर वे दोनों की विधान धर्म माने हैं मनीषी विद्वानों ने उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है॥१४॥

मेधातिथिः। प्रागुक्ते व्याघातः परिहियते। यत्र श्रुत्योर्द्वैधं, विरुद्धाभिधानं, यं धर्मो यमिति। काचिच्छ्रुतिराह, तमेवाधर्ममित्यन्या। तत्र उभावपि तौ धर्मानुष्ठेयौ विकल्पेन। तुल्यबले हि ते श्रुती। तत्रेयं प्रमाणमियं नेत्यशक्यो विवेकः। अत एकार्थतुल्यबलविरोध विकल्प इति।

“उभावपि तौ धर्मावित्युक्तम्। तत्र समुच्चयः प्राप्नोति। एवमुभौ धर्मो भवतः। अन्यथा एकः स्यात्।”
नेति ब्रूमः। पयौयेणापि प्रयोगे नोभयशब्दस्य प्रवृत्तिविरोधः। न ह्ययं सापेक्षद्वयविषय एव।

न्याय्यश्च विकल्पः। यथा ग्निहोत्राख्यमेकं कर्म; तस्य कालत्रयमुपदिष्टम्। तत्र कर्म प्रधानं, कालो गुणः। न चैकस्मिन्प्रयोगे कालत्रयसम्भवः। न च कालानुरोधेन प्रयोगावतिर्युक्ता। नाङ्गानुरोधेन प्रधानमावर्तनीयम्। तस्मान्नयोर्यो यं ‘तुल्यबलविरोधे विकल्प’ इति वचनात्।

उभावपि हि तौ धर्मो-ननु च को भेदस्तत्र धर्मो-वित्यस्मादेतस्य।

न कश्चित्। पूर्वेण स्वमतमुपन्यस्तमुत्तरेणान्यैरपि मनीषिभिरेतदेवोक्तमिति स्वमतमाचार्यान्तरमतसंवादेन द्रढयति।। १४।।

उदिते नुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।

सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः।। १५।।

अन्वय - उदिते नुदिते च तथा समयाध्युषिते सर्वथा यज्ञः वर्तते, इतीयं वैदिकी श्रुतिः।

हिन्दी अर्थ - सूर्योदय के समय ओर सूर्यास्त के समय के अतिक्रमण हो जाने पर अर्थात् प्रत्येक समय अथवा किसी भी निर्धारित किए समय में सब स्थितियों में यज्ञ कर लेना चाहिए। इस प्रकार ये तीनों ही धर्म हैं, ऐसी वैदिक मान्यता है।। १५।।

विशेष - गत १४वें श्लोक में बताया गया था कि वेद में एक ही प्रकार के धर्माचरण आदि के लिए जहाँ भिन्न-भिन्न अनेक विधान किए गए हों वहाँ उन सभी को प्रामाणिक मानना चाहिए उदाहरण के लिए इस श्लोक में यज्ञ करने के लिए तीन समयों का विकल्प है - (१) सूर्योदय के समय में (२) सूर्य उदय न हो उस समय में (३) जब न तारे दीखते हों और न सूर्य निकला हो उस समय में यज्ञ करना चाहिए। इन तीन विधानों में परस्पर विरोध न मान कर जिस समय सुविधा हो उसी समय यज्ञ कर लेना चाहिए।

मेधातिथिः। उदाहरणमिदं समनन्तरप्रदशिते विरोधे। य एते त्रयः काला इतरेतरनिन्दया होमस्य विहिताः तत्रायमर्थः श्रुतिवाक्यानाम्। सर्वथा वर्तते यज्ञः। सर्वप्रकारो होमः प्रवर्तते प्रवर्तनीय इत्यर्थः। या उदितहोमनिन्दा सा न तत्प्रतिषेधार्था किं तर्ह्यनुदितहोमविध्यार्था। एवमितरत्रापि। तेनायमर्थ उक्तो भवति ‘सर्वथा कर्तव्य एतेषां कालानामन्यतर्मास्मन्काले’। तत्र यस्मिन्कृतस्त्र सम्पूर्णः शास्त्रार्थो भवतीतीयं वैदिको श्रुतिरेवम्परा। अस्मिन्नर्थे स्यास्तात्पर्यं न पुनर्निन्द्यमानप्रतिषेधे। यज्ञो होमो त्राग्निहोत्राख्यो भिप्रेतः। यागहोमयोर्यतो यागहोमयोर्यता नात्यन्तं भेदः। देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य स्वत्वत्यागो ‘नेदं मम देवताया इदमिति’ यागः। एतच्च स्वरूपं होमे प्यस्ति। अयं तु विशेषो होमे द्रव्यस्य प्रक्षेपः अधिकरणविशेषं ग्न्यादौ। अतो यज्ञशब्देनात्र होमस्याभिधानम्। होमे ह्येते कालाः श्रुतावाप्नाता न यागमात्रे।

उदितादिशब्दैश्चोदिते होतव्यमित्यादिका श्रुतिरेकदेशेन लक्ष्यते। येयमुदिते होतव्यं नोदिते होतव्यमिति श्रुतिः सैवम्परेत्येवं योजना।

समयाध्युषितशब्देन समुदायेनैवोषसः काल उच्यते। अन्ये तु पदद्वयमेतदित्याहुः। ‘समया’ शब्दः समीपवचनः समीपिनमपेक्षते। उदितानुदितयोः सन्निधानात्तत्समीपी संध्याकालः। ‘अध्युषितं रात्रेर्विवासकालः; व्युष्टायां रात्रावित्यर्थः।’ कासुचिच्छ्रुतिष्वेवं पठितं कासुचिदेवमिति श्रुतिवाक्यानुकरणमेषा स्म त्तिस्तत्र किं पदद्वयमेतदुक्तैकमिति तत एव निर्णयः।

अतो विकल्पेनैकं होमाख्यं कर्म प्रति कालत्रयविधानान्नास्ति विरोधः। सिद्धरूपे हि वस्तुनीतरेविरुद्धरूपसमावेशासम्भवात्स्याद्विरोधो, न साध्ये। साध्यं ह्यनेनापि सिध्यत्यनेनापीत्यवगम्यते। तत्र कुतो विरोधः।

एष एव च स्म तीनां विरुद्धानां विकल्पो न्याय्यः।। १५।।

निषेकादिः श्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।

तस्य शास्त्रे धिकारो स्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

अन्वय - निषेकादि श्मशानान्तः मन्त्रै यस्य विधिः उदितः अस्मिन् शास्त्रे अधिकारः ज्ञेयः अन्यस्य कस्यचित् न।

हिन्दी अर्थ - गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त मन्त्रपूर्वक जिसके लिए विधियां कही गई हैं उसी अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का इस मनुस्मृति शास्त्र में अधिकार समझना चाहिए अन्य किसी का नहीं ॥ १६ ॥

विशेष - शास्त्रकार का इस श्लोक में अभिप्राय यह है कि संस्कार सम्पन्न विद्या व्यसनी व्यक्ति को ही इस मनुस्मृति शास्त्र को पढ़ने का अधिकार है, असंस्कारी मूढ़ व्यक्ति को नहीं।

मेधातिथिः। विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यमिति' पठन्ति। स चार्थवादः। तत्र तव्यप्रत्ययदर्शनात्कस्यचिद्विधिभ्रान्तिः स्यात्। तथा च सति क्षत्रियवैश्ययोरध्ययनं निवर्तते इत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं यं श्लोकः क्षत्रियवैश्ययोः प्राप्तिं दर्शयति। तथा यथाकामी शूद्रोऽप्यतिषेधादध्येतुं प्रवर्तते तन्नैव त्वर्थमपीत्येवमिमं श्लोकं पूर्वं व्याचक्षिरे।

शास्त्रशब्दो यं मानवग्रन्थवचनः। अधिकारो मयैतदनुष्ठेयमित्यवगमः। न च शब्दराशेः सिद्धस्वभावस्यानुष्ठेयत्वावगतिः सम्भवति। न हि द्रव्यमनाश्रित्य क्रियाविशेषं साध्यतया वगम्यते। अतः शास्त्रविषयायां कस्याचित्क्रियायामधिकार इत्यवगम्यते। तत्र कृत्वस्तयस्तावन्न विषयतया प्रतीयन्ते। भवस्त्योर्भवत्यर्थत्वात्। स्वस्तिसम्बन्धे ह्ययमर्थः प्रतीयते 'शास्त्रस्य यद्भवनं या च सत्ता तामनुतिष्ठेदिति'। न चान्यदीयायां सत्तायामन्यस्यानुष्ठात त्वसम्भवः। करोत्यर्थेऽपि न सम्भवति। पदानां नित्यत्वाद्वाक्यानां चान्येन कृतत्वात्। अतः शास्त्रसहचारिण्यध्ययनक्रिया प्रतीयते। अतो यमर्थ उक्तो भवति शास्त्राध्ययने तस्याधिकारः' यथैवाध्ययने तथैव श्रवणेऽपि।

नन्वादिमत्त्वान्मानवस्य ग्रन्थस्य कथं तद्विषयो विधिरनादिवेदमूल इति शक्यते वक्तुम्।

उच्यते। यानि कानिचन शास्त्रप्रतिपादकानि वाक्यानि न तानि शूद्रेणाध्येयानीति शक्यते सामान्यतो नुमानम्। यानि वेदवाक्यानि यानि तदर्थव्याख्यानवाक्यानि व्याख्यातृणां तत्प्रतिरूपकाणि तान्यपि प्रवाहनित्यतया नित्यान्वेय।

अर्थानुष्ठानं तु शास्त्रविषयः। तत्र चातुर्वर्ण्यस्याधिकारः।

नन्वेवं सत्यनुपात्तकर्तृ विशेषेषु सामान्यधर्मेषु शूद्रस्याधिकारप्रसङ्गः।

यथा न भवति तथा तत्र तत्र कथयिष्यामः।

"ननु कथमध्ययनावबोधाधिकारनिषेधे कर्माधिकारः ? न ह्यविदितकर्मरूपस्य तदनुष्ठासम्भवः, न चाध्ययनमन्तरेण तदर्थवबोधसम्भवः, न चावैद्यो धिक्रियते।"

सत्यम्। परोपदेशादपि यावत्तावत्सिद्धयति परिज्ञानम्। यं ब्राह्मणमाश्रितः शूद्रो, यो वा र्थतः प्रवृत्तः स एनं शिक्षयिष्यतीदं कृत्वेदं कुर्विति। अतो न कर्मानुष्ठानप्रयुक्ते शूद्रस्याध्ययनवेदने, स्त्रीवत्प्रत्ययादप्यनुष्ठानसिद्धेः। यथा स्त्रीणां भर्तृविद्यैव प्रसङ्गादुपकरोति न कर्मश्रुतयो विद्यां प्रयुजते। तेषामेव स्वप्रत्ययो नुष्ठानहेतूर्येषां तुर्येषां 'स्वाध्यायो ध्येतव्य इति विधिरस्ति पुंसाम्। सचपुंसां त्रैवर्णिकानाम्। तेषामपि नार्थज्ञानप्रयुक्ते ध्ययनवेदने। अपि तु विधिद्वयप्रयुक्ते आचार्यकरणविधिना स्वाध्यायाध्ययनविधिना च।

निषेको गर्भाधानं स आदिर्यस्य संस्कारकलापस्य स निषेकादिः। गर्भाधानं च विवाहादनन्तरं प्रथमोपगमे विष्णुर्योनिं कल्पयतु इति मन्त्रवत्केषांचिद्विहितम्। परेषामागर्भग्रहणात्प्रत्य तु।

श्मशानमन्तो स्येति श्मशानान्तः। श्मशानशब्देन म तशरीराणि यत्र निधीयन्ते तत्स्थानमुच्यते। तच्च साहचर्यात् प्रेतसंस्कारं पराचीमिष्टिं लक्षयति। सा हि मन्त्रवती, न स्थानम्।

अनेन च द्विजातयो लक्ष्यन्ते। तेषां हि मन्त्रवन्तः संस्काराः। द्विजातीनामिति नोक्तम्। विचित्रा श्लोकानां कृतिः स्वायम्भुवस्यास्य मनोः।

मन्त्रैरुदित उक्तो विधिरिति नायं सम्बन्धः। न हि मन्त्रा विधिं वदन्ति। किं तर्हि प्रयोगावस्थस्य विधेयस्य स्मारकाः, न विधायकाः। तस्मादेवं व्याख्येयम्-मन्त्रैर्युक्तः समन्त्रको येषामयं विधिरिति। नान्यस्य कस्यचिदित्यनुवादो, द्विजातीनां नियतत्वात्। अथवा कश्चिन्मन्येतद्विजातीनामयं विहितो वश्यकर्तव्यः, शूद्राणां त्वशिष्टो प्रतिषिद्ध इति, तदाशङ्कानिव त्यर्थमिदमुक्तम्।। १६।।

सरस्वतीद षड्वत्योर्देवनद्योर्दन्तरम्।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।। १७।।

अन्वय - देवनद्योः सरस्वतीद षड्वत्योः यदन्तरम् तम् देवनिर्मितम् देशम् ब्रह्मावर्तम् प्रचक्षते।

हिन्दी अर्थ - देव अर्थात् दिव्यगुण और दिव्य आचरण वाले विद्वानों के निवास से युक्त सरस्वती और द षड्वती नदी-प्रदेशों के जो बीच का स्थान है उस दिव्यगुण एवं आचरण वाले विद्वानों द्वारा बसाये और निवास से सुशोभित देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है।। १७।।

मेधातिथिः। उक्तानि धर्म प्रमाणानि। विरोधे च विकल्पो भिहितः। अधिकारिणश्च सामान्येनोक्ताः। इदानीं येषु योग्यतया धर्मो नुष्ठेयतामापद्यते ते देशा वर्ण्यन्ते। सरस्वती नाम नदी। अपरा द षड्वती तयोर्नद्योर्दन्तरं मध्यं तं देशं ब्रह्मावर्तं इत्यनया संज्ञया प्रचक्षते व्यवहरन्ति शिष्टाः।

देवग्रहणमवध्यवधिमतोः स्तुत्यर्थम्। देवैः स निर्मितो तः सर्वेभ्यो देशेभ्यः पावनतर इति।। १७।।

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।

वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते।। १८।।

अन्वय - तस्मिन् देशे वर्णानां सान्तरालानां पारम्पर्यक्रमागतः यः आचारः स सदाचार उच्यते।

हिन्दी अर्थ - उस ब्रह्मावर्त देश में वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत अर्थात् वेदों के प्रारम्भ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो आचार है वह सदाचार कहलाता है।

विशेष - कुछ विद्वानों ने उक्त पद्य में "सान्तराल" पद का अर्थ वर्णसंकर जाति किया है। तदनुसार पद्य में अर्थ होगा - उस ब्रह्मावर्त देश में ब्राह्मणादि वर्णों का तथा वर्णसंकर जातियों का कुल परम्परागत जो आचार है वही सदाचार है।

मेधातिथिः। अथास्मिन्देशे य आचारस्तस्य प्रामाण्ये किं विद्वत्ता शिष्टता चोपाधिरङ्गीक्रियते, अथाविदुषामशिष्टानां च देशोपाधिरेव प्रमाणम्। किं चातः। यदि नापेक्ष्यते, यत्तदुक्तं, 'आचारश्चैव साधूनामिति' विशेषणद्वयनर्थकम्। न त्वसाधवाचारस्य धर्ममूलतोपपद्यते, वेदसंयोगासम्भवात्। अथापेक्ष्यते, देशविशेषसम्बन्धापुकारः। न हि देशान्तरे पि शिष्टसमाचारस्याप्रामाण्यं शक्यते वक्तुम्।

उच्यते। प्रायिकमेतभिधानम्। प्रायोव त्या स्मिन्देशे शिष्टानां सम्भव इत्युक्तम् तस्मिन्देशे च आचारः स सदाचार इति।

अन्ये तु देशान्तरे मातुलदुहितुः परिणयनादेशाचारनिषेधार्थमिदमित्याहुः।

तदयुक्तम्। अविशेषणैवोक्तं "तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत्। स च विरुद्ध 'ऊर्ध्वं सप्तमात्पित बन्धुभ्यो मात बन्धुभ्यश्च प चमात्' इत्येतेन अस्मिन्नपि देशे नुपनीतेन सहभोजनादिचारो नैव धर्मत्वेनेष्यते। न च स्म तिविरुद्धस्याचारस्य प्रामाण्यसम्भवः, श्रुतिविप्रकर्षात्। आचारात्स्म तिरनुमातव्या, स्म तेः श्रुतिः। स्म तिरस्त्वव्यवहितामेव श्रुतिमनुमापयति। किं च कारणग्रहाच्चैवमादेराचारस्य। रूपवती मातुलकन्यां कामयमाना राजभयादूढवन्तः, कन्यागमनं दण्डो मा भूदिति। अन्ये त्वविद्वान्सो येनास्य पितरोयाता" इत्यस्य यथाश्रुतमर्थं ग हीत्वा धर्मो यमिति प्रतिपन्नाः। अपि च 'ण्तास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे। नोपयच्छेतेति'। प्रायश्चित्तं श्रुतमपि भ्रान्तिहेतुराभ्यस्तिसभ्यो न्या न प्रतिषिद्धा इति। यथा चास्य नायमर्थस्तथा वक्ष्यामः। न च द ष्टकारणयोः स्म त्याचारयोः प्रामाण्यम्। उक्तं च भट पादैः-"विरुद्धा च विगीता च द ष्टार्था द ष्टकारणा। स्म तिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा सम्भवश्रुतिः"।

तस्मात् 'एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्' इत्येतद्विशेषा देशप्रशंसार्थवादा एते।

परम्परैव पारम्पर्यम्। अन्यस्मादन्यमुपसंक्रामति, तस्मादन्य ततो प्यन्यमित्येवं रूपः प्रवाहः परम्परा।
'क्रमः तदविच्छेदस्तत आगतः सम्प्राप्तः।'

सङ्कीर्णयोनयः 'अन्तराला' तत्सहितानां वर्णानाम्।। १८।।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च प चालाः शूरसेनकाः।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः।। १९।।

अन्वय - कुरुक्षेत्रं मत्स्याश्च, प चालाः शूरसेनकाः च एष ब्रह्मावर्तादनन्तरः ब्रह्मर्षि देशः।

हिन्दी अर्थ - कुरुक्षेत्र, मत्स्य, प चाल और शूरसेन इनको मिलाकर बना ब्रह्मावर्त से मिला हुआ 'ब्रह्मर्षि देश' है।।१९।।

मेधातिथिः। देशनामधेयान्येतानि। कुरुक्षेत्रं स्यमन्तप चक्रं प्रसिद्धम्। कुरुवस्तत्र क्षयं गताः। 'कुरु वा सुकृतं क्षिप्रमत्र त्राणं भविष्यतति' व्युत्पत्तिः। मत्स्यादयः शब्दा बहुवचनान्ता एव देशवचनाः। ब्रह्मर्षिदेश इति समुदायसंज्ञा। देवनिर्मितो देशो ब्रह्मावर्तः। देवेभ्यः किंचिन्नयूना ब्रह्मर्षय इत्यतो यं देशो ब्रह्मर्षिसम्बन्धाद् ब्रह्मावर्तान्यूनः तथा चाह-ब्रह्मावर्तादनन्तर ईषदिभन्नः। नर्ईषदर्थः यथा नुष्णां यवागूं पिबेदामयाबीतीषदुष्णामुपादिशन्ति। अन्तरशब्दो भेदवचनः। 'नारीपुरुषतोयानामन्तरं महदतरमिति' यथा।। १९।।

एतेद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् प थिव्यां सर्वमानवाः।।२०।।

अन्वय - एतेद्देशप्रसूतस्य अग्रजन्मनः सकाशात् प थिव्यां सर्वमानवाः स्वं स्वयं चरित्रं शिक्षेरन्।

हिन्दी अर्थ - इसी ब्रह्मावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों=विद्वानों के सान्निध्य से प थिवी पर रहने वाले सभी मनुष्य अपने-अपने आचरण अर्थात् कर्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें।। २०।।

मेधातिथिः। एतेषु देशेषु कुरुक्षेत्रादिषु प्रसूतस्यायग्रन्मनो ब्राह्मणस्य सकाशात्स्वं स्वं चरित्रमाचारं शिक्षेरजिज्ञासेरन्। 'तस्मिन्देश' इत्यनेनैतद् व्याख्यातम्।। २०।।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।। २१।।

अन्वय - हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्यं विनशनादपि यत् प्राक् प्रयागाच्च प्रत्यक् च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।

हिन्दी अर्थ - उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में विन्ध्याचल के मध्यवर्ती विनशेन प्रदेशन=सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर जो पूर्वदिशा का देश है और प्रयागप्रदेश से पश्चिम में जो देश है और प्रयागप्रदेश से पश्चिम में जो देश है, वह 'मध्यदेश' कहा जाता है।। २१।।

मेधातिथिः। उत्तरस्यां दिशि हिमवान्पर्वतो दक्षिणस्यां विन्ध्यः। विनशनं सरस्वत्या अन्तर्धानदेशः। प्रयागो गङ्गायमुनयोः सङ्गमः। एतान्देशानवधीकृत्य मध्यं मध्यदेशनामानं देशं विद्यात्। नात्युत्कृष्टो नातिनिकृष्ट इत्यतो यं मध्यदेशो, न तु प थिवीमध्यभवत्वात्।। २१।।

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्।

तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः।। २२।।

अन्वय - आसमुद्रात्तु वै पूर्वात् आसमुद्राच्च पश्चिमात् तयो एव गिर्यो अन्तरं बुधाः आर्यावर्तं विदुः।

हिन्दी अर्थ - जो पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्रपर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे विद्वान् आर्यावर्त कहते हैं।। २२।।

मेधातिथिः। आपूर्वसमुद्रादापश्चिमसमुद्राद्यो न्तरालवर्ती देशस्तथा तयोरेव पूर्वश्लोकपदिष्टयोरिर्गयोः पर्वतयोर्हिमवद्विन्ध्ययोदन्तरं मध्यं स आर्यावर्तो देशो बुधैः शिष्टैरुच्यते। आर्या आवर्तन्ते तत्र

पुनःपुनरुद्भवन्ति। आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति। आडत्र मर्यादायां नाभिविधौ। तेन समुद्रद्वीपानि नार्यावर्तः। एते चतस्रुषु दिक्षु देशावधय उपात्ताः प्राच्यां पूर्वसमुद्रः, प्रतीच्यां पश्चिमः, उदरदक्षिणयोर्हिमवद्विन्ध्यौ। एतौ ह्यवधित्वेनोपात्तौ। न तयोरायावर्तत्वमस्त्यतस्तत्र निवासाभावे प्राप्ते इदमाह॥ २२॥

कृष्णसारस्तु चरति म गो यत्र स्वभावतः।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥ २३॥

अन्वय - यत्र तु स्वभावतः कृष्णसारः चरति स यज्ञियः देशः ज्ञेयः अतः परः तु म्लेच्छदेशः।

हिन्दी अर्थ - और जिस देश में स्वाभाविक रूप से कृष्णम ग विचरण करता है वह यज्ञों से सम्बद्ध=पवित्र, श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ कर्मों वाले व्यक्तियों से युक्त देश है, ऐसा समझना। इस आर्यावर्त से आगे =परे तो म्लेच्छभाषाभाषी व्यक्तियों अथवा अशिक्षित व्यक्तियों के देश हैं॥ २३॥

मेधातिथिः। कृष्णश्वेतः कृष्णपीतो वा कृष्णसाराख्यो म गो यत्र चरति निवसति। सम्भव उत्पत्तिर्यत्र देशे तस्य स्वभावतो, न पुनर्देशान्तरात्प्राशस्त्यो (प्तस्यो) पायनादिना निमित्तेनानीतस्य कियन्तमपि कालं निवासः। स देशो यज्ञियो यागार्हो बोद्धव्यः। अतः कृष्णम गचरणात्परो न्यो म्लेच्छदेशः। म्लेच्छाः प्रसिद्धाः। चातुर्वर्ण्यजात्यपेताः प्रतिलोमजातीया अनधिकृताः मेदान्धशबरपुलिन्दादयः।

न चानेन यागाधिकरणता स्य देशस्य विधीयते, 'समे यजेतेति' वत्। चरतीति वर्तमाननिर्देशात्। न हि यत्रैव (यदैव) चरितुं प्रव त्सदैव तत्र यागः शक्यः कर्तुम्। यागस्य हि देशो धिकरणं तत्साधनकर्त्रादिकारकाश्रितद्रव्यादिधारणद्वारेण। न च द्वयोर्मूर्तयोरेककाले एकदेशे स्थानसम्भवः-न च कालान्तरलक्षणा न्याय्या, विची लक्षणया अन्यायत्वात्। यथोक्तं शूर्पाधिकरणे- 'एवद्धि क्रियत इत्युच्यत' इति।

ननु च नाभिव्यापक एवाधेयो येन कृत्वाधाराभिव्याप्त्यैवाधिकरणार्थनिवृत्तिः स्यात्, तिलेषु तैलमितिवत्। किं तर्हि एकदेशसम्बन्धिना प्याधेयेन भवति कृत्स्नस्या धारभावः, 'प्रासाद आस्ते रथमधितिष्ठतीति'। एवमिहं ग्रामनगरसमुद्रायस्य नदीपर्वतान्ताद्यवधिकस्य देशस्य प्रकृतत्वादेकदेशे पि पर्वतारण्यादौ चरन्सर्वमाधारीकरोति। तेनायमदोषः मूर्तयोर्नैकदेशः सम्भवति।

उच्यते। नैवाल यष्टव्यमिति विधिरस्ति। जानातेः परो विधायकः श्रुतो न यजेः। यागस्य तत्रार्हता श्रुता, यामार्हो सौ देश इति। सा च यागार्हता सत्यपि विधौ घटते। एतेषु देशेषु यागाङ्गानि दर्भपलाशखदिरादीनि प्रायेण च भवन्ति। अधिकारिणश्च त्रैवर्णिकाः त्रैविद्याश्च तेष्वेव देशेषु द श्यन्ते। अतः एतदवलम्बनो यागार्हतानुवादः। कृत्यो पि 'ज्ञेय' इत्यध्यारोपितविध्यर्थो 'जर्तिलयवाग्वा जुहुयादि'-तिवद्धिधिवन्निगदार्थवाद एव।

यच्चोक्तं 'म्लेच्छदेशस्त्वतः परं इत्येषो पि प्रायिको नुवाद एव। प्रायेण ह्येषु देशेषु म्लेच्छा भवन्ति। न त्वनेन देशसम्बन्धेन म्लेच्छा लक्ष्यन्ते, स्वतस्तेषां प्रसिद्धब्राह्मणादिजातिवत्। अथार्थद्वारेणायं शब्द प्रव तो म्लेच्छानां देश इति। तत्र यदि कथा चिद् ब्रह्मावर्तादिदेशमपि म्लेच्छा आक्रमेयुः तत्रैवावस्थानं कुर्युर्भवेदेवासौ 'म्लेच्छदेशः'। तथा यदि कश्चित्क्षत्रियादिजातीयो राजा साध्वाचरणो म्लेच्छात्पराजयेत् चातुर्वर्ण्य वान्येत् म्लेच्छाश्चार्यावर्त इव चाण्डालान्यवस्थापयेत्सो पि स्याद्यज्ञियः। यतो न भूमिः स्वतो दुष्टा। संसर्गाद्धि सा दुष्यत्यमेध्योपहतेव। अत उक्तदेशव्यतिरेकेणापि सति सामग्र्ये त्रैवर्णिकेनाकृष्णम गचरणे पि देशे यष्टव्यमेव। तस्मादनुवादो यम् स ज्ञेयो यज्ञियो देशोम्लेच्छदेशस्त्वतः 'पर' इत्युत्तरविधिशेषः॥ २३॥

एतान् द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।

शूद्रस्तु यस्मिंस्तस्मिन्वा निवसेद् व त्तिकर्षितः॥ २४॥

अन्वय - द्विजातयः एतान् प्रयत्नतः संश्रयेरन् व त्तिकर्षितः शूद्र तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेत्।

हिन्दी अर्थ - द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोग इन उपर्युक्त देशों में प्रयत्न करके आश्रय ग्रहण करें - निवास करें जीविका के अभाव से पीड़ित शूद्र तो जिस किसी देश में जाकर निवास कर सकता है।। २४।।

विशेष - इस श्लोक का अनुशीलन करते हुए डा० सुरेन्द्र कुमार ने मनुस्मृति की व्याख्या में लिखा है - इस श्लोक से यह ध्वनित होता है कि द्विज आर्यावर्त से बार न जायें या न बसैं। यह परवर्ती रुढ़िवादी मान्यता है। मनु ने अष्टम अध्याय में स्वयं देश विदेशों में नौकाओं द्वारा व्यापार करने का उल्लेख किया है।

मेधातिथिः। यदर्थं देशसंज्ञाभेदकथनं तमिदानीं विधिमाह। एतान्ब्रह्मावर्तादीन् देशान्द्विजातयो देशान्तरे पि जाताः संश्रयेरन्। जन्मदेशं त्यक्त्वा ब्रह्मावर्तादिदेशसंश्रणं प्रयत्नेन कर्तव्यम्।

अत्र केचिदाहुरद प्तार्थ एवायमेतद्देशसंश्रयणविधिः। सत्यपि देशान्तरे धिकारसम्भवे एतेषु देशेषु निवासः कर्तव्यः। तत्र कल्प्याधिकारत्वे, यदि वा गङ्गादितीर्थस्नानवदेतद्देशनिवासविधिः पावनत्वेन कल्प्यते। यथैव काश्चिदापः पवित्रतरा एवं भूमिभागा अपि केचिदेव पवित्राः, यथोक्तं पुराणे। यदि वा संश्रयणादेव स्वतन्त्रात्स्वर्गो विश्वजिद्वत्।

तत्रैतौ द्वावपि पक्षावप्राप्तौ। यद्यप्राप्तः संश्रयो विधीयते कल्प्येताप्यधिकारः। तत्र चिन्त्यते कतरः पक्षो युक्त इति। स तु नित्यकाम्यानाकुक्तया रीत्या एतद्देश एवानुष्ठानसम्भवादधिकृतानां प्राप्त एव। न ह्येतद्देशव्यतिरेकेण कृतस्नर्मानुष्ठानसम्भवः। तथाहि। हिमवति तावत्काश्मीरादौ शीतेनार्दिता न बहिः सन्ध्योपासने धिक्रियन्ते। न च यथाविधि स्वाध्यायसम्भवः प्राग्वोदग्वा ग्रामादुपनिष्क्रम्येति। न हि हेमन्तशिशिरयोरहरहर्नदीस्नानादिसम्भवः।

इदमेव च द्विजातय इति वचनलिङ्गम्। न काश्चिदेव देशो सति म्लेच्छसम्बन्धे स्वत एव म्लेच्छदेशः। अन्यथा तद्देशसम्बन्धान्म्लेच्छत्वे कथं द्विजातित्वम् ? अथोच्यते-न “गमनमात्रान्म्लेच्छता पि तु निवासात्। च चानेन प्रतिषिध्यते”-तच्च न। संश्रयो त्र श्रूयते। स च देशान्तरे भवतस्तत्यागेनान्यदेशसम्बन्धः। संश्रितस्यैव संश्रयणम्। अन्यथा एवमेवावक्ष्यत् “एतान्देशांस्त्यक्त्वा नावसेत्र निसवेत्” अथ सिद्धे संश्रयणे तद्वचनमन्यनिव त्यर्थमिति-परिसङ्ख्या तथा स्यात्। तस्याश्च त्रयो दोषाः। “अथ श्रुतार्थहानिर्लक्ष्यते-एतान्देशान्न जह्यादिति”-न श्रुतार्थसम्भवे लक्षणा युक्ता। अत एव न भूतपूर्वगतिः। तस्माल्लिङ्गमिदं न देशसम्बन्धेन पुरुषा म्लेच्छाः, किं तर्हि पुरुषसम्बन्धेन म्लेच्छदेशता।

शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषाया विहितत्वात्तद्देशनिवासे सर्वदा प्राप्ते तत्राजीवतो देशान्तरनिवासो भ्यनुज्ञायते। यदा बहुकुटुम्बतया शुश्रूषाशक्त्या वा यं द्विजातिमाश्रितः स एनं बिभ यात्। तदा देशान्तरे सम्भवति धनार्जने निवसेत्। तत्रापि न म्लेच्छभूयिष्ठे, किं तर्हि यज्ञिये; म्लेच्छाव ते यानासनाशनादिक्रियानिमित्तस्य संसर्गस्यापरिहार्यत्वात्तद्भावापत्तिप्रसङ्गात्।

व त्तिकर्षितो व त्यभावपीडितः। ‘व त्ति’ रात्मकुटुम्बस्थितिसमर्थ धनम्। तदभावे यत् ‘कर्शनं’ तत्सम्बन्धितयोच्यते। यथा वर्षाकृते सुभिक्षदुर्भिक्षे। दुर्भिक्षं वर्षाभावकृतम्। द भिक्षं वर्षाकृतत्वेन व्यपदिश्यते।

यस्मिन्तस्मिन्नित्यनियममाह।। २४।।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।

सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत।। २५।।

अन्वय - एषा धर्मस्य योनिः अस्य च सर्वस्य संभवः समासेन वः प्रकीर्तिता (अधुना) वर्णधर्मान् निबोधत।

हिन्दी अर्थ - धर्म की उत्पत्ति और इस समस्त जगत् की उत्पत्ति संक्षेप से आप लोगों को कही, अब वर्णधर्मों को सुनो।। २५।।

मेधातिथिः। अतिक्रान्तस्य सर्वस्य ग्रन्थार्थस्य पिण्डार्थकथनमविस्मरणार्थम्। योनिः कारणम्।

समासेन सङ्क्षेपेण। सम्भवश्चेति प्रथमाध्यायार्थावमर्शः। अस्य सर्वस्येति जगन्निर्माणं बुद्ध्या। प्रत्यक्षीकृत्य निर्दिशति। वर्णानुष्ठेया धर्मा वर्णधर्माः। तान्निबोधत। विस्तरेणेति शेषः।

इह प चप्रकारो धर्म इति स्मृतिविवरणकाराः प्रप चयन्ति। वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो नैमित्तिको धर्मो गुणधर्मश्चेति। तत्र यो जातिमात्रमपेक्ष्य प्रवृत्तो न वयोविभागाश्रमादिकमाश्रयति स 'वर्ण (जाति) धर्मः'। यथा 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'। 'ब्राह्मणेन सुरा न पेयेति'। जातिमात्रस्या न्यादुच्छ्वासादेश धर्मः। 'आश्रमधर्मो' यत्र जातिनापेक्षते केवला, यदाश्रमप्रतिपत्तिराश्रीयते। यथा ब्रह्मचारिणो ग्नीन्धनभिक्षाचरणे। 'वर्णाश्रमधर्म' उभयापेक्षः। यथा मौर्वी ज्या क्षत्रियस्येत्यादिः। नाश्रमान्तरे न च जात्यन्तरस्य धारणमस्या उदाहरणम्। प्रथमोपादानं पूनयनधर्मो नाश्रमधर्मः। उपनयनं चाश्रमार्थं नाश्रमधर्मः। 'नैमित्तिको' द्रव्यशुद्ध्यादिः। गुणमाश्रितो 'गुणधर्मः'। 'षड्भिः परिहार्यश्चे'त्यादिः। बाहुश्रूत्येन गुणेनैते धर्माः। एवमभिषक्तस्य क्षत्रियस्य ते धर्माः।

तदेतद्वर्णग्रहणेन सर्वं ग हीतमिति दर्शितम्। अवान्तरभेदस्तु तत एवावतिष्ठते। पुरुषत्वमात्राश्रिता अवर्णधर्मा अपि सन्ति। ते पि भेदेन वाच्याः स्युः। एवमन्यो पि भेदो भ्यूह्यः। वर्णग्रहणं चात्र प्रदर्शनार्थम्, नान्तरप्रभवव्युदासार्थम्। पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात्। तदनुवादिनी ह्येषा प्रतिज्ञा।। २५।।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेमादिर्द्विजन्मनाम्।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।। २६।।

अन्वय - द्विजन्मनाम् इह प्रेत्य च पावनः निषेकादिः शरीरसंस्कारः वैदिकैः पुण्यैः कर्मभिः कार्यः।

हिन्दी अर्थ - द्विजन्मा ब्राह्मणादि के, इस लोक और परलोक को पवित्र करने वाले गर्भाधान आदि शरीरसंस्कार वेदोक्त पुण्यरूप विधि विधान से करने चाहिए।

मेधातिथिः। मन्त्रप्रयोगा 'वैदिककर्माणि'। 'वेदा' मन्त्रा इहाभिप्रेताः। तेषां यान्युच्चारणानि तानि तत्र भवानि। अतो ध्यात्मादित्वाटठक्। वेदमूलत्वाद्दोषचरितो वैदिकशब्दः। कर्मशब्देन च इतिकर्तव्यतारूपं कर्म ग ह्यते। ततश्च कर्मभिर्निषेकादिः संस्कारः कार्य इति साध्यसाधनमभेदोपपत्तिः। प्रधानं निषेको, मन्त्रोच्चारणमितिकर्तव्यता।

'निषेको' योनौ शुक्रनिक्षेपः। स आदिर्यस्य संस्कारकलापस्य वक्ष्यमाणस्योपनयनपर्यन्तस्य। एकवचनं शरीरसंस्कार इति समुदायापेक्षम्। संस्कारशब्देन च सगुणशरीरनिर्वर्तकमुच्यते। तत्र निषेको निर्वर्तको न्यानि विशेषजनकानि।

एतदेवाह। पावन इति। पावयति अशुद्धतामपकर्षतीति पावनः।

प्रेत्य चेह चेति। संस्कृतस्य सर्वत्रात्र दष्टादष्टफलेषु कर्मसु कारीरीज्योतिष्टोमादिष्वधिकारादुभयलोकोपकारकत्वमाह।

पुण्यैः शुभैर्मङ्गलैरिति यावत्। सौभाग्यमावहन्ति दौर्भाग्यं चापनुदन्तीति पुण्यपावनशब्दयोरर्थभेदः।

द्विजन्मनामिति शुद्रपर्युदासार्थम्। संस्कार्यनिर्देशश्चायम्। लक्षणया च त्रैवर्णिकाः प्रतीयन्ते। नहि तदानीं द्विजन्मानो भवन्ति।। २६।।

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौलमौ जीनिबन्धनैः।

बैजिकं गर्भिकं चैनो द्विजानामपम ज्यते।। २७।।

अन्वय - गार्भैः जातकर्म चौलमौ जीनिबन्धनैः होमैः द्विजानाम् बैजिकम् गार्भिकम् च एनः अपम ज्यते।

हिन्दी अर्थ - गर्भशुद्धिकारक गर्भकालिक अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन संस्कारों से और चौल अर्थात् चूडाकर्म तथा मेखला-बन्धन अर्थात् उपनयन एवं वेदारम्भ आदि यज्ञ से सम्पन्न किये जाने वाले संस्कारों से द्विज बालकों के बीज-सम्बन्धी=परम्परागत पैतृक-मातृक अंशों से उत्पन्न होने वाले और गर्भकाल में माता-पिता से प्राप्त होने वाले बुरे आचरण के संस्कारजन्य

दोष एवं शारीरिक अशुद्धियां दूर हो जाते हैं अर्थात् इन संस्कारों के करने से बालकों के बुरे संस्कार मिटकर शुद्ध-श्रेष्ठ संस्कार बनते हैं।।२७।।

मेधातिथिः। उक्तं संस्कारप्रयोजनं पावनः शरीरसंस्कारः पुण्यश्च। तत्र पावनत्वमुच्यते दुष्टस्य दोषापकर्षणम्।

कुतः पुनः शरीरस्य दुष्टतेत्याशंकायामाह। बैजिकं गार्भिकं चैन इति। बीजते भवं बीजनिमित्तं वा 'बैजिकम्'। एवं 'गार्भिकम्'। 'एनः' पापमदष्टं दुःखकारणम्। तस्य बीजगर्भयोर्निमित्त-भावादशुचित्वमात्रमिहोच्यते। शुक्रशोणिते पुरुषस्य 'बीजम्'। ते च स्वभावादशुचिनी। गार्भाधान्यपि दोषसंक्रान्त्या दुष्टैव। अतस्तन्निमित्तमशुचित्वं पुरुषस्य संस्कारैरपम ज्यते पनुद्यते।

तानिदानी कांश्चिन्नामधेयेन, कांश्चित्संस्कार्यविशेषोपलक्षितान्, कृत्वा निर्दिशति। गार्भहोमैः। गर्भं सम्भूतेनार्याः क्रियन्ते। गर्भं वा ग्रहीतुं गर्भप्रयोजनकत्वादगार्भाः। नारी तत्र द्वारमात्रम्। प्रयोजकस्तु गर्भ एव। अतस्तत्प्रयुक्तत्वाच्च तदर्थं होमाः पुंसवनसीमन्तोन्नयनगर्भाधानानि। होमशब्द उपलक्षणार्थः कर्ममात्रस्य। न हि गर्भाधानं होमः। एतेषां च कर्मणां द्रव्यदेवतादिरूपं ग ह्यस्म तिभ्यो वसातव्यम्। यथैव गार्भहोमैरेवं जातकर्माख्येन संस्कारेण। एवं चौडेन। चूडार्थः 'चौडः'। मौ जीनिबन्धनमुपनयनम्। तत्र हि मु जविकारो मेखला बध्यते। अतस्तेनोपनयनकर्मापलक्ष्यते। बन्धनमेव निबन्धनम्। निः व त्पूरणः। जातकर्मादीनि संस्कारनामधेयानि। कृतद्वन्द्वानि करणविभक्त्या एनोपमार्जनस्य निर्दिश्यन्ते। संस्कारश्च सर्वः संस्कार्ये कार्यान्तरशेषभूते कृतार्थे करिष्यमाणार्थे वां कचिद्दष्टमदष्टं वा विशेषमादधाति। 'द्रीहीनवहन्ती'ति, यागं निर्वर्तयिष्यतां तुषकणविप्रमोक्षो दष्टो विशेषः। 'शिरसो वतार्य रज्जं शुचौ देशे निदधाती'ति उपभुक्ताया आकीर्णाकारायाः प्रतिपत्तिनियमादष्टः रज्जोविशेषः। तत्रेमे संस्काराः शरीरशुद्ध्यर्थः श्रुताः। न च गन्धाद्यपकर्षणं म द्वारिसम्बन्धादिव शरीरे दश्यते। तेनेयं जन्मादिकालशुद्धिवददष्टविशेषता शुद्धिर्वेदितव्या। एतया च शुद्ध्या पूतः श्रोतस्मार्तेषु कर्मस्वधिक्रियते। यथा मन्त्रपूतमाज्यं होमे। लौकिके तु कार्ये द्रव्यशुद्ध्यैव शुद्धिर्यथा ज्यस्य भोजनादौ। स्पश्यता हि कुमारस्य 'अदिभर्गात्राणि शुद्धयन्ती'त्येतावतैव भवति। तथा चाह-'न तदुपस्पर्शनादशौचमिति'। "कथं पुनः कर्मार्थत्वमेषेताम्। युक्तमुत्पवनस्याज्यद्वारकं प्रकरणेन विनियोगात्। अभी तु बाह्या न कस्यचित्कर्मणः प्रकरणे श्रुताः। अतः पुरुषद्वारिका कर्मार्थता दुर्भणा। न चासति कार्योपयोगे स्वरूपतः संस्कार एव निर्वर्त्यैः। तथा सति संस्कारतैव हीयेत प्रधानकर्मता स्यात्। अतश्च 'कार्यः शरीरसंस्कार' इति, 'कुमारे जाते पुरा न्यैरालम्भादिति' च द्वितीया श्रुतिर्बाध्येत। 'सक्तू जुहोतीति'वद्विनियोगभङ्गः स्यात्। तत्र चाधिकारकल्पनेत्यादिबहसम जसं प्राप्नोति।"

उच्यते। न वयं श्रुत्यादिप्रामाण्यापेक्षं तादर्थ्यमङ्गलक्षणं ब्रूमः अपि तूपकारकत्वम्। तच्चानङ्गत्वे प्युपपद्यते। यथा धानविधिः स्वाध्यायाध्ययनविधिश्च। न ह्यत्र श्रुत्यादयः सन्ति। यदाहवनीये जुहोतीत्याहवनीयादयो विनियुक्ताः। अलौकिकत्वाच्च तत्स्वरूपस्याधानविधिनैव सिद्धिः 'वसन्ते ब्राह्मणो ग्नीनादधीत' इति। अत आहवनीयादिनिर्वृत्तिद्वारेणाधानं क्रतुषूपयुज्यते। न चाङ्गम्। अध्ययनविधिरप्यर्थावबोधहारेण क्रतूपकारकः। एवममी संस्काराः एतत्संस्कृतस्याध्ययनविधि, निष्पादिताध्ययनविध्यर्थस्य विवाहः, कृतविवाहस्याधानम्, आहिताग्नेरधिकार इत्यस्ति संस्कार्योपयोगिता बाह्यपुरुषसंस्काराणाम्।

निषेकग्रहाच्च सर्वत्रापि पितुरधिकारः। तथा च जातकर्मणि मन्त्रः 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति। तस्य ह्यपत्योत्पादनमपत्यानुशासनं च विहितम्। 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य' (अ० ६।३५) इति। 'तस्कादनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः' इति। अनुशासनं च स्वधिकारप्रतिपादनम्, तच्च वेदाध्ययनेनार्थावबोधपर्यन्तेन भवतीति वक्ष्यामः। अत एवोभयोपकारकाः संस्कारा, अपत्योत्पत्तिविधौ पितुर्माणवकस्य च संस्कृतसाध्यासु क्रियासु। तस्मात्पितुरधिकारस्तदभावे तत्स्थानापन्नस्य। तथा चाह 'असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रात भिः पूर्वसंस्कृतैः' इति।। २७।।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥ २८॥

अन्वय - स्वाध्यायेन व्रतै होमैः, त्रैविद्येन इज्यया सुतैः महायज्ञैः यज्ञैश्च इयं तनुः ब्राह्मी क्रियते।

हिन्दी अर्थ - पढ़ने पढ़ाने से, सत्यसंकल्पादि व्रतों के धारण करने से, अग्निहोत्रादि करने से, वेद प्रतिपादित इष्टियों से, सुसन्तानोत्पत्ति से ब्रह्मयज्ञादि प च महायज्ञों से तथा अग्निष्टोमादि यज्ञों से यह शरीर ब्राह्मण अर्थात् श्रेष्ठ बनाया जाता है।

मेधातिथिः। अध्ययनक्रिया स्वाध्यायशब्देनात्राभिप्रेता। तस्या एष विषयनिर्देशश्चैत्रैविद्येनेति। व्यवधाने प्यर्थलक्षणः सम्बन्धो, 'यस्य येनार्थसम्बन्ध' इति न्यायेन। अत एव सामानाधिकरण्ये पि श्रुतेर्विषयविषयिभावो विभक्तिविपरिणामेन, 'त्रयाणां वेदानामध्ययनेने'त्यर्थः। त्रय एव वेदाः त्रैविद्यम्। चातुर्वर्ण्यादिवद्रूपसिद्धिः। अथवा 'स्वाध्यायेनति' वेदाध्ययनं 'त्रैविद्येनेति' तदर्थवबोधः।

व्रतैः सावित्रादिभिर्ब्रह्मचारिकर्तकैः।

होमैर्व्रतादेशनकाले ये क्रियन्ते। यदि वा सायम्प्रातः समिद्धिभरग्नीन्धनं ब्रह्मचारिणो होमशब्देनाग्न्याधारसम्बन्धसामान्यदुच्यते।

अथ किं समिदाधानं न होमो येनैवमुच्यते सम्बन्धसामान्यादिति। न भवतीति ब्रुवन्ति, अदनीयद्रव्यसाध्यत्वाद्यागहोमयोः।

कथं तर्हि 'सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः' इत्युक्तम्। लक्षणया समिदाधानं होमशब्देनोच्यते। यथैव ह्यमानं द्रव्यमग्नौ प्रक्षिप्यते एवं समिन्धनार्थाः समिधो पि। अत एतेन सामान्येन समिन्धनमेव होम इत्युच्यते। उत्पत्तिवाक्ये हि 'समिधमादध्याद्' इति श्रुतम्। जुहुयात्ताभिरग्निमित्यनुवादो यमन्यार्थ इति परस्ताद्वक्ष्यामः। न चानुवादे लक्षणादोषः।

इदं तु युक्तं यन्मेध्यमात्रद्रव्यसाध्यौ यागहोमौ। तथा च सति बह्वक्षश्चोदना यथार्था भवन्ति। यथा 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरती'ति। तत्र हि प्रस्तरं द्रव्यमाहुर्हरति। च यजतिम्।

अथ वचनादसौ ताद श एव यागः। दर्भाश्चाप्यदनीयाः केषाचित्। कथं शाकलहोमे।

तत्रापि हि 'शकलान्यभ्यादधाति' इत्युत्पत्तिरिति चेद् ग्रहयज्ञे का गतिः। ग्रहेभ्य एकैकस्यै समिधो जुहुयादर्कादीनाम्। अतो यत्र जुहुयादिति देवतासम्बन्धश्च काष्ठादेरपि श्रुत उत्पत्तिवाक्ये सो पि होम एव।

इज्यया देवर्षितर्पणेन। एष तावदुपनीतस्य ब्रह्मचर्ये क्रियाकलापः।

इदानीं ग हस्थधर्माः। सुतैरपत्योत्पत्तिविधिना। महायज्ञैः प चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः। यज्ञैः श्रौतैर्ज्योतिष्टोमादिभिः।

ननु यद्येषां कर्मणां किं चित्प्रयोजनं स्यात्तदा तदधिकारयोग्यतोत्पत्त्यर्था बाह्याः संस्कारा अर्थवन्तः स्युः अत आह। ब्राह्मीयं क्रियते तनुः। 'ब्रह्म' परमात्मा कारणपुरुषः, तस्येयं सम्बन्धिनी 'तनुः' शरीरम् एतैः श्रौतस्मार्तैः सतैः कर्मभिः क्रियते। ब्रह्मसम्बन्धिता च तद्भावापत्तिलक्षणा। स हि परः पुरुषार्थः। सम्बन्धान्तराणि सर्वस्य कस्यचित्कारणत्वेन सिद्धत्वान्नाभिलषितव्यानि। ततो मोक्षप्राप्तिरुक्ता भवति। ब्राह्मीत्यनेन तनुशब्देन च तदधिष्ठाता पुरुषो लक्ष्यते। तस्य ह्येते शरीरद्वारकाः संस्काराः। तस्यैव च मोक्षप्राप्तिः। शरीरस्य प चतापत्तेः।

अन्येत्वाहुर्ब्रह्मत्वप्राप्तौ योग्या क्रियते। न हि कर्मभिरेव केवलैर्ब्रह्मत्वप्राप्तिः, प्रज्ञानकर्मसमुच्चयात्किल मोक्षः। एतैस्तु संस्कृत आत्मनोपासनास्वधिक्रियते। तथा च श्रुतिः। 'य एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा यजते जुहोति तपस्तप्यते अधीते ददात्यन्तवदेवास्य तद्भवति' इति।

"ननु च नैतेषां कर्मणां ब्रह्मप्राप्तिः फलं श्रुतम्। तथा हि नित्यानि तावदश्रुतफलान्येव। कल्पनायां च पौरुषेयत्वम्। यावज्जीवादिपदैश्च नित्यताया अवगमितत्वाद्द्विश्वजिन्न्यायो पि नास्ति। अथास्मादेव वचनादेतत्फलत्वमिति। यद्युच्येत, मोक्षार्थिनः तदाधिकारः स्यात्तथा च नित्यत्वहानिस्ततश्च श्रुतिविरोधः।

‘निष्फलं न कश्चिदनुतिष्ठति तत्रानर्थक्यमिति’ चेत् काममननुष्ठानम्। प्रमाणस्य प्रमेयावगतिरर्थः। सा चेत्कृता जातमर्थवत्त्वम्। अस्ति चात्र कर्तव्यतागतिः। सत्यां च तस्यामकरणे शास्त्रार्थातिक्रमस्ततश्च प्रत्यवायः। ईदं श एवार्थं लिङ्गादिनां व द्ध-व्यवहारे व्युत्पत्तिः। यो हि भ त्यादिः कर्तव्यं न करोति कस्यचिदाज्ञातुः स वेतनार्थी वेतनं न लभते, यदि वा प्रत्यवायेन योज्यते। तत्र फलस्याश्रुतत्वात् फलानुत्पत्तिः प्रत्यवायः, अपि तु दुःखेन योजनं नित्येषु। एवं सर्वपुरुषाधिकारो नित्यः समर्थितो भवति। तस्मान्न नित्यानां किञ्चित्फलम्। काम्यानां त्वन्यदेव फलं, न मोक्षः, श्रुतत्वात् तत्र कथमेतत्सर्वकर्मानुष्ठानसाध्यः परः पुरुषार्थ इति।”

अत एव कैश्चिदर्थवादो यमिति व्याख्यायते। संस्कारविधिस्तुत्यर्थः।

अत्र च ब्राह्मीयमिति यत्किञ्चिदालम्बनमाश्रित्य गुणवादेन नीयते। ‘ब्रह्म’ वेदस्तदुच्चारणार्हा। तत्कर्माधिकारिणी च।

“यत्तर्हि गौतमेनोक्तम् (अ० ८ सू० ८)। ‘चत्वारिंशत्संस्काराः’ इति, तत्कथम्। तत्र हि सोमसंस्थापि संस्कारत्वेनोक्ता। न च प्रधानकर्मणां संस्कारत्वोपपत्तिः। नाप्येतदर्थवादतया शक्यं व्याख्यातुमविशेषत्वात्।”

तत्राप्यात्मगुणशेषसंस्कारत्वाध्यारोपेण स्तुतिः।

एवमिहाप्यसंस्कारैः संस्कारान् समानीकृत्य तुल्यफलताध्यारोपेण संस्काराणामवश्यकर्तव्यतामाचष्टे। तथा च संस्कारप्रकरणान्नोत्कृष्यते।

स्तुतिः क्रियत इति च वर्तमानारपदेशः। न विधिविभक्तिः। तत्र कुतो ब्रह्मप्राप्तेः फलत्वावगमः। न चात्र कर्माणि विधीयन्ते, येनाधिकाराकाङ्क्षायां सत्यपि वर्तमाननिर्देश रात्रिसत्रे प्रतिष्ठावत्फलनिर्देशः स्यात्।

तस्मात्संस्कारस्तुत्यर्थमेव सर्वमेतदुच्यते।

ये पि विभागेन वर्णयन्ति-“नित्यानां ब्रह्मप्राप्तिफलं काम्यानां तु यथाश्रुतमेव” तदप्यप्रमाणं, सर्वस्यसस्यार्थवादत्वात्। अन्तरेण च फलं नित्येष्वनुष्ठानसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्। तदुक्तं ‘कामात्मता न प्रशेस्तेति’ (अ० २ श्लो० २)।। २८।।

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।। २६।।

अन्वय - पुंसः जातकर्म नाभिवर्धनात् प्राक् विधीयते। अस्य च मन्त्रवत् हिरण्यमधुसर्पिषा प्राशनम्।

हिन्दी अर्थ - बालक का जातकर्म संस्कार नाभि अर्थात् नाल काटने से पहले किया जाता है और इस संस्कार में इस बालक को मन्त्रोच्चारणपूर्वक मधु-सर्पिषाम् सुवर्ण, शहद और घी अर्थात् सोने की शलाका से (असमान मात्रा में) शहद और घी चटाया जाता है।। २६।।

मेधातिथिः। वर्धनं छेदनम्। जातकर्मति कर्मनामधेयमेतत् रूपं चास्य ग ह्यस्म तिभ्यो ज्ञातव्यम्।

कस्य पुनः कर्मणो जातकर्मति नाम ? तदर्थमुक्तं प्राशनं हिरण्यमधुसर्पिषाम्। अस्येति दारकं व्यपदिशन्ति, कर्म वा, अस्य जातकर्मण इदं प्रधानम् यन्मन्त्रवत्प्राशनमिति।

समन्त्रकं मन्त्रेण कर्तव्यमित्यर्थः। मन्त्रस्य चेहानुक्तत्वात् सर्वस्म तीनां चैकार्थ्याद्यदन्यत्रोक्तं तदत्रापि प्रतीयते। तेन ग ह्यस्म तिषु ये मन्त्रा उपात्तास्तैर्मन्त्रवदिति द्रष्टव्यम्।

यदि ग ह्यस्म तयो पेश्यन्ते द्रव्यनिर्देशो पि न कर्तव्यः। एवं हि तत्र पठ्यते-‘सर्पिमधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्’ ‘प्र ते ददामि मधुनो घ तस्य’ इति। किं च बह्वयो ग ह्यस्म तयो, भिन्नाश्च प्रतिग ह्यं मन्त्राः, अन्यापि भिन्नेतिकर्तव्यता, तत्र का श्रीयतामिति न विद्मः। अथ चरणसमाख्या नियामिका भविष्यतिव्यर्थस्तर्हि जातकर्माद्युपदेशस्तत एव सिद्धेः। “कठानां ग ह्यं बहव चामाश्वलायानानां च ग ह्यमिति यद्येन समाख्यायते स तदुक्तमनुष्ठास्यतीति।”

उच्यते। द्रव्यादिनिर्देशेन सुस्पष्टं कर्मैकत्वमिति प्रतीयते। तथा हि-प्रत्यभिज्ञासिद्धिः। तद्द्रव्यमेवेदं तन्नामधेयकं चेदं कर्मातस्तदेवेदमिति, भूयसा द ष्टतद्गुणयोगेन प्रत्यभिज्ञायते। सति चैकत्वे यदङ्गजातं क्वचिन्नोक्तं तदविरुद्धमन्यत आनेतव्यम्। यथा सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म, एवं सर्वस्म तिप्रत्ययमपि। यत्तु बहुत्वाद्ग ह्यस्म तीनां का श्रीयतामित्यनध्यवसायः-सर्वासां प्रामाण्याविशेषदेकार्थानां च विकल्पः भिन्नार्थानां समुच्चयः। चरणसमाख्या तु नैव नियामिका। यतो न समाख्याया पुरुषस्य नियतः सम्बन्धः गोत्रप्रवरवत्। यैव शाखा येनाधीता स एव तथा समाख्यायते 'कठो बह्व च इति।' न चाध्ययने नियमो स्त्यनेनेयं शाखा ध्येतव्येति। अनेकशाखाध्ययनमप्यस्ति, वेदानधीत्येति। तत्र त्रिवेदाध्यायिनः सर्वे व्यपदेशाः प्रवर्तन्ते। के प्यूचुः "कौथुमाः कठा बह्व चा इति तत्रावश्यं विकल्प आस्थेयः। एकशाखाध्यायिनस्तु यद्ग ह्यं यथा शाखया समाख्यायते तदुक्तमेव तस्य युक्तं कर्तुम्। एष हि तदुक्तमेव शक्नोति कर्तुं तच्छाखामन्त्रा एव तेनाधीताः, शक्नोति तान्प्रयोक्तुम्। तमेव वा व तं वेद।

वेदने च कर्मानुष्ठानार्थं वेदाध्ययनं येन तावतो मन्त्रान्कर्मोपयोगिनो ध्येष्यत इति।

उच्यते। स्वाध्यायविधिवशेन वेदाध्ययनम्। अनधीतवेदस्य नाधिकारः। न च कर्मप्रयुक्तमध्ययनम्। अत इयं समाख्या मन्त्रविशेषविनियोगनिमित्तैव 'कठानां ग ह्यं' 'वाजसनेयिनां ग ह्यमिति।' यस्यां शाखायां ये मन्त्रा अधीतारस्ते यत्र बाहुल्येन विनियुक्तास्तद्ग ह्यं तथा समाख्यायते। प्रमाणं ग ह्यस्म तिः। सा कठानामियमिति व्यपदिश्यमाना बह्व चानामपि स्वार्थावगमनं करोत्येव। कर्तव्यता वेदस्य स्वार्थे स्म तीनां च। अवगतायां च कर्तव्यतायां कर्तविशेषाश्रवणे स्वाधिकारो न स्याद्यथा च तनूनपाति प्रयाजे वसिष्ठानां, निषेधाद्वा पतितम्। न चेह द्वयमप्यस्ति न च शक्यं कल्पयितुं न हि कठानां बाह्व च्यं प्रमाणं, बह्व चानां वा काठकम्। यतो य एव कठः स एवाकठो सति तच्छाखाध्ययने। गोत्रं तु नियतमित्यसमानः।

एष एवार्थः 'स्वसूत्रं यः परित्यज्य परसूत्रेण वर्तत' इति। तदेव स यदधीते तदर्थः शक्यो नुष्ठातुम्, तेन यः स्वाधीतां शाखामतिक्रम्य पित्राद्यधीतशाखया कर्माणि कुर्यात्तद्ग ह्यं च समाश्रयेत् तस्य शाखात्यागदोषः। पित्रादीनां वा शाखात्यागः यैर्माणवकबः क्रमाधीतां शाखां नाध्यापितः। माणवकस्यात्रदोषो नास्ति। यदा म तपितृको जाबालवदयं बालः स्वयमाचार्यमाश्रयेतदा 'येनास्य पितरो याताः' इत्यनेन शास्त्रेण सैवाध्येतुं युक्ता स्यात्। अथात्मशाखाध्ययनं न सम्भवति, तदा स्वशाखात्यागः।

अतः स्थितमिदं-सर्वं सर्वासु स्म तिषु जातकर्माद्युपदिश्यते। तत्र भिन्नार्थमङ्गजातं समुच्चयीयते, विरुद्धं विकल्प्यते समानार्थं च।

पुंस इति स्त्रीनपुंसकव्याव त्यर्थम्।

अन्ये त्वविवक्षितं पुमर्थं मन्यन्ते। द्विजन्मनामिति सामान्येन त्रैवर्णिकानां संस्कार्यत्वेन प्रकृत्वात्। संस्कार्यश्च प्रधानमुद्देशो न च प्रधाने लिङ्गसङ्ख्यादि विशेषणं विवक्ष्यते। 'ग्रहं सम्मार्ष्टीति' सत्यप्येकवचने सर्वे ग्रहाः सम्म ज्यन्ते। 'ज्वरितं ज्वरमुक्तं च दिवान्ते भोजयेन्नरम्' इति नार्या अपि ज्वरिताया एष एव भोजनकालः। तथा च प्राप्तप्रतिषेधः। स्त्रीणां 'अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामाव द्' इति (अ० २ श्लो० ६६)। नपुंसकानां च पाणिग्रहणदर्शनं 'यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनामिति' (अ० ६ श्लो० २०३)।

तत्रोच्यते-नायं पुंशब्दो मनुष्यजातिवचनो नरशब्दवद्येन विभक्तिवाच्यं लिङ्गं न विवक्ष्येत। एष हि सर्वत्र स्थावरमूर्तामूर्तगतं लिङ्गविशेषं प्रसवरूपमाचष्टे। प्रातिपादिकार्थो ह्यत्र लिङ्गम्। विभक्तिवाच्यस्य ह्यर्थस्य विवक्षाविवक्षे युज्येते। यतो न विभक्तेर्वचनमेवैकं प्रयोजनं, कर्माद्यर्थान्तराभिधानेनाप्यर्थवत्त्वात्। इह त्वविवक्षायामानर्थक्यमेव प्राप्नोति पुंस्पदस्य। यथा तत्रैव ग्रहप्रातिपादिकार्थो विवक्ष्यते वाक्यानर्थक्यपरिहाराय।

अथोच्येत "न प्रत्ययार्थमात्रस्याविवक्षा। कृत्स्नो पि पदार्थ उद्दिश्यमानविशेषणं न विवक्ष्यते। यथा

‘यस्योभयं हविः’, इति सत्यप्युभयपदश्रवणे दधिपयसोरन्यतराव तावपि तदेव प्रायश्चित्तम् । न विवक्षित उभयशब्दः ।”

अत्र केचित्परिहारमाहुः । नैतत्तेन समानम् । न हि हविरर्थः प चशरावः । हविर्विनाशे हि नैमित्तिको धिकारः । इह तु माणवकार्था एव संस्काराः ।

एष त्वप्रयोजको विशेषः । वाक्यभेदभयाद्विशेषणविवक्षा नेष्यते । तादर्थ्ये पि वाक्यभेदो नैवापैति । तस्मादयं परिहारः । एतदेवोत्पत्तिवाक्यं जातकर्मणो वैदिकैः कर्मभिरित्येतदुपक्रमम् । तत्र पुमानेव संस्कार्यतया निर्दिष्टः । तदविवक्षायां वाक्यानर्थक्यं, यथा तत्रैव हविःपदं विवक्ष्यते । यद्येवं शूद्रस्यापि प्राप्तिः, जातिविशेषानिर्देशात् । न प्राप्स्यति, मन्त्रसाध्यत्वात् । अथवा द्विजन्मनामिति वाक्यशेषको भविष्यति । न च तदानीं विधेयार्थविषयत्वेन निर्दिष्टो येन तत एव संस्कार्यावगतौ पुंस इत्येतदुभयपदवदविवक्षितमाशङ्क्येत ।

स्त्रीणां त्वप्राप्ते पि विधानमुपपद्यते । क्लीबस्यापि दारदर्शनम् । “वातरेता यः क्लीब” उभयव्य जनो प्रव तेन्द्रियो वा । बहुप्रकारव्याव तिकरं जातकर्मादिसंस्कारकाले परिच्छेद्यत्वाच्छक्य-प्रतीकारत्वाच्च । न च यो न नियतो धर्मः सो धिकारं व्यावर्तयति, यथा द्रव्यत्वं, न “ह्यद्रव्यत्वं नियतं जातिवत् । य एवाद्रव्यः सो पि द्रव्यवान्भवति । चिरमधनो भूत्वा भवत्यहना महाधनः । ईद शरयैव षण्ढस्य वधे पलालभारकशुद्धिः । स ह्यसंस्कृतो नुपनीतः शान्त्यै न कस्यचित्तिष्ठति ।

अतः स्थितं पुंसामेवैते संस्कारा एभिर्विधीयन्ते । विध्यन्तरेण स्त्रीणाममन्त्रकाः । नपुंसकस्य नैव सन्तीति ॥ २६ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वा स्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

अन्वय - नामधेयं तु दशम्यां तु द्वादश्यां वा स्य कारयेत् पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ।

हिन्दी अर्थ - इस बालक का नामकरण संस्कार दशवें वा बारहवें दिन अथवा किसी भी पुण्य तिथि या मुहूर्त में अथवा शुभगुण वाले नक्षत्र में करावे ॥ ३० ॥

मेधातिथिः । दशम्यां तिथौ द्वादश्यां वा स्य दारकस्य नामधेयं कुर्वीत । गिजर्थो न विवक्षितः । तथा च ग ह्यम् “दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति” इति ।

नामैव ‘नामधेयम्’ । येन शब्देन कार्येष्व्वाहूयते तन्नाम ।

‘प्राङ्नाभिवर्धनादिति’ जातकर्मणः प्रकृतत्वाज्जन्मनः प्रभ ति दशमीद्वादश्यां ग ह्येते न चान्द्रतिथी । इह क्वचिद्दशमीग्रहणमाशौचनिव त्तिरित्युपलक्षणार्थं वर्णयन्ति । अतीतायामिति चाध्याहारः । दशम्यामतीतायां ब्राह्मणस्य द्वादश्यां क्षत्रियस्य प चदश्यां वैश्यस्येति ।

तदयुक्तम् । लक्षणायां प्रमाणाभावाज्जातकर्मवदाशौचे पि करिष्यते । यदि तु ब्राह्मणभोजनं विहितं क्वचित्तदा युक्ता लक्षणा ।

यदि दशमीद्वादश्यां वक्ष्यमाणगुणयुक्ते भवतः तदा तयोः कर्तव्यम् । अथ न, तदा न्यस्मिन्नपि पुण्ये हनि । पुण्यान्यहानि द्वितीयाप चम्यादीनि । ‘पुण्यं’ प्रशस्तं, नवमीचतुर्दश्यादयो रक्तास्तितथयः अपुण्याः ।

मुहूर्तो लग्नं कुम्भादि । तस्मिन्पुण्ये पापग्रहैरनधिष्ठिते गुरुभ्यां च द श्यमाने । लग्नशुद्धिर्ज्योतिषादवगम्यते । नक्षत्रे च गुणयुक्ते । नक्षत्रं श्रविष्ठादि, तद्यस्मिन्नहनि गुणयुक्तं भवति । नक्षत्रगुणाश्च क्रूरग्रहपापग्रहविष्टिव्यतीपातविवर्जितम् ।

वा शब्दः समुच्चये । तेन प्रशस्तायां तिथौ नक्षत्रे च शुद्धे लग्न इत्युपदिष्टं भवति । समुच्चयश्च ज्योतिषावगम्यः ।

अयं च परमार्थः । दशमीद्वादशीभ्यामर्वाङ् न कर्तव्यम् । उत्तरकालं च यदहर्नक्षत्रं लग्नं परिशुद्धं

तदहरेव कर्तव्यम् ॥ ३० ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

अन्वय - ब्राह्मणस्य मङ्गल्यम् क्षत्रियस्य बलान्वितम् वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् स्यात् ।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण का नाम शुभत्व-श्रेष्ठत्व भावबोधक शब्दों से, क्षत्रिय का बल-पराक्रम, वैश्य का धन-ऐश्वर्य भाव-बोधक शब्दों से और रक्षणीय, पालनीय भावबोधक शब्दों से नाम रखना चाहिए। अर्थात् व्यक्ति के वर्णसापेक्ष गुणों के आधार पर नामकरण करना चाहिए ॥ ३१ ॥

मेधातिथिः । तत्र स्वरूपमवधारविष्यन्नाह । मङ्गलाय हितं तत्र वा साधु मङ्गल्यमिति व्युत्पत्तिः । अभिमतस्यार्थस्य चिरजीवित्वबहुधनादेर्दष्टादष्टसुखफलस्य सिद्धिर्मङ्गलम् । तदभिधानमेव शब्दस्य हितत्वं साधुत्वं चेति तद्धितसिद्धिः । 'साधुत्वं' नाभिप्रेतार्थसिद्धिप्रतिपादनमेव विवक्षितम्, किं तर्हि, य आशास्यते तद्वचनेनैव सिद्धिः ।

समासाद्वा युःसिद्धिः धनसिद्धिः पुत्रलाभ इत्यादिः प्रतीयते, तद्धिताद्वा हितनिमित्तप्रयोजनार्थीयात् । तत्र ग ह्ये तद्धितान्तं प्रतिषिद्धं "कृतं कुर्यान्न तद्धितमिति" । समासे पि पदद्वयैकार्थीभावस्तत्र बह्वक्षरप्रयोगप्रसङ्गः । यतो वक्ष्यति 'शर्मवद्ब्राह्मणस्ये' त्युपपदनियमम् । तत्र चतुरक्षरे त्र्यक्षरे वा नास्मि शर्मशब्दे चोपपदे प चाक्षरं षडक्षरं नाम भवति । तच्च प्रतिषिद्धं "द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कुर्यादिति" । तेन यद्यत्किञ्चित्प्रायेण सर्वस्याभिलषणीयमगर्हितं पुत्रपशुग्रामकन्याधनादि तद्वचनाः शब्दा नामधेयत्वेन विनियोक्तव्या शर्मान्ताः । तेन गोशर्मा धनशर्मा हिरण्यशर्मा कल्याणशर्मा मङ्गलशर्मत्यादिशब्दपरिग्रहः सिद्धो भवति ।

अथवा 'मङ्गलं धर्मः तत्साधनं मङ्गल्यं नाम ।

"कतमत्पुनर्धर्मसाधनं नाम" । य एते देवताशब्दाः इन्द्रो ग्निर्वायुः । तथा ऋषिशब्दाः-वसिष्ठो विश्वामित्रो मेधातिथिः । तेषामपि धर्मसाधनत्वमस्ति । 'ऋषीतर्पयेत्पुण्यकृतो मनसा ध्यायेदिति ।' "देवतानाम षीणां च द्विजानां पुण्यकर्मणाम् । प्रातः प्रबुद्धः श्रीकामो नरो नामानि कीर्तयेद्" इति ।

मङ्गलग्रहणाच्च यदप्रशस्तं यमो म त्युरित्यादि तन्निरस्यते, यच्चानर्थकं छित्थादि यदच्छानिमित्तम् । क्षत्रियस्य बलान्वितम् । बलसंयुक्तं बलवाचि । अन्वयः सम्बन्धः । शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः प्रतिपादकभाव एव । सामर्थ्यं बलम् तद्येन प्रतिपाद्यते तादृशं नाम क्षत्रियस्य कर्तव्यम् । 'शत्रुन्तपः' 'दुर्योधनः', 'प्रजापाल' इत्यादि । येन विभागेन च नामनिर्देशो जातिचिह्नम् ।

एवं वैश्यस्य धनसंयुक्तम् ।

न चात्र पर्याया एव ग ह्यन्ते "धनं वित्तं स्वापतेयमिति" । किं तर्हि येन प्रकारेण तत्प्रतिपत्तिः । यदि वा धनादिशब्दप्रयोगादर्थसम्बन्धाद्वा । धनकर्मा महाधनः गोमान्धान्यग्रह इति ।

एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । तथा चान्वितादिशब्दप्रयोगो बलान्वितं धनसंयुक्तमिति । इतरथा एवमेवावक्ष्य'दबलनामानि कुर्यादिति' । स्वल्पत्वाद्बलाद्यर्थवाचिनामानन्त्याच्च पुरुषव्यक्तीनां दुरवधाने भेदे व्यवहारोच्छेद एव स्यात् ।

शूद्रस्य जुगुप्सितम् । कृपणको दीनः शबरक इत्यादि ॥ ३१ ॥

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।

वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

अन्वय - ब्राह्मणस्य शर्मवद् राज्ञः रक्षासमन्वितम् वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् स्यात् ।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण का नाम शर्मवत्=कल्याण, शुभ, सौभाग्य, सुख, आनन्द, प्रसन्नता भाव वाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए । जैसे देवशर्मा, विश्वामित्र, वेदव्रत, धर्मदत्त आदि, क्षत्रिय

का नाम रक्षक भाव वाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए जैसे महीपाल, धन जय, ध तराष्ट्र, देववर्मा, कृतवर्मा, वैश्य का नाम पुष्टि-सम द्वि द्योतक शब्दों को जोड़कर जैसे -धनगुप्त, धनपाल, वसुदेव, रत्नदेव, वसुगुप्त, और शूद्र का नाम (प्रेष्यसंयुतम्) सेवकत्व भाववाले शब्दों को जोड़कर रखना चाहिए जैसे देवदास, धर्मदास, महीदास।

मेधातिथिः। अत्र स्वरूपग्रहणं पाठानुक्रमश्चादौ मङ्गल्यमन्ते शर्मशब्दः। तथा चोदाहृतम्।

क्षत्रियादिनाम्नां तु नैतत्सम्भवति। रक्षाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्य श्रवणात्पुंसां सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। तस्मादेकोपक्रमत्वात्समाचाराच्च सर्वत्रार्थग्रहणम्। वाक्यसभेदाच्च समुच्चयः। यन्मङ्गल्यं तच्छमार्थवत्। शर्म शरणमाश्रयः सुखं च। अर्थग्रहणात्स्वामिदत्तभवभूत्यादिशब्दपरिग्रहः इन्द्रस्वामीन्द्राश्रयः इन्द्रदत्तः। तदाश्रयता प्रतीयते। एवं सर्वत्रोन्नेयम्।

“अथ को यं हेतुर्वाक्यभेदात्समुच्चय इति। ग्रीहिभिर्यजेत यवैर्यजेतेति किं न समुच्चय इति।”

उच्यते। लिङ्गदर्शनमात्रमेतत्पौरुषेयत्वात् ग्रन्थस्य। विकल्पे भिप्रेते। मङ्गल्यं शर्मवद्वेति लाघवावदवक्ष्यत्। वाक्यभेदे हि द्विराख्यातोच्चारणम्। तद् गुरु भवति।

रक्षा परिपालनं पुष्टिर्द्विगुप्तिश्च। गोवद्धो धनगुप्त इति। प्रेष्यो दासः ब्राह्मणदासो देवदासो ब्राह्मणाश्रितो देवताश्रित इति।।३२।।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।

मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तरमाशीर्वादाभिधानवत्।। ३३।।

अन्वय - स्त्रीणां सुखोद्यमं अक्रूरम् विस्पष्टार्थं मनोहरम् मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तरम् आशीर्वादाभिधानवत्।

हिन्दी अर्थ - स्त्रियों का नाम सुखपूर्वक उच्चारण किया जा सकने वाला कोमल वर्णों वाला स्पष्ट अर्थ वाला भावयुक्त अन्त में दीर्घ अक्षर वाला, तथा आशीर्वाद का वाचक होना चाहिए (जैसे-कल्याणी, वन्दना, विमला, भाग्यवती, प्रियंवदा आदि।। ३३।।

मेधातिथिः। पुंसं इत्यधिकृतत्वात्स्त्रीणामप्राप्तौ नियम्यते।

सुखेनोद्यते सुखोद्यम्। स्त्रीबालैरपि यत्सुखेनोच्चारयितुं शक्यते तत्स्त्रीणां नाम कर्तव्यम्। बाहुल्येन स्त्रीणां स्त्रीभिर्बालैश्च व्यवहारस्तेषां च स्वकरणसौष्टवाभावान्न सर्वं संस्कृतं शब्दमुच्चारयितुं शक्तिरस्ति। अतो विशेषेणोपदिश्यते। न तु पुंसामसुखोद्यमभ्यनुज्ञायते। उदाहरणं ‘मङ्गलदेवी’ ‘चारुदती’ ‘सुवदनेत्यादि’। प्रत्युदाहरणं ‘शर्मिष्ठा’, ‘सुशिलष्ठाङ्गी’ति।

अक्रूरमक्रूरार्थवाचि। क्रूरार्थवाचि क्रूरार्थं ‘डाकिनी’ ‘परुषेति’।

विस्पष्टार्थं यस्यार्थो व्याख्यानगम्यो न भवति, श्रुत एव विदुषामविदुषां वा र्थप्रतीतिं करोति। अविस्पष्टार्थं यथा, ‘कामनिधा’ ‘कारीषगन्धेति’। ‘कामस्य निधेव निधा तथा कामस्तत्रैव तिष्ठती’त्येवं यावन्न व्याख्यातुं तावन्नावगम्यते। एवं करीषगन्धेर्दुहिता कारीषगन्धेति व्याख्यानमपेक्ष्यते।

मनोहरं चित्ताह्लादकरं, ‘श्रेयसी’। विपरीतं तु ‘कालाक्षी’।

शर्मवती मङ्गल्यम्। विपरीतम् ‘अभागा’ ‘मन्दभागेति’।

दीर्घो वर्णो न्ते यस्य। विपरीतं शरत्।

आशिषं वदती‘त्याशीर्वादम्’ ‘अभिधानं’ शब्दः, तयोर्विशेषणसमासः। तद्यस्मिन्नस्ति विद्यते तत् आशीर्वादाभिधानवत्। ‘सपुत्रा’ ‘बहुपुत्रा’ ‘कुलवाहिकेति’। एते ह्यर्था आशीर्विषया। विपरीता ‘अप्रशस्ता’ ‘अलक्षणेति’।

“अथ मङ्गल्यस्याशीर्वादस्य च को विशेषः”।

न कश्चित् व त्पूरणार्थं तु भेदेनोपादानम्।। ३३।।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं ग हात्।

षष्ठे न्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले॥ ३४॥

अन्वय - शिशोः ग हात् निष्क्रमणम् चतुर्थे मासि, अन्नप्राशनं षष्ठे मासि यद्वा कुले इष्टं मङ्गलम् कर्तव्यम्।

हिन्दी अर्थ - बालक का घर से प्रथम बार बाहर निकालने का 'निष्क्रमण संस्कार' चौथे मास में और अन्न खिलाने का संस्कार-अन्नप्राशन छठे मास में अथवा जब भी परिवार में अभीष्ट अथवा शुभ समय प्रतीत हो, तब करना चाहिए॥३४॥

विशेष - (क) "चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुद्गीक्षयति तच्चक्षुरिति।" (पार० ग ह्य० १।७५।५-६)
=चतुर्थ मास में निष्क्रमण संस्कार करे। बालक को बाहर ले जाकर सूर्यदर्शन कराये।

(ख) "जननाद्यास्त तीयो ज्योत्स्नस्तस्य त तीयाम्।" (गौ० ग ह्य० ५।८।१)

= या फिर जन्म के पश्चात् तीसरे शुक्लपक्ष की त तीया को निष्क्रमण करे।

(ग) "षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्। दधिमधुघ तमिश्रितमन्नं प्राशयेत्।" (आश्व० ग ह्य० १।१६।१-५)

= छठे मास में बालक को अन्नप्राशन कराये और दही, शहद, घी मिश्रित भोजन चटाये।

"छठे महीने बालक को अन्नप्राशन करावे।" (सं०वि० ५८)

मेधातिथिः। जन्मचतुर्थमासे ग हादबहिर्निष्क्रमणमादित्यदर्शनं शिशोर्बालस्य कर्तव्यम्। त्रीन्मासान् गर्भग ह एव वासयेत्। शिशुग्रहणं शूद्रस्यापि प्राप्त्यर्थम्। एवं षष्ठे मास्यप्यन्नप्राशनम्। प चमासान्क्षीराहार एव। यद्वा कुले दारकस्य श्रेयस्यं मङ्गल्यं पूतनाशकुनिकैकव क्षोपहारादि प्रसिद्धम्। कालविशेषे वा तत्कर्तव्यम्। अयं च सर्वसंस्कारशेषः। तेन नामधेयमुक्तलक्षणव्यतिरेकेणापि यथाकुलधर्मं लक्ष्यते। 'इन्द्रस्वामी' 'इन्द्रशर्मा' 'इन्द्रभूमिः' 'इन्द्रघोष' 'इन्द्ररात' 'इन्द्रविष्णुः' 'इन्द्रदेवः' 'इन्द्रज्योति' 'इन्द्रयशा' इत्यादि कुलभेदेनोपपन्नं भवति॥ ३४॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।

प्रथमे बदे त तीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥ ३५॥

अन्वय - सर्वेषामेव द्विजातीनाम् चूडाकर्म धर्मतः श्रुतिचोदनात् प्रथमे अब्दे त तीये वा कर्तव्यम्।

हिन्दी अर्थ - सभी द्विजातियों=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के इच्छुकों का चूडाकर्म=मुण्डन संस्कार धर्मानुसार वेद की आज्ञानुसार प्रथम वर्ष में अथवा तीसरे वर्ष में करना चाहिये॥३५॥

विशेष - (क) "त तीये वर्षे चौलम्।" (आश्व० ग ह्य० १।१७।१)

=त तीय वर्ष में मुण्डन संस्कार किया जाता है।

(ख) "सांत्सरिकस्य चूडाकरणम्।" (पार० ग ह्य० २।१।१)

= एक वर्ष के बालक का मुण्डन किया जाता है।

मेधातिथिः। 'चूडा' शिखा तदर्थ 'कर्म' चूडाकर्म। केषुचिन्मूर्द्धदेशेषु केशानां स्थापनं रचनाविशेषरचैतच्चूडाकर्माच्यते।

प्रथमवर्षे त तीये वा। ग्रहसौस्थित्यापेक्षा विकल्पः।

श्रुतिनोदनादित्यनुवादस्तन्मूलतयैव प्रामाण्यस्योक्तत्वात्। अथवा श्रुतिशब्देन न विधायकान्येव वाक्यानुच्यन्ते, किं तर्हि मन्त्राः। ते च रूपात् चूडाकर्म-या जना इतिवद् अद ष्टं-प्रकाशयन्ति। 'यत्क्षुरेण मार्जयेते'त्यादि (पारस्कर २.१.१६)। तेन समन्त्रकमेतत्कर्मेत्युक्तं भवति। विशेषापेक्षायां गार्हो विधिरङ्गीक्रियते। अतः शूद्रस्य नायं संस्कारः, द्विजातिग्रहणाच्च। अनियतकालं तु केशवपनं शूद्रस्यार्थप्राप्तं न निर्वायते॥ ३५॥

गर्भाष्टमे ब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।

गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥ ३६॥

अन्वय - ब्राह्मणस्य गर्भाष्टमे अब्दे, राज्ञ गर्भात् एकादशे (अब्दे) विशः गर्भात्तु द्वादशे (अब्दे) उपनायनम् कुर्वीत्।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण-बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय-बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य-बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिये॥ ३६॥

विशेष - विद्वानों ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार से भी किया है - ब्राह्मण वर्ण के इच्छुक को (माता-पिता की इच्छा के आधार पर प्रयोग है।) उपनयन=गुरु के पास पहुंचाना अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार गर्भ से आठवें वर्ष में करे, क्षत्रिय वर्ण के इच्छुक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य वर्ण के इच्छुक का गर्भ से बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिये॥ ३६॥

मेधातिथिः। गर्भस्थस्य यः संवत्सरस्तत आरभ्य यो ष्टमो ब्दः। गर्भशब्देन साहचर्यात्संवत्सरो लक्ष्यते। न हि मुख्यया व त्या गर्भस्य संवत्सरो ष्टम इति व्यपदेशं लभते। तस्मिन्नौपनायनं ब्राह्मणस्य कुर्वीत। उपनयनमेवोपनायनम्। स्वार्थिको ण्। अन्येषामपि द श्यते” (पा० सू० ६।३।१८७) इत्युत्तरपदस्य दीर्घः। छान्दसत्वाद्बोभयपदव द्विः। उपनयनमिति हि एष संस्कारो वेदविदां ग ह्यस्म तिषु प्रसिद्धो मौ जीबन्धनापरपर्यायः। उपनीयते समीपं प्राप्यते येनाचार्यस्य स्वाध्यायाध्ययनार्थं न कुड्चं कटं वा कर्तुं तदुपनयनम्। विशिष्टस्य संस्कारकर्मणो नामधेयमेतत्।

गर्भादेकादशे राज्ञः। गर्भात्प्रभ ति गर्भाद्वा परो च एकादशो ब्दस्तत्र क्षत्रियस्य कर्तव्यम्। राजशब्दो यं क्षत्रियजातिवचनोनाभिषेकादिगुणयोगमपेक्षते ग्रन्थेषु तथा प्रयोगदर्शनात्, ब्राह्मणादिजातिशब्दसाहचर्याच्च। गुणविधिषु च क्षत्रियशब्ददर्शनात् ‘क्षत्रियस्य तु मौर्वीति’। यस्तु राजशब्दस्य क्षत्रियादन्यत्र जनपदेश्वरे वैश्यादौ प्रयोगः स गौण इति वक्ष्यामः। मुख्ये चासति गौणस्य ग्रहणम्। तथा च ग ह्यकारः-“अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेदेकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यमिति।” भगवांश्च पाणिनिः एवमेव प्रतिपन्नो ‘राज्ञः कर्म राज्यं’ इति राज्यशब्दस्य राजशब्दं प्रकृति ब्रुवन्नैव जनपदैश्वर्येण राजशब्दार्थप्रसिद्धिमाह। एवं गर्भात्तु द्वादशे ब्दे विशः वैश्यस्य॥ ३६॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य प चमे।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनो ष्टमे॥ ३७॥

अन्वय - इह ब्रह्मवर्चस् कामस्य विप्रस्य प चमे बलार्थिनः राज्ञः षष्ठे अर्थिनः वैश्यस्य अष्टमे (उपनयनत्) कार्यम्।

हिन्दी अर्थ - इस संसार में ब्रह्म तेज की इच्छा रखने वाला ब्राह्मण का पांचवे वर्ष में, बल की चाह रखने वाले क्षत्रीय का छठे वर्ष में तथा धन चाहने वाले वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना चाहिये॥ ३७॥

मेधातिथिः। पित धर्मेणापत्यं व्यादिशति ‘ब्रह्मवर्चसी मे पुत्रः स्यादिति’ पित कामनया पुत्रो व्यपदिष्टस्तत्कामस्येति। पुत्रस्य बालत्वान्नवंविधा कामना सम्भवति।

“ननु चैवमन्यकृतात्कर्मण अन्यस्य फले भ्युपगम्यमाने कृताभ्यागमदोषापत्तिः। अकाम्यमानं च फलं भवतीत्येतदप्युत्क्रान्तशब्द- प्रमाणन्यायमर्यादयोच्यते”।

नैष दोषः। श्येनवदेतद्भविष्यति। श्येनमभिचरन्करोत्यभिचर्यमाणश्च म्रियते। अथोच्यते “कामिन एवैतत्फलम्। शत्रुमरणं हि यजमानः कामयते। तदेव प्राप्नोतीति, नाकर्त गामिता फलस्य”-अत्रापि विशिष्टपुत्रवत्ता लक्षणमुपनेतुरेव फलम्। यथा पुत्रस्यारोग्येण पितुः प्रीतिः एवं ब्रह्मवर्चसेनापि अतो धिकृतस्य कर्तश्च तत्फलमन्वयानुसारी हि शास्त्रार्थावसायः। इह च पुत्रस्य फलकामेनैवं कर्तव्यमित्यन्वयः प्रीतीयते। न च यथाश्रुतान्वयत्यागे किं चन प्रमाणमस्ति। एतेन पितुरौर्ध्वदेहिकः पुत्रकृत उपकारो व्याख्यातः। तत्रापि हि पुत्रः कर्ता पित त प्तिश्च फलम्। तथा च लिङ्गं “आत्मा

वै पुत्र नामासीति” पितृवै हि तावच्छ्राद्धमात्मसम्प्रदानकं वस्तुतः कृतमेव येनापत्योत्पादनमेवमर्थमेव कृतम्। यथा ‘सर्वस्वारे म तस्यार्भकपवमानात् ये परा चः पदार्थास्तेष्वपि यजमानस्यैव कर्तृत्वम्। ‘ब्राह्मणाः संस्थापयत यज्ञमिति’ प्रेषेण, दक्षिणाभिर्वरणेन वा प्रयोगसमाप्ताव त्विजां विनियोक्त त्वात्-एवमिहापि तादर्थ्येन पुत्रस्योत्पादनाद्यच्छ्राद्धादिकं पितृर्थं क्रियते पितृवै तत्कृतं भवति।

अध्ययनविज्ञानसम्पन्नं ‘ब्रह्मवर्चसम्’।

बलं सामर्थ्याम्, आभ्यन्तरं बाह्यं च। उत्साहशक्तिर्महाप्राणता चेत्येतदाभ्यन्तरम्। बाह्यं च हस्त्यश्वरथपदातिकोशसम्पत्। तदुक्तं स्वाङ्गभ्युच्चयं सांयौगिकानां चार्थानामिति।

ईहा चेष्टा, बहुना धनेन कृषिवाणिज्यादिव्यवहारः।

सर्वत्र गर्भादिसङ्ख्या वर्षाणाम्। गर्भादिति ह्यनुवर्तते।। ३७।।

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।

आ द्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।। ३८।।

अन्वय - ब्राह्मणस्य आषोडशात् क्षत्रबन्धोः आद्वाविंशात् विशः आचतुर्विंशतेः सावित्री नातिवर्तते।

हिन्दी अर्थ - सोलह वर्ष तक ब्राह्मण की, बाईस वर्ष तक क्षत्रिय और चौबीस वर्ष तक वैश्य की सावित्री का अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्था तक उपनयन संस्कार हो सकता है।। ३८।।

विशेष - आश्वालायन ग ह्यसूत्र में उपनयन काल के अतिक्रमण का विधान निम्न है :-

“आषोडशात् ब्राह्मणस्यानतीकालः।। ५।। आद्वाविंशात् क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य।। ६।। (आश्व० ग ह्यसूत्र १।१६।६)

-ब्राह्मण के सोलह, क्षत्रिय के बाईस और वैश्य के बालक का चौबीस वर्ष पूर्व-पूर्व यज्ञोपवीत होना चाहिये।”

मेधातिथिः। एवं तावन्मुख्यकाम्यावुपनयनकालावुक्तौ। इदानीं पितुरभावे व्याध्यादिना वा कथंचिदनुपतीते माणवके कालातिपत्तावनुपनेयता प्राप्ता, सत्यपि कालस्याङ्गत्वे तद्भावे धिकारनिवृत्तेः। यथा सायम्प्रातःकालातिपत्तावग्निहोत्रस्याकरणे। अतो विहितकालव्यतिरेकेण प्रतिप्रसवार्थमिदमारभ्यते।

यावत्षोडशं वर्षं गर्भादारभ्य तावद् ब्राह्मणस्योपनयनार्हता न निवर्तते। सावित्रीशब्देन तदनुवचनसाधनमुपनयनार्थं कर्म लक्ष्यते। नातिवर्तते नातिक्रान्तकालं भवतीत्यर्थः।

एवमाद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोः क्षत्रियजातीयस्येत्यर्थः। बन्धुशब्दो यं क्वचित्कुत्सायां प्रवर्तते, “यत्स्वं कथं वेत्स ब्रह्मबन्धविति”। ज्ञातिवचनः यथा “ग्रामता जनता चैव बन्धुता च सहायता। महेन्द्रस्याणगम्या सौ भूमिभागभुजां कुतः।।” द्रव्यवचनो “जात्यन्ताच्छ बन्धुनीति” (पा० सू० ५।४।६)। तत्र पूर्वयोरर्थयोरसम्भवात् तीयोर्थो ग्रह्यते। द्वाविंशतेः पूरणो द्वाविंशो ब्दः तद्धितार्थः।

आ चतुर्विंशतेर्विशः। प्राप्तोऽप्यत्र पूरणप्रत्ययो व तानुरोधान्न कृतः, प्रतीयते तु तदर्थः। न हि समुदायविषयायाश्चतुर्विंशतिसंख्याया अवधित्वेन सम्भवः। तदवयवस्तु चतुर्विंशो भवति संवत्सरो वधिः। आङ्मभिविधौ व्याचक्षते।

लिङ्गदर्शनं चोदाहरन्ति। “गायत्र्या ब्राह्मणमुपनयीत, त्रिष्टुभा राजन्यम्, जगत्या वैश्यम्” इति। एतेषां च छन्दसामियता कालेन द्वौ पादौ पूर्येते। तावन्तं कालं बलवन्ति न त्यजन्ति स्वाश्रयभूतान्वर्णान् त तीये तु पादे पक्रान्ते गतरसान्यतिवयांसि न्यूनसामर्थ्यानि भवन्ति समाप्तिमुपयान्ति। यथा “प चाशता स्थविरो मनुष्यः” इति। अतश्च नेतैन वयमुपासितानीति त्यजन्ति तं वर्णम्। ततो ‘न गायत्रो ब्राह्मणो, न त्रैष्टुभो राजन्यो, न जागतो वैश्य’ इति। सविता देवता यस्या ऋचः सा सावित्री; सा च गायत्री

दृष्टव्या प्रदर्शिता, ग ह्याच्च । एवं क्षत्रियस्य त्रिष्टुप् सावित्री 'आकृष्णेनेति' । वैश्यस्य जगती "विश्वा रूपाणीति" ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रयो प्येते यथाकालमसंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता ब्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

अन्वय - यथाकालमसंस्कृताः असंस्कृताः एते त्रयः अपि अतः ऊर्ध्वं सावित्रीपतिताः आर्यविगर्हिताः ब्रात्याः भवन्ति ।

हिन्दी अर्थ - निर्धारित समय पर संस्कार न होने पर इस अवस्था के बीतने के बाद ये तीनों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही सावित्री-यज्ञोपवीत से पतित हुए आर्य=श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा निन्दित 'ब्रात्या'=व्रत से पतित ब्रात्यसंज्ञक कहलाते हैं ॥ ३९ ॥

मेधातिथिः । अस्मात्कालादूर्ध्वं परेण त्रयो प्येते वर्णाः ब्राह्मणादयो यथाकालं यस्योपनयनकालः तत्रानुकल्पिके प्यसंस्कृता अकृतोपनयनाः । सावित्रीपतिता उपनयनभ्रष्टा भवन्ति । ब्रात्याश्च संज्ञया । 'आर्यैः' शिष्टैः 'विगर्हिताः' निन्दिताः । ब्रात्यसंज्ञाव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थो यं श्लोकः । अनुपनेयत्वं तु पूर्वणैव सिद्धम् ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।

ब्राह्मन् यौनांश्च सम्बन्धान्नाचरेद् ब्राह्मणैः सह ॥ ४० ॥

अन्वय - ब्राह्मणः एतैः अपूतैः सह कर्हिचित् आपदि अह विधिवत् ब्राह्मन् यौनान् च सम्बन्धान् न आचरेत् ।

हिन्दी अर्थ - द्विजों में कोई भी व्यक्ति इन पतितों के साथ कभी आपात्काल में भी नियमपूर्वक विद्याध्ययन-अध्यापन-सम्बन्धी ओर विवाह-सम्बन्धी व्यवहारों को न करे ॥ ४० ॥

मेधातिथिः । एतैर्ब्राह्मणैरपूतैरकृतप्रायश्चित्तैर्विधिवदाद शो विधिः प्रायश्चित्तशास्त्रेणोपदिष्टः 'तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रानिति'-आपद्यपि हि कर्हिचित्कस्याचिदप्यापदि न सम्बन्धानाचरेत्कुर्यातैः सह ।

किं सर्वसम्बन्धनिषेधो नेत्याह ब्राह्मण्यौनांश्च । 'ब्रह्म' वेदः । तन्निमित्ताः सम्बन्धाः याजना योपनप्रतिग्रहाः । न ते याज्याः न याजकाः कर्तव्याः । एवं नाध्याप्या नैतेभ्यो ध्येतव्यम् । वेदार्थं विदुषः प्रतिग्रहाधिकारादेशोऽपि ब्राह्मणसम्बन्धो भवति । 'यौनः सम्बन्धः' कन्याया दानादाने ।

ब्राह्मणग्रहण प्रदर्शनार्थम् ।

अस्माच्च दोषदर्शनाद् ब्राह्मण्यौनांश्च पितुरभावेऽपि व्युत्पन्नबुद्धिना माणवकेनाप्यात्मना त्मोपनाययितव्य इति प्रतीयते । काम्यो ह्ययमाचार्यस्य विधिः । तत्राचार्यत्वमकाम्यमानो यदि कश्चिन्न प्रवर्तते तदा माणवकेन प्रार्थयितव्यो दक्षिणादिना । तथा च श्रुतिः - "सत्यकामो जावालः हारिद्रमतं गौतममियाय ब्रह्मचर्यं भवति वत्स्यामीति" स्वयमाचार्यमभ्यर्थितवानुपनयनार्थम् ॥ ४० ॥

कार्ष्णीरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।

वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

अन्वय - ब्रह्मचारिणः आनुपूर्व्येण कार्ष्णीरववास्तानि चर्माणि शाण क्षौम आविकानि च वसीरन् ।

हिन्दी अर्थ - तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी क्रमशः आसन के रूप में बिछाने के लिए काला, म ग, रुरुम ग और बकरे के चर्म को तथा ओढ़ने-पहरने के लिये सन, रेशम और ऊन के वस्त्रों को धारण करें ॥ ४१ ॥

मेधातिथिः । कृष्णशब्दो यद्यपि कृष्णगुणयुक्तवस्तुमात्रे वर्तते "कृष्णा गौः, कृष्णः कम्बलः" इति तथापीह स्म त्यन्तराद्रौरवसाहचर्याच्च म ग एव प्रतीयते । रुरुम गजातिविशेषः । बस्तः छागः । सर्वत्र विकारे वयवे वा तद्धितः । कृष्णाजिनं ब्राह्मणो, रुरुचर्म क्षत्रियो, वैश्यश्छागचर्म वसीरन्नाच्छादयेयुः ।

शणक्षुगोणसितत्र कृतानि च वस्त्राणि। च शब्देः समुच्चये। तत्रानुत्तरीयाणि शाणादीनि। चर्माण्युत्तरीयाण्यौचित्यात् कौपीनाच्छादनानि च वस्त्राणि। आनुपूर्व्येण नैकेकस्य सर्वैरभिराम्बन्धोनापि व्युत्क्रमेण। प्रथमस्य ब्रह्मचारिणः प्रथमेन वस्त्रेण च सम्बन्धो द्वितीयस्य द्वितीयस्थानस्थेन। तथा च दर्शितम्।

ननु चान्तरेणापि वचनं लोकत एवैतत्सिद्धं, “चूर्णिताक्षिप्तदग्धानां वज्रानिलहुताशनैरिति” यथाक्रमं सम्बन्धप्रतिपत्तिः, चूर्णिता वज्रेणाक्षिप्ताः अनिलेन दग्धा अग्निनेति।

उच्यते। भवेदेतदेवं यदि भेदेन निर्देशः स्यात्समसङ्ख्यात्वं च। इह तु ‘ब्रह्मचारिण’ इत्येकशब्दोपादानान्न क्रमो वगम्यते। त्रयश्च ब्रह्मचारिणः। षडनुदेशिनः त्रीणि चर्माणि वस्त्राणि। आनुपूर्व्यग्रहणे तु सति वाक्यान्तरोपात्तः क्रम आश्रीयते। तथा च चर्मभिः सम्बन्ध पुनर्ब्रह्मचारिपदमावर्त्य वासोभिः सम्बध्यते। ततः यथा सङ्ख्यमनुदेशः समानामितिः (पा० सू० १।३।१०) ॥ ४१॥

मौ जी त्रिव त्समा श्लक्षणा कार्या विप्रस्य मेखला।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥ ४२॥

अन्वय - विप्रस्य मेखला मौ जी क्षत्रियस्य मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी त्रिव त्समा श्लक्षणा कार्या।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण की मेखला=तगड़ी ‘मूँज’ नामक घास की बनी होनी चाहिए क्षत्रिय की धनुष की डोरी जिससे बनती है उस ‘मुरा’ नामक घास की, और वैश्य की सन के सूत की बनी हो जो तीन लड़ों को एकत्र बांट करके चिकनी बननी चाहिये॥ ४२॥

मेधातिथिः। मु जस्त णजातिस्तद्विकारो मौ जी। सा ब्राह्मण्यस्य मेखला रशना कर्तव्या मध्यबन्धनी। त्रिव त् त्रिगुणा। समा न क्वचित्सूक्ष्मा न क्वचित्सूक्ष्मतरा किं तर्हि सर्वत एव समा। श्लक्षणा तनुत्वगुणयुक्ता परिघ ष्टा च।

क्षत्रियस्य पुनर्ज्या धनुर्गुणः। सा कदाचिच्चर्ममयी भवति, कदाचित् णमयी, भङ्गोमादिरज्जुर्वा। तदर्थमाह मौर्वीति। तथा धनुषो वतारितया श्रोणीबन्धः कर्तव्यः। यद्यपि त्रिव तादिर्गुणो मेखलामात्राश्रितो न मौ ज्या एव, तथा पि ज्यायाः स्वरूपनाशप्रसङ्गान्नभवति।

शणतन्तुविकारः शणतान्तवी। छान्सत्वादुत्तरपदव द्विः। अथवा केवलात्तन्तुशब्दात्तद्धिते कृते तदन्तस्य शणैः सम्बन्धः - शणानां तान्तवीति। प्रकृतेर्विकारः प्रकृतिसम्बन्धितया व्यपदिश्यते। ‘गव्यं घ तं’ ‘देवदत्तस्य पौत्र’ इति। ‘तन्तु’ सूत्रं शणमौ जीवत्कर्तव्या। ग ह्यकारैर्वैश्यमेखलायाः त्रिव तादिधर्मः सुस्पष्ट एवोक्तः॥ ४२॥

मु जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।

त्रिव ता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः प चभिरेव वा॥ ४३॥

अन्वय - मु ज अलाभे तु (क्रमशः) कुशा-अश्मन्तकबल्वजैः त्रिव ता एकेन ग्रन्थिना त्रिभिः प चभिः वा कर्तव्याः।

हिन्दी अर्थ - यदि उपर्युक्त मूँज आदि न मिलें तो कुश, अश्मन्तक और बल्वज नामक घासों से उसी प्रकार तिगुनी= तीन बटों वाली करके फिर एक गांठ लगाकर अथवा तीन या पांच गांठ लगाकर मेखलाएं बनानी चाहिएं॥ ४३॥

मेधातिथिः। आदिशब्दलोपमत्र स्मरन्ति। मु जाद्यलाभ इति। कर्तव्या इति च बहुवचनमुपपन्नतरम्। भिन्नजातिसम्बन्धितया सुव्यक्तो मेखलाभेदः। एकजातिसम्बन्धित्वे तु केवलव्यक्तिभेदालम्बनं बहुवचनं स्यात्। विप्रस्येति च प्रकृतस्य बहुवचनेन परिणामः कर्तव्यः। विकल्पश्चैकविषयत्वे स्यात्। न च सम्भवत्यां गतौ विकल्पो युक्तः।

तेन मु जाभावे कौशी। ज्याया अभावश्मन्तकेन। शणानां बल्वजैः। त गौषधिवचनात्कुशादयः। प्रतिनिधिनियमश्चायम्। कुशाद्यभावे प्यन्मु जादिसद शमुपादेयम्। त्रिव ता ग्रन्थिनैकेन। नायं

ग्रन्थिङ्खाभेदो वर्णभेदेन । अपि तु प्रत्येकं विकल्पः । कुशादिमेखलास्वप्ययं ग्रन्थिभेदो धर्मभेदश्चोद्यमानः स्म त्यन्तरसमाचारस्यानित्यत्वे पि द्रष्टव्यः ॥ ४३ ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्वं तं त्रिव त् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैशस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

अन्वय - विप्रस्य उपवीतम् कार्पासम् राज्ञः शणसूत्रमयं वैश्यस्य आविकसौत्रिकम् स्यात् (तत्) ऊर्ध्वं तम् त्रिव त् (भवेत्) ।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का बना, क्षत्रिय का सन के सूत का बना और वैश्य का भेड़ की ऊन का बना होना चाहिए, वह उपवीत दाहिनी ओर से बायीं ओर का बटा हुआ, और तीन लड़ों से तिगुना करके बना हुआ होना चाहिए ॥ ४४ ॥

मेधातिथिः । उपवीतशब्देन वासो विन्यासविशेष उच्यते । वक्ष्यति “उद्ध ते दक्षिणे पाणाविति” । तच्च धर्ममात्रम् । तस्य न कार्पासता सम्भवत्यतो धर्मेण धर्मी लक्ष्यते, यस्यासौ विन्यासस्तत्कार्पासमुच्यते । अर्श आदित्वाद्वा मत्वर्थीयो कारः कर्तव्यः, उपवीतवदुपवीतमिति ।

ऊर्ध्वं तं ऊर्ध्वा दिशं प्रति वर्त्यते वेष्ट्यते । त्रिव त् त्रिगुणम् । कर्तनिकाभ्यो लब्धसूत्रभावस्य त्रिगुणीकृतस्येदमूर्ध्वनिवर्तनं विधीयते । संहत्य तन्तुत्रयं ऊर्ध्ववेष्टिनेन रज्ज्वाकारं कृत्वा तेनोपवीतं कुर्यात् । सा च रज्जुरेकैव धारयितव्या तिस्रः प च सप्त वा । यज्ञसम्बन्धाद्धि तद्यज्ञोपवीताख्यां लभते । यज्ञार्थो यमुद्यत इति भक्त्योपचर्यते । तत्रेष्टिपशुसोमानां यज्ञरूपतयैकत्वादेकतन्तुकं क्रियते । अग्नित्रयसाध्यत्वादहीनैकाहसत्रभेदाद्वा त्रितन्तुकम् । सोमसंस्थानां सप्तसङ्ख्यत्वात्सप्त वा तन्तवः । “त्रीणि सवनानि त्रिसन्ध्येनेति” प च । सूत्राभावे पि पटादिना पि कर्तव्यम् । स्म त्यन्तर एवमुक्तम् । अविः मेषस्तस्य सूत्रं तेन कृतं आविकसूत्रिकम् । अध्यात्मादिवाट्टः कर्तव्यः । ‘अविकसूत्रिकमिति’ वा पठितव्यम् । तत्र च मत्वर्थीयेन ठना रूपसिद्धिः ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।

पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

अन्वय - ब्राह्मणः बैल्वपालाशौ क्षत्रियः वाटखादिरौ वैश्यः पैलवौदुम्बरौ दण्डान् धर्मतः अर्हन्ति ।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण बेल या ढाक के, क्षत्रिय बड़ या खैर के, वैश्य पीपल या गूलर के दण्डों को नियमानुसार धारण कर सकते हैं ॥ ४५ ॥

मेधातिथिः । सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे गुणविधिष्वेकत्वश्रवणात्केशान्तिक’ इति ‘प्रतिग ह्योप्सितं दण्डम्’ इति च विकल्पितं एकदण्डधारणं । प्रतीयते । “बैल्वः पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः” इति ग ह्य० गौतमीये चैकदण्डग्रहणमेवोक्तम् । इह केवला दण्डसत्ता श्रूयते । ‘दण्डानर्हन्ति’ । दण्डा एते ब्रह्मचारिणां योग्याः । कस्यां क्रियायां इत्येतदत्रैवोक्तं उत्तरत्र भविष्यति ‘प्रतिग ह्योप्सितमिति’ । तस्मिंश्च ग्रहणे दण्डस्योपायत्वाद्धिवक्षितमेकत्वमत इह द्विवचननिर्देश देवश्चद्वर्षेद्बहवः कृषिं कुर्युरिति यथाप्राप्तानुवादः । बिल्वपलाशवटखदिरपीलूदुम्बरा व क्षजातिविशेषनामधेयानि । बिल्वस्य विकारो वयवो वा ‘बैल्वः’ । एवं सर्वत्र । प्रदर्शनार्थाश्चैते ।

‘यज्ञिया वा सर्वेषामिति’ वचनात् ।

एतान्दण्डान्वक्ष्यमाणे कार्ये अर्हन्ति । धर्मतः शास्त्रतः ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।

ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

अन्वय - प्रमाणतः ब्राह्मणस्य दण्डः केशान्तिकः राज्ञः ललाटसम्मितः कार्यः विशस्तु नासान्तिकः स्यात् ।

हिन्दी अर्थ - माप के अनुसार ब्राह्मण का दण्ड केशों तक, क्षत्रिय का माथे तक बनाना चाहिए

और वैश्य का नाक तक ऊँचा होना चाहिये।। ४६।।

मेधातिथिः। आकारविशेषवचनो दण्डशब्दः। दीर्घ काष्ठं सम्मितायामं 'दण्ड' इत्युच्यते।

कयित्तस्य दैर्घ्यमित्यपेक्षायामाह। केशान्तं गच्छति प्राप्नोति केशान्तगो मूर्द्धप्रमाणः। पादाग्रादारभ्य। मूर्द्धावधिः केशान्तगः। केशा वा न्तोस्येति। केशान्तकः। समासान्तः ककारः। प्रमाणतः प्रमाणेनानेन युक्तो दण्डः कार्यः कारयितव्यः। ब्राह्मणस्याचार्येण। ललाटसम्मितः ललाटान्तमितः ललाटान्तप्रमाणः ललाटमात्रे चतुरंगुलेन मीयमानस्य दण्डशब्दवाच्यत्वाभावादेवं व्याख्यायत-पादाग्रादारभ्य यावल्ललाटान्तं प्राप्तः।

एवं विशो वैश्यस्य नासान्तग इति।। ४६।।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।

अनुद्वेगरा नृणां सत्वचो नग्निदूषिताः।। ४७।।

अन्वय - ते तु सर्वे ऋजवः अव्रणाः सौम्यदर्शनाः न णाम् अनुद्वेगकरा सत्वचः अनग्निदूषिताः स्युः।

हिन्दी अर्थ - वे सब दण्ड सीधे बिना गाँठ वाले देखने में प्रिय लगने वाले मनुष्यों को बुरे या डरावने न लगने वाले छालसहित और बिना जले-झुलसे होने चाहिये।। ४७।।

मेधातिथिः। ऋजवः अवक्राः। सर्वे इत्यनुवादः। प्रकृतत्वाविशेषात्। अव्रणा अच्छिद्राः। सौम्यं प्रियकरं दर्शनमेषां ते सौम्यदर्शनाः। वर्णपरिशुद्धाः, अकण्टकिताश्च। अनुद्वेगकराः। नैतैः कश्चिदुद्वेजयितव्यः श्वा वा मनुष्यो वा। नृणामिति प्रदर्शनार्थम्। सत्वचः अतप्टाः। अनग्निदूषिताः वैद्युतेन दावोत्थेन वा स्पष्टाः।। ४७।।

प्रतिग ह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।

प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधिं।। ४८।।

अन्वय - ईप्सितं दण्डं प्रतिग ह्य भास्करम् च उपस्थाय अग्निं प्रदक्षिणं परीत्य यथाविधिः भैक्षं चरेत्।

हिन्दी अर्थ - ऊपर वर्णित दण्डों में अपने योग्य दण्ड धारण करके ओर सूर्य के सामने खड़ा होके यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा करके विधि-अनुसार भिक्षा मांगे।। ४८।।

मेधातिथिः। प्राव तेषु चर्मसु मेखलाबन्धनं कर्तव्यम् आबध्य मेखलामुपनयन (उपवीतं) कर्तव्यम्। कृते चोपवीते दण्डग्रहणम्। दण्डं ग हीत्वा भास्कर आदित्य उपस्थेयः। अभिमुखं स्थित्वा दित्यदैवतैर्मन्त्रैरुपस्थानमादित्यस्य कर्तव्यम्। ग ह्यान्मन्त्रावगमः। अन्या चेतिकर्तव्यता तत एव। यत्सर्वसाधारणं तदिहोच्यते। प्रदक्षिणं परीत्य सर्वतो गत्वाग्निम्। चरेत्कुर्यात्। भैक्षं भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। तच्चरेद्याचेत। यथाविधीति वक्ष्यमाणविध्यनुवादः। भिक्षाशब्देन स्वल्पपरिमाणं भक्ताद्युच्यते।। ४८।।

भवत्पूर्व चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।

भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्।। ४९।।

अन्वय - उपनीतः द्विजोत्तमः भवत्पूर्व भैक्षं चरेत् राजन्यकृतु तु भवन्मध्यं वैश्यस्तु भवदुत्तरम्।

हिन्दी अर्थ - यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित ब्राह्मण 'भवत्' शब्द को वाक्य के पहले जोड़कर, जैसे-'भवान् भिक्षां ददातु' या 'भवती भिक्षां ददातु' कहकर भिक्षा मांगे और क्षत्रिय 'भवत्' शब्द को वाक्य के बीच में लगाकर, जैसे-'भिक्षां भवान् ददातु' या 'भिक्षां भवती ददातु' कहकर भिक्षा माँगे और वैश्य 'भवत्' शब्द को वाक्य के बाद में जोड़कर जैसे-'भिक्षां ददातु भवान्' या 'भिक्षां ददातु भवती' कहकर भिक्षा माँगे।। ४९।।

मेधातिथिः। भिक्षाप्रार्थनावाक्यमत्र भैक्षशब्देनोच्यते। तस्य ही भवच्छब्दपूर्वता सम्भवति, न भक्तादेरर्थस्य। स्त्रीणां च प्रथमं भिक्ष्यमाणतयोपदेशात्प्रार्थनायां च प्रार्थ्यमानस्य सम्बोध्यत्वात्सम्बुद्धिविभक्त्यन्तः

स्त्रीलिङ्गो भवच्छब्दः प्रयोक्तव्यः। क्रम एव चात्राद ष्टा र्थो नियम्यते। यथार्थं तु शब्दप्रयोगो 'भवति भिक्षां देहीति'।

“कृतः पुनः संस्कृतशब्दार्थलाभः, यावता स्त्रियः सम्बोध्यन्ते। ताश्च संस्कृतं नावबुद्धयन्ते।”

नित्यमुपनयनम्। तस्य च शब्दोच्चारणमङ्गत्वेनोक्तमिति। अनित्याश्चापभ्रंशाः। न तैर्नित्यस्य संयोग उपपद्यते। यथैव च शिष्टा असाधूनुपश्रुत्यैकदेशसाद श्येन साधून्संस्मृत्यार्थं प्रतियन्त्यसाधुरन मानेन वाचक इति दर्शनेन गोशब्दो हि साद श्याद्! गोशब्दमनुमापयति। ततो र्थप्रतिपत्तेः, एवं स्त्रियः साद श्यात्साधुभ्यः असाधूनुत्पन्नसम्बन्धान् स्मृत्वा तेभ्यो र्थं प्रत्येष्यन्ति। स्वल्पाक्षरं चैतत्पदत्रयं सर्वत्र प्रसिद्धं स्त्रीभिरपि सुज्ञानम्।

एवं भवन्मध्यं क्षत्रियः 'भिक्षां भवति देहीति'। तथा वैश्यो-भवच्छब्द उत्तरमस्येति। भवदुत्तरं वाक्यं समार्थम्।

उपनीत इति भूतप्रत्ययनिर्देशादान्चहिके पि व त्यर्थे भैक्ष्यचरणे यमेव विधिरिति दर्शयति। 'एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिक' इत्यत्रोपनयनप्रकरणमुपसंहरन्नुपयनाङ्गस्यापि भैक्ष्यस्यायमेव विधिरित्याह। अन्यथाकरणादुपनयनाङ्गमेवैतत्साद्यदि वा भूतप्रत्ययसामर्थ्यात्प्रकरणं बाधित्वा व त्यर्थ एव भैक्ष्ये। उपनीयमानस्य तदङ्गं यच्चाहरहव त्यर्थं तत्र सर्वत्रायं धर्मः।।४६।।

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।

भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्।। ५०।।

अन्वय - मातरं स्वसारं वा मातुः निजां भगिनीं वा या च एनं नावमानयेत् प्रथमं भिक्षां भिक्षेत्।

हिन्दी अर्थ - माता या बहन से अथवा माता की सगीं बहन अर्थात् सगी मौसी से और जो इस भिक्षार्थी का अपमान न करे उसमें पहले भिक्षा मांगे।।५०।।

मेधातिथिः। मात्रादयः शब्दाः प्रसिद्धार्थाः। निजा सोदर्या। या चैनं न विमानयेत्। विमानना अवज्ञानम्, 'न दीयत' इति प्रत्याख्यानम्। तथा च ग ह्यम्-, अप्रत्याख्यायिनमग्रे भिक्षेताप्रत्याख्यायिनीं वेति'। तदेव हि मुख्यं प्राथम्यं यदुपनीयमानस्य। अहरहस्तु न विमाननाभयमाश्रयणीयम्।। ५०।।

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया।

निवेद्य गुरवे शनीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः।। ५१।।

अन्वय - तत् भैक्षं तु समाहृत्य यावदन्नम् अमायया गुरवे निवेद्य शुचिः प्राङ्मुखः आचम्य अशनीयात्।

हिन्दी अर्थ - उस भिक्षा को आवश्यकतानुसार लाकर जितनी भी वह सामग्री हो उसे निष्कपट भाव से गुरु को निवेदित करके स्वच्छ होकर पूर्व की ओर मुख करके (आचम्य) आचमन करके खाये।। ५१।।

मेधातिथिः। समाहृत्येति शब्दो बह्वीभ्य आहरणं दर्शयति। नैकस्याः सकाशात् बह्व्यो ग्रहीतव्याः। तदिति यस्यान्तरं शब्दसन्निधिः व त्यर्थस्य, न प्राकरणिकस्योपनयनाङ्गस्य। तस्य हि ग ह्यकारैः अनुप्रवचनीयं श्रपयेदिति" विहितं, न भोजनम्। 'तिष्ठेदहः-शेषमिति' च कृतप्रातराशस्य चोपनयनम्। अतो नोपनयनाङ्गं भैषभोजनम्।

यावदर्थं यावता भैक्ष्येण त प्याख्यप्रयोजननिर्वृत्तिः। न बहु भिक्षितव्यम्।

अमायया निवेद्य गुरवे, न कदन्नेन संस्कृतमन्नं प्रच्छाद्य कदन्नं गुरोः प्रकाशयेत्, कदन्नं किल एष न ग्रहीष्यतीत्यनया बुद्ध्या। निवेदनम् 'इदं प्राप्तमिति' प्रकटीकरणम्। अग हीते गुरुणा अनुज्ञातो अशनीयात्।

कथं पुनर्निवेदनमद ष्टसंस्कारार्थमेव न भवति ? इतिहासप्रामाण्यात्। तथा च भगवान् व्यासः। स्त्रितकूपाख्याने 'गुरुणा ग हीतमिति' दर्शितवान् अनुज्ञातो भु जीतेति यत्त्वचिद्ग ह्ये-धूयते। आचम्य

प्राङ्मुखः। “आचमने प्राङ्मुखतेयमानन्तर्यादिति” केचित् तदयुक्तम्। ‘प्रागुदङ्मुख’ इत्याचमने दिङ्नियमो भविष्यति। तस्माद्भोजनेनैव सम्बन्धः।

शुचिः। चाण्डालादिदर्शनमशुचि देशाक्रमनिष्ठीवनादि कृताचमनस्य भोजनकाले नेन निषिध्यते।। ५१।।

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः।। ५२।।

अन्वय - प्राङ्मुखः आयुष्यं भुङ्क्ते दक्षिणामुखः यशस्यं भुङ्क्ते प्रत्यङ्मुखो श्रियं भुङ्क्ते उदङ्मुखः ऋतं भुङ्क्ते।

हिन्दी अर्थ - पूर्व की ओर मुख करके खाने वाला अधिक आयु को भोगता है, दक्षिण की ओर मुख करके खाने वाला अधिक यश को पाता है, पश्चिम की ओर मुख करके खाने वाला धन को भोगता है और उत्तर की ओर मुख करके खाने वाला सत्य को प्राप्त करता है।। ५२।।

मेधातिथिः। निष्कामस्य प्राङ्मुखस्य भोजनं विहितं नित्यतया। इदानीं काम्या विधय उच्यन्ते। आयुषे हितं आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते इति। यदि तद्भोजनादायुः प्राप्यते तत आयुष्यं तद्भवति, तेनायमर्थः सम्पद्यते ‘आयुष्कामः प्राङ्मुखो भु जीत’। अधिकारद्वयं प्राच्यां, नित्यं काम्यं च। आयुष्कामः फलमभिसन्दधीत। इतरस्तु न तथेति। यथा नित्यमग्निहोत्रम्, स्वर्गकामस्य चासकृत्प्रयोगात्तन्त्रेण फलकामस्य नित्यो प्यधिकारो निर्वर्तते।

एवं यशःकामो दक्षिणामुखः। इमे काम्या एव विधयः। श्रियमिच्छन् श्रियन् क्यजन्ताच्छता कृतः। श्रियै हितं वा श्रियमिति मकारान्तः पाठः, आयुष्यादिवत्। प्राण्यङ्गत्वात्स्वार्थे भुजिर्वर्तते। तथा ऋतं भुङ्क्ते इति। श्रियं भोजनात्प्राप्नोतीति। तथा च द्वितीयान्तः पाठः श्रियमिति। तादर्थ्ये वा चतुर्थी ‘श्रियै प्रत्यगिति’।

ऋतं सत्यं यज्ञश्च, तत्फलं वा स्वर्गः। स्वर्गकाम उदङ्मुखो भु जीत। अन्तरेणापि निधिप्रत्ययमप्राप्तत्वाद्ध्व्यर्थवागतिः प चमलकारादिकल्पनया। एवमेतद्विग्विभागेनभोजनं फलविशेषार्थम्। विदिग्भोजनं त्वर्थप्राप्तं नित्येन प्राङ्मुखतानियमेनापोद्यते।

अयं च काम्यो विधिर्न ब्रह्मचारिण एव भैक्ष्यभोजनविषयः, अपि तु ग हस्थादीनामपि भोजनमात्राश्रितः। तथा चाशनीयादिति प्रकृते भुङ्क्ते इत्याख्यातान्तरनिर्देशो लिङ्गम्। इतरथा शनीयादिति यतो निःसन्दिग्धा प्रकृतविषयता प्रतीयते तदेव निरदैक्ष्यत्। भुङ्क्ते इति तु निर्देशो-किं प्रकृत एवार्थः शब्दान्तरेण निर्दिष्ट, उत शब्दार्थतया भोजनमात्रमिति सन्देहे-आख्यातव तावर्थान्तरावगतिर्न प्रकृतप्रत्यभिज्ञानमेव।

यत्तु “विधिप्रत्ययाभावादर्थवाद एवायं पूर्वशेष” इति चोक्तः परिहारः ‘वचनानि त्वपूर्वत्वादिति’। न च पूर्वकवाक्यताहेतुर्विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वादिरस्ति। यद्यप्युत्तरेषां चैतदवरोधीजत्यनेनातिदेशेन ब्रह्मचारिधर्मोऽपि पुरुषमात्रविषयः स्यात्फलं तु न स्यात्। गुणकामनायां हि नातिदेशात्प्रवृत्तिमन मन्यन्ते। ‘गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्’ ‘खादिरं वीर्यकामस्येति’ विकृतिषु नेष्यते कैश्चित्।। ५२।।

उपस्प श्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।

भुक्त्वा चोपस्प शेत्सम्यग्दिभः खानि च संस्प शेत्।। ५३।।

अन्वय - द्विजः नित्यं उपस्प श्य समाहितः अन्नम् अद्यात् भुक्त्वा च सम्यक् उपस्प शेत् अदिभः खानि संस्प शेत्।

हिन्दी अर्थ - द्विज प्रतिदिन आचमन करके एकाग्र मन से भोजन खाये और अच्छी प्रकार कुल्ला करे तथा जल से नाक, मुख, नेत्र आदि इन्द्रियों का स्पर्श करे अर्थात् धोये।। ५३।।

मेधातिथिः। आचमनोऽप्यशुचि शतशब्दौ समानार्थौ शुद्धार्थसंस्कारविशेषवचनौ शिष्टव्यवहारादवगम्येते। यद्यपि स्प शतित्थान्तरे पठितश्चमुरप्यदनमात्रे, तथापि विशेष एव सोपसर्गयोः प्रयोगदर्शनात्तदर्थतैव प्रतीयते। स्प शेः सामान्यविषयत्वेऽपि प्रयोगो नियामकः। गडिर्वदनैकदेशे पठ्यते। स च कपोल एव

गण्ड इति प्रयुज्यते, नैकदेशान्तरे। 'पुष्यसिद्धचौ (पा० सू० ३।१।११६) नक्षत्रमात्रे पठ्येते, विशेषे च वर्तते। धाय्याशब्दः सामिधेनीमात्रे पठ्यते आवापिकीषु च वर्तते। अतो प एवाचम्येत्यर्थः। एवोपस्प श्येत्यस्यापि। स च परस्ताद्विधायिष्यते। सामानाधिकरण्यं चानयोद'श्यते नित्यकालमुपस्प श्चेदित्यभिधाय त्रिराचामेदित्याह। अतः समानार्थः।

उक्ते प्याचम्येति भोजनार्थतया चमने पुनर्वचनमानन्तर्यार्थम्, अनन्तरमेव भु जीत, न व्यापारान्तरेण व्यवदधीत। तथा च भगवान्यासः - "प चार्द्रा भु जते नित्यं तेषु वत्स्याम्यहं हरे"।। श्रीः किलैवमाह। द्वौ हस्ती द्वौ च पादावास्यं च एषा प चार्द्रता। सा चोपस्पर्शनानन्तरं भु जानस्य भवति, न विलम्बमानस्य। इहापि वक्ष्य'त्यार्द्रपादस्तु भु जीतेति' स्नातकव्रतेषु। तस्यापौनरुक्त्यं च वक्ष्यामः। नित्यग्रहणं प्रकरणाद् ब्रह्मचारीभोजनधर्मो मा विज्ञायि, भोजनमात्रधर्मो यथा स्यादुपदेशत एव। अत्र द्विजग्रहणं भोक्त मात्रधर्मार्थं चाहुः नित्यग्रहणं चानुवादम्। न ते शम्यङ्मन्यते। यदि द्विजशब्दः प्रकृते ब्रह्मचारिणि न समाविशेत्तदा स्यादपि यदा तु तस्याप्येतदभिधानं तदा नान्तरेण नित्यग्रहणं प्रकरणबाधो लभ्यते। समाहितः। भुज्यमानं द्रव्यं स्वात्मशक्तिं चावेक्षमाणः। अन्यचेतस्कस्य हि गुरुविरुद्धविदाहिवर्जनं सात्म्यभोजनं च न स्यात्। भुक्त्वा चोपस्प शेत्। स्नेहादिलेपापनयनं द्रव्यशुद्धावुक्तम्। कृते तस्मिन्भुक्तवत इदमाचमनं विधीयते।

अत्र केचिन्मन्यन्ते-"शुद्धचर्थमेकमाचमनम्, 'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा चेति' अनेनाद ष्टार्थं द्वितीयं कर्तव्यम्। एवं च पठ्यते, "आचान्तः पुनराचमेदिति। एतत्प चमे स्थापयिष्यामः। सम्यगिति वैधतामाचमनपदार्थस्यानुवादति। 'याद शो विधिरुक्तस्तं सर्वमनुतिष्ठेत्'। आदिभः खानि च संप शेत्। खानि छिद्राणि शीर्षण्यानि।

ननु चैतदुक्तमेव, 'खनि चैव स्प शेददिभरिति'। आत्मशिरसो व्याव त्थमिति केचित्। यदा शुचिः सप्तभोजनार्थतयैवाचामति। येषां च भोजनोत्तरकालमेकं शुद्धचर्थमाचमनमपरमद ष्टार्थं तत्राद ष्टार्थं आत्मशिरसी न स्प श्येते, शुद्धचर्थं तु ताद शमुत्पन्नम्। तस्य सम्पूर्णाङ्गस्य प्रयोगो वक्ष्यते (६१ श्लो०) "शौचेप्सुः सर्वदा चामेदिति"। यद्वा विधिप्रत्यभिज्ञानार्थ-शास्त्रीयमेतदाचमनं न लौकिकमिति। ज्ञाताङ्गविशेषसम्बन्धस्य तदङ्गिनिर्देशे तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानसिद्धिः। अतश्च यत्राचामेदिति श्रुतं तत्र न यस्य कस्यचिद्द्रव्यस्य भक्षणमात्रं प्रतीयते, किं तर्हि शास्त्रीयस्य संस्कारस्य सपरिकरस्येति यदुक्तं तद्दर्शितं भवति।। ५३।।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।

द ष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः।। ५४।।

अन्वय - नित्यं अशनं पूजयेत् एतत् च अकुत्सयन् अद्यात् द ष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेत् च सर्वशः च प्रतिनन्देत्।

हिन्दी अर्थ - प्रतिदिन खाते हुए भोज्य पदार्थ का आदर करे और इसे निन्दाभाव से रहित होकर अर्थात् श्रद्धापूर्वक खाये भोजन को देख कर मन में उल्लास आर प्रसन्नता की भावना करे तथा उसकी सर्वदा प्रशंसा करे।। ५४।।

मेधातिथिः। अश्यत इत्यशनं भक्तसक्त्वपूपाद्युच्यते। तदशनार्थमानीतं देवतारूपेण पश्येत्। 'एषा वै परम देवता यदन्नम्'। तस्य सर्वेषां भूतानां ऋष्ट त्वेन स्थितिहेतुतया च यद्दर्शनं सा स्य 'पूजा'। अथवा प्राणार्थत्वेन भावनम्-'ध्यायन्मम तदर्थत्वं सम्पूजयति मां सदेति'। नमस्कारादिना वा प्रणम्य ग्रहणं पूजा।

अद्याच्चैतदकुत्सयन्। कदन्नतया, दुःसंस्कारोपग्रहणेन वा कुत्साहेतुसम्भवे नात्र कुत्यसेत्। किमिदमश्यते, अरुचिकरं, धातुवैषम्यजनकमित्येवमादिना भिधानेन नाक्षिपेत्। यदि तु तद्रूपं भवति तदा नाद्यान्न कुत्सयन्नद्यात्।

द ष्ट्वा हृष्येत्। पुत्रस्त्र्यादिसन्दर्शनेन चिरप्रवासप्रत्यागत इव तुष्येत प्रीयेत। प्रसीदेच्च। निमित्तान्तरजमपि कालुष्यमन्नदर्शनेन हित्वा मनःप्रसादमाश्रयेत्। प्रतिनन्देच्च। सम ऋच्यशाशंसनं प्रतिनन्दम्। 'नित्ययुक्ता

एतेन स्याम' इत्यादरोपदर्शनमभिनन्दम्। सर्वशः सर्वदा। 'अन्यतरस्यामिति'। व्यवस्थितविभाषा-
विज्ञानात्सप्तम्यर्थे शस् कर्तव्यः। सर्वदेति वा पठितव्यम्॥ ५४॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।

अपूजितं तु तद्भुक्तभुभयं नाशयेद्विदम्॥ ५५॥

अन्वय - हि अपूजितं अशनम् नित्यं बलं ऊर्जं च यच्छति तत् अपूजितं तु भुक्तम् इदं उभयं
नाशयेत्।

हिन्दी अर्थ - क्योंकि श्रद्धा-आदरपूर्वक किया हुआ भोजन सदैव बल और स्फूर्ति देने वाला
होता है और वह अनादरपूर्वक खाया हुआ इन दोनों, बल और स्फूर्ति को नष्ट करता है॥
५५॥

मेधातिथिः। पूर्वविधिशेषो यमर्थवादः, न तु फलविधिः। फलविधौ हि काम्यो यं विधिः स्यादूर्जकामस्य
बलकामस्य च। ततश्च नित्यशब्दो नोपपद्येत 'पूजितं ह्यशनं नित्यमिति'। अतो यं यावज्जीविकः
प्राङ्मुखतावन्नियमः।

अपूजितं भुक्तं ह्युभयं नाशयेद्बलमूर्जं च। बलं सामर्थ्यमनायासेन भारोद्यमनादिशक्तता। कृशस्याप्यूर्जं
महाप्राणता। अङ्गोपचयः महाकायो महाबलश्च भवति॥ ५५॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्यादेतत्तथान्तरा।

न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्॥ ५६॥

अन्वय - कस्यचित् उच्छिष्टं न दद्यात् तथा एव च न अन्तरा अद्यात् न चैव अत्यशनं कुर्यात्
उच्छिष्टश्च न क्वचिद् व्रजेत्।

हिन्दी अर्थ - न किसी को अपना झूठा पदार्थ दे और उसी प्रकार न किसी भोजन के बीच
आप खावे, न अधिक भोजन करे और न भोजन किये पश्चात् हाथ मुख धोये बिना कहीं इध-
र-उधर जाये॥ ५६॥

मेधातिथिः। पात्रीस्थमन्नमास्यर्शदूषितमुच्छिष्टमुच्यते। तत्र कस्यचिद्दद्यात् अनेनैव सिद्धे स्नातकव्रतेषु
यः शूद्रविषयः प्रतिषेधः स तत्रैव निरूपयिष्यते। चतुर्थ्यां प्राप्तायां षष्ठीसम्बन्धमात्रनिषेधार्था। ये पि
दत्तमिदमस्मभ्यमिति न निदुस्तेषामपि भोजनाय न प्रकल्प्यं श्वबिडालादीनाम्। न ह्यत्र ददात्यर्थः
परिपूर्णः स्वत्वनिवृत्तिमात्रं दातुः, परस्य सत्त्वापत्तिर्नास्ति।

अन्तराशब्दो मध्यवचनः। द्वौ भोजनकालौ सायं प्रातश्च। ततो न्यस्मिन्काले न भुंजीत। अथवा
व्यवधाने अन्तराशब्दः। त्यक्तभोजनव्यापारः क्रियान्तरेण व्यवधाय पुनस्तदेव प्राक्पात्रगृहीतं न
भुंजीत। स्मृत्यन्तरे तु विशेषः पठ्यते 'उत्थानाचमनव्यापेतमिति'। केचित्तु विच्छेदमन्तरमाचक्षते।
'सव्येन पाणिना पात्रमन्वालय्य दक्षिणेनावदाय प्राणयास्ते जुहीतीति' श्रूयते। तत्र यः सव्येन
पात्रस्यानुग्रहस्तदनन्तरम्।

न चैवात्यशनमतिमात्रमशनं कुर्यात्। एतच्चानारोग्यकारणं गुरुविरुद्धादीनां प्रदर्शनार्थम्।
हेतूपदेशान्मात्राशितायाश्चायुर्वेदादतिमात्रता बोद्धव्या, यावदशितमन्नमुदरपूरं न करोति सम्यग्जीर्यति
तावदशितव्यम्। त्रयः कुक्षेर्भागाः, अध्यर्धमन्नस्य, भागार्धं पानस्य, भागो दोष (वायु) स चाराय।
अन्यथा नारोग्यम्।

न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत्। अतश्चोच्छिष्टमपनीय शुचित्वमापादिते तस्मिन्नेव देशे आचान्तव्यम्॥ ५६॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।

अपुण्यं लोकविद्धिष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ५७॥

अन्वय - अतिभोजनम् अनारोग्यम् अनायुष्यमस्वर्ग्यम् अपुण्यं लोकविद्धिष्टं च तस्मात् तत्
परिवर्जयेत्।

हिन्दी अर्थ - अधिक भोजन करना स्वास्थ्यनाशक, आयुनाशक, सुखनाशक अहितकर और लोगों द्वारा निन्दित माना गया है इसलिए उस अधिक भोजन करने को छोड़ देवे।। ५७।।

मेधातिथिः। दष्टमूलतामत्यशनप्रतिषेधस्याचष्टे। अनारोग्यं व्याध्युत्पत्तिर्ज्वरोदरादिपीडा। विषूचिकादिना जीवितनाश अनायुष्यम्। सर्वत एवात्मानं गोपायेदिति शरीरपरिरक्षादिव्यतिक्रमादस्वर्ग्यम्। नरकप्राप्तिः स्वर्गाभावेन प्रतिपद्यते। अपुण्यं दौर्भाग्यकरम्। लोकविद्विष्टं बहुभोजितया निन्द्यते। तस्मात्कारणादत्यशनं परिवर्जयेन्न कुर्यात्।। ५७।।

ब्राह्मण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्य शेत्।

कायत्रैदशिकाभ्यां वा, न पित्रेण कदाचन।। ५८।।

अन्वय - विप्रः नित्यकालम् ब्राह्मणेन तीर्थेन कायत्रैदशिकाभ्यां वा उपस्य शेत्, पित्रेण कदाचन न।

हिन्दी अर्थ - द्विज प्रतिदिन आचमन करते समय ब्राह्मतीर्थ (हाथ के अंगूठे के मूलभाग का स्थान, जिससे कलाई भाग की ओर से आचमन ग्रहण किया जाता है) से अथवा कायतीर्थ=प्राजापत्य (कनिष्ठा अंगुली के मूलभाग के पास का स्थान) से या त्रैदशिक=देवतीर्थ (अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान) से आचमन करे, पितृ तीर्थ (अंगूठे तथा तर्जनी के मध्य का स्थान) से कभी आचमन न करे।। ५८।।

मेधातिथिः। तीर्थशब्देन पवित्रमुदकाधिकरणमुच्यते। तारणाय पापप्रमोचनाय च तिष्ठतीति क्वचित्तु तरन्त्यनेनेति तीर्थमुदकावतरणमार्गः। इह तूदकाधारकरतलैकदेश उच्यते। स्तुत्या च तीर्थशब्दप्रयोगः। न हि तत्र नित्यस्था आपः। तेन उपस्य शेदाचामेत्।

ब्राह्मणेत्येतदपि स्तुत्यर्थमेव। ब्रह्मा देवता स्येति। न हि तीर्थस्य देवता भवत्ययागरूपत्वादमन्त्रत्वाच्च। यागरूपतां च केनचिद्धर्मेण शुद्धिहेतुत्वादिना ध्यारोप्य देवतातद्धितः। नित्यकालं शौचार्थं कर्माङ्गे च। कः प्रजापतिः, स देवता स्येति 'कायम्'। एवं त्रिदशा देवता अस्येति 'त्रैदशिकम्'। त्रिदशशब्दाद्देवता णिकृते स्वार्थे 'कः'। देवतात्वं च पूर्ववत्। एभिस्तीर्थैरुपस्य शेत्। विप्रग्रहणमविवक्षितम्। यतः क्षत्रियादीनां विशेषं वक्ष्यति। न चासत्यां सामान्यतः प्राप्तौ विशेषविधानमुपपद्यते, 'कण्ठागाभिस्तु भूमिप' इत्यादि।

न पित्रेण पितृ दैवत्येन कदाचिदपि। स्फोटपिटकादिना ब्राह्मादितीर्थेष्वयोग्यतामायातेष्वपि।

"ननु चाविधानादेव पितृस्यप्राप्तिः" अस्त्यत्राशङ्का। पितृ तीर्थज्ञापनार्थं तावत्पितृ तयोरध इत्यवश्यं वक्तव्यम्। न च तस्येह कार्यं निर्दिश्यते। कार्याकाङ्क्षायाम् प्रकृतत्वात्तेन कार्येण सम्बन्ध आशङ्क्येत। अद्य पुनः प्रतिषेधे सति 'पितृ'मिति समाख्ययैव कार्यावगतिः, उदकतर्पणादि पितृ कर्म एतेन तीर्थेन कर्तव्यम्। एवं स्तुतिरन्वयिनी भवति। श्रुतिचोदितत्वाच्च ब्राह्मादीनां, तदभावे प्राप्ताशंकां नित्यं युक्तमस्याभिधानम्।। ५८।।

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।

कायमङ्गुलिमूले ग्रे दैवं पितृ तयोरधः।। ५९।।

अन्वय - अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते अङ्गुलिमूले कायम् अग्रे दैवम् तयोः अधः पितृ तयोरधः प्रचक्षते।

हिन्दी अर्थ - अंगूठे के मूलभाग के नीचे का स्थान ब्राह्मतीर्थ अंगुलियों के मूलभाग का स्थान कायतीर्थ अंगुलियों के अग्रभाग का स्थान देवतीर्थ और अंगुलियों और अंगूठे का मध्यवर्ती मूल भाग का स्थान पितृ तीर्थ कहा जाता है।। ५९।।

मेधातिथिः। अङ्गुष्ठस्य मूलमधोभागः। तस्य तलप्रदेशो ब्राह्मं तीर्थम्। हस्ताभ्यन्तरं तलमाह। महारेखान्तमभिमुखमात्मनो ब्राह्मं हस्तमध्ये। अङ्गुलीनां मूले दण्डरेखाया ऊर्ध्वं 'कायम्'। अग्रे अङ्गुलीनां 'दैवम्'। एवमुपसर्जनीभूतो पि मूले अङ्गुलिशब्दः सापेक्षत्वादग्रशब्दे सम्बध्यते। पितृ तयोरधः। अत्रापि गुणीभूतस्याङ्गुलिशब्दस्याङ्गुष्ठस्य च सम्बन्धः। प्रदेशिनी चात्राङ्गुलिर्विवक्षिता।

तयोरध अन्तरं 'पित्र्यम्'।

स्म त्यन्तरशिष्टप्रसिद्धिसामर्थ्यादेवं व्याख्यायते। यथाश्रुतान्वयासम्भवात्। तथा च शङ्खः-
"अङ्गुष्ठस्याधरधः प्रागग्रायाश्च रेखाया 'ब्राह्मं' तीर्थं, प्रदेशिन्यङ्गुष्ठयोरन्तरा 'पित्र्यं' कनिष्ठातलयोः
पूर्वेण पर्वणा 'कायं' अग्रमङ्गुलीनां दैविकमिति"।। ५६।।

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रम ज्यात्ततो मुखम्।

खानि चैव स्प शेददिभरात्मानं शिर एव च।। ६०।।

अन्वय - पूर्वं अपः त्रिः आचमेत् ततः मुखं द्विः प्रम ज्यात् खानि च शिरश्चैव अदिभः स्प शेत्।

हिन्दी अर्थ - पहले जल का तीन बार आचमन करे उसके बाद मुख को दो बार धोये और नाक, कान, नेत्र आदि इन्द्रियों को हृदय ओर सिर को भी जल से स्पर्श करे।। ६०।।

मेधातिथिः। अन्यतमेन तीर्थेन त्रिरप उदकमाचामेदास्येन जठरं प्रवेशयत्।

तत उदकभक्षणादनन्तरं द्विरभ्यासेन मुखम् ओष्ठद्वयं परिम ज्यात् ओष्ठशिल्लानामुदकावयवानां
सोदकेन हस्तेनापनयनं 'प्रमार्जन'मत्र। "कुतः पुनर्हस्तेनेति।" समाचारातीर्थाधिकाराद्वा। 'तीर्थेनैवादिभरि'ति
चोत्तरत्र श्रुतमत्राप्यकृष्यते। द ष्टार्थत्वाच्च प्रमार्जनस्य मुखशब्द एकदेशे यथोक्ते वर्तते।

खानि छिद्राणि चोपस्प शेददिर्भस्तग हीताभिः स्पर्शनमेवोपस्पर्शनम्। मुखस्य च प्रकृतत्वान्मुख्यानामेव
खानामेष स्पर्शनविधिः। गौतमश्चाह "खानि चोपस्प शेच्छीर्षण्यानि।" आत्मानमिति हृदयं नाभिं वा
निर्दिशति। उपनिषत्सु हि "अन्तर्हृदयमात्मानं पश्येदिति" कथ्यते। अतो हृदयस्यायं स्पर्शः क्षेत्रज्ञस्यात्मनो
विभोः। अमूर्तस्य न स्पर्शसम्भवः। 'नाभिमालभेतेति' क्वचित्स्मर्यते; तेन नाभि मन्यामहे। शिरः
प्रसिद्धम्।

स्म तीनां चौकार्थ्या'दामणिबन्धात्पाणी प्रक्षाल्ये'त्येवमादि लभ्यते। तथा अशब्दकरणं वाङ्मनियमः
पादाभ्युक्षणम्। महाभारते प्रक्षालनमपि पादयोर्द्रशितम्।। ६०।।

अनुष्णाभिरफेनाभिरदिभस्तीर्थेन धर्मवित्।

शौचेप्सुः सर्वदा चमेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः।। ६१।।

अन्वय - शौचेप्सुः धर्मवित् अनुष्णाभिः अफेनाभि अदिभः एकान्ते प्रागुदङ्मुखः सर्वदा तीर्थेन
आचमेत्।

हिन्दी अर्थ - पवित्रता का इच्छुक धर्मात्मा व्यक्ति टंडे, झागरहित जल से एकान्त स्थान में
पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके सदैव तीर्थस्थान से ही आचमन करे।। ६१।।

मेधातिथिः। उष्णशब्दः क्वाथोपलक्षणार्थः। तथा हि पठ्यते 'अश्र ताभिरदिभरिति'। एवं च ग्रीष्मोष्मत्पाः
स्वभावोष्णाश्च न प्रतिषिध्यन्ते। फेनग्रहणं बुद्बुदानामपि प्रदर्शनार्थम्। पठितं च 'हीनाभिः फेनबुद्बुदैरिति'।
तीर्थेन धर्मविदिति व तत्पूरणमेव। शौचमाप्तुमिच्छुः शौचेप्सुः। शुद्धिकाम इत्यर्थः। नान्यथा शुद्धो
भवति। सर्वदा। न प्रकरणाद्भोजन एव, किं तर्हि ? रेतोविण्मूत्रादिशुद्धिष्वपि। अपां भक्षणे
कर्मत्वात्त तीयानिर्देशो न भक्ष्यमाणानामेवायं धर्मो पि तु कारणभूतानामपि पादाभ्युक्षणादौ। वयं तु
ब्रूमो भक्षणे पि कारणमेवापो, न हि तासामाचमनं संस्कारः।

एकान्ते शूचौ देशे। एकान्तो हि जनैरनाकीर्णः प्रायेण शूचिर्भवति।

प्रागुदङ्मुखः। मुखशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। "प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा" एवं हि गौतमेन पठितम्।
विग्रहश्चैवं कर्तव्यः प्रागुदङ्मुखमस्येति। नायं द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिरपि तु बहुव्रीहिरेव। द्वन्द्वगर्भतायां-समाहारे
समासान्तेनाकारेण भवितव्यम्। इतरतरयोगो पि नैव। न हि युगपदुभयदिङ्मुखता सम्भवति। तत्र
कश्चिदाचमनभागः प्राङ्मुखेन कर्तव्यः कश्चिदुदङ्मुखेनेत्यापतति, न चैकदेशे आचमनम्। न च
दिगर्थ उपादेयो येन परस्परापेक्षे सम्बन्धेयाताम्। नापि दक्षिणपूर्वादिवत्प्रागुदङ्मुखो पराजिताया
दिशो वाचकत्वेन प्रसिद्धो येन दिक्समासबहुव्रीहिर्जायते। तस्मान्नायं व त्यन्तरगर्भो बहुव्रीहिः।

अतो विकल्पः। उदाहृतं च स्म त्यन्तरे “प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा शौचमारभेति”। यथा “ब हद्रथन्तरसाम षडह” इति केषुचिदहःसु ब हत् केषुचिद्रथन्तरम्; न त्वेकस्मिन्नहनि समस्तोभयसामत्वम्॥ ६१॥

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।

वैश्यो दिभ प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्प ष्टाभिरन्ततः॥ ६२॥

अन्वय - विप्रः हृद्गाभिः भूमिपः कण्ठगाभिः वैश्यः प्राशिताभिः शूद्रः अन्ततः स्प ष्टाभिः अदिभः पूयते।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण हृदय तक गए हुए क्षत्रिय कण्ठ तक गए हुए, वैश्य मुख में गए हुए, शूद्र ओठों से स्पर्श किए हुए आचमन के जल से पवित्र होता है॥ ६२॥

मेधातिथिः। उक्तमाचमनं तीर्थेनापां भक्षणम्। परिणामं तु नोक्तमतस्तदवधारणार्थमाह-

हृदयं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ‘हृद्गाः’। ‘अन्येष्वपि द श्यत’ (पा० सू० ६।२।१०१) इति गमेर्दः। ‘हृदयस्य हृदिति’ (पा० सू० ६।३।५०) योगविभागाद् दादेशः।

पूयते पवित्रतां प्राप्नोत्यशुचित्वं व्यावर्तते। आप ईषदूनचुलुकमात्रप्रमाणाः।

कण्ठागाभिसताभिः कण्ठमात्रव्यापिनीभिः भूमिपः क्षत्रियः। भूमेराधिपत्यं क्षत्रियस्य विहितम्। तेन प्रसिद्धेन कर्मणा क्षत्रियजातिर्लक्ष्यते। आधिपत्यविवक्षायां राजधर्मेष्वावक्ष्यत्। वैश्यः प्राशिताभिरन्तरास्यप्रवेशिताभिः। कण्ठमप्राप्ता अपि शुद्धिहेतवो वैश्यस्य।

शूद्रः स्प ष्टाभिरन्तत अन्तेनेति। आद्यादित्वात् तीयार्थे तसिः। अन्तशब्दो यं समीपवचनो स्ति। ‘उदकान्तं गत’ उदकसमीपमिति गम्यते। अस्त्यवयववचनः। ‘वस्त्रान्तो’ ‘वसनान्त’ इत्युभयत्रापि वर्तमानः सम्बन्धन्तरमपेक्षयते, कस्य समीपं कस्य वा वयव इति। तत्रेह येन स्थानेन वर्णान्तराणामाचमनं विहितम्, तीर्थेर्जिह्वौष्ठेन च तदन्तेनेति प्रतीयते। समीपवचनस्तु न सम्भाव्यः विधीयमानस्याचमनस्य तत्साध्यत्वासम्भवात्। स्पर्शं पि प्राशनमस्ति।

जिह्वौष्ठेन हि स्प श्यमानस्य रसास्वादनमवश्यम्भावि। तत्र वैश्यपरिमाणान्ति चिन्त्यूनता त्र विवक्षिता। जिह्वामूलं यावद्वैश्यस्य; जिह्वाग्रं शूद्रस्य। द्रवत्वादुदकस्यापरिहार्यो वध्यतिक्रमः, अवध्यप्राप्तौ त्वशुद्धिः।

सर्वश्चायं तीर्थविभागो दक्षिणहस्तस्य उपस्पर्शने हस्तस्यौचित्याद्दक्षिणाचारतायाश्च पुरुषधर्मतया विहितत्वात्। एवमर्थमेव चास्मिन्नवधाविदमुच्यते॥ ६२॥

उद्ध ते दक्षिणे पाणानुपवीत्युच्यते द्विजः।

सव्ये प्राचीन आवीति निवीती कण्ठसज्जने॥ ६३॥

अन्वय - द्विजः दक्षिणे पाणौ उद्ध ते उपवीत् सव्ये प्राचीन आवीति कण्ठसज्जने निवीती उच्यते।

हिन्दी अर्थ - द्विज द्वारा दाहिने हाथ को ऊपर रखने की अवस्था में अर्थात् यज्ञोपवीत को दायें हाथ और कन्धे के नीचे लटका कर तथा बायें कन्धे के ऊपर रखकर पहनने की अवस्था में ‘प्राचीन आवीति’ और गले में माला के समान पहनने की अवस्था में ‘निवीती’ कहलाता है। ६३॥

मेधातिथिः। “ननु च लोकतः सिद्धाः पदार्था धर्मशास्त्रे प्याश्रीयन्ते। न पदार्थसंविज्ञानार्थानि मन्वादिवाक्यानि, व्याकरणाभिधानकाण्डस्म तिवत्”। उक्तमस्माभिर्यो नातिप्रसिद्धो र्थस्तं चेल्लक्षयन्ति किमुपालम्भमर्हन्ति। अस्ति चात्र किंचित्प्रयोजनमन्यदपि। आचमनक्रममुच्यमानमुपसंब्यानादिकमाचमनाङ्गं यथा विज्ञायेत। यद्यप्युपवीतधारणं व्रतार्थतया पुरुषार्थतया वा सर्वदा प्राप्तं तथापि तेन विना चमनं कृतमप्यपरिपूर्णमेव स्यात्। असत्यस्मिन्वचने व्रते वैगुण्यं पुरुषदोषश्च स्यात्। अथ पुनरन्तरेणोपवीतमाचमनं कृतमप्यकृतसमं, दोषश्च स्यादप्यशुचिना कृतमपां भक्षणमिति। “कथं पुनः केवलस्योपवीतस्यैवाचमनाङ्गता यावता न्यदप्यत्र निर्दिष्टं प्राचीनावीति च।” उच्यते।

प्राचीनावीतं स्वशब्देनैव पित्र्ये कर्मणि विहितं, तत्रार्थवत्तायामुपयातायां नाकृतार्थनोपवीतेन विकल्पितुमर्हति। निवीतमप्युभिचारे र्थवत्। यद्यप्यत्र निवीतस्य विनियोगो नास्ति, तथापि स्मृतीनां चैकार्थ्यादन्यत्र यो विनियोगस्तेनेहाप्यर्थवत्ता भवत्येव। पाणिग्रहणं बाहूपलक्षणार्थमुद्ध तबाहुयुतो लोके उपवीतीत्युच्यते। सार्वकालिकं चोपवीतं वक्ष्यामः। न च केवलपाणावुद्ध त उपवीती।

सव्ये उद्ध ते प्राचीनावीती। समासपदानामधेयम्। असमासस्तु व तानुरोधितया। कण्ठसज्जने। कण्ठे सज्जने सङ्गः स्थापनम्। यदा वस्त्रस्य सूत्रस्य नान्यतरो पि बाहुरुद्धियते तदा निवीती भवति।। ६३।।

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।

अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्।। ६४।।

अन्वय - मेखलामजिनं दण्डं उपवीतं कमण्डलुम् विनष्टानि अप्सु प्रास्य अन्यानि मन्त्रवत् गृह्णीत्।

हिन्दी अर्थ - मेखला, म गचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु इनके बेकार होने पर इन्हें बहते जल में फेंककर दूसरे नयों को मन्त्रपूर्वक धारण करे।। ६४।।

मेधातिथिः। विनष्टानामप्सु प्रासनमन्येषां च ग्रहणमत्र विधीयते। प्रासनग्रहणयोः पौवापर्यं यथाश्रुतमेव। अस्माच्च पुनरुपादानान्नेषामुपनयनाङ्गतैव।

“अथ किमुपनयनकाल एव प्राक्कर्मनिष्पत्तैः दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबलाद्धिनष्टानां प्रतिपत्तिर्न सम्भवति। प्रयोगसमाप्त्यर्थं च पुनरुपादानं, यथा कपालस्य; येनैवमुच्यते अस्मात् पुनरुपादानाद्वारणमनुमीयते।”

उच्यते। ग्रहणं तावद्दण्डस्य चोदितं, मेखलाया बन्धनम्। तत्र सूत्रस्य विन्यासस्तावदुपनयनाङ्गत्वेनावश्यं कर्तव्यम्। कृते तस्मिन्कृतः शास्त्रार्थः। उत्तरकालं किं तैर्नष्टैरनष्टैर्वा। अङ्गनाशे च प्रतिपत्तिविशेषः कर्मोपकारको भवति। न च तेषां किं चन कार्यमाम्नातं येन तत्सिद्धयर्थं विशिष्टे काले वाचनिकमुपादानम्। अकृतत्वाच्च कार्यस्य तत्प्रयुक्तं पुनरुपादानमर्थसिद्धमुच्यते। तस्मात्प्रतिपत्तिविधानादुपादानवचनाच्च धारणमङ्गं, न च प्रयोगापवर्गि। यतः कमण्डलुनोपनयनोत्तरकालानुवर्तिना तुल्यवन्निर्देशात्तेषामप्युत्तरत्रानुवृत्तिः प्रतीयते। सा च व्रताङ्गम्। अत उभयार्था मेखलादयः प्रकरणादुपनयनार्थाः। निवृत्ते चोपनयने दर्शनाद्यावद्ब्रह्मचर्यभाविनः। कमण्डलुश्चोदकार्थः कर्तव्यो स्मादेव प्रतिपत्तिविधानात्। अन्यथा यदा कमण्डलुस्तदेयं प्रतिपत्तिरिति पाक्षिकत्वं स्यात्। तत्र ‘दण्डधारणं प्रतिगृह्य दण्डं भिक्षां चरे’दिति क्रमाद्भैक्ष्यचर्याङ्गत्वमेव प्राप्तं समाचारादभैक्षे र्थे पि भ्रमणं भवत्येव। न तु सर्वदैव करतलध तदण्डस्य स्थानासनशयनभोजनादीनि। तथा च स्वाध्याये ब्रह्मा जलिं वक्ष्यति।

मन्त्रवदित्युपनयनविधिना ग्रहणमनुवदति। तत्र च मेखलाया मन्त्रो, न दण्डस्य।। ६४।।

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।

राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः।। ६५।।

अन्वय - ब्राह्मणस्य षोडशे राजन्यबन्धोः द्वाविंशे वैश्यस्य तत् द्व्यधिके केशान्तः विधीयते।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण के सोलहवें, क्षत्रिय के बाईसवें, वैश्य के उससे दो वर्ष अधिक अर्थात् चौबीसवें वर्ष में केशान्त कर्म =क्षोर मुंडन हो जाना चाहिये।

मेधातिथिः। केशान्तो नाम संस्कारः। स गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य कर्तव्यः। तस्य च स्वरूपपरिज्ञाने गृहमेव शरणम्। द्वे वर्षे धिके यस्य द्वाविंशस्य तस्मिन्द्व्यधिके द्वाविंशे। अथवा कालमात्रमन्यपदार्थः। ततो द्वाविंशाद्द्व्यधिके काले वैश्यस्येति। द्विशब्दस्य च वर्षाण्येव सङ्ख्येयानि। प्रकृतानि हि तानि।। ६५।।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामाव दशेषतः।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।। ६६।।

अन्वय - स्त्रीणां इयम् आव त् शरीरस्य संस्कारार्थं यथाकालं यथाक्रमम् अशेषतः अमन्त्रिका कार्या।

हिन्दी अर्थ - स्त्रियों की यह संस्कार की क्रिया शरीर की पवित्रता के लिए यथासमय और उपयुक्त क्रमानुसार पूर्णतः मन्त्ररहित करनी चाहिये।। ६६।।

मेधातिथिः। इयमाव दशेषतः स्त्रीणाममन्त्रिका कार्या। जातकर्मण आरभ्येयं संस्काराणाम् आव त् परिपाटी, सेतिकर्तव्यताकः संस्कारकलाप इति यावत्। संस्कारार्थं शुद्धचर्त शरीरस्य। पुंसामिव स्त्रीणामपि प्रयोजनमाह यथाकालम्। यस्मिन्काले यः संस्कार उक्तस्तं कालमनतिक्रम्य। पदार्थानतिव तौ 'यथासाद श्ये' (पा० २।१।७) अव्ययीभावः। एवं क्रमे पि द्रष्टव्यम्।

मन्त्रमात्ररहिताया आव तो विहितत्वादयथाकालक्रमप्राप्तिरेव नास्ति। अतो निषेधे नित्यानुवादो व त्पूरणार्थः। एतावद्विवक्षितं स्त्रीणां चैते अमन्त्रिका इति।। ६६।।

वैवाहिको विधि स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्म तः।

पतिसेवा गुरौ वासो, ग हार्थो ग्निपरिक्रिया।। ६७।।

अन्वय - स्त्रीणां वैवाहिकः विधिः वैदिकः संस्कारः स्म तः पतिसेवा गुरौ वासः ग हार्थो अग्निपरिक्रिया (स्म ताः)।

हिन्दी अर्थ - स्त्रियों का विवाह संस्कार उसका वेदोक्त संस्कार कहा है अर्थात् उनके लिए प थक् से उपनयन संस्कार की आवश्यकता नहीं। पति की सेवा करना गुरुकुल वास है। घर के काम ही अग्निहोत्रादि धार्मिक क्रियायें हैं अर्थात् प थक् से उनके लिए गुरुकुल-निवास और यज्ञादि की आवश्यकता नहीं।।६७।।

मेधातिथिः। पूर्वेणाव द्वाचनेन जातकर्मादिवदुपनयने प्यमन्त्रके प्राप्ते तन्निव त्थर्ममारभ्यते। वेदग्रहणार्थो वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो यः स स्त्रीणा वैवाहिको विधिः। विवाहे भवो विवाहविषयो विवाहसाध्यः। अतो विवाहस्योपनयनस्थाने विहितत्वात्तदापतिवचनं विवाहस्य। तस्य च निव त्तिर्यदि विवाहस्तत्कार्यकरः।

हन्तः प्राप्तं वेदाध्ययनं, प्राप्ता च व्रतचर्या। उपनयनं नाम मा भूत्। एतदुभयमपि निर्वतयति पतिसेवा गुरौ वासः। पति यत्सेवत उपचरत्याराधयति स एवास्या गुरौ वसतिः। गुरौ वसत्या ध्ययनं कर्तव्यम्। न चास्या गुरौ वासो स्त्यतः कुतो ध्ययनम्। ग हार्थो ग हकृत्यानि रन्धनपारिणाह्यप्रत्यवेक्षणादीनि यानि नवमे वक्ष्यन्ते (श्लो० ११ "अर्थस्य संग्रहे चैनाम्" इत्यादि। सायम्प्रातर्ब्रह्मचारिणो यत्समिदाधानं तदेवास्या ग हकृत्यम्। अग्निक्रियया च यावान्यमनियमसमूहो ब्रह्मचारिणः स सर्व उपलक्ष्यते।

एवं चैतदुक्तं विवाहस्योपनयनापत्य (र्थ) म्। यथैव पुरुषस्योपनयनात्प्रभ ति श्रोताः स्मार्ता आचारप्राप्ताशश्च विधयो भवन्ति, प्राक्तनं कामचारः कर्माक्षमत्वमेवं स्त्रीणां प्राग्विवाहात्कामचारः, परस्मात् श्रौतस्मार्तैष्वधिकारः।

एवं वा पदयोजना। विवाह एव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनम्। अनुपनयने पि विवाहे भक्त्योपनयनत्वमुच्यते। किं तदुपनयनेन विवाहस्य साम्यं येनास्य तद्वच्यपदेश अत आह पतिसेवेत्यादि।। ६७।।

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।

उत्पत्तिव्य जकः पुण्यः, कर्मयोगं निबोधत।। ६८।।

अन्वय - एष द्विजातीनाम् उत्पत्तिव्य जकः पुण्यः औपनायनिकः विधिः प्रोक्तः कर्मयोगं निबोधत।

हिन्दी अर्थ - यह द्विजातियों के द्वितीय जन्म को प्रकट करने वाली अर्थात् मनुष्यों को द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनाने वाली कल्याणकारक उपनयन संस्कार विधि कही, अब उपनयन में दीक्षित होने वाले द्विज ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों को सुनो।। ६८।।

मेधातिथिः। प्रकरणोपसंहारः-

एतावदुपनयनप्रकरणम्। अत्र यदुक्ते तत्सर्वमुपनयनार्थम्। “ननु केशान्तो प्येवं प्राप्नोति”। न। अतिव ते उपनयने स्वकाले तस्य विधानात्। प्रकरणे पि पठितस्य वाक्यादन्यार्थता भवति। तथा च केशान्तः समाव तस्यापि कैश्चिदिष्यते।

उपनयने भव औपनायनिकः। उत्तरपदस्य दीर्घत्वम् पूर्ववत्। उत्पत्तिः मातापित्रोः सकाशाज्जन्म तां व्यनक्ति प्रकाशयति सगुणतां करोतीत्युत्पत्तिव्य जकः। जातो प्यजातसमो नुपनीतो धिकाराभावात्। अतो यं विधिरुत्पत्तिव्य जकः। पुण्य इत्युक्तार्थः। उनपनीतस्य येन कर्मणा योगः सम्बन्धो धिकारो, यत्तेनोपनीतेन कर्तव्यं, तदिदानीं वक्ष्यमाणं निबोधत।। ६८।।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।

आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च।। ६९।।

अन्वय - गुरुः शिष्यम् उपनीय आदितः आचारम् अग्निकार्यम् सन्ध्योपासनमेव शिक्षयेत्।

हिन्दी अर्थ - गुरु शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके पहले शुद्धि=स्वच्छता से रहने की विधि सदाचरण और सद्व्यवहार अग्निहोत्र की विधि और सन्ध्या-उपासना की विधि सिखाये।। ६९।।

मेधातिथिः। शिक्षयेद्व्युत्पादयेच्छौचमादितः। आदित इति वचनेनाचारादिभ्यः प्रागुपदेशः शौचस्य नेष्यते, किं तर्हानियतक्रमकाः परस्परमेते। केवलमुपनयनानन्तरं व्रतादेशनं वक्ष्यति। आदिष्टवेदव्रतस्य च वेदाध्ययनम्। अतो ग्नीन्धनसन्ध्योपासनयोः समन्त्रकत्वादकृते च वेदाध्ययनम्। अतो ग्नीन्धनसन्ध्योपासनयोः समन्त्रकत्वादकृते व्रतादेशे मन्त्रोच्चारणमप्राप्तं विधीयेत। शौचं चानियतकालं, तदवश्यं तदहरेवोपदेष्टव्यम्। एवमाचारो पि। अत इदमादित इति वचनमादरार्थं न प्रथमोपदेश्यतां शौचस्य विधत्ते। शौचम्-‘एका लिङ्गे’ (अ० ५ श्लो० १३६) इत्याद्याचमनान्तम्। आचारो गुर्वादीनां प्रत्युत्थानासनदानाभिवादानादि। अग्निकार्यं अग्न्याधनकार्यं समित्समिन्धनम्। सन्ध्यायामादित्यस्योपासनं तत्स्वरूपभावनं सन्ध्याया उपासनम्। एवं वा ‘पूर्वा सन्ध्यामित्यादि’ (अग्रे १०१ श्लो०)। एष व्रतधर्मः।।६९।।

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रममुदङ्मुखः।

ब्रह्मा जलिकृतो ध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः।। ७०।।

अन्वय - अध्येष्यमाणः यथाशास्त्रम् आचान्तः उदुङ्मुखः ब्रह्मा जलिः कृतः लघुवासा जितेन्द्रियः अध्याप्यः।

हिन्दी अर्थ - पढ़ने की इच्छा वाला जब शास्त्रोक्त विधि से आचमन कर ले, उत्तर की ओर मुख किये हो, ब्रह्मा जलि (दोनों हाथों को जोड़े हुए) बांधे हो, हलके वस्त्र धारण किये हुए और एकाग्रचित्त हो तब पढ़ाने योग्य होता है अथवा तब पढ़ाना चाहिए।। ७०।।

मेधातिथिः। अध्ययनधर्मानिदानीमाह-

प्रत्यासन्ने भविष्यति ल डयं द्रष्टव्यः। अध्ययने प्रवर्तमानः अध्ययनमारभमाणः अध्येतुमिच्छन्निति यावत्।

उदङ्मुखो ध्यायः। गौतमीये तु “प्राङ्मुखो वा शिष्यः प्रत्यङ्मुख आचार्य” इति (अ० १५० ५५)। आचान्तो यथाशास्त्रमिति। प्रागुक्तमाचमनविधिं स्मारयति।

ब्रह्मा जलिः कृतो येनेति। आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाग्निष्ठान्तस्य परनिपातः। ‘ब्रह्मा जलिकृदि’ति वा पाठः।

लघुवासा धौतवासाः। प्रक्षालनेन लघुनी वाससी भवतः। अतो लघुत्वेन वाससः शुद्धिर्लक्ष्यते। अथवा यं रोमादिस्थूलवसनः चित्तव्याक्षेपे ताड्यमानो न प्रहारं वेदयेत्तश्च न युक्तः पठेत्। अपनीयमाने तु वाससि गुरोः खेदः स्यात्। निरावरणे च काये रज्ज्वादिना ताड्यमानो महतीं बालो

वेदनामनुभवेत्। अतो द ष्टार्थं लघुवासस्त्वम्।

जितानि नियमितानीन्द्रियाण्युभयान्यपि येन स जितेन्द्रियः। न इतस्ततो वीक्षेत, यत्किञ्चिन्न
श गुयादध्ययने वहितो भवेदित्युक्तं भवति।। ७०।।

ब्रह्मारम्भे वसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।

संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्मा जलिः स्म तः।। ७१।।

अन्वय - ब्रह्मारम्भे अवसाने च सदा गुरोः पादौ ग्राह्यौ हस्तौ संहत्य अध्येयम् स हि ब्रह्मा जलिः
स्म तः।

हिन्दी अर्थ - वेद पढ़ने के आरम्भ और समाप्ति पर सदैव गुरु के दोनों चरणों को छूकर
दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करने के बाद पढ़ना चाहिये; इसी हाथ जोड़ने को 'ब्रह्मा जलि'
कहा जाता है।। ७१।।

मेधातिथिः। ब्रह्मशब्दो यमनेकार्थो प्यध्ययनाधिकारादत्र वेदवचनः प्रतीयते। तस्यारम्भे।
निमित्तसप्तम्येषा। अध्ययनाधिकारादेव च तद्विषया ध्ययनक्रिया, तस्यायमारम्भः, प्रथमाव तिः पुरुषस्य।
तत्रेदं पादग्रहणम्। वेदस्य तु यान्याद्याक्षराणि 'अग्निमीळे' 'इषे त्वा' 'अग्न आयाहि' इति न
सो त्रारम्भ उच्यते। नहि तस्य निमित्तभावः सम्भावितः, नित्यत्वात्। कादाचित्कं हि निमित्तं भवति।
तेनैतदुक्तं भवति-वेदाध्ययनमारिप्समानो गुरोः पादसङ्ग्रहणं कुर्यात्कृत्वा ततः स्वाध्यायाक्षराण्युच्चारयेत्
पुनः प्रव ताध्ययनक्रियः पादौ ग हणीयात्।

"ननु चाद्यक्रियाक्षण आरम्भः, स च निमित्तम्। विद्यमानस्य च निमित्तत्वं युक्तं जीवनस्येव। अत्र
गेहदाहाद्यतीतमपि निमित्तं तत्र तथैव श्रवणम्। तस्मात्सहप्रयोग एवाध्ययनपादोसङ्ग्रहणयोर्युक्तः"।
उच्यते। अध्यापनाध्यवसाय 'आरम्भ' उच्यते, नाद्यः क्रियाक्षणः। यदैव गुरुरधीष्वेत्याह तदैवाध्यवस्यति
माणवकः। अतस्तदनन्तरं पादोपग्रहः। उपकारप्रव तस्य गुरोश्चित्तप्रसादनमेतत्। यथा लोके
कश्चिदुपकारप्रव तं सभाजयति वाचा 'ननु त्वया वयमस्मात्पापान्मोचिता' इति। अनक्षरा चयमध्येषणा
'उपसन्नो स्म्यध्ययनायेति'। न हि गुरुरुपरोध्यो ध्यापयेति। केवलमुपसदनमस्य कर्तव्यं
सम्बोधार्थमवसरो ध्ययनस्येति। अतः कृतोपसदनस्य वेदाक्षरोच्चारणम्। अपि च संहत्य
हस्तावध्येतव्यमित्युच्यते। तत्राधीयानः पादोपसङ्ग्रहणहिविधिमतिक्रमेत।

अवसानं समाप्तिरध्ययनादुपरमः। यद्यपि ब्रह्मशब्द आरम्भे गुणभूतस्तथाप्यवसानस्य
सापेक्षत्वात्सन्निहितत्वाद् ब्रह्मपदेनैव सम्बन्धः प्रतीयते, अन्यस्याश्रुतत्वात्।

सदाग्रहणमन्वहं भाविप्रयोगारम्भावसानयोरेष विधिर्यथा स्यादितरथा य एव व्रतादेशानन्तरो मुख्यप्रारम्भः
तत्रैव स्यात् यथा न्वारम्भणीया दर्शपूर्णमासारम्भे चोदिता य एवाधानान्तरभावी दर्शपूर्णमासप्रयोगारम्भः
तत्रैव भवति, न मासिकप्रयोगारम्भे।

प्रातरारभ्य यावदाह्निकं न निव तं प्रपाठकद्वयमात्रपरिमाणं, तावदेकैव सा ध्ययनक्रियेति। अन्तरा
कथ चिद्विच्छेदे पि पुनः प्रव तौ नारम्भशब्दवाच्यता स्तीति, न पुनः पादोपसदनं क्रियते। स्म त्यन्तरे
च पठ्यते "पादोपग्रहणं गुरोः प्रातरन्वहमिति"।

संहत्य-संलग्नो संश्लिष्टौ परस्परं कृत्वा ध्येयम्। कच्छप इव यः संनिवेशो हस्तयोः प्रसिद्धस्तथा
कर्तव्यः। स हि ब्रह्मा जलिः। पदार्थकथनमेतत्।। ७१।।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणं गुरोः।

सव्येन सव्यः स्पष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः।। ७२।।

अन्वय - गुरोः उपसङ्ग्रहणम् व्यत्यस्तपाणिना कार्यम्। सव्येन सव्यः दक्षिणेन दक्षिणः स्पष्टव्यः।

हिन्दी अर्थ - गुरु के चरणों का स्पर्श हाथों को अदल-बदल करके करना चाहिए। बायें हाथ
से बायां चरण और दायें हाथ से दायें पैर का स्पर्श करना चाहिये।। ७२।।

मेधातिथिः। यदुपसङ्ग्रहणं पूर्वश्लोके गुरोरुक्तं तद्व्यत्यस्तपाणिना कार्यम्।

कीद शः पुनः पाण्योर्व्यत्यासः कर्तव्य इत्यत आह। सव्येन हस्तेन सव्यः पादः स्पष्टव्यः स्पर्शः कर्तव्यो, न तु चिरं निपीड्यासितव्यम्। एष च व्यत्यासो युगपदितरेतरदिक्स चारेण हस्तयोर्भवति। अग्रतः स्थितेन सम्मुखेन गुरोरुपसङ्ग्रहणं कर्तव्यम्। तत्र वामो दक्षिणमार्गं नीयते, दक्षिणो वाममित्येवं सव्येन सव्यः स्पष्टो भवति, दक्षिणेन च दक्षिण इत्येष पाणिव्यत्यासः।

अन्ये तु 'विन्यस्तपाणिने'ति पठन्ति। स्पर्शादेव च विन्यासे सिद्धे नाग्निपपायः पिण्डस्पर्शनवद्वाहभयादङ्गुल्यग्रमात्रेण स्पर्शनं कर्तव्यमपि तु हस्तौ विन्यसितव्यौ निधातव्यौ। पीडनं तु पीडाकरं निषिद्धमिति वर्णयन्ति।। ७२।।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।

अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामो स्त्विति चारमेत्।। ७३।।

अन्वय - गुरुः नित्यकालम् अतन्द्रितः अध्येष्यमाणं (शिष्यम्) भो अधीष्व इति ब्रूयात् विरामश्च अस्तु इति आरमेत्।

हिन्दी अर्थ - गुरु सदैव पढ़ाते समय आलस्यरहित होकर पढ़ने वाले शिष्य को 'हे शिष्य पढ़ो' इस प्रकार कहे और 'अब विराम करो' ऐसा कहकर पढ़ाना समाप्त करे।। ७३।।

मेधातिथिः। अध्येष्यमाणमित्यादिनि प्राग्व्याख्यातानि पदानि। गुरोरयं नियोगः। गुरोर्यदा माणवको ध्यापयितुमभिलषितस्तदा अधीष्व भो इत्यामन्त्रयितव्यः। अनामन्त्रितेन न गुरुः खेदयितव्य 'उपदिशानुवाकमिति'। उक्तं च "आहूतश्चाप्यधीयीतेति"।

विरोमो स्तित्वत्येतं शब्दं समुच्चार्यारमेत् निवर्तेत। कः ? गुरुरेव, प्रथमान्तनिर्देशात्। अथवा गुरुणोत्सष्टो निवर्तेत, न स्वेच्छया। एवं चेदं व्याख्यायते, 'यदागुरुर्विरामो स्त्विति ब्रूयात्तदा विरमेद्ब्रह्मचारी।'

अन्ये त्वध्येत मात्रस्य-शिष्याणामुपाध्यायस्य च-उपरमणकाले धर्ममिममिच्छन्ति। तथा च स्म त्यन्तरम्। "स्वाध्यायमधीत्य विरमणकाले प्रदेशिन्या पथिवीमालभ्य स्वस्तीति यजुर्ब्रूयाद्विस्पष्टामिति सामसु, विरामः परमास्व क्षु, आरमस्त्वथर्वसु।"

अतन्द्रितः अनलसः। तन्द्रा लस्यम्। तद्योगात्पुरुषतन्द्रित इत्युच्यते। त्यक्त्वा लस्यमतन्द्रितः। अनुवादश्चायम्। नात्र तन्द्रा श्रमः। न त्वियमाशंका कर्तव्या "य अतन्द्रितस्तस्यायं विधिः, आलस्यवतस्त्वन्यः"।। ७३।।

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।

ऋवत्यनो...ङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्यति।। ७४।।

अन्वय - (शिष्यः) सर्वदा ब्रह्मणः आदौ च अन्ते प्रणवं कुर्यात् पूर्वम् अनो...ङ्कृतम् ऋवति पुरतान् च (अनोङ्कृतम्) विशीर्यति।

हिन्दी अर्थ - शिष्य सदैव वेद पढ़ने के आरम्भ और अन्त में 'ओ३म्' का उच्चारण करे। आरम्भ में ओंकार का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ बिखर जाता है अर्थात् भलीभांति ग्रहण नहीं हो पाता और बाद में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं रहता।। ७४।।

मेधातिथिः। अत्रापि पूर्वोक्तेन न्यायेन ब्रह्मण आदावन्ते च प्रणवं कुर्यात् ब्रह्मविषयाया अध्ययनक्रियाया इति द्रष्टव्यम्।

प्रणवशब्द अंकारवचनः। तथा च वक्ष्यति ऋवत्यनोङ्कृतमिति।

सर्वदाग्रहणमध्ययनविधिमात्रधर्मो यथास्यादितरथा प्रकरणाद्ग्रहणार्थ एव ब्रह्मचारिणः स्यात्। अस्मिन्स्तु सति यो प्यविस्मरणार्थो, यच्च "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इति ग हस्थादीनां, तत्र सर्वत्र सिद्धं भवति। सन्ध्याजपादौ तु स्वशब्देन विधास्यति 'एतदक्षरमेतां चेति'। न चायं वेदधर्मो येन यत्र

कुत्रचिद्वैदिकवाक्योच्चारणमारभेत तत्र प्राप्नुयात्। अतो होम-मन्त्रजप-शास्त्रानुवचन-याज्यादीनामारम्भे नास्ति प्रवणः, अन्यत्राप्युदाहरणार्थं वैदिकवाक्यव्यहारे। तस्मात्स्थितं प्राकारणिकस्वाध्यायाध्ययनविधिधर्मार्थं सर्वदाग्रहणम्। प्रणवप्रयोगस्यान्वाहिकारम्भार्थता तु नित्यकालग्रहणानुव त्त्यैव सिद्धा।

अस्यार्थवादः स्रवत्यनोक्तम्। पूर्वं प्रारम्भे अनोङ्कृतं ब्रह्म स्रवति। ओमाकृतं ॐशब्देन संस्कृतम्। साधनं कृतेति समासः। अथवा ॐकृत उच्चारितो यस्मिन्ब्रह्मणि तदोक्तं सुखादित्वात्परनिपातः। परस्ताच्च समाप्तौ। चकारेणानोक्तमिति सम्बध्यते।

स्रवति विशीर्यति इत्युभाभ्यामपि नैष्कल्यमध्ययनस्य प्रतिपाद्यते। अधीतं ब्रह्म यस्मिन्कर्मणि विनियुज्येत तन्निष्फलं भवतीति निन्दार्थवादश्च। पाकार्थं निषिक्तस्याप्राप्तपाकक्षीरादेरवच्छिद्रिते, भाजने य इतस्ततो विक्षेपः प्रक्षरणं तत् स्रवतीत्युच्यते। लब्धपाकस्य पिण्डीभूतस्य भोग्यतां प्राप्तस्य यो विनाशः स विशरणम्॥ ७४॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ॐकारमर्हति॥ ७५॥

अन्वय - प्राक्कू लान् पर्युपासीनः पवित्रैः चैव पावितः त्रिभिः प्राणायामै पूतः तत ॐकारमर्हति।

हिन्दी अर्थ - पूर्व की ओर मुख वाले कुशासन पर बैठकर कुशनिर्मित पवित्रों से (कुशाओं को एकत्र करके बनाये गए गुच्छे से) पवित्र होकर (छींटे देकर) तीन प्राणायामों को करने पर तब ॐकार का उच्चारण करने योग्य होता है॥ ७५॥

मेधातिथिः। कुलशब्दो दर्भाग्रवचनः। तान्पर्युपासीनः तेषु प्रागग्रेषु दर्भेषूपविष्ट इत्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थासा'मिति (पा० सू० १।४।४६) स्था आ आसामित्याडा प्रश्लेषात्कर्मत्वम्। परि उप आ आसीन इति इहाप्याडा श्लिष्टनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः। पर्युपशब्दावनर्थकौ।

पवित्रैर्दर्भैरेव पावितः शुचित्वमापादितः। अघमर्षणादिस्तु मन्त्रो नेह पवित्रशब्देनोच्यते, ब्रह्मचारिणस्तदानीमनधीतत्वात्तेषाम्। न च दर्भाः स्वसत्तामात्रेण काचित् क्रियामकुर्वतः पावने करणं भवन्तीति। अवान्तरव्यापारापेक्षया स्म त्यन्तरे प्राणोपस्पर्शनं प्रतीयते। आह च गौतमः। (अ० १ सू० ४६।५०) "प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः। प्राक्कूलेष्वासनं च"।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतः। मुखनासिकास चारी वायु प्राणः तस्यायामो निरोधः शरीरे धारणं, बहिर्निष्क्रमणनिषेधः, तस्य स्म त्यन्तरे धारणाकालस्य मानं समाप्नातम्। मन्त्रानुस्मरणं च। "प्रतिप्रणवंसयुक्तां गायत्रीं शिरसा सह। त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते"। वसिष्ठेन भगवता महाव्याहृतयो प्युक्ताः। मन्त्रावसान एव निरोधावधिः। अन्यस्थानाम्नातत्वात्सर्वस्म तीनां चासति विरोध एकार्थत्वादिहाप्येवमेवानुष्ठानम्।

"नन्वेवमितरेतराश्रयः स्यात् कृतेषु प्राणायामेषु ओङ्कारो न कर्तव्यो, न चोङ्कारेण विना प्राणायामो निर्वर्तते"।

नैष दोषः। त्रिर्जपेदिति प्राणायामेषु मानसव्यापारेणोङ्कारस्य स्मरणमुच्यते। न हि निरुद्धप्राणस्य शब्दोच्चारणं सम्भवति। यद्यपि जपः कश्चिद्वाग्व्यापारसाध्यो भवति स्वाध्यायाध्ययने तु पुनरुच्चारणं विवक्षितम्। अध्ययनक्रियाया एवंपुनरुच्चारणं क्रियायां ह्ययं धातुः, श्रोत्रग्राह्यश्च शब्दो न केवलेन मनसा ग ह्यते।

न चायमोङ्कारधर्मो येनान्यत्रापि तस्मिन्नुच्चार्यमाणे पि प्रसज्येत। उक्तं च "स्वाध्यायारम्भे कर्तव्य" इति। ओङ्कारधर्मत्वे हि लौकिकेषु वाक्येष्वोमिति ब्रूम इत्यादिषु प्रसज्येत।

गौतमेन तु पठितम् ३(अ० १ सू० ४६) - "प्राणायामास्त्रयः प चदशमात्रा" इति। मात्राशब्देन चाविकृतस्य स्वरस्याकारादेर्यावान्कालः स उच्यते। तत्र विरोधात्स्म त्यन्तरोक्तः कालो नास्ति, न च मन्त्रस्मरणं, तत्रानोङ्कारा अपि प्राणायामाः सन्तीति नेतरेतराश्रयदोषापत्तिः।

तत उँकारमर्हति कर्तमिति शेषः, यदा यं समुदाय एव रुढिरूपेण प्रणववचनः। यदि तु करणं कारः। ओमित्येतस्य 'कार' उच्चारणं मोङ्कारस्तदा नास्ति पदान्तरापेक्षा।

प्रणवशब्देन कर्तव्यतामुक्त्वा त्रोङ्कारमित्यनुवदत्यत एतावेकार्थौ। तथा च दर्शितम्॥ ७५॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।

वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च॥ ७६॥

अन्वय - प्रजापतिः अकारं उकारं मकारं च भूर्भुवः स्वः इति च वेदत्रयात् निरदुहत्।

हिन्दी अर्थ - परमात्मा ने ओ३म् शब्द के 'अ' 'उ' और 'म्' अक्षरों को तथा 'भूः' 'भुवः', 'स्वः' इन तीन व्याहृतियों को तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला है॥७६॥

मेधातिथिः। पूर्वस्व विधेरर्थवादः अक्षरत्रयसमाहाररूप उँकारस्तत्रैकैकस्य उत्पत्तिमाह। वेदत्रयात्त्रिभ्यो वेदेभ्यः निरदुहदुद्ध तवान्यथा दध्नो घ तमुद्दिधयते। न केवलमक्षरत्रयं यावदिदम् अपरं भूर्भुवः स्वरिति॥ ७६॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदुहत्।

तदित्य चो स्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ७७॥

अन्वय - परमेष्ठी प्रजापतिः तदिति अस्याः सावित्र्याः ऋचः पादं पादम् त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः अदुहत्।

हिन्दी अर्थ - सबसे महान् परमात्मा ने 'तत्' इस पद से प्रारम्भ होने वाली सावित्री ऋचा (=गायत्री मन्त्र) का एक-एक पाद (प्रथम पाद है-'तत्त्ववितुर्वरेण्यम्', द्वितीय पाद-'भर्गो देवस्य धीमहि', त तीय पाद-'धियो यो नः प्रचोदयात्') तीनों वेदों से दुहकर सार रूप बनाया है॥ ७७॥

मेधातिथिः। अयं "तत्त्ववितुर्वरेण्यम्" इत्येतस्याः गायत्र्या उत्पत्त्यर्थवादे विधानार्थः। पूर्वश्लोके चार्थवादादेव व्याहृतीनामपि विधानम्। क्रमस्तु पाठावगम्यः। वक्ष्यति च-"एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्" इति।

अदुहदुद्ध तवानिति। यद्यपि तदित्येतत्प्रतीकेन 'तत्त्ववितुर्वरेण्यम्' इति वा शक्यते लक्षयितुम्। न तु सा त्रिपदेति। त्रिपदा च ग्राह्या। त्रिपदा चैव सावित्रीति।

कश्यपादयोऽपि प्रजापतयः सन्त्यतो विशिनष्टि परमेष्ठीति। हिरण्यगर्भः। स हि परमे स्थाने नाव तिलक्षणे स्थितः। आदरातिशयार्थं चैतत्सावित्र्याः। साक्षात्कलेयं सर्वमुख्येन प्रजापतिना वेदेभ्यः समुद्ध तेति॥ ७७॥

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।

सन्ध्योर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ ७८॥

अन्वय - एतदक्षरम् व्याहृतिपूर्विकां च एतां वेदवित् विप्रः सन्ध्योः जपन् वेदपुण्येन युज्यते।

हिन्दी अर्थ - इस ओ३म् अक्षर को और 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' इन व्याहृतियों सहित इस गायत्री ऋचा को वेदपाठी द्विज दोनों सन्ध्याओं-प्रातः, सायंकाल में जपते हुए वेदाध्ययन के पुण्य से ही युक्त होता है॥ ७८॥

मेधातिथिः। सत्यपि स्वाध्यायविधिप्रकरणे वाक्यात्सन्ध्याजपविधिरयम्। तत्र गायत्र्या अनुवादः प्रणवव्याहृतीनामप्राप्तविधिः।

अत्र कश्चिदाह। "नायं सन्ध्याविधिप्रकरणात्। विधिर्हि भवन्ब्रह्मचारिणः स्यात्तस्य प्रकृतत्वात्। न च तस्य सम्भवति। इह हि वेदविदित्युच्यते। न च तस्य प्रथमोपनीतस्य वेदवित्त्वमस्ति। अपि च फलमत्र श्रूयते वेदपुण्येन युज्यते। नित्यश्च सन्ध्योपासनविधिः न फलार्थः। न चैतद्विदग्गः किमिदं वेदपुण्यं नाम फलं, येन योगो यं जप उच्यते। यदि तावद्वेदाध्ययनात्पुण्यमभिप्रेतं तदवाप्तिर्वेदपुण्येन 'योगो भिप्रेतस्तत्र यस्तावदयं प्रकृतः स्वाध्यायमविधिस्तस्य" नार्थावबोधोद ते किं चितफलमस्त्यश्रुतत्वात्

दष्टत्वाच्चार्थावबोधस्य कल्पना पि नास्ति। यश्च ग हस्थादीनां विधिः “अहरहः स्वाध्यायमधीयीत” इति सो पि नित्य एव। यत्तत्र फलश्रवणं ‘पयोदधि घ तं मधु’ इति सो र्थवाद एव। तस्मान्नायं विधिः 1:। विधौ हि सर्वमेतद्विवक्षितव्यम्। यदा त्वयमर्थवादस्तदा ‘जपन्नि’ति प्रकृतमध्ययनमुच्यते, ‘वेदपुण्येने’-त्येतदपि यथाकथा चिन्नीयते”।

अत्रोच्यते। वाक्येन प्रकरणं बाध्यत इत्युक्तमेव। यत एव वेदवित्पदं सन्ध्यापदं च न प्रकृतविषयतया न्वेति, तत एवान्यत्रायं विधिः। सन्ध्ययोरेतत्त्रयं जपेदित्येतावान्विधिः। वेदवित्पदमनुवदिष्यते। ग हस्थादीनां वेदवित्त्वस्य सम्भवात्। “ब्रह्मचारिणो वेदवित्त्वं न सम्भवतीति” चेत् किं तदीयेन सम्भवेन। यथाप्राप्तानुवादे हि सर्वाश्रमिणामधिकारः। कर्तृविशेषणे हि वेदवित्पदे ब्रह्मचारिणो नाधिकारः स्यात्। “कथं पुनरस्यानुवादः”। वाक्यभेदप्रसङ्गात् विधौ सन्ध्याविधौ प्राप्ते प्रणवव्याहृतयस्तावदप्राप्तास्तत्र विधातव्याः। तत्र यद्यपरं वेदविदिति विधीयते तदा वाक्यभेदः स्यात्। प्राप्ते हि कर्मणि नानेकार्थविधानं सम्भवति। प्रणवव्याहृतीनां तु नानुवादः सम्भवति। तेनायमत्र वाक्यार्थः ‘सन्ध्ययोर्यत्सावित्री जपेदित्युक्तं तत्रायमपरो गुणः प्रणवव्याहृतिपूर्विकां तां जपेत्’। विप्रग्रहणं च तदा प्रदर्शनार्थमेव।

यदप्युक्तं-“फलमत्र श्रूयते नित्यश्च विधिः सन्ध्यायाः”। को नामायं विरोधः ? नित्य एव तस्मिन्गुणे कामो भविष्यति। प्रणवव्याहृतिगुणकान्तस्मादिदं फलमिति। यथा गोदोहनप्रणयकनकादिनिहोत्रात्पशवः फलम् “गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्” इति। वाक्यसामर्थ्येनाध्यारुह्यैतदुक्तं, न त्वयं काम्यो विधिः। स्म त्यन्तरे हि नित्य एवायं विधिः स्पष्ट एवोक्तो “गायत्री शिरसा सार्धं जपेत् व्याहृतिपूर्विकाम्” इति। फलानवगमो भवतैवोक्तः। अयं ह्यर्थो वेदपुण्येनेति। ‘वेदे यत्सन्ध्योपासनात्पुण्यमुक्तं तेन त्रिकमेतज्जपन्त्युच्यते, न केवलं गायत्रीम्’। पुण्यं च धर्मः, वेदमूलत्वात्स्म तीनां स्म त्युक्तमपि वेदपुण्यतया व्यपदिश्यते, वेदस्य पुण्यं ‘वेदपुण्यम्’। किं च वेदस्य पुण्यम्। यत्नेन प्रतिपाद्यते। पठ्यमानाद्वेदाद्यज्जायते तदपि शक्यते तस्येति वक्तुम्, किंत्वसाधारणत्वात्प्रतिपाद्यमेव युक्तं व्यपदेष्टुं नोत्पाद्यम्। यागादयो धर्ममुत्पादयन्ति, प्रतिपादकस्तु वेद एव।

ये प्यन्त्यस्य पादस्य सामर्थ्यमाहुः “यदुक्तं ‘नित्यः स्वाध्याय’ इति तत्र सन्ध्यायां त्रिकजपादेव कृतार्था भवन्तीति”-तदप्यसत्। एवं सति तेन विधिना विकल्पेत। तत्र च पाक्षिको नित्यस्वाध्यायताया बाधः स्यात्। न चाबाधे सम्भवति बाधो भ्युपगन्तव्यः।

एतदक्षरमित्योङ्कारस्य प्रतिनिर्देशः। “ननु च नैतदेकमक्षरम्। द्वे वा त्रीणि वा”। उच्यते। अक्षरशब्देन केवलं स्वर उच्यते, व्य जनसंयोगश्च। तत्रेह याद शः प्रकृतः ताद शस्याभिधानम्। एतां च “तत्सवितुर्वरेण्यमिति” सावित्रीम्। व्याहृतयः पूर्वाः यस्यास्तां व्याहृतिपूर्विकाम्। तिस्रः प्रकृता एव ता व्याहृतयो ग ह्यन्ते, प्रकृतपरत्वादस्य, न सप्त सत्यान्ताः॥ ७८॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।

महतो प्येनसो मासात् त्वचेवा हिर्विमुच्यते॥ ७९॥

अन्वय - द्विजः एतत् त्रिकम् सहस्रकृत्वः तु अभ्यस्य महतः अपि एनसः मासात् अहि त्वचा इव विमुच्यते।

हिन्दी अर्थ - द्विज इन तीनों अर्थात्, व्याहृतियों और गायत्री मन्त्र को बाहर एकान्त में एक हजार बार प्रतिदिन जपते हुए बड़े भारी पाप से भी एक मास में सांप की केंचुली के समान छूट जाता है॥ ७९॥

मेधातिथिः। बहिरित्यनाव तो देश उच्यते। तेनैतदुक्तं भवति, ग्रामनगराभ्यां बहिररण्यदीपुलिनादौ। सहस्रवारान् अभ्यस्य आवर्त्य। “ननु कृत्वसुचो प्याव त्तिः प्रतिपाद्यते, अभ्यस्येत्यनेनापि। तत्र पौनरुक्त्यम्”। सामान्यविशेषभावाददोषः। अभ्यस्येत्यनेन सामान्यतो भ्यास उक्तस्तत्र विशेषापेक्षायां सहस्रकृत्वेति। न च कृत्वसुजन्तादेवोभयावगतितस्तस्य क्रियाविशेषोपेक्षत्वात्। न हि देवदत्तः प चकृत्वो हन इत्युक्ते यावद्भुङ्क्त इति नोच्यते तावद्वाक्यार्थः समाप्यते।

“ननु चाभ्यस्यत्यनेनापि न काचिद्विशिष्टा क्रियोपात्ता” ।

सत्यम् । जपः प्रकृतस्तमभ्यस्येति प्रतीयते । ‘आव त्तिः’ पौनःपुन्येन सेवा ।

महतो प्येनसः । महत्पापं च ब्रह्मत्यादि, ततो पि मुच्यते, किं पुनरुपपातकेभ्यः । अपिः सम्भावने, न समुच्चये । भेदोपादानेन समुच्चयावगमो यथा देवदत्तस्यात्र प्रभुत्वं यज्ञदत्तस्यापि । इह न तथा निर्देशः ।

“केभ्यः पुनरुपपातकेभ्यो यं मोक्ष उच्यते । गोवधादीन्युपपातकानि । तानि च प्रतिपापमान्नातप्रायश्चित्तानि सरहस्यानि । यानि वा संवेत्ति न कृतान्यनुक्तपरिहारण्यवश्यम्भावितया च ज्ञायते कृतानीति, तेषामपि नित्यानि सन्ध्योपासनादीन्यपनोदकानि । यदि चैतत्प्रायश्चित्तं स्यात्तदा तत्रैवावक्ष्यत्, “जपेद्वै नियताहारः त्रिवेदेदस्य संहितामिति” वत् । प्रायश्चित्ते चास्मिन्प्रायश्चित्तप्रकरणमेवानर्थकं स्यात् । को हि दैवशप्तो जपमात्रसाध्यां निष्कृतिं हित्वा कृच्छ्रेषु शरीरप्राणहरेष्वध्यवस्येत् । उक्तं च-“अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् । इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्” । तथा “पणलभ्यं हि प्राज्ञः क्रीणाति दशभिः पणैः” इति । न च प्रकृतेनैकवाक्यताबीजं किं चिद्विभज्यमानसापेक्षत्वाद्यस्ति येन तच्छेषतया र्थवाद उच्येत” ।

अत्रोच्यते । विधिरेवायम् । पापप्रमोचनार्थं एवायं प्रयोगः । पतूक्तं “विषमशिष्टैर्विकल्पो न सिध्यतीति”-जपप्रायश्चित्त एवास्मिन्विकल्पार्थो भविष्यति । अघमर्षणादिभिः सर्वपापापनोदनमुक्तं, तेनास्य विकल्पः । अघमर्षणे हि त्र्यहमुपवास उक्तः । इहाश्नन्नेव मासिकेन प्रयोगेण शुध्यति । ततो न दूरविप्रकृष्टेन तपसा समीयते, येन विषमशिष्टता स्यात् । अथवा पूर्वकृतस्यैनसः शुद्धिरेषा ग्रहदौःस्थित्यादिसूचिते दैवे दोषे । तस्मान्मोक्षः । अनिष्टम् ‘एन’ उच्यते । तस्मान्मुच्यते । तत्फलेन न सम्बध्यत इत्यर्थः ।

त्वचेवाहिः । जीर्णया त्वचा मुक्तः सर्पो यथा भवति । निरवशेषेण पापनाश एतेन प्रतिपाद्यते । यत्तु दौर्धर्मादिसूचितं पूर्वकृतमशुभं तत्र स्म त्यन्तरे प्रायश्चित्तमान्नातं बहु । तत्प्रायश्चित्तेष्वेव निदर्शयिष्यामः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् । “जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न द श्यते” इति ॥ ७६ ॥

एतर्चया विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।

ब्रह्मक्षत्रियविद्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

अन्वय - ब्राह्मणक्षत्रियविद्योनिः एतया ऋचा काले स्वया क्रियाया च विसंयुक्तः साधुषु गर्हणां याति ।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में जन्मा कोई द्विज इस गायत्री मन्त्र से और समयानुसार होने वाली संस्कार आदि क्रियाओं से रहित होता हुआ श्रेष्ठ लोगों में निन्दा का पात्र बनता है । ८० ॥

मेधातिथिः । एतया सावित्र्या । विसंयुक्तः हीनसन्ध्योपासनस्त्यक्तस्वाध्यायाश्च । गर्हणां निन्दां साधुषु विशिष्टेषु याति प्राप्नोति । कीद र्शी गर्हणां प्राप्नोत्यत आह काले च क्रियया स्वया । काल “आषोडशात्” इत्यस्मिन्वियुक्ते गते निन्द्यते । एवमुपनीतो पि स्वाध्यायारम्भयोग्यः सावित्रीवर्जितो ब्राह्मण एव भवति । त्रयाणां या साधारणी स्वक्रिया । सह निर्दिष्टा । सा चोपनयनमेव । कालशब्दश्चैवमर्थवान् । अध्ययनादिस्वकर्मविवक्षायामेतावदेव वाच्यं स्यात् यत् क्रियया स्वयेति । योनिशब्दो जन्मपर्यायो जात्यर्थं गमयति । विप्रादिजातीय इत्यर्थः । अर्थवादो यं ब्राह्मणप्रायतित्तार्थः ॥ ८० ॥

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयो व्ययाः ।

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

अन्वय - ओङ्कारपूर्विकाः तिस्रः अव्ययाः महाव्याहृतयः त्रिपदा सावित्री च ब्रह्मणो मुखम् विज्ञेयम् ।

हिन्दी अर्थ - जिनके पहले ओंकार='ओम्' है, ऐसी अविनाशिनी महाव्याहृतियां-'भूः, भुवः, स्वः, और तीन पाद वाला गायत्री मन्त्र इसे वेद का मुख समझना चाहिये।। ८१।।

मेधातिथिः। ॐकार पूर्वो यासां ता ओङकारपूर्विकाः। महाव्याहृतयः प्रकृता एव भूर्भुवः स्वरित्येते शब्दा अभिधीयन्ते अव्यया अविनाशिन्यः। फलस्य दीर्घकालत्वादेवमुच्यते। अन्यथा "सर्व एव शब्दा नित्या" इति विशेषणमनर्थकम् त्रिपदा 'तत्सवितुर्वित्येषा सावित्री ब्रह्मणो मुखम्। आद्यत्वान्मुखव्यपदेशः। अतश्चारम्भे अध्येयमेतदित्यस्यैवार्थवादः। अथवा मुखं द्वारमुपायो ब्रह्मप्राप्तिरनेन भवतीत्येतदेवाह।। ८१।।

यो धीते हन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्।। ८२।।

अन्वय - यः एतान् त्रीणि वर्षाणि अहनि अहनि अतन्द्रितः अधीते सः वायुभूतः खमूर्तिमान् परं ब्रह्म अभ्येति।

हिन्दी अर्थ - जो व्यक्ति इनको अर्थात् ओंकारसहित तीन महाव्याहृतियों और गायत्री को तीन वर्ष तक प्रति दिन आलस्य रहित होकर जपता है वह वायुरूप=इच्छानुसार विचरण करने वाला और आकाशरूप=सूक्ष्मशरीरी होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।। ८२।।

मेधातिथिः। आकाश इव सर्वव्यापी विभुः सम्पद्यते, खमूर्ति खस्वभाववान् भवति। न तु 'मूर्तिः' शरीरम्, आकाशस्य शरीराभावात्। "अथ किमिदं ब्रह्म, यद्रूपातिरुच्यते"। परमात्मा नन्दरूपः, यस्येमे क्षेत्रज्ञा पवनजवोद्धतस्य वारिशेरिवोर्मय। ते यथा प्रशान्तावस्थे तस्मिंस्तद्रूपा भवन्ति, एवममी तद्रूपा आत्मानः सम्पद्यन्ते। विशेषतश्च सर्वमेतद् द्वादशे वक्ष्यते।

अध्ययनमिदं गायत्र्याश्चोदितं न जपो, न चात्राव त्तिगणना स्ति। अतन्द्रित इति वचनाद्बहुकृत्वः करणं प्रतीयते। सकृत्प्रयोगे हि नास्ति तन्द्राशंका। मोक्षार्थिनो यं विधिः।। ७२।।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते।। ८३।।

अन्वय - एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः सावित्र्याः तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते।

हिन्दी अर्थ - एक अक्षर अर्थात् 'ओम्' ही परब्रह्म है, प्राणायाम करना ही श्रेष्ठ तप है गायत्री से बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र नहीं है, मौन की अपेक्षा सत्यभाषण विशिष्ट है।। ८३।।

मेधातिथिः। ओंकार एकाक्षरम्। तत्परं ब्रह्म। ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्। "तज्जपस्तदर्थभावना" (योगसू० १।२८) तथा ब्रह्मप्राप्तेरेवमुच्यते। ओमिति ब्रह्माभिधानम्। एवं ह्याहुः 'तस्य वाचकः प्रणव' इति। (योगसू० १/२७) तत्परं प्रकृष्टं कुतः अन्याभ्यः ब्रह्मोपासनाभ्यः? "अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत" (तैत्ति० ३/२) "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश" (छां० ३।१६।१) इति एवमाद्याभ्य उपासनाभ्यः ओंकारोपासना प्रकृष्यते। अध्ययनादेव तत्प्राप्त्यभिधानात्। शब्दस्यैव च ब्रह्मत्वेन श्रवणात्-"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छती" ति। सर्वो ह्यर्थो वाग्व्यहारानतीतो, वाचश्च सर्वस्या आंकारो मूलम्। तथा च श्रुतिः "तद्यथा शंकुना सर्वाणि पत्राणि सन्त ण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्त ण्णा; ओंकार एवेदं सर्वमिति" (छां० २।२३।३)। सन्तर्दनमनुस तिः आश्रयभावापत्तिर्वा।

"कथं पुनः सर्वा वागोङ्कारेण सन्त ण्णा" ?

वैदिक्यास्तावदोङ्कारपूर्वकत्वमुक्तम्। लौकिक्या अपि, 'तदादीनि वाक्यानि स्यु'रित्यापस्तम्बवचनात्। उपनिषद्भाष्ये चैतदन्यथा व्याख्यातम्। तत्त्वहानुपयोगान्न प्रदर्शितम्।

प्राणायामशब्द आचमनवद्विशिष्टेतिकर्तव्यताके प्राणनिरोधे वर्तते। 'परं तपः' चान्द्रायणादिभ्यः। "किं पुनस्तस्य श्रेष्ठ्यम्" ? भक्तिरेषा।

सावित्र्याः परं मन्त्रज्ञानं नास्ति। एषामिति प्रशंसा। मोनात्सत्यं विशिष्यते। मौनं वाङ्नियम उच्यते।

तस्य च यत्फलं ततो धिकं सत्यवचनात्प्राप्यते। सत्यवचने विध्यर्थोऽपि तथा नुष्ठितो भवति। मौने तु केवलमन तप्रतिषेधानुष्ठानमेव। अर्थवादो यं श्लोकः॥८३॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-यजति-क्रियाः।

अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥ ८४॥

अन्वय - वैदिक्यो सर्वा जुहोतियजतिक्रियाः क्षरन्ति अक्षरं प्रजापतिश्च ब्रह्म एव दुष्करं ज्ञेयम्।

हिन्दी अर्थ - वेदोक्त सब हवन, यज्ञ आदि क्रियायें विनष्ट हो जाती हैं 'ओम्' यह अक्षर और प्रजापति परमात्मा को ही अविनाशी जानना चाहिये॥ ८४॥

मेधातिथिः। यावन्तः केचन वैदिका 'होमा' अग्निहोत्रादयो, ये च 'यागा' ज्योतिष्टोमादयः, ते सर्वे क्षरन्ति न परिपूर्णफला भवन्ति, फलं वा तदीयं स्रवत्याशु विनश्यति।

अक्षरं त्वेतदोङ्काराख्यमक्षरं ज्ञेयमक्षयफलम्। ब्रह्मीभूतस्य न पुनः संसारापत्तिः। अतो क्षयफलत्वादक्षरमुच्यते। एको क्षरशब्द उद्देश्यः, संज्ञाशब्दो द्वितीयो यौगिकः क्रियाशब्दः। ब्रह्म च तदेव। प्रजापतिश्चोङ्कार एव। स्तुतिरेषा।

जुहोति-यजतीति धातुनिर्देशस्तयोः क्रियाः प्रतिपाद्यार्था यागहोमाः। व्यक्त्यपेक्षं बहुत्वम्। अथवा धात्वर्थनिर्देश एवायं जुहोति-यजतति। 'क्रिया'स्तद्व्यतिरिक्ता दानाद्याः द्वन्द्वश्चायम्, 'जुहोतीति यजति च क्रियाश्च'। होमयागौ प्राधान्यात्पथगुणादीयेते।

अत्रोक्ता ॐकारस्य स्तुतिः केवलस्यापि जपविधानार्थंति केचित्। न हि प्रकृतविधिशेषतैवात्र, पुनः परामर्शाभावात्। वैश्वानरे ह्यष्टत्वादीनां "यदष्टाकपालो भवति, गायत्र्या चैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यन्नवकपालस्त्रिव तैवा र्स्मिस्तेजो दधाति" इति। सर्वत्र वैश्वानरपदापेक्षया तदेकवाक्यत्वे सम्भवति न वाक्यभेदकल्पनया विध्यन्तरसम्भवः। इह त्वक्षरं ज्ञेयमिति न पूर्वापेक्षा, नापि सावित्र्यादीनां पुनः परामर्शोऽस्ति। अतः स्वपदार्थैरेव वाक्यार्थपरिसमाप्तेर्नान्यशेषता। ज्ञेयमित्यत्र कृत्यो विधायकः। ब्रह्मपदेन च सम्बन्धाद्ब्रह्मरूपतया ज्ञेयमुपास्यं भावनीयम्। भाव्यमाने च तस्मिन्मानसजप उक्तो भवति॥ ८४॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्म तः॥८५॥

अन्वय - विधि यज्ञात् जपयज्ञः दशभिः गुणैः विशिष्टः उपांशु शतगुणः स्यात् मानसः साहस्रः स्म तः।

हिन्दी अर्थ - विधियज्ञ अर्थात् अमावस्या, पूर्णिमा आदि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले यज्ञों से जपयज्ञ=स्पष्टोच्चारण पूर्वक जप करना दश गुणा विशेष है। उपांशु=जिसमें धीरे-धीरे ओठों से ही उच्चारण किया जाये, वह सौगुना विशेष है मानसजाप=अर्थ एवं ध्यानपूर्वक मन में किया जाने वाला जप, हजार गुना विशेष है।

मेधातिथिः। विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो ज्योतिष्टोमादिः। यत्कर्म यजेतेति चोदितं, बाह्येन व्यापारेण ऋत्विगादिसर्वाङ्गसम्पत्त्या क्रियते स 'विधियज्ञ' इहोच्यते। जपस्तु न यज्ञः, प्रशंसया यज्ञ उपचारेणोच्यते। अतो नासौ विधियज्ञः। स विशिष्टः प्रकृष्टः श्रेष्ठो यज्ञो, ज्योतिष्टोमादेर्दशभिर्गुणैः। महाफलत्वमेतेन जपस्योच्यते। यदेव यागात्फलं तदेव बहुतर जपात्प्राप्यते। न च यागेभ्यः श्रौतेभ्यो जपस्याधिकफलत्वं युक्तम्। तथा हि सति कः शरीरधनपरिक्षयरूपेषु यागेष्वध्यवस्येत् ? तस्मात्प्रशंसैषा। पूर्णाहुत्या सर्वोन्कामानवाप्नोतीतिवत्। एतावदस्यार्थः-तदेव स्वर्गादिफलमवाप्यते, किन्तु लोकवत्प्रयत्नविशेषात् फलपरिमाणविशेषः। अविशेषितत्वात् यज्ञस्य, स्वर्गग्रामपुत्रपशवादि यस्य यज्ञस्य यत्फलं तत्तज्जपात्प्राप्यते।

उपांशुः शतगुणः, यदन्यो न श्य णोति समीस्थोऽपि। सहस्रगुणः साहस्रोमानसः मनोव्यापारमात्रेण यश्चिन्त्यते। जपमात्रविषय उपांशुत्वादिगुणः, प्रकृतस्य यो धीतेत्यनेन विच्छेदात्, तेन यः प्रायश्चित्तादौ जपो यः शान्तिको यश्चाभ्युदयिकः सर्वत्रैते गुणाः। सहस्रमस्यास्तीति साहस्रः। गुणानां

प्रकृतत्वात्सहस्रगुणसद्भावः प्रतीयते। गुणशब्दश्चावयववचनः। फलभूमा च सम्बन्धादवगम्यते।।८५।।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।। ८६।।

अन्वय - विधियज्ञसमन्विता ये चत्वारः पाक यज्ञाः ते सर्वे जपयज्ञस्य षोडशीम् कलां नार्हन्ति।

हिन्दी अर्थ - विधियज्ञ सहित जो चार पाकयज्ञ (पित यज्ञ, होम, बलिवैश्वदेव और अतिथियज्ञ) ये सब जपयज्ञ की सोलहवीं कला के योग्य भी नहीं है।। ८६।।

मेधातिथिः। महायज्ञाः पाकयज्ञा उच्यन्ते, ब्रह्मयज्ञं वर्जयित्वा चत्वारो यज्ञा भवन्ति। 'विधियज्ञा' उक्तास्तैः समन्विताः सहिताः। कलामंशं षोडशीं नार्हन्ति। षोडशेन भागेन न समा भवन्ति। अथवा र्हतिः प्राप्त्यङ्गे मूल्यपणने वर्तते। अर्हशब्दात्तिपं कृत्वा अर्हन्तिरूपम्।। ८६।।

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।

कुर्यादन्यत्र वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।। ८७।।

अन्वय - ब्राह्मणः जप्येन एव संसिध्येत् अयं न संशयः ब्राह्मणः अन्यत् कुर्यात् वा न कुर्यात् मैत्रः उच्यते।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण तो जप के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ब्राह्मण अन्य कुछ विहित (यज्ञ दान आदि) कर्म करे या न करे फिर भी परमात्मा का अतिशय प्रिय कहलाता है।। ८७।।

मेधातिथिः। जप्येनैव सिद्धि काम्यफलावाप्तिं ब्रह्मप्राप्तिं वा प्राप्नुयात्। नात्र हृदि शंका कर्तव्या, यत् 'ज्योतिष्टोमादिभ्यो महाप्रयासेभ्यो भावनाभ्यश्च यत्लब्धव्यं तज्जपेन कथं सिध्यतीति'। सिद्धयत्येव। कुर्यादन्यत् अनित्यं ज्योतिष्टोमादि। अथवा तदपि न कुर्याद्यतो मैत्रो ब्राह्मण उच्यते। मित्रमेव मैत्रम्। सर्वभूतमैत्रीरतेन ब्राह्मणेन भवितव्यम्। अग्निषोमीयपशुर्हिंसायां च कुतो मैत्री। अयमर्थवाद एव, न पुनः पशवङ्गकर्मप्रतिषेधः, पूर्वशेषत्वावगतेः। प्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वाच्च तेषाम्। अतिक्रान्तो जपविधिः।। ८७।।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्।। ८८।।

अन्वय - विद्वान् वाजिनाम् यन्ता इव अपहारिषु विषयेषु विचरतां इन्द्रियाणां संयमे यत्नम् आतिष्ठेत्।

हिन्दी अर्थ - विद्वान् मनुष्य, घोड़ों के नियामक सारथी के समान, मन को हरने वाले विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों को रोकने में यत्न करे।

मेधातिथिः। इन्द्रियाणां संयमे यत्नमातिष्ठेदित्येतावाच्छास्त्रार्थः। परिशिष्टो र्थवादः, आसन्ध्योपासनविधिः। 'संयमः' प्रतिषिद्धेषु विषयेषु प्रवृत्तिपरिहारो प्रतिषिद्धेष्वप्यतिसक्तिवर्जनम्। तत्र प्रतिषिद्धपरिहारस्तैरेव प्रतिषेधैः सिद्धः। अप्रतिषिद्धेष्वप्यतिसक्तिनिषेधार्थो यं श्लोकसङ्घातः। एतदेवाह विचरतां विषयेषु वातन्त्र्येण वस्तुशक्त्या प्रवर्तमानानाम्। अपहारिषु विषयेषु- अपहरन्त्याकर्षन्त्यात्मसात्कुर्वन्ति पारतन्त्र्यमापादयन्ति पुरुषं ते अपहारिणो विषया मनोहरा य उच्यन्ते। तत्र विचरतां विविधं विशेषेण चरताम्। यदीन्द्रियाणि विशेषेण न चरेयुरपरिहारिणो पि तदा विषयाः किं कुर्युः। भवन्तु वा निरङ्कुशानीन्द्रियाणि, यदि विषयाः प्रत्याख्यायिकास्ताथा पि सुसंयमः पुरुषेणात्मा। यतस्तूभयं सापराधमतो यत्न आस्थेयो, दुर्नियमानि ह्येतानि।

यन्तेव वाजिनाम्। यन्ता सारथिरश्वानां यथा रथयुक्तानां स्वभावतो विचलनशीलानां संयमे नियमे यत्नं करोति, ते न तदा निच्छया उन्मार्गेण वहन्ति, विधेयतां तस्य भजन्ते, एवमिन्द्रियाणि विधेयीकर्तव्यानि।। ८८।।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वं मनीषिणः।

तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ८६॥

अन्वय - पूर्वं मनीषिणः यानि एकादश इन्द्रियाणि आहुः तानि यथावत् अनुपूर्वशः सम्यक् प्रवक्ष्यामि।

हिन्दी अर्थ - पहले मनीषी-विद्वानों ने जो ग्यारह इन्द्रियाँ कही हैं उनको यथोचित क्रम से ठीक-ठीक कहता हूँ॥८६॥

मेधातिथिः। सङ्ख्यानिर्देशो यं प्रमाणान्तरगम्यो न शास्त्रार्थः सौहार्देन तु व्युत्पाद्यते। तानि पूर्वं मनीषिण आहुः। परस्तात्रामतः कर्मतश्च वक्ष्यामि। आनुपूर्व्यमनाकुलता। पूर्वग्रहणान्ते तार्किकैरेव व्यवस्था कल्पिता, किन्तु पूर्वशामप्याचार्याणां स्थितैव। एतामजानन्तो नागमिका इति लोकैरुपहस्यन्ते, इत्यतो यं वेदितव्यः। प्रसिद्धाः पदार्था व्याख्याताश्च प्राक्॥ ८६॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पचमी।

पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्म ता॥ ६०॥

अन्वय - श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा पचमी च नासिका। पायु उपस्थं हस्तपादम् दशमी च वाक् स्म ता।

हिन्दी अर्थ - कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पाँचवी नाक, गुदा, लिग, हाथ पैर और दशमी वाणी ये दश इन्द्रियाँ हैं॥६०॥

मेधातिथिः। श्रोत्रादीनि प्रसिद्धानि। अधिष्ठानभेदाच्चक्षुषी इति द्विवचनम्। अन्यत्र तदाधारायाः शक्तेरेकत्वादेकवचनम्। उपस्थः शुक्रोत्सर्जनः पुंसोरजस्तदाधारश्च स्त्रियाः।

द्वन्द्वनिर्दिष्टयोः 'प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः' (पा० सू० २।४।२) वाक् ताल्वादिः शब्दाभिव्य जकः शरीरावयवनामनिर्देशो यम्॥६०॥

बुद्धीन्द्रियाणि पचैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।

कर्मेन्द्रियाणि पचैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥६१॥

अन्वय - एषां अनुपूर्वशः श्रोत्रादीनि पच बुद्धीन्द्रियाणि पाय्वादीनि पच कर्मेन्द्रियाणि प्रचक्षते।

हिन्दी अर्थ - इनमें क्रमशः कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाती हैं॥ ६१॥

मेधातिथिः। कार्यमिदानीमेषामाह स्वरूपावधारणार्थम्। न हि तानि प्रत्यक्षानि। बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धेन्द्रियाणि जनकानि कार्यकरणानि। कार्यकरणसम्बन्धे षष्ठी।

श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः। आदिशब्दस्य प्रकारार्थता मा विज्ञायीति अनुपूर्वशः क्रमेणेत्यर्थः। क्रमश्च सन्निवेशापेक्षो भवत्यतः पूर्वश्लोकोक्ता व्यवस्था श्रीयते।

कर्मेन्द्रियाणि। परिस्पन्दात्मकमत्र कर्म विवक्षितम्॥ ६१॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।

यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पुचकौ गणौ॥ ६२॥

अन्वय - एकादशं मनः स्वगुणेन उभयात्मकम् ज्ञेयम् यस्मिन् जिते एतौ पुचकौ गणौ जितौ भवतः।

हिन्दी अर्थ - ग्यारहवां मन है ऐसा जानना चाहिए। यह अपने गुणों से दोनों प्रकार का है-ज्ञानेन्द्रिय भी और कर्मेन्द्रिय भी। जिस मन के जीतने से पांचो-पांचों इन्द्रियों के दोनों समुदाय ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं॥ ६२॥

मेधातिथिः। एकादशसङ्ख्यापूरकं मन इन्द्रियाणाम्। स्वो गुणो मनसः संकल्पः। तेनोभयं शुभमशुभं वा संकल्प्यते। अथवा बुद्धीन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियेषु स्वविषयप्रव तौ संकल्पमूलत्वात् उभयात्मकमुच्यते।

यस्मिजिते एतौ बुद्धीन्द्रियवर्गः कर्मेन्द्रियवर्गश्च प चकौ प्राक्प्रदर्शितपरिमाणौ जितौ भवतः । तत्त्वाख्यानमेतत् ॥ ६२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमच्छत्यसंशयम् ।

सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ६३ ॥

अन्वय - इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन असंशयम् दोषं ऋच्छति तानि तु सन्नियम्य एव ततः सिद्धिं नियच्छति ।

हिन्दी अर्थ - जीवात्मा इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी हो जाता है और उन पूर्वोक्त दस इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

मेधातिथिः । प्रसङ्गः तत्परता । तेन हेतुभूतेन दोषं दष्टमदष्टं च ऋच्छति प्राप्नोति । नात्र संशयो निश्चितमेतत् ।

सन्नियम्य तानीन्द्रियाणि ततः सिद्धिमभिप्रेतार्थावाप्तिं श्रौतस्मार्तकर्मणामनुष्ठानफलं निःशेषं गच्छति प्राप्नोति ॥ ६३ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एवाभिवर्धते ॥ ६४ ॥

अन्वय - कामः कामानाम् उपभोगेन न जातु शाम्यति (अपितु) हविषा कृष्णवर्त्मव भूय एव अभिवर्धते ।

हिन्दी अर्थ - कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती किन्तु घ त डाली हुई अग्नि के समान ओर अधिक बढ़ती जाती है ॥ ६४ ॥

मेधातिथिः । तिष्ठतु तावद्विषयाभिलाषः, शास्त्रोपदेशान्न क्रियते किन्तु दष्टमेव सुखं तावन्नैव तेर्भवति । तथाहि सेव्यमाना विषया अपि अधिक गर्द्धमुत्पादयन्ति उदरपूरं भुक्तवतस्तत्पत्स्यातिसौहित्यमपि गतवतो भवति हृदयसमीहा 'किमिति न शक्नोमि अन्यद्भोक्तुम्' अशक्त्या तु न प्रवर्तते । ततो नैषा भोगेन शक्या निवर्तितं कदाचित्कामो भिलाषः कामानां काम्यमानानां स्प हणीयानामर्थानामुपभोगेन सेवया शाम्यति निवर्तते । भूयो धिकतरं वर्धते । हविषा घ तेन कृष्णवर्त्मा ग्निरिव ।

दुःखरूपश्चाभिलाषः । अनुपभुक्तरसस्य त्वभिलाषानुत्पत्तिः । तत्त्वप्रसङ्गख्यानमेतत् । उक्तं च "यत्पथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं ब्रजेत्" ॥ ६४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान् यश्चैतान्केवलान्स्त्यजेत् ।

प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ६५ ॥

अन्वय - यः एतान् सर्वान् प्राप्नुयात् यश्च एतान् केवलान् त्यजेत् सर्वकामानां प्रापणात् परित्यागो विशिष्यते ।

हिन्दी अर्थ - जो इन सब इच्छाओं या सब विषयों का उपभोग करे और जो इन सब को त्याग दे (इन दोनों बातों में) सब इच्छाओं या विषयों को सर्वथा त्याग देना अधिक अच्छा है ॥ ६५ ॥

मेधातिथिः । पूर्वोक्तं हेतुत्वेनोपजीव्यायं निगमनश्लोकः पठितः । यदासेवया वर्धते कामः अतो य एतान्कामान्कामी सर्वान्प्राप्नुयात्सेवेतानेकमण्डलेश्वर इव तरुणः, यश्चैतांस्त्यजति केवलानि ईषदपि न स्प शक्ति नैष्ठिक एव बालः । तयोर्यः प्रापको भोक्ता तस्मात्स विशिष्यते । अतिशयेन श्रेष्ठो भवति यः परित्यजेदिति । एतच्चात्मप्रत्यक्षम् ॥ ६५ ॥

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया ।

विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ६६ ॥

अन्वय - विषयेषु प्रजुष्टानि एतानि असेवया तथा सन्नियन्तुं न शक्यन्ते नित्यशः ज्ञानेन ।

हिन्दी अर्थ - विषयों में आसक्त इन इन्द्रियों को विषयों के सेवन के बिना वैसे आसानी से वश में नहीं किया जा सकता जैसे कि नित्यप्रति ज्ञानपूर्वक वश में किया जा सकता है।।६६।।

मेधातिथिः। यद्येवमरण्यवास एव तर्हि प्राप्तम्। न हि तत्र विषयाः सन्निधीयन्ते। असन्निहिताश्च न सेविष्यन्ते। तदर्थमाह-नासेवया इन्द्रियाणि नियन्तव्यानीति निःसुखम् स्यात्। अथ च स्मरन्ति न पूर्वाहणमध्यन्दिनापराहणाफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः। न च शरीरधरणसेवया भवति। किं तु गर्द्धनिषेधो यमुच्यते। स च गर्द्धः - सत्यामपि सेवायां - ज्ञानेन-विषयगत-दोषज्ञानेन-अस्थिरस्थूणं स्नायुयुतमित्यादिशास्त्रोक्तेन, स्वसंविदा च विपाकविरसतया, किं विपाकफलसेवादोषभावनया वैराग्याभ्यासेन क्रमेण स्प हा निवर्तते। न तु सहसैव त्यक्तुं शक्यते। किन्तु नित्यशः नित्यकालं, ज्ञानविशेषणमेतत्।

‘प्रदुष्टानि’ प्रव तानि। दोषवत्त्वात् प्रव तान्येव प्रदुष्टान्युच्यन्ते।

अयं शस्तत्र तत्र नित्यशः अनुपूर्वशः सर्वशः पूर्वश इति व्यासमनुप्रभ तिभिर्महानमुनिभिः प्रयुज्यते। तस्य साधुत्वे यत्नः कर्तव्यः। तत्र शसविधौ। “एकवचनाच्च वीप्सायामिति” (व्या० सू० ५।४।४३) पठ्यते। तत्र वीप्सार्थः कथञ्चित् द्योतयितव्यः। अन्ये तु शसस्तिष्ठत्यर्थस्य क्वपि रूपं वर्णयन्ति। क्रियाविशेषणं चैतत् नपुंसकम्। नित्यस्थितेन ज्ञानेनेत्यर्थः।। ६६।।

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्।। ६७।।

अन्वय - विप्रदुष्टभावस्य वेदाः त्यागः यज्ञाश्च नियमाः तपांसि च कर्हिचित् सिद्धिं न गच्छति।

हिन्दी अर्थ - जो अजितेन्द्रिय दुष्टाचारी पुरुष है, उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग करना, यज्ञ करना, नियम आदि का पालन करना, तप अर्थात् निन्दास्तुति और हानि-लाभ आदि द्वन्द्व का सहन करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं होते।। ६७।।

मेधातिथिः। अयमत्र विधिरेव। वेदास्तद्विषयमध्ययनजपादि। त्यागो दानं लक्षणया। अथवा प्रतिषिद्धस्यापि मधुमांसभक्षणादेर्निवृत्तिः फलदेत्यनेन वर्जनम्। विप्रदुष्टो भावश्चित्तं यस्य तस्य। सिद्धिं न गच्छन्ति फलसाधकानि न भवन्ति, कस्मिंश्चिदपि काले। अतो नुष्ठानकाले नाभिप्रेतादिगतमानसेन भवितव्यम्। शक्यं तर्हि सर्वतरविकल्पतिरस्कारेण कर्मणि मन आधेयम्।

अङ्गं हि कर्मसु विषयचिन्तात्यागो नेन वाक्येन विहितः। तदभावे कर्मनैष्कल्यं स्यात्। एष हि भावदोषो यत्कर्मानुष्ठाने प्रव तस्य तत्परतात्यागेन व्यसनेषु मनो वधानम्।। ६७।।

श्रुत्वा स्पष्ट्वा च दष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।। ६८।।

अन्वय - यः नरः श्रुत्वा स्पष्ट्वा, दष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च न हृष्यति (न) वा ग्लायति स जितेन्द्रियः विज्ञेयः।

हिन्दी अर्थ - जो मनुष्य सुनकर के, स्पर्श करके, देखकर के, खाकर और सूँघ करके न प्रसन्न होता और ना ही उदास होता है उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिए।। ६८।।

मेधातिथिः। श्रुत्वा वंशगीतादिध्वनि, ‘त्वं ब हृष्यति’रित्यादिवचनं श्रुत्वा-न हृष्यति। रूक्षपरुषाक्रोशवाचः श्रुत्वा न ग्लायति न मनोदुःखं भजते। ग्लानिः खेदः। स्पष्ट्वा राङ्कवकौशेयादिवस्त्रं अजलोमकृत च समत्वेनानुभवति। एवं सुवेषतरुणीजननटप्रेक्षासु शत्रुदर्शने च समः। बहुघ तं क्षीरषष्टिकां कोद्रवांश्च समं भोजने। देवदारुतैलं कर्पूरादि च तुल्यं जिघ्रतः। तथा कर्तव्यं यथा केवलैर्मानसैः सुखदुःखैर्न स्प श्यते। एवं तेन जितानीन्द्रियाणि भवन्ति। न त्वप्रव त्येव। इत्यप्यैतन्तः संयमः आश्रयणीयः।।६८।।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।

तेनास्य क्षरति प्रज्ञा द तेः पादादिवोदम्।। ६९।।

अन्वय - सर्वेषां इन्द्रियाणां तु एकं इन्द्रियं क्षरति तेन द तेः पादात् उदकमिव अस्य प्रज्ञा क्षरति ।

हिन्दी अर्थ - सब इन्द्रियों में यदि एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती है तो उसी के कारण इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है जैसे चमड़े के बर्तन=मशक में छिद्र होने से सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है।।६६।।

मेधातिथिः। “ननु च ब्रह्मचारिणा स्त्रीसम्बन्धो यत्नेन वर्ज्यः, संस्कृतभिक्षालाभस्तु किमिति निषिध्यते।” अत आह। निर्धारणे षष्ठी। एकमेव यदीन्द्रियं क्षरति स्वातन्त्र्येण स्वविषये वर्तमानं न निवार्यते। ततो स्य क्षरति प्रज्ञा धैर्यमिन्द्रियान्तरविषयमपि। द तिश्छागादिचर्मोदकाद्याहरणभाजनं, तस्य संव तेष्वपीतरेषु यद्येकस्मादुदकं पादात्स्रवति, सर्वं रिच्यते। ज्ञानाभ्याससम्भ तं धैर्यं सम्यक्ज्ञानमेव वा। विग ध्न तथा तद्गतमानसस्य न तत्त्वतो युक्तिशास्त्रगम्या अर्थाः सम्यक् प्रतिभासन्ते।। ६६।।

वशे कृत्वेन्द्रिग्रामं संयम्य च मनस्तथा।

सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम्।। १००।।

अन्वय - इन्द्रिग्रामम् वशे कृत्वा मनः संयम्य तथा योगतः तनुं अक्षिण्वन् सर्वान् अर्थान् संसाधयेत्।

हिन्दी अर्थ - पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय (इन दश इन्द्रियों के समूह को) वश में करके और मन को रोक कर तथा युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे।। १००।।

मेधातिथिः। उपसंहरति। सत्यपीन्द्रियत्वे मनसः प्राधान्यात्पथगुपादानम्। ग्रामः सङ्घातः। विधेयीकृत्येन्द्रियाणि तथा मनः। सर्वानर्थां श्रौतस्मार्तकर्मसाध्यान्संसाधयेन्निष्पादयेत्। तनुं शरीरमक्षिण्वन्नपीडयन्।

योगतः युक्त्या। सहसा कस्यचित्कठिनासनकृष्णाजिनादिप्रावरणात् पीडा भवति सुकुमारप्रकृतेः, तदर्थमिदमुच्यते। येषां सुशीलितं सुसंस्कृतं भोजनं म दुशय्यादि, न तैः सहसा तत्त्यक्तव्यमपि तु क्रमेण सात्म्यतामानेतव्यं तद्विपरीतम्। ‘योगः’ क्रमेण प्रव तिरुच्यते। तत्र च योगतो वशे कृत्वेति सम्बन्धः। यथास्थानमेव वा योगत इति योजनीयम्। युक्त्या औचित्यतः शरीरं नापनयेत्। तदुचितं शरीरस्य न तज्झटिति निवर्तयेत्। तात्पर्यं वा ‘योगः’। त तीयार्थं तसिः। तात्पर्येण शरीरं रक्षेत्।। १००।।

पूर्वा सन्ध्यां जपस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।

पश्चिमां तु सदा सीत सम्यगक्षविभावनात्।। १०१।।

अन्वय - पूर्वा सन्ध्यां अर्कदर्शनात् पश्चिमां सावित्रीं जपन् तिष्ठेत् तु सदा सीत सम्यगक्षविभावनात् समासीनः (भवेत्)।

हिन्दी अर्थ - प्रातःकालीन सन्ध्या के समय सूर्योदय तक गायत्री का जप करता हुआ बैठा रहे। सायंकालीन सन्ध्या में तारे निकलने तक (गायत्री जपता हुआ) बैठा रहे।। १०१।।

मेधातिथिः। सम्मुखे प्रातः ‘पूर्वा’ सन्ध्या आदित्यास्तमये ‘पश्चिमा’। तां तिष्ठेत् जपन्सावित्रीम्। आसनादुत्थाय निव तगतरेकत्र देशे स्यात्। सावित्री उक्तैव-‘तत्सवितुर्वरेण्यमिति’। तस्या ह्यनुवादः। ओंकारादिविधिः श्लोके सन्ध्याजपार्थ ‘एतदक्षरमेतां चेति’। आ र्कदर्शनादिति।। यावद्भगवानादित्यो द ष्टः। जपस्थानयोरयमेव विनिर्देशः।

“ननु किमवधिना अर्कोदय एव सन्ध्या निवर्तते। तथाहि। ‘न सर्वं तमः क्षीणं नापि परिपूर्णः प्रकाश एषा सन्ध्या’। उक्तं च ‘दिवि प्रकाशो भुवि चान्धकारः कालः स सावित्र इति प्रदिष्टः।’ निरुक्ते प्युक्तं ‘अधोभागः सावित्र’ इति। पशुसमाम्नाये विज्ञायते ‘कस्मात्सामान्यदधस्ताद्रामो धस्तात्कृष्ण’ इति। आदित्योदये च सर्वतस्तमो निवर्तते। उभयर्मानिव तौ च सन्ध्या-रात्रिधर्मं धमै च। अत्यन्तसंयोगे चैषा द्वितीया सन्ध्यामिति। तेन यावत्सन्ध्याकालं तिष्ठेदित्युक्तं भवति। ततः परं स्वातन्त्र्यं स्थितमेव।” केचिदाहुध्यायमत्यन्तसंयोगे द्वितीया, किं तर्हि ? “कालश्चाकर्मकाणां कर्मसंज्ञो भवतीति” वार्तिककारस्तत्र

‘कर्मणि द्वितीये’त्येव द्वितीया। यत्तु कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग” (पा० २।३।५) इति तद्यत्र क्रियावाची शब्दो न प्रयुज्यते। ‘क्रोशं कुटिला नदी’ ‘सर्वरात्रं कल्याणी’। यत्र च सकर्मको धातुः, ‘मासमधीयत’ इति स तस्य विषय। इह पुनः ‘सन्ध्यां’ तिष्ठेदिति तिष्ठतिरकर्मकः। अतो विधिनिर्देशः कृत्स्नसन्ध्याप्राप्त्यर्थं स्थानासनयोः कर्तुम्। आरम्भकालस्त्विह नोक्तः, सन्ध्याशब्देनैव समर्पितत्वात्। य एव हि सन्ध्याकालस्यारम्भः स एव तद्विधेः। न हि पूर्णमास्यादिकालवद्दीर्घः सन्ध्याकालो, यदि विलम्बः, स्याद्दर्लक्षो ह्यसावतिसूक्ष्मत्वात्तुलान्तरयोरिव नामोन्नामौ। अलक्ष्यपौर्वापर्यौ रात्रेविरामो ह्यनश्च प्रारम्भः। अतिशीघ्रगतिर्भगवान्भास्करस्तस्य यथा निर्मुक्ते राशौ राश्यन्तरसंक्रमणं त्रुटिमात्रकालमिच्छन्ति ज्योतिषिकाः। एवं दिवसारम्भावसानयोरप्युदयास्तमयौ। प्रागुदयाद्रात्रारुदिते हः। अनेन च नास्ति। ‘सन्ध्या’। आदित्योदयेनैव रात्रिविरामात्। अत एवोदयास्तमयसमीपयोरनुष्ठानप्रवृत्तिः। स्पष्टे च सूर्ये नक्षत्रेषु च निवृत्तिर्यतो य इत्यन्तं कालमुपास्ते तेनावश्यं मुख्ये काले विधिनिर्वर्तितो भवति। अत एव च यावान्सावित्रः कालः सेह सन्ध्या भिप्रेता न ज्योतिःशास्त्रगणिता। सा चोक्ता पुरस्तात्। “यद्येवं, येषामयमेवाग्निहोत्रकालस्तेषां सन्ध्याविधेरभावः प्रसक्तः”।

केयं परिचोदना। श्रौतेन स्मार्तस्य बाधो युक्त एव। नैव चात्र विरोधः। तिष्ठतापि शक्यं होतुमासीनेन च।

“ननु च न केवले स्थानासने सन्ध्ययोर्विहिते, किन्तु त्रिकजपोऽपि। तच्च सावित्रीं जपन्कथं होममन्त्रमुच्चारयेत् ?”

अस्तु जपस्य बाधः। प्रधाने तावत्स्थानासने न विरुध्येते। ‘गुणलोपे च मुख्यस्ये’-त्यनेन न्यायेन जपस्याङ्गत्वाद्बाधो युक्तः। तयोश्च प्रधानत्वं साक्षाद्विधिसम्बन्धात्तिष्ठेदासीतेति च। जपस्य तु गुणत्वं, शत्रन्तत्वाज्जपतेर्लक्षणत्वावगमात्। अधिकारसंबन्धश्च स्थानासनयोरेव, “न तिष्ठति तु यः पूर्वा” तथा “तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहतीति”।

यत्तु केनचिदुक्तं-“तिष्ठतिरत्र गुणः, प्रधानं जपकर्म। ततो हि फलमश्रौष्येति”।

तत्रोच्यते। नैवायं कामिनो धिकारः, कुतः फलश्रवणम् ? यत्तु प्रणवादिवाक्ये ‘वेदपुण्येन युज्यत’ इति फलानुवादभ्रमः, स तत्रैव निर्णीतः। तस्मात्स्थानाराने प्रधाने।

अथवा अग्निहोत्रिणः सकृत्सावित्रीं जपिष्यन्ति त्रिरावर्तयिष्यन्ति वा। न तावताग्निहोत्रस्य कालातिपत्तिः। ‘अश्नन् सायं विनिर्मुक्त’ इति न तावता विहन्यते। अश्नशब्दः चिरकालवचनः। तावता च कृतसन्ध्याथो भवति। अकदर्शनपर्यन्तता हृङ्गमेव। उदितहोमिनां कृतसन्ध्यानामेवाग्निहोत्रहोमः।

गौतमेन तु ‘सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनादिति’ (अ० २ सू० २७) सूत्रस्यार्थः। ‘एतावान्कालः सन्ध्योच्यते’। न विध्यङ्गम्। तत्रैतावति काले नास्त्यावृत्तिः। यथा ‘पौर्णमास्यां यजेतेति’ न कालानुरोधेन कर्मण आवृत्तिः, तथा ‘पूर्वा सन्ध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकरामितिः तदपि काललक्षणं ‘एतावान्काल इह सन्ध्याशब्देनोच्यते, तत्र सान्ध्यो विधिरनुष्ठेयः’। तत्रेयति सन्ध्याशब्दवाच्ये काले च मुहूर्तमात्रे यदि त्रिचतुरासु कालकलासु स्थानासनजपान्कुर्यात् सम्पन्न एव विध्यर्थः। न ह्यत्र कृत्स्नकालव्याप्तिः श्रुता मनोरिव। सर्वथाग्निहोत्रसन्ध्याविधी समानकालावपि शक्यावनुष्ठानात्।

सदाशब्दो नित्यतामाह। उभयसन्ध्याशेषः।

आसीत आसनमनूर्ध्वतावस्थानमुपविष्टो भवेत्। ‘ऋक्षं’ नक्षत्रम्। ‘आ’ तद्विभावनात्। आ कर्ददर्शनादिति य आकारः स इहानुषक्तव्यः।

सम्यक्शब्दो दर्शनविभावनयोर्विशेषणम्। सम्यग्यदा परिपूर्णमण्डल आदित्यो भवति, नक्षत्राणि च भास्वन्ति स्वभासा युक्तानि नादित्यतेजोभिभूतानि।। १०१।।

पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम्।। १०२।।

अन्वय - पूर्वा सन्ध्यां जपन् तिष्ठन् नैशम् एनः व्यपोहति पश्चिमां तु समासीनः दिवाकृतं मलं हन्ति।

हिन्दी अर्थ - प्रातःकालीन संध्या में बैठकर जप करके रात्रिकालीन मानसिक मलिनता या दोषों को दूर करता है और सायंकालीन संध्या करके दिन में संचित मानसिक मलिनता या दोषों को नष्ट करता है।। १०२।।

विशेष - अभिप्राय यह है कि दोनों समय संध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके उन्हें आगे न करने के लिए संकल्प किया जाता है तथा गायत्री-जप से अपने संस्कारों को शुद्ध पवित्र बनाया जा सकता है।

मेधातिथि। अयमत्राधिकार उच्यते। एनः प्रतिषिद्धसेवनाज्जातो दोषस्तं व्यपोहत्यपनुदति। निशि भवं नैशं रात्रौ कृतम्। एवं मलमेनःशब्देन समानार्थम्।

न च सर्वस्य दिवाकृतस्य नैशिकस्य चैतत्प्रायश्चित्तम्। तथा सति कृच्छ्राद्युपदेशप्रायश्चित्तविशेषो नर्थकः स्यात्। “अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेदिति लोकिकात्प्रवादात्। किं तर्हि ? यदनुचितं कृतं अशक्यपरिहारमनाम्नातप्रायश्चित्तविशेषं लघीय एनस्तदपैति। यथा सुप्तस्य हस्तचारशय्यापरिवर्तनादिना सूक्ष्मप्राणिवधो, गुह्याङ्गकण्डूकर्षणं ‘नाकस्मात्स्प शेदिति’ प्रतिषिद्धम्, लालास्रवादिना चाशुचित्वमतत्कालकृतशौचस्यावस्थाने प्रतिषिद्धसेवनादि। एतदभिप्रायमेवेदं “सर्वदेवाशुचिर्ज्ञेयः सन्ध्योपासनवर्जितः” इति। न चानित्यतापत्तिः, एवंविधस्य दोषस्य सर्वदाभावात्।

दिवा च पथि गच्छन्नन्यस्त्रीमुखसन्धानसम्पन्नं तज्जन्यचित्तविकारोन्मीलने क्रुद्धाश्लीलसम्भाषणम्। तत्सन्ध्याविधी अपनुदतः।।१०२।।

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।

स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः।। १०३।।

अन्वय - यः पूर्वा न तिष्ठति पश्चिमां च न उपासते सः शूद्रवत् सर्वस्मात् द्विजकर्मणः बहिष्कार्यः।

हिन्दी अर्थ - जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासन को नहीं करता उसको शूद्र के समान समझकर समस्त द्विज कार्यों से पथक् कर देना चाहिये।। १०३।।

मेधातिथिः। अनेनाननुष्ठानप्रत्यवायं वदन्नित्यतामेव समर्थयति। यः प्रातःसन्ध्यायां नोर्ध्व आस्ते, न च पश्चिमायामुपविष्टो भवति, स शूद्रतुल्यो वेदितव्यः। सर्वस्माद्द्विजकर्मणः आतिथ्यादिसत्कारसम्प्रदानादितो बहिष्कार्यो पनोद्यः। अतः शूद्रसमानतानिरासार्थं नित्यमनुष्ठेया सन्ध्या। इदमधिकारवाक्यम्। अत्र च स्थानासन एवोपास्ते जपे। यस्य चाधिकारसम्बन्धस्तत्प्रधानम्, अन्यत्तत्संबद्धमङ्गम्।। १०३।।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।

सावित्रीमप्यधीयीत गत्वा रण्यं समाहितः।। १०४।।

अन्वय - अरण्यं गत्वा अपां समीपे नियतः समाहितः नैत्यकं विधिमास्थितः सावित्रीमपि अधीयीत।

हिन्दी अर्थ - अरण्य में जाकर जल के समीप इन्द्रियों को रोककर एकाग्रचित्त से नित्य चर्या का अनुष्ठान करता हुआ गायत्री जप करे।

मेधातिथिः। अयमपरः स्वाध्यायविधिः। प्रकरणान्तरे श्रुतत्वात्पूर्वस्माद्ग्रहणार्थादिभद्यते। बहिर्ग्रामान्निर्जनो देश अरण्यम्। तद्गत्वा प्राप्यापां समीपे नदीवाप्यादिस्थाने। तदभावे कमण्डल्वादिभाजनस्थानामपि। नियतः शुचिर्यत्नवान्वा। समाहितः परित्यक्तचित्तव्याक्षेपः। सावित्रिमप्यधीयीत। यदि बहुसूक्तानुवाकाध्यायादि कयाचित्कार्यातिपत्त्या न शक्यते।

नैत्यकं विधिमास्थितः। नित्य एव नैत्यकः। नित्यो यं विधिरित्येवं स्थितप्रज्ञः।

ग्रहणार्थश्च स्वाध्यायाध्ययनविधिः प्रकृतिः, अयं विकारः संस्तदीयान्धर्मान्मा ह्णाति। तेन ‘ब्रह्मणः

प्रणवं' प्राक्कूलान्' इत्यादिधर्मो भवति। अन्ये तु 'विधा' विद्या-प्रकार-इतिकर्तव्यतेत्यादि चक्षते। नित्ये ब्रह्मचारिणा वश्यकर्तव्ये स्वाध्यायाध्ययने विधेतिकर्तव्यता तामाश्रितः। अस्य तु विधेस्तदा नित्यत्वं 'ब्रह्मसूत्रं हि तत्स्म तमित्यादिवाक्येभ्यो वसातव्यम्।

आद्यमेव व्याख्यानं युक्तरूपं द श्यते। न हि विधिशब्दः प्रकारवचनतया प्रसिद्धः। यदि च नैत्यकशब्देन ब्रह्मचारिणो विधिरुच्यते तदा "नैत्यके नास्त्यनध्यायः" (२।१०६) इत्यत्रापि नैत्यकशब्देन तस्यैवाभिधानं स्यात्ततश्चानध्ययननिषेधस्तत्रैव प्रसज्येत।।१०४।।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।

नानुरोधो स्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।। १०५।।

अन्वय - वेदोपकरणे स्वाध्याये च नैत्यके च होममन्त्रेषु च अनध्याये अनुरोधः नास्ति।

हिन्दी अर्थ - वेद के पठन-पाठन में और नित्यकर्म में आने वाले गायत्री जप या सन्ध्योपासना में तथा यज्ञ करने में अनध्याय का विचार या आग्रह नहीं होता अर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ अनध्याय का विचार लागू नहीं होता।। १०५।।

मेधातिथिः। उपकरणमुपकारकं वेदाङ्गं कल्पसूत्रनिरुक्ताद्युच्यते। तस्मिन्पठ्यमाने ध्यायेष्वनुरोध आदरो नास्ति। स्वाध्याये होममन्त्रेषु चैव ह्यनध्याया नादरणीयाः। अनध्यायेष्वध्येतव्यम्। 'न निरोध' इति वा पाठः। निव त्तिरनध्यायेष्वध्ययनस्य नास्ति। यद्यप्यध्ययनविधिधर्मो न यायायेनध्ययनं, अध्ययनविधिश्च स्वाध्यायविषयः, स्वाध्यायश्च वेदो, न च वेदशब्दवाच्यान्यङ्गानि, तथापि वेदवाक्यमिश्रत्वात् तद्बुद्धिः स्यादिति स्पष्टार्थमुच्यते। द ष्टान्तो वा यम्। वेदाङ्गेष्विव वेदे प्यनध्यायो नास्ति। होममन्त्रेषु अग्निहोत्रहोमे ये मन्त्रा अन्यस्मिन्वा सावित्रादिशान्तिहोमे। एतच्च प्रदर्शनार्थम्। शश्वज्जपप्रैषादिमन्त्राणां कर्माङ्गानां वैदिकवाक्योच्चारणमात्रधर्मो नध्यायानध्ययनं स्वाध्यायाध्ययनविधिप्रयुक्त इति मन्यमानो होमादिमन्त्रेषु चतुर्दश्यादिष्वनुच्चारणं प्रपद्येत यः, स न्यायसिद्धेनार्थनानूद्यमानेन प्रतिबोध्यते। स्वाध्यायाध्ययनविधिप्रयुक्तमनध्यायानुक्रमणं न वेदधर्मः, ततो नास्ति कर्माङ्गमन्त्रेष्वनध्यायः।

नैत्यके स्वाध्याये पूर्वेण वाक्येन सर्वाश्रमिणां विहिते नित्ये स्वाध्यायविधौ।।१०५।।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्म तम्।

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्।। १०६।।

अन्वय - नैत्यके अनध्यायः नास्ति हि तत् ब्रह्मसत्रं स्म तम् अनध्यायवषट्कृतं ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यम् (स्म तम्)।

हिन्दी अर्थ - नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है। अनध्याय में किए गए अग्निहोत्र को पुण्यरूप कहा गया है।

मेधातिथिः। पूर्वविधिशेषो यमर्थवादः। एतेन हेतुना नैत्यके नास्त्यनध्यायो यतो ब्रह्मसत्रं तत्स्म तम्। सततप्रवृत्तं 'सत्रं', यथा सहस्रसंवत्सरादिसत्रं न कदाचिद् विच्छिद्यत इत्यतः सत्रमेवमिदमपि। ब्रह्माध्ययननिर्वर्त्य 'ब्रह्मसत्रम्' सत्रत्वाच्च न कदाचिद्विच्छेत्तव्यम्। विच्छेदे हि सत्रत्वं न स्यात्। सत्रत्वमिदानीं रूपकभङ्ग्या योजयति। 'ब्रह्म'अध्ययनम् 'आहुतिहुतम्' अन्यत्सत्रं सोभाहुत्या ह्यते। जुहोतिर्निव त्तौ वर्तते। अनेकार्थत्वाद्भातूनाम्। ब्रह्मशब्देन तद्विषयाध्ययनक्रिया लक्ष्यते। ब्रह्माध्ययनमाहुतिरिव "उपमितं व्याघ्रादिभिरिति" (पा० सू० २।१।५६) समासः। 'अनध्याये यदध्ययनं' तेन 'वषट्कृतम्'। यथा याज्यान्ते अविच्छेदो वषट्कारेण क्रियत एवं चतुर्दश्याद्यनध्यायाध्ययनं वषट्कारस्थानीयम्। वषट्शब्देन वौषट्शब्दो लक्ष्यते। तेन कृतं युक्तं संस्कृतम्। साधनं कृतेति समासः।। १०६।।

यः स्वाध्यायमधीते ब्रं विधिना नियतः शुचिः।

तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घ तं मधु।। १०७।।

अन्वय - यः अब्दं स्वाध्यायम् शुचिः नियतः विधिना अधीते तस्य एषः नित्यं पयः दधि घ तं मधु क्षरति।

हिन्दी अर्थ - जो व्यक्ति वर्ष भर स्वाध्याय को अर्थात् वेदों का अध्ययन एवं गायत्री का जप, यज्ञ, उपासना आदि स्वच्छ-पवित्र होकर, एकाग्रचित्त होकर विधिपूर्वक करता है उसके लिए यह स्वाध्याय सदा दूध, दही, घी और मधु को बरसाता है अर्थात् सुफलदायी होता है।। १०७।।

मेधातिथिः। प्रकृतविधिशेषो यम्। स च नित्यसमधिगतः। नित्ये च फलश्रवणमर्थवादः। न च विधिविभक्तिर्विद्यते। येन “एकस्य तूभयत्वे संयोगः पथक्त्वमि” त्यनेन न्यायेनाधिकारान्तरहेतुः पयःप्रभ ति स्यात्। लब्धे च नित्ये धिलंकारे रात्रिसत्रन्यायोऽपि नास्ति, येन पय आदीनि निष्फलत्वेन कल्पेरन्। तस्मादर्थवाद एवायं अधीयानस्य लोकपक्त्या प्रतिग्रहादिना गोलाभात्पयःप्रभ तेः प्रक्षरणानुवादस्यालम्बनम्।

स्वाध्यायं वेदमधीते ब्दं संवत्सरं विधिना प्राक्कूलाध्यासनेन। नियतः संयतेन्द्रियः। शुचिः स्नानादिना। तस्य पुरुषस्य नित्यं यावज्जीवम्। क्षरति स्रवति ददाति, एषः स्वाध्यायः। ‘पयो दधीति।’

अन्ये तु धर्मार्थकाममोक्षान् पय आदिभिः शब्दैरभिहितान्मन्यन्ते। पयः शुद्धिसामान्याद्धर्मः, दधि पुष्टिहेतुत्वादर्थः, स्नेहसामान्यात् घ तं कामः, सर्वरसैक्यान्मधु मोक्षः। यावान्कश्चन पुरुषार्थः स सर्वो वेदाध्ययनात्संवत्सरेणैव प्राप्यते किं पुनर्बहुना कालेन ?

अर्थवादत्वात्पादिशब्दानां को र्थो युक्त इति नाभिनिवेष्टव्यम्।। १०७।।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।

आ समावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः।। १०८।।

अन्वय - कृतः उपनयनः द्विजः अग्नीन्धनम् भैक्षचर्यामधः शय्याम् गुरोः हितम् आसमावर्तनात् कुर्यात्।

हिन्दी अर्थ - यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज अग्निहोत्र करना भिक्षावत्ति, भूमि में शयन, गुरु की सेवा, समावर्तन संस्कार पर्यन्त करता रहे।। १०८।।

मेधातिथिः। सायम्प्रातः समिदिभरग्नेरादीपनमग्नीन्धनम्। अपर्यङ्कारोहणमधःशय्या। न तु स्थण्डिलशायित्वमेव। गुरवे हितमुदकूम्भाद्याहरणं शुश्रूषणलक्षणम्। यत्तु तदुपकारकरणं तद्यावज्जीविकम्। एतत् आ ब्रह्मचर्यसमाप्तेर्गुरुकुलनिव तिलक्षणात् स्नानात्कर्तव्यं, स्वाध्यायाध्ययन-विध्यर्थत्वात्। ब्रह्मचर्यस्य तद्धर्माणां च यावद्ग्रहणमनुव त्तिस्तन्नित्यं च निव त्तिः सिद्धैवेति।

अग्नीन्धनादीनां पुनर्वचनं तद्व्यतिरिक्तस्यातिक्रान्तस्य धर्मकलापरस्योत्तरेषामप्याश्रमिणामनुष्ठानार्थम्। तथा च गौतमः (अ०३ सु० ६) “इतरेषां चैतदविरोधि” इति।

“अथैवं कस्मान्न भवति-‘एते यावद्ब्रह्मचर्यभाविनः, अन्ये पुनरर्वागपि निवर्तन्त’ इति”। स्म त्यन्तरमत्र दर्शितम्। प्रधानकालानुवर्तिनश्च नियमा इत्येष न्यायः सत्यां गतौ स्यात्।

गुरवे हितमिति हितयोगे चतुर्थी (पा० सू० २।१।३६) न्याय्या।। १०८।।

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।

आप्तः शक्तो र्थदः साधुः स्वो ध्याप्या दश धर्मतः।। १०९।।

अन्वय - आचार्यपुत्रः शुश्रूषुः ज्ञानदः धार्मिकः शुचिः आप्तः शक्तः अर्थदः साधुः (एते) दश धर्मतः अध्याप्याः।

हिन्दी अर्थ - अपने आचार्य का पुत्र, सेवा करने वाला, किसी विषय के ज्ञान देने वाला, धर्मनिष्ठ व्यक्ति, छल-कपटरहित आचरण वाला, घनिष्ठ व्यक्ति मित्र आदि, विद्या ग्रहण करने में समर्थ अर्थात् बुद्धिमान्, धन देने वाला, हितैषी तथा अपने परिवार का सम्बन्धी आदि ये दश धर्म से अवश्य पढ़ाने योग्य हैं।। १०९।।

मेधातिथिः। वक्ष्यति (श्लो० २३३) 'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यत' इति तत्र कीद शाय विद्या दातव्या इति पात्रलक्षणार्थः श्लोकः। ब्रह्मचारिधर्मप्रसङ्गेनाध्यापनविधिरयमुच्यते।

आचार्यस्य पुत्रः। शुश्रूषा परिचर्या ग होपयोगि शक्तितः कर्मकरणं शरीर-संवाहनं च। ज्ञानदः यः कश्चिद्ग्रन्थ आचार्यस्य न विदितः, शिष्येण कथञ्चिच्छिक्षितो कामकलाविषयो धर्मविषयो वा। विद्याविनिमयेनेदमध्यापनम्। 'धार्मिकः' अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानप्रधानः। शुचिर्म द्वारिशुद्धः अर्थशुद्धश्च। गोबलीवर्दवत्पदत्रयमपुनरुक्तं-'धार्मिकः' 'शुचिः' 'साधुरिति'। आप्तः सुहृद्बान्धवादिः प्रत्यासन्नः। शक्तः ग्रहणधारणसमर्थः। अर्थदः। स्वः पुत्रः उपनीतश्च। पूर्वं अन्योपनीता अप्यध्याप्याः।

"ननु च धर्मत इत्युच्यते, एतैरध्यापितैर्धर्मो भवति। अर्थदश्च द ष्टेनोपकरोति, तव कुतो द ष्टकल्पना ?"

केनोक्तं कल्पनेति। श्रुते का कल्पना। साक्षादेव हि श्रुतं अध्याप्या दश धर्मत इति।

उपाध्यायस्त्वाह धर्मशास्त्रव्यवस्थोच्यते। एतैरध्यापितैर्धर्मातिक्रमो न भवति, न पुनरर्थवे अध्यापिते विद्यादानलक्षणो धर्मो भवति।।१०६।।

नाप ष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन प च्छतः।

जानन्नपि हि, मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।। ११०।।

अन्वय - नाप ष्टः अन्यायेन च प च्छतः कस्यचिद् न ब्रूयात्। मेधावी जानन् अपि लोके जडवत् आचरेत्।

हिन्दी अर्थ - कभी बिना पूछे अन्याय से पूछने वाले जो कि कपट से पूछता हो ऐसे किसी को उत्तर न देवे उनके सामने जानते हुए भी बुद्धिमान् लोक में जड़ के समान रहे।।११०।।

मेधातिथिः। अधीयानेनानुपसन्नेन यदि नाशितमपाक्षरं विस्वरं वा धीतं तदा प ष्टेन न वक्तव्यम्, 'नाशितं त्वयैवमेतत्पठितव्य मि'ति। शिष्यस्य त्वप च्छतो पि वक्तव्यम्। प च्छमानो पि यद्यन्यायेन प च्छति तथापि न वक्तव्यम्। प्रश्रयपूर्वकम्, 'अस्मिन्वस्तुनि मे संदेहस्तदुपदेष्टुमर्हसी'ति शिष्यधर्मेण प्रश्नो न्यायेन। अन्यथा तु जानन्नपि जडवत् मूक इव लोके वर्तेत आचरेदज्ञ इव तूष्णीमासीत्। शास्त्रविषयो यमप ष्टसन्देहापनयननिषेधः। व्यवहारे तु वक्ष्यति "नियुक्तो वा नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हतीति।" अन्ये त्वविशेषेणोच्छन्ति।।११०।।

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण प च्छति।

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वा धिगच्छति।। १११।।

अन्वय - यः अधर्मेण प च्छति यश्च अधर्मेण प्राह तयो अन्यतरः प्रैति विद्वेषम् वा अधिगच्छति।

हिन्दी अर्थ - जो सत्य का परित्याग दुराग्रह, कपट इत्यादि अधर्म से पूछता है और जो पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर देता है। पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है अर्थात् निन्दित होता है अथवा अत्यन्त विरोध को प्राप्त होता है।। १११।।

मेधातिथिः। अस्य प्रतिषेधस्यातिक्रमे दोषमाह अधर्मेण प ष्टो न्यायप ष्टश्च यः प्रब्रवीति 'एवमेतद्युक्तमध्येतुमिति'। यश्च प च्छति। तावुभावपि म्रियेते अप्राप्तकालो। अथेको व्यतिक्रमकारी स एव म्रियते। यद्यन्यायेन प ष्टो न वक्ति तदा प्रष्टैव वा थ प्रतिवक्ति तदोभावपि। अनेनान्यायप्रश्ने दोषदर्शनेन प्रष्टुर्न्याय्यः प्रश्नविधिः।

विद्वेषं वा द्वेष्यतां लोके प्राप्नोति।। १११।।

धर्मार्थो यत्र न स्यातां शुश्रूषा वा पि तद्विधा।

तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे।। ११२।।

अन्वय - यत्र धर्मार्थो न स्याताम् तद्विधा वा शुश्रूषा अपि (न) तत्र विद्या न वप्तव्या। (सा तु) ऊषरे शुभं बीजमिव (व्यर्था भवति)।

हिन्दी अर्थ - जहाँ धर्म और अर्थप्राप्ति न हो और गुरु के अनुरूप सेवाभावना भी न हो ऐसे को विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह ऊसर भूमि में श्रेष्ठ बीज बोने के समान है। जैसे बंजर भूमि में बोया हुआ बीज व्यर्थ होता है उसी प्रकार उक्त व्यक्ति को दी गई विद्या भी व्यर्थ जाती है।। ११२।।

मेधातिथिः। यदुक्तम् “अध्याप्या दश धर्मत” (अ० २।१०६) इति तस्यैवायं प्रकारान्तरेण सङ्क्षेपतः प्रतिनिर्देशो, नापूर्वार्थाभिधानम्, प्रकृतानुवादत्वात्। अर्थशब्द उपकारमात्रलक्षणापरो द्रष्टव्यः, विद्याविनिमयेनापि पूर्वमध्ययनस्योक्तत्वात्। तद्विधा ध्यापनानुरूपा। महती महती स्वर्ल्प स्वल्पेति। तत्र विद्या। विद्यते ज्ञायते यया सर्वो र्थ इति सा ‘विद्या’ पाठो र्थावबोधश्च। अनुपकारी ना ध्याप्यः, न चास्यार्थविवरणं कर्तव्यम्।

ऊषरो भूमिभाग उच्यते, यस्मिन्नखिले पि म त्तिकादोषाद्बीजं न प्ररोहति। शुभं श्रेष्ठं व्रीह्यादिकं लाङ्गलादिनोप्यते। एवं विद्या पि क्षेत्रे व्युप्ता महाफला भवति। न चैतन्मन्तव्यम्, अर्थमादाय यदध्यापनं सा भूतिः। न हि पणपरिमाणसम्भाषणपूर्विका तत्र प्रव त्तिः- ‘यदेयद्दासि तदैतदध्यापयामिति’। एतद्भ त रूपम्। न पुनरर्थोपकारकगन्धमात्रेण। यत्तु ‘न पूर्वं किंचिद्गुरवे उपकुर्वीतेति’ नासौ पूर्वोपकारप्रतिषेधः, किन्तु स्यान्स्यता वश्यमाज्ञापतेन गुर्वर्थो यथाशक्ति सम्पाद्यः,’ तच्छेष एव प्रतिषेधो न प थग्वाक्यम्।।११२।।

विद्यथैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।

आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्।। ११३।।

अन्वय - कामं ब्रह्मवादिना विद्यया सममेव मर्तव्यम् तु एनां घोरायां आपद्यपि इरिणे न वपेत्।

हिन्दी अर्थ - वेद का विद्वान् विद्या को साथ लेकर मर जाये पर भयंकर आपत्तिकाल में भी इस विद्या को बंजर भूमि में न बोये अर्थात् जहाँ विद्या फलवती न हो, जो उसका विनाश या दुरुपयोग करे, ऐसे कुपात्र के लिए न दे, उसे न पढ़ाये।। ११३।।

मेधातिथिः। समंशब्दः सहार्थे। अप्रतिपादितया स्वदेह एव जर्जरितया युक्तं ब्रह्मवादिनो वेदाध्यायिनो मरणं, न पुनरपात्रे प्रतिपादनम्। अनेन च ज्ञायते अध्यापनमप्यधीतवेदेनवाश्यं कर्तव्यं, न केवलं व च्यर्थम्। नापि वार्यादिदानवत्फलकामस्यैवाधिकारः। तथा च श्रुतिः “यो हि विद्यामधीत्यार्थिने न ब्रूयात्स कार्यहा स्यात्। श्रेयसो द्वारमपाव गुयात्। अध्यापयेन्महदेतद्यशस्यं वाचो धिकारं कवयो वदन्ति। अस्मिन्योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितम्। य एवं विदुरम तास्ते भवन्ति।” ‘स कार्यहा स्यादित्यनेनानध्यापने दोषानुवदन्ती श्रुतिरेवावश्यकर्तव्यतां ज्ञापयति।

इरिणे। पूर्वोक्तप्रयोजनत्रयोभावो यत्र। आपद्यपि हि घोरायां कष्टायामपि। कष्टा आपदुक्तशिष्याभावः। एतच्चावश्यकर्तव्ये सत्युपपद्यते। नित्यत्वे हि मुख्याभावे प्रतिनिधिशिष्योपादानेनाध्यापननिर्व त्तिः प्राप्ता। व्रीह्यभाववन्नीवारैः। अतो स्यामवस्थायामध्यापनाधिकारनिव त्तिरेव। यथोक्तलक्षणातिथ्य-भावे तिथिपूजानिव त्तिः। वपेदिति लक्षणया बीजधर्मेणाध्यापनमुच्यते। बीजं किल क्षेत्रोप्तं बहुफलं भवत्येवं विद्या पि।

अन्ये तु धनाभावनिमित्तामापदमाचक्षते। अत्यन्तदुर्गतेनापि नेरिणे वप्तव्येति वरं भ्रियताम्। “सर्वत एवात्मानं गोपायेद्” इति नैष विधिरतिक्रान्तो भवति सत्यपि तथाविधाध्यापने व त्त्युपाये। तदेतदयुक्तम्। अर्थदो नैवेरिणं, पूर्वोक्तानुवादत्वादिरिणशब्दस्य। यदि चार्थदो पि न भवति कथमापदि तत्र प्रव त्तिः सम्भाव्यते, या निषिध्यते।। ११३।।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्मि रक्ष माम्।

असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा।। ११४।।

अन्वय - विद्या ब्राह्मणं एत्य आह ते शेवधिः अस्मि माम् रक्ष माम् असूयकाय मा दाः तथा वीर्यवत्तमा स्याम्।

हिन्दी अर्थ - विद्या विद्वान् ब्राह्मण के पास आकर बोली-“मैं तेरा खजाना हूँ, तू मेरी रक्षा कर मुझे मेरी उपेक्षा, निन्दा या ईर्ष्या द्वेष करने वाले को मत प्रदान कर इस प्रकार से ही मैं वीर्यवती=महत्त्वपूर्ण और शक्तिसम्पन्न बन सकूंगी।।११४।।

मेधातिथिः। अयमप्यर्थवाद एव। विद्या मूर्तिमती कचिदुपाध्यायमागत्याह प्रोक्तवती। शेवधिर्निधिस्तवास्मि रक्ष माम्। का पुनस्ते रक्षा ?। असूयकाय कुत्साकराय निन्दकाय मां मादाः। निन्दकं मा ध्यापय। तथा चैवमहं वीर्यवत्तमा तिशयेन तव कार्यकारिणी भवामि। वीर्यं कार्यनिवर्त्तौ सामर्थ्यातिशयः। ‘शेवधिष्टे स्मीति’ कृतषत्त्वं पठितं तच्छान्दसप्रयोगानुकरणम्।। ११४।।

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम्।

तस्मै मा ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने।। ११५।।

अन्वय - यमेव तु शुचिं नियतब्रह्मचारिणम् विद्यात् तस्मै अप्रमादिने निधिपाय विप्राय मां ब्रूहि।

हिन्दी अर्थ - “जिसे तुम छल-कपट रहित शुद्ध श्रद्धाभाव से युक्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो उस आलस्यरहित और इस खजाने की रक्षा एवं वद्धि करने में समर्थ विप्र वेदभक्त जिज्ञासु शिष्य को मुझे पढ़ाना”।।११५।।

मेधातिथिः। यं शिष्यं शुचिं जानीयाः नियतं संयतेन्द्रियं यत्नपरं ब्रह्मचारिणं तस्मै मां ब्रूहि। यो हि निधिं पाति रक्षति। यतो सावप्रमादी न प्रमाद्यति न स्खलति, तत्परत्वात्। शक्ताप्तार्थदादीनां सर्वशिष्याणामेतद्गुणसंयोगे देयेत्यस्मादर्थवादाद्गम्यते।।११५।।

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते।। ११६।।

अन्वय - यः तु अधीयानात् अननुज्ञातं ब्रह्म अवाप्नुयात् सः ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः नरकं प्रतिपद्यते।

हिन्दी अर्थ - जो मनुष्य किसी पढ़ने-पढ़ाने वाले से उसकी बिना आज्ञा या स्वीकृति के वेदज्ञान को ग्रहण करता है वह वेदज्ञान की चोरी का भागीदार होकर नरक में जाता है।। ११६।।

मेधातिथिः। यो भ्यासार्थमधीयानस्यान्यं चोद्दिश्यैवं व्याचक्षणस्य तत्संनिकर्षमन्य आगत्य तद्ब्रह्मापूर्वं ग ह्णीयात्सन्देहं वा पनुदेत्तस्यैष दोष उच्यते। यावदनुज्ञामसौ न दाप्यते। ‘यथैते वत्सकाशादधीयत एवमहमप्यधीयीयेत्यनुज्ञातुमर्हसीति’ लब्धानुज्ञां शिक्षेत। अन्यथा तु यद्ब्रह्माध्ययनं तत्स्तेयमिव। सो ध्येता नेन ब्रह्मचौर्येण संयुक्तो नरकं महायातनास्थानं प्राप्नोति।

अधीयानादिति प चमी “आख्यातोपयोगे” (पा० सू० १।४।२६) इति। अपायस्य वा गम्यमानत्वाद्, ब्रह्म ह्यध्येतुर्निष्क्रामतीव। त्यब्लोपे वा कर्मणि। अधीयानं श्रुत्वा प्नोति शिक्षते।। ११६।।

लौकिकं वैदिकं वा पि तथा ध्यात्मिकमेव वा।

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्।।११७।।

अन्वय - यतः लौकिकम् वैदिकम् वा तथा च आध्यात्मिकमेव ज्ञानं आददीत तं पूर्वम् अभिवादयेत्।

हिन्दी अर्थ - जिससे लोक में काम आने वाला =शस्त्रविद्या, अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति विज्ञान आदि सम्बन्धी अथवा वेदविषयक तथा आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करे उसको पहले नमस्कार करे।। ११७।।

मेधातिथिः। अतिक्रान्तं प्रासङ्गिकम्। अभिवादनविधिरिदानीं प्रक्रम्यते। लोके भवं लौकिकं लोकाचारशिक्षणम्। अथवा गीतन त्यवादित्रकलानां ज्ञानं वात्स्यायनविशाखिकलाविषयग्रन्थज्ञानं वा। वैदिकं विधिनोदितम्। वेदवेदाङ्गस्मृतिविषयम्। आध्यात्मिकविद्या त्मोपनिषद्विद्या। आत्मोपचाराद्वा शरीरस्य वैद्यकम्।

एतज्ज्ञानम् यतः शिक्षेत तं पूर्वमुपदेष्टारं पुरुषमभिवादयेत्। प्रथमसङ्गमे यदाशीःप्रयोगार्थं वक्ष्यमाणस्वरूपेण प्रयोगेण शब्देन सम्मुखीकरणं सो भिवादयतेरर्थः।

पूर्वमिति प्रथमम्। तेनासौ सम्बोध्यो, न पुनस्तदीयं वचनमपेक्षितव्यम्। तदाहि प्रत्यभिवादयिता भवेत्। 'अभिवादयेदित्यनेनैव सिद्धत्वात् पूर्वशब्दो नर्थक" इति चेत्तन्न। सति ह्यस्मिन्नयमर्थो लभ्यते। धातूपसर्गार्थपर्यालोचनया ह्याभिमुख्येन वदनमात्रं प्रतीयते। अन्येनापि सम्बोधितस्य भवत्येव। ये तु 'पूर्व' स्वयोनिगुरुभ्य इति व्याचक्षते, तदप्रकृतसंशब्दितमित्युपेक्ष्यम्।।२२७।।

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।

नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी।।११८।।

अन्वय - सावित्रीमात्रसारः सुयन्त्रितः विप्रः अपि वरम् सर्वाशी सर्वविक्रयी अयन्त्रितः न।

हिन्दी अर्थ - केवल गायत्रीमन्त्र के सार का ज्ञाता जितेन्द्रिय ब्राह्मण भी श्रेष्ठ है, किन्तु तीन वेदों का ज्ञाता जो सब कुछ खाने वाला हो सब वस्तुओं का व्यापार करने वाला हो अजितेन्द्रिय हो वह श्रेष्ठ नहीं है।। ११८।।

मेधातिथिः। अभिवादानाद्याचारविधेः स्तुतिरियम्। सावित्रीमात्रं सारं प्रधानं यस्य स एवमुच्यते, सावित्रीमात्राध्ययनः। वरं श्रेष्ठो विप्रो यदि सुयन्त्रितो भवति शास्त्रनिग हीतात्मा। अयन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि शास्त्रविदपि। सर्वाशी सर्वमश्नाति लोकाचारगर्हितं साक्षादप्रतिषिद्धमपि। एवं सर्वविक्रयी। प्रदर्शनार्थावशानविक्रयौ अन्यस्यापि प्रतिषिद्धस्य।

एतदुक्तं भवति यथा न्यनियमत्यागान्निन्द्यते एवं प्रत्युत्थानादित्यागादपि।

"अथ कथं 'वरं विप्र' इति ? यावता 'वरो विप्र' इति भविष्यतम्"।

केचिदाहुः सामान्योपक्रमस्य विशेषस्याभिधानात्, 'वरमेतत्'-किं तत् ? 'यत्सुयन्त्रितो विप्र' इति। अन्ये त्वाहुराविष्टलिङ्गो वरशब्दो नपुसंकलिङ्गो प्यस्ति।।११८

शय्यासने अध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।

शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्।। ११९।।

अन्वय - श्रेयसा अध्याचरिते शय्यासने न समाविशेत् शय्यासन च एनम् प्रत्युत्थाय अभिवादयेत्।

हिन्दी अर्थ - गुरुजन आदि बड़ों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली शय्या पलंग आदि और आसन पर न बैठे और यदि अपनी शय्या और आसन पर लेटा हो या बैठा हो तो इन गुरुजन आदि बड़ों को उनके आने पर उठकर अभिवादन करे।।११९।।

मेधातिथिः। शय्या चासनं चेति 'जातिरप्राणिनामिति' (पा० सू० २।४।६) द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिन् श्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुर्वादिना च न समाविशेत् सहासीत्। किं सर्वस्मिन्नेव ? नेत्याह अध्याचरिते कल्पिते शय्यात्वेनासनत्वेन च। यत्तु शिलाफलकादिस्तत्र न दोषः। वक्ष्यति च (श्लो० २०४)। "आसीत् गुरुणा सार्धमिति", तस्यैवायमनुवादः।

अन्ये व्याचक्षत 'अध्याचरिते', अधिष्ठित इति। न समाविशेत्तत्रोत्तरकालमपि; न केवलं सहासनप्रतिषेधः। स हि वक्ष्यमाणेनैव सिद्धः। विधौ च सम्भवति नानुवादो युक्तः।

तत्र केचिदाचारतो भेदं व्याचक्षते। यद् गुरोरसाधारण्येन शय्यात्वेनासनत्वेन च विज्ञातं, यत्र गुरुः शेते आस्ते च, तत्र शिष्यः प्रत्यक्षं परोक्षं च नोपविशेत् यत्र तु कथाचिदेते क्रिये गुरुणा कृते तत्र गुरोः प्रत्यक्षं प्रतिषेधः। ईदं शमेवाध्याचरितमुच्यते, न स्वस्वामिसम्बन्धेन यदधिष्ठानम्।

शय्यासनस्थस्य च यदि श्रेयानागच्छति तदा तत् उत्थायाभिवादनं कर्तव्यम्। यत्तु 'यानासनस्थ इति' तद्गुरुदृष्टिमवरोहम्। शय्यासनत्याग एवं भूमिष्ठेन कर्तव्य इति तस्यार्थः। इदं त्वगुरोः श्रेयसः प्रत्युत्थानमासनस्थस्यैव सम्भवति।।११९।।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते।। १२०।।

अन्वय - स्थविरे आयति यूनः प्राणाः उत्क्रामन्ति प्रत्युत्थान अभिवादाभ्यां पुनः प्रतिपद्यते।

हिन्दी अर्थ - विद्या, पद, आयु आदि में बड़ों के आने पर छोटों के प्राण ऊपर को उभरने-से लगते हैं अर्थात् प्राणों में हलचल घबराहट-सी उत्पन्न होने लगती है। किन्तु उठने ओर नमस्कार करने से फिर से शिष्य प्राणों को सामान्य-स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है अर्थात् प्राणों की घबराहट, हलचल और उभराव दूर हो जाते हैं।।१२०।।

मेधातिथिः। पूर्वस्यार्थवादः। स्थविरे व द्धवयस्यायत्यागच्छति, यूनस्तरुणस्योर्ध्वं प्राणाः जीवितहेतवो न्तर्मरुत ऊर्ध्वमास्याद्ब- हिर्निष्क्रामन्ति। अपानव त्तिं परित्यज्य जीवविच्छेदं चिकीर्षन्ति प्रत्युत्थाय यदभिवादनं क्रियते तेन यथापूर्वं जीवितस्थेन्ने कल्पन्ते। प्रतिपद्यते प्रत्युज्जीवति।। १२०।।

अभिवादनशीलस्य नित्यं व द्धोपसेविनः।

चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते आयुर्धर्मो यशो बलम्।। १२१।।

अन्वय - अभिवादनशीलस्य नित्यं व द्धोपसेविनः तस्य आयुः धर्मः यशः बलम् चत्वारि वर्धन्ते।

हिन्दी अर्थ - अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में व द्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है उसको आयु, धर्म, कीर्ति और बल, इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है।। १२१।।

मेधातिथिः। सर्वानेव प्रति पूर्वाभिभाषिता यथार्हा भिवादनशीलता न पुनरभिवादनशब्दोच्चारणमेव। शीलशब्देन प्रयोजनापेक्षाभाव उच्यते। नित्यं व द्धानुपसेवते प्रियवचनादिना, यथाशक्त्या ह्युपकारेण चाराधयते। तस्य चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते। आयुर्धर्मो मुत्र स्वर्गादिफलपादपः। यशोबले च प्रागुक्ते। अर्थवादोऽप्ययं फलावगमहेतुः।। १२१।।

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्।। १२२।।

अन्वय - विप्रः ज्यायंसम् अभिवादयन् परम् अहं असौ नामा अस्मि इति स्वं नाम परिकीर्तयेत्।

हिन्दी अर्थ - द्विज अपने से बड़े को प्रणाम करते हुए अभिवादनसूचक शब्द के बाद 'मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए अपना नाम बतलाये जैसे-अभिवादये अहं देवदत्तः।।१२२।।

मेधातिथिः। येन शब्देन परः सम्बोध्यते, आशिषं प्रति प्रयोज्यते, कुशलप्रश्नं वा कार्यते, स 'अभिवादः'। अस्मादभिवादादभिवादनप्रतिपादकाच्छब्दात्परम् अव्यवहितपूर्वं इमं शब्दमुच्चारयेत् असौ नामाहमस्मीति। असाविति सर्वनाम सर्वविशेषप्रतिपादकम्। अभिमुखीकरणार्थो यमीद शः शब्दप्रयोगः 'मया त्वमभिवाद्यसे आशीर्वादार्थमभिमुखीक्रियसे'। ततो ध्येष्णामवगम्य प्रत्यभिवादमाशीर्दानादि कर्तुमारभते। न च समान्यवाचिना सर्वनाम्ना प्रयुज्यमानेनैतुदक्तं भवति, -इदं नामधेयेन मया भिवाद्यसे इत्यतो ध्येष्णामनवबुध्य कस्याशिषं प्रयुङ्क्ताम्। अपि च स्वंनाम परिकीर्तयेदिति श्रुतम्। तत्र 'असौ देवदत्तनामा हमस्मि' इत्युक्तेनाभिवादनं प्रतिपद्येत। "असावित्येतस्य पदस्यानर्थक्यादर्थानवायः"। स्म त्यन्तरतन्त्रेणापि व्यवहरन्ति सूत्रकाराः। यथा पाणिनिः (पा० सू० २।३।२) 'कर्मणि द्वितीये'ति द्वितीयादिशब्दैः। इहाप्साविति। 'स्वं नामातिदेशेनेति'। यज्ञसूत्रे पि परिभाषितम्। "यद्येवं स्व नामेत्यनेनैव सिद्धे सो नायेत्यनर्थकम्।" नामशब्दप्रयोगार्थम्। कथम् ? 'स्व नाम कीर्तयेदिदन्नामाहमिति। अनेन स्वरूपेणाहमस्मीति'। समानार्थत्वाद्विकल्पं मन्यन्ते। अत्र श्लोकद्वये एतावदभिवादानावाक्यस्य रूपं सिद्धम्। 'अभिवादये देवदत्तनामा हं भोः' उत्तरेण श्लोकेन भारित्येतद्विधास्यते। ज्यायांसमिति वचनात्समहीनानामप्यभिवादनमस्ति, न त्वयं प्रकारः, ज्यायोविषयत्वादस्य।। १२२।।

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।

तान्प्राज्ञो हमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च।। १२३।।

अन्वय - ये केचित् नामधेयस्य अभिवादं न जानते तथैव च सर्वाः स्त्रियः प्राज्ञः अहमिति ब्रूयात्।

हिन्दी अर्थ - जो कोई अभिवादन का उत्तर देते समय नामोच्चारणपूर्वक अभिवादन करना नहीं

जानते ओर उसी प्रकार सब स्त्रियों को भी बुद्धिमान् व्यक्ति 'मैं हूँ' बस इतना ही कहे अर्थात् नाम का उच्चारण न करे।। १२३।।

मेधातिथिः। वित्ताद्याधिक्येनाविदुषोऽपि यथाविध्याभिवाद्यतायां तन्निव त्यर्थमिदम्। ये केचिदविद्वांसो नामधेयस्य संस्कृतस्योच्चारितस्याभिवादमभिवादार्थम्। अभिवादिता एतेन वयमित्वैयाकरणा न जानते-संस्कृतं नावबुध्यन्ते-तान्प्राज्ञः नारीश्चाभिवाद्याः। एते न संस्कृतमुच्यमानं प्रतिपद्यन्ते, तत्र विध्येकदेशं स्वनामग्रहणं हित्वा भिवादये हमित्येतावदेव ब्रूयात् तदपि चेन्नावबुध्यन्ते, लौकिकेनापभ्रंशेनाप्यभिवाद्याः इत्येवमर्थं प्राज्ञग्रहणम्। तदीयामबोधशक्तिं ज्ञात्वोहितव्यो भिवादप्रयोगो, नोपदेश एवादर्थव्यः। स्त्रियोऽप्येवमेव। सर्वग्रहणं गुरुपत्नीनां संस्कृतप्रयोगज्ञानामपि। अन्ये तु य उपनामिकया प्रसिद्धो वनमालीवर्ण इति, पित कृतं यत्तस्य नाम तन्न प्रसिद्धम् यत्प्रसिद्धम् न तन्नामेत्यतो सौ स्वनाम कीर्तयेत्।

अन्ये तु प्रत्यभिवादं न जानत इति वर्णयन्ति। “प्रत्यभिवादे शूद्रे” (पा०सू० ८।२।८३) इति नामान्ते प्लुतो विहितः। तं ये न विदुस्तेष्वहमित्येव वाच्यम्। व्याकरणप्रयोजनोपन्यासप्रसङ्गेन चैतन्महाभाष्यकारेण प्रदर्शितम्।

“अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।।” स्म त्यन्तरसामर्थ्यादेवायमभिवादशब्दः प्रत्यभिवादे वर्तत इत्याहुः। यदि चैतदेवं न व्याख्यायते तदा‘नाभिवाद्यः स विदुषेति’ सर्वेण सर्वमभिवादप्रतिषेध आश्रीयमाणे ‘अयमहं’ वदेदिति, स्म त्यन्तरविरोधः। अस्मिंस्त्वेवं व्याख्याते स प्रतिषेधः स्तुत्यालम्बनो न विधायक एतदर्थानुसारितया नीयते।।१२३।।

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नो भिवादाने।

नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्म तः।।१२४।।

अन्वय - अभिवादाने स्वस्य नाम्नः अन्ते भोः शब्दं कीर्तयेत् हि ऋषिभिः' भो भावः नाम्नां स्वरूपभाव स्म तः।

हिन्दी अर्थ - अभिवादन में अपना नाम बताने के पश्चात् 'भोः' यह शब्द भी लगायें क्योंकि ऋषियों ने 'भोः' के अभिप्राय को नामों के स्वरूप का द्योतक ही माना है अर्थात् 'भोः' संबोधन के उच्चारण में ही नाम का अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है। जैसे-“अभिवादये अहं देवदत्तः 'भोः'।। १२४।।

मेधातिथिः। स्वस्य नाम्नो न्ते भोःशब्दं कीर्तयेत्। स्वग्रहणमभिवाद्यमानप्रतिषेधार्थम्। परिशिष्टो र्थवादः। न च नामाक्षराणामेवान्तेऽपि तु ततः परेषाम् अहमस्मीति। एष हि तत्रेतिकरणं प्रयोगावधारणार्थम्। एवमेव प्रयोक्तव्यः। अपि च देवदत्तो भो अहमिति दुःशिष्टे प्रयोगे विलम्बितायां प्रतिपत्तौ सम्मुखीभावश्चिरेण स्यात्तत्र कार्यविरोधः व्यवहितसंबन्धे कश्चिन्नैवावधानवान्स्यात्।

स्वरूपभावः स्वरूपस्य सत्ता। अथवा भिवाद्यनाम्नां 'स्वरूपे' भवति, तत्स्थाने भवत्यतस्तन्नामनिवृत्तिः। भावसाधनः कर्तृसाधनो वा भावशब्दः। स्वरूपभाव इति सप्तम्यन्तो वा पठितव्यः। भावः भो इत्येतस्य यद्भवन्नं यत्स्वरूपं तन्नाम्नां स्वरूपम्। यथैव नाम गृहीत्वा कस्यचित्सम्बोधनं क्रियते-‘देवदत्त श्रूयतामि’त्येवं भोःशब्दोऽप्यामन्त्रितविभक्त्यन्तः सम्बोधनायैवं ऋषिभिः स्मर्यते।। १२४।।

आयुष्मान् भव सौम्येति वाच्यो विप्रो भिवादाने।

अकारश्चास्य नाम्नो न्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः।। १२५।।

अन्वय - अभिवादाने विप्रः सौम्य! “आयुष्मान् भव” इति वाच्यः। अस्य स्व नाम्नः अन्ते अकारः पूर्वाक्षरः प्लुतः (वाच्यः)।

हिन्दी अर्थ - अभिवादन का उत्तर देते समय द्विज को 'हे सौम्य !' आयुष्मान् हो' ऐसा कहना चाहिए और नमस्कार करने वाले के नाम के अन्तिम अकार आदि स्वरों को पहल अक्षर सहित प्लुत को ध्वनि में उच्चारण करे। जैसे-‘यज्ञदत्त’ नाम में अन्तिम स्वर अकार है, जो 'त्' में मिला

हुआ है। इस प्रकार 'त्' सहित अकार को अर्थात् अन्तिम 'त' को ही प्लुत बोले। उदाहरण है-“आयुष्मान् भव सौम्य यज्ञदत्तः” ॥ १२५ ॥

मेधातिथिः। अभिवादाने कृते प्रत्यभिवादः पित्रा भिवादयिता एवं वाच्यः आयुष्मान्भव सौम्येति। इतिशब्दः प्रकारे। आयुष्मानेधि दीर्घायुर्भूयाश्चिर जीवेत्येवमादिशब्दपरिग्रहः शिष्टाचारप्रसिद्धो भवति। अकारश्चास्य प्रत्यभिवाद्यस्य यन्नाम तदन्ते यो कारः स प्लुतः कर्तव्यः। प्लुत इति त्रिमात्रस्य संज्ञा। अकारग्रहणमिकारादीनामपि प्रदर्शनार्थम्। अनपेक्षमेव चान्तत्वं दृष्टव्यम्। व्य जनान्तस्यापि यो न्यः स्वरस्तस्य भवति। पूर्वाक्षर इति प्लुतभाविनो कारस्य विशेषणमेतत्। अक्षरमत्र व्य जनम्। तत्र पूर्वश्लिष्टः स एवमुच्यते। एतदुक्तं भवति-पूर्व एव नागन्तुरकारः प्लुतः कर्तव्यः, किं तर्हि ? य एव नाम्नि विद्यते स एव प्लावयितव्यः। सर्वं चैतदेवं व्याख्यानं भगवतः पाणिनेः स्मृतिसामर्थ्येन। शब्दार्थप्रयोगे च मन्वादिभ्यो धिकतरः प्रामाण्ये भगवान्पाणिनिः। स च 'प्रत्यभिवादे शूद्रे'। (पा० सू० ८।२।८३) टेः प्लुतिं स्मरति। टिशब्देन यो न्यो च तदादिशब्दरूपमुच्यते।

विप्रग्रहणमविवक्षितम्। क्षत्रियादीनामप्येष एव विधिः स्मृत्यन्तरसमाचारो ह्येवमेव स्थितः। न चैषां विध्यन्तरमस्ति। अत्रोदाहरणमायुष्मान् भव देवदत्तः ३। व्य जनान्तस्यायुष्मानेधि सोमशर्मः ३११ ॥ १२५ ॥

यो न वेत्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।

नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

अन्वय - यः विप्रः अभिवादस्य प्रत्यभिवादनम् न वेत्ति विदुषा सः न अभिवाद्यः। सः यथा शूद्रः तथैव (अस्ति)।

हिन्दी अर्थ - जो द्विज अभिवादन करने के उत्तर में अभिवादन करना नहीं जानता अर्थात् नहीं करता बुद्धिमान् आदमी को उसे अभिवादन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह शूद्र के समान है ॥ १२६ ॥

मेधातिथिः। “यो न वेत्ति प्रत्यभिवादनमित्येवं वाच्यमभिवादस्येत्यतिरिच्यते, न सङ्गच्छते।” नैवम्। अभिवादस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनमित्येवं योजना क्रियते। येन स्वनामोच्चार्याभिवादनं कृतं तस्य नामान्ते प्लुतिः कर्तव्या। यस्त्वं भो इत्येवमभिवदेन्न तस्य नामोच्चारणं नापि प्लुतिरिति। नाभिवाद्य इत्यभिवादन-शब्दोच्चारणप्रतिषेधः। यथाविहितमभिवादनं कर्तव्यम्, न पुनरहं भो इत्यादि, तस्य प्राग्दर्शितत्वात्। यथा शूद्र इति च दृष्टान्तेनैतदेव ज्ञायते। शूद्रस्यापि वद्धवयसो भिवाद्यत्वं पूर्वाभिभाष्यत्वमिष्यते।

विदुषेति पादपूरणार्थम् ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।

वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

अन्वय - समागम्य ब्राह्मणं कुशलं, क्षत्रबन्धुमनामयम्, वैश्यं क्षेमं शूद्रं च आरोग्यमेव पच्छेत्।

हिन्दी अर्थ - मिलने पर ब्राह्मण से कुशलता-प्रसन्नता एवं वेदाध्ययन आदि की निर्विघ्नता, क्षत्रिय के बल आदि की दृष्टि से स्वास्थ्य के विषय में, वैश्य से क्षेम-धन आदि की सुरक्षा और आनन्द के विषय में और शूद्र से स्वस्थता के विषय में पूछे ॥ १२७ ॥

मेधातिथिः। कृताभिवादनप्रत्यभिवादनयोः सौहार्दं प्राप्ते जिज्ञासाप्रश्ने जातिभेदाश्रयः शब्दनियमो यमिष्यते। प्रष्टव्यानां जातिनियमो यं, न प्रष्टव्यानाम्। नात्यन्तभिन्नार्थत्वाच्च एतेषां स्वरूपनियमो यं विधीयते। आरोग्या नामयशब्दौ समानार्थौ। एवं क्षेमकुशलशब्दावपि नात्यन्तभिन्नौ कुशलशब्दो यद्यपि प्रावीण्यवचनस्तथापीह संयोगिनामर्थानां शरीराणां चानपाये वर्तते। एते वश्यं प्रयोक्तव्याः। अन्येषामपि यथाप्रतिभं विशेषजिज्ञासाया प्रतिषेधः। तथा महाभारते कस्मिंश्चिदध्याये दर्शितम्।

केचिदिह 'समागम्येति' लिङ्गान्न गुर्वादिविषयो यं प्रश्नः, किं तर्हि ? सवयसामेव। अभिगमनं हि गुरौ विहितं, न यद च्छया समागमः। अभिगमने पि समागमो स्तीति यत्किंचिदेतत्॥ १२७॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।

भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित्॥ १२८॥

अन्वय - दीक्षितः च यवीयान् अपि भवेत् (सः) नाम्ना अवाच्यः। धर्मवित् एनं भो भवत् पूर्वकं अभिभाषेत्।

हिन्दी अर्थ - उपनयन में दीक्षित यदि कोई छोटा भी हो तो उसे नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिये। व्यवहार में चतुर व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने से छोटे ऐसे व्यक्ति को 'भोः' 'भवत्' जैसे आदरबोधक शब्दों से सम्बोधित करे॥१२८॥

मेधातिथिः। प्रत्यभिवादनकाले अन्यत्र च दीक्षितो ज्योतिष्टोमादिषु दीक्षणीयातः प्रभ त्या अवभ थान्नाम्ना न वाच्यस्तस्य यन्नामधेयं तन्नोच्चारयितव्यम्। यवीयान्कनीयानचिरकालजातः। अपिशब्दात् ज्येष्ठस्यादीक्षितस्यापि नामग्रहणनिषेधो नुमीयते। तथा च गौतमः (अ० २ सू० २३) "नामगोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत्"। 'मान' पूजा तत्पूर्वकं नाम ग्रहीतव्यं, तत्रेश्वरो जनार्दनमिश्र इति।

"कथं तर्हि दीक्षितेन कार्यार्थं सम्भाषः कर्तव्यः ?" - भोभवत्पूर्वकम्। भोः - शब्दं पूर्वं प्रयुज्यै न दीक्षितमभिभाषेत, दीक्षितयजमानादिशब्दैर्योगिकैः। न तु भोः - शब्दपूर्वकं नामग्रहणमभ्यनुज्ञायते। भोभवच्छब्दः पूर्वं यस्याभिभाषणस्य तदेवमुक्ते द्वयोश्चैतयोः शब्दयोरेकत्र वाक्ये प्रयोगाभावाद् व्यवस्थां व्याचक्षते। यदा तेन सह सम्भाषणं भवति तदा मन्त्रितविभक्त्यन्तेन भोःशब्देन सम्बोध्यः। यदा तु तदीयगुणाख्यानं परोक्षं करोति, 'तत्रभवता दीक्षितेनैवं कृतं' 'तत्रभवानेवं करोती'त्येवं प्रयोक्तव्यम्। भवदिति च प्रातिपादिकमात्रमुपात्तं, यथा विभक्त्या सम्बन्धकुपैति तदन्तं प्रयोक्तव्यम्॥ १२८॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बद्धा च योनितः।

तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च॥ १२९॥

अन्वय - या परपत्नी योनितश्च असम्बद्धा स्त्री स्यात् ताम् भवति, सुभगे, भगिनी इति एवं ब्रूयात्।

हिन्दी अर्थ - जो कोई दूसरे की पत्नी और योनि से सम्बन्ध न रखने वाली स्त्री अर्थात् सगी बहन आदि न हो उसे 'भवति!' (आप), 'सुभगे !' (सौभाग्यवती) 'भगिनी !' (बहन) इस प्रकार के शब्दों से सम्बोधित करे॥ १२९॥

मेधातिथिः। अर्थप्रयुक्तं सम्भाषणं स्त्रिया सह यदा भवति तदैव कर्तव्यम्।

या तावत्परस्य पत्नी सा 'भवति सुभगे' अथवा 'भवति भगिनि'। भवच्छब्दो यं स्त्रीप्रत्ययान्तः सम्बद्धौ कृतह्रस्वः। भवतीत्यत्रेभिकरणं पदार्थविपर्यासकृतस्वरूपं बोधयति; सुभगे भगिनीत्यत्र प्रकारे। ब्रूयादित्यधिकाराच्छब्दस्वरूपग्रहणं सिद्धम्।

आचार्यतायां च 'मातर्यशस्विनि', कनीयसी च 'दुहितरायुष्मती'त्येवमादिभिः शब्दैः संभाष्या।

पत्नीग्रहणात्कन्याया नैष विधिः।

असम्बद्धा च योनितः। मात पक्षपित पक्षाभ्यां या ज्ञातित्वं नागता मातुलदुहित्रादिः तासामन्यं वक्ष्यति (१३२ श्लोक) 'ज्ञातिसम्बन्धियोषित' इति।

"ननु च तेनैव तत्सिद्धम्, अस्योत्सर्गस्यान्यत्र चरितार्थत्वात्किमसम्बद्धा चेत्यनेन"। नात्र पौनरुक्त्योद्भावने यतितव्यं, पद्यग्रन्थो यम्॥१२९॥

मातुलांश्च पित व्यांश्च श्वशुरान त्विजो गुरुन्।

असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः॥ १३०॥

अन्वय - मातुलान्, पित व्यान् श्वशुरान् ऋत्विजः गुरुन् च यवीयसः (अपि) प्रत्युत्थाय अहम् असौ

इति ब्रूयात्।

हिन्दी अर्थ - मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज और गुरुजन आदि बड़ों को यदि ये छोटे भी हों तो भी उठकर 'मैं अमुक' इस प्रकार नामोच्चारण पूर्वक नमस्कार करे।। १३०।।

मेधातिथिः। गुरुनिति। वचननिर्देशान्न य एवात्र गुरुरुक्तः स एव ग ह्यते। किं तर्हि गौतमीय इव सामान्यशब्दो वित्तादिज्येष्ठवचनः। तान्यवीसो भागिनेयादेः स्ववयोपेक्षया हीनवयसः। असावहमिति स्वं नाम निर्दिष्यते। तत्परश्चाहंशब्दो भ्यनुज्ञायते। एतच्च प्रत्युत्थायागतानां कर्तव्यम्। अभिवादाने भोःशब्दप्रयोगो निषिध्यते। उक्तं च गौतमीये "प्रत्युत्थानमनभिवाद्याः" इति।। १३०।।

मात ष्वसा मातुलानी श्वश्रूथ पित ष्वसा।

सम्पूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया।। १३१।।

अन्वय - मात ष्वसा मातुलानी श्वश्रूः अथ पित ष्वसा गुरुपत्नीवत् सम्पूज्या (हि) ताः गुरुभार्यया समाः।

हिन्दी अर्थ - मौसी, मामी, सास और बूआ ये गुरुपत्नी के समान ही पूजनीय हैं क्योंकि वे गुरुपत्नी के समान स्तर की ही हैं।। १३१।।

मेधातिथिः। एताश्च गुरुपत्नीवत्सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादानासनदानादिभिः। गुरुपत्नीवत् इत्यनेनैव सिद्धे समास्ता इति वचनमन्यदप्याज्ञादि गुरुपत्नीकार्यं कदाचिदनुजानाति। इतरथा प्रकरणात्सम्पूज्या इत्यभिवादानविषयमेव स्यात्। परिवयसश्च स्त्रियः स्मर्यन्ते। कनीयसीनामप्येष एवाभिवादानविधिः।। १३१।।

भ्रातुर्भार्योपसङ्ग्राह्या सवर्णा हन्यहन्यपि।

विप्रोष्य तूपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः।। १३२।।

अन्वय - सवर्णा भ्रातु भार्या अहनि अहनि उपसङ्ग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः तु विप्रोष्यसङ्ग्राह्या।

हिन्दी अर्थ - बड़े भाई की सवर्णा स्त्री का प्रतिदिन चरणस्पर्श करके अभिवादन करना चाहिए, ओर जातिवालों तथा सम्बन्धियों की पत्नियों का तो केवल परदेश से लौटकर ही चरणस्पर्श करके अभिवादन करना चाहिये अन्यथा बिना चरणस्पर्श किये ही अभिवादन करें।। १३२।।

मेधातिथिः। भ्रातुर्ज्येष्ठस्येति द्रष्टव्यम्। उपसङ्ग्राह्या पादयोरभिवाद्या। सवर्णा समानजातीया। क्षत्रियादिस्त्रीणां तु ज्ञातिसम्बन्धिधर्मो भ्रातुर्भार्याणामपि।

विप्रोष्य ज्ञातिसम्बन्धियोषितः। 'विप्रोष्य' प्रवासात्प्रत्यागतेन। न हि प्रोषितस्योपसङ्ग्रहणसम्भवः। ज्ञातयः पित पक्षाः पित व्यादयः, सम्बन्धिनो मात पक्षाः श्वशुरादयश्च, तेषां ज्येष्ठानां याः स्त्रियः। पूजारूपत्वादुपसङ्ग्रहणस्य, न कनीयस्यः पूजामर्हन्ति।। १३२।।

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।

मात वद्व त्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी।। १३३।।

अन्वय - पितु मातुश्च भगिन्यां ज्यायस्यां च स्वसरि अपि मात वत् व त्तिं आतिष्ठेत्। माता ताभ्यः गरीयसी।

हिन्दी अर्थ - पिता की और माता की बहन अर्थात् बूआ और मौसी के साथ तथा बड़ी बहन के साथ भी माता के समान बर्ताव करे, किन्तु माता उन सबसे अधिक बड़ी है।। १३३।।

मेधातिथिः। पितुश्च या भगिनी मातुश्च या भगिनी तस्यां स्वसरि चात्मीयायां ज्येष्ठायां भगिन्यां मात वद्व त्तिरतिदिश्यते।

"ननु च मात ष्वसुः पित ष्वसुश्चायमुक्त (श्लो० १३१) एव धर्मो 'मात ष्वसा मातुलानी' इत्यत्र। अथोच्यते। 'तत्र गुरुपत्नीवदित्युक्तम्। इह तु मात वद्व त्तिरित्युच्यत इति।' "नैष भेदः। तुल्या हि गुरुपत्न्यां मातरि च व त्तिः"।

केचिदाहुः माता ताभ्यो गरीयसीत्येतद्वक्तुमनूद्यते भगिन्योः पितुर्मातुश्च गरीयस्त्वम्। यदा माता ज्ञां ददाति स्वस्नादयश्च तदा मातुराज्ञा क्रियते न तासाम्। न चैतद्वाच्यमेतदपि सिद्धं “माता गौरवेणातिरिच्यते” इति। अर्थवादत्वात्तस्य।

अन्ये तु गुरुपत्न्या मातुश्च वृत्तिभेदं मन्यन्ते। गुरुपत्न्याः पुजाज्ञाद्यावश्यकम्। मातुस्तु शैशवाद्वाल्लभ्येनान्यथात्वमपि। लालनात्तत्रोभयापदेशान्मातृष्वसुः पितृष्वसुश्च व्यवस्था। शैशवे लालनं तुल्यमेव स्वस्यां स्वसरि। अतीतशैशवस्य तु गुरुपत्नीवत्संपूज्यत्वमिति। न चानेनैवैतत्सिध्यति। असति हि वाक्यद्वये मातृवद्वत्तिरित्येतावता प्राकरणिकी अभिवादननिर्वृत्तिरेव विज्ञायेत।। १३३।।

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं प चाब्दाख्यं कलाभ ताम्।

त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु।। १३४।।

अन्वय - पौरसख्यं दशाब्दाख्यम् कलाभ तां प चाब्दाख्यम् श्रोत्रियाणां तु त्र्यब्दपूर्वं स्वयोनिषु स्वल्पेनापि (व्यवहारः कार्यः)।

हिन्दी अर्थ - नगर या ग्रामवासियों के साथ मित्रता का बर्ताव दश वर्ष की आयु के अन्तर तक होना चाहिये। कलाओं के जानने वालों में पांच वर्ष के अन्तर तक, वेदपाठियों के साथ तीन वर्ष के अन्तर के तक समान मित्रता का व्यवहार होना चाहिये अर्थात् उक्त अन्तरों में बड़े-छोटे का अधिक विचार नहीं करना चाहिये किन्तु अपने कुल वालों में आयु का थोड़ा अन्तर में भी छोटे-बड़े का व्यवहार रखना चाहिये।। १३४।।

मेधातिथिः। उक्तं पूर्वं “ऊर्ध्वं पणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयतीति”। तत्र कियदिर्भर्वषैः स्थाविर्यं भवति। लोके हि शिरःपालित्ये स्थविरव्यवहारः तन्निरूपणार्थमिदम्।

दशभिर्वर्षैर्जन्मनो धिकैरपि पौराणां सख्यमाख्यायते। तेन दशवर्षाधिको ज्येष्ठो भवति, अपि तु मित्रवद्व्यवहर्तव्यः। यथोक्तं ‘भो भवन्निति वयस्य’ इति। दशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं ज्येष्ठः। आख्यानामाख्या। दशाब्दा आख्या यस्य सख्यस्य। त्रिपदो बहुव्रीहिः। आख्यानिमित्तत्वाद्दर्षणां सामानाधिकरण्यं, निमित्तनिमित्तिनोर्भेदस्याविवक्षितत्वात्। एतावांश्च समासान्तर्भूतो र्थः ‘यः पूर्वजो दशवर्षाणि यावत्स सखैव भवति’। पुरे भवाः ‘पौराः’ तेषाम्। पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थं, ग्रामवासिनामपि एष एव न्यायः। ये केचिदेकस्मिन् ग्रामे वसन्ति तावत् यस्मिन् परस्परप्रत्यासत्तिहेतुर्विद्यते ते सखायः।

ये तु कलां का चनं विभ्रति शिल्पगीतवाद्यादिकां, तेषां प चवर्षाणि यो धिकः स सखा; तत ऊर्ध्वं ज्येष्ठः। त्रयो ब्दाः पूर्वं यस्य तच्छ्रोत्रियाणां सख्यम्। अल्पेनापि कालेन स्वयोनिषु एकवंश्येषु कतिचिदहानि यो धिकः स ज्येष्ठः। “कियान्युनः स्वप्लकालः।” न तावत् त्र्यब्दः। त्र्यब्दपूर्वमिति निर्दिश्याल्पेनेत्युच्यमानस्ततो न्यूनः प्रतीयते। एकवचननिर्देशाच्च न वर्षद्वयम्। नाप्येको ब्दः। स्वल्पेनेति विशेषणानुपपत्तेः। परिच्छिन्नपरिमाणो ह्यब्दवाच्यो र्थः तस्याहोरात्रमात्रेण न्यूनस्य नाब्दत्वमस्ति। तस्मादल्पेनेति कालसामान्यमपेक्षते। संवत्सरादवरश्च तस्य विशेषः। अपिशब्दश्चैवशब्दस्यार्थं द्रष्टव्यः। अल्पेनैव कालेन सख्यं, बहुना तु ज्येष्ठत्वमेव।

एतच्च समानगुणानां समानजातीयानां च द्रष्टव्यम्। एतेन लौकिकं स्थविरलक्षणं निवर्तितमापेक्षिकमाश्रितम्। अन्ये तु व्याचक्षते। नानेन स्थविरत्वं लक्ष्यते, किं तर्हि ? सखित्वमेव। यथाश्रुतत्यागेन स्थविरलक्षणं स्यात्, ‘इयता कालेन सखा परतस्तु ज्येष्ठ इति’। अयं च श्लोकार्थः। एकत्र पुरे वसन्ति दशवर्षाणि यावत्तानि मित्राणि कलाश्चतुःषष्टिस्तद्विदां सङ्ख्या प चभिर्वर्षैः स्वयोनिषु स्वल्पेनापि च कालेन सह वसतां मित्रत्वमेव। अतश्च न सर्वो वयसा तुल्यो वयस्यः, किं तर्हि ? एतदेव। समानवयस्त्वे चैतल्लक्षणम्।

युक्तमेतत्। किन्तूत्तरश्लोको विरुध्यते। तत्र हि जातेः प्राधान्यं, न वयसः। यदि चात्रेयता कालेन ज्यैष्ठ्यमुक्तं भवति तदा विजातीयानामप्याशङ्क्यमानं न निवर्त्यत इति युक्तम्। पूर्वं च व्याख्यातार आद्यमेव व्याख्यानं मन्यन्ते।। १३४।।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।

पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥ १३५॥

अन्वय - दशवर्षं तु ब्राह्मणं शतवर्षं तु भूमिपम् पितापुत्रौ विजानीयात् तयोः पिता तु ब्राह्मणः।

हिन्दी अर्थ - दश वर्ष के तो ब्राह्मण को और सौ वर्ष के क्षत्रिय को क्रमशः पिता और पुत्र समझना चाहिये उनमें ब्राह्मण ही पिता है॥ १३५॥

मेधातिथिः। दशवर्षाणि जातस्य यस्य स भवति 'दशवर्षः' परिच्छेदकः कालः, तस्य परिच्छेदो ब्राह्मणः श्रुतः। न च तस्योच्चनीचतादि कार्यादि वा कालेन परिमातुं शक्यम्, किं तर्हि ? तदीया काचित्क्रिया सा च जन्मनः प्रभृति नित्यसमवायिनी प्राणधारणलक्षणैव।

एवं शतवर्षमिति। पितृपुत्रौ तौ द्रष्टव्यौ। तयोः सम्प्रधार्यमाणयोर्ब्राह्मणः पिता। चिरवद्वेनापि क्षत्रियेण स्वल्पवर्षोऽपि ब्राह्मणः प्रत्युत्थायाभिवाद्यश्चेति प्रकरणार्थः॥ १३५॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पचमी।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥ १३६॥

अन्वय - वित्तं बन्धुः वयः कर्म पचमी विद्या भवति। एतानि मान्यस्थानानि यद् यद् उत्तरं गरीयः।

हिन्दी अर्थ - एक-धन, दूसरे-बंधु, कुटुम्ब, कुल, तीसरी-आयु, चौथा-उत्तम कर्म और पांचवीं-श्रेष्ठ विद्या ये पांच सम्मान के स्थान अर्थात् कारण हैं, परन्तु जो-जो परला है वह अतिशयता से उत्तम है॥ १३६॥

मेधातिथिः। उक्तं जातेरुत्कर्षहेतुत्वम्। हीनजातीयेनोत्तमजातीयः पूज्यः। इदानीं समानजातीयानां य अभिवादानादिपूजाहेतवस्तेषां बलाबलमुच्यते। तत्र वयसः पुनरभिधानं बलाबलार्थम्।

वित्तादिसम्बन्धोऽत्र सर्वत्र पूजाहेतुः। वित्तवत्त्वं बन्धुमत्त्वं मानस्थानमिति। अयमत्रार्थः - न विशिष्टबन्धुतैव पितृ व्यमातुलादिरूपता मानकारणं, बन्धुमान्यो बहुबन्धुः स पूज्यः।

वयः प्रकृष्टमिति ज्ञेयम्। पूजाहेतुः। ईदं श एव चार्थे प्रायेणायं प्रयुज्यते। "पित्रा पुत्रो वयःस्थोऽपि सततं वाच्य एव सः" इति। यावच्च वयः पूजाहेतुः तदुक्तमेव 'दशाब्दाख्यमिति'।

कर्म श्रोतं स्मार्तं तनदुष्टानपरता। विद्या साङ्गसोपकरणवेदार्थज्ञानम्।

"ननु विद्वान्यजते विद्वान्याजयतीत्यविद्यस्य कर्मानुष्ठानानधिकाराद्विद्यया विना कथं कर्मणां मानहेतुता ?"

नैष दोषः। प्रकर्षोऽत्राभिप्रेतः। अतिशयवती विद्या मानहेतुः। स्वल्पविद्यस्याप्यनुष्ठानोपपत्तिः। यो यावज्जानाति स तावत्यधिक्रियते। न विद्याया वाचनिकमधिकारहेतुत्वमपि तु सामर्थ्यलक्षणम्।

"अविदितकर्मस्वरूपो ह्यवैद्यस्तिर्यक्कर्मा क्वाधिक्रियताम् ?"

शक्यं ह्यनेन कतिचित्स्मृतिवाक्यान्पुपश्रुत्य जपतपस्यनुष्ठानम्। अग्निहोत्रादिकर्मणां तु वेदवाक्यावबोध उपकरोति। तत्रापि यो यावज्जानाति स तावत्यधिक्रियते। अग्निहोत्रवाक्यानां यो र्थं वेत्ति स तत्राधिक्रियते। क्रत्वन्तरज्ञानं न तत्रोपकारकम्।

अथोच्यते-"वेद कृत्स्नो धिगन्तव्यः", इति कृत्स्नवेदविषयो यं विधिरवबोधपर्यन्तः। तत्र कृत्स्नस्य वेदस्यावबोधे कर्तव्ये कुतो यं प्रतिभागावबोधसंभवः ? येनोच्यते 'योऽग्निहोत्रवाक्यस्यार्थं वेत्ति वाक्यान्तरार्थमविद्वानप्यधिक्रियते', इति।

अत्रोच्यते। एकशाखाध्ययनं तावदवश्यं कर्तव्यम्। तत्र येनैकशाखा धीता तस्याश्चार्थो वध तः सो नवध तशाखान्तरार्थो धिक्रियते।

"ननु च सर्वत्रैक एव शास्त्रार्थः। यदि नाम पदवर्णानुपूर्वीभेदः, शास्त्ररूपं त्वभिन्नम्। पदार्थन्यायव्युत्पत्त्या तावबोधः। न च प्रतिशाखं पदार्था भिद्यन्ते। नापि न्यायः। तत्र येनैव हेतुनैकस्याः शाखाया अर्थो वधार्यते शाखान्तरेऽप्यसावस्ति, न व्युत्पत्त्यन्तरमपेक्ष्यते। तत्र यद्येका शाखा वगता, सर्वा एवावगता भवन्ति।"

सत्यम्। यान्येकस्यामग्निहोत्रादीन्युपदिष्टानि तेषां शाखान्तरे प्युपदिश्यमानानां मा भूद् भेदः। किन्तु कस्याचिच्छाखायां कानिचित्कर्माणि नैवोपदिश्यन्ते। यथा बाह्व चे आश्वलायनके दर्शपूर्णमासौ श्येनादिराभिचारिकः, अन्ये च सोमयागवाजपेयब हस्पतिसवादयः। तत्र यत्तच्छाखाधीनमग्निहोत्रज्योतिष्टोमादि तत्राधिक्रियते। शाखान्तरं त्वनधीतमश्रुतं कथं तद्विहितानि कर्माण्यतच्छाखाध्यायी वेत्तु। न चैते सोमयागा नित्या, येनाननुष्ठानप्रत्यवायभयात्परिज्ञानाय शाखान्तरमन्विष्येत। आधानं तु यद्यपि तत्र न पठितं तत्राप्युद्धराहवनीयमि;त्याहवनीयस्य विधानम्। लोकात्तदर्थमनवबुध्यमानः को यमाहवनीयो यस्याधानमिति शाखान्तरमन्विष्यति। ततः शाखान्तरे पठ्यमानमाधानप्रकरणं सर्वं पर्यालोचयति। एवमामावास्येन वा हविषेष्ट्वा पौर्णमासेन वेति श्रुत्वा कीद शमनयोः कर्मणो रूपमिति तथैव शाखान्तरं गवेषयते। एवमन्यदपि यत्काम्यं नित्यं चानुष्ठेयं तस्य यत्किंचिदङ्गजातं तत्र नाम्नातमाध्वर्यवमौद्गात्रं वा तत्परिज्ञाय तथैव शाखान्तराधिगमः। यत्तु शाखान्तराधीतमनुष्ठेयं तस्य न वेदनसम्भवः। अनेकशाखाध्यायिनस्तु तदर्थपरस्य सर्वमेतत्प्रत्यक्षमिति। अस्तीद शीं विद्यामन्तरेणापि कर्मानुष्ठानम्। अथवा ईषद्व्युत्पत्त्या पि सम्भवत्यनुष्ठानम्।

यस्य तु निर्मला विद्या, व्याख्येयानि विद्यास्थानानि, तस्य विद्या मान्यतास्थानम्। 'गीय' इति द्वयोर्द्वयोः सम्प्रधारणे यमियसुन्नत्ययः। चतुर्दशविद्यास्थानज्ञः पङ्क्वन्धनिर्धनादिरनधिकृतो पि विद्ययैव पूज्यते।

तेषां विरोधे बलाबलमाह गरीयो यद्यदुत्तरम्। एकस्य वित्तमन्यस्य बहुबन्धुता, तत्र वित्तवतो बन्धुमान्मान्यः। यस्माच्च यत्परं तत्तस्माद् गुरुतरम्। तथा बन्धोर्वयः, ततः पूर्वस्मादपि वित्तात्तद्गुरु सिद्धम्। अत उपपन्नम्। "श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयस्तन्मूलत्वाद्धर्मस्येति" गौतमवचनम् (अ० ६ सू० १६।२०)।

"गरीय इति कथं प्रकर्षप्रत्ययो यावता नैव पूर्वस्य गुरुत्वम्। यदि हि द्वे गुरुणो तत्रोत्तरस्य गरीयस्त्वमस्ति। तर्हि पूर्वापेक्षया वित्तस्य नास्तीति" चेत्।

समुदाये सामान्येन गुत्वे पेक्षिते अपरस्य प्रकर्षविवक्षायां युज्यत ईयसुन्।

मानः पूजा तस्य स्थानं कारणम्।

'मान्यस्थानानीति' वा पाठे न्तर्भूतभावार्थो द्रष्टव्यः, 'मान्यत्वस्थानानि, मान्यत्वकारणानि।। १३६।।

प चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।

यत्र स्युः सो त्र मानार्हः शूद्रो पि दशमी गतः।। १३७।।

अन्वय - त्रिषु वर्णेषु प चानां यत्र भूयांसि गुणवन्ति स्यु अत्र स मानार्हः। दशमी गतः शूद्रः अपि।

हिन्दी अर्थ - तीनों वर्णों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय ओर वैश्यों में परस्पर उक्त पांच गुणों में उत्तरोत्तर स्तर वाले अधिक गुण जिसमें हों समाज में वह कम गुणवालों के द्वारा सम्मान करने योग्य है तथा दशमी अवस्था अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयुवाला शूद्र भी सब के द्वारा सम्मान देने योग्य है।। १३७।।

मेधातिथिः। एकैकगुणसम्बन्धे परस्य ज्यायस्त्वमुक्तम्। यत्रेदानीं द्वौ पूर्वविकस्य भवतो परस्यैकः पर इति तत्र कथमित्यत आह। प चानामेतेषां मानस्थानानां यत्र भूयांसि बहून्यसर्वाणि स मान्यः। तत्र परत्वन्नातीवादर्व्यम्। एकस्य वित्तबन्धु द्वे। अन्यो व द्धवयाः। तत्र पूर्वं बाधके। सत्यपि बहुत्वे यदि न श्रेष्ठानि भवन्ति, एकं चैकस्यात्युत्कृष्टं, तदा साम्यम्। न पुनः परबाधकत्वम्। गरीय एकापेक्षया वरिष्ठत्वात्। यदि तु भूयांसि गुणवन्त्यत्युत्कृष्टानि तदा साम्ये पि सङ्ख्यया परेषां, पूर्वाणि परैश्च समसङ्ख्यानानि, तदा न पूर्वतरतया बाध्यबाधकभावः। किं तर्हि ? सामान्यमेव।

"ननु च यत्र गुणवन्ति स्युः सो त्र मानार्ह इत्यभिधानेन समसङ्ख्यस्यापि पूर्वस्य बाधकत्वमेव युक्तम्।"

नैवम् तुल्यत्वे गुणानामेतस्य चरितार्थत्वात्। यथैको पि विद्यावानपरो पि, तयोर्यस्य गुणवती प्रकृष्टा विद्या स प्रशस्यते। एवं सर्वत्र।

त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैशेषु। यद्येते गुणा भूयांसः प्रकृष्टाश्च क्षत्रियस्यापि भवन्ति तदा हीनगुणेन ब्राह्मणेन जात्युत्कृष्टेनापि क्षत्रियः पूज्यः। एवं क्षत्रियेण वैश्यः। एवं त्रिभिरपि द्विजातिभिः शूद्रो पि दशमीमितः। 'दशमी' अन्त्यावस्थोच्यते। अत्यन्तवार्धकोपलक्षणमेतत्। एवं च वित्तबन्धू शूद्रस्य माने न हेतू त्रैवर्णिकान्प्रति, दशमीग्रहणात्। कर्मविद्ये तु नैव तस्य सम्भवतो नधिकारात्।

भूयांसीत्याधिक्यमात्रं विवक्षितं न बहुत्वसङ्ख्यैव। तेन द्विविषयता पि सिद्धा भवति। न ह्ययं सङ्ख्याद्यावाच्येव बहुशब्द इत्यत्र प्रमाणमस्ति। भूयःशब्दश्चायं न बहुशब्द आधिक्ये च तत्र तत्र दष्टप्रयोगः। "भूयांश्चात्र परिहारः" "भूयसा भ्युदयेन योक्ष्य" इति। प्रत्ययार्थबहुत्वमपि न विवक्षितम्। "जात्याख्यायाम्" ह्येतद्बहुवचनम्। विवक्षायां हि एकस्य गुणतो मानहेतुत्वं न स्यात्। ततश्च पूर्वोवगतिर्बाध्येत। 'शूद्रो पि दशमी'मित्यत्र च केवलस्यैव वयसः प्रकर्षे मानहेतुत्वं बुवन्नविवक्षां दर्शयति। समाचारश्चैवमेव।।१३७।।

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च।। १३८।।

अन्वय - चक्रिणः, दशमीस्थस्य, रोगिणः, भारिणः, स्त्रियाः, स्नातकस्य, राज्ञः वरस्य च पन्था देयः।

हिन्दी अर्थ - चक्री अर्थात् रथ, गाड़ी आदि में बैठे हुए को दशमी अवस्था वाले अर्थात् नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले को, रोगी को, बोझ उठाये हुये को, स्त्री को और स्नातक को राजा को तथा दूल्हे को पहले रास्ता दे देना चाहिये।।१३८।।

मेधातिथिः। अयमन्यः पूजाप्रकारः प्रासङ्गिक उच्यते। चक्री रथिको गन्त्र्यादियानाधिरूढः। तस्य पन्था देयः। येन भूमिभागेन ग्रामादिदेशान्तरं गम्यते स पद्धतिः 'पन्था' उच्यते। तत्र यदि प षटतः सम्मुखतो वा रथिक आगच्छेत्तदा तद्गमनोपरोधिनः पथाग्रदेशात्पदातिरपक्रामेत्। दशमीस्थो त्यन्तपरिणतवयाः। रोगी व्याधिना त्यन्तपीडितः। भारी ग हीतब्रीह्यादिगुरुद्रव्यः सो पि यथोपसर्तुमशक्तो नुग्राह्यः। स्त्रियाः। अनपेक्ष्य जातिगुणभक्तसम्बन्धान्स्त्रीत्वमात्रेणैव। राजा च विषयेश्वरो त्राभिप्रेतः, न क्षत्रिय एव। तथा चोत्तरत्र पार्थिवग्रहणेन निगमने, प थिव्या ईश्वरः पार्थिवः।

"ननु चोपक्रमे राजशब्दश्रवणाद्वाक्यान्तरगतः पार्थिवशब्दस्तत्पर एव युक्तः। राजशब्दो हि क्षत्रियजातिवचनो विज्ञातः। स तावदनुपजातविरोधित्वादुपक्रमगतो मुख्यार्थो ग्राह्यः। बलाबलादिवाक्ये तु तत्सापेक्षक्षत्रियजातिविहितेन धर्मेण प थिवीपालनाख्येन पार्थिवशब्दस्य प्रयोगसम्भवेन जात्यन्तरविषयत्वमयुक्तम्।" अत्रोच्यते। मान्यता त्र श्रुता। स्नातको न पमानभागिति। तत्र क्षत्रियजातीयमात्रान्मान्यत्वं स्नातकस्य सिद्धमेव, 'ब्राह्मणं दशवर्षमिति'। तत्र हि 'भूमिप' - शब्दः क्षत्रियजातिमात्रोपलक्षणार्थ इत्युक्तम्। उपलक्षणत्वाच्च राजजातेः क्षत्रियस्यापि प्रजेश्वरस्यायं धर्मो विज्ञायते। वरो विवाहाय प्रवृत्तः। एतेषां पन्था देयः। त्यागमात्रं च ददात्यर्थः। त्यागश्च पथो पसरणम्। अत एव चतुर्थी न कृता।। १३८।।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।

राजस्नातकयोश्चैव स्नातको न पमानभाक्।। १३९।।

अन्वय - तेषां तु समवेतानां स्नातकपार्थिवौ मान्यौ राजस्नातकयोश्चैव स्नातको एव न पमानभाक्।

हिन्दी अर्थ - सब के एकत्रित होने पर स्नातक और राजा सबसे सम्मान के योग्य हैं और राजा तथा स्नातक में भी स्नातक ही राजा के द्वारा सम्मान पाने योग्य है अर्थात् स्नातक विद्वान् सबसे अधिक सम्मान का पात्र है।। १३९।।

मेधातिथिः। तेषां तु समवेतानामेकत्र सन्निपतितानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ प्रकृतेन पथो दानेन।

न पमानभाक् न पस्य सकाशान्मानं भजते लभते।

‘षष्ठी निर्धारणे’ (पा० सू० २।३।४९)।

चक्र्यादीनां त्वन्योन्यं विकल्पः। स च शक्त्यपेक्षः॥ १३६॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ १४०॥

अन्वय - य द्विजः तु शिष्यं उपनीय सकल्पं सरहस्यं च वेदमध्यापयेद् तमाचार्यं प्रचक्षते।

हिन्दी अर्थ - जो द्विज शिष्य को यज्ञोपवीत कराके उसको कल्पसूत्र और वेदान्तसहित शिष्य को वेद पढ़ावे उसको ‘आचार्य’ कहते हैं॥ १४०॥

मेधातिथिः। आचार्यादिशब्दानामेवार्थनिरूपणार्थमिदमारभ्यते। सोपचारो हि लोके एषां प्रयोगः। न च शब्दार्थसम्बन्धस्य स्मर्तभिराचार्यपाणिनिप्रभ तिभिरेतन्निरूपितम्। इयं चाचार्यपदार्थस्य तिर्व्यवहारामूला, न वेदमूला, पाणिन्यादिस्मृतिवत्। न ह्यत्र किंचित् कर्तव्यमुपदिश्यते। अस्य शब्दस्यायमर्थ इति सिद्धरूपो यमर्थः, न साध्यरूपः।

उपनीयोपनयनं कृत्वा यो वेदमध्यापयति ग्राहयति स आचार्यः। ग्रहणं चात्राध्येत्रन्तरनिरपेक्षं वाक्यानुपूर्वीस्मरणम्। कल्पशब्दः सर्वाङ्गप्रदर्शनार्थः। रहस्यमुपनिषदः। यद्यपि ते पि वेदशब्देनैव ग हीतास्तथापि द्वितीयस्तेषां व्यपदेशो स्ति, वेदान्ता इत्यन्तशब्दं समीपवचनं मन्यमानो नैते वेदा इति मन्येत, तदाशंकानिवृत्त्यर्थं रहस्यग्रहणम्।

अन्ये तु ‘रहस्यं’ वेदार्थं वर्णयन्ति। तेन न स्वरूपग्रहणमात्रादाचार्यत्वनिष्पत्तिः, अपि तु तद्व्याख्यानसहितात्। तथा चाभिधानकोशे भिहितम्। “विव णोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सो भिधीयते” इति। मन्त्रग्रहणं वेदवाक्योपलक्षणार्थम्। अस्मिंश्च व्याख्याने र्थावबोधो प्याचार्यकरणविधिप्रयुक्तः स्यात् केवलं सम्पाठमात्रम्। ततश्च सर्वस्य सर्वः स्वाध्यायविधेरनुष्ठापकः स्यात्। अस्तु परप्रयुक्ते प्यनुष्ठाने स्वाध्यायविधेरर्हचारिणः स्वार्थसिद्धिः यदा, तर्हि काम्यत्वादाचार्यकारणविधेरुपाचार्यो न प्रवर्तते, तदा स्वाध्यायविध्यर्थानुष्ठानं न प्राप्नोति। ततश्च न नित्यः स्वाध्यायविधिः स्यात्। न च रहस्यशब्दो वेदार्थवचनतया प्रसिद्धः। तस्मात्पूर्वमेव रहस्यग्रहणस्य प्रयोजनम्। प्राधान्याद्वा पथगुपादानम्। यत्तु ‘विव णोति च मन्त्रार्थान्’ इत्यस्मिन् तिरैवैषा मन्त्रशब्दस्योपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात्। तस्मात्पूर्वमेव रहस्यग्रहणस्य प्रयोजनम्। प्राधान्याद्वा पथगुपादानम्। यत्तु ‘वि णोति च मन्त्रार्थान्’ इत्यस्मिन् तिरैवैषा मन्त्रशब्दस्योपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात्। तस्मात्प्राहाभिप्रायमस्य विधेः प्रयोजनकत्वम्। अतो वेदस्वरूपग्रहणे माणवकस्य जाते आचार्यकरण-विधिनिवृत्तिः॥ १४०॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।

यो ध्यापयति व त्थर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥ १४१॥

अन्वय - यः व त्थर्थं वेदस्य एकदेशं अपि वा पुनः वेदाङ्गानि अध्यापयति सः उपाध्यायः उच्यते।

हिन्दी अर्थ - जो वेद के किसी एक भाग या अंश को या फिर वेदाङ्गों=शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष विद्याओं को पढ़ाता है वह ‘उपाध्याय’ कहलाता है॥ १४१॥

मेधातिथिः। वैदस्यैकदेशो मन्त्रः ब्राह्मणं वा। वेदवर्जितनि वा केवलान्यङ्गान्येव यो ध्यापयति; तथा सर्वमपि वेदम्। व त्थर्थं जीविकार्थम्, नाचार्यकरणविधिवशेन, स उपाध्यायो नाचार्यः। अन्येनोपनीतं यः कृतस्नमपि वेदमध्यापयति नासावाचार्यत् उपनीयापि यः कृत्स्नं वेदं नाध्यापयति सोऽपि नाचार्यः।

“यद्येवमेकदेशग्रहणमुपाध्यायलक्षणे कृतमाचार्यलक्षणे उपनयनग्रहणम्, यस्तर्ह्यनुपनेता कृत्स्नवेदाध्यापकश्च, तस्य किं लक्षणम् ? नासावाचार्यो नाप्युपाध्यायः। न चापि नामान्तरं तस्य श्रुतम्।” उच्यते। ‘अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्येत्यनेन गुरुरसावाचार्यान्नयून उपाध्यायादप्यधिकः।

अपिपुनःशब्दौ पादपूरणार्थौ॥ १४१॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधिः।

सम्भावयति चाग्नेन स विप्रो गुरुच्यते॥ १४२॥

अन्वय - यः यथाविधिः निषेकादीनि कर्माणि करोति अन्नेन च सम्भावयति स विप्रः गुरुः उच्यते।

हिन्दी अर्थ - जो विधि-अनुसार गर्भाधान आदि संस्कारों को कराता है तथा अन्न आदि भोज्य पदार्थों द्वारा बालक का पालन-पोषण करता है वह विद्वान् द्विज 'गुरु' कहलाता है।। १४२॥

मेधातिथिः। निषेकग्रहणात्पितुरयं गुरुत्वोपदेशः। निषेको रेतः सेकः स आदिर्येषां कर्मणाम्। आदिग्रहणात्सर्वे संस्कारा ग ह्यन्ते। तानि यः करोत्यग्नेन च यः सम्भावयति संवर्धयति। चैवैनमिति वा पाठः। अर्थस्तु स एव, अन्नैवैव सम्भावनोपपत्तेः। अर्थान्तरनिर्देशः 'एनं' कुमारम्। "ननु चान्वादेशः। न चेह कुमारस्य पूर्वमुपदेशः।" नैवम्। कस्यान्यस्य निषेकादीनि क्रियन्ते। सामर्थ्यादपि निर्देशो न निर्देशत एव। तानि यः करोति। एवमाभ्यां गुणाभ्यां हीनः केवलजनकत्वे पितैव भवति न गुरुः न चैवं मन्तव्यमसति गुरुत्वे नासौ मान्यः। सर्वप्रथममसावेव मान्यः। तथा च भगवान् व्यासः "प्रभुः शरीरप्रभवः प्रियकृत्प्राणदो गुरुः। हितानामुपदेष्टा च प्रत्यक्षं दैवतं पिता" इति। विप्रग्रहणं प्रदर्शनार्थम्।। १४२॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।

यः करोति व तो यस्य स तस्यत्विगिहोच्यते॥ १४३॥

अन्वय - यः व तः तस्य अग्न्याधेयम् पाकयज्ञान् अग्निष्टोमादिकान् मखान् करोति सः तस्य ऋत्विक् उच्यते।

हिन्दी अर्थ - जो ब्राह्मण किसी के द्वारा वरण किये जाने पर उस वरण करने वाले के अग्निहोत्र बलिवैश्वदेव आदि तथा पूर्णिमा आदि विशेष उपलक्ष्यों पर किये जाने वाले यज्ञों को अग्निष्टोम आदि बड़े यज्ञों को करता है वह उस वरण करने वाले यजमान का 'ऋत्विक्' कहलाता है।। १४३॥

मेधातिथिः। आहवनीयादीनामग्नीनामुत्पादककर्माग्न्याधेयमुच्यते, 'वसन्ते ब्राह्मणो ग्नीनादधीत' इति विहितम्। पाकयज्ञा दर्शपूर्णमासादयः। अग्निष्टोमादयो मखाः सोमयागः। मखशब्दः क्रतुपर्यायः। एतानि कर्माणि यस्य यः करोति स तस्यत्विगित्युच्यते। यस्य तस्येति शब्दौ सम्बन्धितां दर्शयतः। यस्यैवैतानि कर्माणि करोति तस्यैवासाव त्विगुच्यते नान्यस्य। सर्व एत आचार्यादयः सम्बन्धिशब्दाः। व तः प्रार्थितः शास्त्रीयेण विधिना कृतवरणः। मान्यताप्रसङ्गात् त्विक्संज्ञोपदेशो त्र। न हि ब्रह्मचारिधर्मेषु ऋत्विजामवसरः। आचार्यादिवत्पूज्य इत्यस्मिन्नवधौ तल्लक्षणमुच्यते।। १४३॥

य आव णोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।

स माता स पिता श्रेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन॥ १४४॥

अन्वय - य ब्रह्मणा उभौ श्रवणौ अवितथम् आव णोति सः माता सः पिता श्रेय तं कदाचन न द्रुह्येत।

हिन्दी अर्थ - जो गुरु या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा दोनों कानों को भलीभाँति परिपूर्ण करता है उसे माता, पिता समझाना चाहिए ओर उससे कभी द्रोह न करे।। १४४॥

मेधातिथिः। य उभौ श्रवणौ ब्रह्मणा वेदाध्यापनेनाव णोति स माता स पिता ज्ञेयः।

नेदमध्यापकस्य मातापित शब्दवाच्यताविधानम्। आचार्यादिशब्दवत्प्रसिद्धार्थो हि पित मातुशब्दौ। जनकः 'पिता', जननी 'माता'। उपचारेणाध्यापकस्तुर्थं प्रयुज्येते। यथा गौरवाहीक इति। लोके ह्यत्यन्तोपकारको मातापितरौ प्रथितौ, तो हितं जनयतो, भक्तादिना च पुष्णीतः, स्वशरीरानपेक्षमपि पुत्रहितं प्रवर्तते। अतो महोपकारकत्वात्ताभ्यामुपाध्यायः स्तूयते। यो विद्यायामुपकरोति स सर्वोपकारकेभ्यः श्रेयान्। अवितथं क्रियाविशेषणमेतत्। अवितथेन सत्येन ब्रह्मणा नक्षरविस्वरवर्णितेन तन्न द्रुष्येत। अपकारो

द्रोहस्तदुपरि अवज्ञानं च। कदाचन निष्पन्नग्रन्थग्रहणे तदुत्तरकालमपि न द्रुह्येत्। तथा च निरुक्तकारः “अध्यापिता ये गुरुन्नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा”-‘नाद्रियन्ते’ अवज्ञां कुर्वन्ति-“यथैव ते शिष्या न गुरोर्भोजनीयाः” - न भोगाय कल्पन्ते-“तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्”। पाठान्तरमात णतीति। अर्थात् कर्णो भिनत्ति विध्यतीत्युपमया ध्यापनमेवोच्यते। अविद्धकर्णः किल स स्म तो नरः, श्रुतं न यस्य श्रुतिगोचरं गतम् इति। सर्वाध्यापकानामाचार्योपाध्यायगुरुणामयं कृतविद्यस्यापि द्रोहप्रतिषेधः।। १४४।।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।। १४५।।

अन्वय - दश उपाध्यायान् आचार्यः शतम् आचार्याणां पिता सहस्रं पितृन् तु माता गौरवेण अतिरिच्यते।

हिन्दी अर्थ - दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता हजार पिताओं की अपेक्षा माता गौरव में अधिक है।। १४५।।

मेधातिथिः। स्तुत्यक्रमेण प्रकृष्टपूर्वविधानम्। उपाध्यायाच्छेष आचार्यस्तस्मात्पिता ततो पि मातेति। दशादिसङ्ख्याननिर्देशः स्तुतिमात्रम्। पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्परस्य परस्यातिशयो विवक्षितः। अत एव सहस्रं पितृनिति वचनम्। उपाध्यायान्दशातिरिच्यते। दशभ्य उपाध्यायेभ्यो धिकः। कथं पुनरत्र द्वितीया ? अतिरयं कर्मप्रवचनीयः। उपाध्यायानतिक्रम्यातिरिच्यते गौरवेण सातिशयेन युज्यते। अथवा धिक्यमतिरेकः तद्धेतुके भिभवे धातुर्वर्तते। गौरवाधिक्येनोपाध्यायानभिभवति। अतिरिच्यत इति कर्मकर्तरि द्वितीया चाविरुद्धा ‘दुपहिपच्योर्बहुलं सकर्मकयोः’ (वार्तिकम् पा० सू० ३।१।८७) इति बहुलग्रहणात्।

“ननु चानन्तरमेव वक्ष्यति ‘गरियान् ब्रह्मदः पिता’ इति, इह चाचार्यात्पितुराधिक्यमुच्यते तदितरेतरव्याहृतम्।” नैष दोषः। इहाचार्यो नैरुक्तदर्शनेनाध्यापकः, संस्कारमात्रेणाचारोपदेशमात्रेण चाभिप्रेतः। ‘आचार्य’ आचारं ग्राहयतीति। न चैष नियमः स्वशत्रुसिद्धाभिरेव संज्ञाभिव्यवहारः। गुरुशब्दो ह्यत्र पितरि परिभाषितः, आचार्यं च तत्र तत्र प्रयुज्यते। तेन स्वल्पोपकारादुपनयन-मात्रकरादाचारग्राहकादध्यापनरहितादिदं पितुर्ज्यायस्त्वम्। अस्मिन् क्रमे विवक्षिते समवाय एतेषां माता प्रथमं वन्धा, ततः पिता, तत आचार्यस्तत उपाध्यायः।। १४५।।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः, पिता।

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।। १४६।।

अन्वय - उत्पादकब्रह्मदात्रोः ब्रह्मदः पिता गरीयान् हि विप्रस्य ब्रह्मजन्म प्रेत्य च शाश्वतम्।

हिन्दी अर्थ - उत्पन्न करने वाले पिता और विद्या या वेदज्ञान देनेवाले पिता आचार्य में वेदज्ञान देनेवाला आचार्यरूप पिता ही अधिक बड़ा और माननीय है क्योंकि द्विज के शरीर-जन्म की अपेक्षा ब्रह्मजन्म इस लोक और परलोक में स्थिर रहने वाला है अर्थात् शरीर तो इस जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है किन्तु योग तथा विद्या के संस्कार मुक्तिप्राप्ति तक साथ देते हैं।। १४६।।

मेधातिथिः। “मुख्याचार्यसन्निधौ पितरि च संस्कर्तरि सन्निहिते कः क्रमः ?” अत आह उत्पादको जनकः ब्रह्मदाता ध्यापकः तौ द्वावपि पितरौ। तयोः पित्रोर्गरीयान्पिता यो ब्रह्मदः। अतः पित्राचार्यसमवाये आचार्यः प्रथममभिवाद्यः। अत्र हेतुरूपमर्थवादमाह ब्रह्मजन्म हि, ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म ब्रह्मजन्म। शाकपार्थिवादित्वात्समासः। (वार्तिकं पा० सू० २।१।६०)। अस्मिन्समासे उपनयनं ब्रह्मजन्म। अथवा ब्रह्मग्रहणमेव जन्म। तद्विप्रस्य शाश्वतं नित्यं प्रत्योपकारकमिह चोपकारकम्।।१४६।।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।

सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते।। १४७।।

अन्वय - माता पिता च कामात् यदेनं मिथः उत्पादयतः यत् योनौ अभिजायते तस्य तां संभूतिं विद्यात्।

हिन्दी अर्थ - माता और पिता परस्पर काम के वश होकर जो इस बालक को मिलकर उत्पन्न करते हैं और वह जो माता के गर्भ से उत्पन्न होता है उसका वह साधारणरूप से संसार प्रकट होना मात्र जन्म है, अर्थात् वास्तविक जन्म तो उपनयन में दीक्षित करके शिक्षा के रूप में आचार्य ही देता है, जिससे मनुष्य वास्तव में मनुष्य बनता है।। १४७।।

मेधातिथिः। श्लोकद्वयमर्थवादः। मातापितरो यदेनं दारकमुत्पादयतो जनयतो मिथो रहसि परस्परं तत्कामाद्धेतोर्मन्मथपरवशौ। सम्भूतिं तस्य तां विद्यात् तस्य दारकस्य सम्भवोत्पत्तिर्यद्योनौ मात कुक्षावभिजायते ङ्गप्रत्यङ्गानि लभते। सम्भवश्च येषां भावनां ते तथैव विनश्यति। अतः किं तेन सम्भवेन यस्यानन्तरभावी विनाशः।। १४७।।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा जरा मरा।। १४८।।

अन्वय - वेदपारगः आचार्यः विधिवत् सावित्र्या अस्य यां जातिम् उत्पादयति सा तु सत्या सा अजरा सा अमरा।

हिन्दी अर्थ - वेदों में पारंगत आचार्य विधि-अनुसार गायत्रीमन्त्र की दीक्षापूर्वक अर्थात् उपनयन संस्कार से इस विद्यार्थी को जिस ब्रह्म-जन्म को प्रदान करता है वही जन्म तो वास्तविक, अजर और अमर जन्म है।। १४८।।

मेधातिथिः। आचार्यात्तु यत्तस्य जन्म तदविनाशि। ग हीते वेदे वगते च तदर्थं कर्मानुष्ठानात्स्वर्गापवर्गप्राप्तिरित्यस्य सर्वस्याचार्यमूलत्वात्स श्रेष्ठः। यां जातिमुत्पादयति यं संस्कारमुपनयनाख्यं द्वितीयं जन्मेति जन्मसंस्तुतिं निर्वर्तयति, सावित्र्या तदनुवचनेन सा जातिः सत्या सा जरा मरा। यद्यप्येते भिन्नार्थाः शब्दास्तथापीहोपनयनाख्यस्य जन्मनो मात जन्मनः सकाशाद्गुणातिशयविवक्षायां प्रयुक्ताः। न हि जराम त्यू प्राणिनामिव जातेः सम्भवतः। अविनाशित्वं त्वेकेनैव शब्देन, शक्यते प्रतिपादयितुम्। न च तत्प्रतिपाद्यते। वेदपारग आचार्यो यां जातिं विधिवत्सावित्र्या उपनयनाङ्गकलापेन-सावित्रीशब्दस्य। तल्लक्षणत्वात्-उत्पादयति सा श्रेयसीति, पदयोजना जातिर्जन्म।।१४८।।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।

तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रु तोपक्रियया तया।। १४९।।

अन्वय - यः यस्य श्रुतस्य अल्पं वा बहु उपकरोति तमपि इह तया श्रुत उपक्रियया गुरुं विद्यात्।

हिन्दी अर्थ - जो कोई जिस किसी का विद्या पढ़ाकर थोड़ा या अधिक उपकार करता है उसको भी इस संसार में उस विद्या पढ़ाने के उपकार के कारण गुरु समझना चाहिये।। १४९।।

मेधातिथिः। य उपाध्यायो यस्य माणवकस्योपकरोति श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः। अल्पं वा बहु वा क्रियाविशेषणमेतत्। तमपि स्वल्पश्रुतोपकारिणं गुरुं विद्यात्। एवं तु योजना ज्यायसी-यस्य श्रुतस्य समानाधिकरणे-वेदविषयस्य वेदाङ्गविषयस्य वा शास्त्रान्तरविषयस्य तर्ककलाशास्त्रस्य-यदल्पं बहु वा-तेनोपकरोतीत्यध्याहारः। श्रुतं च तदुपक्रिया चासौ श्रुतोपक्रिया तया, उपकारक्रियया तद्धेतुत्वाच्छ्रुतमुपक्रियेति सामानाधिकरणयम्। गुरुव त्तिस्तत्र कर्तव्या तद्व्यपदेशो वा तत्राचार्यादिशब्दवत्पर्यते।।१४९।।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।

बालो पि विप्रो व द्धस्य पिता भवति धर्मतः।। १५०।।

अन्वय - ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता विप्रः बालो पि धर्मतः व द्धस्य पिता भवति।

हिन्दी अर्थ - ईश्वरज्ञान एवं वेदाध्ययन के जन्म को देने वाला और उसके अपने धर्म का उपदेश

देने वाला विद्वान् बालक अर्थात् अल्पायु होते हुए भी धर्म से शिक्षा प्राप्त करने वाले दीर्घायु व्यक्ति का पिता अर्थात् गुरु के समान बड़ा होता है।। १५०

मेधातिथिः। ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म ब्राह्मणो उपनयनम्, तस्य कर्ता। स्वधर्मस्य शासिता उपदेष्टा, वेदार्थव्याख्यानेन। स ताद शो बालो पि ब्राह्मणो व द्धस्य जयेष्टस्य पिता भवति। पित तुल्या तत्र व त्तिः कर्तव्या ज्येष्टेनापि। “कथं पुनः कनीया ज्येष्टमुपनयते?। अष्टमे ह्युपनयनम्। यावच्च नाधीतश्रुतवेदस्तावन्नाचार्यकरणविधावधिक्रियते।” एवं तर्हि नोपनयनमत्र ‘ब्राह्मं जन्म’, किं तर्हि ? स्वाध्यायग्रहणमेव। तस्य कर्ता ध्यापयिता। स्वधर्मस्य वेदार्थस्य शासिता व्याख्याता पिता भवति। धर्मतः पित धर्मास्तत्र कर्तव्याः। धर्मत इति धर्मनिमित्तं तत्र पित त्वम्। न च ते धर्मा अध्यापकव्याख्यात्रोः पित सम्बन्धिनः सिद्धाः सन्ति, अतो विधीयन्ते ब्राह्मणवत्क्षत्रिये वर्तितव्यमिति यथा।। १५०।।

अध्यापयामास पित न् शिशुराङ्गिरसः कविः।

पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिग ह्य तान्।। १५१।।

अन्वय - आङ्गिरसः शिशुः कविः पित न् अध्यापयामास ज्ञानेन परिग ह्य तान् पुत्रका इति ह उवाच।

हिन्दी अर्थ - (इस प्रसंग में एक इतिव त्त भी है) अंगिरा के विद्वान् बालक ने अपने पिता के समान चाचा आदि पितरों को पढ़ाया, ज्ञान देने के कारण उनको ‘हे पुत्रो’ इस शब्द से सम्बोधित किया।। १५१।।

मेधातिथिः। पूर्वस्य पित वद्व त्तिविधेरर्थवादो यं परकृतिनामा। अङ्गिरसः पुत्रः कविर्नाम शिशुर्बालः पित तुल्यान्पुत्र व्यमा- तुलतत्पुत्रादीनधिकवयसो ध्यापया चकाराध्यापितवान्। स च ननिमित्तेषु तान्पुत्रका जागच्छत इत्याजुहाव। ज्ञानेन परिग ह्य तान्स्वीकृत्य शिष्यान्कृत्वा।। १५१।।

ते तमर्थमप च्छन्त देवानागतमन्यवः।

देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्।। १५२।।

अन्वय - आगतमन्यवः ते तमर्थं देवान् अप च्छन्त देवाश्च समेत्य एतान् ऊचुः शिशुः वः न्याय्यम् उक्तवान्।

हिन्दी अर्थ - उक्त संबोधन को सुनकर गुस्से में आये हुए उन पितरों ने उस ‘पुत्र’ सम्बोधन के अर्थ अथवा औचित्य के विषय में देवताओं = बड़े विद्वानों से पूछा और तब सब विद्वानों ने एकमत होकर इनसे कहा कि तत्त्वदर्शी बालक आंगिरस ने तुम्हारे लिए ‘पुत्र’ शब्द का सम्बोधन ठीक ही किया है।। १५२।।

मेधातिथिः। ते पित्रादिस्थानीयाः पुत्रका इत्याह्वानेनागतमन्यव उत्पन्नक्रोधाहस्तमर्थं पुत्रशब्दाह्वानं देवान् पृष्टवन्तः। ‘अनेन बालेन वयमेवमाह्वयामहे। किमेतद्युक्तम् ? ते देवाः पृष्टाः सन्तः सर्वे समवायं कृतवन्तः ‘समेत्य’ ऐकमत्यं स्थापयित्वैतान्कवेः पितृन्चुरुक्तवन्तो ‘न्याय्यं युक्तं वो युष्मान् शिशुरुक्तवान्’।। १५२।।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।

अज्ञं हि बाल इत्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्।। १५३।।

अन्वय - अज्ञो वै बालः भवति मन्त्रदः पिता भवति। हि अज्ञं बालमिति, मन्त्रदः तु पितेत्येव आहुः।

हिन्दी अर्थ - चाहे सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या-विज्ञान से रहित है वह बालक और जो विद्या-विज्ञान का दाता है वह उस बालक को भी बड़ा मानना चाहिए क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं।। १५३।।

मेधातिथिः। न च वयसा स्वल्पेन बालो भवति, किं तर्हि ? अज्ञो मूर्खो व द्धो पि यः। मन्त्रद उपलक्षणम्। मन्त्रान्चेदान्यो ददात्यध्यापयति विव णोति च स पिता भवति। वैशब्द आगमान्तरसूचकः। देवानामप्येष आगमः पुराण एव। तथा चैतिह्यसूचकः परोपदेश आहुरिति। अज्ञं मूर्खं बाल

इत्याहुरस्मत्पूर्वे पि। पितेति मन्त्रदम्। इतिकरणं स्वरूपपरतां बोधयति। यतः परतः श्रूयते। बाल इत्येतेन शब्देनाज्ञमात्रः। अतश्च बालशब्दाद्धितीयाया अभावः। छान्दोग्ये शैशवं ब्राह्मणमेतद्वस्तुतः स्मृतिकारेण वर्णितम्॥१५३॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं यो नूचानः स नो महान्॥ १५४॥

अन्वय - हायनैः पलितैः वित्तेन बन्धुभिः महान् नः ऋषयः धर्मं चक्रिरे नः यो अनूचान् स महान्।

हिन्दी अर्थ - अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से, बड़े कुटुम्ब के होने से व द्ध नहीं होता किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही नियम है कि जो हमारे बीच में विद्या-विज्ञान में अधिक है, वही महान् कहाता है॥ १५४॥

मेधातिथिः। इयमपरा ध्यापकप्रशंसा। हायनशब्दः संवत्सरपर्यायः। न बहुभिर्वर्षैः परिणतवया महान्पूज्यो भवति, न पलितैः केशश्मश्रुमभिः शुक्लैर्न वित्तेन बहुना, न बन्धुभिः। प्रागुक्तानि मान्यस्थानान्यापद्यन्ते। समुदितैर्न महान्भवति, किं, तर्हि ? एकयैव विद्यया। यस्माद षयश्चक्रिरे। ऋषिदर्शनात्। निःशेषवेदार्थदर्शिनो निश्चित्येधं धर्मं व्यवस्थापितवन्तः। यो नूचानः, अनुवचनमध्यापनं कृत्स्नाङ्गस्य वेदस्य, स नो स्माकं महा छ्रेष्टः। करोतिर्व्यवस्थापने वर्तते, नाभूतजनने॥ १५४॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।

वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ १५५॥

अन्वय - विप्राणां ज्ञानतः क्षत्रियाणां वीर्यतः, वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणां जन्मतः एव ज्यैष्ठ्यम् (भवति)।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण ज्ञान से क्षत्रिय बल से वैश्य धन-धान्य से और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयुसे बड़ा होता है॥१५५॥

मेधातिथिः। अयमप्यर्थवाद एव। यदुक्तं 'वित्तादिभ्यः समुदितेभ्यः केवला पि विद्या ज्यायसीति' तदेव सप्रप चमनेन निर्दिश्यते। ब्राह्मणानां ज्ञानेन ज्यैष्ठ्यं, न वित्तादिभिः। क्षत्रियाणां वीर्यतः। वीर्यं द्रव्यस्य कौशलं, द दप्राणता च। वैश्यानां धान्यधनतः। धान्यस्य पथगुपादानाद्धनशब्दो हिरण्यादिवचनः, ब्राह्मणपरिव्राजकवत्। बहुधनो वैश्यः स ज्यैष्ठः। आद्यादित्वात् तीयार्थं तसिः, हेतौ त तीया (पा० २।३।२३)॥१५५॥

न तेन व द्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

यो वै युवा प्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १५६॥

अन्वय - तेन व द्धः न भवति येन अस्य शिरः पलितम् यः वै युवा अपि अधीयानः त देवाः स्थविरं विदुः।

हिन्दी अर्थ - शिर के बाल पक जाने से कोई बड़ा नहीं होता, जो युवा भी पढ़ा लिखा हो तो विद्वान्! उसे बड़ा कहते हैं॥ १५६॥

मेधातिथिः। न तेन व द्ध उच्यते येनास्य पलितं धवलं शिरः शिरः स्थाःकेशाः। कथं तर्हि ? यो वै युवा पि तरुणो पि अथ चाधीते तं देवाः स्थविरं विदुः ब्रुवते। देवाः किल सर्वस्य वेदितार इति प्रशंसा॥ १५६॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो म गः।

यश्च विप्रो नधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥ १५७॥

अन्वय - यथा काष्ठमयः हस्ती यथा चर्ममयः म गः यश्च अनधीयान् विप्रः ते त्रयः नाम बिभ्रति।

हिन्दी अर्थ - काठ का हाथी, चमड़े का हरिण ओर बिना पढ़ा ब्राह्मण ये तीनों नाम के ही होते हैं काम के नहीं॥ १५७॥

मेधातिथिः। इयमध्यनाध्येत स्तुतिः। काष्ठमयः दारुणा यः क्रियते क्रकचादिना हस्त्याकृतिः, स यथा निष्फलः, न हस्तिकार्यं राज्ञां शत्रुवधादि करोति। एवं यो ब्राह्मणो नाधीते स काष्ठतुल्यः, न क्वचिदधिकारी। चर्ममयो म गः चर्मविकारो न्यो पि यो म गः स निष्फलो ना खेटकादिकार्यं करोति। त्रय एते नाममात्रं बिभ्रति, न तस्यार्थम्।। १५७।।

यथा षण्डो फलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।

यथा चाज्ञे फलं दानं तथा विप्रो न चो फलः।।१५८।।

अन्वय - यथा स्त्रीषु षण्डः अफलः यथा गवि गौः अफला यथा च अज्ञे दानम् तथा अन चः विप्रः अफलम्।

हिन्दी अर्थ - जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है और जैसे गायों में बैल निष्फल है और जैसे अज्ञानी व्यक्ति को दिया हुआ दान निष्फल होता है वैसे ही वेद न पढ़ता हुआ अथवा वेद के पाण्डित्य से रहित ब्राह्मण निष्फल है, अर्थात् उसका ब्राह्मणत्व सफल नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेदाध्ययन ही ब्राह्मण का सबसे प्रधान कर्म है।। १५८।।

मेधातिथिः। षण्डो नपुंसकं उभयव्य जनो शक्तः स्त्रीगमने, यथा स्त्रीष्वफलः। यथा गौर्गवि स्त्रीगौः स्त्रीगव्याम्। एवं तथा विप्रो न चो नधीयानो फलः। सप्ताष्टश्लोकाः अध्येत वेदित्रोः प्रशंसार्था अतिक्रान्ताः।। १५८।।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयो नुशासनम्।

वाक् चैव मधुरा श्लक्षणा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।। १५९।।

अन्वय - धर्ममिच्छता अहिंसया एव भूतानाम् श्रेयः अनुशासनं कार्यम् मधुरा श्लक्षणा च वाक् प्रयोज्या।

हिन्दी अर्थ - धर्म की इच्छा करने वाला विद्वान् अहिंसाभाव से सब मनुष्यों को कल्याण के मार्ग का उपदेश करे मधुर और कोमल वाणी बोले।।१५९।।

मेधातिथिः। इदानीमश्रद्धस्य शिष्यस्याधीयानस्येतस्ततश्चि तं व्याक्षिप्यते। अध्यापयितुः क्रोधोत्पत्तौ ताडनपरुषभाषणाद्यमत्यर्थं प्राप्तं निषिध्यते। अहिंसया अताडनेन भूतानां भार्यापुत्रदासशिष्यसोदर्याणाम्। श्रेयोर्थमनुशासनं कार्यम्। भूतग्रहणान्मा शिष्यस्यैव विज्ञायि। द ष्टाद ष्टफलावाप्तिः श्रेयः तदर्थमनुशासनम् अग्रन्थको वोपदेशः, शास्त्राध्यापनव्याख्याने वा। यथासम्भवमतिताडनं क्रोशनं चात्र प्रतिषिध्यते। ईषत्ताडनं त्वभ्युनज्ञातमेव 'रज्ज्वा वेणुदलेन वे'ति। "कथं तर्हि माग्रे स्थाप्याः ?।" वाक् चैव मधुरा सान्त्वपूर्विका प्रियया वाचा श्लक्षणया नोच्चैरुद्धतेन काकरुक्षेण स्वरेण-प्रियेणा पि 'अधीष्व पुत्रक मा चित्तमन्यत्राबद्धाः श्रद्धया समापय शीघ्रं प्रपाठकं तत्क्षणं विहरिष्यसि शिशुभिः सवयोभिः'। यस्तु न तथा श्रद्धामुपैति तस्योक्तो विधिः 'वेणुदलेनेति'। प्रयोज्या वक्तव्या। धर्ममिच्छता। एवं सातिशयो ध्यापनधर्मो भवति।। १५९।।

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।

स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।। १६०।।

अन्वय - यस्य वाङ्मनसी सदा शुद्धे सम्यग्गुप्ते (स्तः) स वै सर्वं वेदान्तोपगतं फलं प्राप्नोति।

हिन्दी अर्थ - जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं वही सब वेदान्त अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है।।१६०।।

मेधातिथिः। यस्याध्यापयितुरन्यस्य वा सङ्क्षोभहेतौ सति वाङ्मनसी शुद्धे न कालुष्यं गच्छतः। सम्यग्गुप्ते चोत्पन्ने पि कालुष्ये न परद्रोहव्यवसायो न च तत्पीडार्थः कर्मारम्भः, -एतत्सम्यग्गोपनं वाङ्मनसयोः (सोः)। सर्वदाग्रहणं पुरुषमात्रधर्मार्थं, नाध्यापयितुरेव अध्यापनकाले। स वै सर्वमवाप्नोति। वेदान्ता वेदसिद्धान्ताः। सिद्धशब्दस्यात्यन्तं सिद्ध इति 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यवत्रात्यन्तशब्दस्येव लोपः। वैदिकेषु यः सिद्धान्तो व्यवस्थितार्थो स्य कर्मण इदं फलमित्युपगतः, अभुपगतो वेदविदिभः,

तत्फलं सर्वं प्राप्नोति।

एव च वदता वाङ्मनससंयमस्यानेन वाक्येन क्रतुषु पुरुषोभयधर्मतोक्ता भवति। केवलपुरुषधर्मातिक्रमे ह्यसति क्रतुवैगुण्ये संयतोऽपि वाङ्मनसाभ्यां किमिति कृत्स्नं फलं न प्राप्नोति, येनोच्यते 'संयमी सर्वमाप्नोति' इति।

अन्ये तु वेदान्तान् रहस्यब्राह्मणान्व्याचक्षते। तेषु यदभ्युपगतं फलं, नित्यानां कर्मणां निष्फलानां च यमनियमानां तत्फलं ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वमाप्नोति। "कथं पुनर्नित्यानि ब्रह्मप्राप्त्यर्थाणीति" चेदस्ति केषांचिद्दर्शनम्। अथवा वेदस्यान्तो ध्यापनसमाप्तिस्ततो यत्फलमाचार्यकरणविधिस्तत्प्राप्नोति। एवं तु व्याख्याने ध्यापनविध्यर्थैव स्यात्॥ १६०॥

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।

यया स्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥ १६१॥

अन्वय - आर्तः अपि अरुन्तुदः न स्यात् न परद्रोह कर्मधीः अस्य यथा वाचा उद्विजते नालोक्यां तामुदीरयेत्।

हिन्दी अर्थ - मनुष्य स्वयं दुःखी होता हुआ भी किसी दूसरे को कष्ट न पहुंचावे या बुरा करने की भावना मन में न लावे जिस वचन से कोई दुःखित हो उस ऐसी, लोक में अप्रशंसनीय वाणी को न बोले॥ १६१॥

मेधातिथिः। अयमपरः पुरुषमात्रधर्मः। अरुंषि मर्माणि तुदति व्यथयतीत्युरुन्तुदो मर्मस्पर्शिनीर्वाचो त्यन्ततोद्वेजनकरीराक्रोशवाचो यो वदति। आर्तः पीडितोऽपि परेण न ताद शमप्रियं भाषेत।

तथा परद्रोहः परापकारः तदर्थं कर्म तद्धीश्च न कर्तव्या। अथवा परद्रोहश्चासौ कर्म च तत्र धीः न कर्तव्या।

यया वाचा नर्मप्रयुक्तयाऽपि उद्विजते अथ च तां वाचं नोदीरयेत्। वाक्यैकदेशमपि ताद शं नोच्चारयेद्यत् एकदेशादर्थप्रकरणादिना थान्तरसूचनं प्रतीयते। यतः वाक् आलोक्या स्वर्गादिलोकप्राप्तिप्रतिबन्धिनी॥ १६१॥

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।

अम तस्यैव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥ १६२॥

अन्वय - ब्राह्मणः विषादिव सम्मानात् नित्यम् उद्विजेत अम तस्य इव अवमानस्य सर्वदा आकाङ्क्षेत्।

हिन्दी अर्थ - ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रखे और अम त के समान अपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के लिए भिक्षा आदि मांगते हुए कभी मान की इच्छा न करे॥ १६२॥

मेधातिथिः। भिक्षमामाणस्य ब्रह्मचारिणो ग हे वोपाध्यायस्य जीविकया ध्यापयतो यत्र सम्मानं न स्यान्न तेन चित्तसङ्क्षोभमाददीत, अपि तु सम्मानादेवोद्विजेत पूजयैव दीयमानं न बहु मन्येत। अम तमिवाकाङ्क्षेदभिलषेदवमानमवज्ञां सर्वदा। उत्कण्ठासामान्यात् अधीरार्थत्वमाकाङ्क्षेरारोप्य षष्ठी कृता। "ननु चानर्चितमभोज्यम्।" सत्यं, चित्तसङ्क्षोभप्रतिषेधार्थमेतत्। न तु ताद शस्य भोज्यतोच्यते सम्मानावमानयोः समेन भवितव्यं न पुनरवमानं प्रार्थनीयम्। ब्रह्मचारिणस्त्ववमतमपि भिक्षा दानम्। न चायं प्रतिग्रहो, 'यो चित्तं प्रतिगृह्णातीत्येतस्य येन विषयः स्यात्॥ १६२॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।

सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ १६३॥

अन्वय - हि अवमतं सुखं शेते सुखं च प्रतिबुध्यते अस्मिन् लोके सुखं चरति अवमन्ता विनश्यति।

हिन्दी अर्थ - क्योंकि अपमान को सहन करने का अभ्यासी मनुष्य सुखपूर्वक सोता है और

सुखपूर्वक जागता है अर्थात् जाग त अवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है और अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है।

विशेष - अभिप्राय यह है कि मानव को सर्वाधिक रूप में व्यथित करने वाली मान-अपमान और उससे उत्पन्न होने वाली भावनाएं उस व्यक्ति को सोते तथा जागते व्यथित नहीं करती, वह निश्चिन्त एवं शान्तिपूर्वक रहता है। वह इस संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है तथा अपमान में व्यथित होने वाला तथा व्यथित करने वाला व्यक्ति विनाश को प्राप्त होता है।। १६३।।

मेधातिथिः। पूर्वस्य विधेरर्थवादो यं फलदर्शनार्थः यो वमानात्र क्षुभ्यति स सुखं शेते। अन्यथा द्वेषेण दह्यमानो न कथंचिन्निद्रां लभते। प्रतिबुद्धश्च तच्चिन्तापरो न सुखं विन्दति। उत्थितश्च शयनात्कार्येषु सुखं चरति। यस्त्ववमानस्य कर्ता स तेन पापेन विनश्यति।। १६३।।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।

गुरौ वसन् सचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः।। १६४।।

अन्वय - अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः गुरौ वसन् शनैः ब्रह्माधिगमिकं तपः सचिनुयात्।

हिन्दी अर्थ - इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाता चला जाये।।१६४।।

मेधातिथिः। संस्कृतात्मोपनीतो द्विजो नेन क्रमयोगेन तपः सचिनुयात्। 'अध्येष्यमाण' इत्यत आरभ्य यद्ब्रह्मचारिणः कर्तव्यमुक्तं तस्यानेनेति प्रत्यवमर्शः। अनेन उघातेन क्रमयोगेन क्रमेणानुष्ठीयमानेन तप आत्मसंस्कारं निष्कल्मषत्वलक्षणम्। यथा तपसा चान्द्रायणादिना निष्कल्मषत्वं भवति, एवमनेनापि वेदग्रहणार्थेन यमनियमसमूहेन। अतः सचिनुयात् शनैरत्वरयो र्जयेच्च वर्धयेच्च। क्रमः परिपाटी इदं कृत्वेदं कर्तव्यम्, ओंकारपूर्विका, इत्यादिः, तेन योगः सम्बन्धो यस्यानुष्ठानस्येति यावत्। ब्रह्मणः आधिगमिकमधिगमार्थम्। अध्ययनबोधाधिगमः।। १६४।।

तपोविशेषैर्विधैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः।

वेदः कृत्स्नो धिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।। १६५।।

अन्वय - द्विजन्मना विधिचोदितैः तपो विशेषैः च विविधैः ब्रतैः कृत्स्नः वेदः सरहस्यः अधिगन्तव्यः।

हिन्दी अर्थ - द्विजमात्र को शास्त्रों में विहित विशेष तपों ब्रह्मचर्यपालन, वेदाभ्यास, प्राणायाम, द्वन्द्वसहन आदि तपों और विविध ब्रतों का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदज्ञान को रहस्यपूर्वक अर्थात् गूढार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक अध्ययन करके प्राप्त करना चाहिये।। १६५।।

मेधातिथिः। तपोविशेषैः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिर्विधैर्बहुप्रकारैरेकाहारचतुर्थकालाहारादिभिरभिक्षिण्वता शरीरम्। ब्रतैश्चोपनिषन्महानाम्निकादिभिः। विधिनोदितैर्गह्यस्म तिष्वाम्नातैरनुष्ठीयमानैर्वेदः कृत्स्नो धिगन्तव्यः।

ये तु "पूर्वश्लोके तपः शब्दो ब्रह्मचारिधर्मे प्रयुक्तः, इहापि तपोविशेषास्त एवाभिप्रेताः" इत्याहुर्न ते सम्यङ्मन्यन्ते। ब्रतशब्देनैव तेषां संग हीतत्वात्। ब्रतमिति हि शास्त्रतो नियम उच्यते। सामान्यशब्दत्वाच्च ब्रतशब्दस्य महानाम्निकादीनामपि ग्रहणसिद्धिः। तस्मात्तपांस्युपवासादीन्यभिप्रेतानि।

इह केचिद्वेद इत्यत्रैकवचनं विवक्षितं मन्यन्ते यद्यपि तव्यप्रत्ययनिर्देशाद्विनियोगतो वेदस्य प्राधान्यं संस्कार्यतया प्रतीयते, तथापि विधितो वस्तुतश्चार्थावबोधे गुणभाव एव। गुणे च संविवक्षिते र्थावबोधपर्यन्तो ह्ययं वेदविषयो माणवकस्य व्यापारो विधिव तपर्यालोचनया वसीयते। अयं ह्यत्र विध्यर्थो 'अधीतेन वेदेनार्थावबोधं कुर्यात्' न संस्कार्यत्वमन्यथा निर्वहति। सर्वो हि कार्यान्तरे शेषभूतः संस्क्रियते। वेदस्य च दष्टमेव कार्यमधीतस्य स्वार्थबोधजनकत्वम्, अन्यथा 'सक्तू जुहोति' इतिवत्प्राधान्यं श्रुतमप्युत्स ज्येत। धातुरप्यवबोधार्थ एव। 'अधिगमनं' हि ज्ञानमुच्यते। 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इति स्म तम्। स्वरूपग्रहणं च वेदस्य प्रागेव विहितं 'सहंत्य हस्तावध्येयम्' इत्यादिना।

तस्यैवार्थग्रहणपर्यान्तता नेन प्रतिपाद्यते। विवक्षामेव मत्वा नेकवेदाध्ययनमप्राप्तं प्रतिप्रसविष्यते 'वेदानधीत्येति'। "यद्यनेकवेदाध्ययनमस्ति क्वैकत्वविवक्षोपयुज्यते ?।" बाढमुपयुज्यते, एकस्यामेव शाखायामधीतायां 'स्वाध्यायो ध्येतव्य' इति विध्यर्थनिर्वृतिः। इच्छातस्त्वेनेकवेदाध्ययनम्। "यदि न विधिचोदितं क उन्मत्तो दन्तकलशिकया त्मानं क्लेशयिष्यति"। अस्त्येवा त्र विध्यन्तरं 'वेदानधीत्येति' तच्च फलकामस्य। फलं च स्वर्गः। अथास्य विधेर्वाक्यशेषे किं चिदात्मनायते, घ तिल्यादयो न्यद्वा, ततस्देव भवितुमर्हति। ब्रह्मचारिणे हि विधिरर्थावबोधविषयो दष्टप्रयोजनश्च, अवबोधस्य कर्मानुष्ठानोपयोगदर्शनाद्विदुषः कर्मण्यधिकारात्। अनेकवेदाध्ययनमदष्टायैव। अन्यथैकवेदाध्ययनेनैव स्वाध्यायविधिनिर्वृत्तेरसति धर्माय विधौ 'वेदानधीत्ये'त्यादिवचनमनर्थकमेव स्यात्।

तत्रोच्यते। कथमयं पक्षः सङ्गच्छेत यावतैको यं विधिर्वेदो धिगन्तव्य इति, स चेत्संस्कारविधित्वाद्दष्टकर्मानुष्ठानोपयोगाच्च नादष्टार्थः कल्प्यते, तदनेकवेदाध्ययने पि तुल्यम्। तत्रापि ह्ययं प्रकारो सत्येव। वैरूप्यं च स्यात्। क्वचिदाधानविधिवदवबोधद्वारेण नित्यकाम्यकर्मसम्बन्धः, क्वचित्साक्षात्फलार्थतेति।

अथ मतं "वेदानधीत्येति विध्यन्तरमेतत्, न चाचार्यकरणविधिप्रयोज्यम्। तत्फलकाम एवात्राधिक्रियत" इति।

तदसत्। न चैतद्विध्यन्तरम्। प्रकृतस्यैव विधेरसत्यां सङ्ख्याविवक्षायां प चषट्सप्तादिशाखाध्ययनं यावच्छक्ति प्राप्तं त्रयं नियमयति। न चाधीयीतेति विधिरत्र श्रूयते। अपि तु 'ग हस्थाश्रममावसेदि'त्ययमत्र विधिः।

यदपि सङ्ख्याया विवक्षितत्वमुक्तं तदत्यन्तासम्बद्धम्। विनियोगतो हि सङ्ख्याविवक्षा, नोपपादनतः। स च विनियोगः स्वाध्यायार्थमध्ययनमाह। नार्थेन गुणभावेन द्वितीयान्ताभ्यामवगतं प्राधान्यमपैति। एवं ह्याश्रीयमाणे ग्रहे प्येकत्वं विवक्ष्येत 'ग्रहं सम्मार्ष्टीति'। प्रधानभूतस्यापि हि तस्य सम्मार्गं प्रत्यस्त्येव साधनभावः। न त्वसौ शब्देनाभिधीयते। यथा ग्रहैर्जुहोतीति होमे पि गुणभावः। तस्मादभिधानविनियोगाभ्यां प्राधान्यं स्वाध्यायस्य। सति च प्राधान्ये, न विवक्षितमेकत्वम्।

"हन्तः तर्हि यद्येकेनापि वेदेन ग हीतेन निर्वर्तेत स्वाध्यायविध्यर्थो, वक्तव्यमनेकवेदाध्ययनप्रयोजनम्।" त तीये वक्ष्यामः।

"ननु यद्यवबोधपर्यन्तो यं विधिस्तदा ग हीते पि स्वरूपतो वेदे यावदर्थवबोधो न जातस्तावदन्तरा मधुमांसादियमनियमानुष्ठानमव्याव तं स्यात्। 'तत्र को दोषः ?'। शिष्टसमाचारविरोधः। न हि शिष्टा अधीते वेदे तदर्थमुपश प्वन्तो पि मधुमांसादि वर्जयन्ति।"

नैष दोषः अस्ति हि स्म त्यन्तरं 'वेदमधीत्य स्नायात्' इति। तत्राधीत्येति पाठमात्रमुच्यते। 'स्नायादिति' च सकलस्वाध्यायविध्यङ्गयमनियमव त्तिर्लक्ष्यते। यथैव मधुमांसे प्रतिषिद्धे एवं स्नानमपि। तत्र स्नानमनुज्ञायमानं साहचर्यान्मधुमांसादीन्यपि तुल्यप्रकरणत्वादानुजानाति। स्त्रीसम्प्रयोगस्तु वचनान्तरेणाविप्लुतब्रह्मचर्य इति प्रतिषिद्धः। तद्व्यतिक्रमे च न स्वाध्यायविधेरर्थावबोधकाले किंचित्परिहीणम्। न हि तस्यामवस्थायां तदङ्गं, सर्वेषां यमनियमानां ग्रहणान्तत्वात्। पुरुषार्थस्त्वयं प्रतिषेधः। अत एव कथा चिद्विप्लवेनावकीर्णप्रायश्चित्तम्। व्रतस्थस्य हि रेतःसेको विकारः, न च व्रतस्थश्चान्द्रायणादिना नेनोपपातकप्रायश्चित्तेनाधिक्रियते।

"किं पुनः स्नायादिति लक्षणात्वे कारणम् ?" उच्यते-न तावदिदं स्नानमदिभः शरीरक्षालनरूपमदष्टार्थत्वप्रसङ्गात्। ब्रह्मचारिनियमानां चावध्यपेक्षत्वादस्य चावधिसमर्पकत्वेनापेक्षितार्थविधिनोपपत्तेः।

"न पुरनेवं तेषामवध्यन्तरापेक्षा। स्वाध्यायविध्यर्था हि ते तस्तन्निव त्तिरेव तेषामवधिः। तस्य च निव त्तिर्विषयनिव त्या। अध्ययनं च तस्य विषयः। तन्निव त्तिः प्रत्यक्षैव।"

सत्यं-यद्यस्य श्रुतविषयनिष्ठतैव स्यात्। अश्रुतो प्यस्य विषयः फलभूतो र्थाधिगमो पि संस्कारविधित्वान्यथानुपपत्त्या। विषयतामापन्नः। यतः श्रुताध्ययननिष्ठत्वे विधित्वमेवास्य व्याह्रयेत्।

विधेर्हि स्वार्थानुष्ठापकत्वं रूपम्। स्वार्थश्च कार्यकरणेतिकर्तव्यतात्मकः। तच्च विध्यर्थव्यतिरेकेण नान्यत्किञ्चित्। न कार्यं करणं विषयः, एकपदोपादानात्। अधीयीतेत्यध्ययनादिधात्वार्थावच्छिन्नो भावार्थः। यमनियमानुष्ठानमितिकर्तव्यता। न तत्र तावदस्य विधेः स्वार्थानुष्ठापकत्वसम्भवः। यतो विषयानुष्ठानद्वारिका सर्वा विधीनां स्वार्थानुष्ठानसम्पत्तिः। तस्यास्य विषयानुष्ठानं विध्यन्तरवशादेव सिद्धम्। आचार्यस्य हि विधिरस्ति 'उपनीय शिष्यं वेदमध्यापयेत्' इति। न चाध्ययनमन्तरेणाध्यापनसिद्धिः। अत आचार्यः स्वविधिसम्पत्त्यर्थमध्ययने माणवकं प्रवर्तयति स्वयं च ज्ञात्वा नाचार्येणाप्रवर्तितस्यानुष्ठानसम्भवः। अतो वश्यमाचार्यविधिप्रयुक्तता एषितव्या। तत्प्रयुक्तत्वे सति सिद्धमनुष्ठानमिति न स्वाध्यायाध्ययने माणवकस्य विधिना कश्चिदर्थः। अतः प्रयोक्त त्वासम्भवात्कीद शी विधिरूपता स्य विधेः?। स्वरूपनाशे प्रसक्ते स प्रकारो न्विष्यते, यथा स्य प्रयोक्त त्वं लभ्यते। तत्र निश्चितस्तावदयं संस्कारविधिः। न च निष्फलः संस्कारः। अध्ययने सति याद शस्य ताद शस्यार्थबन्धस्य दर्शनात्तस्य च सकलतत्कर्मानुष्ठानोपयोगित्वात्। अतः श्रुताध्ययनविषयसम्बद्धावबोधकर्तव्यता तो विधेः प्रतीयते। यद्यपि च वस्तुस्वाभाव्येन वाक्यग्रहणसमनन्तरमवबोधो जायते, न तु निश्चितरूपो भवति। अतो येन प्रकारेण निश्चयो भवति तस्मिन्नंशे विधेः प्रयोक्त त्वम्। निश्चयो विचार्य संशयादिव्युदासेन भवति। न च विचारो न्यतः प्राप्तः। नाचार्यविधेः, तस्याध्ययनमात्रेण निर्वर्त्ते। नापि द ष्टकार्यप्रयुक्तः, किं विचारमन्तरेण पुरुषस्य न सिद्ध्यद्यदर्थं प्रवर्तेत।

“यद च्छया ग्रामादिकामस्येव विचारो पि प्राप्त” इति चेत्-एवं तर्ह्यनियतत्वात्पुरुषेच्छायाः कश्चिन्न विचारयेत्। यदि विचारयेन्नाध्ययनसमनन्तरम्। अतो स्यांशस्याप्राप्तत्वाद्यावदप्राप्तं विधेर्विषय इत्यस्ति विधेर्व्यापारः। तस्मादध्ययनस्यान्यतः प्राप्तत्वात्तत्सम्बन्धस्यावबोधस्यानिश्चितरूपस्य वस्तुस्वाभाव्येनोत्पत्तेस्ताद शस्य न क्वचिदर्थवत्त्वात्सत्यपि तस्मिन्संस्कारकत्वान्निर्व्यूढे निश्चितस्यैव फलवत्कर्मानुष्ठानोपयोगित्वान्निश्चयस्य विचारसाध्यत्वात्तस्य नियतकालावश्यकर्तव्यप्राप्तेस्तन्नैव त्यर्थं विचारपर्यवसायी विधिरयमवतिष्ठते।”

अतो भवत्याकाङ्क्षा नियमानाम्-किं श्रुताध्ययनपर्यवसानावधिरुता क्षिप्तनिश्चितावबोधजननार्थविचारपर्यवसानः ? अतो स्यामपेक्षायां 'वेदमधीत्य स्नायादि'-त्येननावधिसमर्पणं क्रियते। तत्र प्रकृतस्यापेक्षायाश्चाविशेषाद्युक्ता लक्षणा। “ननु किमिदमुच्यते श्रुतो वबोधः, यावता 'अधिगन्तव्य इति' श्रूयत एव। वेदे स्म तिषु चान्यासु 'वेदमधीते', 'स्वाध्यायो ध्येतव्यः' इति च पठ्यते। मानव्या अपि स्म तेरेतस्म तिमूलत्वादभिन्नार्थतैव।” आक्षिप्तावबोधाभिप्रायो यमधिगमः। यदि वा स्वरूपग्रहणमवाधिगमः। अवबोधपर्यन्तता तु तेनैव न्यायेन लभ्यते। न च विसम जसमेको यं विधिस्तस्य च विषयांशः कश्चिदाचार्यविधिना प्रयुज्यते, कस्यचिदंशस्य स एव प्रयोजक इति वैरूप्यम्। किमत्रानुपपन्नम्। अर्थभेतस्यैवावगमात्।

यत्तूक्तं “अनेकवेदाध्ययनमद ष्टार्थं युक्तमिति”-तस्य 'षट्त्रिंशदाब्दिकम्' इत्यत्र परिहारं वक्ष्यामः। वेदशब्दो मन्त्रब्राह्मणवाक्यसमुदायात्मिकां शाखामाचष्टे। तदवयवे पि वाक्ये वेदशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् तदाशङ्कानिव त्यर्थः कृत्स्नशब्दः। यद्यप्येकस्मिन्वाक्ये धीते वाक्यान्तरस्यापि वेदशब्दवाच्यत्वादनैव तमध्ययनं संस्कारमैत्वाद्ग्रहवत्तथापि विस्पष्टार्थं कृत्स्नग्रहणम्।

अन्ये त्वङ्गविषयं कृत्स्नशब्दं वर्णयन्ति। वेदशब्दो ह्युक्तपरिमाणस्य वाक्यसमुदायस्य वाचकः। तत्र ऋङ्मात्रेणापि न्यूनं न स्वाध्यायो धीतो भवति। तस्मात्कृत्स्नशब्दो ङ्गाध्ययनप्राप्त्यर्थः। तथा च स्म त्यन्तरम् “ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ध्येयः” इति।

“ननु 'यो वेदः स कृत्स्न' इत्येतदत्र प्रतीयते। न चाङ्गानि वेदशब्दवाच्यानि। तत्र कुतो ङ्गैः साहित्यम् ? या त्वेषा स्म तिः 'षडङ्गोवेदो ध्येय' इति तत्र स्वशब्देनाङ्गान्युपात्तानि। इह तु वेदविशेषणत्वात्कृत्स्नशब्दस्य कथमिवाङ्गानि ग ह्येरन् ?”।

उच्यते-'स्वाध्यायो ध्येतव्य' इति मूलैवैषा स्म तिः। सा चावबोधपर्यन्ता व्यवस्थापिता। अवबोधश्च नान्तरेणाङ्गानि कल्पत इत्यर्थसिद्धमङ्गानामुपादानम्। अतो निगमनिरुक्तव्याकरणमीमांसावेदनमपि

विध्याक्षिप्तम्। एवमर्थमङ्गानामुपादानमङ्गीकृत्य कृत्स्नशब्दोद्घोतकत्वेन युक्त उपादातुम्। तत्र यथा रम्भकाणि पुरुषस्य हस्तपादादीन्यङ्गान्युच्यन्ते, नैवं वेदस्य निरुक्तादीन्यारम्भकाणि। अथ च भक्त्या ङ्गत्वेन वेदस्योच्यन्ते। न किल तैर्विना वेदः स्वार्थाय प्रभवत्यतो ङ्गानीवाध्यासो त्र। एवमध्यारोपितवेदत्वेन कृत्स्नशब्द उपपद्यते। सरहस्य इति। रहस्यमुपनिषदः। सत्यपि वेदत्वे प्राधान्यात्पथगुपादानम्॥१६५॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः॥

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥ १६६॥

अन्वय - द्विजोत्तमः सदा तपः तप्यन् वेदमेव अभ्यस्येत् हि विप्रस्य वेदाभ्यासः इह परं तपः उच्यते।

हिन्दी अर्थ - द्विजोत्तम अर्थात्! ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्या करता हुआ वेद का ही अभ्यास करे क्योंकि ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन के लिए वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है॥ १६६॥

मेधातिथिः। प्रकृतशेषतया प्राप्त एव ग्रहणार्थो भ्यासो नूद्यते स्तुत्यर्थम्; न पुनर्विध्यन्तरम्। सदाशब्दो ग्रहणकालापेक्ष एव। तपःशब्दः शरीरक्लेशजननेष्वाहारनिरोधादिषु शास्त्रीयेषु वर्तते। इह तु तज्जन्यात्मसंस्कारो वराभिशापादिसामर्थ्यं लक्षणोच्यते। तत्तपस्तप्यन् तपसा र्जयितुमिच्छन्, अर्जनाङ्गे सन्तापे धातुर्वर्तते। कर्मकर्तृत्वस्याविवक्षितत्वात्परस्मैपदम्। हेतुरुपो द्वितीयश्लोकार्थो र्थवादः। वेदाभ्यासे हि यावत्किञ्चित्प्रकृष्टं तपः, ततः परं श्रेष्ठम् वेदाभ्यासस्तुल्यफलतामारोप्य स्तूयते॥१६६॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः॥

यः स्रग्व्यपि द्विजो धीते स्वाध्यायं शक्तितो न्वहम्॥१६७॥

अन्वय - यः द्विजः स्रग्वी अपि अन्वहं शक्तितः स्वाध्यायं अधीते सः आ नखाग्रेभ्यः ह एव परमं तपः तप्यते।

हिन्दी अर्थ - जो द्विज माला धारण करके अर्थात् गहस्थी होकर भी पूर्ण शक्ति से अर्थात् अधिक से अधिक प्रयत्नपूर्वक वेदों का अध्ययन करता रहता है वह निश्चय ही, पैरों के नाखून के अग्रभाग तक अर्थात् पूर्णतः श्रेष्ठ तप करता है॥१६७॥

मेधातिथिः। अयमपरो वाजसनेयकस्वाध्यायविधिब्राह्मणे र्थवादानुवादः। आ नखाग्रेभ्य एवेति सम्बन्धः। हशब्द ऐतिह्यसूचकः। परमशब्दात्तपसः प्रकर्षे नखाग्रग्रहणं प्रकृष्टस्यापि प्रकर्षमाह। नखाग्राणि निर्जीवानि तान्यपि तपसा नेन व्याप्यन्ते। तपो हि कृच्छ्रादिकं नखाग्राणामव्यापकत्वात् निःशेषफलप्रदम्, इदं तु तान्यपि व्याप्नोतीति प्रशंसा। तप्यते तप इति। “तपस्तपःकर्मकस्यैव” (पा० सू० ३।१।८८) इति यगात्मनेपदे।

यः सुग्व्यपि। स्रगस्यास्तीति स्रग्वी, कृतकुसुमदामा पुरुष उच्यते। अनेन च ब्रह्मचारिनियमत्यागं दर्शयति। परित्यज्यापि ब्रह्मचारिधर्मान् यदि शक्तितो यावच्छक्नोति स्वल्पमप्यन्वहं प्रत्यहं वेदमधीते सोऽपि प्रकृष्टेन पुरुषार्थेन युज्यते। स्तुतिरियं न पुनर्नियमत्यागे ध्ययनमुच्यते॥१६७॥

यो नधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ १६८॥

अन्वय - यः द्विजः अनधीत्य अन्यत्र श्रमं कुरुते सः जीवन् सान्वयः आशु शूद्रत्वं गच्छति।

हिन्दी अर्थ - जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है वह जीवित ही अपने वंश के सहित शीघ्र ही शूद्रपन को प्राप्त हो जाता है॥ १६८॥

मेधातिथिः। येषां तावत्कृत्स्नशब्दो ङ्गपरिग्रहार्थस्तेषामनियतक्रमे ध्ययने प्राप्ते क्रमो नियम्यते। प्रथमं वेदो ध्येतव्यस्ततो ङ्गानि। येषां तु वेदस्यैवासाकल्याणशङ्कानिवर्त्यर्थ, तेषां त्रैविद्यव्रतानन्तरं वेदस्यैव प्राप्तमध्ययनम्। अग हीते वेदेङ्गानामध्ययनं नाभ्यनुज्ञायते।

यौ द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्र शास्त्रे अङ्गेषु तर्कशास्त्रग्रन्थेषु वा श्रममभियोगातिशयं कुरुते स जीवन्नेव शूद्रत्वमाप्नोति। आशु क्षिप्रम्। सान्वयः पुत्रपौत्रादिसन्तत्या सह। 'श्रमो' यत्रातिशयस्तन्निषेधायोगात्तात्समाप्तौ यथावरमसन्त्यान्यपि विद्यास्थानानि पठ्यन्ते। शूद्रत्वप्राप्तिवचनं निन्दातिशयः। द्विज इति वचनादुपनीतस्यायं क्रमनियमः। प्राक्चोपनयनादङ्गाध्ययनमनिषिद्धं शिक्षाव्याकरणादि यद्वेदवाक्यैर्न मिश्रितम्। "ननु च स्वाध्यायविधिना ङ्गान्याक्षिप्यन्ते। तं च विधिमाचार्यप्रयुक्तो माणवको नुतिष्ठति। प्रागुपनयनादसत्याचार्ये कुतो ङ्गाध्ययनसम्भवः ?" नैष दोषः। 'तस्मादनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुरिति' (ब ह० उप० १।५।१७) पित्रा यं संस्कर्तव्यः। स एनं प्रागुपनयनाद्व्याकरणाद्याध्यापयिष्यति।। १६८।।

मातुरग्रे धिजननं द्वितीयं मौजिबन्धने।

त तीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्।। १६६।।

अन्वय - श्रुतिचोदनात् द्विजस्य मातुरग्रे अधिजननम् द्वितीयं मौ जीबन्धने त तीयं यज्ञदीक्षायाम्।

हिन्दी अर्थ - वेद के कहे अनुसार द्विज का माता से पहला जन्म, दूसरा मेखला बांधने के संस्कार अर्थात् उपनयन से तीसरा यज्ञ की दीक्षा लेने से होता है।। १६६।।

मेधातिथिः। द्विजातीनां तत्र तत्राधिकारः श्रुतः। तत्राचार्यादिशब्दवत्सुहृत्त्वात्तदर्थनिरूपणार्थमाह-मातुः सकाशादग्रे आदावधिजननं जन्म पुरुषस्य। द्वितीयं मौजिबन्धने उपनयने। 'ङ्यापोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। त तीयं ज्योतिष्टोमादियज्ञदीक्षायाम्। दीक्षा पि जन्मत्वेन श्रूयते-"पुनर्वारं तद त्विजो गर्भं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्तीति।" त्रीणि जन्मानि द्विजस्य श्रुतिनोदितानि।

"नन्वेवं सति त्रिजः प्राप्नोति।" अस्तु। द्विजव्यपदेशे तावदुपनयनं निमित्तम्। तद्व्यपदेशनिबन्धश्च श्रौतस्मार्तसामयिकाचारिक- कर्माधिकारः। प्रथमत तीयजन्माभिधानं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थम्। सर्वजन्मश्रेष्ठं तत्। अदीक्षितो हि यज्ञ एव नाधिक्रियते, अनुपनीतस्तु न क्वविदेव। अन्ये त्वाद्यत्वसामान्यादाधानं यज्ञदीक्षां मन्यन्ते। तस्यापि जन्मसम्भवो स्ति। 'अजात एवासौ यो ग्नीन्नाधत्' इति।।१६६।।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौ जीबन्धनचिह्नितम्।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते।। १७०।।

अन्वय - तत्र अस्य यद् मौ जीबन्धनचिह्नितं तत्रास्य माता सावित्री आचार्यः तु पिता उच्यते।

हिन्दी अर्थ - उन तीनों जन्मों में इस ब्रह्मचारी का मेखलाबन्धन के चिह्नवाला जो ब्रह्मजन्म है उस समय गायत्री को तो इसकी माता और आचार्य को पिता के समान कहा गया है। १७०।।

मेधातिथिः। तत्र एतेषु त्रिजन्मसु यदेतद्ब्रह्मजन्म उपनयनं मौ जीबन्धनचिह्नितं मेखलाबन्धनेनोपलक्षितम्। तत्रास्य माता सावित्री। तया ह्यनूक्तया तन्निष्पन्नं भवति। अनेन च सावित्र्यनुवचनमुपनयने प्रधानं दर्शयति तदर्थं ह्यसौ समीपमानीयते। पिता चार्यः।

मातापित निर्वर्त्य जन्म। अतो रूपकभङ्ग्या तत्राप्याचार्यसावित्र्यौ मातापितरावुक्तौ।। १७०।।

वेदप्रदानाचार्य पितरं परिचक्षते।

न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किंचिदामौजिबन्धनात्।। १७१।।

अन्वय - वेदप्रदानात् आचार्य पितरं परिचक्षते अमौजिबन्धनात् अस्मिन् किंचित् कर्म न युज्यते।

हिन्दी अर्थ - वेदज्ञान देने के कारण आचार्य को पिता कहा गया है। मेखलाबन्धन अर्थात् उपनयन संस्कार से पूर्व इस द्विज पर किसी यज्ञ आदि की जिम्मेदारी नहीं होती।। १७१।।

मेधातिथिः। मौ जीबन्धनचिह्नितमित्युक्तम्। तत्र रज्ज्वास जनादाचार्यः वित वन्मान्यः स्यात्तदर्थमुच्यते-वेदप्रदानादाचार्य पितरं परिचक्षते। कृत्स्नवेदा ध्यापनात्प्रोपनयनाङ्ग-भूतसावित्र्यनुवचनमात्रादेव। प्रदानं माणवकस्य वेदाक्षरोच्चारणे स्वीकारोत्पादम्।

"यद्येवं, यावन्नाचार्येण पित त्वं प्राप्तं तावन्न माणवको द्वितीयं जन्म समश्नुते। अप्राप्तद्विजभावश्च

प्राग्वोपनयनात्कामचारः स्यात्” -अत आह न ह्यस्मिन्प्राङ्मौजिबन्धनादस्य माणवकस्य किंचित्कर्म श्रौतस्मार्तमाचारप्रतिष्ठं वा दष्टार्थं प्रयुज्यते-न तत्राधिक्रियते- उपनयनसमनन्तरमेव सर्वेर्द्धिजातिपुरुषधर्मेरधिक्रियते।

“नन्वैद्यत्वात्तस्यामवस्थायां कथमधिक्रियताम् ?।” एतदर्थमेवोक्तं “गुरौ शिष्यश्च याज्यश्चेति”। आचार्येणासौ शिक्षयितव्यः। तदुक्तं ‘शौचाचारंश्च शिक्षयेत्’ (मनु० २।६६)। यथा च गौतमः (अ० २ सू० ६) -‘उपनयनादिर्नियम’ इति। आचार्यस्य तु वेदसमापनान्तो व्यापारः।। १७१।।

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनाद ते।।

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते।। १७२।।

अन्वय - यावत् वेदे न जायेत् तावत् शूद्रेण हि समः स्वधा निनयनात् ऋते ब्रह्म न अभिव्याहरेत्।

हिन्दी अर्थ - जब तक द्विज का वेद में जन्म नहीं होता अर्थात् उपनयन संस्कार नहीं होता तब तक वह शूद्र के ही समान होता है इसलिए म तक संस्कार के सिवाय वेद का उच्चारण अथवा वैदिककर्म न कराये।। १७२।।

मेधातिथिः। आमौजिबन्धनादित्यनुवर्तते। यदि वा यावद्वेदे न जायत इत्यर्थवादतो वधिपरिनिश्चयः। ब्रह्म वेदस्तत्रोच्चारयेत्। पितुरयमुपदेशः। यथा मद्यपानादिभ्यो रक्षेतथा वेदाक्षरोच्चारणात्। केचित्त्विममेव ब्रह्मभिव्यवहारनिषेधं प्रागुपनयनाद्व्याकरणद्यङ्गा ध्ययने ज्ञापकं वर्णयन्ति, णिजर्थं व्याचक्षते-‘पित्रा न वाचनीयः बाल्यात्तु कानिचिदव्यक्तानि वेदवाक्यानि स्वयं पठतो न दोषः’। एतत्तु न युक्तम्। स्मृत्यन्तरे हि पठ्यते ‘न ब्रह्माभिव्याहरेदिति’ (गौ० अ० २ सू० ५)। अर्थवादे च श्रुतं शूद्रेण हि समस्तावावदिति। यथा शूद्रो दुष्यति तद्वदयमपीत्युक्तं भवति।

‘स्वधा’शब्देन पितृभ्यः कल्पितमन्नमिहोच्यते। अथवा पित्र्यं कर्म ‘स्वधा’-शब्दोच्यते। तन्निनीयते त्यज्यते प्राप्यते येन मन्त्रेण स ‘स्वधानिनयनः’, “शुन्धन्तां पितरः” इत्यादिः तं वर्जयित्वा न्यमन्त्रो नोच्चारयितव्यः। अनुपनीतेनोदकदाननवश्राद्धादि पितुः कर्तव्यमित्यस्मादेव प्रतीयते। पार्वणश्राद्धादौ त्वग्निमत्त्वाभावदनधिकारः। पिण्डान्वाहार्यके हि तद्वक्ष्यते। त तीये चैतन्निपुणमुपपादयिष्यामः।।१७२।।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।

ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्।। १७३।।

अन्वय - कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनम् विधिपूर्वकम् च क्रमेण ब्रह्मणः ग्रहणं एव इष्यते।

हिन्दी अर्थ - उपनयन संस्कार होने पर ही इस ब्रह्मचारी के लिए व्रतों के आदेश का पालन करना और विधि के अनुसार क्रमशः वेदज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है।। १७३।।

मेधातिथिः। ‘उपनीय गुरुः शिष्यम्’ इत्यनेन शौचाचाराध्ययनानां क्रम उक्तः। अतश्च तेनैव क्रमेण पठेत्। उपनयनानन्तरमध्ययने प्राप्ते क्रमान्तरार्थमिदमारभ्यते।

उपनीतस्य त्रेविद्यादिव्रतं च कर्तव्यम्। ततः स्वाध्यायो ध्येतव्यः। कृतोपनयनस्य ब्रह्मचारिणो व्रतादेशनमिष्यते क्रियते चाचार्यैः। शास्त्रांशेनैवमिष्यते। अतश्च कर्तव्यतैवैषणा प्रतिपाद्यते। ततो ब्रह्मणो वेदस्य ग्रहणम्। क्रमेणानेन। विधिपूर्वकमित्यनुवादः श्लोकपूरणार्थः।।१७३।।

यद् यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।

यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि।। १७४।।

अन्वय - अस्य यत् चर्म यत् सूत्रम् या च मेखला यश्च दण्डः यच्च वसनं निहितं तन्तदपि अस्य व्रतेषु।

हिन्दी अर्थ - इस ब्रह्मचारी के जो-जो चर्म जो यज्ञोपवीत और जो मेखला, जो दण्ड तथा जो वस्त्र विहित किये हैं वह सब भी इसके व्रतों के अन्तर्गत ही हैं।। १७४।।

मेधातिथिः। ग ह्यकारैर्व्रतनामधेयकानि कर्माण्युपदिष्टानि। ‘संवत्सरं वेदं भागं वा किंचिज्जिघक्षत’।

इयं व्रतचर्या यो यमनियमसमूहः। तत्र पूर्वव्रतसमाप्तौ व्रतान्तरारम्भे उपनयने ये विधयस्तादृश एव व्रतादेशेषु। “अथ प्रागुपात्तानां का प्रतिपत्तिः?”

अप्सु प्रासनम्। “ननु च तदुक्तं प्रागुपात्तानाम्। विनष्टानां का प्रतिपत्तिः ?” विनाशे शास्त्रनोदितं चैषां कार्यमन्योपादानाच्च तेषां निर्वृत्तिः।

यच्चर्म यस्य ब्रह्मचारिणो विहितं तथा “कार्ष्णं ब्राह्मणस्य रौरवं क्षत्रियस्य” इति। एवं दण्डादिष्वपि द्रष्टव्यम्। तस्य व्रतेष्वपि। प्रकृत्वाद् व्रतशब्दो व्रतादेशे वर्तते।। १७४।।

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवद्द्व्यर्थमात्मनः।। १७५।।

अन्वय - गुरौ वसन् ब्रह्मचारी आत्मनः तपो वद्द्व्यर्थ इन्द्रिय सन्नियम्य इमान् तु नियमान् सेवेत।

हिन्दी अर्थ - गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी अपने विद्यारूप तप की वृद्धि के लिये इन्द्रियों के समूह को वश में करके इन आगे वर्णित नियमों का पालन करे।। १७५।।

मेधातिथिः। वक्ष्यमाणस्य यमपियमसमूहस्य पथप्रकरणत्वेन श्लोको यं गौरवख्यापनार्थः। एवं तु यत्पूर्वमुक्तं तदवश्यकर्तव्यम्- इदं तु ततो गुरुतरमनुष्ठीयमानं महते फलाय। ब्रह्मचारिग्रहणं प्रकरणान्तरत्वेनातद्धर्माशङ्कया नुसन्धानार्थम्। “यदि ब्रह्मचारिधर्म एव आसीत्किं तर्हीदमुच्यते। प्रकरणान्तरमिति ?” पूर्वभ्य एतेवामतिशयात्समान धर्मत्वादेतावता वैलक्षण्येन प्रकरणान्तरत्वव्यहारः। परिशिष्टानि पदानि श्लोकपूरणार्थतया नूद्यन्ते। सेवेत अनुतिष्ठेत। इमान्वक्ष्यमाणान्। बुद्धौ संनिहितत्वादिदमा निर्दिश्यन्ते। गुरौ वसन् गुरुसमीपे विद्याध्ययनार्थम् वसन् इति नित्यसन्निधानमाह। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं प्रागुक्तेन मार्गेण। तपोवद्द्व्यर्थम् अध्ययनविध्यनुष्ठानजन्यात्मसंस्कारार्थम्।। १७५।।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितर्तर्पणम्।

देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च।। १७६।।

अन्वय - ब्रह्मचारी नित्यं स्नात्वा शुचिः ऋषिपितर्तर्पणम् देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानं च कुर्यात्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी नित्य स्नान करके शुद्ध होकर ऋषियों तथा पितरों की भोजन वस्त्रादि से सन्तुष्टि, परमात्मा की उपासना तथा अग्निहोत्र किया करे।। १७६।।

मेधातिथिः। तानिदानीं पूर्वेण प्रतिज्ञातान् नियमानाह-प्रत्यहं स्नात्वा शुचिः स्नानेनापनीताशुचिभावो देवर्षिपितर्तर्पणं कुर्यात्। यदि पुनः शुचिः न तदा वश्यं स्नायात्। शुचिग्रहणेन शुद्धिहेतुतया त्र स्नानस्योपदिष्टत्वात् स्नातकव्रतवत्तदनुष्ठेयम्। अत एव स्म त्यन्तरे च स्नानं प्रतिषिद्धम्। स प्रतिषेधो म दा स्नानस्य प्रसाधनलक्षणस्य। गौतमेन तु स्नानमेव विहितम्-‘दण्ड इवाप्सु परिप्लवेत, मलापकर्षणं करनिघर्षणादिना कर्तव्यम्’। असत्यमेध्यादि संसर्गे, यत्स्वेदजं वस्त्ररेणुसंयोगादिसहजं मलं न तदशुचित्वमापादयति। तद्धि नियतरूपमेव। तथा च ब्राह्मणं ‘किं नु मलं, किमजिनं, किमु श्मश्रूणि किं तप’ इति धर्मसाधनतामेवंविधस्य मलधारणस्य दर्शयति।

“कथं पुनः स्नानस्य शौचार्थता प्रतीयते ?” नव पुनः स्नातः शुचिश्चोभयविशिष्टो देवकार्ये विनियुज्यते। स्नातस्याशुचित्वाभावात्कृतशौचाचमनादेः स्नानविधानात्, ‘स्नात्वा चा चान्तः पुनराचामेदिति’ च स्नातस्यापि शुचिरित्येतावता याद शी शुद्धिस्तस्यां विज्ञायमानायां स्नानमपि सति निमित्ते प्राप्तं पुनरुच्यते। स्म त्यन्तरं चेदमसत्यशुचित्वे निमित्ते प्रतिषेधार्थम्। तथा च ‘वेदमधीत्य स्नायादिति’ समाप्ते स्वाध्यायविधौ प्रतिप्रसविष्यति।

कुर्याद्देवर्षिपितर्तर्पणम्। उदकदानं देवादिभ्यो ग हस्थधर्मेषु यदुक्तं तादृशमेव प्रतीयते, तर्पणशब्दसाहचर्यात्। ‘यदेव तर्पयत्यदिभरिति’, तथा “देवतास्तर्पयति” “आश्व० ग ० ३।४।२) इति ग ह्यकारैरुदकसाधनो यं विधिरुक्तः। उदकतर्पणमिति चैतत्संविज्ञायते।

ते देवाः ग ह्यकारैः पठिताः अग्निः प्रजापतिः ब्रह्मेत्यादयः। तेषां च 'तर्पणं' न सौहित्योत्पादनं, किं तर्हि ? तदुद्देशेनोदका जलिप्रक्षेपः। अतो यमुदकद्रव्यको याग एवोक्तो भवति। न ह्यन्यथा देवता देवतात्वं भवति। यागसंप्रदानं हि सेति स्मर्यते, न त प्तेः कर्त्री। एतावद्धि देवतालक्षणम्।-'सूक्तभाजो हविर्भाजश्च देवताः'। तत्र सूक्तं स्तुत्यतया भजन्ते, हविः संप्रदानतया। तर्प्यत्वेन चोदकदानसंप्रदानतामेव गुणव त्या वक्ति। गुर्वाद्धि सम्प्रदानं गवादिना तदुद्दिश्यमानस्वाम्येन प्रतीयते। देवता पि सम्प्रदानभूता। सम्प्रदानत्वसाम्यात् 'त प्यन्ति' इत्युच्यते। यदि देवतात प्यर्थमेतत्स्यात्तदा संस्कारकर्मोदकतर्पणं स्यात्। न च देवतानां संस्कार्यत्वोपपत्तिः। न हि ताः क्वचिदुपयुक्ता उपयोक्ष्यन्ते वा। न चाकृताकारिष्यमाणकार्यस्य संस्कारतोपपत्तिः।

ऋषयो ये यस्यार्षयाः। यथा पराशराणां वसिष्ठशक्तिपाराशर्या इति। ग ह्यकारैस्तु मन्त्रद श ऋषयस्तर्पणीयत्वेनोक्ताः, मधुच्छन्दो ग त्समदो विश्वामित्र इति। अविशेषाभिधानाद् षिशब्दस्योभये पि प्राप्ताः। विशेषस्म तित्वात्। ग ह्यस्म तेस्त एव ग्रहीतुं न्याय्याः। पितरः पूर्वप्रेताः पित पितामहाः सपिण्डाः समानोदकाश्च। पितृणा तर्पणं तर्पणमेव। एतच्च श्राद्धविधौ प्रत्यक्षेण वक्ष्यते। देवताभ्यर्चनम्। अत्र केचिच्चिरन्तना विचारयांचक्रुः-“का एता देवता नाम यासामिदमभ्यर्चनमुच्यते ? यदि तावच्चित्रपुस्तकन्यस्तः चतुर्भुजो वज्रहस्त इत्यादयः, “प्रतिकृतय’ इति लौकिका व्यवहरन्ति; अतो गौणस्तत्र देवताव्यवहारः। अथ या सूक्तहविःसम्बन्धिन्यो वैदिकीभ्यश्चोदनाभ्यो मन्त्रवाक्येभ्यश्चावगम्यन्ते-शब्दार्थसम्बन्धविदश्च स्मरन्ति अग्निः अग्नीषोमौ मित्रावरुणौ इन्द्रो विष्णुः” इति-यद्येवं तत्क्रियासम्बन्धितयैव तेषां देवतात्वं नार्थसम्बन्धितया। तत्रापि यस्यैव हविषो या देवता तेन चोदिता तस्यैव सा भवति। तथा हि आग्नेयो ष्टाकपाल इत्याग्नेये पुराडोशे देवता, न सौर्ये चरौ।” अयं च तेषां निर्णयः-‘मुख्यासम्भवाद्गौणस्यैव ग्रहणं न्याय्यं, समाचाराच्च।’ अतः प्रतिमानामेवैतत्पूजाविधानम्। यच्चात्र तत्त्वं, तद् 'व्रतवद्देवदैवत्य' (श्लो० १८६) इत्यत्र वक्ष्यामः। समिदाधानं सायंप्रातरग्नौ दारुशकलप्रक्षेपणम्॥ १७६॥

वर्जयेमधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ १७७॥

अन्वय - (ब्रह्मचारी) मधुन्मांसं, गन्धं, माल्यं, रसान् स्त्रियः च सर्वाणि शुक्तानि प्राणिनां हिंसनम् चैव वर्जयेत्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी गंध, मदकारक मदिरा आदि पदार्थ और मांस, माला, रस और स्त्री का संग, सब प्रकार की खटाई तथा प्राणियों की हिंसा छोड़ देवे॥ १७७॥

मेधातिथिः। मधु सारघम्। माध्वीकस्य तु मद्यत्वात्प्रागप्युपनयनात्प्रतिषेधो 'नित्यं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्' इति (गौतम० २।२०)। मांसं प्रशिक्षिताद्यपि।

गन्धशब्देन सुरभित्वातिशययुक्तानि कर्पूरागरुप्रभ तीनि द्रव्याणि सम्बन्धिलक्षण्या प्रतिषिध्यन्ते। तेषामनुलेपनाद्युपभोगप्रतिषेधः, गन्धस्तु स्वदेशान्निर्गत आगच्छतीत्यशक्यो निषेधुम्। तत्राप्याकस्मिकस्याप्यप्रतिषेधात्, भोगेच्छया त्वगम्भूपादौ दोष एव। अत उपाध्यायेन चन्दनव क्षादिच्छेदने नियुक्तस्य तद्गन्धस्याघ्राणे वस्तुस्वभावत उत्पद्यमाने न दोषः। माल्यसाहचर्याच्चेद शो गन्धः प्रतीयते। यस्तु नेद शो हृदयोन्मादकरः कुष्ठघ तपूतिदावादिगन्धस्तस्याप्रतिषेधः।

माल्यं कुसुमं ग्रथितम्, रसाः मधुराम्लादयः। -“ननु च नीरसस्य भोज्यत्वासम्भवात्प्राणव त्तिरेव न स्यात्।” सत्यम्। उद्विक्तरसाः केवला गुडादयो निषिध्यन्ते। संस्कारकरणे द्रव्यान्तर्गतानामपि प्रतिषेधः। अथवा त्यन्तरसिनः संस्कृतस्यान्नस्य सक्तिप्रतिषेधो यम्। यथोक्तम् “यो हेरिव धनाद्भीतो मिष्टान्नाच्च विषादिव। राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति” इति। अन्ये तु शं गारादीन्मन्यन्ते। नाटकादिप्रेक्षणेन काव्यश्रवणेन वा रसपुष्टिर्न कर्तव्या। अन्येषां तु दर्शनम्-इक्ष्वामलकादीनां यो न्त्तर्द्वरूपोदकवत् रसस्तस्य निष्पीडितस्य प थक् कृतस्य प्रतिषेधो न पुनस्तदन्तर्गतस्य। तच्चैतदयुक्तम्। न हि रसशब्दो द्रवपर्यायः प्रसिद्धः। यत्र च यस्योचितमुपभोगान्तत्वं तदेव तस्य

निषिध्यते। तेन मधुमांसयोर्भोजने प्रतिषेधः, न दर्शनस्पर्शनयोः। गन्धमाल्यस्यापि शरीरमण्डनाभिमानतयोपादानं निषिध्यते, न तु कथंचिद्धस्तादिना ग्रहणम्। एवं स्त्रियो मैथुनसम्बन्धेन। तदाशङ्कयैव च प्रेक्षणालम्भौ निषेत्स्यति। तथा च गौतमः (अ० २ सू० २२) 'स्त्रीप्रेक्षणालम्भेन मैथुनशङ्कायाम्' इति।

शुक्तानि प्राप्ताम्लरसानि केवलात्परिवासाद्द्रव्यान्तरसंसर्गाद्वा म्लतामापन्नानि। तेषां च द्विजातिर्मात्वादेव सिद्धः प्रतिषेधः। पुनर्ग्रहणं गौणशुक्तपरिग्रहणार्थम्। तेन रूक्षपुरुषा वाचो निषिद्धा भवन्ति, यदुक्तं गौतमेन (अ० २ सू० १६) 'शुक्ता वाच' इति। तदिदं 'सर्व'ग्रहणं चारस्यैवार्थस्याविष्कारणार्थम्। रसशुक्तान्यनूद्य सर्वाणीति विधीयते। ततो गौणपरिग्रहः सिद्धो भवति।

ये त्वेवं व्याचक्षते-"शुक्तशब्देन रसप्रतिषेधः सर्वशब्देनामानसानि वासांसि"; - त इदं प्रष्टव्याः -अर्थप्रसिद्धानां प्रतिषेधार्थं सर्वग्रहणं कस्मान्न भवति ? तथा सति च दध्यादेः शुक्तीभूतस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति। यदि तु प्राप्तिमाश्रित्य पुनः प्रतिषेध उक्तार्थो व्याख्यायते, तथा सति न कश्चिद्दोषः। प्राणिनां मशकमक्षिकादीनां बाल्यात् हिंसने प्राप्ते यत्नतः परिहारार्थं पुनः प्रतिषेधः। स्वाध्यायविध्यङ्गत्वार्थो वा। न केवलं हिंसायां पुरुषार्थप्रतिषेधातिक्रमो यावत्स्वाध्यायार्थातिक्रमोऽपि। "शुक्तादिष्वप्येवं कस्मान्न कल्प्यत" इति चेदस्ति तत्र विषयान्तरे सावकाशम्, एकरूपस्य विषयस्य व्यर्थत्वं सति गत्यन्तरे गरीयः।। १७७।।

अभ्यङ्गम जनं चाक्षणोरुपानच्छत्रधारणम्।।

कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।।१७८।।

अन्वय - अभ्यङ्गम् अक्षणोः अ जनम् उपानत्, छत्रधारणम् कामं क्रोधं लोभं च नर्तनं गीत-वादनम् च (वर्जयेत्)।

हिन्दी अर्थ - अंगों का मर्दन और उबटन, आंखों में अ जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ और नाच, गाना बजाना छोड़ देवे।। १७८।।

मेधातिथिः। घ ततैलादीनां स्नेहेन शिरःशरीरप्रक्षणमभ्यङ्गः। अ जनं चाक्षणोः। अक्षिग्रहणं व त्पूरणार्थम्। अनयोश्चापि देहमण्डनार्थतया प्रतिषेधो नौषधार्थतया। गन्धमाल्यादिसाहचर्यात्। उपानहौ चर्मपादुके, न केवले छत्रधारणं च स्वहस्तेन परहस्तेन वोभयस्यापि निषेधः। कामो रागः। मन्मथस्य स्त्रीप्रतिषेधादेव सिद्धः। क्रोधो रोषः, लोभो मोहः। अहंकारममकारौ चित्तधर्मावेते। नर्तनं प्राकृतपुरुषाणां हर्षाय, गात्रविक्षेपो भरतादिदं ष्टाभिनयप्रयोगश्च। गीतं षड् जादिस्वरप्रदर्शनम्। वादनं वीणावंशादिभिः स्वरवच्छब्दकरणं, पणवम दङ्गाद्यभिघातश्च तालानुव त्या।। १७८।।

द्यूतं जनवादं च परिवादं तथान तम्।।

स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भावुपघातं परस्य च।। १७९।।

अन्वय - द्यूतम् जनवादम् च, परिवादं तथा अन तम्, स्त्रीणां च प्रेक्षणम् परस्य च उपघातम् वर्जयेत्।

हिन्दी अर्थ - द्यूत, झगड़ा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवे।।१७९।।

मेधातिथिः। द्यूतम् अक्षक्रीडा समाह्वयः कुक्कुटादिभिः, प्रतिषिद्धः; द्यूतशब्दस्य सामान्यशब्दत्वात्। जनैर्वादः अकारणेन लौकिकेष्वर्थेषु वाक्कलहः, देशवार्ताद्यन्वेषणं प्रश्नो वा। परिवादः असूयया परदोषकथनम्। अन तम् अन्यथा द ष्टमन्यथा च श्रुतं यदन्यथोच्यते। सर्वत्र वर्जयेदित्यनुषङ्गाद्द्वितीया। स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भौ अवयवसंस्थाननिरूपणम् प्रेक्षणम् इदमस्याः शोभते ङ्गमिदं नेति। आलम्भः आलिङ्गनम्। मैथुनशङ्कायां चेतौ प्रतिषिध्येते। बालस्य यथातथम्। परस्योपघातो पकारः कस्याचिदर्थसिद्धौ प्रतिबन्धः कन्यालाभादौ प च्छमानेन अयोग्यस्याप्ययोग्यत्वं न वक्तव्यम्!, तूष्णीमासितव्यम्, अन तप्रतिषेधात्।। १७९।।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्वचित्॥

कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥ १८०॥

अन्वय - सर्वत्र एकः शयीत रेतः क्वचित् न स्कन्दयेत् हि कामात् रेतः स्कन्दयन् आत्मनः व्रतं हिनस्ति।

हिन्दी अर्थ - सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्यस्खलित कभी न करे, काम से वीर्यस्खलित कर दे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्यव्रत का नाश कर दिया॥ १८०॥

मेधातिथिः। एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्वचित्, अयोनावपि। योनौ स्त्रीप्रतिषेधादेव सिद्धत्वात्।

अत्रार्थवादः कामाद्धि स्कन्दयन्। इच्छा त्र 'कामः'। हस्तव्यापारादिना, अयोनौ मैथुनेन च, रेतः शुक्रं स्कन्दयन् क्षरयन् हिनस्ति नाशयति ब्रह्मचर्यव्रतमात्मनः॥ १८०॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः॥

स्नात्वा कर्मचयित्वा त्रिः पुनर्मामित्य चं जपेत्॥ १८१॥

अन्वय - ब्रह्मचारी द्विजः अकामतः स्वप्ने शुक्रं सिक्त्वा स्नात्वा अर्कमर्चयित्वा पुनर्मां इति ऋचं त्रिः जपेत्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी द्विज अनजाने में स्वप्न में वीर्यस्खलित होने पर स्नान करके सूर्य की पूजा करके "पुनर्मांमैत्विन्द्रियम्" इस ऋचा को तीन बार जपे॥ १८१॥

मेधातिथिः। कामाद्ब्रतलोपेनावकीर्णप्रायश्चित्तम्। अकामात्त्विदमाह। स्वप्नग्रहणमविवक्षितम्, अकामत इत्येतदेव निमित्तम्। न हि स्वप्ने कामसम्भवः। अतो यद्यसुप्तस्यापि कथंचिदनिच्छया स्वमलास गवयववत्प्रक्षरति शुक्रं तत्राप्येतदेव प्रायश्चित्तम्। अकामतो रेतः सिक्त्वेदं प्रायश्चित्तं कुर्यात्-पुनर्मांमिति ऋचं जपेत्॥ १८१॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्म तिकाकुशान्॥

आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्॥ १८२॥

अन्वय - उदकुम्भम् सुमनसोः गोशकृत् म तिका कुशान् यावदर्थानि आहरेत् भैक्षं च अहरह चरेत्।

हिन्दी अर्थ - पानी का घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी कुशाओं की जितनी आवश्यकता हो उतनी लाकर रखें और भिक्षा भी प्रतिदिन मांगें॥ १८२॥

मेधातिथिः। यावद्भिः अर्थः प्रयोजनमुपाध्यायस्य सिध्यति तावदुदकुम्भादि आहरेत्। प्रदर्शनार्थं चैतत्। अन्यदपि ग होपयोगि यदगर्हितं कर्म तत्कुर्यात्। गर्हितं गुरुव्यतिरेकेणोच्छिष्टापमार्जनादि न कारयितव्य इत्येवमर्थो यं श्लोकः। सामान्येन शुश्रूषा गुरौ विहिता। यावानर्थ एषामिति विग्रहः। भक्षं चाहरहश्चरेत्सिद्धमन्नमत्यन्ताल्पं यत्राविषयं 'भैक्ष'मत्रोच्यते। नैकान्नादीति प्रतिषेधे त्रिशब्दोपादानदन्नं प्रतीयते। 'समाहृत्य भैक्षं निवेद्याश्नीयात्' इति सामानाधिकरण्यात्सिद्धान्नप्रतिपत्तिः। शुष्के ह्यन्ने भिक्षिते कुतस्तस्याशनम्। समाहृतस्य गुरुग हे पच्यमानस्य भैक्षप्रकृतिता, स्यान्न भैक्षता। प्रसिद्ध्या चेद शमेव भैक्षमुच्यते। अहरहः। "ननु 'भैक्षेण वर्तयन्नित्यम्" (१८८) इत्येतस्मादेव सिद्धमहरहश्चरणं सिध्यति।"

व त्तिविधानार्थं 'नित्यं' ग्रहणम्। पर्युषितेनापि घ तादिस्नेहसंयुक्तेन स्यादव त्तिस्तदर्थमिदम्-अहरहर्भिक्षित्वा शितव्यम्, न पुनरेकस्मिन्नहनि भिक्षितमपरेद्युः परिवारस्य यत्किंचित्स्नेहयुक्तमिति प्रतिप्रसवेन भु जीत॥ १८२॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु॥

ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं ग हेभ्यः प्रयतो न्वहम्॥ १८३॥

अन्वय - ब्रह्मचारी स्वकर्मसु प्रशस्तानां वेदयज्ञैः अहीनानां ग हेभ्यः प्रयतः अन्वहं भैक्षमाहरेत्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वालों के और वेदाध्ययन और प चमहायज्ञों से जो हीन नहीं अर्थात् जो प्रतिदिन इनका पालन करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के घरों से प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करे।। १८३।।

मेधातिथिः। येभ्यो भैक्ष्यमासादयितव्यं तान् वक्ति वेदयज्ञैश्च ये अहीना वेदाध्ययनेन संयुक्ताः, यज्ञानां च सत्यधिकारे कर्तारः। अहीना अवर्जिताः तदुपेता इति यावत्। स्वकर्मसु च प्रशस्ताः। येषां यज्ञे धिकारो नास्त्यन्यस्मिन् शस्ते कर्मणि तत्पराः। अथवा स्वकर्मप्रशस्तास्त उच्यन्ते ये स्वव तावेव सन्तुष्टा न वाद्धुषिकादिव त्युपजीविनः।

तेषां ग हेभ्यो भैक्षमाहरेद्याचित्वा ग ह्णीयात्प्रयतः शुचिः। अन्वहमित्यनुवादः।। १८३।।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।।

अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्व पूर्व विवर्जयेत्।।१८४।।

अन्वय - गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु। अन्य गेहानां अलाभे तु पूर्व पूर्व विवर्जयेत्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी गुरु के परिवार तथा मित्रों में भी भिक्षा न मांगे, अन्य घरों से यदि भिक्षा न मिले तो पूर्व-पूर्व घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले अर्थात् पहले मित्रों, परिचितों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहां न मिले तो सम्बन्धियों में, वहां भी न मिले तो गुरु के परिवार से भिक्षा मांग सकता है।। १८४।।

मेधातिथिः। सत्यप्येतद्गुणयोगे गुरुग हे न भिक्षेत। पूर्व कुलं वंशः ततो गुरोर्ये पित व्यादयस्तेभ्यो पि न ग्रहीतव्यम्। ज्ञातयः, ब्रह्मचारिणः पित पक्षाः, तेषां कुले। बन्धुषु च मात पक्षेषु मातुलादिषु। नैवमभिसम्बन्धः कर्तव्यः-‘गुरुज्ञात्यादिष्विति’। गुरोः कुल इति कुलशब्देनैव तेषां सङ्ग हीतत्वात्। “कुतस्तर्हि भिक्षेत ?” एतद्व्यतिरेकेणान्यगेहेभ्यः।

अलाभे सम्भवे न्यगेहानाम्। सर्व एव यदि ग्रामो गुरुज्ञातिबन्धुभिर्याप्तो भवत्यन्ये नैव सन्ति, सन्तो वा न्नं न ददति। एतेष्वपि ग हेषु भिक्षितव्यम्। अन्याभावे प्रथमं बन्धुं भिक्षेत, तदभावे ज्ञाति, तदभावे गुरुकुलम्।। १८४।।

सर्व वा पि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे।।

नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत्।। १८५।।

अन्वय - पूर्वोक्तानाम् असम्भवे सर्व वापि ग्रामं चरेत् वाचं तु प्रयतः नियम्य अभिशस्तान् वर्जयेत्।

हिन्दी अर्थ - पूर्व कहे हुए घरों के अभाव में सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले किन्तु अपनी वाणी को प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण में रखता हुआ पापी व्यक्तियों को छोड़ देवे अर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी अवस्था में भिक्षा-याचना के लिए मुँह न खोले।। १८५।।

मेधातिथिः। पूर्वोक्तानां वेदयज्ञैरहीनानामसम्भवे सर्व ग्राममनपेक्षवर्णविभागं विचरेत् भ्राम्येत् जीवनाथम्। केवलमभिशस्तांस्तान्कृतपातकत्वेन प्रसिद्धान् अद ष्टपातकानपि वर्जयित्वा। तथा च गौतमः (अ० २ सू० ३५) “सार्ववर्णिकं भैक्ष्यचरणमभिशस्तपतितवर्जम्।” नियम्य वाचं भिक्षावाक्यं वर्जयित्वा आ भैक्षलाभादन्यां वाचं नोच्चरेत्।। १८५।।

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि।।

सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः।। १८६।।

अन्वय - दूरात् समिधः आहृत्य विहायसि संनिदध्यात् ताभिः अतन्द्रितः अग्निं जुहुयात्।

हिन्दी अर्थ - दूरस्थान अर्थात् जंगल आदि से समिधाएं लाकर उन्हें खुले स्थान में रख दें और फिर उनसे आलस्यरहित होकर सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय अग्निहोत्र करे।। १८६।।

मेधातिथिः। दूरग्रहणमपरिग हीतदेशेपलक्षणार्थम्। ग्रामात्किल दूरमरण्यं, न च तत्र कस्यचित्परिग्रहः।

अनुपलक्षणे हि दूरार्थे कियद्दूरमित्यनवस्थितः शास्त्रार्थः स्यात्। आहृत्य आनीय। संनिदध्यात्स्थापयेत्। विहायसि ग हस्योपरि। न हि निरालम्बने न्तरिक्षे निधानं सम्भवति। ताभिः सायंप्रातर्जुहुयात्। आहरणं तु तात्कालिकमन्यदा वेच्छया। विहायसि निधानमदष्टार्थमित्याहुः। अन्ये तु ब्रुवते सम्प्रत्यानीयमानं व क्षाद्दारु आर्द्रं भवतीति, ग हस्योपरि अन्यस्य वा प्रकारादेः तन्निधातव्यम्॥ १८६॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्॥

अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्॥ १८७॥

अन्वय - अनातुरः सप्तरात्रम् भैक्षचरणम् अकृत्वा पावकम् च असमिध्य अवकीर्णिव्रतं चरेत्।

हिन्दी अर्थ - स्वस्थ होते हुए भी यदि ब्रह्मचारी सात दिन तक बिना भिक्षा मांगे तथा अग्निहोत्र बिना किये रहे तो वह 'अवकीर्णी' नामक प्रायश्चित्त व्रत करे॥ १८७॥

मेधातिथिः। अग्नीन्धनभैक्षचरणे नैरनतर्येण सप्तरात्रं सप्ताहमकृत्वा। अनातुरः अव्याधितः सन् अवकीर्णिव्रतं नाम प्रायश्चित्तमेकादशे (श्लो० ११८) वक्ष्यमाणस्वरूपं चरेत्कुर्यात्। दोषगुरुत्वख्यापनार्थं, न त्वेतदत्र प्रायश्चित्तमेव। स्म त्यन्तरे ह्यत्राल्पमन्यत्प्रायश्चित्तमुक्तम्, 'आज्यहोमः सवितुर्वा रेतस्याभ्याम्' इति। इहापि च लिङ्गं-यदि प्रायश्चित्तमिदमभविष्यत्तदा स्त्रीगमनमिवावकीर्णप्रायश्चित्तप्रकरणे निमित्तत्वेनापठिष्यत्। ये तु व्याचक्षते "सप्तरात्रमेतदुभयमवश्यकर्तव्यम्। अकरणात्तत्र दोषः। कृतसप्तरात्रस्य तु परतो क्रियायां न दोषः। तानि च सप्ताहानि प्राथम्यादुपनयनप्रभृति ग ह्यन्ते"-तदेतदयुक्तम् 'आ समावर्तनात्कुर्यादिति' विरोधात्, उपरितनानन्तरश्लोकविरोधच्च॥ १८७॥

भैक्षेण वर्तयन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती॥

भैक्षेण व्रतिनो व तिरुपवाससमा स्म ता॥ १८८॥

अन्वय - व्रती नित्यं भैक्षेण वर्तयेत् एकान्नादी न भवेत् व्रतिनः भैक्षेण व त्तिः उपवाससमा स्म ता।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा मांगकर ही खाये, किसी एक ही मनुष्य का अन्न खाने वाला न बने। ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा से व त्ति चलाने को उपवास के समान ही माना है॥ १८८॥

मेधातिथिः। 'नच भैक्षं परपाकः स्यान्न भैक्षं प्रतिग्रहः। सोमपानसमं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत्॥ १॥ भैक्षस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च। यांस्तस्य ग्रसते ग्रासान् ते तस्य क्रतुभिः समाः'॥२॥

"ननु च भैक्षमहरहश्चरेदिति श्रुतमेवैतत्"।

एवं हि भैक्षचर्या दष्टार्था भवति। उक्तं च "निवेद्य गुरवे शनीयात्" इति। न च तदशनं भैक्षसंस्कारः येन न व त्थर्थः स्यात्।

केचिदाहुः-'अनूद्यते नैकान्नादी भवेद्व्रतीति वक्तुम्।"

एतदसत्। भैक्षशब्देनैकान्नादनस्य निषेधात्। भिक्षाणां समूहो भैक्षमुच्यते। ततः कुत एकान्नादनप्राप्तिः? तस्य पित्र्येभ्यो नुज्ञानार्थं सर्वमेतदनूद्यते। भैक्षेण वर्तयेदात्मानं भैक्षभोजनेन पालयेत्। जीवितस्थितिं कुर्यान्नैकस्य सम्बन्धि अन्नमद्यान्नेकभिक्षान्नं भु जीत।

न पुनरियमाशङ्का कर्तव्या "नैकस्वामिकं भु जीत, अपि तु बहुस्वामिकम्, अविभक्तभ्रात सम्बन्धि"। एकस्यान्नमैकं वा न्नमेकान्नं तदति भुंक्ते एकान्नादी। व्रती ब्रह्मचारी। प्रकरणादेव लब्धः, श्लोकपूरणार्थो व्रतीशब्दः। अत्रार्थवादः। भैक्षगैव केवलेन व्रतिनो या व त्तिः शरीरधारणमुपवासतुल्यफला सा व त्तिः स्मर्यते॥ १८८॥

व्रतवद्देवदेवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्॥

काममभ्यर्थितो शनीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते॥ १८९॥

अन्वय - देवदेवत्ये व्रतवत् अथ पित्र्ये कर्मणि ऋषिवत् कामम् अभ्यर्थितः अशनीयात् अस्य व्रतः न लुप्यते।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी देवताओं के उद्देश्यों से किए हुए यज्ञ आदि कर्म में व्रत के समान पित कर्म=श्राद्ध आदि में ऋषि के समान आदरपूर्वक बुलाये जाने पर भोजन कर ले, इस प्रकार से इसका व्रती भंग नहीं होता।। १८६।

मेधातिथिः। अयमपवादो निमित्तविशेषे भैक्षव त्युपदेशस्य। देवदैवत्ये देवोद्देशेन ब्राह्मणभोजने क्रियमाणे, पित्र्ये च पितृनुद्दिश्याभ्यर्थितो ध्येषितः, काममेकान्नमश्नीयात्। नतु स्वयं याचेत। तच्च व्रतवद् व्रताविरुद्धं मधुमांसवर्जितमित्यर्थः। व्रतवद् षिवदिति च शब्दद्वयेनैक एवार्थ उच्यते, न पुनर्ग्रामारण्ययोः कर्मभेदेन व्यवस्था। व तानुरोधात्तु द्विरभिधानम्। ऋषिवैखानसस्तदशनाभ्यनुज्ञाने मांसमपि ब्रह्मचारिणो नुज्ञातं स्यात्। तस्य हि 'वैष्णवमप्युपभु जीत' इति मांसाशनमप्यस्ति। देवा देवता यस्य तद् देवदैवत्यम्। तच्चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु कर्मसु ब्राह्मणभोजनमाप्नातम्। आग्रहायण्यादिषु चाप्नातं 'ब्राह्मणान्भोजयित्वा स्वस्त्ययनं वाचयेदिति। तत्रेयमनुज्ञा।

अन्ये तु सप्तम्यादावादित्यादिदेवोद्देशेन यत्क्रियते ब्राह्मणभोजनं तद्देवदैवत्यं मन्यन्ते। तदसत्। न हि भुजेर्देवतासम्बन्धो स्ति, अयागसाधनत्वात्तस्य। न तूद्देश्यमात्रं देवता 'उपाध्यायाय गां ददाति', 'गं हं सम्मार्ष्टी'त्युपाध्याये ग्रहे पि प्रसङ्गात्। भुजेर्हि प्रत्यक्षो भोक्त्रा सम्बन्धः। आदित्यस्तु न कारकं, न चोद्देश्यो गं हवत् न तदर्थं भोजनम्। द्वितीया हि भोक्त्रार्थतां ज्ञापयति, नादित्यार्थताम्। न चैत त्वचिन्नोदितम् 'आदित्याद्युद्देशेन ब्राह्मणान्भोजये'दिति। "समाचाराद्धिः कल्प्यत" इति चेत् ? न, तस्योपलभ्यमानमूलत्वात्। "अस्ति हि मूलं, बाह्याः स्म तयः।" तत्र तर्हि ब्राह्मणभोजनेन देवताः प्रीणयेदिति शास्त्रार्थः। न चायमर्थः शक्यः कल्पयितुम्। न हि देवताप्रीतिप्रधानः शास्त्रार्थः, किं तर्हि ? विध्यर्थप्रधानः। न चास्मिन्विध्यर्थ आदित्यादीनां देवताभिमतानां विषयद्वारकः सम्बन्धः, नाप्यधिकारद्वारकः। न हि भेदनादिन्निमित्तम्। नापि पशवादिवत्स्वसम्बन्धितया काम्यते। अभोग्यरूपत्वात्। अथ तद्गता तुष्टिः काम्यते। सा प्यात्मसिद्धौ प्रमाणान्तरमपेक्षते। न च तदस्ति। न ह्यादित्यादितुष्टिः प्रत्यक्षादिसिद्धा पशवादिवद्येन काम्येत परेष्टिविधिना युज्येत।

अथ तु 'मत्प्रभुरिति स्वाभिप्रेतेन फलेन योजयिष्यती'ति। एतदपि प्रमाणाभावादुपेक्षणीयम्। न चास्मिन्नर्थे विधिः प्रमाणम्। स हि ज्ञातस्यानुष्ठान विशेषणस्य स्वसम्बन्धितया पुरुषं नियुङ्क्ते, न पुनः काम्यमानस्य सद्भावमवगमयति। प्रमाणान्तरावगतं हि काम्यमनुष्ठान विशेषणम्-अनुष्ठानसाध्यमनुष्ठान सम्बन्धीति विधिः प्रमाणमिति मीयते। "अथायं यागस्तस्य च स भोजनं प्रतिपत्तिः," भवतु, यदि शिष्टसमाचारः। भोजनं तावन्न देवतासम्बन्धि साक्षादिति न साध्यम्। यागव्यवहितस्तु सम्बन्धो न निवार्यते। न चात्र यागबुद्ध्या प्रवर्तते, किं तर्हि ? ब्राह्मणेषु भोजितेषु देवता तुष्यतीति। अतां न देवता भोजनकारकं न कारकविशेषणम्। ततो न विषयत्वेन सम्बन्धः। उद्देश्यत्वमप्यादित्यादीनां नास्ति। भोजने हि स उद्दिश्यते यस्मै भोजनं दीयते। तच्च ब्राह्मणेभ्यः। न चोद्देश्यमात्रं देवता 'उपाध्यायाय गां ददाति, गं हं सम्मार्ष्टी'ति ग्रहोपाध्याययोरपि प्रसङ्गात्।

"ननु च पित्र्ये कथं ब्राह्मणभोजनम् ? तत्रापि हि न पितरौ देवताः स्युः। न च होमस्य पित्र्यत्वम्, देवतान्तरश्रवणात्। आदित्यादिप्रीतेरिव पित प्रीतेः प्रमाणान्तरासिद्धत्वात् विधेः सम्बन्धः साध्यतया।" अत्र वदन्ति। सिद्धा ह्यत्र पित प्रीतिः। आत्मनामविनाशित्वात् पितरः सिद्धास्तेषां च शरीरसम्बन्धः क्रियते कर्मभ्यः। तद्भोजनं ह्यत्र प्रधानम्। तस्य हि फलं श्रुतम्-'भोजयन्पुष्कलं फलमाप्नोति।' तच्च फलं पितृणां तस्य त प्तिः स्यादिति। त प्तिश्च प्रीतिमात्रम्, न मनुष्याणामिव भुजिक्रियाफलं सौहित्यलक्षणमुत्पद्यते। काचित्पितृणां प्रीतिः स्वकर्मवशतो यत्र तत्र जातावुत्पन्नानाम्। प्रीतिमात्रवचनो यं धातुः, सौहित्यं तु विशेषः। स प्रमाणान्तरावसेयः। न चात्रैतच्चोदनीयम्-"पुत्रः कर्ता, पितृषु कथं कर्तं गामिफलम् ? न हीमानि कर्माणि वैदिकानि परस्य फलदानीति न्यायविदो वदन्ति।" यतः पितर एवात्राधिकारिणः कर्तारश्च। अपत्योत्पादनेनैव सर्वमेतत्पितृभिः कृतम्। एवमर्थमेवासावुत्पादिता "दष्टादष्टमुपकारं करिष्यतीति।" ततश्च यथा सर्वस्वारे भावादौत्तरकालिकेष्वंगेषु 'ब्राह्मणाः संस्थापयत मे यज्ञ'मिति प्रैष्य म तस्य कर्तृत्वम्। एवमत्रापि द्रष्टव्यम्। एतावान्विशेषः।

तत्राधिकारान्तरप्रयुक्ता जीविकार्थिनो भ तिपरिक्रीता ऋत्विजः 'कर्तारः'। इह तु तद्विधिप्रयुक्त एव पुत्रः। यथैवापत्योयत्पत्तिविधिप्रयुक्तस्य पुत्रार्थेषु पितुः संस्कारेषु अधिकारो नुशासनपर्यन्तत्वात्तस्य विधेः, एवं पितृर्थं श्राद्धादौ पुत्रस्य। तथैव जीविनः पितुः "व द्धौ तु मातापितरौ" इत्यवश्यं कर्तव्यम्। एवं दिष्टं गतं तस्यापि। न चायं वैश्वानरवत्काम्यो धिकारः "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते। यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियवान् न भवति" इति। एवमादिपुत्रफलार्थिनो धिकारः पितुर्वैश्वानरे न चूडादिष्विष्यकः। इह तु 'पित्र्यमा निधनात्कार्यमिति' यावज्जीविकः।

न कर्तव्यैदिकं फलमित्येतदन्यथा परिष्क्रियते। यथैव वैश्वानरविशिष्टपुत्रवत्तालक्षणं पितुरेव फलं, नाकर्तुर्गामिता फलस्य, एवमिहापि पुत्रस्यैव तत्फलं या पितुः प्रीतिः। उभयथा पित कर्तव्यगामिता फलस्य, न विरुध्यते। अपत्योत्पादनेनैवैताद शस्य फलस्येष्टत्वात् पितृणामपि नाकामितफलापत्तिः। "यदि न श्राद्धे पितरो 'देवताः' कथं तर्हि पितृमेतत्कर्मति देवतातद्धितः?"

उद्देश्यत्वसामान्यादिति वदामः। 'युष्मदुपकारार्थमिदं ब्राह्मणभोजन'मिति पितर उद्दिश्यन्ते। पिण्डपित यज्ञे तु पितरो 'देवता' एव। न श्राद्धे पितृणां देवतात्वं मन्यन्ते। यत्तु ब्राह्मणा भोज्यन्ते तद्यथा ग्नौ होम आज्यपुरोडाशादीनामवदानस्य, ताद शमेतत्। तथा च ब्राह्मणाः पित त्वमापद्यन्ते। अतो नपरिवेषणकाले पितर एवोद्देश्याः-'युष्मभ्यमिदं न ममे'ति ब्राह्मणास्त्वाहवनीयस्थानीयाः। एतावान्विशेषो यदाहवनीये हविः प्रक्षिप्यते, ब्राह्मणानां तु सन्निधाप्यते, ते तु स्वयमुपाददत इति। न च 'श्राद्धं न यागो, न तत्र देवतार्थः स्वाहाकारः, स्विष्टकृदादिषु दर्शनात्। अतो यागो पि सन् श्राद्धकर्म पितृर्थं भविष्यति। पितृणां देवतात्वं फलभावित्वं न विरोत्स्यते। त तीये किंचिदनुक्तमेव तत्सम्बद्धं वक्ष्यामः। तस्मान्नादित्यादयो ब्राह्मणभोजने देवता इति स्थितम्।

"ननु चाव्यापकमेतदपि लक्षणम्-यागे उद्देश्यः देवते'ति, अन्तरेणापि यागसम्बन्धं देवताव्यवहारदर्शनात्-'देवतानां च पूजनम्' "दैवतान्यभिगच्छेदिति' न पूजा नाप्याभिमुख्येन गमनं पादविहारात्मकं देवताः प्रति सम्भवति।" नैष दोषः, यत्र देवताचोदना तत्रैतत्पूजाविधानं भविष्यति, वैश्वदेवदेवतास्वग्निहोत्रादिसम्बन्धिनीषु वा।

"ननु चैवमपि नोपपद्यते। न हि देवतायाः पूज्यत्वं सम्भवति, स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। पूजाकर्मत्वे हि यागसम्प्रदानता न स्यात्। उक्तम् 'न क्रियान्तरस्य किंचिद्भवति' इति। शक्तिर्हि कारकं, सा च प्रतिक्रियं भिद्यते। कार्यावगम्यत्वाच्च तस्या यावत्कार्यं भेदो न्याय्यः। अतो यत्सम्प्रदानं तत्सम्प्रदानमेव, न तस्य कर्मापत्तिः कथं तर्हि 'पाचकाय देहि' पचेः कर्ता ददातेः सम्प्रदानम्? 'शरैः क्षताङ्गः प्रियया कटाक्षैर्निरिक्ष्यमाणो विवशो जगाम।' उक्तो त्र परिहारः शक्तिशक्तिमतोर्भेदस्यौपचारिकत्वात्सिद्धं 'व्रजति भुक्त्वेति'। तस्माद्यदि पूजाविषयमेतत् न देवतालाभः अथ देवता आदित्यादयः, न पूजाविधिः। न हि देवता सिद्धा यामुद्दिश्य पूजा विधीयते। न ह्यादित्यादीनां 'देवता' सामान्यशब्दः गोशब्दवच्छागलेयादीनाम्।"

अत्रोच्यते-सत्यं, नादित्यादयः स्वरूपतो 'देवताः'। सम्बन्धिशदो यम्। विधित एव देवतार्थो वगन्तव्यः-"यस्य हविश्चोद्यते सा तस्य देवता" इति। स एवाग्निराग्नेयादन्यत्र न देवतेत्युक्तम्। किंतु न पूजाविधिः पूज्यमानमन्तरेण सम्भवति। देवताश्च पूज्यत्वेन श्रुताः। तत्र यदि देवतार्थं मुख्येन पूजा सम्भवति तदायाग एव पूजा विज्ञेया। तस्य चारूपत्वादसति द्रव्यदेवताश्रवणे पूर्वाह्णकालविध्यर्थो यमनुवादो विज्ञेयः। अतः 'पूर्वाह्णे दैवतानि कर्तव्यानी'त्युक्तं भवति।

"किमुच्यते देवता न श्रूयते।" यावता न साक्षाद्देवताशब्दो स्ति। "नायं सामान्यवचनो देवताशब्दः। यासामन्यत्र देवतात्वं द ष्टं तासामेतत्पूजाविधानम्। तेनाग्निरादित्यो रुद्र इन्द्रो विष्णुः सरस्वतीत्येवमादयः पूज्याः। पूजार्थं च धूपदीपमाल्योपहारादीनां निवेदनम्। तत्राग्नेस्तावत्साक्षात्सम्बन्धः। आदित्यस्य दूरदेशवर्तित्वाच्छुचौ देशे तदुद्देशेन गन्धादिप्रक्षेपः। इन्द्रादीनां स्वरूपस्याप्रत्यक्षत्वादिन्द्रादिशब्दोद्देशेनैव तथा विधानम्। यद्यपि पूज्यमानप्रधाना पूजा, तथापि हि पूज्यमानानां कार्यान्तरशेषभावे पूजैव कर्तव्यतया विज्ञायते। द्रव्यप्रधाने हि न विधिविषयत्वसम्भवः। "तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि" इति

(मी० सू० २।१।६) “यैस्तु द्रव्यं चिकीर्षते” इति (२।१।७)।” न्याय्यं तु स्तुतिशस्त्रादिवत्। यथा न स्तुतिः स्तुत्यर्था, एवमियमपि पूजा न पूज्यार्था। स्तौतिशसत्योनिर्देशो नास्तीति चेत् ? अत्रोक्तम्-द्वितीया, सक्तुषु दर्शनात्।

एवं ‘म दं गां दैवतं प्रदक्षिणानि कुर्वीतेति’ दक्षिणाचारता विधीयते। दक्षिणेन दैवानि कर्माणि कर्तव्यानि। न हि म दादिवद्देवताया दक्षिणेन मार्गेण स्थानममूर्तत्वात् युज्यते। एवं “दैवतान्यभिगच्छेदि”ति; पादविहारव्यापारेण देवतासमीपप्राप्त्यसम्भवाद्गमेश्च ज्ञानार्थत्वादभिगमनं स्मरणात्किं विशिष्यते ? देवता अभिगच्छेत्, कर्मकाले मनसा ध्यायेत् चित्तव्याक्षेपतामाकुलताख्यां परिहरेदित्यर्थः। तथा चोपलभ्य मानमूलैवेयं स्म तिर्भवति। ‘यस्यै देवतायै हविर्गहीतं स्यात्तं मनसा ध्यायेदिति’। “ननु चैतदप्युद्देश्यत्वान्यथानुपपत्तेः प्राप्तमेव।” सव्याक्षेपस्याकुलस्य व सम्भवाददोषः।

एवं ‘देवस्वं’ ‘देवपशवो’ ‘देवद्रव्यमि’त्यादयो व्यवहारास्तादर्थ्येनोपकल्पितेषु पश्वादिषु द्रष्टव्याः। दण्डाधिकारे तु प्रतिकृतिविषयमेव देवताव्यवहारमिच्छन्ति। अन्यथा व्यवस्थाभङ्गः स्यात्। कल्पितदेवतारूपाणां प्रतिकृतीनां कल्पितेनैव स्वस्वामिभावेन यत्सम्बन्धि तदेव “देवब्राह्मणराजां तु द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम्” इत्यादिषु ‘देवद्रव्यम्’। न हि देवतानाम् स्वस्वामिभावो स्ति, मुख्यार्थासम्भवाद्गौण एवार्थो ग्राह्यः।

“कः पुनरत्र गौणो र्थः ? सर्वत्र हि साधारणगुणयोगाद्गौणार्थावगतिः।” ‘अग्निर्माणवक’ इत्यादिषु शुक्ले माणवके तद्गुणदर्शनात्। तेमे च गुणाः प्रत्यक्षाद्यवसेयाः। इह तु देवतार्थस्य कार्यावगम्यत्वात् कार्यतः स्वरूपविशेषानवगमात् कुतः प्रतिकृतिषु साधारणगुणावसायः। अत्रोच्यते। मन्त्रार्थवादेषु तथाविधरूपश्रवणात्तेषां च गुणवादेन व्याख्यानम्। तन्मूलमपश्यन्तो यथाश्रुतार्थग्राहिणस्ताद्रूपमिन्द्रादिषु प्रतिपद्यमानाः प्रतिकृतुषु साद श्यं पश्यन्तीति युक्तैव गौणता।

ये तु श्राद्ध एव वैश्वदेवब्राह्मण भोजनं देवदैवत्यमाचक्षते, तेषां पित्र्यङ्गत्वात् तस्य पित्र्यग्रहणेन ग हीतत्वादनर्थकं पुनर्वचनम्! सामान्यशब्दत्वाच्च कुतो विशेषावगतिः ? साहचर्यादिति चेत्-यदि न पित्र्यशब्देन ग्रहणं भवेत्। गोबलीवर्दन्यायो प्यसति विषयभेदे भवति।। १८६।।

ब्राह्मणस्यैव कर्मेतदुपदिष्टं मनीषिभिः।।

राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते।। १६०।।

अन्वय - मनीषिभिः एतत् कर्म ब्राह्मणस्यैव उपदिष्टम् एतत् कर्म राजन्यवैश्ययो तु न विधीयते।

हिन्दी अर्थ - किन्तु विद्वानों में यह कर्म अर्थात् यज्ञ और श्राद्ध में भोजन करना ब्राह्मण के लिए ही विहित किया है, यह कर्म क्षत्रिय और वैश्य के लिए विहित नहीं किया है।। १६०।।

मेधातिथिः। यदेतदेकान्नभोजनकर्मादिष्टमेतद्ब्राह्मणस्यैव मनीषिभिर्विद्वद्भिर्वेदादुपलभ्योपदिष्टम्, क्षत्रियवैश्ययोस्तु नैतदिच्छन्ति। च कदाचित्तयोरभैक्षभोजनम्। “ननु च श्राद्धभोजने ब्राह्मणानामेवाधिकारः। ‘ये तत्र भोजनीयाः स्तुर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः। अर्हत्तमाय विप्राय’ इति वचनाद्ब्राह्मणस्यैव प्रतिग्रहाधिकारः। तत्र कुतो यं प्रतिषेधो राजन्यवैश्ययोरिति ?। प्रतिप्रसवश्चायं नापूर्वविधिः। प्राप्तिव्यपेक्षाश्च प्रतिषेधा भवन्ति।” उच्यते-भुक्तवतां ब्राह्मणानामेव शिष्टस्यान्नस्य प्रतिपत्तिराम्नाता-‘ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्’ इति। न च तत्र जात्यपेक्षा, यस्य ज्ञातिः स तेन भोजयितव्यः। न च तत्र क्षत्रियादयः प्रतिग्रहीत तया सम्बन्ध्यन्ते, अपि तु ज्ञातयः। अतो स्याः प्राप्तेः प्रतिषेधः।। १६०।।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।।

कुर्यादध्ययने योगमाचार्यस्य हितेषु च।। १६१।।

अन्वय - गुरुणा चोदितः अप्रचोदितः वा नित्यमेव अध्ययने आचार्यस्य हितेषु च यत्नं कुर्यात्।

हिन्दी अर्थ - गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर अथवा बिना प्रेरणा किये भी ब्रह्मचारी प्रतिदिन पढ़ने में और गुरु के हितकारक कार्यों में यत्न करे।। १६१।।

मेधातिथिः। नोदितो गुरुणा नियुक्तोऽपि कुर्यादध्ययने योगं यत्नम्। “ननु चाहूतो धीयीत इत्युक्तम्। कथमप्रणोदितस्य योग उच्यते ?” ग हीतवेदैकदेशस्य परिशेषकगुणार्थमेतदुच्यते। न तत्राचार्यनियोगो पेक्षितव्यः। एत्रमात्रर्चाय हितं यदुदकुम्भाहरणादि श्रान्तसंवाहनादि तदप्यनियुक्तेन कर्तव्यम्॥ १६१॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धिन्द्रियमनांसि च॥

नियम्य प्रा जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥ १६२॥

अन्वय - शरीरं वाचं चैव च बुद्धिन्द्रियमनांसि च नियम्य गुरोः मुखं वीक्षमाणः प्रा जलिः तिष्ठेत्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों और मन को भी वश में करके अर्थात् सावधान होकर गुरु के सामने देखता हुआ हाथ जोड़कर खड़ा होवे॥ १६२॥

मेधातिथिः। कुतश्चिदागतो गुरोर्मुखं वीक्षमाणस्तिष्ठेन्नोपविशेत्। नियम्य च शरीरम्। पादहस्तचालनहसितानि न कुर्यात्, न किंचिद्वदेत् अनुपयोगि।

बुद्धिन्द्रियाणि नियच्छेत्। यदाश्चर्यरूपं किंचिद् गुरुसकाशे न तत्पुनःपुनर्भावयेत्। श्रोत्रादीन्यपि। चक्षुर्नियमस्तु गुरुवक्त्रप्रेक्षणादेव सिद्धः। मनश्च नियच्छेच्छास्त्रीयान्विकल्पान्ग हक शलाघारम्भान्मनसा वर्जयेत्। उक्तस्तु ‘संयमे यत्नम्’ इति सक्तिप्रतिषेधार्थः स प्रतिषेधः। गुरुसन्निधौ स्वल्पे पीन्द्रियाणामप्रतिषेधेऽपि विषये प्रसरो न देयः। प्रा जलिरुर्ध्वकृतकरकपोतः॥ १६२॥

नित्यमुद्ध तपाणिः स्यात्साध्याचारः सुसंव तः॥

आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥ १६३॥

अन्वय - नित्यम् उद्ध तपाणिः स्यात् साध्याचारः सुसंयतः आस्यताम् इत्युक्तः सन् गुरोः अभिमुखं आसीत्।

हिन्दी अर्थ - सदा उद्ध तपाणि रहे अर्थात् ओढ़ने के वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे, ओढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार ओढ़े कि वह दायां हाथ के नीचे से होता हुआ बायां कंधे पर जाकर टिके, जिसे दायां कंधा और हाथ वस्त्र से बाहर निकला रह जाये। गुरु के द्वारा ‘बैठो’ ऐसा कहने पर गुरु के सामने उनकी ओर मुख करके बैठे॥ १६३॥

मेधातिथिः। न केवलं सूत्रकात्पाणिरुद्धर्तव्यो पितुः वाससोऽपि। नित्यग्रहणं - न तिष्ठत एवायं पाण्युद्धार, नाप्यध्ययनवेलायाम्, किं तर्हि ? ततो न्यत्रापि। साध्याचारः साधुः अनिन्द्यः आचारो वाग्व्यवहारादिः कार्यः। अश्लीलादिभाषणमसन्निधानेऽपि गुरोर्नित्यग्रहणात् कर्तव्यम्। सुसंव तः वाङ्मनश्चक्षुर्भिः नियतात्मा। स्वल्पोऽपि यो दोषस्तं परिहरेत्। अनाव तो लोक उच्यते यो यथाकामी; तद्विपरीतः सुसंव तः।

अन्ये तु मन्यन्ते-वस्त्रेणाच्छादितशरीरो गुरुसन्निधौ भवेत् नोत्तरीयमवतारयेत्। एवं तिष्ठेत् यदा तु गुरुणा आस्यतामित्युक्तः- ‘एतेन शब्देन भ्रूविक्षेपादिना वा-विधेः प्रतिपादनार्थत्वात्, प्रतिपादनं च न शब्दव्यापार एव। तदा आसीत् उपविशेत्। अभिमुखं सम्मुखम्॥ १६३॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ॥

उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ १६४॥

अन्वय - गुरुसन्निधौ हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् अस्य च प्रथमम् उत्तिष्ठेत् चरमं च संविशेत्।

हिन्दी अर्थ - गुरु के समीप रहते हुए सदा अन्न=भोज्यपदार्थ, वस्त्र और वेशभूषा गुरु से सामान्य रखे और इस गुरु से पहले जागे तथा बाद में सोये॥ १६४॥

मेधातिथिः। हीनं न्यूनं अन्नं भुंजीत गुरुसन्निधौ। न्यूनता च परिमाणतः क्वचित्क्वचित्संस्कारतः। यदि संस्कृतमाज्यं दधिक्षीरादिव्य जन्म भिक्षातो लब्धं स्यात्तदा, यदि गुरुणा ताद शमन्नं न भुक्तं स्यादेककाले च गुरुणा सह भोजने, यदि गुरोस्ताद शमन्नं गृहे न सिद्धं स्यात्, तदा तत्तेन

नाशितव्यम्। अथ गुरोरपि ताद शमन्नं स्यात्तदा पचयः कर्तव्यः। वस्त्रं यदि गुरोरौर्णं स्यात्तदा न कार्पासादि शिष्येण प्रावरितव्यम्। वेष आभरणमण्डनादिः। सोऽपि हीनः। सर्वदा ब्रह्मचर्यात्परेणापि। अत एव वेषग्रहणम्। न च ब्रह्मचारिणो मण्डनमिष्यते। उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य शय्याया रात्र्युपरमे, आसनाद्वा उत्थानावसरं बुद्ध्वा, प्रथमं पूर्वं गुरोरुत्तिष्ठेत्। चरमं पश्चात्स्वापकाले सुप्ते गुरौ संविशेच्छय्यां समाश्रयेदासने चोपविशेत्॥ १६४॥

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्॥

नासीनो न च भुजानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः॥ १६५॥

अन्वय - प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानः न समाचरेत्, नासीनः न भुजानः न पराङ्मुखः तिष्ठन्।

हिन्दी अर्थ - प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु की बात या आज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना और संभाषा-बातचीत, ये लेटे हुए न करे, न बैठे-बैठे, न कुछ खाते हुए और न मुँह फेरकर खड़े हुए बातें करे॥१६५॥

मेधातिथिः। प्रतिश्रवणमाहूयमानस्य कार्ये नियुज्यमानस्य गुरुसम्बन्धिवचनाकर्णनम्। सम्भाषा गुरुणा सहोक्तिप्रत्युक्तिकरणम्। ते प्रतिश्रवणसम्भाषे। शयानः स्वे स्रस्तरे निक्षिप्तगात्रः। न समाचरेन्न कुर्यात्। नासीन आसने चोपविष्टः, न भुजानः। न तिष्ठन्नेकस्मिन्नेव देशे विचलन्नूर्ध्वं स्थितः। न पराङ्मुखः यस्यां। दिशि गुरुदर्शयते ततः परावत्य स्थितिर्न कुर्यात्॥१६५॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।

प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्भावस्तु धावतः॥ १६६॥

अन्वय - आसीनस्य स्थितः तिष्ठतः तु अभिगच्छन् आव्रजतः तु प्रत्युद्गम्य धावतः तु पश्चात् ६ आवन् कुर्यात्।

हिन्दी अर्थ - बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर, खड़े हुए गुरु के सामने जाकर, अपनी ओर आते हुए गुरु से उसकी ओर शीघ्र आगे बढ़कर दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर प्रतिश्रवण और बातचीत करे॥१६६॥

मेधातिथिः। कथं तर्हि ? आसीनो यदा ज्ञां ददाति तदा स्थित आसनादुत्थाय प्रतिश्रवणसम्भाषे कुर्यात्। अभिगच्छंस्तु तिष्ठतः। तिष्ठन्गुरुर्यदा दिशति तदा भिगच्छंस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा। आव्रजत आगच्छत प्रत्युद्गम्याभिमुखमेव गत्वा। प्रतिराभिमुख्ये। धावतो वेगेन गच्छतः पश्चाद्भावन्॥ १६६॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य अन्तिकम्॥

प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः॥१६७॥

अन्वय - पराङ्मुखस्य अभिमुखः दूरस्थस्य चै अन्तिकम् एत्य, शयानस्य निदेशे एव च तिष्ठतः प्रणम्य (समाचरेत्)।

हिन्दी अर्थ - गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर और दूर खड़े हों तो पास जाकर, लेटे हों और समीप ही खड़े हों तो विनम्र होकर प्रतिश्रवण और बातचीत करें॥ १६७॥

मेधातिथिः। तथा पराङ्मुखस्य गुरोः सम्मुखोपविष्टः शिष्यः। यदि गुरुः परावत्य कथंचित्स्थितः प्रेष्यति, तां दिशं गत्वा अभिमुखीभूय पूर्वोक्तं कर्तव्यम्। दूरस्थस्य समीपं अन्तिकं एत्यागत्य प्राप्य। आसीनस्यापि शयानस्य प्रणम्य प्रह्वो भूत्वा गात्राप्यवनमय्य निदेशे निकटे तिष्ठतोऽपि प्रणम्यैव यत्प्रागुक्तम् 'अभिगच्छन्निति'॥ १६७॥

नीचं शय्यासनं चास्य नित्यं स्याद् गुरुसन्निधौ।

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥ १६८॥

अन्वय - गुरुसन्निधौ शय्यासनम् सर्वदा नीचम् गुरोः चक्षुर्विषये तु यथेष्टासनः न भवेत्।

हिन्दी अर्थ - गुरु के समीप रहते हुए इस ब्रह्मचारी का बिस्तर और आसन सदा ही गुरु के आसन से नीचा या साधारण रहना चाहिए और गुरु की आखों के सामने कभी मनमाने आसन में न बैठें।।

मेधातिथिः। नीचमनुन्नतं गुरुशय्याद्यपेक्षया च नीचत्वम्। नित्यग्रहणाद्ब्रह्मचर्यादुत्तरकालमपि। गुरोश्च दष्टिगोचरे, यत्र गुरुः पश्यति तत्र न यथेष्टमासीत् पादप्रसारणाङ्गनिषङ्गादिना। आसनग्रहणं चेष्टामात्रोपलक्षणार्थम्। यथेष्टचेष्टो न भवेत्।।१६८।।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।।

न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्।। १६९।।

अन्वय - परोक्षमपि अस्य केवलं नाम नोदाहरेत् अस्य च गतिभाषितचेष्टितं नानुकुर्वीत।

हिन्दी अर्थ - पीछे से भी अपने गुरु का केवल नाम न ले। अर्थात् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'आचार्य', 'गुरु' आदि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, अकेला नाम नहीं और इस गुरु की चाल, वाणी तथा चेष्टाओं की नकल न उतारे।। १६९।।

मेधातिथिः। नोदाहरेन्नोच्चारयेदस्य गुरोर्नाम, केवलं उपाध्यायाचार्यभट्टाद्युपपदरहितं, परोक्षमपि। न चैवास्यानुकुर्वीत सद शं न कुर्यान्नाट्यकार इव। गतिः-एवमस्मद्गुरुरपक्रामति। भाषितं-द्रुतविलम्बितमध्यमत्वादि। चेष्टितम्-एवं भुङ्क्ते एवमुष्णीषं बध्नाति एवं परिवर्तत इत्यादि। उपहासबुद्ध्या यमनुकरणप्रतिषेधः।। १६९।।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।।

कर्णो तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततो न्यतः।। २००।

अन्वय - यत्र गुरोः परिवादः अपि वा निन्दा प्रवर्तते तत्र कर्णो पिधातव्यौ तत वा अन्यतः गन्तव्यम्।

हिन्दी अर्थ - जहां गुरु की बुराई अथवा निन्दा हो रही हो, अपने कान बन्द कर लेने चाहिए अर्थात् उसे नहीं सुनना चाहिए अथवा उस जगह से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए।। २००।।

मेधातिथिः। यत्र देशे दुर्जनसम्पाते गुरोः परीवादः सम्भूतदोषानुकथनम् निन्दा अविद्यमानानां दोषाणामभिधानम्, प्रवर्तते तत्र कर्णो पिधातव्यौ अङ्गुल्यादिना संवरीतव्यौ ततः प्रदेशाद्वा न्यत्र गन्तव्यम्।। २००।।

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।।

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी।। २०१।।

अन्वय - परीवादात् खरो भवति, निन्दकः वै श्वा भवति, परिभोक्ता कृमिः भवति मत्सरी कीटः भवति।

हिन्दी अर्थ - गुरु की बुराई करने वाला शिष्य अगले जन्म में गधा बनता है। निन्दा करने वाला कुत्ता बनता है, गुरु के धन का उपभोग करने वाला छोटा कीड़ा बनता है और गुरु से ईर्ष्या करने वाला बड़ा कीड़ा बनता है।।२०१।।

मेधातिथिः। पूर्वप्रतिशेषो यमर्थवादः।

अत एवं व्याख्येयम्। परीवादाच्छ्रुत्वा खरो भवति। हेतौ ल्यब्लोपे वा कर्मणि प चमी-परीवादं श्रुत्वा। निन्दकः-निन्दाश्रावी उपचारान्निन्दक उच्यते। तथा संस्कृता वघातकः। श्रवणनिषेधादेव साक्षात्करणनिषेधसिद्धिः। परिभोता यो गुरुमुपजीवति कुस त्या नुवर्तते। मत्सरी गुरुसम द्विमभ्युच्चयं न सहते न्तर्दह्यते। अनयोरप्राप्तत्वादपूर्वो विधिः। परिवादपरीवादयोः "घ यमनुष्ये बहुलमिति" (पा० सू० ६।३।१२२) दीर्घत्वादीर्घत्वे।। २०१।।

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।।

यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत्।। २०२।।

अन्वय - एनम् दूरस्थः नार्चयेत् न क्रुद्धः न स्त्रियाः यानासनस्थश्च अवरुह्य एनम् अभिवादयेत् ।

हिन्दी अर्थ - शिष्य अपने गुरु को दूर से नमस्कार न करे, न क्रोध में, जब अपनी स्त्री के पास बैठे हों न उस स्थिति में जाकर अभिवादन करें और यदि सवारी पर बैठा हो तो उतरकर अपने गुरु को अभिवाद करे।। २०२।।

मेधातिथिः। अत्र परप्रेषणेन गन्धमाल्यादेरर्पणं प्रतिषिध्यते। स्वयंकृते परेण च कारिते तुल्यं कर्तृत्वम्। प्रयोजके पि कर्तृत्वस्मरणात्- इत्येतया बुद्ध्या प्राप्ते परमुखेनार्चने प्रतिषेधः। अशक्तौ ग्रामान्तरस्थस्य न दोषः। 'ग्रामान्तरं गच्छत्युपाध्याये भवानभिवादयतां' स गत्वा तमभिवादयत इत्यादिव्यवहारदर्शनात्। न क्रुद्धः। गुरौ क्रोधासम्भवादन्वनिमित्ते पि क्रोधे पूजाकाले तत्त्यागेन चित्तप्रसादो भिधीयते। क्रुद्धमित्यन्ये पठन्ति। नान्तिके समीपे स्त्रियाः कामिन्याः स्थितम्। गुर्वाराधनपरत्वाच्छुश्रूषाकलापस्य येन चित्तखेद आशङ्क्यते स निषिध्यते। अतः स्त्रिया इत्येवं व्याख्यातम्। यानं गन्त्र्यादि। आसनं पीठिकाम चादि। ततो वरुह्यावतीर्य अभिवादयेत्। 'शय्यासनस्थ' (२।११६) इत्यत्रासनादुत्थानमुक्तम्, अनेनावरोहणं विधीयते। म चाद्वा सनादुत्थानमनवरोहतो पि सम्भवति।

“अवरोहणं तर्हि अनुत्थितस्य च न सम्भवति। अतो नेनैव सिद्धे शय्यासनेत्यत्रासनग्रहणमनर्थकम्।” नानार्थकम्। यदि शिष्यः पराङ्मुखः प्रत्यग्देशादागतं गुरुं मन्येत तदासनस्थ एव सम्भ्रमपराव तस्तदभिमुखीभूत उत्तिष्ठेन्न तूत्थायाभिपरावर्तेत। तथा ह्युत्थानक्रियया सम्मुखीभवनं व्यधीयेत। ततः कुप्येद्गुरुः। पराङ्मुखस्योत्तिष्ठतो गुरुरेवमपि मन्येत-‘नायं ममाभ्युत्थितो निमित्तान्तरकृतमेवास्याभ्युत्थानम्। तस्मादर्थवदुभयत्राप्यासनग्रहणम्।। २०२।।

प्रतिवातानुवाते च नासीत गुरुणा सह।।

असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत्।। २०३।।

अन्वय - प्रतिवाते अनुवाते च गुरुणा सह न आसीत गुरोश्च असंश्रवे एव किञ्चित् अपि न कीर्तयेत्।

हिन्दी अर्थ - शिष्य की ओर से गुरु की ओर आने वाली वायु में और उसके विपरीत अर्थात् गुरु की ओर से शिष्य की ओर आने वाली वायु की दिशा में गुरु के साथ न बैठ तथा जहां गुरु को अच्छी प्रकार से सुनाई न पड़े ऐसे स्थान में कुछ बात न करे।। २०३।।

मेधातिथिः। यस्यां दिशि गुरुर्व्यवस्थितस्ततो देशाद्यदा वायुः शिष्यदेशमागच्छति शिष्यदेशाच्च गुरुदेशं ते प्रतिवातानुवाते। एकं 'प्रतिवातम्' अपरम् 'अनुवातम्' तदपेक्षया गुरुणा सह नासीत-अपि तु तिर्यग्वातसेवी गुरोर्भवेत्। अविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन् असंश्रवे। न किञ्चिदपि गुरुगतमन्यगतं वा कीर्तयेत्। यत्र गुरुर्व्यक्तं न श्य णोति, ओष्ठस चलनादिना शिष्यसम्बन्धिना जानाति किञ्चिदयमेतेन सम्भाषते, तन्न कीर्तयेत्।। २०३।।

गोश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।।

आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च।। २०४।।

अन्वय - गोश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च शिलाफलकनौषु च गुरुणा सार्धम् आसीत।

हिन्दी अर्थ - बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी पर और महलों अथवा घरों में बिछाये जाने वाले बिछौने पर और चटाईयों पर तथा पत्थर, तख्ता, नौका पर गुरु के साथ बैठ जायें।। २०४।।

मेधातिथिः। यानशब्दः प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते। गोश्वोष्ट्रैर्युक्तं यानं गोश्वोष्ट्रयानम्। दधिघटादिवत्समासे युक्तशब्दस्य लोपः। केवलेषु तु अश्वप ष्टादिष्वारोहणं नास्ति। यदि स्वतन्त्रो यानशब्दो विज्ञायेत तदा स्यादप्यनुज्ञां समाचारात्तु कादाचित्कमनुज्ञानं द श्यते। प्रासाद उपरिग हादीनां या भूमिस्तस्यां ग हादिभूमिवत्सिद्धं सहासनम्। प्रस्तरः दर्भादित णाकीर्णः आस्तरः। कटस्तु शरवीरणादिकृतः प्रसिद्धः। शिला गिरिशिखरादावन्यत्र वा। फलकं दारुमयमासनं पोतवर्तादि। नौर्जलतरणसंप्लवः। तेन

पोतादावपि सिद्धं भवति॥ २०४॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वत्तिमाचरेत्॥

न चानिस ष्टो गुरुणा स्वान् गुरुनभिवादयेत्॥ २०५॥

अन्वय - गुरोः गुरौ सन्निहिते गुरुवत् व त्तिमाचरेत् स्वान् गुरुन् च गुरुणा अनिस ष्टः न अभिवादयेत्।

हिन्दी अर्थ - गुरु के भी गुरु यदि समीप आ जायें तो उनसे अपने गुरु के समान ही आचरण करे और अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के आने पर गुरु से आदेश पाये बिना अभिवादन करने न जाये॥ २०५॥

मेधातिथिः। उक्ता गुरुव त्तिरिदानीमन्यत्रातिदिश्यते। अध्ययनधर्मत्वात्सर्वस्यास्य गुरुरत्राचार्यो विज्ञेयः। तस्य यो गुरुस्तस्मिन्सन्निहिते गुरुवद्वर्तितव्यम्। सन्निहित इति न तद्ग हगमनमभिवादानाद्यर्थं कर्तव्यम्। गुरुग हे वसन् गुरुणा निस ष्टो अननुज्ञातः स्वान् गुरुन् मातापित प्रभ तीन्नभिवादयितुं गच्छेत्, न पुनर्गुरुग हे स्थितस्य यदि स्वे गुरव आगच्छन्ति तदा तदभिवादाने गुर्वाज्ञा पेक्षितव्या।

“कुत एतत् ?” मातापित्रोरत्यन्तमान्यत्वात्। पित व्यमातुलादीनामप्यभिवादनप्रव तस्य न कश्चिद्गुरुव त्तेर्विघ्नः। आराधनार्थ एवायं सर्वः प्रयासः। माता-पित गुरुसन्निपाते कः क्रमो भिवादनस्येत्युक्तं “सर्वमहती माता”। पित्राचार्ययोस्तु विकल्पः। यतः पित त्वाव्यारोपेणाचार्यस्य गौरवं विहितम्; अतः पिता श्रेष्ठः, यतश्चोक्तं “गरीयान् ब्रह्मदः पिता” (श्लो० १४६) इति तत आचार्यः। अतो यं विकल्पः॥ २०५॥

विद्यागुरुष्वेवमेव, नित्या व त्तिः स्वयोनिषु॥

प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि॥ २०६॥

अन्वय - विद्यागुरुषु स्वयोनिषु अधर्मान् प्रतिषेधस्तु उपदिशत्सु अपि च नित्या एतत् एव व त्तिः।

हिन्दी अर्थ - विद्या पढ़ाने वाले सभी गुरुओं में अपने वंश वाले सभी बड़ों में और अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी सदैव यही (ऊपर वर्णित) बर्ताव करे॥ २०६॥

मेधातिथिः। अयमप्यतिदेशः। आचार्यादन्ये उपाध्यायादयो विद्यागुरवः। तेष्वेवमेव वर्तितव्यं, ‘शरीरं चैव’ (२।१६२) इत्यादिकृत्या। स्वयोनिषु ज्येष्ठभ्रात पित व्यादिषु। नित्या व त्तिर्गुरुव त्तिः। विद्यागुरुणां त्वाचार्यव्यतिरेकेण यावद्विद्याग्रहणम्। अधर्मात् अकार्यात्परदारगमनादेः प्रतिषेधत्सु वयस्येष्वपि। अभ्यन्तरगत्यारूढतया कार्यं चिकीर्षन्त्यः सुहृदादिस्तम् “आकेशग्रहणान्मित्रमकार्येभ्यो निवर्तयेत्” इति-तस्मिन्समहीनवयस्कं पि गुरुवद्वर्तितव्यम्। हितं च विधिरूपमग्रन्थकम् उपदिशत्सु। अथवा हितस्योपदेष्टारो भिजना उच्यन्ते॥ २०६॥

श्रेयस्सु गुरुवद्वत्तिं नित्यमेव समाचरेत्॥

गुरुपुत्रे तथा चार्ये गुरोश्चैव स्वबन्धुषु॥ २०७॥

अन्वय - श्रेयः सु आर्येषु गुरुपुत्रेषु च गुरोः स्वबन्धुषु एव नित्यं गुरुवत् एव व त्तिं समाचरेत्।

हिन्दी अर्थ - बड़े लोगों में और श्रेष्ठ गुरुपुत्रों में तथा गुरु के रिश्तेदारों में भी सदैव गुरु के समान ही बर्ताव करे॥ २०७॥

मेधातिथिः। श्रेयांस आत्मापेक्षया वित्तवयोविद्याद्यतिशययुक्ताः। तेषु गुरुवद्वत्तिं यथासम्भवमभिवादन-प्रत्युत्थानादि समाचरेत्। बहवो त्र शब्दा गतार्थाः। प्रयुज्यन्ते। तेषां व त्तवशात्प्रयोगो न दुष्यति। श्रेयस्स्वित्येतावद्वक्तव्यम्। गुरुवदित्याक्षिप्यते। व त्तिमित्यादि प्राप्तमेव। तदेतत्सर्वस्मिन्नेवास्मिन्ग्रन्थे स्वयमुत्प्रेक्ष्यम्। गुरुपुत्रे तथाचार्ये। आचार्यग्रहणेनाध्यापकत्वं लक्ष्यते। यद्यसन्निहिते गुरौ तत्पुत्रो ध्यापयति कतिचिदहानि तदा तस्मिन्गुरुवद्वत्तिः। पाठान्तरम् ‘गुरुपुत्रेष्वथार्येषु’। आर्यशब्दो गुणवद्ब्राह्मणजातिवचनः। ‘शूद्राच्चार्यो ज्यायान्’ इति प्रयोगदर्शनात्। न च सर्वस्मिन्गुरुपुत्रे व त्तिरेषा विधीयते। गुरोश्चैव स्वबन्धुषु। स्वग्रहणं गुरुवंश्यर्थम् गुरुवंशसम्बन्धितैवात्र निमित्तम्, न वयोविद्याद्यपेक्ष्यते॥ २०७॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि।

अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति॥ २०८॥

अन्वय - गुरुसुतः बालः वा समानजन्मा यज्ञकर्मणि शिष्यः वा अध्यापयन् गुरुवत् मानमर्हति।

हिन्दी अर्थ - गुरु का पुत्र चाहे छोटा हो अथवा समान आयु वाला हो, अथवा यज्ञकर्म में दीक्षित होकर शिष्य बन चुका हो, वह पढ़ाता हुआ गुरु के समान सम्मान का अधिकारी है। २०८॥

मेधातिथिः। ये न पठन्ति गुरुपुत्रविशेषणार्थं पूर्वत्राचार्यग्रहणम्, तेषामध्यापरयितरि गुणवति समानजातीये सर्वगुरुव त्तिः प्राप्ता नेन विशेषणावस्थाप्यते। अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानं पूजामर्हति, नानाध्यापयन्। “ननु च विद्याग्रहणनिमित्तत्वाद्गुरुव त्तिरध्यापयद्गुरुवद् गुरुपुत्रे प्यध्यापयितरि प्राप्तैव। शैशवब्राह्मणनिदर्शनात्कनीसयो पि सिद्धेत्यतो बालः समानजन्मा वा इत्येवमर्थमपि न वक्तव्यम्”। सत्यम्। यो वेदं वेदैकदेशं वा ध्यापयति तस्यानाचार्यस्याप्येषा व तिरुक्ता। अयं तु न ग्राहकः, केवलं कतिचिदहान्यर्भागं वा ध्यापयति, अतो नाचार्यो नोपाध्यायः इत्यप्राप्तौ, विधिरयम्। अस्मादेव वचनादन्यस्य भग्नमन्त्रादेरध्यापकस्य न सर्वा गुरुव त्तिः कर्तव्येति विज्ञायते। ये च पूर्वत्राचार्यशब्दं पठन्ति तेषामुत्तरार्थमिदमनूद्यते। “उत्सादनं चेति” (श्लो० १०६) वक्ष्यति।

शिष्यो वा यज्ञकर्मणि। यज्ञकर्मग्रहणं प्रदर्शनार्थम्। क्वचिदङ्गे वेदैकदेशे मन्त्रभागे कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणभागे वा-तथापि गुरुवत्पूज्यः यदि तु गुरुपुत्रः, तस्मादनेन प्रकारेण काचिद्विद्यां शिक्षेत-तदा तेन तस्मिन्गुरुवद्वर्तितव्यमित्युक्तम्-एवमर्थवादत्वादस्यारम्भस्य।

ये तु व्याचक्षते-“अध्यापयन्नित्यनेनाध्यापनसामर्थ्यं लक्ष्यते, अध्यापनसमर्थश्चेदध्यापयतु, मा वा ध्यापयेत् ग हीतवेदश्चेद्गुरुवद्द्रष्टव्यः” तेषां शाब्दमेदव्याख्यानं सत्यं भवति। शता लक्षणार्थः, स तु क्रियायाः ‘लक्षणहेत्वोः क्रियाया’ (पा० सू० ३।२।१२६)। इति। क्रिया चात्र श्रुता-गुरुवन्मानमर्हति॥ २०८॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने॥

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम्॥ २०९॥

अन्वय - गुरुपुत्रस्य गात्राणां उत्सादनं स्नापन उच्छिष्टभोजने पादयोः अवनेजनं न कुर्यात्।

हिन्दी अर्थ - गुरुपुत्र के अंगों को दबाना, नहलाना, झूठा भोजन करना और पैरों को धोना, ये कार्य न करे॥ २०९॥

मेधातिथिः। अभ्यक्तस्योद्वर्तनम् उत्सादनं न कुर्यात्। गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनं प्रक्षालनम्। अस्मादेव प्रतिषेधाद्गुरावेतदनुक्तमपि कर्तव्यतया प्रतीयते। यदा तु गुरुपुत्र एव गुरुः सम्पद्यते कृत्स्नवेदाध्यापनोपयोगितया, तदा स्वनिमित्तं तत्रोच्छिष्टभोजनाद्यस्ति; तदनेन न प्रतिषिध्यते। आतिदेशिकस्यानेन निषेधो नौपदेशिकस्य॥ २०९॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः॥

असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः॥ २१०॥

अन्वय - सवर्णा गुरुयोषितः गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्यु असवर्णाः तु प्रत्युत्थानाभिवादनैः सम्पूज्याः।

हिन्दी अर्थ - गुरु के अपने वर्ण की पत्नियां गुरु के समान ही पूजनीय हैं और भिन्न वर्ण की गुरुपत्नियों का तो केवल उठने और नमस्कार करने से ही आदर करना चाहिये॥ २१०॥

मेधातिथिः। गुरुयोषितो गुरुपत्न्यः। सवर्णाः समानजातीयाः। गुरुवत्प्रतिपूज्या आज्ञाकरणादिना। असवर्णास्तु केवलैः प्रत्युत्थानाभिवादनैः। बहुवचनादाद्यर्थो त्रान्तर्भवति। तेन हि प्रियहितादि गत्याद्यननुकरणाद्यप्यतिदिश्यते॥ २१०॥

अभ्य जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।

गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्॥ २११॥

अन्वय - गुरुपत्न्या अभ्य जनम् स्नापनम् गात्रोत्सादनमेव, केशानां प्रसाधनम् च न कार्याणि।

हिन्दी अर्थ - गुरुपत्नी के उबटन लगाना, स्नान कराना और शरीर दबाना, बालों को संवारना ये कार्य नहीं करने चाहिए।।२११।।

मेधातिथिः। घ ततैलादिना केशकायोपदेहनमभ्य जनम्। गात्राणासमुत्सादनमुद्धर्तनम्। कार्यसामान्यात्पादधावनमपि। सर्वथा शरीरस्पर्शसाध्या या काचिदनुवृत्तिः। सा सर्वा प्रतिषिध्यते। वक्ष्यति च हेतुं “स्वभाव एष नारीणाम्” इति (श्लो० २१३)। केशानां च प्रसाधनम् विन्यासरचनादिकरणम्, कुङ्कुमसिन्दूरादिना सीमन्तोत्थापनं। प्रदर्शनार्थं चैतदुक्तम्। तेन देहप्रसाधनमपि चन्दनानुलेपनानि निषिध्यन्ते।। २११।।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।।

पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता।। २१२।।

अन्वय - पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता युवतिः गुरुपत्नी पादयोः नाभिवाद्या।

हिन्दी अर्थ - जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हों ऐसे गुण और दोषों को समझने में समर्थ युवक शिष्य को जवान गुरुपत्नी का चरणों का स्पर्श करके अभिवादन नहीं करना चाहिए।।२१२।।

मेधातिथिः। पूर्णविंशतिवर्षेण तरुणेनेत्यर्थः। बालस्य आ षोडशाद्वर्षाददोषः। पूर्णानि विंशतिवर्षात्थ यस्य स एवमुच्यते। अयं कालो यौवनोद्भेदोपलक्षणार्थः। अत एवाह गुणदोषौ विजानता। कामजे सुखदुःखे गुणदोषावभिप्रेतौ स्त्रीगतौ च स्वीकृतिदुराकृतिलक्षणौ धैर्यचापले वा। सर्वथा तन्त्रा विंशतिसंख्या।। २१२।।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।

अतो थान्नप्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः।। २१३।।

अन्वय - इह एषः स्वभावः नारीणां नराणां दूषणम् अतः अर्थात् विपश्चितः प्रमदासु न प्रमाद्यन्ति।

हिन्दी अर्थ - इस संसार में यह स्वाभाविक ही है कि स्त्री-पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण हो जाता है=दोष लग जाता है, इस कारण बुद्धिमान् व्यक्ति स्त्रियों के साथ व्यवहारों में कभी असावधानी नहीं करते अर्थात् ऐसा कोई बर्ताव नहीं करते जिससे सदाचार के मार्ग से भटक जाने की आशंका हो।। २१३।।

मेधातिथिः। एषा प्रकृतिः स्त्रीणां यन्नराणां धैर्यच्यावनम्। सङ्गाद्धि स्त्रियः पुरुषान्त्रतात् च्यावयेयुः। अतो थान्न अस्माद्धेतोः न प्रमाद्यन्ति। दूरत एव स्त्रियः परिहरन्ति। प्रमादः स्पर्शादिकरणम्। वस्तुस्वभावो यं यत्तरुणी स्पष्टा कामकृतं चित्तसंक्षोभं जनयति। तत्र चित्तसंक्षोभोऽपि प्रतिषिद्धः, तिष्ठतु तावदपरो ग्राम्यधर्मसंरम्भः। प्रमदाः स्त्रियः।। २१३।।

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।।

प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्।। २१४।।

अन्वय - हि लोके प्रमदाः कामक्रोधवशानुगम् अविद्वांसनम् लोके विद्वांसमपि वा उत्पथं नेतुं अलम्।

हिन्दी अर्थ - क्योंकि संसार में स्त्रियां काम और क्रोध के वशीभूत होने वाले अविद्वान् को अथवा विद्वान् व्यक्ति को भी उसके मार्ग से उखाड़ने में अर्थात् उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने में पूर्णतः समर्थ हैं।। २१४।।

मेधातिथिः। न चैतन्मन्तव्यं 'नियमितानि येन चिरमिन्द्रियाणि, 'अतिगुरुपातकं गुरुदारेषु दुष्टेन भावेन प्रेक्षणमपीति' य एवं वेद तस्य न दोषः पादस्पर्शादाविति।" यत एवंविधानपि दोषान् यो जानीते, यो वा न किञ्चिज्जानीते, तो स्त्रीविषये समानो। यतो नात्र विद्वत्ता प्रभवति। शक्नुवन्ति स्त्रियः सर्वम् उत्पथम् अमार्गं लोकशास्त्रविरुद्धं विषयं नेतुं प्रापयितुं-कामक्रोधवशानुगं सन्तम्। कामक्रोधाभ्यां यः सम्बन्ध्यत इत्यर्थः। अवरथाविशेषापलक्षणार्थं चैतत्। अत्यन्तबालं अत्यन्तवृद्धं च प्राप्तयोगप्रकर्षणं

च वर्जयित्वा, येन निरन्वयमुच्छिन्नाः संसारपुरुषधर्मास्तद्व्यतिरेकेण, न कश्चित्पुरुषो स्ति यः स्त्रीभिर्नाकृष्यते-अयःकान्तेनेव लोहः। न चात्र स्त्रीणां प्रभविष्णुताः; वस्तुस्वाभाव्यात्तुरुणीजनदर्शने पुंसामुन्मथ्यते चित्तम्, विशेषतो ब्रह्मचारिणाम्॥ २१४॥

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्॥

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ २१५॥

अन्वय - माता स्वस्त्रा दुहित्रा वा विविक्तासनः न भवेत् बलवानिन्द्रियग्रामः विद्वांसमपि कर्षति।

हिन्दी अर्थ - माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्त आसन पर न बैठे या रहे, अर्थात् एकान्तनिवास न करे क्योंकि शक्तिशाली इन्द्रियां विद्वान् व्यक्ति को भी खींचकर अपने वश में कर लेती हैं॥ २१५॥

मेधातिथिः। अतो विविक्तासनः निर्जने शून्ये ग हादौ नासीत्। नापि निःशङ्कमङ्गस्पर्शादि कुर्यात्। अतिचपलो हीन्द्रियसङ्घातो विद्वांसमपि शास्त्रानिग हीतात्मानमपि कर्षति हरति परतन्त्रीकरोति॥ २१५॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।

विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥ २१६॥

अन्वय - कामं तु युवा युवतीनां गुरुपत्नीनाम् असौ अहम् इति ब्रुवन् विधिवत् भुविवन्दनं कुर्यात्।

हिन्दी अर्थ - अच्छा तो यही है कि युवक शिष्य जवान गुरुपत्नियों को 'यह मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए पूर्णविधि के अनुसार भूमि पर झुककर ही अभिवादन करे॥ २१६॥

मेधातिथिः। काममित्यरुचिं सूचयति। उत्तरेण चैतत्सम्बन्ध्यते 'विप्रोष्य पादग्रहणमिति।' भुवि तु पादवन्दनमिष्यत एव। युवतीनां युवा द्वयोर्यूनोरयं विधिः। यदि बालो ब्रह्मचारी व द्वा वा गुरुपत्नी तदा पादोपसंग्रहणमविरुद्धम्। असावहमिति प्रागुक्तस्य विधेरनुवादः। विधिवदिति व्यस्तपाणिना॥ २१६॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।

गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्॥ २१७॥

अन्वय - सतां धर्मम् अनुस्मरन् गुरुदारेषु अन्वहम् अभिवादनम् विप्रोष्य च पादग्रहणं कुर्वीत्।

हिन्दी अर्थ - शिष्य श्रेष्ठों के धर्म को स्मरण करते हुए अर्थात् यह विचारते हुए कि स्त्रियों को अभिवादन करना शिष्ट व्यक्तियों का कर्तव्य है, गुरुपत्नियों को प्रतिदिन अभिवादन करे और परदेश से लौटकर चरणस्पर्श करे॥ २१७॥

मेधातिथिः। प्रवासादेत्य पादयोर्ग्रहणं 'सव्येन सव्य' इति। अन्वहम् अहन्यहनि। अभिवादनं भूमौ। सतां शिष्टानां एष धर्म आचार इत्यनुस्मरन्॥ २१७॥

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ २१८॥

अन्वय - यथा खनित्रेण खनन् नरः वार्यधिगच्छति तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।

हिन्दी अर्थ - जैसे फावड़े से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त करता है वैसे गुरु की सेवा करने वाला शिष्य गुरुजनों ने जो विद्या प्राप्त की है, उसको प्राप्त होता है॥ २१८॥

मेधातिथिः। सर्वस्य शुश्रूषाविधेः फलमिदम्। गुर्वाराधनद्वारेण स्वाध्यायविध्यर्थवाद।

यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण कुदालादिना भूमि खनन् वारि प्राप्नोति, नाक्लेशेन, एवमयं विद्यां गुरुगतां शुश्रूषुः गुरुसेवापरो धिगच्छति॥ २१८॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।

नैनं ग्रामे भिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात् क्वचित्॥ २१९॥

अन्वय - मुण्डः वा जटिलः वा स्यात् अथवा शिखाजटः स्यात् एनं क्वचित् ग्रामे सूर्यं न अभिनिम्लोचेत् नाभ्युदयात्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी चाहे मुंडी हो, चाहे जटी हो या शिखी, इस ब्रह्मचारी को ग्राम में रहते सूर्य न तो अस्त हो न कभी उदय हो।।२१६।।

विशेष - अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी को रात्रिवास गुरुकुल में ही करना है। अतः भिक्षा आदि कार्यों के लिए उसे ग्राम आदि में सूर्योदय के बाद जाना चाहिए और सूर्यास्त पूर्व लौट आना चाहिए।। २१६।।

मेधातिथिः। मुण्डः सर्वतः केशवपनं कारयेत्। जटिलो वा। जटा परस्परमत्यन्तं संलग्नकेशाः, तद्वान् जटिलत्। शिखाजटः शिखैव वा जटा यस्य। जटाकारां शिखां धारयेत् परिशिष्टे मुण्डः।

तथा च कुर्याद्यथा ग्रामे स्थितस्य सूर्यो नाभिनिम्लोचेत् नास्तं गच्छेत्। ग्रामग्रहणं नगरस्यापि प्रदर्शनार्थम्। अस्तमयसमयामरण्ये सम्भावयेत्, एवं ग्रामे नाभ्युदियादुदयोऽपि सूर्यस्य यथा रण्यस्थस्य ब्रह्मचारिणो भवति तथा कुर्यात्। एवं प्रकृतं ब्रह्मचारिणम्।

अन्ये तु ग्रामशब्दं 'ग्राम्येषु धर्मेषु, स्वापादिषु वर्तमानं न निम्लोचेत्' इत्येवमर्थं वर्णयन्ति। तथा च उत्तरत्र, 'शयानम्' इत्याह। ततो यं सन्ध्ययोः स्वप्नप्रतिषेधः, नारण्ये तत्कालावस्थानम्। बालो हि ब्रह्मचारी बिभियात्। गौतमेन तु (अ० २ सू० ६।१०) बहिःसन्ध्यत्वं परतो गोदानादुक्तम्। गोदानव्रतं च षोडशवर्षे, तदा च प्राप्तः शक्नोत्यरण्ये सन्ध्यामुपासितम्।।२१६।।

ते चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।।

निम्लोचेद्वा प्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम्।। २२०।।

अन्वय - तं चेत् कामचारतः शयानम् सूर्यः अभ्युदियात् अपि वा अविज्ञानात् निम्लोचेत् दिनं जपन् उपवसेत्।

हिन्दी अर्थ - यदि उसे इच्छानुसार सोते हुए सूर्य का उदय हो जाये अथवा अनजाने में या प्रमाद के कारण सूर्य अस्त हो जाये तो दिन भर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे=खाना न खाये।। २२०।।

मेधातिथिः। अत्रेदं प्रायश्चित्तं चरेत्।

ब्रह्मचारिणं शयानं निद्रावशं गतम् अभ्युदियात् स्वेनोदयेनाभिव्याप्तदोषं कुर्यात्। 'अभिरभाग' (पा० १।४।७९) इति कर्मप्रवचनीयत्वम्। ततो द्वितीया। शयानमिति। इत्थंभूतं सुप्तमिति लक्षणं वा स्वापकाले यद्युद्येत जपन्नुपवसेद्दिनम्। केचिदाहुः "प्रातरतिक्रमे दिनं जपोपवासौ, रात्रौ तु भोजनम्, पश्चिमातिक्रमे तु रात्रौ जपोपवासौ, प्रातर्भोजनमिति। दिनशब्दः प्रदर्शनार्थः" गौतमवचनं पाप्युदाहरन्ति। "तिष्ठदहरभु जानो भ्यस्तमितश्च रात्रि जपन्सावित्रीमिति।" (गौ०सू० २३।२९)। तदयुक्तम्। उभयत्रापि दिवैव प्रायश्चित्तं युक्तम्। दिनशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वं प्रमाणाभावात्। न ह्यस्य तत्सापेक्षस्य स्वार्थप्रतिपादनम्। निरपेक्षं चैतत्। तस्माद्विकल्पो युक्तः। तत्र यस्य सर्वा रात्रिं जाग्रतो न व्याधिः प्रवर्तते स रात्रौ जपिष्यति, अन्यस्तु दिवैव।

जपश्च गौतमवचनात्सावित्र्या एव। "नन्वत्र कथं गौतमः प्रमाणीक्रियते?" उच्यते। सापेक्षमिदं वाक्यं जपेदिति, जपनीयस्यानिर्देशात्। सत्यामर्षेक्षायां श्रुत्यन्तदाद् युक्ता विशेषावगतिः। इह तु कालस्य निर्देशः। नास्ति कालान्तरं प्रत्यपेक्षेति न गौतमो पेक्ष्यते। अथवा सन्ध्यातिक्रमे प्रायश्चित्ताभिधानात्सावित्रीजपः सिद्ध एव। युक्तं च-सावित्र्यास्तु परं नास्तीति। कामचारतः। ज्ञात्वैव सन्ध्याकाले यः स्वपिति। अविज्ञानात्। चिरसुप्तस्य सन्ध्याकालो यं वर्तत इत्यनवबोधो विज्ञानम्। एतदुक्तं भवति। इच्छया प्रमादकृते चातिक्रमे एतदेव प्रायश्चित्तम्। यः पुनरभ्युदितानस्तमित-सन्ध्यामतिक्रामति तस्य प्रायश्चित्तमभोजनं-नित्यानां कर्मणां समतिक्रम इति। अथवा यः कामचारेण शास्त्रातिक्रमणं करोति तस्य तदविज्ञानमेव।।२२०।।

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानो भ्युदितश्च यः।

प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा।। २२१।।

अन्वय - यः सूर्येण अभिनिर्मुक्तः शयानाश्च अभ्युदितः प्रायश्चित्तं अकुर्वाणो महतैनसा युक्तः स्यात्।

हिन्दी अर्थ - जो प्रमाद से सूर्य के अस्त हो जाने पर और सोते-सोते सूर्य उदय होने पर प्रायश्चित्त नहीं करता है वह बड़े अपराध का भागी बनता है।। २२१।।

विशेष - अभिप्राय यह है कि ऐसी अवस्था में उसे बड़ा दोषी माना जायेगा, क्योंकि संध्याकालों में ब्रह्मचारी के लिये परमावश्यक कर्म संध्योपास है और इस कर्म में प्रमाद करने से ब्रह्मचारी के पापों में फंसने का भय रहता है।। २२१।।

मेधातिथिः। पूर्वप्रायश्चित्तविधेरयमर्थवादः। निम्लोचनेनाभिदुष्टः अभिनिम्लुक्तः। एवमभ्युदितः। प्रायश्चित्तं पूर्वोक्तं न करोति। तदा महता पापेन सम्बध्यते, न स्वल्पेन। नरकादिदुःखोपभोगानिमित्तमदुष्टं 'पाप'मुच्यते।। २२२।।

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः।।

शुचौ देशे जप जप्यमुपासीत यथाविधिः।।२२२।।

अन्वय - नित्यं उभे सन्ध्ये शुचौ देशे आचम्य प्रयतः समाहितः यथाविधिः जप्यं जपन् उपासीत्।

हिन्दी अर्थ - ब्रह्मचारी प्रतिदिन प्रातः और सायं दोनों संध्याकालों में शुद्ध स्थान में आचमन करके प्रयत्नपूर्वक एकाग्र होकर यथाविधि परमेश्वर का जप करते हुए उपासना करे।। २२२।।

मेधातिथिः। एवं महान्दोषो भ्युदयनिम्लोचनयोः। तस्मात् आचम्य। प्रयतः तत्परः। समाहितः परिहृतचित्तकर्मविक्षेपः। शुचौ देशे जप जप्यं प्रणवव्याहृतिसावित्र्याख्यम्। उपासीत उभे सन्ध्ये। सन्ध्ययोरेवात्रोपास्यत्वम्। उपासनं च तत्र भावविशेषः। अथवोभे सन्ध्ये प्रत्युपासीत भगवन्तं सवितारम्। मन्त्रो हि तद्देवत्यो तस्तमेवोपासीत। संहतसकलविकल्पस्तद्गतैकमना भवेत्। प्रागुक्तस्य विधेः शेषो नुवादः। उपासनं केवलं विधेयम्। अन्ये तु "शुचौ देश इत्येतद्विध्यर्थो यं श्लोक" इत्याहुः। तेषां पौनरुक्त्यम्। सर्वस्यैव कर्तव्यस्य "शुचिना कर्म कर्तव्य"-मिति विहितम्। अशुचिदेशसम्बन्धे च का शुचिता ?।। २२२।।

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत्।

तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र चास्य रमेन्मनः।। २२३।।

अन्वय - यदि स्त्री यद्यवरजः किञ्चित् श्रेयः समाचरेत् तत् सर्वं आचरेत् यत्र वा अस्य मनः रमेत् (तत् समाचरेत्)।

हिन्दी अर्थ - यदि कोई स्त्री अथवा शूद्र भी कोई श्रेष्ठ कार्य करे उनसे शिक्षा लेकर उस पर आचरण करना चाहिए अथवा जिस शास्त्रोक्त कर्म में इसका मन रमे उस श्रेष्ठ कार्य को करता रहे।। २२३।।

मेधातिथिः। यदि स्त्री आचार्याणी। अवरजः कनीयान्। आचार्यादुपलभ्य श्रेयः धर्मादित्रिवर्गं समाचरेत्तत्सर्वमाचरेत्। सम्भवति हि तयोस्तदाचार्यसम्पर्कात्परिज्ञानम्। शूद्रो वा चार्यभ तक अवरजः स यद्युपदिशेत् 'एवं पायुलिङ्गौ म द्वारिणा प्रक्षाल्येते, निपुणौ हस्तौ प्रक्षालय, विस्म तेस्ते म द्वारिक्रमः, त्वदीय आचार्यो सकृन्मया पायुप्रक्षालने जलं ददता दष्टपूर्वः, पूर्वमदिभः शोचं करोति ततो म दिभः' इत्येवमादि समयचरेत्तत्समाचाराद्युपपन्न उपदिशेत्। तथा चाचार्याणी आचमनं शिक्षयेत्। तत्सर्वमाचरेद्युक्तः श्रद्धया। न स्त्रीशूद्राचरितमित्यवजानीत। समाचरेदिति च समाचारपूर्वक उपदेश एवात्राभिप्रेतः। वक्षयति च "धर्मः शौचं...समादेयानि सर्वतः" इति (२४०)। आचार्येणैव कदाचिदादिष्टं भवति-ब्राह्मणि आचमय पुत्रस्थानीयमेतं यथाविधिपूर्वकम्'-ब्रूयाच्च 'अस्य मूत्रपुरीषशुद्धयर्थं म द्वारिणी देये' इति। तत्र तदीयवचनमनुष्ठेयम्-एवं म दो ग हाण, एवमदिभः प्रक्षालयेति। अथवा गुरुग हे

लोहोपलजलशुद्ध्यादिः स्त्रीशूद्राभ्यां समाचर्यमाणः प्रमाणीकर्तव्यः। एतावदाचारस्य स्त्रीशूद्रसम्बन्धिनः प्रामाण्यार्थं यं श्लोको युज्यते। ननु सर्वस्याचारस्यावेदवित्सम्बन्धिनः प्रामाण्यं (कथं) घटते ?। अयुक्तमेतत्। न हि स्वल्पो प्याचारः अवेदविदां प्रमाणीभवति। अथास्ति मूलं वेदवित्सम्बन्धः स एव तर्हि प्रमाणम्, किं स्त्रीग्रहणेन ?। न चैवंविधे विषये स्त्रीशूद्राचारस्य प्रामाण्यमभिप्रेतम्। तथा हि सति प्रामाण्याभिधानप्रकरण एवावक्ष्यत्। तस्माच्छ्रयःपदार्थनिरूपणार्थं यमुपोद्घात इतिः। यद्वा चार्यवचसां प्रामाण्यानुवादो यम्-यत् स्त्रीशेद्रावपि ब्रूयातां तदप्यनुष्ठातुं युक्तम्, किं पुनराचार्योपदिष्टम्। यत्र चास्य रमेत्परितुष्येन्मनः। 'एतदप्यात्मनस्तुष्टि'रित्यत्र व्याख्यातम्। सर्वथा नास्य श्लोकस्यातीव प्रयोजनमस्ति।। २२३।।

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।।

अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।। २२४।।

अन्वय - इह धर्मार्थो श्रेयः उच्यते, कामार्थो च, धर्मः एव, अर्थश्चैव वा श्रेयः, त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।

हिन्दी अर्थ - इस संसार में कोई धर्म और अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं, कोई काम और अर्थ को, कोई धर्म को ही अथवा कोई अर्थ को ही श्रेय कहते हैं "धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का वर्ग ही इस संसार में श्रेयस्कर है यही वास्तविक सिद्धान्त है।। २२४।।

मेधातिथिः। यत्प्रशस्यं यदाचर्यमाणं दष्टादष्टे नोपहन्ति यच्छ्रेयो लोके उच्यते, किं पुनस्तदिति सहृद्भूत्वा न्वाचष्टे। नायं वेदमूलो र्थो नाचार्यादिशब्दवत्पदार्थकथनम्। किं तर्हि ? श्रेयो र्थो सर्वः पुरुषः प्रवर्तते। तत्रेदमुच्यते-इदं श्रेयः एतदर्थं यत्नः कर्तव्यः।

तत्र मतान्तराणि तावदुपन्यस्यति। केषां चिन्मतं धर्मार्थो श्रेयः। धर्मः शास्त्रविहितौ विधिप्रतिषेधौ। अर्थः गोभूमिहिरण्यादिः। एतदेव श्रेयः एतदधीनत्वात्पुरुषप्रीतेः। अपरं मतं कामार्थाविति। कामस्तावन्मुख्य एव पुरुषार्थः। प्रीतिर्हि श्रेयः। अर्थोऽपि तत्साधनत्वात्। एवं हि चार्वाका आहुः- 'काम एवैकः पुरुषार्थस्तस्य साधनमर्थः धर्मोऽपि यद्यस्ति'। धर्म एव सर्वेभ्यः श्रेयान्सर्वस्य तन्मूलत्वाच्च। उक्तं च "धर्मार्थश्च कामश्च" इति। अर्थ एवेति वणिजःप्रयोगजीविनः। सिद्धान्तस्तु त्रिवर्ग इति तु स्थितिः। अतो धर्माविरोधिनावर्थमामावपि सेवितव्यौ न तद्विरोधिनौ। तथा च गौतमः (अ० ६ सू० ४६)। "न पूर्वाहणमध्यंदिनापराहणानफलान्कुर्यात् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः" इति। त्र्यात्मको वर्गस्त्रिवर्गः। त्रिषु समुदितेष्वयं रूढः।। २२४।।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।।

नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः।। २२५।।

अन्वय - आर्तेन अपि आचार्यः पिता च माता चैव पूर्वज भ्राता च नाममन्तव्याः।

हिन्दी अर्थ - स्वयं दुःखी होते हुए किसी को भी आचार्य, पिता, माता तथा बड़े भाई का अपमान नहीं करना चाहिये। विशेषरूप से ब्राह्मण को तो कभी इनका अपमान नहीं करना चाहिए।। २२५।।

मेधातिथिः। अन्योऽपि न कश्चिदवमन्तव्यः, एते पुनर्विशेषतः। प्रायश्चित्ताधिक्यमन्त्रेत्यर्थः। आर्तेन तेः पीडितेनापि। अवमानमवज्ञा, प्राप्तायाः पूजाया अकरणं न्यक्कारश्चानादराख्यः। ब्राह्मणग्रहणं पूरणार्थम्।। २२५।।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।।

माता पथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।। २२६।।

अन्वय - आचार्यः ब्रह्मणः मूर्तिः, पिता प्रजापतेः मूर्तिः माता पथिव्या मूर्तिः स्वः भ्राता आत्मनः मूर्तिः।

हिन्दी अर्थ - आचार्य वेद-ज्ञान देने से ब्रह्मा की मूर्ति रूप है, पिता पालन करने से प्रजापति की मूर्ति है, माता पालन व सहनशीलता के कारण पृथिवी की मूर्ति है, अपना बड़ा भाई सहायक होने से अपनी आत्मा की ही मूर्ति है।।२२६।।

मेधातिथिः। पूर्वस्यायमर्थवादः। यत्परं ब्रह्म वेदान्तोपनिषत्प्रसिद्धं तस्य आचार्यो मूर्तिः शरीरम्। मूर्तिरिव मूर्तिः। प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य पिता। येयं पृथिवी सैव माता, भारसहत्वसामान्यात्। भ्राता च स्वः सोदर्यः आत्मनः क्षेजस्येति प्रशंसा। एते सर्वे देवतारूपाः महत्त्वयुक्ता अवमता धन्ति, प्रसादिता अभिप्रेतैः कामैर्योजयन्ति। एवं तत्समा आचार्यादय इति स्तुतिः।। २२६।।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे न णाम्।।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि।। २२७।।

अन्वय - मातापितरौ न णां सम्भवे यं क्लेशं सहेते तस्य निष्कृतिः वर्षशतैरपि न कर्तुं शक्या।

हिन्दी अर्थ - माता और पिता सन्तानों को उत्पन्न और पालनपोषण करने में जिस कष्ट को सहन करते हैं उसका बदला सौ वर्षों में भी नहीं चुकाया जा सकता।। २२७।।

मेधातिथिः। भूतार्थानुवादेनेयमपरप्रशंसा। क्लेशं दुःखं माता च पिता च न न णामपत्यानां सम्भवे गर्भात्प्रभ ति यावद्दशमाद्वर्षात्। मातुः क्लेशः गर्भधारणम्। प्रसवः प्राणहरः स्त्रीणाम्। जातस्य व संवर्धनयोगः क्लेशः। स सर्वस्य स्वयं संवेद्यः। पितुरप्युपनयनात्प्रभ ति आ वेदार्थव्याख्यानात्। सम्भवशब्देनात्र गर्भाधानमुच्यते। तद्धि न क्लेशावहम्, किं तर्हि ? तदुत्तकालभाविन्य एताः क्रियाः, ता हि क्लेशसाध्याः। न तस्य क्लेशस्य निष्कृतिरान प्यं प्रत्युपकारसमत्वं शक्यं कर्तुं वर्षशतैर्जन्मभिर्बहुभिः, किं पुनरेकेन जन्मना?। असंख्यधनदानेन महत्या वा पद उद्धरणेन मातापित्रोर्निष्कृतिरिति।। २२७।।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।।

तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।। २२८।।

अन्वय - तयोः आचार्यस्य च नित्यं सर्वदा प्रियं कुर्यात् तेषु तुष्टेषु एव सर्वं तपः समाप्यते।

हिन्दी अर्थ - उन दोनों अर्थात् माता-पिता का और आचार्य का प्रतिदिन हर समय प्रिय कार्य करता रहे इन तीनों के संतुष्ट होने में ही सब तप पूर्ण हो जाता है।। २२८।।

मेधातिथिः। तस्यात्तयामातापित्रोराचार्यस्य च सर्वदा यावज्जीवं यत्प्रियं तेषां तत्कुर्यात्, न सकृद् द्विस्त्रिर्वा कृत्वा कृती भवेत्। तेष्वेवाचार्यादिषु त्रिषु तुष्टेषु भक्त्याराधितेषु तपः सर्वं बहून्वर्षगणांश्चान्द्रायणादि तपस्तप्त्वा यत्फलं प्राप्यते तत्तत्परितोषादेव लभ्यत इति।। २२८।।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।।

न तैरनभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्।।२२९।।

अन्वय - तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तपः उच्यते तैरनभ्यनुज्ञातः अन्यं धर्मं न समाचरेत्।

हिन्दी अर्थ - आचार्य, माता और पिता इन तीनों की सेवा करना ही श्रेष्ठ तप कहा गया है इनकी अनुमति के बिना अन्य किसी धर्म का आचरण न करें।। २२९।।

मेधातिथिः। “कथं पुरस्तपःफलमतपसा मात्रादिशुश्रूषया ?” यस्मात् एतच्च सर्वोत्तमं तपो यत् तेषां पादसेवनम्। तैरननुज्ञातो माणवकः धर्ममन्यं तत्सेवाविरोधिनं तीर्थस्नानादिरूपं व्रतोपवासादि च शरीरशोषणया तेषां चित्तखेदकरम्। ज्योतिष्टोमानुष्ठाने प्यनुज्ञा ग्रहीतव्या। यतो वमानप्रतिषेधः कृतः। महारम्भेषु च कर्मसु बहुधनव्ययायाससाध्येषु मुह्यमाना अवमन्तव्या भवेयुः। नित्यकर्मा नुष्ठाने त्वनुज्ञा नोपकारिणी।। २२९।।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।।

त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयो ग्नयः।।२३०।।

अन्वय - त एव हि त्रयो लोकाः ते एव त्रयः आश्रमाः ते एव हि त्रयः वेदाः ते एव एव त्रयः अग्नयः उक्ताः।

हिन्दी अर्थ - वे ही तीनों-पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष लोक हैं, वे तीनों ही-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं संन्यास आश्रम हैं, वे ही तीन-ऋक्, यजुः, साम, वेद हैं, वे ही तीन अग्नियां मानी हैं।। २३०।।

मेधातिथिः। कार्यकारणयोरभेदादेवमुच्यतते। त्रयाणां लोकानां प्राप्तिहेतुत्वात् एव त्रयो लोका उच्यन्ते। त एव च त्रयः। प्रथमाद्ब्रह्मचर्यादन्ये त्रय आश्रमाः। गार्हस्थ्यदिभिस्त्रिभिराश्रमैर्यत्फलं प्राप्यते ततैस्त्रिभिस्तुष्टैः। त एव त्रयो वेदा वेदत्रयजपतुल्यफलत्वात्। त एव त्रयो ग्नयः। अग्निसाध्यकर्मानुष्ठानफलावाप्तेस्तच्छुश्रूषातः। एषा पि प्रशंसैव।।२३०।।

पिता वै गार्हपत्यो ग्निर्माता ग्निर्दक्षिणः स्म तः।।

गुरुराहवनीयस्तु सा ग्नित्रेता गरीयसी।। २३१।।

अन्वय - पिता वै गार्हपत्यः अग्निः माता दक्षिणः अग्निः स्म तः गुरुः तु आहवनीयः सा अग्नित्रेता गरीयसी।

हिन्दी अर्थ - पिता गार्हपत्य अग्नि के समान है, माता दक्षिण अग्नि के समान है और गुरु आहवनीय अग्नि के समान है। इन तीनों अग्नियों का समूह सर्वश्रेष्ठ है। अर्थात् जिस प्रकार यज्ञ की इन तीन अग्नियों का श्रेष्ठ फल है, वही फल इन तीनों की सेवा में है।। २३१।।

मेधातिथिः। केनचित्सामान्येनायं पित्रादीनां गार्हपत्यादिव्यपदेशः। सा ग्नित्रेता आधानाग्नित्रेता या गरीयसी महाफला। त्राणं त्राणार्थमिता प्राप्ता त्रेता इति शब्दव्युत्पत्तिः।।२३१।।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीन् लोकान् विजयेद्गृही।।

दीप्यमानः स्ववपुषा देववदिवि मोदते।। २३२।।

अन्वय - गृही एतेषु त्रिषु अप्रमाद्यन् स्ववपुषा दीप्यमानः दिवि देववत् मोदते।

हिन्दी अर्थ - गृहस्थी व्यक्ति इन तीनों की सेवा में प्रमाद न करता हुआ तीनों लोकों को जीतता है। अपने शरीर से देदीप्यमान होता हुआ द्युलोक में=स्वर्ग में देवता के समान प्रसन्नता को प्राप्त होता है।। २३२।।

मेधातिथिः। एतेष्वप्रमाद्यन्नाराधने स्वखलन्। तथा च तदाराधनात्त्रीन् लोका जयेत्स्वीकुर्यादापित्यमाप्नुयात्। गृही, गृहस्थावस्थस्य हि पुत्रस्य पित्रादीनां तत्कृतमाराधनमुपयुज्यते। तदा हि तौ बुद्धौ भवतः। दीप्यमानः शोभमानः प्रकाशकानो वा स्वेनैव तेजसा। देववदादित्यवदिवि लोके मोदते।। २३२।।

इमं लोकं मात भक्त्या पित भक्त्या तु मध्यमम्।।

गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।। २३३।।

अन्वय - इमं लोकं मात भक्त्या मध्यमं तु पित भक्त्या एवम् गुरुशुश्रूषया ब्रह्मलोकं समश्नुते।

हिन्दी अर्थ - मनुष्य इस पृथ्वी लोक को माता की सेवा करने से मध्यम आकाश लोक को पिता की सेवा करने से इसी प्रकार गुरु की सेवा करने से मोक्ष को प्राप्त करता है।। २३३।।

मेधातिथिः। अयं लोकः पृथिवी। भारसहत्वात्तुल्या माता पृथिव्याः। पित भक्त्या मध्यमो लोकोन्तरिक्षम्। प्रजापतिः पितोक्तः। मध्यमस्थानश्च प्रजापतिर्नैरुक्तनाम्। स हि वर्षकर्मणां प्रजानां पाता वा पालयिता वा। ब्रह्मलोकमादित्यलोकम्। आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः। लोकः स्थानविशेषस्तमश्नुते प्राप्नोति। अर्थवादा एते। तत्र नाभिनिवेष्टव्यम्। न च लोकाधिपत्यकामस्य तदाराधनाधिकारः। नायं काम्यो विधिः। पित त्वमेवात्र निमित्तम्, अकरणे शास्त्रातिक्रमः।।२३३।।

सर्वे तस्याद ता धर्मा यस्यैते त्रय आद ताः।।

अनाद तास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः।। २३४।।

अन्वय - यस्य एते त्रयः आद ताः तस्य सर्वे धर्माः आद ताः यस्य तु एते अनाद ताः तस्य सर्वाः क्रियाः अफला।

हिन्दी अर्थ - जिसने इन तीनों-आचार्यों, माता, पिता का आदर रखा है, मानो उसने सभी धर्मों का आदर किया है, अर्थात् सभी धर्मों का पालन किया है जिसने इनका आदर नहीं रखा है उसकी सब श्रेष्ठ क्रियाएं निष्फल रहती हैं।।२३४।।

मेधातिथिः। आद ताः सत्कृताः। आद तवचनेन प्रत्युपकारपरत्वं लक्ष्यते। यो ह्यद तो भवति स परितुष्टः प्रत्युपकाराय यतते। अथवा आद ताः परितुष्ट उच्यते। धर्मस्य चानन्त्यात्परितोषानुपपत्तेः फलदानोत्सुकत्वं लक्ष्यते। सर्वाणि तस्य कर्माण्यांशु फलदायीनि भवन्ति। यस्यैते त्रय आद ताः शुश्रूषया परितुष्टाः। एतैस्त्वनाराधितैर्यत्फलकामेन किञ्चित् क्रियते शुभं कर्म तत्सर्वं निष्फलम्। सर्वाः क्रियाः सर्वाणि श्रौतस्मार्तानि कर्माणि। अर्थावा दो यम्, -पुरुषार्थो "द्वाराधनविधिः। तदतिक्रमे। पुरुषः प्रत्यवन्महता पापेन कर्मोपार्जिते पीष्टफलभोगे प्रतिबध्यते। अत उच्यते सर्वास्तस्याफलाः क्रिया इति।। २३४।।

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।।

तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः।।२३५।।

अन्वय - ते त्रयः यावत् जीवेयुः तावत् अन्यं न समाचरेत् प्रियहिते रतः तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्।
हिन्दी अर्थ - वे तीनों जब तक जीयें तब तक इनकी सेवा-शुश्रूषा को छोड़कर किसी अन्य धर्म का प्रमुखता से पालन न करे, उनके प्रिय आचरण में लगा रहकर उनकी ही सेवा करता है।। २३५।।

मेधातिथिः। उक्तार्थो यं श्लोकः। नान्यं समाचरेद्दष्टमदष्टं वा तदनुज्ञानमन्तरेणेत्युक्तम्। तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्। प्रियहिते रतः। प्रियं च हितं च, तत्। यत्प्रीतिकरं तत् प्रियम् यत्पालनं तद् हितम्।। २३५।।

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत्।।

तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः।। २३६।।

अन्वय - तेषां अनुपरोधेन मनो वचन कर्मभि यद् यद् पारत्र्यं आचरेत् तत् तत् तेभ्यः निवेदयेत्।
हिन्दी अर्थ - उन माता, पिता, आचार्य के अविरुद्ध उनकी अनुमति से मन, वचन और कर्म के द्वारा जो-जो परलोक को शुभ करने वाला कार्य करे उस सबको उनसे प्रकट कर दे।। २३६।।

मेधातिथिः। परत्र जन्मान्तरे यस्य फलं भुज्यते तत्पारत्र्यम्। छान्सं रूपमेतत्। शुश्रूषाया अविरोधेनान्यं यं यं धर्मं समाचरेत् तं निवेदयेत्तेभ्यस्तान् ज्ञापयेत्। अनुपरोधग्रहणमेवमर्थं कृतम्। यत्तेषां विरोधि तत्र नैवानुज्ञां दापयितव्याः। कश्चिद् जुप्रकृतिरभ्यर्थ्यमान आत्मपराधर्ममवगण यानुजानाति, तन्निव त्यर्थमेतत्। मनोवचनकर्मभिः। न निवेदनमदष्टार्थमपि तु याद शमनुज्ञानं ताद शमेव कर्मणा दर्शयेत् अथवैवं सम्बन्धः कर्तव्यः-मनोवचनकर्मभिः पारत्र्यं यद्यदाचरेत्तन्निवेदयेत्तेभ्य इति।। २३६।।

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।।

एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मो न्य उच्यते।। २३७।।

अन्वय - एतेषु त्रिषु हि पुरुषस्य इतिकृत्यं समाप्यते एत साक्षात् परः धर्मः अन्य अपधर्मः उच्यते।
हिन्दी अर्थ - इन तीनों की सेवा करने से ही पुरुष के सब कर्तव्य पूर्ण हो जाते हैं, यही पुरुष का साक्षात् सर्वश्रेष्ठ धर्म है अन्य सभी धार्मिक कार्य इसकी अपेक्षा गौण धर्म हैं।। २३७।।

मेधातिथिः। इतिशब्दः समाप्तिवचनः कात्स्न्यं गमयति। यत्किं चन पुरुषस्य कर्तव्यं यावान्कश्चन पुरुषार्थः स एतेष्वाराधितेषु समाप्यते परिपूर्णमनुतिष्ठतो भवति। एष धर्मः परः श्रेष्ठः साक्षात्त्वेन।

अन्ययश्चाग्निहोत्रादिरूपधर्मः, प्रतिहारस्थानीय न साक्षाद्रजवत् इति प्रशंसा। अवतानप्रतिषेधः प्रियहतिमरणं, तद्विरोधिनः कर्तव्यस्यानुष्ठानम् अविरोधिनो प्यनुष्ठानस्य च। परिशिष्टः श्लोकसंघातो र्थवादः॥ २३७॥

श्रद्धानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि॥

अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ २३८॥

अन्वय - शुभां विद्यां श्रद्धानः अवरात् अपि आददी अन्त्यात् अपि परं धर्मम् दुष्कुलादपि स्त्रीरत्नम्।

हिन्दी अर्थ - उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे, नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निंद्यकुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री का ग्रहण करे, यह नीति है॥ २३८॥

मेधातिथिः। श्रद्धान अस्तिक्योपग हीतान्तरात्मा भियुक्तो यः शिष्यः स शुभां विद्यां न्यायशास्त्रादितर्कविद्याम्। अथवा या शोभते केवलं सा विशदकाव्यभरतादिविद्याविभूषिता-मन्त्रविद्या वा न धर्मोपयोगिनी-तामवरादपि हीनजातीयादप्याददीत शिक्षेत। न त्यत्र शुभा वेदविद्या वेदितव्या, आपदि विधिर्भविष्यति (२४९), अनापदि तु नैवेष्यते। या त्वशुभा शाम्भवी मायाकुहकादि वा तां न क्वचित्। अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि यः परो धर्मः श्रुतिस्म त्यपेक्षया परो न्यः लौकिकः। धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि प्रयुज्यते। 'एषो त्र धर्म' इति यदि चाण्डालो पि ब्रूते-'अत्र प्रदेशे मा चिरं स्थाः', 'मा वा स्मिन्नम्भसि स्नासीः' 'एषो त्र ग्रामीणानां धर्मः, राज्ञा कृता वा मर्यादे'ति-न चैवं मन्तव्यम्-'उपाध्याय-वचनं मया कर्तव्यं धिक् चाण्डालं जाल्मं यो मां नियुङ्क्त' इति। न पुरनियं कर्तव्या-परो धर्मो ब्रह्मतत्त्वज्ञानम्। न हि चाण्डालादेस्तत्परिज्ञानसम्भवः, वेदार्थवित्त्वाभावात्। न चान्यतस्तत्सम्भवः। न हि व शिचकमन्त्राक्षरवद्ब्रह्मोपदेशो स्ति।

स्त्रीरत्नमिव। स्त्री चासौ रत्नं च तदिति वा। "उपमितं व्याघ्रादिभिः" (पा० सू० २।१।५६), "विशेषणं विशेष्येणेति" (पा०सू० २।१।५७) वा। यदा यत्किंचिदुत्कृष्टं वस्तु तद्रत्नमुच्यते तदा विशेषणमिति। अथ तु मरकतपद्मरागादीन्येव रत्नशब्दवाच्यानि उत्कर्षसामान्यादन्यत्र प्रयोगः, तदीपमितमिति। या स्त्री कान्तिसंस्थानलावण्यातिशयवती अथ धान्यबहुधानसुतादिशुभलक्षणा सा दुष्कुलाद्धीनक्रियादेरप्यानेया। 'अब्राह्मणा'दित्यस्य (२४९) विधेरयमपुपोद्घातः। अलाभेन तु प्रदर्शितः॥ २३८॥

विषादप्यम तं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्॥

अमित्रादपि सद्द तममेध्यादपि का चनम्॥ २३९॥

अन्वय - विषादपि अम तं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् अमित्रादपि सद्द तम् अमेध्यादपि का चनम्।

हिन्दी अर्थ - विष से भी अम त का ग्रहण कर लेना चाहिए, और बालक से भी उत्तम वचन को ग्रहण कर लेना चाहिए और वैरी से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए, तथा अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण या मूल्यवान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए॥ २३९॥

मेधातिथिः। पूर्वं इमौ चापद्यब्राह्मणादप्यध्येतव्यमित्यस्य विधेः शेषः। अनेन लोकप्रवादो द प्तान्तीक्रियते। एवं हि लौकिका आहुः 'असतस्सदुपादेयम्।' विषे पि यदम तं तदद्याहमेव यथा हंस उदकात्क्षीरं ग ह्णाति। रसायनेषु केषुचिद्विषं इत्येदभिप्रेत्योक्तम्। बालो पि यत्किंचिदकस्मात्सुभाषितं माङ्गलिकं प्रस्थानादौ वक्ति तद्ग्राह्यम्। अमित्रादेरपि सत्तां यद्व तम् शिष्टाचारः। न द्वेष्यः-तेनेतदाचरितमिति त्याज्यम्। प्रसिद्धतरो यं द प्तान्तः-अमेध्यादपि का चनं सुवर्णम्। असदाश्रयादप्येते, तथा ग ह्यन्ते तद्वदब्राह्मणादध्ययनमिति॥२३९॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्॥

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥२४०॥

अन्वय - स्त्रियः रत्नानि विद्या धर्मः शौचम् सुभाषितम् विविधानि शिल्पानि सर्वतः समादेयानि ।

हिन्दी अर्थ - उत्तम स्त्री नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठभाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे ॥२४०॥

मेधातिथिः । रत्नानि मणयः शम्बरपुलिन्दादिभ्यो प्युपात्ताः शुद्धास्तद्वद्विद्याद्यपीति । शिल्पानि च विचित्रपत्रच्छेद्यादीन्यदुष्टान्यगर्हितानि चैलनिर्णजनपटर जनबन्धनादीनि । सर्वतो जातिविशेषमनपेक्ष्य समादेयानि स्वीकर्तव्यानि निश्चिततिथैर्यभावेः । विषादप्यम तमित्येवमादिभिरनेकवाक्यत्वात् समानप्रकमत्वेन सर्व एते र्थवादाः ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ॥

अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

अन्वय - आपत्काले अब्राह्मणात् अध्ययनम् विधीयते यावत् अध्ययनम् गुरोः अनुव्रज्या शुश्रूषा च ।

हिन्दी अर्थ - आपत्ति काल में अब्राह्मण अर्थात् क्षत्रिय आदि से भी विद्या ग्रहण करना विहित है, शिष्य जब तक पढ़े तब तक गुरु की आज्ञा का पालन और सेवा करे ॥ २४१ ॥

मेधातिथिः । अयं त्वत्र विधिः आपद् ब्राह्मणाध्यापकाभावः । आपद् काल आपत्कालः । आपदित्येव सिद्धे कालग्रहणं व तत्पूरणार्थम् । पाठान्तरं 'आपत्कल्प' इति । कल्पनं 'कल्पः' आपदेषां कल्पना विधीयते उपदिश्यते । यदा चार्यः प्रारब्धाध्यापनः प्रायश्चित्तेनान्येन वा निमित्तेन शिष्यं हित्वा देशान्तरं व्रजेत्, न च ब्राह्मणो न्यो ध्यापकस्तस्मिन्देशे लभ्यते, बालत्वाद्दूरदेशगमनमशक्यम्, तदा ब्राह्मणात् क्षत्रियात्तदभावे वैश्यादध्ययनम् । प्रकृतत्वात्- 'वेदः कृत्स्न' इति-वेदग्रहणं विधीयते । यद्यप्यत्राब्राह्मणशब्दो ब्राह्मणजातेरन्यत्र जातित्रये वर्तमानं पुरुषत्वमाचष्टे, तथापि नेह शूद्रस्य ग्रहणम्, तस्याध्ययनाधिकाराभावात् । सत्यध्ययने ध्यापकत्वम् । अथ "शास्त्रातिक्रमेण शूद्रस्याप्यध्यापितवेदत्वस्य सम्भवः, क्षत्रियवैश्ययोरध्यापकत्वस्येव" तदपि न । यतो धारणे शरीरभेदस्तस्याम्नातः । ततो दण्डमहत्वात् महदेतदकार्यमनुमीयते । निन्दितकर्माभ्यासे पतनं तत्संसर्गाच्च ब्रह्मचारिणो त्यन्तदुष्टता स्यात् । "क्षत्रियवैश्ययोरध्यापकत्वनिषेधात् तुल्यदोष" इति चेतदस्त्यत्र विशेषः । यत्र दण्डप्रायश्चित्ते गुरुणी तत्र महादोषता, स्वल्पयोस्तु स्वल्पदोषता । न च क्षत्रियवैश्ययोरध्यापने महती दण्डप्रायश्चित्ते, शूद्रस्येव । किं च द्वे निन्दिते कर्मण्यध्ययनमध्यापनं च, क्षत्रियवैश्ययोस्त्वेकमेव । निषिद्धाध्यापनसंसर्गस्त्वेनेवानुज्ञातः, नासौ दोषकरः । निषिद्धाध्ययनेन तु शूद्रेण संसर्गं न किं चित्प्रमाणमस्ति । अनुव्रज्या च शुश्रूषा । वन्दनपादप्रक्षालनादिशुश्रूषाप्रतिषेधार्थमनुव्रज्यैव शुश्रूषा, नान्येति । यावदध्ययनम् यावद्ग्रहणम् ॥ २४१ ॥

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ॥

ब्राह्मणे वा ननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

अन्वय - अनुत्तमां गतिं कांक्षन् शिष्यः अब्राह्मणे गुरौ अननूचाने ब्राह्मणे च आत्यन्तिकं वासं न वसेत् ।

हिन्दी अर्थ - उत्तमगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह अब्राह्मण गुरु के यहाँ और वेदों में अपारंगत=सांड्गोपाङ्ग वेदों के अध्यापन में असमर्थ ब्राह्मण गुरु के समीप भी आजीवन निवास न करे, क्योंकि इनके पास शिष्य की प्रगति रुक जाती है । सांगोपांग वेदों के ज्ञाता विद्वान् के पास रहकर ही उन्नति की उत्तम गति तक पहुंच सकता है ॥ २४२ ॥

मेधातिथिः । अब्राह्मणे गुरौ वासो ध्ययनाय पूर्वोक्तो नैष्टिकस्यापि प्राप्तो विशेषेण निषिध्यते । आत्यन्तिकं वासं यावज्जीविकम् । न वसेन्न कुर्यात् । वासं वसेदिति । सामान्यविशेषभावाद्वासं वसेदिति सम्बन्धः कल्प्यः । गुरुविषयो वासस्तं वसेत् । समाप्ताध्ययनो न्यत्र गच्छेत् । "ननु चाध्ययनमात्रमनुज्ञातमात्यन्तिकस्य वासस्य कुतः प्राप्तिः ?" नैष दोषः । गुरौ तस्य वास उक्तः । अध्यापयिता च 'गुरु'रुक्तः । अतो भवत्याशङ्का । ब्राह्मणे वा ननूचाने । वाशब्दोऽप्यर्थः । ब्राह्मणोऽपि

यदि अनुचानः व ताभिजनसम्पन्नो न भवति, न च व्याख्यानाध्ययनशीलः। अनुवचनेनैते पि गुणा लक्ष्यन्ते यतो ननुवक्त्यथाभावादेवावासः सिद्धः। गतिरत्र सुखातिशयप्राप्तिर्विवक्षिता। अनुत्तमा, यस्या अन्योत्तमा नास्ति, ता काङ्क्षन्परमात्मानन्दरूपं मोक्षम्॥२४२॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले॥

युक्तः परिचरेदेनमा शरीरविमोक्षणात्॥ २४३॥

अन्वय - यदि तु गुरोः कुले आत्यन्तिकं वासं रोचयेत अशरीरविमोक्षणात् एनम् युक्तः परिचरेत्।

हिन्दी अर्थ - यदि ब्रह्मचारी शिष्य गुरुकुल में जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो शरीर छूटने पर्यन्त अपने गुरु की प्रयत्नपूर्वक सेवा करे॥ २४३॥

मेधातिथिः। अत्यन्तं भवमात्यन्तिकं वासं गुरोः कुले नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं यदि रोचयेत्तदा युक्तस्तत्परः। परिचरेदेनं गुरुम्-आ शरीरस्य विमोक्षणात्पाताद्-यावच्छरीरं धियत इत्यर्थः॥२४३॥

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शूश्रूषते गुरुम्॥

स गच्छत्य जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥ २४४॥

अन्वय - यः तु शरीरस्य आ समाप्तेः गुरु शूश्रूषते सः विप्रः ब्रह्मणः शाश्वतं सद्म अ जसा गच्छति।

हिन्दी अर्थ - जो शरीर के त्याग होने तक अर्थात् मृत्युपर्यन्त गुरु की सेवा करता है, वह विद्वान् व्यक्ति परमात्मा के नित्यपद मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करता है॥ २४४॥

मेधातिथिः। नैष्ठिकब्रह्मचर्यस्य फलविधिरयम्। शरीरस्य समाप्तिर्जीवितत्यागः। आ ततः कालाद्यो गुरुं शूश्रूषते परिचरति। स गच्छति विप्रः। ब्राह्मणः सद्य सदनं स्थानं शाश्वतं, न पुनः संसारं प्रपिद्यत इति यावत्। अ जसा क्लिष्टेन मार्गेण। न गत्यन्तरेण तिर्यकप्रेतमनुष्यादिजन्मना व्यवधीयते। ब्रह्मशब्देन चेतिहासदर्शने देवविशेषश्चतुर्वक्त्रः, तस्य सद्य स्थानविशेषः, दिवि विद्यते। वेदांतवादिनां तु ब्रह्म परमात्मा, तस्य सद्य स्वरूपमेव, तद्भावापत्तिः॥ २४४॥

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित्॥

स्नास्यंस्तु गुरुणा ज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्॥ २४५॥

अन्वय - धर्मवित् स्नास्यन् तु गुरुणा आज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थम् आहरेत् पूर्वं गुरवे किंचित् न उपकुर्वीत।

हिन्दी अर्थ - विधि का ज्ञाता शिष्य स्नातक बनने अर्थात् समावर्तन कराने की इच्छा होने पर गुरु से आज्ञा प्राप्त करके शक्ति के अनुसार गुरु के लिए दक्षिणा प्रदान करे। किन्तु समावर्तन से पहले गुरु को दक्षिणा या भेंट रूप में कुछ नहीं देना चाहिए॥ २४५॥

मेधातिथिः। नैष्ठिकस्यायं गुरवे र्थदानं प्रतिषिध्यते। स्नास्यतो गुर्वर्थविधानात्। न च नैष्ठिकस्य स्नानमस्ति। प्रकृतश्च नैष्ठिक एव। उपकुर्वणिस्य तु उपनयनात्प्रभ ति यावत्स्नानमस्त्येव सति सम्भवे यथाशक्त्या दानम्। पूर्वं स्नानाद् गुरवे किंचिदुपकुर्वीत दद्याद्, ददात्यर्थं धातुः सोपसर्गो तश्च स्वसाध्या चतुर्थी। अथवा क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति, ततः सम्प्रदानत्वम्। धर्मवित्पदमनुवादः। स्नास्यंस्तु स्नानकाले प्राप्ते गुरुणा आदिष्टम् 'अमुमर्थमाहरेति।' ततः शक्त्या यावन्तं शक्नोति तावन्तम्। गुर्वर्थम्। गुरोरिदं गुर्वर्थम्। गुरोर्येन प्रयोजनं तमाहरेदुपनयेत्।

“नन्वयं नैष्ठिकस्य गुर्वर्थकरणप्रतिषेधः।”

न ह्येते द्वे वाक्ये, एकेन प्रतिषेधः, अपरेण गुर्वर्थविधिः। स्नाने गुर्वर्थो वश्यं कर्तव्य इत्ययं विधिः। प्रतिषेधस्तच्छेषः। उपकारप्रतिषेधे च सर्वशुश्रूषाविधिरनर्थकः स्यात्। न च दानमेवोपकारः, येन धनोपकार एव निषिध्येत, नान्यः प्रियहितादिः। अर्थवादत्वे त्वयथार्थता न दोषः। गम्यते चात्रैकवाक्यता॥ २४५॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानमासनम्ः॥

धान्यं वासांसि शाकं वा गुरवे प्रीतिमावहेत्॥ २४६॥

अन्वय - क्षेत्रम् हिरण्यम् गाम अश्वम् छत्रोपानहमासनम् धान्यं वासांसि शाकम् वा गुरवे प्रीतिमावहेत्।

हिन्दी अर्थ - भूमि, सोना, गाय, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, अन्न, वस्त्र अथवा शाक गुरु के लिए प्रीतिपूर्वक दक्षिणा में दे॥ २४६॥

मेधातिथिः। उक्तमुद्दिष्टं 'गुर्वर्थ' कुर्यात्तत्र न सर्वं कर्तव्यमित्येवमर्थो यं श्लोकः। यदि गुरुविरुद्धमादिशेत्- 'अमुष्य स्त्रियमाहरेति', 'सर्वस्वं वा देहीति'-तत्र कर्तव्यम्। किं तर्हि ? क्षेत्रं-धान्यानां भवनभूमिः क्षेत्रमुच्यते। हिरण्यं सुवर्णम्। वाशब्दो विकल्पार्थः। न समुदितानि देयानि। अन्ततः अन्याभावे छत्रोपानहमपि। द्वन्द्वनिर्देशात्साहित्यदानम्। वासांसीति सर्वत्र संख्या न विवक्षिता। प्रीतिमाहरन्निति। एतदाहरेदिति पूर्वसम्बन्धः। 'प्रीतिमाहरेदिति' वा पाठे अत्रैव क्रियापरिसमाप्तिः। 'प्रीतिमावहेदिति' वा। प्रीतिमुत्पादयितुं धान्याद्याहरेत्। स्वतन्त्रैव वा प्रीतिराहार्यतयोच्यते। ततश्च द्रव्योपदेशस्य प्रदशैनार्थता सिद्धा भवति। अन्यदपि यदेवंविधं प्रीतिजनकम्, मणिमुक्ताप्रवालहस्त्यश्वतरिरीथादि, तदपि देयमिति गम्यते। तथा च गौतमः (अ० ३ सू० ४८) "विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्यः।" आहरेद्यदि स्यादात्मीयं शक्त्यागतं तदा च चेद् याच्चदिना र्जयेत्॥ २४६॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते॥

गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्दत्तिमाचरेत्॥२४७॥

अन्वय - आचार्यः तु खलु प्रेते गुणान्विते गुरुपुत्रे गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवत् व त्तिमाचरेत्।

हिन्दी अर्थ - आचार्य की यदि मृत्यु हो जाये तो गुरुपुत्र में अथवा गुरुपत्नी में अथवा गुरु के वंश वाले योग्य व्यक्ति में गुरु के समान व्यवहार करे॥ २४७॥

मेधातिथिः। नैष्ठिकस्यायमुपदेशः। असत्याचार्ये, तत्पुत्रे श्रोत्रियत्वादिगुणयुक्ते, गुरुपत्न्यामाचार्याण्यां वा-सपिण्डे वा, गुरोरेव वसेत् तत्र च गुरुवद्दत्तिमाचरेद् भैक्षनिवेदनादि सर्वं कुर्यात्। दारशब्दो बहुवचनान्तो भार्यावचनो वैयाकरणैः स्मर्यते। स्म तिकारास्त्वेकवचनान्तमपि प्रयुजते। "धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीते" ति इति॥ २४७॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान्॥

प्रयुजानो ग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः॥ २४८॥

अन्वय - एतेषु अविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् अग्निशुश्रूषां प्रयुजानः आत्मनः देहं साधयेत्।

हिन्दी अर्थ - इन गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और सपिण्ड व्यक्ति के विद्यमान न होने पर शिष्य स्नान, आसन तथा अन्य नित्यकर्म करता हुआ अग्निहोत्र करते हुए अपने शरीर को साधे-तपस्या से संयमित करे॥

मेधातिथिः। अविद्यमानता सर्वेषामभावः, यदि वा गुणहीनता। एतेष्वसत्स्वग्निशुश्रूषां प्रयुजित अग्निशरणोपलेपनं अग्नीन्धनं आचार्यवत्सन्निधाननियमाद् भ त्ववदहोरात्रासनम् एषा ग्नेः शुश्रूषा तां कुर्वन्देहं साधयेत् शरीरं क्षपयेत्। यथा ऋचक्षुष्मानुच्यत एवं साधयेदिति। स्थानासन एव विहारः तद्वान्-न कदाचिदासीत् एवं विहरेत्। अन्ये तु मन्त्रन्ते-स्थानासन स्वस्तिकादिना यत् आसनं ध्यानकाले तत् स्थानासनं, विहारो न्यो भिक्षाचरणादिः॥ २४८॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः॥

स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेह जायते पुनः॥ २४९॥

अन्वय - यः विप्रः एवम् अविप्लुतः ब्रह्मचर्यं चरति सः उत्तमं स्थानं गच्छति इह च पुनः न जायते।

हिन्दी अर्थ - जो द्विज विद्वान् उपर्युक्त प्रकार से अखण्डित रूप से ब्रह्मचर्याश्रम का सेवन करता है, वह उत्तम स्थान अर्थात्, ब्रह्म के पद को प्राप्त करता है और इस संसार में पुनर्जन्म नहीं लेता अर्थात् प्रवाह में चलने वाले जन्म-मरण से छूट जाता है।। २४६।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयो ध्यायः।।२।।

मेधातिथिः। एवमिति। नैष्ठिकवृत्तिं प्रत्यवम शति। एवं यो ब्रह्मचर्यं चरत्यविप्लुतः। अस्खलः स प्राप्नोत्युत्तमस्थानं धाम परमात्मप्राप्तिलक्षणम्। न चेह पुनर्जायते न संसारमापद्यते। ब्रह्मरूपं सम्पद्यत इति। २४६।।

इति श्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये द्वितीयो ध्यायः।।२।।

----- ० -----

इकाई-II

याज्ञवल्क्यस्मृति

इस स्मृति का सम्बन्ध ऋषि याज्ञवल्क्य से है। वैदिक ऋषियों की परम्परा में याज्ञवल्क्य का स्थान महत्वपूर्ण है जिसके अनुसार याज्ञवल्क्य मुख्यतः शुक्ल यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण के द्रष्टा हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञवल्क्य के विषय में अनेक आख्यान हैं और इनमें याज्ञवल्क्य के विचारों को मान्यता दी गई है। एक स्थान पर वे जनक को अग्निहोत्र यज्ञ समझाते हैं और स्वयं जनक से गूढ याज्ञिक क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक अन्य स्थान पर याज्ञवल्क्य और शाकल्य के शास्त्रार्थ का वर्णन है जिसमें देवताओं की संख्या के विषय में विचार किया गया है और अन्त में याज्ञवल्क्य के ऐकेश्वरवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

स्मृति साहित्य में मनुस्मृति के बाद यह दूसरी महत्वपूर्ण स्मृति है। कुछ दृष्टि से तो याज्ञवल्क्य स्मृति का मनुस्मृति की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक महत्त्व है। याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति के बाद की रचना है। यह बात विषयवस्तु के कारण स्पष्ट है क्योंकि इसमें विषयवस्तु का विधिवत् विभाजन किया गया है। इन दोनों स्मृतियों की तुलनात्मक विशेषताओं के विषय में वेबर ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं :-

“जो विषय दोनों में पाये जाते हैं, उनमें भी हम याज्ञवल्क्य में अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टता पाते हैं और विशिष्ट उदाहरणों में दोनों में ठोस अन्तर दिखाई पड़ता है। याज्ञवल्क्य का दृष्टिकोण स्पष्टतः बाद के समय का है।”

याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति की अपेक्षा छोटी है। मनुस्मृति में 2900 श्लोक हैं जबकि याज्ञवल्क्य में लगभग 9000 श्लोक हैं। शैली की दृष्टि से याज्ञवल्क्य स्मृति संक्षिप्त और प्रवाहमय है। प्रो० पी०वी० काणे ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि याज्ञवल्क्य स्मृति के रचियता के सामने रचना करते समय मनुस्मृति रही होगी क्योंकि अनेक स्थलों पर दोनों स्मृतियों में समान शब्द पाये जाते हैं। किन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश दिया गया है कि याज्ञवल्क्य एक मौलिक विचारक और धर्मशास्त्रकार है। वे पहले के आचार्यों का पिष्टपेषण मात्र नहीं करते अपितु देश काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित मान्यताओं को स्थापित करते हैं और अपने पूर्ववर्ती मनु से कई स्थलों पर सहमत नहीं होते। भाषा की दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य स्मृति पाणिनि के नियमों का पालन करती है।

याज्ञवल्क्य स्मृति का रचनाकाल

इस स्मृति के समय के विषय में वेबर का कथन है कि इस रचना के लिए प्राचीनतम सीमा दूसरी शताब्दी ईसवी के आसपास मानी जा सकती है। क्योंकि इसमें मुद्रा के अर्थ में नाणक शब्द का प्रयोग हुआ है। सिक्कों के लिए नाणक शब्द का प्रयोग 80वीं ई० सन् में होने का प्रमाण है। दूसरी ओर इस समय की निचली सीमा छठी या सातवीं शताब्दी रखी जा सकती है क्योंकि विल्सन के अनुसार इस स्मृति के अंशों को भारत के अनेक भागों में शिलालेखों में उद्धृत किया गया है। एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् याकोबी ने याज्ञवल्क्य स्मृति का समय 92 ग हों की संस्था के आधार पर चतुर्थ शताब्दी ईसवी के बाद माना है। प्रो० पी०वी० काणे

संस्थाओं का गठन किया जाता है।

याज्ञवल्क्य स्मृति में विवादों को व्यवहार नाम से सम्बोधित किया गया है। व्यवहार शब्द का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है :- वि + अव + हार। वि का अर्थ है विविध, अव का अर्थ है सन्देह और हार का अर्थ है हरण। इसका पूर्ण अर्थ हुआ कि जिस कार्य में अनेक प्रकार के सन्देहों को राजनिर्णय के द्वारा हरण किया जाए या दूर किया जाये यह व्यवहार है।

मनु के मतानुसार भक्त्यों के सहित जिस राजा के देखते हुए विलखती हुई प्रजा चारों ओर से लूटी जाती है वह राजा जीवित नहीं अपितु मृतक है। अतः मनुष्यों के मध्य अधिकार हरण सम्बन्धी प्रवृत्ति को रोकने के लिए न्याय व्यवस्था की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है।

मात्स्य-न्यायाभिभूताः प्रजाः मनुं वैवस्वतं राजनं चक्रिरे।

अर्थशास्त्र की इस उक्ति के अनुसार मात्स्य न्याय से छुटकारा पाने के लिए प्रजा ने सर्वप्रथम मनु को राजा चुना था। स्मृति एवं नीति ग्रन्थों की रचना जिन्हें तत्कालीन संविधान कहा जा सकता है के पीछे भी न्यायिक व्यवस्था व परम्परा का दृष्टिकोण व्याप्त था। प्रजा ने न्याय अभिलाषा के फलस्वरूप ही राजा के सार्वभौमिक पद को स्वीकार किया था। ऋग्वेद से लेकर जातक युग तक की न्याय व्यवस्था राजा में केन्द्रित थी। राजा को न्याय कार्य में सहयोग प्रदान करने के लिए न्यायधीश, छोटी व बड़ी अदालतें, सभा व परिषद् होती थीं। जहां पर मनुष्य धर्म और नैतिकता के आधार पर न्याय पा सकता था। वैदिक काल से सूत्र युग तक की न्याय व्यवस्था के प्रति राजा ही पूर्ण उत्तरदायी होता था। राज्य में शान्ति के सन्तुलन को बनाये रखने के निमित्तक अपराधियों को दण्डित करना न्यायधिकारी का प्रमुख कर्तव्य माना जाता था। अपराधी व उद्दण्डी को दण्डित करने पर राजा सुखों को भोगता हुआ स्वर्ग प्राप्त करता था। इतना सब कुछ होते हुए भी स्मृति युग के पहले तक न्यायालयों के क्रमिक गठन का अभाव था।

याज्ञवल्क्य स्मृति में न्याय व्यवस्था के विषय में विस्तृत विवरण मिलता है। इस स्मृति में राजदण्ड का सिद्धान्त प्रतिपादित है। यद्यपि याज्ञवल्क्य स्मृति में आधुनिक युग की तरह व्यवस्था प्राप्त नहीं होती है तथापि इसमें प्राप्त होने वाली व्यवस्था अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। यहां विभिन्न विवादों को व्यवहार नाम से सम्बोधित किया गया है। व्यवहार के विषय के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य स्मृति का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र और आचार शास्त्र के विरुद्ध आचरण करे और उससे दूसरे मनुष्यों को पीड़ा पहुंचे तब यही पीड़ित व्यक्ति उस विषय के सन्दर्भ में राजा से निवेदन करे तो व्यवहार का विषय होता है।

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणा धर्षितः परैः।

आवेदयति चेद् राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में राजा द्वारा व्यवहार अर्थात् विवादों के धर्माशास्त्रानुसार नियमित निपटारे का निर्देश किया गया है। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि लोगों के झगड़े को निपटाने की इच्छा से राजा को मन्त्रियों एवं ब्राह्मणों के साथ-साथ भवन में प्रवेश करना चाहिए और प्रतिदिन झगड़ों के कारणों का निपटारा करना चाहिए।

२. न्यायपालिका के अधिकारी

याज्ञवल्क्य स्मृति न्यायपालिका के अधिकारियों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट श्रृंखला प्रस्तुत नहीं करती फिर भी उसमें अधिकारियों के विषय में वर्णन मिलता है। न्याय कार्य का मुख्य अधिकारी राजा होता था। निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को दण्ड देना राजा का प्रधान कार्य था। राजा जिस प्रकार प्रशासनिक कार्य स्वयं न करके मन्त्रीगण की सहायता से करता था उसी प्रकार न्याय कार्य के लिए सभा और सभ्यों की व्यवस्था थी। इस स्मृति के अनुसार राजा

चाहिए जिससे वह न्यायिक परिधि में रहते हुए लोक परम्परा को समझ सके।

- (३) सत्यवादी :- सभासद या न्यायाधीश का मनसावाचाकर्मणा सत्यवादी होना परम आवश्यक था। मनुस्मृति में भी सभासद का झूठ बोलना महान् पाप माना गया है।
- (४) समभावी :- न्यायाधीश को मित्र व शत्रु के साथ समान व्यवहार करने वाला होना चाहिए जिससे स्नेह एवं शत्रुता के वशीभूत अन्याय होने का अवसर स्थापित ही न हो।
- (५) सर्वधर्मविद् :- इस स्मृति के अनुसार न्यायाधीश को सभी को जानने वाला भी होना चाहिए जिससे वह प्रत्येक धर्म की मर्यादा और परम्परा को समझ कर उचित न्याय कर सके।

मिताक्षरा का कथन है कि जो राजा न्यायाधीश मन्त्रियों, विद्वानों, ब्राह्मणों, पुरोहितों एवं सभ्यों जिनमें उपर्युक्त गुण हैं की उपस्थिति में विवाद का निर्णय करता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है।

नारद स्मृति के अनुसार विवाद के १८ पद उसके आठ हजार उपभेद, आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क आदि में तथा वेद एवं स्मृति में न्यायाधीश को निपुण होना चाहिए। उसमें शल्यचिकित्सक के गुणों के समान कठिन विवादों में से गैर कानूनी बातों को निकाल देने का सामर्थ्य होना चाहिए। जिस प्रकार चिकित्सक शरीर में घुसे हुए लोहे के टुकड़े को निकाल देता है उसी प्रकार उन्हें भी व्यवहार में अनुपयोगी बातों को निकाल देना चाहिए। वशिष्ठ स्मृति में न्यायाधीश के विषय में कहा गया है कि जो व्यक्ति संस्कृति तथा आचार को नहीं जानते हैं, ईश्वर को नहीं मानते हैं धर्म ग्रन्थों के ज्ञान से रहित हैं, क्रोध, लोभ, घमण्ड एवं दरिद्रता से युक्त हैं वे सब न्यायाधीश बनने के अधिकारी नहीं हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है कि राजा का कर्तव्य है कि सभा के जो सदस्य प्रेम के कारण धन के लोभ के कारण या किसी भय के कारण धर्म के विरुद्ध अपना निर्णय देते हैं तो पराजित व्यक्ति पर जितना दण्ड लगता है उसका दुगुना उस सभासद पर लगाकर वसूल करना चाहिए। निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि न्यायाधीश का विद्यावान्, कुलीन, धर्मज्ञ, प्रतिभायुक्त एवं श्रेष्ठ विधिवेत्ता होना आवश्यक समझा जाता था और उसका विवादों के विभिन्न भेद एवं उपभेदों से परिचित होना अनिवार्य था।

५. न्यायकार्य विधि या पद्धति

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार व्यवहार के या न्याय कार्य के चार चरण होते थे-

- (१) पूर्वपाद :- वादी का पक्ष, जब कोई व्यक्ति किसी विवाद के संदर्भ में निर्णय के लिए न्यायालय में उपस्थित होकर आवेदन प्रस्तुत करता था। इसे भाषापाद भी कहा गया है।
- (२) उत्तरपाद :- प्रतिवादी पक्ष, जब प्रतिवादी जिसके विरुद्ध वादी ने अभियोग प्रारम्भ किया है, अपने ऊपर लगे आरोपों का प्रत्युत्तर स्वीकारात्मक या नकारात्मक रूप में देने के निमित्त न्यायालय में उपस्थित होता था।
- (३) क्रियापाद :- वह कार्यविधि जिसके द्वारा अभियोग का रहस्य और कारण जानकर नियन्त्रित करने का उपाय खोजा जाता था। इसमें वादी-प्रतिवादी का कथन, साक्ष्य इत्यादि सम्मिलित रहते थे।
- (४) निर्णयपाद :- अभियोग की वास्तविकता को देखकर वादी प्रतिवादी के हित में सुरक्षा व शान्ति बनाए रखने के निमित्त दिया गया उपदेश या दण्ड निर्णय कहलाता था। यह साध्यसिद्धिपाद नाम से भी जाना जाता था।

१. लिखित प्रमाण
२. भुक्ति या कब्जा
३. साक्षी
४. दिव्य परीक्षा।

न्याय देने और पाने के लिए प्रमाण आवश्यक माने जाते थे। अनेक प्रकार की असंदिग्ध बातों का निराकरण और स्पष्टीकरण भी प्रमाण के द्वारा ही होता था। अभियोग की वस्तुस्थिति प्रमाणों के द्वारा प्रकाशमान हो जाती थी। इस आधार पर कि कहीं अन्याय न हो जाए जिससे प्रजा भयातुर हो जाए तथा प्रजा का न्याय से विश्वास उठ जाए-इन दोषों से बचने के लिए प्रमाण आवश्यक थे। प्रमाणों के द्वारा दोनों पक्ष, वादी और प्रतिवादी स्वतन्त्र रूप से खुलकर अपने मनोभाव व्यक्त कर सकते थे। इन प्रमाणों की पुष्टता के आधार पर ही जय और पराजय ग्रहण करनी पड़ती थी।

१. लिखित प्रमाण :- पत्र पर लिखी गई बातें लेख मानी जाती थीं और यही लेख लिखित प्रमाण होता था। लिखित प्रमाण सब प्रमाणों में श्रेष्ठ माना जाता था क्योंकि मौखिक सुनी गई एवं देखी गई बातों व घटनाओं में विस्मरण की सम्भावना रहती थी। अनेक स्थलों पर विभिन्नता भी प्रविष्ट हो जाती थी। अतः कथनों में असंगति की प्रधानता से देखी गई व सुनी गई बातें लिखी गयी बातों से कम प्रभावयुक्त होती थीं। इन दोषों से बचने के लिए लिखित प्रमाण को सर्वश्रेष्ठ माना गया था क्योंकि वह भ्रान्ति व असंगतियों से परे होता था।

लेख के प्रकार :- 'व्यवहार प्रकाश' में लेख के तीन प्रकार माने गये हैं :-

१. राज्य लेख
२. स्थानकृत लेख
३. स्वहस्त लेख।

राजा के सामने राजा द्वारा नियुक्त लेखक द्वारा लिखित तथा राजा द्वारा प्रमाणित लेख को राज्य लेख कहते थे। दूसरे राजा द्वारा नियुक्त लेखक द्वारा किसी विशेष स्थान पर लिखा गया एवं साक्षियों द्वारा प्रमाणित लेख स्थानकृत लेख कहा जाता था तथा जो लेखक स्वयं अपने हाथ से लिखकर अन्त में हस्ताक्षर करता था तो इस प्रकार के लेख को स्वहस्त लिखित लेख कहते थे। नारद स्मृति में दो ही प्रकार के लेख मान्य हैं :-

१. स्वहस्त लिखित।
२. राजमुद्रित लेख।

वशिष्ठ ने चार, व्यास ने आठ तथा कात्यायन ने लेखों को ग्यारह श्रेणियों में विभाजित किया है यद्यपि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट तौर पर लेखों की श्रेणियां विभक्त नहीं की हैं तो भी व्यवहाराध्याय के अन्तर्गत लेख्य प्रकरण की विषय वस्तु को देखकर लेखों की दो श्रेणियों का पता लग जाता है। :-

१. राजकृत
२. स्वहस्त लिखित।
१. लेख की प्रमाणिकता

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार लेख शुद्ध भाषा में लिखा जाता था तथा ऐसा लेख जो छलकपट और लोभ से रहित हो, प्रमाणित माना जाता था। लेख पर वर्ष, मास, पक्ष, दिन, जाति और गोत्र एवं पिता का नाम (उभयपक्ष) लिखना अनिवार्य होता था। इसके पश्चात् साक्षियों के

वाले उपभोग को चौथी पीढ़ी के स्वामित्व के लिए प्रामाणिक माना जाता था। जैसे प्रपितामह, पितामह और पिता ने किसी सम्पत्ति का उपभोग अनुचित ढंग से किया और उक्त तीनों व्यक्ति कुछ ही वर्षों में दिवंगत हो गए तो चतुर्थ पीढ़ी के व्यक्ति के अर्थात् प्रपितामह के प्रपोत्र का स्वामित्व इस प्रकार की सम्पत्ति पर उचित और प्रामाणिक माना जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति में इसे ही त्रिपुरुष का भोग या पूर्वक्रमागत भोग का नाम दिया गया है।

जहां आगम (लेख) व्यवस्था में सम्पत्ति की सुरक्षा अधिक पुष्ट होती थी वहीं अधिकार और औचित्य की सीमा में सम्पत्ति का भोग प्रामाणिक माना जाना न्याय व्यवस्था के पावन विचारों का प्रतीक था। निःसंकोच कहा जा सकता है कि भुक्ति नियम के द्वारा सहाय और असहाय लोगों की सम्पत्ति की पूर्ण रक्षा होती थी। अनेक ऐसे स्थलों की प्रामाणिकता भी स्वीकार की गई थी जिन पर आगम और भुक्ति की प्रामाणिकता के बावजूद स्वामित्व नहीं प्राप्त होता था। जैसे याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्णित है कि आधि (बन्धन), सीमा उपनिक्षेप, मन्दबुद्धि बालक का धन, उपनिधि, राजधन, स्त्रीधन, श्रोत्रिय ब्राह्मण का धन, दूसरे द्वारा दस या बीस वर्ष तक भोगे जाने पर भी अपने स्वामी के अधिकार से हीन नहीं होता था। कात्यायन के अनुसार भी यदि ३६ वर्ष से पूर्व ब्रह्मचारी स्वाध्याय करके तथा पचास वर्ष से पूर्व व्यक्ति विदेश से यदि वापिस आ जाए तो उसकी सम्पत्ति भोग कर्ता को वापिस लौटानी पड़ती थी। इस प्रकार की सम्पत्तियों पर भोगकर्ता को स्वामित्व नहीं मिल सकता था। इस प्रकार असहायों तथा राजकार्य एवं अध्ययन में व्यस्त पुरुषों की सम्पत्ति की रक्षा का गुरुभार शासन के कर्तव्यों पर था। सम्पत्ति की यह सुव्यवस्था आन्तरिक शान्ति में सहायक होती थी।

३. साक्षी प्रमाण

लेख और भुक्ति प्रमाण के अभाव में साक्षी प्रमाण के द्वारा ही विवाद हल किये जाते थे। वैसे तो याज्ञवल्क्य स्मृति में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं जब साक्षी की आवश्यकता लेख प्रमाण के समय भी महसूस की गई थी। भुक्ति प्रमाण (जिसका आगम न हो) की अवधि को प्रमाणित करने के निमित्त भी साक्षी ली जाती थी। साक्षी से प्रयोजन था 'जिसने साक्षात् देखा है।' इससे स्पष्ट होता है कि ऐसे व्यक्ति जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपनी आंखों से किसी विवादास्पद घटना को देखा हो या अपने कानों से सुना हो वे ही साक्षी के योग्य माने जाते थे।

विष्णु धर्म सूत्र में उल्लेख है कि कभी-कभी ऐसा भी होता था कि यदि पूर्व नियुक्त साक्षी मर जाए तो मरने वाले व्यक्ति के मुख से निकले व तान्त को सुनने वाला व्यक्ति भी साक्षी मान लिया जाता था। इससे स्पष्ट होता है कि साक्षी प्रमाण के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य कालीन न्याय व्यवस्था पूर्णरूपेण सतर्क थी। साक्षी के द्वारा दो व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न विवाद अथवा विरोध सम्भव हो सकता था। अधिक से अधिक सत्यता की प्रामाणिकता के निमित्त साक्षियों का प्रबन्ध मान्य था और वास्तविक साक्षी के अभाव में अभियोग तक रोक दिया जाता था। जब तक वास्तविक साक्षी न मिले साक्षी की भली प्रकार से जांच भी की जाती थी।

(i) **साक्षी की संख्या :-** 'त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेया।' अर्थात् याज्ञवल्क्य ने साक्षियों की संख्या किसी भी अभियोग में साधारणतः तीन मानी है।

परन्तु आचार्य बहस्पति ने साक्षी संख्या के सम्बन्ध में विस्तारवादी दृष्टिकोण का सहारा लेकर साक्षियों की संख्या तीन से नौ तक स्वीकार की थी। जबकि कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित है कि यदि वेदज्ञ विद्वान मिल सकते हैं तो दो ही साक्षी पर्याप्त होते हैं। परन्तु साक्षी देने के निमित्त एक साक्षी को प्रामाणिक नहीं माना जाता। परन्तु याज्ञवल्क्य में ऐसा भी वर्णन मिलता है जिसमें कतिपय परिस्थितियों में एक व्यक्ति को भी साक्षी स्वीकार कर लिया जाता था।

(iv) **साक्षी की परीक्षा :-** साक्षी का उभयपक्ष सम्मत होना अनिवार्य होता था। इसी आधार पर दोनों पक्ष एक दूसरे पक्ष के साक्षी के दोषानुसार आलोचना करने में स्वतन्त्र थे। कात्यायन के अनुसार साक्षियों का साक्ष्य खुले न्यायालय में वादी और प्रतिवादी की उपस्थिति में सुना जाता था। यह ध्यान रखा जाता था कि साक्षी कहीं सच से दूर हटकर असत्य साक्ष्य तो नहीं दे रहा है। उसके कहने के ढंग, कान्ति परिवर्तन, हावभाव पर दृष्टि रखी जाती थी। असत्य भाषण करने वाले साक्षी की क्रिया और व्यवहार निम्न प्रकार से लक्षित होते थे :-

१. वह अशान्त और अस्थिर रहता है।
२. स्थान परिवर्तन करता है।
३. ओष्ठो को जिह्वा या दांतों से काटता है या चबाता है।
४. अनेक बार बनावटी खांसी करता है।
५. उसके चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है।
६. माथे पर पसीने के कण आ जाते हैं।
७. पैर के अंगूठे से भूमि खोदता है।
८. हाथ और वस्त्र हिलाता है।
९. अस्त व्यस्त व अनर्गल बोलता है।
१०. प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर बचता है।

कूट साक्षी के विषय में याज्ञवल्क्य का उल्लेख है कि-

उक्ते पि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः।

द्विगुणा वा न्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः॥

अर्थात् साक्षियों के अपना ध्यान या वक्तव्य दे लेने पर जो दूसरे प्रकृष्ट या विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति अन्यथा कहें तो पहले के साक्षी कूट साक्षी हो जाते हैं। इस प्रकार के साक्षियों को अर्थात् कूट साक्षियों को समझा बुझाकर अथवा अनुशासन और नियन्त्रण में रखकर उसके द्वारा असत्य भाषित कथन पर कदापि विश्वास नहीं किया जाता था। साक्षियों से प्रश्न भी पूछे जाते थे। परन्तु यही अपेक्षा की जाती थी कि साक्षियों ने जो कुछ देखा अथवा सुना है उसे साफ और क्रमबद्ध कहें। साक्षियों की योग्यता के अनुरूप ही उनसे प्रश्न पूछे जाते थे।

(v) **साक्षी को दण्डित करने का विधान :-** कूट साक्ष्य को गुरु अपराध माना जाता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार-

पथक् पथग् दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा।

विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्म तः॥

अर्थात् धन लेकर मिथ्या बोलने वाले कूट साक्षियों से राजा अथवा न्यायाधीश उस विवाद में हारने वाले पर जितना दण्ड हो उससे दुगुना दण्ड या धन कूट साक्षी से लेने का विधान है और यदि वह कूट साक्षी ब्राह्मण हो तो उसे अपने राज्य से निर्वासित होना पड़ेगा।

मनु ने कूट साक्षी पर अभियोग के धन का दस गुणा अर्थदण्ड की व्यवस्था का अधिकार न्यायालय को प्रदान किया था। एक अन्य स्थल पर याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यदि कोई साक्षी प्रतिवचन देने के उपरान्त जांच के समय मुकर जाता था तो पराजित दल द्वारा दिये जाने वाले धन का आठ गुणा दण्ड के रूप में देना पड़ता था। ब्राह्मण को इस अपराध में देश से निष्कासन अथवा उसका घर गिराकर समतल मैदान कर देने का दण्ड दिया जाता था तथा अभियोग की घटनाओं से परिचित होते हुए भी साक्षी न देने वाले स्वस्थ व्यक्ति को विवाद के बराबर

एक ही अंश प्रमाणित हो उसे ही प्रमाण मानकर उन दिव्यों को भी त्याज्य करार दिया था जिनके द्वारा सम्पूर्ण अभियोग की सार्थकता प्रमाणित हो सकती थी। जंगल, रात्रि, साहस, एकान्त, घर के भीतर किये गये लेन, देन या अनुबन्ध पर जहां मनुष्य प्रमाण का अभाव रहता था तो दिव्य प्रमाण स्वीकार्य होता था। नारद स्मृति के अनुसार धन या धरोहर से मुकर जाने एवं स्त्री की पवित्रता सिद्ध करने के निमित्त भी दिव्य को स्वीकार किया जाता था। परन्तु स्थाई सम्पत्ति के मामलों में दिव्य प्रमाण ग्राह्य नहीं था। दिव्यों का प्रयोग अधिक सम्पत्ति वाले (एक हजार पण से अधिक) अभियोग में ही किया जाता था।

दिव्य का प्रयोग :- अभियुक्ता और अभियोक्ता दोनों में से किसी के लिए हो सकता था। राजद्रोह और ब्रह्महत्या जैसे विवादों में बिना विचारे ही दिव्य का सहारा ले लिया जाता था। स्त्री, बालक, वृद्ध और अंधे, पंगु, ब्राह्मण और रोगी के लिए तुला का दिव्य, क्षत्रिय के लिए अग्नि का दिव्य, वैश्यों के लिए जल का दिव्य, शूद्रों के लिए सात यव के बराबर विष का दिव्य होता था।

दिव्य प्रमाण पवित्रता के साथ मंदिर में राज द्वार चौराहों पर या न्यायालय में विद्वान् ब्राह्मणों व न्यायाधीशों की उपस्थिति में उपयुक्त समय पर किया जाता था। किसी निर्जन स्थान या जंगल में दिव्य प्रमाण लेना वर्जित व अमान्य था। खुले रूप में दिव्य लेने का मुख्य प्रयोजन यह होता था कि सम्पूर्ण नागरिक असत्य के प्रति उदासीन हो सकें। अनेक अवसर ऐसे भी प्राप्त होते रहे थे जब दिव्य प्रमाण में प्रतिनिधि भी स्वीकार कर लिये जाते थे।

७. दायभाग

प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में दाय शब्द का प्रयोग मिलता है। (ददात् वीरं शतदायमुक्थ्यम्) ऋग्वेद में शतदाय का अर्थ सायण ने अधिक दाय (वसीयत) बताया है। तैत्तिरीय संहिता में पैतृक संपत्ति के अर्थ में दाय शब्द का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में दायद शब्द आया है जिसका अर्थ है दायम् आदत्ते अर्थात् जो दाय (पैतृक धन) को लेता है उस अधिकारी को दायद कहते हैं। निघण्टु ने विभाजित होने वाले पैतृक धन को दाय कहा है। इस प्रकार दाय विभाग शब्द का मुख्य अर्थ है-पिता पितामह आदि का अपने सम्बन्धियों पुत्रों-पौत्रों आदि में मिताक्षरा सम्पत्ति का विभाजन करना। याज्ञवल्क्य की भूमिका में मिताक्षरा ने कहा है कि दाय का अर्थ है वह धन जो उसके स्वामी के सम्बन्ध से किसी अन्य की सम्पत्ति हो जाता है। मिताक्षरा ने दाय को दो भागों में विभाजित किया है :-

१. अप्रतिबंध

२. सप्रतिबंध।

अप्रतिबंध में पुत्र-पौत्र एवं प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही अपने पिता-पितामह एवं प्रपितामह द्वारा आगत वंश परम्परा के धन को प्राप्त करते हैं। इसमें पिता या पितामह की उपस्थिति से पुत्रों एवं पौत्रों की कुल सम्पत्ति के प्रति अभिरुचि में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता क्योंकि वे उसी कुल में उत्पन्न हुए होते हैं। इस कारण इसे अप्रतिबन्धित दाय की संज्ञा दी गई है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने चाचा की सम्पत्ति पाता है या कोई पिता अपने पुत्र की सम्पत्ति सन्तानहीन चाचा या सन्तानहीन पुत्र के मृत हो जाने पर पाता है तो सप्रतिबन्धित दाय कहा जाता है क्योंकि इन स्थितियों में भतीजा या पिता क्रम से अपने चाचा या पुत्र की सम्पत्ति पर तब तक स्वामित्व नहीं पा सकता जब तक चाचा या पुत्र जीवित रहता है या जब तक चाचा का पुत्र या पौत्र जीवित रहता है।

याज्ञवल्क्य ने सम्पत्ति के तीन भेद माने हैं - (१) भू (२) निबन्ध (३) द्रव्य और कुल सम्पत्ति को दो भागों में बांटा गया है - (१) संयुक्त कुल सम्पत्ति (२) पथक् सम्पत्ति।

के विरुद्ध कार्य करता हो तो उसको विभाजन का अधिकार नहीं है।

(ii) **दाय विभाग का निर्धारण :-** दाय विभाजन के विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि पिता की मृत्यु के बाद यदि भाई विभाजन करे तो संस्कार रहित भाईयों का संस्कार सबके सम्मिलित धन द्वारा होना चाहिए तथा अविवाहित बहनों का विवाह संस्कार सभी भाई अपने भाग का चतुर्थ भाग देकर करें। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो पतित होते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार समान जाति की पत्नियों के पुत्रों को बराबर दाय भाग मिलना चाहिए और विभाजन के पहले पैतृक सम्पत्ति से कुल के ऋणों को वापिस कर देना चाहिए या लौटा देना चाहिए। (विभजेरन् सुताः पित्रोरुर्ध्वं रिक्थम गं समम्।)

(iii) **पुत्रों के विभिन्न प्रकार व उनका दाय विभाग :-** मनु के अनुसार पिता को नरक से जो बचाता है उसे ब्रह्मा ने पुत्र नाम दिया है। पिता पुत्र से स्वर्ग तथा उत्तम लोकों को प्राप्त करता है और पौत्र रहने से बहुत समय तक उसमें निवास करता है और प्रपौत्र रहने से सूर्य लोक प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्य ने १२ प्रकार के पुत्र बताए हैं :-

- १ औरस :- यह पुत्र सजातीय पत्नी से उत्पन्न होता है।
- २ पुत्रिका पुत्र :- अपनी लड़की का पुत्र पुत्रिका पुत्र कहलाता है।
- ३ क्षेत्रज पुत्र :- रोगी, नपुंसक तथा मरे हुए की स्त्री में नियोग से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज होता है।
- ४ दत्तक पुत्र :- किसी सजातीय व्यक्ति को जन्म के साथ संकल्प करके दिया गया पुत्र दत्तक पुत्र कहलाता है।
- ५ कृत्रिम पुत्र :- सजातीय पुत्र को अपना पुत्र मानने पर वह पुत्र कृत्रिम पुत्र कहलाता है।
- ६ गूढज पुत्र :- घर में निम्न जाति के पुरुष से उत्पन्न पुत्र गूढज कहलाता है।
- ७ अपविद्ध पुत्र :- माता-पिता द्वारा त्याज्य पुत्र को कोई अपना पुत्र कहे तो उसे अपविद्ध पुत्र कहते हैं।
- ८ कानीन :- अविवाहित कन्या से पितृगृह में उत्पन्न पुत्र कानीन कहलाता है।
- ९ सहोदज पुत्र :- स्त्री के विवाह के समय गर्भ में रहा हो वह सहोदज पुत्र कहलाता है।
- १० क्रीत पुत्र :- माता पिता को धन देकर खरीदा गया पुत्र क्रीत पुत्र कहलाता है।
- ११ पौनर्भव पुत्र :- विधवा स्त्री परपुरुष के संयोग से जिस पुत्र को उत्पन्न करती है उसे पौनर्भव कहते हैं।
- १२ स्वयंदत्त पुत्र :- माता पिता से त्यक्त या हीन होकर स्वयं को किसी अन्य के पुत्र रूप में अर्पित करने वाला पुत्र स्वयंदत्त कहलाता है।

इन पुत्रों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान औरस पुत्र का है। वह अपने पिता की सारी सम्पत्ति प्राप्त करता है। यदि किसी को पुत्री का पुत्र लेने के बाद औरस पुत्र हो जाए तो दोनों को बराबर भाग मिलता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार यदि किसी ब्राह्मण को चारों जातियों की पत्नियों से पुत्र उत्पन्न हों तो सारी सम्पत्ति को दस भागों में विभाजित करके ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र को चार भाग, क्षत्रिया से उत्पन्न पुत्र को तीन भाग, वैश्या से उत्पन्न पुत्र को दो भाग और शूद्रा के पुत्र को एक भाग मिलेगा।

याज्ञवल्क्य के मत में पुत्र-पौत्र और प्रपौत्र से वंश परम्परा बनी रहती है और ये सब दाय भाग के अधिकारी जन्म से ही होते हैं। याज्ञवल्क्य ने विवरण दिया है कि यदि किसी व्यक्ति

ग्रस्त व्यक्ति दायद अधिकारी नहीं होते। उनको केवल भाईयों से भरण पोषण का अधिकार मिलता है परन्तु उनके पुत्र दोषरहित हों तो वे दायद अधिकार होते हैं।

८. ऋणादान

याज्ञवल्क्यस्मृति के ऋणादान प्रकरण में उत्तमर्ण (साहूकार) तथा अधमर्ण (कर्जदार) के परस्पर लेन-देन की विशिष्ट शर्तों से सम्बन्धित विवेचना की गई है। इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऋण लेते समय किसी वस्तु को गिरवी रखने पर प्रतिमाह सौ रुपये पर लगभग बारह आने ब्याज लेना चाहिये। यदि कोई वस्तु गिरवी न रखी हो तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र से क्रमशः २।३।४।५ रुपया प्रतिमाह प्रति सैकड़ा का ब्याज लेवे। जंगल में या समुद्र में व्यापार करने जायें तो उनसे दस एवं बीस रुपये प्रति सैकड़ा के हिसाब से ब्याज लें। या फिर परस्पर दोनों में जो निर्धारित किया हो तो उसे ही लें। यह नियम सभी जाति एवं वर्णों के लिए है। स्त्री पशु का ब्याज उनकी सन्तति ही होती है। वस्त्र, धान्य व हिरण्यादि का क्रमशः चौगुणा, तिगुना व दुगुना होता है। साहूकार कर्जदार से अपना धन व्यवहार से, धर्म से, नीति से या देशाचार से ले सकता है। यदि सदाचार का उल्लंघन करके अन्य उपाय का आश्रय लेकर राजा से निवेदन करता है तो राजा को चाहिए कि वह धनी के धन को दिलवाये। ऋणी ब्राह्मण के धन को पहले देवे फिर क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के धन को देवे। यदि साहूकार के धन को राजा को दिलाना पड़े तो वह ऋणी से १० प्रतिशत व धनी से ५ प्रतिशत के हिसाब से शुल्क लेवे। यदि कोई ऋणी ऋण लौटाने में असमर्थ हो तो समान या निम्न जाति का होने पर उससे काम कराकर अपना ऋण वसूल कर लेवे। यदि उच्च जाति से हो तो उसे धीरे-धीरे विलम्ब से धन ले ले। ऋणी द्वारा ऋण लौटाने पर तथा लालच से अभिभूत धनी द्वारा ऋण न लेने पर ऋणी धन को मध्यस्थ के पास रख देवे जिससे ऊपर और ब्याज न लगे। संयुक्त परिवार के लिए ऋण को उसके उत्तराधिकारी लौटायें इसके लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं :-

“अविभक्तैः कुटुम्बार्थं यदणं तु कृतं भवेत्।

“दद्युस्तद्विथिनं प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि।।”

पिता ने यदि मदिरापान, कामवासना, द्यूतक्रीड़ा, राजदण्ड व शुल्कशेष तथा व थादान के लिए ऋण लिया हो तो पुत्र उसे न देवे। ग्वाला, सुरा बनाने वाला, नट, धोबी और व्याध इनकी स्त्री के द्वारा किया गया जो ऋण है उसे उसके पति दे देवें। पिता के व्यसन में पड़ जाने पर उसके वंशज उसके ऋण को देवे। भाई, स्त्री, पुरुष, पिता और पुत्र आदि सम्मिलित होवें तो ये ऋण साक्षी नहीं माने जाते। जमानत के तीन भेद बताते हुए कहते हैं-**“दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभावं विधीयते”** अर्थात् कुछ वस्तु दिखाने की शर्त वाली, विश्वसनीय व्यक्ति क विश्वास वाली तथा ये न लौटाये तो मैं लौटाऊँगा इस प्रकार की शर्त वाली। ऋणादान में ये तीन जमानतें होती हैं।

ऋणी के मर जाने पर उसके जमानती उसके ऋण को बराबर के हिस्सों में बांटकर दे देवें। ऋणी द्वारा लौटाने पर ऋण रूप में दी गई वस्तुओं में अन्न तिगुना, वस्त्र चौगुना तथा धातु पीतलादि आठ गुना वापिस करनी चाहिए। उपयोग करने योग्य वस्तु जिसे धनी उपयोग में लाता हो यदि गिरवी रूप में रखी हो तो ऋणी केवल मूलधन को ही लौटाए ओर यदि गिरवी रूप में वस्तु खराब हो जाए तो उसे मध्य में ही बदल कर नई वस्तु को गिरवी रूप में रखे। या फिर धनी का धन वापस कर देवे। यदि धनी गिरवी वस्तु का लालच करके उसे ऋण मुक्त करना चाहे तो वह वस्तु धनी की समझी जाती है। इस प्रकार ऋण लेन-देन का व्यवहार याज्ञवल्क्य स्मृति में बतलाया गया है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिः

व्यवहाराध्यायः

साधारणव्यवहारमात का प्रकरणम्

अभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनं परमो धर्मः। तच्च दुष्टनिग्रहमन्तरेण न संभवति। दुष्टपरिज्ञानं च न व्यवहारदर्शनमन्तरेण संभवति। तद्व्यवहारदर्शनमहरहः कर्तव्यमित्युक्तं (आ. ३६०)—‘व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिव तो न्वहम्’ इति। स च व्यवहारः कीद शः, कतिविधः, कथं चेतीतिकर्तव्यताकलापो नाभिहितः, तदभिधानाय द्वितीयो ध्यायः प्रारभ्यते—

व्यवहारान्न पः पश्येद्विद्विभ्राह्मणैः सह।

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः॥ १॥

अन्वय - क्रोध लोभविवर्जितः न पः धर्मशास्त्रानुसारेण विद्विभः ब्राह्मणैः सह व्यवहारान् पश्येत्।

अनुवाद - क्रोध व लोभ के वशीभूत न होता हुआ राजा, धर्मशास्त्रानुसार विद्वान् ब्राह्मणों के साथ व्यवहार को देखे॥ १॥

मिताक्षरा - व्यवहारानीति। अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः। यथा कश्चिदिदं क्षेत्रादि मदीयमिति कथयति, अन्योऽपि तद्विरोधेन मदीयमिति। तस्यानेकविधत्वं दर्शयति बहुवचनेन। न प इति न क्षत्रियमात्रस्यायं धर्मः किंतु प्रजापालनाधिकृतस्यान्यस्यापीति दर्शयति। **पश्येदिति** पूर्वोक्तस्यानुवादो धर्मविशेषविधानार्थः। विद्विभर्वेदव्याकरणादिधर्मशास्त्राभिज्ञैः। ब्राह्मणैर्न क्षत्रियादिभिः। ‘ब्राह्मणैः सह’ इति त तीयानिर्देशादेशामप्राधान्याम्। ‘सहयुक्ते प्रधाने’ (पा. २।३।१६) इति स्मरणात्। अतश्चादर्शने न्यायादर्शने वा राज्ञो दोषो न ब्राह्मणानाम्। यथाह मनुः (८।१२८)—‘अदण्डयान्दण्डयन्राजा दण्डंश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदापणोति नरकं चैव गच्छति॥’ इति। कथम्? **धर्मशानुसारेण**, नार्थशास्त्रानुसारेण। देशादिसमयधर्मस्यापि धर्मशास्त्रविरुद्धस्य धर्मशास्त्रविषयत्वान्न प थगुपादानम्। तथा च वक्ष्यति (व्य८ १८६)—निजधर्मा-विरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्। सोऽपि यत्मेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः॥ इति **क्रोधलोभविवर्जित** इति। ‘धर्मशास्त्रानुसारेण’ इति सिद्धे ‘क्रोधलोभविवर्जितः’ इति वचनमादरार्थम्। क्रोधो मर्षः लोभो लिप्सातिशयः॥१॥

सभ्यांश्चाह-

श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।

राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥ २॥

अन्वय - राज्ञा श्रुताध्ययन सम्पन्नाः धर्मज्ञाः सत्यवादिनः रिपौ मित्रे च ये समाः सभासदः कार्या।

अनुवाद - राजा को अपनी सभा में ऐसे सभासद् बनाने चाहिए जो वेदादि शास्त्रों के पारंगत विद्वान् हों, धर्मशास्त्र के ज्ञाता हों, सत्यवादी हों, तथा शत्रु व मित्र में समान दृष्टि रखते हों॥ २॥

मिताक्षरा - किंच, श्रुताध्ययनसंपन्नाः श्रुतेन मीमांसाव्याकरणादिश्रवणेन अध्ययनेन च वेदाध्ययनेन संपन्नाः, **धर्मज्ञाः** धर्मशास्त्रज्ञाः, **सत्यवादिनः** सत्यवचनशीलाः, **रिपौ मित्रे च ये समाः** रागद्वेषादिरहिताः, एवंभूताः सभासदः सभायां संसदि यथा सीदन्त्युपविशन्ति तथा दानमानसत्कारैः **राज्ञा कर्तव्याः।** यद्यपि ‘श्रुताध्ययनसंपन्नाः’ इत्यविशेषणोक्तं, तथापि ब्राह्मणा एव। यथाह का त्यायनः—‘स तु सभ्यैः स्थिरैः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः। धर्माशास्त्राकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः॥’ इति। ते च त्रयः कर्तव्याः; बहुवचनस्यार्थवत्त्वात् ‘यस्मिन्देसे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः’ इति (८।११) मनुस्मरणात्। ब हस्पतिस्तु सप्त प च त्रयो वा सभासदो भवन्तीत्याह—‘लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त प च त्रयोऽपि वा। त्रयोपविष्टा

भूताद्द्रव्यात्। तथा सति स्त्रीसंग्रहणादिषु दण्डाभावप्रसङ्गः। रागलोभभयानामुपादानं रागादिष्वेव द्विगुणो दमो नाज्ञानमोहादिष्विति नियमार्थम्॥ नच 'राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्' (११।११) इति गौतमवचनात् ब्राह्मणा दण्ड्यइति मन्तव्यम्; तस्य प्रशंसार्थत्वात्॥ यत्तु 'षड्भिः परिहार्यो राजा वध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चावहिष्कार्यश्चापरिहार्यश्च' (गौ. ८, १२-१३) इति, तदपि 'स एष बहुश्रुतो भवति लोकवेदवेदाङ्गविद्वान्कोवाक्येतिहासपुराणकुशलस्तदपेक्षस्तद्व त्तिश्चाष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतस्त्रिषु कर्मस्वभिरतः षट्सु वा सामयाचारिकेष्वभिविनीत' (गौ. ८, १४-१५) इति, प्रतिपादितबहुश्रुतविषयं; न ब्राह्मणमात्रविषयम्॥४॥

व्यवहारविषयमाह—

स्म त्याचारव्यपेतेन मार्गेण धर्षितः परैः।

आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥ ५॥

अन्वय - स्म त्याचारव्यपेतेन मार्गेण परैः आधर्षितः चेत् राज्ञे आवेदयति तत् हि व्यवहारपदम्।

अनुवाद - धर्मशास्त्र व सदाचार के विरुद्ध रीति से किसी से पीड़ित होकर राजा के समक्ष जो निवेदन हे, उसे व्यवहार कहते हैं॥ ५॥

मिताक्षरा - धर्मशास्त्रसमाचारविरुद्धेन मार्गेण परैराधर्षितो भिभूतो यद्राज्ञे प्राड्विवाकाय वा आवेदयति विज्ञापयति चेद्यदि, तदावेद्यमानं व्यवहारपदं प्रतिज्ञोत्तरसंशयहेतुपरामर्शप्रमाणनिर्णयप्रयोजनात्मको व्यवहारस्तस्य पदं विषयः। तस्य चेदं सामान्यलक्षणम्। स च द्विविधः— शङ्कभयोगस्तत्त्वाभियोगश्चेति। यथाह नारदः (१।२७)— 'अभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः। शङ्का सतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढाभिदर्शनात्॥' इति। होढा लोप्त्रं, लिङ्गमिति यावत्। तेन दर्शनं, साक्षाद्वा दर्शनं होढाभिदर्शनं तस्मत्। तत्त्वाभियोगोऽपि द्विविधः— प्रतिषेधात्मको विध्यात्मकश्चेति। यथा— 'मत्तो हिरण्यादिकं ग हीत्वा न प्रयच्छति', 'क्षेत्रादिकं ममायमपहरति' इति च। उक्तं च कात्यायनेन— 'न्याय्यं स्वं नेच्छते कर्तुमन्याय्यं वा करोति यः' इति। स पुनश्चाष्टादशधा भिद्यते। यथाह मनुः (८।४७)— 'तेषामाद्यम णादानं निक्षेपो स्वामिविक्रयः। संभूय च समुत्थानं दत्तास्यानपकर्म च॥ वेतनस्यैव चा दानं संविदश्च व्यतिक्रमः। क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥ सीमाविवादधर्मश्चपारुष्ये दण्डवाचिके। स्तेयं च साहसं चैव स्त्रिसंग्रहणमेव च। स्त्रीपुंघर्मो विभागश्च द्यूतामाह्वय एव च। पदान्यष्टादशैतानी व्यवहारस्थिताविह॥' इति॥ एतान्यति साध्यभेदेन पुनर्बहुत्वं गतानि। यथाह नारदः (१।२०) एषामेव प्रभेदो न्यः शतमष्टोत्तरं भवेत्। कियाभेदान्मनुष्याणां शतशाखो निगद्यते॥' इति॥ 'आवेदयति चेद्राज्ञे' इत्यनेन स्वयमेवागत्यावेदयति, न राजप्रेरितस्तत्पुरुषप्रेरितो वेति दर्शयति। यथाह मनुः (८।४३)— 'नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाप्यस्य पूरुषः। नच प्रापितमन्येन ग्रसेतार्थं कथंचन॥' इति॥ परैरिति परेण पराभ्यां परैरित्येकस्यैकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा व्यवहारो भवतीति दर्शयति॥ यत्पुनः— 'एकस्य बहुभिः सार्धं स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च। अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिर्बुदाहृतः॥' इति नारद(कात्यायन?) वचनं, तदिभन्नासाध्यद्वयविषयम्। 'आवेदयति चेद्राज्ञे' इत्यनेनैव राज्ञा प ष्टो विनीतवेष आवेदयेत्। आवेदितं च युक्तं चेन्मुद्रादिना प्रत्यर्थ्याह्वानमकल्पादीनां चानाह्वानमित्याद्यर्थसिद्धमिति नोक्तम्। स्म त्यन्तरे तु स्पष्टार्थमुक्तम्। यथा 'काले कार्यार्थिनं प च्छेद्ग णन्तं पुरतः स्थितम्। किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव॥ केन कस्मिन्कदा कस्मात्प च्छेदेवं सभागतम्। एवं प ष्टः स यद्ब्रूयात्स सभ्यैर्ब्राह्मणैः सह॥ विम श्य कार्यं न्याय्य चेदाह्वानार्थमतः परम्। मुद्रां वा निक्षिपेत्स्मिन्पुरुषं वा समादिशेत्॥ अकल्पबालस्थविरविषमस्थक्रियाकुलान्। कार्यातिपातिव्यसनिन पकार्योत्सवाकुलान्। मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तान्भ त्यानाह्वानयेत् पः॥ न हीनपक्षां युवतिं कुले जातां प्रसूतिकाम्। सर्ववर्णोत्तमां कन्यां ता ज्ञातिप्रभुकाः स्म ताः॥ तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वैरिण्यो गणिकाश्च याः। निष्कुला याश्च पतितास्तासामाह्वानमिष्यते॥ कालं देशं च विज्ञाय कार्याणां च बलाबले। अकल्पादीनपि शनैर्यानैराह्वानयेत् पः॥ ज्ञात्वाभियोगं ये पि स्युर्वने प्रव्रजितादयः। तानप्याह्वानयेद्राजा गुरुकार्येष्वकोपयन्॥' इति। **आसेधव्यवस्थाप्यर्थसिद्धैव नारदेनोक्ता** (१।४७-५३)— 'वक्तव्ये र्थे

ग हीत्वा न प्रयच्छति' इत्यादि। **निराबाधं** अस्मद्य हदीपप्रकाशेनायं स्वग हे व्यवहरतीत्यादि। **निरर्थ** अभिधेयरहितं कचटतपगजडदबेत्यादि। **निष्प्रयोजनं** यथा-अयं देवदत्तो स्मद्य हसंनिधौ सुस्वरमधीत इत्यादि। **असार्थ** यथा-अहं देवदत्तेन सभ्रुभङ्गमुपहसित इत्यादि। एतत्साधनासंभवादसाध्यम्। अल्पकालत्वान्न साक्षिसंभवो लिखितं दूरतो ल्पत्वान्न दिव्यमिति। विरुद्धं यथाहं मूकेन शप्त इत्यादि। **पुरराष्ट्रादिविरुद्धं** वा—'राज्ञा विवर्जितो यश्च यश्च पौरविरोधकृत्। राष्ट्रस्य वा समस्तस्य प्रकृतीनां तथैव च।। अन्ये वा ये पुरग्राममहाजनविरोधकाः अनादेयास्तु ते सर्वे व्यवहाराः प्रकीर्तिताः।।' इति।। यतु—'अनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो न सिद्ध्यति' इति, तत्र यद्यनेकवस्तुसंकीर्ण इत्युच्यते, तदा न दोषः; मदीयमनेन हिरण्यं वासो रूपकादि वा पहतमित्येवंविधस्यादुष्टत्वात्। ऋणादानादिपदसंकरे पक्षाभास इति चेत्तदपि न। मदीया रूपका अनेन व द्धया ग हीताः सुवर्ण चास्य हस्ते निक्षिप्तम्, मदीयं क्षेत्रमयमपहरतीत्यादीनां पक्षत्वमिष्यत एव। किंतु क्रियाभेदात्क्रमेण व्यवहारो न युगपदित्येतावत्।। यथाह कात्यायनः—'बहुप्रतिज्ञं यत्कार्यं व्यवहारे सुनिश्चितम्। कामं तदपि ग ह्ययाद्राजा तत्त्वबुभुत्सया।।' इति। तस्मादनेकपदसंकीर्णः पूर्वपक्षो युगपन्न सिद्ध्यतीति तस्यार्थः। अर्थिग्रहणात्पुत्रपित्रादिग्रहणं तेषामेकार्थत्वात्। नियुक्तजयपराजयौ मूलस्वामिनोरेव। एतच्च भूमौ फलके वा पाण्डुलेखेन लिखित्वा आवापोद्धारेण विशोधितं पश्चात्पत्रे निवेशयेत्।—'पूर्वपक्षं स्वभावोक्तं प्राङ्विवाको भिलिखयेत्। पाण्डुलेखेन फलके ततः पत्रे विशोधितम्।।' इति कात्यायनस्मरणात्। शोधनं च यावदुत्तरदर्शनं कर्तव्यं नातः परम्। अनवस्थाप्रसङ्गात्। अतएव नारदेनोक्तम्—'शोधयेत्पूर्ववादं तु यावन्नोत्तरदर्शनम्। अवष्टब्धस्योत्तरेण निव तं शोधनं भवेत्।।' इति। पूर्वपक्षमशोधयित्वा यदोत्तरं दापयन्ति सभ्यास्तदा 'रागात्तन्नोभात्' इत्युक्तदण्डेन सभ्यान्दण्डयित्वा पुनः प्रतिज्ञापूर्वकं व्यवहारः प्रवर्तनीयो राज्ञेति।।६।।

एवं शोधितपत्ररूढे पूर्वपक्षे किं कर्तव्यमित्यत आह—

श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्ववदेके सन्निधौ।

अन्वय - श्रुतार्थस्य उत्तरं पूर्ववत् एक सन्निधौ लेख्यम्।

अनुवाद - सुनी हुई बात का उत्तर प्रत्यर्थी पूर्ववत् मासादि के उल्लेख के साथ अर्थी की उपस्थिति में लिखवाये।

मिताक्षरा - श्रुतो भाषार्थो येन प्रत्यर्थिना सौ **श्रुतार्थः**, तस्योत्तरं पूर्वपक्षादुत्तरत्र भवतीत्युत्तर **लेख्यं** लेखनीयम्। **पूर्ववदेकस्यार्थिनः सन्निधौ** समीपे उत्तरं च यत्पूर्वस्य निराकरणं तदुच्यते। यथाह—'पक्षस्य व्यापकं सारमसंदिग्धमनाकुलम्। अव्याख्यागम्यमित्येदुत्तरं तद्वितो विदुः।।' इति। पक्षस्य व्यापकं निराकरणसमर्थम्। सारं न्याय्यं न्यायादनपेतम्। असंदिग्धं संदेहरहितम्। अनाकुलं पूर्वापरविरुद्धम्। अव्याख्यागम्यं अप्रसिद्धमप्रयोगेण दुःश्लिष्टविभक्तिसमासाध्याहाराभिधानेन वा अन्यदेशभाषाभिधानेन वा यद् व्याख्येयार्थं न भवति तत्सदुत्तरम्।। तच्च चतुर्विधम्—'संप्रतिपत्तिः, मिथ्या, प्रत्यवस्कन्दनं पूर्व न्यायश्चेति। यथाह कात्यायनः—'सत्यं मिथ्योत्तरं चैव प्रत्यवस्कन्दनं, पूर्वं तथा। पूर्वन्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम्।।' इति। तत्र सत्योत्तरं यथा—'रूपकशतं मह्यं धारयति' इत्युक्ते 'सत्यं धारयामि' इति। यथाह—'साध्यस्य सत्यवचनं प्रतिपत्तिरूदाहता' इति। मिथ्योत्तरं तु नाहं धारयामीति। तथा च कात्यायनः—'अभियुक्तो भियोगस्य यदि कुर्यादपहनवम्। मिथ्या तत्तु विजानीयादुत्तरं व्यवहारतः।।' इति।। तच्च मिथ्योत्तरं चतुर्विधम्—'मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न सन्निधिः। अजातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधम्।।' इति। प्रत्यवस्कन्दनं नाम 'सत्यं ग हीतं प्रतिदत्त प्रतिग्रहेण लब्धम्' इति वा। यथाह नारदः—'अर्थिना लिखितो यो र्थः प्रत्यर्थी यदि तं तथा-।- प्रपद्य कारणं ब्रूयात्प्रत्यवस्कन्दनं स्म तम्।।' इति। प्राङ्न्यायोत्तरं तु यत्राभियुक्त एवं ब्रूयात् 'अस्मिन्नर्थं नेनाहमभियुक्तस्तत्र चायं व्यवहारमार्गेण पराजितः' इति। उक्तं च कात्यायनेन—'आचारेणावसन्नो पि पुनर्लेखयते यदि। सो भिधेयो जितः पूर्व प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते।।' इति। एवमुत्तरलक्षणे स्थिते उत्तरलक्षणरहितानामुत्तरवदवमा-समानानामुत्तराभासत्वमर्थसिद्धम्। स्पष्टीकृतं च स्म त्यन्तरे— 'संदिग्धमन्यत्प्रकृतादत्यल्पमतिभूरि च। पक्षैकदेशव्याप्यन्यत्तथा नैवोत्तरं भवेत्।। यद्व्यस्तपदमव्यापि निगूढार्थं तथाकुलम्। व्याख्यागम्यमसारं

यत्र मिथ्याप्राङ्न्यायोः पक्षव्यापित्वं यथा—‘रूपकशतं धारयती’त्यभियोगे, ‘मिथ्यैतदस्मिन्नर्थे पूर्वमयं पराजितः’ इति। अत्रापि प्रतिवादिन एव क्रिया; ‘प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्’ इति वचनात्, शुद्धस्य प्राङ्न्यायस्याभावादानुत्तरत्वप्रसङ्गात्, संप्रतिपत्तेरपि साध्यत्वेनोपदिष्टस्य पक्षस्य सिद्धत्वोपन्यासेन साध्यत्वनिराकरणादेवोत्तरत्वम्। यदा तु कारणप्राङ्न्यायसंकरः यथा—‘शतमनेन ग हीत’ मित्यभियुक्तः प्रतिवदति ‘सत्यं ग हीतं प्रतिदत्तं चेत्यस्मिन्नेवार्थे प्राङ्न्यायेनायं पराजितः’ इति। तत्र प्रतिवादिनो यथारुचीति न क्वचिद्वादिप्रतिवादिनोरेकस्मिन्व्यवहारे क्रियाद्वयप्रसङ्ग इति निर्णयः।।६।।-

एवमुत्तरे पत्रे निवेशिते साध्यसिद्धेः साधनायत्तत्वात्साधननिर्देशं कः कुर्यादित्यपेक्षित आह-

ततो र्थी लेखयेत् सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्।। ७।।

अन्वय - ततः अर्थी प्रतिज्ञातार्थसाधनम् सद्यः लेखयेत्।

अनुवाद - तब अपने निवेदन को सिद्ध करने वाली जो बातें हों, उन्हें अर्थी तत्काल लिखवाए।। ७।।
मिताक्षरा - तत उत्तरानन्तरम्, अर्थी साध्यवान् सद्य एवानन्तरमेव प्रतिज्ञातार्थ-साधनं लेखयेत्। प्रतिज्ञातः साध्यः स चासावर्थश्चेति प्रतिज्ञातार्थः तस्य साधनं साध्यते नेनेति साधनं प्रमाणम्। अत्र ‘सद्यो लेखयेत्’ इति वदतोत्तराभिधाने कालविलम्बनमप्यङ्गीकृतमिति गम्यते। तच्चोत्तरत्र विवेचयिष्यते। अर्थी प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदिति वदता यस्य साध्यमस्ति स प्रतिज्ञातार्थसाधनं लेखयेदित्युक्तं, अतश्च प्राङ्न्यायोत्तरे प्राङ्न्यायस्यैव साध्यत्वात्प्रत्यर्थ्येवार्थी जात इति स एव साधनं लेखयेत्। मिथ्योत्तरे तु पूर्ववाद्येवार्थी स एव साधनं निर्दिशेत्। ततो र्थी लेखयेदिति वदता अर्थ्येव लेखयेन्नान्य इत्युक्तम्। अतश्च संप्रतिपत्त्युत्तरे साध्याभावेन भाषोत्तरत्वादिनोर्द्वयोरप्यर्थित्वाभावात्साधननिर्देश एव नास्तीति तावतैव व्यवहारः परिसमाप्यत इति गम्यते। एतदेव हारीतेन स्पष्टमुक्तम्-‘प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम्। मिथ्योक्तौ पूर्ववादी तु प्रतिपत्तौ न सा भवेत्।।७।।

ततः किमित्यत आह-

तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतो न्यथा।

अन्वय - तत् सिद्धौ सिद्धिं आप्नोति अतो न्यथा विपरीतम्।

अनुवाद - उक्त निवेदनरूप साध्य के विषय में यदि कोई साधन प्रमाण मिल जाए तो सिद्धि को प्राप्त करता है अर्थात् जीतता है। यदि प्रमाण न मिले तो सिद्धि को प्राप्त नहीं करता है।

मिताक्षरा - तस्य साधनस्य प्रमाणस्य वक्ष्यमाणलिखितसाक्ष्यादिलक्षणस्य सिद्धौ निर्वर्तौ सिद्धिं साधनासिद्धौ जयलक्षणां प्राप्नोति। अतो स्मात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरेण साधनासिद्धौ विपरीतं साध्यस्यासिद्धिं पराजयलक्षणमाप्नोतीति संबन्धः।।

एवं व्यवहाररूपमभिधयोपसंहरति-

चतुष्पाद्व्यवहारो यं विवादेषूपदर्शितः।। ८।।

अन्वय - विवदेषु अयं चतुष्पाद्व्यवहारः दर्शितः।

अनुवाद - विवाद के विषय में यह चार अंश वाला व्यवहार होता है-यह सब दिखला दिया है।। ८।।
मिताक्षरा - ‘व्यवहारन्न पः पश्येत्’ (व्य० १) इत्युक्तो व्यवहारः सो यमित्थं चतुष्पाच्चतुरंशकल्पनया विवादेषु ऋणादानादिषूपदर्शितो वर्णितः। तत्र ‘प्रत्यर्थिनो ग्रतो लेख्यं’ इति भाषापादः प्रथमः। ‘श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यम्’ इत्युत्तरपादो द्वितीयः। ततः ‘अर्थी लेखयेत्सद्यः’ इति क्रियापादस्त तीयः। ‘तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति’ इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः। यथोक्तम्—‘परस्परं मनुष्याणां स्वार्थविप्रतिपत्तिषु। वाक्यन्यायाद्व्यवस्थानं व्यवहार उदाहृतः।। भाषोत्तरक्रियासाध्यसिद्धिभिः क्रमव त्तिभिः। आक्षिप्तचतुरंशस्तु चतुष्पादभिधीयते।।’ इति। संप्रतिपत्त्युत्तरे तु साधनानिर्देशाद्भाषार्थस्यासाध्यत्वाच्च न साध्यसिद्धिलक्षणः पादो स्तीति द्विपात्वमेव। उत्तराभिधानानन्तरं सभ्यानामर्थिप्रत्यर्थिनोः कस्य क्रिया स्यादिति

‘अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्’ (व्य० १) इत्यस्यापवादमाह -

कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च।

अन्वय - कलहे साहसेषु च प्रत्यभियोगं कुर्यात्।

अनुवाद - कलह में तथा साहस होने पर प्रत्यभियोग किया जा सकता है।

मिताक्षरा - कलहे वाग्दण्डपारुष्यात्मके साहसेषु विषशस्त्रादिनिमित्तप्राणव्यापादनादिषु प्रत्यभियोगसंभवे स्वाभियोगमनिस्तीर्याप्यभियोक्तारं प्रत्यभियोजयेत्। नन्वत्रापि पूर्वपक्षानुपमर्दनरूपत्वेना-नुत्तरत्वात्प्रत्यभियोगस्य प्रतिज्ञान्तरत्वे युगपद व्यवहारासंभवः समानः। सत्यम्। नात्र युगपद्व्यवहाराय प्रत्यभियोगोपदेशः, अपि तु न्यूनदण्डप्राप्तये अधिकदण्डनिवृत्तये वा। तथा हि - ‘अनेनाहं ताडितः शप्तो वा’ इत्यभियोगे, ‘पूर्वमहमनेन ताडितः शप्तो वा’ इति प्रत्यभियोगे दण्डात्पत्वम्। यथाह नारदः (१४१२) ‘पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक्। पश्चाद्यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वं तु विनयो गुरुः।।’ इति। यदा पुनर्द्वयोर्युगपत्ताडनादिप्रवृत्तिस्तत्राधिकदण्डनिवृत्तिः - ‘पारुष्ये साहसे वापि युगपत्संप्रवृत्तयोः। विशेषश्चेन्न लभ्यते विनयः स्यात्समस्तयोः।।’ इति। एवं युगपद्व्यवहारप्रवृत्तयसंभवेऽपि कलहादौ पर्यभियोगो र्थवान् पादानादिषु तु निरर्थक एव।।

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्विधिमुक्त्वा ससभ्यस्य सभापतेः कर्तव्यमाह -

उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये।। १०।।

अन्वय - उभयोः (अर्थिप्रत्यर्थिनोः) कार्यनिर्णये समर्थः प्रतिभूः ग्राह्यः।

अनुवाद - अर्थी व प्रत्यर्थी के विवाद में दोनों के निर्णयकार्य में समर्थ प्रतिभू लेने चाहिए।। १०।।

मिताक्षरा - उभयोरर्थिप्रत्यर्थिनोः सर्वेषु विवादेशु निर्णयस्य कार्यं “कार्यनिर्णयः”। आहिताग्यादिषु पाठात्कार्यशब्दस्य पूर्वनिपातः। निर्णयस्य च यत्कार्यं साधितधनदानं दण्डदानं च तस्तिन्समर्थः प्रतिभूः प्रतिभवति तत्कार्यं तद्वद्भवतीति प्रतिभूर्ग्राह्यः ससभ्येन सभापतिना। तस्यासंभवे र्थिप्रत्यर्थिनो रक्षणे पुरुषा नियोक्तव्याः। तेभ्यश्च ताभ्यां प्रतिदिनं वेतनं देयम्। यथाह कात्यायनः - ‘अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तु वादिनः। स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भ त्याय वेतनम्।।’ इति।।१०।।

अर्थिप्रत्यर्थिनोर्निर्णयकार्ये ससभ्येन सभापतिना प्रतिभूर्ग्राह्य इत्युक्तम्, किं तन्निर्णयकार्यं यस्मिन्प्रतिभूर्ग्राह्य इत्यपेक्षित आह -

निह्वे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम्।

मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वहेत्। ११।।

अन्वय - निह्वे, (वादिना) भावितः (प्रतिवादी) (वादिने) राज्ञे च तत्समम् धनं दद्यात्। मिथ्याभियोगी अभियोगात् द्विगुणं धनं वहेत्।

अनुवाद - यदि प्रतिवादी किसी बात को छिपाकर अस्वीकार करे और वादी साक्षी के द्वारा उस बात को सिद्ध कर दें तो प्रतिवादी उतना धन दण्डरूप में वादी को तथा राजा को भी दे। यदि किसी ने किसी के ऊपर झूठा अभियोग लगाया हो, तो जितने का वह अभियोग है, उससे दुगुना धन दण्डरूप में वह राजा को दे।।

मिताक्षरा - अर्थिना निवेदितस्याभियोगस्य प्रत्यर्थिना पहन क ते यदा र्थिना साक्ष्यादेभिर्भावितो ङ्गीकारितः प्रत्यर्थी तदा दद्याद्धनं प्रक तमर्थिने राज्ञे च तत्सममपलादण्डम्। अर्थार्थी भावयितुं न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगी जात इत्यभियोगादभियुक्तधनाद्विगुणं धनं दद्यात् राज्ञे। प्राङ्न्याये प्रत्यवस्कन्दने चेदमेव योजनीयम्। तत्रार्थ्येवा पहनववादी प्रत्यर्थिना भावितो राज्ञे प्रक तधनमसमं दण्डं दद्यात्। अथ प्रत्यर्थी प्राङ्न्यायं कारणं वा भावयितुं न शक्नोति तदा स एव मिथ्याभियोगीति राज्ञे द्विगुणं धन दद्यात्। अर्थिने च प्रक तं धनम्। संप्रतिपत्त्युत्तरे तु दण्डाभाव एव। एतच्च ऋणादानविषयमेव। पदान्तरेषु तत्र तत्र दण्डाभिधानादधनव्यवहारेष्वस्यासंभावाच्च न सर्वविषयत्वम्। ‘राज्ञा धमर्णिको दाप्यः’ (व्य० ४२) इत्यस्य ऋणादानविषयत्वेऽपि तत्रैव विशेषं वक्ष्यामः। यद्वा, -

प्रतिवीक्षणेन न पूजयतीति मनसो विक तेर्लिङ्गम्। तथा औष्ठौ निर्भुजति वक्रयतीत्यपि कायस्य विक तिः। एतच्च दोषसंभावनामात्रमुच्यते, न दोषनिश्चयाय, स्वाभाविकनैमित्तिकविकारयोर्विवेकस्य दुर्ज्ञेयत्वात्। अथ कश्चिन्निपुणमतिर्विवेकं प्रतिपद्येत तथापि न पराजयनिमित्तं कार्यं भवति। नहि मरिष्यतो लिङ्गदर्शनेन म तकार्यं कुर्वन्ति। एवमस्य पराजयो भविष्यतीति लिङ्गादवगते पि न पराजयनिमित्तकार्यप्रसङ्गः।।१३-१५।।

संदिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत्।

न चाहूतो वदेत् किंचिद्धीनो दण्ड्यश्च स स्म तः।। १६।।

अन्वय - यः स्वतन्त्रः सन्दिग्धार्थं साधयेत् यश्च निष्पतेत् आहूतः च न किंचित् वदेत्, स हीनः दण्ड्यश्च स्म तः।

अनुवाद - जो अर्थी अपनी इच्छा से प्रत्यर्थी के स्वीकार किये बिना ही धन को माँगने लगे अथवा कबूल की गई बात को न माने, पुनः बुलाने पर राजा के सामने कुछ न बोले, ऐसा व्यक्ति अविश्वसनीय ओर दण्ड का भागी होता है।। १६।।

मिताक्षरा - किंच, संदिग्धमर्थमधमर्णेनानाङ्गीक तमेव यः स्वतन्त्रः साधननिरपेक्षः साधयत्यासेधादिना स हीनो दण्ड्यश्च भवति। यश्च स्व संप्रतिपन्नं साधनेन वा साधितं याच्यमानो निष्पतेत् पलायेत, यश्चाभियुक्तो राजा चाहूतः सदसि न किंचिद्वदति 'सो पि हीनो दण्ड्यश्च स्म तः' इति संबध्यते। 'अभियोगे च साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः' इति प्रस्तुतत्वाद्धीनपरिज्ञानमात्रमेव मा भूदिति 'दण्ड्यग्रहणम्। दण्डस्य चापि 'शास्यो प्यार्थान्न हीयत' इत्यर्थादहीनत्वदर्शनत्वदर्शानादत्र तन्मा भूदिति 'हीन' ग्रहणम्।।१६।।

अथ यत्र द्वावपि युगपद्धर्माधिकरणं प्राप्तौ भाषावादिनौ। तद्यथा - कश्चित्प्रतिग्रहेण क्षेत्रं लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य कार्यवशात्सकुटुम्बो देशान्तरं गतः। अन्यो पि तदेव क्षेत्रं प्रतिग्रहेण लब्ध्वा कंचित्कालमुपभुज्य देशान्तरं गतः। ततो द्वावपि युगपदागत्य 'मदीयमिदं क्षेत्रं मदीयमिदं क्षेत्रम्' इति परस्पर विवदमानौ धर्माधिकरणं प्राप्तौ तत्र कस्य क्रियेत्याकाङ्क्षित आह -

साक्षिषूभयतः सत्सु साक्षिणः पूर्ववादिनः।

पूर्वपक्षे धरीभूते भवन्त्युत्तरवादिनः।। १७।।

अन्वय - उभयतः साक्षिषु (पूर्व) पूर्ववादिनः साक्षिणः (भवन्ति) अधरीभूते पूर्वपक्षे उत्तरवादिनः (साक्षिणः) भवन्ति।

अनुवाद - यदि दोनों पक्षों के साक्षी उपस्थित हों तो पूर्ववादी के साक्षियों से प्रश्न करना चाहिए। जब उसका पक्ष नीचा जो जाए तो उत्तरवादी के साक्षियों को पूछना चाहिए।। १७।।

मिताक्षरा - उभयतः उभयोरपि वादिनोः साक्षिषु संभवस्तु साक्षिणः पूर्ववादिनः 'पूर्वस्मिन्काले मया प्रतिग्रहीतमुपभुक्तं च' इति यो वदत्यसौ पूर्ववादी, न पुनर्यः पूर्व निवेदयति तस्य साक्षिणः प्रष्टव्याः। यदा त्वन्य एवं वदति 'सत्यमनेन पूर्व प्रतिग हीतमुपभुक्तं च किंतु राज्ञेदमेव क्षेत्रमस्मादेव क्रयेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति, 'अनेन वा प्रतिग्रहेण लब्ध्वा मह्यं दत्तम्' इति तत्र पूर्वपक्षा साध्यतया धरी-भूतस्तस्मिन्पूर्वपक्षे धरीभूते उत्तरकालं प्रतिग हीतमुपभुक्तं चेति वादिनः साक्षिणः प्रष्टव्या भवन्ति।। इदमेव व्याख्यानं युक्ततरम्। मिथ्योत्तरे पूर्ववादिनः साक्षिणो भवन्तीति व्याख्यानमयुक्तम्। अस्यार्थस्य 'ततो र्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्' (व्य० ७) इत्यनेनेवोक्तत्वात्पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। पूर्वव्याख्यानमेव स्पष्टीक तं नारदेन - 'मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि। प्राडन्यायविधिसिद्धौ तु जयपत्रं क्रिया भवेत्।।- इत्युक्त्वा - 'द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु। पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः।।' इति वदता। एतस्य च पूर्वव्यवहारविलक्षणत्वाद्भेदेनोपन्यासः।।१७।।

सपणश्चेद्विवादः स्यात्तत्र हीनं तु दापयेत्।

दण्डं च स्वपणं चैव धनिने धनमेव च।। १८।।

प्रत्यर्थीत्येतावदिह गम्येत- 'एकदेशविभावितो न पेण सर्वं दाप्यः' इति वचनात्।। यत्तु कात्यायनेनोक्तम् - 'अनेकार्थभियोगे पि यावत्संसाधयेद्धनी। साक्षिभिस्तावदेवासौ लभते साधितं धनम्।।' इति, तत्पुत्रादिदेयपित्राद्य णविषयम्। तत्र हि बहूनर्थानभियुक्तः पुत्रादिर्न जानामीति प्रतिवदन्निहनववादी न भवतीत्येकदेशविभावितो पि न क्वचिदसत्यवादीति 'निहनुते लिखितं नैकम्' (व्य० १२) इति शास्त्रं तत्र न प्रवर्तते। निहनवाभावादपेक्षिततर्काभावाच्च। - 'अनेकार्थाभियोगे पि' इति कात्यायनवचनं तु सामान्यविषयं, विशेषशास्त्रस्य विषयं निहनवोत्तरं परिहृत्या ज्ञानोत्तरे प्रवर्तते।। ननु 'ऋणादिषु विवादिषु स्थिरप्रायेषु निश्चितम्। ऊने वा प्याधिके वार्थे प्रोक्ते साध्यं न सिद्ध्यति।।' इति वदता कात्यायनेनानेकार्थाभियोग साक्षिभिरेकदेशे भाविते धिके वा भाविते साध्यं सर्वमेव न सिद्ध्यतीत्युक्तम्। तथासत्येकदेश भाविते अभावितैकदेशसिद्धिः कुतस्त्या उच्यते, लिखितं सर्वार्थसाधनतयोपन्यस्तैः साक्षिभिरेकदेशाभिधाने धिकाभिधाने वा क त्स्नमेव साध्यं न सिद्ध्यतीति तस्यार्थः। तत्रापि निश्चितं न सिद्ध्यतीति वचनात्पूर्वकत्संशय एवेति प्रमाणान्तरस्यावसरो स्त्येव, 'छलं निरस्य' इति नियमात्। साहसादौ तु सकलासाध्यसाधनतयोद्दिष्टैः साक्षिभिरेकदेशे पि साधिते क त्स्नसाध्यसिद्धिर्भवत्येव, तावतैव साहसादेः सिद्धत्वात् कात्यायनवचनाच्च - 'साध्यार्थांशे पि गदिते साक्षिभिः सकलं भवेत्। स्त्रीसंगे साहसे चौर्ये यत्साध्यं परिकीर्तितम्।।' इति।।२०।।

ननु 'निहनुते लिखितं नैकम्' (व्य० २०) इतीयं स्म तिस्तथा 'अनेकार्थाभियोगे पि' इतीयमपि स्म तिरेव तत्रानयोः स्म त्योः परस्परविरोधे सतीतरेतरबाधनाद्प्रामाण्यं कस्मान्न भवति, विषयव्यवस्था किमित्याश्रीयत इत्यत आह-

स्म त्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः।

अन्वय - स्म त्योः विरोधे तु व्यवहारतः न्यायः बलवान्।

अनुवाद - दो स्म तियों के परस्पर विरोध होने पर उनकी व्यवस्था के विषय में व द्ध व्यवहार ही बलवान् है।

मिताक्षरा - यत्र स्म त्योः परस्परतो विरोधस्तत्र विरोधपरिहाराय विषयव्यवस्थापनादावुत्सर्गापवाददिलक्षणो न्यायो बलवान् समर्थः। स च न्यायः कुतः प्रत्येतव्य इत्यत आह - व्यवहारत इति। व्यवहाराद् द्धव्यवहारादन्वयव्यतिरेकलक्षणादवगम्यते। अतश्च प्रक तोदाहरणे पि विषयव्यवस्थैव युक्ता। एवमन्यत्रापि विषयव्यवस्थाविकल्पादि यथासंभवं योज्यम्।।

एवं सर्वत्र च प्रसङ्गे पवादमाह -

अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः।। २१।।

अन्वय - अर्थशास्त्रात् तु धर्मशास्त्रं बलवत् इति स्थितिः।।

अनुवाद - नीतिशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान् है, ऐसी शास्त्रमर्यादा है।। २१।।

मिताक्षरा - 'धर्मशास्त्रानुसरोण' इत्यनेनैवौशनसाद्यर्थशास्त्रस्य निरस्तत्वात् धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव राजनीतिलक्षणमर्थशास्त्रमिह विवक्षितम्। अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रस्म त्योर्विरोधे अर्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रं बलवदिति स्थितिर्मर्यादा। यद्यपि समानकर्त कतया अर्थशास्त्रधर्मशास्त्रयोः स्वपगतो विशेषो नास्ति तथापि प्रमेयस्य धर्मस्य प्राधान्यादर्थस्य चाप्राधान्याद्धर्मशास्त्रं बलवदित्यभिप्रायः। धर्मस्य च प्राधान्यं शास्त्रादौ दर्शितम्। तस्माद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोर्विरोधे र्थशास्त्रस्य बाध एव न विषयव्यवस्था, नापि विकल्पः। किमत्रोदाहरणम्? न तावत् - 'गुरुं वा बालव द्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा मन्युस्त मन्युम च्छति।। (मनुः ८।३ पु०-५१) तथा - 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे। जिघांसन्तं जिघांसीयान् तेन ब्रह्महा भवेत्।' इत्याद्यर्थशास्त्रम्, 'इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे निष्क तिर्न विधीयते।।' (मनुः ११।८६) इत्यादि धर्मशास्त्रं, तयोर्विरोधे धर्मशास्त्रं बलवदिति युक्तम्।। अनयोरेकविषयत्वासंभवेन विरोधाभावान्न बलाबलचिन्ता वतरति। तथा हि- 'शास्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते' (मनुः ८।३४८) इत्युपक्रम्य - 'आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे। स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ

कात्यायनेन - 'यद्येकेदेशव्याप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी। सा ग्राह्या नतु पूर्णापि दैविकी वदतां न णाम्।।' इति। यत् - 'गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्' इति, तदपि मानुषासंभवक तनियमार्थम्। यदपि नारदेनाक्तम् - 'अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे। न्यासस्यापहनवे चैव दिव्या संभवति क्रिया।' इति, तदपि मानुषासंभव एव। तस्मान्मानुषाभाव एव दिव्येन निर्णय इत्यौत्सर्गिकम्। अस्य चापवादो द श्यते - 'प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके। बलोद्भूतेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव च।।' इति। तथा लेख्यादीनामपि क्वचिन्नियमो द श्यते।

यथा- 'पूगश्रेणीगणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता। तस्यास्तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः।।' तथा - 'द्वारमार्गक्रियाभोगजलवाहदिषु क्रिया। भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यान्न दिव्यं न च साक्षिणः।।' तथा - 'दत्तादत्ते थ भ त्यानां स्वामिनां निर्णये सति। विक्रयादानसंबन्धे क्रीत्वा धनमनिच्छति। द्यूते समाह्वये चैव विवादे समुपस्थिते। साक्षिणः साधनं प्रोक्तं न दिव्यं न च लेख्यकम्।।' इति ॥२२॥

उभयत्र प्रमाणसद्भावे प्रमाणगतबलाबलविवेके चासति पूर्वापरयोः कार्ययोः कस्य बलीयस्त्वमित्यत आह -

सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया।

अन्वय - सर्वेषु अर्थविवादेषु उत्तरा क्रिया बलवती।

अनुवाद - अर्थसम्बन्धी सभी विवादों में उत्तर क्रिया बलवान् होती है।

मिताक्षरा - ऋणादिषु सर्वेष्वर्थविवादेषु उत्तरा क्रिया - क्रियत इति क्रिया कार्य बलवती। उत्तरकार्ये साधिते तद्वादी विजयी भवति, पूर्वकार्ये सिद्धे पि तद्वादी पराजीयते। तद्यथा - कश्चिद्ग्रहणेन धारणं साधयति कश्चित्प्रतिदानेनाधारणम्, तत्र ग्रहणप्रतिदानयोः प्रमाणसिद्धयोः प्रतिदानं बलवदिति प्रतिदानवादी जयी भवति। तथा पूर्व द्विकं शतं ग हीत्वा कालान्तरे त्रिकं शतमङ्गीक तवान्, तत्रोभयत्र प्रमाणसद्भावे पि त्रिकशतग्रहणं बलवत्। पश्चाद्भावित्वात्पूर्वाबाधेनानुत्पत्तेः। उक्तं च - 'पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सेत्स्यति' इति॥

अस्यापवादमाह-

आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा॥ २३॥

अन्वय - आधौ, प्रतिग्रहे, क्रीते तु पूर्वा बलवत्तरा॥

अनुवाद - बन्धक प्रतिग्रह और क्रयण में पूर्वक्रिया बलवती होती है॥ २३॥

मिताक्षरा - आध्यादिषु त्रिषु पूर्वमेव कार्यं बलवत्। तद्यथा - एकमेव क्षेत्रमन्यस्या धिं क त्वा किमपि ग हीत्वा पुनरन्यस्याप्याधय किमपि ग ह्णाति, तत्र पूर्वस्यैव तद्भवति, नोत्तरस्य। एवं प्रतिग्रहे क्रये च॥ नन्वाहितस्य तदानीमस्वत्वात्पुनराधानमेव न संभवति। एवं दत्तस्य क्रीतस्य च दानक्रयौ नोपपद्येते तस्मादिदं वचनमनर्थकम्। उच्यते - अस्वत्वे पि यदि मोहात्कश्चिल्लोभाद्वा पुनराधानादिकं करोति तत्र पूर्व बलवदिति न्यायमूलमेवेदं वचनमित्यचोद्यम्॥२३॥

भुक्ते कैश्चिद्विशेषणैर्युक्तायाः प्रामाण्यं दर्शयिष्यन् कस्याश्चिद्भुक्तेः कार्यान्तरमाह-

पश्यतो ब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी।

परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी॥ २४॥

अन्वय - पश्यतः अब्रुवत परेण भुज्यमानाया भूमेः हानिः विंशति वार्षिकी, धनस्य दशवार्षिकी।

अनुवाद - यदि कोई दूसरा व्यक्ति स्वामी के रहते हुए उसकी भूमि या धन का उपयोग करता है, तो बीस वर्ष बाद भूमि की और दस वर्ष बाद धन की हानि हो जाती है अर्थात् स्वामी का स्वत्व नहीं रह जाता है॥ २४॥

मिताक्षरा - परेणासंबद्धेन भुज्यमानां भुवं धनं वा पश्यतः अब्रुवतः 'मदीयेयं भूः न त्वया भोक्तव्या' इत्यप्रतिषेधयतः तस्या भूमेर्विंशतिवार्षिकी अप्रतिरवं विंशतिवर्षोपभोगनिमित्ता हानिर्भवति। धनस्य तु

राजदण्डः पुनरस्त्येव विंशतेरुर्ध्वमपि, अनागमोपभोगादपवादाभावाच्च । तस्मात्स्वाम्युपेक्षालक्षण-
स्वापराधादस्माच्च वचनाद्विंशतेरुर्ध्वं फलं नष्टं न लभत इति स्थितम् । एतेन 'धनस्य दशवार्षिकी'
इत्येतेदपि व्याख्यातम् ॥२४॥

अस्यापवादमाह—

आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनैर्विना ।

तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि ॥ २५ ॥

अन्वय - आधिसीमोपनिक्षेप जडबालधनैः तथा उपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि विना (भवति) ।

अनुवाद - उक्त हसि आधि, सीमा, उपनिक्षेप, जड के धन, बालधन, उपनिधि, राजधन, स्त्रीधन और श्रोत्रिय का धन के बिना होती है अर्थात् ये सब दस या बीस वर्ष भोगे जाने पर भी स्वामी के अधिकार से दूर नहीं रहते हैं ॥ २५ ॥

मिताक्षरा - आधिश्च सीमा च उपनिक्षेपश्च आधिसीमोपनिक्षेपाः ॥ जडश्च बालश्च जडबालौ, तयोर्धनं जडबालधने, आधिसीमोपनिक्षेपाश्च जडबालधने च आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनानि तैर्विना । उपनिक्षेपो नाम रूपकसंख्याप्रदर्शनेन रक्षणार्थं परस्य हस्ते निहितं द्रव्यम् । यथाह नारदः - 'स्वं द्रव्यं यत्र विस्त्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः । निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपर्दबुधैः ॥' इति । उपनिधानमुपनिधिः । आध्यादिषु पश्यतो ब्रुवतो पि भूमेर्विंशतेरुर्ध्वं धनस्य च दशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमप्युपचयहानिर्न भवति, पुरुषापराधस्य तथाविधस्याभावात्, उपेक्षाकारणस्य तत्र तत्र संभवात् । तथा हि - आधेराधित्वोपाधिक एव भोग इत्युपेक्षायामपि न पुरुषापराधः । सीमूश्चिरक ततुषाङ्.गारदिचिन्हैः सुसाध्यत्वादुपेक्षा संभवति, उपनिक्षेपोपनिध्योर्भुक्तेः प्रतिषेद्धत्वात्, प्रतिषेधातिक्रमोपभोगे च सोदयफललाभादुपेक्षोपपत्तिः । जडबालयोर्जडत्वाद्बालत्वादुपेक्षा युक्तैव, राज्ञो बहुकार्यव्याकुलत्वात्, स्त्रीणामज्ञानादप्रागल्भ्याच्च । श्रोत्रियस्याध्ययनाध्यापनतदर्थविचारानुष्ठानव्याकुलत्वादुपेक्षा युक्तैव । तस्मादाध्यादिषु सर्वत्रोपेक्षाकारणसंभवात्समक्षभोगे निराक्रोश च न कदाचिदपि फलहानिः ॥२५॥

आध्यादिषु दण्डविशेषप्रतिपादनार्थमाह -

आध्यादीनां विहर्तारं धनिने दापयेद्धनम् ।

दण्डं च तत्समं राज्ञे शक्त्यपेक्षमथापि वा ॥ २६ ॥

अन्वय - आध्यादीनां विहर्तारं धनिने धनं दापयेत् । तत्समं च अथवा शक्त्यपेक्षं दण्डं राज्ञे अपि ।

अनुवाद - जो कोई आधि, सीमा आदि का हरण करे, तो उससे राजा धनी के धन को दिलाये और उतना ही धन अथवा उसकी शक्ति के अनुसार उससे दण्ड भी ले ॥ २६ ॥

मिताक्षरा - य आध्यादीनां श्रोत्रियद्रव्यपर्यन्तानां चिरकालोपभोगबलेनापहर्ता तं विवादास्पदीभूतं धनं स्वामिने दापयेदित्यनुवादः । दण्डं च तत्समं विवादास्पदीभूतद्रव्यसमं राज्ञे दापयेदिति विधिः । यद्यपि ग हक्षेत्रादिषु तस्समो दण्डो न संभवति तथापि - 'मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा' (व्य० १५५) इत्यादिर्वक्ष्यमाणो दण्डो द्रष्टव्यः । अथ तत्समदण्डेनापहर्तुर्दमनं न भवति बहुधनत्वेन, तदा शक्त्यपेक्षं धनं दापयेत् । यावता तस्य दर्पोपशमो भवति तावद्दापयेत् । 'दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत्' (गौ० ११।२८) इति दण्डग्रहणस्य दमनार्थत्वात् । यस्य तु तस्सममपि द्रव्यं नास्ति, सोऽपि यावता पीड्यते तावद्दाप्यः । यस्य पुनः किमपि धनं नास्ति असौ धिग्दण्डादिना दमनीयः । तथा च मनुः (८।१२६) - 'धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् । त तीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥' इति । वधदण्डोऽपि शारीरो ब्राह्मणव्यतिरिक्तानां दशधा दर्शितः । तथाह मनुः (८।१२५) - 'दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवो ब्रवीत् । त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च प चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥' इति । एतेषां यन्निमित्तापराधस्तत्रैवोपस्थादौ निग्रहः कार्य इति द्रष्टव्यम् । कर्म वा कारयितव्यो बन्धनागारं वा प्रवेशयितव्यः । यथोक्तं कात्यायनेन - 'धनदानासहं बुद्ध्वा स्वाधीनं कर्म कारयेत् । अशक्तौ बन्धनागारं

योज्यम्। तत्रापि ' क्रमात्त्रिपुरुषागत' मित्यस्मार्तकालोपभोगलक्षणम्। त्रिपुरुषविवक्षायामेकवर्षाभ्यन्तरे पि पुरुषत्रयातिक्रमसंभवात्, द्वितीये वर्षे निरागमस्य भागस्य प्रामाण्यप्रसंगः। तथा सति 'स्मार्तकाले क्रिया भूमेः सागमा भुक्तिरिष्यते' इति स्मृतिविरोधः, 'अन्यायेनापि यदुक्तम्' इत्येतच्चान्याये नापि भुक्तमपहर्तुं न शक्यं, किं पुनरन्यायानिश्चये इति व्याख्येयम्, 'अपि' शब्दश्रवणात्। यच्चोक्तं हारीतेन - 'यद्विना गममत्यन्तं भुक्तं पूर्वेस्त्रिभिर्भवेत्। न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम्।।' इति, तत्राप्यत्यन्तमागमं विनेति। अत्यन्तमुपलभ्यमानमानमागमं विनेति व्याख्येयं, न पुनरागमस्वरूपं विनेति। आगमसरूपाभावे भोगशतेनापि न स्वत्वं भवतीत्युक्तम्। 'क्रमात्त्रिपुरुषागतमि' त्येतदुक्तार्थम्। ननु स्मरणयोग्ये काले भोगस्यागमसापेक्षस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम्। तथा हि - यद्यागमः प्रमाणान्तरेणावगतस्तदा तेनैव स्वत्वावगमात्र भोगस्य खत्वे आगमे वा प्रामाण्यम्। अथ प्रमाणान्तरेणागमो नावगतः कथं तद्विशिष्टो भोगः प्रमाणम्? उच्यते, - प्रमाणान्तरेणावगतागमसहित एव निरन्तरो भोगः कालान्तरे स्वत्वं गमयति। अवगतोप्यागमो भोगरहितो न कालान्तरे स्वत्वं गमयितुमलम्। मध्ये दानविक्रयादिना स्वत्वापगमसंभवादिति सर्वमनवद्यम्।।२६।।

आगमसापेक्षो भोगः प्रमाणमित्युक्तम्, आगमस्तर्हि भोगनिरपेक्ष एव प्रमाणमित्यत आह -

आगमो पि बलं नैव भुक्तिः स्तोका पि यत्र नो।। २७।।

अन्वय - यत्र स्तोका पि भुक्तिः नो (तत्र) आगमो पि बलं नैव (भवति)।

अनुवाद - परन्तु ऐसा आगम भी बलवान् नहीं होता है, जिसमें थोड़ा भी अधिकार न हो।। २७।।

मिताक्षरा - यस्मिन्नागमे स्वल्पापि भुक्तिर्भोगो नास्ति तस्मिन्नागमे बलं संपूर्णं नैवास्ति। अयमभिसंधिः - स्वस्वत्वनिवृत्तिः परस्वत्वापादनं च दानम्, परस्वत्वापादनं च परो यदि स्वीकरोति तदा संपद्यते, नान्यथा। स्वीकारश्च त्रिविधः - मानसः, वाचिकः, कायिकश्चेति। तत्र मानसो ममेदमिति संकल्परूपः। वाचिकस्तु ममेदमित्याद्यभिव्याहारो ल्लेखी सविकल्पकः प्रत्ययः। कायिकः पुनरुपादानाभिमर्शनादिरूपो नेकविधः। तत्र च नियमः स्मर्यते - 'दद्यात्कृष्णाजिनं पष्ठे गां पुच्छे करिणं करे। केसरेषु तथैवाश्वं दासीं शिरसि दापयेत्।।' आश्वलायनो प्याह - 'अनुमन्त्रयेत् प्राण्यभिर्म श्रेष्ठप्राणि कन्यां च' इति। तत्र हिरण्यवस्त्रादावुदकदानानन्तरमेवोपादानादिसंभवात् त्रिविधो पि स्वीकारः संपद्यते। क्षेत्रादौ पुनः फलोपभोगव्यतिरेकेण कायिकस्वीकारासंभवात्स्वल्पेनाप्यपभोगेने भवितव्यम्, अन्यथा दानक्रयादेः संपूर्णता न भवतीति फलोपभोगलक्षणकायिकस्वीकारविकल आगमो दुर्बलो भवति तत्सहितादागमात्। एतश्च द्वयोः पूर्वापरकालपरिज्ञाने। पूर्वापरकालपरिज्ञाने तु विगुणो पि पूर्वकालागम इव बलीयानिति। अथवा- 'लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधम्' इत्युक्तं एतेषां समवाये कुत्र यस्य वा प्राबल्यमित्यत्रेदमुपतिष्ठते - 'आगमो भ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात्। आगमे पि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो।।' इति। अयमर्थः - आद्ये पुरुषे साक्षिभिर्भावित आगमो भोगादप्यधिको बलवान्। पूर्वक्रमागताताद्रोगाद्विना। स पुनः पूर्वक्रमागतो भोगश्चतुर्थे पुरुषे लिखितेन भावितादागमाद्बलवान्। मध्यमे तु भोगरहितादागमात्स्तोकभोगसहितो प्यागमो बलवानिति। एतदेव नारदेन स्पष्टीकृतम् - 'आदौ तु कारणं दानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमा। कारणं भुक्तिरेवैका संतता या चिरन्तनी।।' इति।।२७।।

'पश्यतो ब्रुवत' (व्य० २४) इत्यत्र विंशतिवर्षोपभोगादूर्ध्वं भूमेर्धनस्यापि दशवर्षोपभोगादूर्ध्वं फलानुसरणं न भवतीत्युक्तम्, तत्र फलानुसरणवद्दण्डानुसरणमपि न भविष्यतीत्याशङ्क्य पुरुषव्यवस्थया प्रामाण्यव्यवस्थया च दण्डव्यवस्थां दर्शयितुमाह -

आगमस्तु कृतो येन सो भियुक्तस्तमुद्धरेत्।

न तत्सुतस्तत्सुतो वा भुक्तिस्तत्र गरीयसी।। २८।।

अन्वय - येन तु आगमः कृतः, स अभियुक्तः चेत् तं (आगमं) उद्धरेत्। तत्सुतः तत्सुतो वा न, तत्र भुक्तिः गरीयसी।

श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिक ता न पाः। प्रतिष्ठा व्यवहारणां गुर्वेषामुत्तरोत्तरम्' इति। तत्र च न पगमने सोत्तरसभ्येन राज्ञा पूर्वेः सभ्यैः सपणव्यवहारे निर्णीयमाने यद्यसौ कुद ष्टिवादी पराजितस्तदा सौ दण्ड्यः। अथासौ जयति तदा धिक ताः सभ्या दण्ड्याः॥३०॥

दुर्बलैर्व्यवहारदर्शिभिर्दष्टो व्यवहारः परावर्त, प्रबलद ष्टस्तु न निवर्तत इत्युक्तम्, इदानीं प्रबलद ष्टो पि व्यवहारः कश्चिन्निवर्तत इत्याह -

बलोपाधिविनिर्वृत्तान् व्यवहारान्निवर्तयेत्।

स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिः शत्रुकृतांस्तथा॥ ३१॥

अन्वय - बलोपाधिविनिर्वृत्तान्, स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिः तथा शत्रुकृतान् व्यवहारान् (न पः) निवर्तयेत्।

अनुवाद - बलात् व भय से निर्णीत व्यवहार और जो स्त्रियों के साथ निर्णीत व्यवहार हो, जो रात में किये गये हों और जो घर के भीतर अथवा ग्राम के बाहर किये गये हों और शत्रुओं के साथ जो व्यवहार किये गये हों, ऐसे व्यवहारों को राजा फिर से देखे॥ ३१॥

मिताक्षरा - बलेन बलात्कारेण उपाधिना भयादिना विनिर्वृत्तान्निष्पन्नान्व्यवहारान्निवर्तयेत्। तथा स्त्रीभिः, नक्तं रात्रावस्त्रीभिरपि, अन्तरागारे ग हाभ्यन्तरे, बहिर्ग्रामादिभ्यः, शत्रुभिश्च क तान् व्यवहारान् 'निवर्तयेत्' इति संबन्धः॥३१॥

असिद्धव्यवहारिण आह-

मत्तोन्मन्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः।

असम्बद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्धयति॥ ३२॥

अन्वय - मत्तोन्मन्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः असम्बद्धकृतः च व्यवहारः सिद्धयति एव न।

अनुवाद - मत्त, उन्मत्त, आर्त, व्यसनी, बालक और भयाक्रान्त आदि से असम्बद्ध के द्वारा किया गया व्यवहार सिद्ध नहीं माना जाता है॥ ३२॥

मिताक्षरा - अपि च, मत्तो मदनीयदव्येण, उन्मत्ता उन्मादेन प चविधेन वातपित्तश्लेष्मसंनिपातग्रहसंभवनोपस ष्टः, आर्तो व्याध्यादिना, व्यसनमिष्टवियोगा निष्टप्राप्तिजनितं दुःखं, तद्वान्व्यसनी, बालो व्यवहारायोग्यः, भीतो रातिभ्यः, 'आदि' ग्रहणात्पुरराष्ट्रादिविरुद्धः। - 'पुरराष्ट्रविरुद्धश्च यश्च राज्ञा विसर्जितः। अनादेयो भवेद्वादो धर्मविद्भिर्भूदाहृतः॥' इति मनुस्मरणात्। एतैर्योजितः क तो व्यवहारो न सिद्धयति। अनियुक्तासंबद्धक तो पि व्यवहारो न सिद्धयतीति संबन्धः। यत्तु स्मरणम् - 'गुरोः शिष्ये पितुः पुत्रे दम्पत्योः स्वामिभ त्ययोः। विरोधे तु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिद्धयति॥' इति, तदपि गुरुशिष्यादीनामात्यन्तिकव्यवहारप्रतिषेधपरं न भवति तेषामपि कथंचिदव्यवहारस्येष्टत्वात्। तथा हि - 'शिष्यादिशिष्टिरवधेन शक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्यां, अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः' (२।४२।४) इति गौतमस्मरणात्। 'नोत्तमाङ्गे कथंचन' (८।३००) इति मनुस्मरणाच्च। यदि गुरुः कोपावेशवशान्महता दण्डेनोत्तमाङ्गे ताडयति, तदा स्म तिव्यपेतेने मार्गेणाधर्षितः शिष्यो यदि राज्ञे निवेदयति, तदा भवत्येव व्यवहारपदम्॥ तथा - 'भूर्या पितामहोपात्ता' (व्य० १२१) इत्यादिवचनात्पितामहोपात्ते भूम्यादौ पितापुत्रयोः स्वाम्ये समाने, यदि पिता विक्रयादिना पितामहोपात्तं भूम्यादिं नाशयति तदा पुत्रो यदि धर्माधिकरणं प्रवेशयति तदा पितापुत्रयोरपि भवत्येव व्यवहारः।। यथा - 'दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके। ग हीतं स्त्रीधनं भर्ता नाकामो दातुमर्हति॥' इतिस्मरणात्, दुर्भिक्षादिव्यतिरेकेण यदि स्त्रीधनं भर्ता व्ययीक त्य विद्यमानधनो पि याच्यमानो न ददाति तदा दम्पत्योरपीष्यत एव व्यवहारः। तथा भक्तदासस्य स्वामिना सह व्यवहारं वक्ष्यति। गर्भदास्यापि, गर्भदासदीनधिक त्य - 'यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोचयेत्प्राणसंशयात्। दासत्वात्स विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च॥' इति नारदोक्तत्वात्, तदमोचने पुत्रभागादाने च स्वामिना सह व्यवहारः केन वार्यते? तस्माद ष्टाद ष्टयोः श्रेयस्करो न भवति गुर्वादिभिर्व्यवहार इति प्रथमं शिष्यादयो निवारणीयाः राज्ञा ससभ्येनेति 'गुरोः शिष्ये' इत्यादिश्लोकस्य तात्पर्यार्थः। अत्यन्तनिर्बन्धे तु शिष्यादीनामप्युक्तरीत्या

अनुवाद - यदि कोई दूसरा व्यक्ति निधि को प्राप्त करे तो राजा उसे छठा अंश देकर शेष अपना रख ले। यदि निधि प्राप्त कर भी कोई राजा को न बताये और राजा को उसका पता लग जाय तो राजा उससे वह निधि लेकर उसे दण्ड देगा।। ३५।।

अन्वय - राजा निधि लब्धा अर्धं द्विजेभ्यो दद्यात्। पुनः विद्वान् द्विजः अशेषं आदद्यात् यतः स सर्वस्य प्रभुः।।

अनुवाद - यदि राजा किसी भूमिगत निधि को प्राप्त करे तो उसका आधा ब्राह्मणों को दान कर दे। यदि ब्राह्मण विद्वान् किसी निधि को प्राप्त करे तो वह समस्त निधि रख सकता है, क्योंकि वह सबका प्रभु है।। ३४।।

मिताक्षरा - उक्तलक्षणं निधिं राजा लब्धा अर्धं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा शेषं कोशे निवेशयेत्। ब्राह्मणस्तु विद्वान् श्रुताध्ययनसंपन्नः सदाचारो यदि निधि लभेत तदा सर्वमेव गृह्णीयात्, यस्मात्सौ सर्वस्य जगतः प्रभुः। इतरेण तु राजविद्वद्ब्राह्मणव्यतिरिक्तेन अविद्वद्ब्राह्मणक्षत्रियादिना निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमधिगन्त्रे दत्त्वा शेषं निधि स्वयमाहरेत्। यथाह वसिष्ठः - 'अप्रज्ञायमानं वित्तं यो धिगच्छेद्राजा तद्धरेत्, अधिगन्त्रे षष्ठमंशं, प्रदद्यात्' इति। गौतमोऽपि (१०।३३।५) - 'निध्यधिगमो राजधनं भवति, न ब्राह्मणस्वाभिरुपस्य, अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठमंशं लभेतेत्येके' इति। अनिवेदित इति कर्तरि निष्ठा। अनिवेदितश्चासौ विज्ञातश्च राज्ञेऽप्यनिवेदितविज्ञातः, यः कश्चिन्निधि लब्धा राज्ञे न निवेदितवान् विज्ञातश्च राज्ञा स सर्वं निधिं दाप्यो दण्डं च शक्त्यपेक्षया। अथ निधेरपि स्वाम्या रूपकसंख्यादिभिः स्वत्वं भावयति तदा तस्मै राजा निधि दत्त्वा षष्ठं द्वादशं वां शं स्वयमाहरेत्। यथाह मनुः (८।३५) - 'ममायमिति यो ब्रूयान्निधि सत्येन मानवः। तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा।।' इति। अंशविकल्पस्तु वर्णकालाद्यपेक्षया वेदितव्यः।। ३४-३५।।

चौरह तं प्रत्याह-

देयं चौरहृतं द्रव्यं राज्ञा जानपदाय तु।

अददद्धि समाप्नोति कित्विषं यस्य तस्य तत्।। ३६।।

अन्वय - चौरहृतं द्रव्यं तु राज्ञा जानपदाय देयम्। हि अददत् यस्य तत् (द्रव्यं) तस्य कित्विषं समाप्नोति।

अनुवाद - चोरों के द्वारा यदि किसी को कोई चीज चोरी गई हो, तो राजा का कर्तव्य है कि वह चोरों से लेकर उसे उक्त वस्तु के स्वामी को दे दे। यदि राजा उक्त वस्तु को उसे न देकर अपने पास ही रख ले तो राजा चोर के पाप को प्राप्त करता है।। ३६।।

मिताक्षरा - चौरैर्हृतं द्रव्यं चौरैभ्यो विजित्य जानपदाय स्वदेशनिवासिने यस्य तत् द्रव्यं तस्मै राज्ञा दातव्यम्। हि यस्मात् अददत् अप्रयच्छन् यस्य तदपहृतं द्रव्यं तस्य कित्विषमाप्नोति। तस्य चौरस्य च। यथाह मनुः (८।४०) - 'दातव्यं सर्ववर्णैभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम्। राजा तदुपयु जानश्चौरस्यापूति कित्विषम्।।' इति। यदि चौरहस्तादादाय स्वयमुपभूङ्क्ते तदा चौरस्य कित्विषमाप्नोति। अथ चौरहृतमुपेक्षते तदा जानपदस्य कित्विषम्। अथ चौरहृताहरणाय यतमानोऽपि न शक्यादाहर्तुं तदा तावद्धनं स्वकोशाद्दद्यात्। यथाह गौतमः - (१०।४६) 'चौरहृतमवजित्य यथास्थानं गमयेत्कोशाद्वा दद्यात्' इति। क षण्द्वैपायनोऽपि - 'प्रत्याहर्तुं न शक्तस्तु धनं चौरैर्हृतं यदि। स्वकोशात्तद्धि देयं स्यादशक्तेन महीक्षिता।।' इति।। ३६।।

इत्यसाधारणव्यवहारमात काप्रकरणम्।

----- ० -----

अनुवाद - अथवा सभी लोगों ने जितना ब्याज देना स्वीकार किया हो, उतना अवश्य दें। यह सामान्य नियम प्रत्येक जाति के लिए है।। ३८।।

मिताक्षरा - सर्वे वा ब्राह्मणादयो धमर्णाः अबन्धके सबन्धके वा स्वकृतां स्वाभ्युपगतां व द्विं सर्वासु जातिषु दद्युः। क्वचिदकृतापि व द्विर्भवति; यथाह नारदः (१।१०८)-‘न व द्विः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकरकरिता क्वचित्। अनकारिमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धाद्विवर्धते।।’ इति। यस्तु याचितकं ग हीत्वा, देशान्तरं गतस्तं प्रति कात्यायनेनोक्तम्-‘यो याचितकमादाय तमदत्त्वा दिशं व्रजेत्। ऊर्ध्वं संवत्सरात्तस्य तद्धनं व द्विमाप्नुयात्।।’ इति। यश्च याचितकमादाय याचितो प्यदत्त्वा देशान्तरं व्रजति तं प्रति तेनैवोक्तम्-‘कृतोद्धारमदत्त्वा यो याचितस्तु दिशं व्रजेत्। ऊर्ध्वं मासत्रयात्तस्य तद्धनं व द्विमाप्नुयात्।।’ इति। यः पुनः स्वदेशे स्थित एव याचितो याचितकं न ददाति तं याचितकालादाभ्याकरितां व द्विं दापयेद्राजा। यथाह-‘स्वदेशे पि स्थितो यस्तु न दद्याद्याचितः क्वचित्। तं ततो कारितां व द्विमनिच्छन्तं च दापयेत्।।’ इति। अनाकारितव द्वेपरवादो नारदेनोक्तः-‘पण्यमुल्यं भ तिर्न्यासो दण्डो यश्च प्रकल्पितः। व थादानाक्षिकपणा वर्धन्ते नाविवक्षिताः।।’ इति। अविवक्षिता अनाकारिता इति।। ३८।।

अधुना द्रव्यविशेषण व द्विविशेषमाह-

सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणाम्,

अन्वय - पशुस्त्रीणां तु सन्ततिः,

अनुवाद - मादा पशु का ब्याज उसकी सन्तति ही है।

मिताक्षरा - पशुस्त्रीणां सन्ततिरेव व द्विः। पशूनां स्त्रीणां पोषणासमर्थस्य तत्पुष्टिसन्ततिकामस्य प्रयोगः संभवति। ग्रहणं च क्षीरपरिचर्यार्थिनः।।

अधुना प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य व द्विग्रहणमन्तरेणापि चिरकालावस्थितस्य कस्य द्रव्यस्य कियती परा व द्विरित्यपेक्षित आह-

रसस्याष्टगुणा परा।

वस्त्राधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परा।। ३९।।

अन्वय - रसस्य अष्टगुणा परा, वस्त्रधान्यहिरण्यानां (क्रमशः) चतुस्त्रिद्विगुणा परा।।

रस-तैल घ तादि का बहुत समय तक का ब्याज आठ गुना से अधिक नहीं होता है। वस्त्र धान्य व हिरण्यादि का क्रमशः चौगुना, तिगुना व दुगुना होता है।। ३९।।

मिताक्षरा - रसस्य तैलघ तादैर्व द्विग्रहणमन्तरेण चिरकालावस्थितस्य स्वकृतया व द्व्या वर्धमानस्य अष्टगुणा व द्विः परं, नातः परं वर्धते। तथा वस्त्रधान्यहिरण्यानां यथासंख्यं चतुर्गुणा त्रिगुणा द्विगुणा च व द्विः परा। वसिष्ठेन तु रसस्य त्रैगुण्यमुक्तम् (२।४४।७) ‘द्विगुणे हिरण्यं त्रिगुणं धान्यं। धान्येनेव रसा व्याख्याताः’ पुष्पमूलफलानि च। तुलाध तमष्टगुणम् इति। मनुना तु धान्यस्य पुष्पमूलफलादीनां च प चगुणत्वमुक्तम्-‘धान्ये शदे लवे वाह्ये नातिक्रामति प चताम्’ इति। शदः क्षेत्रफलं पुष्पमूलफलादि, लवो मेषोर्णाचमरीकेशादिः, वाह्यो बलीवर्दतुरगादिः। धान्यशदलववाह्यविषया व द्विः प चगुणत्वं नातिक्रामतीति। तन्नाधमर्णयोग्यतावशेन दुर्भिक्षादिकालवशेन च व्यवस्था द्रष्टव्या। एतच्च सकृत्प्रयोगे सकृदाहरणे च वेदितव्यम्। पुरुषान्तरसंक्रमणेन प्रयोगान्तरकरणे तस्मिन्नेव वा पुरुषे अनेकशः रेकसेकाभ्यां प्रयोगान्तरकरणे सुवर्णादिकं द्वैगुण्याद्यतिक्रम्य पूर्ववद्वर्धते। सकृत्प्रयोगे पि प्रतिदिनं प्रतिमासं प्रतिसंवत्सरं वा व द्व्याहरणे धमर्णदेयस्य द्वैगुणासंभवात्पूर्वाहृतव द्व्या सह द्वैगुण्यमतिक्रम्य वर्धत् एव। यथाह मनुः (८।१५९) -‘कुसीदव द्विर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहिता। इति। सकृदाहतेत्यपि पाठो स्ति। उपचयार्थं प्रयुक्तं द्रव्यं कुसीदं, तस्य व द्विः कुसीदव द्विः, सा द्वैगुण्यं नात्येति नातिक्रामति। यदि सकृदाहिता सकृत्प्रयुक्ता। पुरुषान्तरसंक्रमणादिना प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यमत्येति। सकृदाहतेति व्याख्येयम्। तथा गौतमेनाप्युक्तम् (१२।३९) ‘चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य’ इति। ‘प्रयोगस्य’ इत्येकवचननिर्देशात्प्रयोगान्तरकरणे द्वैगुण्यातिक्रमो दर्शितः।। ३९।।

दशममंशं राजा धर्मणिकादण्डरूपेण ग हणीयादित्यर्थः। उत्तमर्णस्तु प्राप्तार्थः प चकं शतं भ तिरूपेण दाप्यः। साधितार्थस्य विंशतितमं भागमुत्तमर्णाद्राजा भ त्यर्थं ग हणीयादित्यर्थः। अप्रतिपन्नार्थसाधने तु दण्डविभागो दर्शितः-‘निहनवे भावितो दद्यात्’ (व्य०५) इत्यादिना।। ४२।।

सधनमधमर्णिकं प्रत्युक्तम्, अधुनानिर्धनमधमर्णिकं प्रत्याह-

हीनजातिं परिक्षीणम णार्थं कर्म कारयेत्।

ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्दाप्यो यथोदयम्।। ४३।।

अन्वय - (उत्तमर्णः) परिक्षीणं हीनजातिं ऋणार्थं कर्म कारयेत्। परिक्षीणः ब्राह्मणस्तु शनैः शनैः यथोदयं दाप्यः।

अनुवाद - यदि ऋणी ऋण देने में असमर्थ हो और धनी की जाति से हीन जाति वाला हो तो धनी उससे काम कराकर अपना धन वसूल कर ले। यदि ऋणी ब्राह्मण हो वह ऋण चुकाने में असमर्थ हो तो उससे फिर धीरे-धीरे यथासंभव अपना धन ले।। ४३।।

मिताक्षरा - ब्राह्मणादिजातिरुत्तमर्णो हीनजातिं क्षत्रियादिजातिं परिक्षीणं निर्धनम णार्थं ऋणनिव त्यर्थं कर्म स्वजात्यनुरूपं कारयेत् तत्कुटुम्बाविरोधेन। ब्राह्मणस्तु पुनः परिक्षीणो निर्धनः शनैःशनैः यथोदयं यथासंभवम णं दाप्यः। अत्र च ‘हीनजाति’ग्रहणं समानजातेरप्युपलक्षणम्। अतश्च समानजातिमपि परिक्षीणं यथोचितं कर्म कारयेत्। ‘ब्राह्मण’ ग्रहणं च श्रेयोजातेरुपलक्षणम्। अतश्च क्षत्रियदिरपि परिक्षीणो वैश्यादेः शनैःशनैर्दाप्यो यथोदयम्। एतदेव मनुना स्पष्टकृतम् (८।१७७)-‘कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकेनाधमर्णिकः। समो पकृष्टजातिश्च दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः।।’ इति। उत्तमर्णेन समं निव तोत्तमर्णाधर्मर्णव्यपदेशमात्मानमधमर्णः कर्मणा कुर्यादित्यर्थः।। ४३।।

मध्यस्थस्थापितं न वर्धते-

दीयमानं न ग ह्णाति प्रयुक्तं यः स्वकं धनम्।

मध्यस्थस्थापितं चेत् स्याद् वर्धते न ततः परम्।। ४४।।

अन्वय - यः प्रयुक्तं दीयमानं स्वकं धनं न ग ह्णाति। (तद्धनं) चेत् मध्यस्थस्थापितं स्यात् ततः परं न वर्धते।

अनुवाद - ऋणी के द्वारा दिया गया धन यदि धनी ग्रहण न करे फिर यदि वह धन मध्यस्थ के पास रख दिया जाये। तो उस पर फिर ब्याज नहीं लगता।।

मिताक्षरा - किंच, उपचयार्थं प्रयुक्तं धनं अधमर्णेन दीयमानमुत्तममर्णो व द्विलोभाद्यादि न ग ह्णाति तदा धमर्णेन मध्यमहस्ते स्थापितं यदि स्यात्तदा ततः स्थापनादूर्ध्वं न वर्धते। अथ स्थापितमपि याच्यमानो न ददाति ततः पूर्ववद्धर्त एव।। ४४।।

इदानीं दैयम णं यदा येन च देयं तदाह-

अविभक्तैः कुटुम्बार्थं यद णं तु कृतं भवेत्।

दद्युस्तद्विथिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि।। ४५।।

अन्वय - अविभक्तैः कुटुम्बार्थं तु यत् ऋणं कृतं भवेत्। प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनिः तद् (ऋणं) रिक्थिनः दद्युः।

अनुवाद - संयुक्त परिवार में यदि किसी ने कुटुम्ब के लिए कोई ऋण लिया हो और कदाचित् वह मर जाय या विदेश चला जाय तो उसके दायाद उस धन को चुकाये।। ४५।।

मिताक्षरा - अविभक्तैः बहुभिः कुटुम्बार्थमेकैकेन वा यद णं कृतं तद् ऋणं कुटुम्बी दद्यात्। तस्मिन्प्रेते प्रोषिते वा तद्विथिनः सर्वे दद्युः।। ४५।।

येन देयमित्यत्र प्रत्युदाहरणमाह-

अनुवाद - जो ऋण खुद स्वीकार किया हो या जो पति के साथ लिया हो और जो अपने आप लिया हो वही ऋण स्त्री दे। उसके सिवाय और कोई ऋण न दे।। ४६।।

मिताक्षरा - मुमूर्षुणा प्रवत्स्यता वा पत्या नियुक्तया ऋणदाने यत्प्रतिपन्नं तत्पतिकृतमणं देयम्। यच्च पत्या सह भार्यया ऋणं कृतं तदपि भर्त्रभावे भार्यया अपुत्रया देयम्। यच्च स्वयंकृतं ऋणं तदपि देयम्। ननु 'प्रतिपन्नादि त्रयं स्त्रिया देयम्' इति न वक्तव्यम्; संदेहाभावात्। उच्यते-'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्म ताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम्।।' इति वचनान्निर्धनत्वेन प्रतिपन्नादिष्वदानाशङ्कायामिदमुच्यते-'प्रतिपन्नं स्त्रिया देय' मित्यादि। न चानेन वचनेन स्त्र्यादीनां निर्धनत्वमभिधीयते; पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपादनपरत्वात्। एतच्च विभागप्रकरणे स्पष्टीकरिष्यते। 'नान्यत्स्त्री दातुमर्हति' इत्येतत्तर्हि न वक्तव्यम्; विधानेनैवान्यत्र प्रतिषेधसिद्धेः। उच्यते-'प्रतिपन्नं स्त्रिया देयं पत्या वा सह यत्कृतम्' इत्येतयोरपवादार्थमुच्यते। अन्यत्सुराकामादिवचनोपातं प्रतिपन्नमपि पत्या सह कृतमपि न देयमिति।। ४६।।

पुनरपि यदणं दातव्यं, येन च दातव्यं, यत्र च काले दातव्यं, तत्रितयमाह-

पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुते पि वा।

पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निहनवे साक्षिभावितम्।। ५०।।

अन्वय - पितरि प्रोषिते अपि वा व्यसनाभिप्लुते, ऋणं पुत्रपौत्रैः देयं, निहनवे साक्षिभावितं देयम्।

अनुवाद - पिता विदेश चला जाए, मर जाए या किसी व्यसन में पड़ जाय तो पुत्र वा पौत्र उस ऋण को दे दें। यदि उस ऋण को छिपायें तो जो साक्षियों के द्वारा भावित हो उसे दे दें।। ५०।।

मिताक्षरा - पिता यदि दातव्यमणमदत्त्वा प्रेतः, दूरदेशं गतः, अचिकित्सनीयव्याध्याद्यभिभूतो वा तदा तत्कृतमणमाख्यापने वश्यं देयम्, पुत्रेण पौत्रेण वा पितृधनाभावे पि पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च तत्र क्रमोऽप्ययमेव-पितृभावे पुत्रः, पुत्राभावे पौत्र इति। पुत्रेण पौत्रेण वा निहनवे कृते अर्थिना साक्षादिभिर्भावितमणं देयं पुत्रपौत्रैरित्यन्वयः। अत्र 'पितरि प्रोषिते' इत्येतावदुक्तम् कालविशेषस्तु नारदेनोक्तो द्रष्टव्यः-'नार्वक्संवत्सराद्विंशत्पितरि प्रोषिते सुतः। ऋणं दद्यात्पितृव्ये वा ज्येष्ठे भ्रातर्यथापि वा।।' इति। प्रेतेऽप्यप्राप्तव्यवहारकालो न दद्यात्, प्राप्तव्यवहारकालस्तु दद्यात्। स च कालस्तेनैव दर्शितः-'गर्भस्थः सदशो ज्ञेयः अष्टमाद्वत्सराच्छिशुः। बाल आ षोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति शब्दते।। परतो व्यवहारज्ञः स्वतन्त्रः पितरावते।।' इति यद्यपि पितृमरणादूर्ध्वं बालोऽपि स्वतन्त्रो जातस्तथापि नर्णभाग्भवति। यथाह-'अप्राप्तव्यवहारश्चेत्स्वतन्त्रोऽपि हि नर्णभाक्। स्वातन्त्र्यं हि स्म तं ज्येष्ठे ज्येष्ठ्यं गुणवयःकृतम्।।' इति। तथा आसेधाह्वाननिषेधश्च दश्यते-'अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखी व्रती। विषमरथाश्च नासेध्या न चैतानाह्वयेन पः।।' इति तस्मात् 'अतः पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सज्य यत्नतः। ऋणात्पिता मोचनीयो यथा नो नरकं व्रजेत्।।' इति। पुत्रेण व्यवहारज्ञतया जातेन निष्पन्नेनेति व्याख्येयम्। श्राद्धे तु बालस्याप्यधिकारः-'न ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात्' इति गौतमस्मरणात्। 'पुत्रपौत्रैरिति बहुवचननिर्देशाद्बहवः पुत्रा यदि विभक्ताः स्वांशानुरूपेण ऋणं दद्युः। अविभक्तश्चेत्संभूयसमुत्थानेन गुणप्रधानभावेन वर्तमानानां प्रधानभूत एव वा दद्यादिति गम्यते। यथाह नारदः (१।१४) -'अत ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा ऋणं दद्युर्थांशतः। अविभक्ता विभक्ता वा यस्तावद्बहते धुरम्।।' इति अत्र च यद्यपि 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देय' मित्य विशेषणोक्तं, तथापि पुत्रेण यथा पिता सवद्विकं ददाति तथैव देयम्। पौत्रेण तु समं मूलमेव दातव्यं, न वद्विरिति विशेषो वगन्तव्यः। 'ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं दैयं पुत्रैर्विभावितम्। पैतामहं समं देयमदेयं तत्सुतस्य तु।।' इति बहस्पतिवचनात्। अत्र 'विभावित' मित्यविशेषोपादानात्साक्षिविभावितमित्यत्र साक्षिग्रहणं प्रमाणोपलक्षणम्। समं यावद्गहीतं तावदेव देयं, न वद्विः। तत्सुतस्य प्रपौत्रस्यादेयमगहीतधनस्य। एतच्चोत्तरश्लोके स्पष्टीक्रियते।।५०।।

ऋणापाकरणे ऋणी तत्पुत्रः पौत्र इति त्रयः कर्तारो दर्शितास्तेषां च समवाये क्रमोऽपि दर्शितः। इदानीं कर्त्रन्तरसमवाये च क्रममाह-

पुत्रो दाप्य इत्युक्तम्। पुत्राभावे योदग्राहो दाप्य इत्युच्यते। 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इति 'रिक्थ' शब्देन योषिदेवोच्यते। 'सैव चास्य धनं स्म तम्' इति स्मरणात्, 'यो यस्य हरते दारान्स तस्य हरते धनम्' इति च। ननु योषिद्ग्राहाभावे पुत्रो ऋणं दाप्यः, पुत्राभावो योषिद्ग्राह इति परस्परविरुद्धम्। उभयसद्भावे न कश्चिद्दाप्य इति। नैष दोषः, अन्तिमस्वैरिणीमाहिणः प्रथमपुनर्भूग्राहिणः सप्रधनस्त्रीहारिणश्चाभावे पुत्रो दाप्यः; पुत्राभावे तु निर्धननिरपत्ययोषिद्ग्राही दाप्य इति। एतदेवोक्तं नारदेन (१।२३)-'धनस्त्रीहारिपुत्राणाम णभाग्यो धनं हरेत्। पुत्रो सतोः स्त्रीधनिनो, तयोः स्त्रीधनिनोरसतोः पुत्र एव ऋणभाक् भवति। धनिपुत्रयोरसतोः स्त्रीहार्येवर्णभाक्। स्त्रीहार्यभावे पुत्र ऋणभाक्, पुत्राभावे स्त्रीहारीति विरोधाभासपरिहारः पूर्ववत्। 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इत्यस्यान्या व्याख्या-एते धनस्त्रीहारिपुत्रा ऋणं कस्य दाप्या इत्यपेक्षायामिदमुपतिष्ठते-'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः' इति। पुत्राद्यन्वयहीनस्योत्तमर्गस्य यो रिक्थी रिक्थग्रहणयोग्यः सपिण्डादिस्तस्य रिक्थिनो दाप्याः। तथा च नारदेन (१।१९२) 'ब्राह्मणस्य तु यद्देयं सान्वयस्य च नास्ति चेत्। निर्वपेत्तत्सकुल्येषु तदभावे स्य बन्धुषु।।' इत्यभिहितम्-'यदा तु न सकुल्याः स्युर्न च संबन्धिबान्धवाः। तदा दद्याद्विजेभ्यस्तु तेष्वसत्त्वप्सु निक्षिपेत्।।' नारदः (१।१९३) इति।। !! ५१।।

अधुना पुरुषविशेषे ऋणग्रहणं प्रतिषेधयन्प्रसङ्गादन्यदपि प्रतिषेधति-

भ्रातृ गामथ दम्पत्योः पितुः पुत्रस्य चैव हि।

प्रातिभाव्यम णं साक्ष्यमविभक्ते न तु स्म तम्।। ५२।।

अन्वय - भ्रातृ णां अथ दम्पत्योः, पितुः पुत्रस्य च अविभक्ते तु प्रातिभाव्यं ऋणं साक्ष्यं न स्म तम्।

अनुवाद - भाई, स्त्री, पुरुष, पिता और पुत्र यदि ये विभक्त न हों तो इनका प्रातिभाव्य ऋण साक्ष्य नहीं है।

मिताक्षरा - प्रतिभुवो भावः प्रातिभाव्यं, भ्रातृ णां दम्पत्योः पितापुत्रयोश्चाविभक्ते द्रव्ये द्रव्यविभागात्प्रातिभाव्यम णं साक्ष्यं च न स्म तं मन्वादिभिः। अपि तु प्रतिषिद्धं; साधारणधनत्वात्। प्रातिभाव्यसाक्षित्वयोः पक्षे द्रव्यावसानत्वात्, ऋणस्य चावश्यप्रतिदेयत्वात्। एतच्च परस्परानुमतिव्यतिरेकेण, परस्परानुमत्या त्वविभक्तानामपि प्रातिभाव्यादि भवत्येव। विभागादूर्ध्वं तु परस्परानुमतिव्यतिरेकेणापि भवति।। ननु दम्पत्योर्विभागात्प्रातिभाव्यादिप्रतिषेधो न युज्यते; तयोर्विभागाभावेन विशेषणानर्थक्यात्। विभागाभावश्चापस्तम्बेन दर्शितः (आप० ध० २।१४-१६)-'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इति। सत्यम्; श्रौतस्मार्ताग्निसाध्येषु कर्मसु तत्फलेषु च विभागाभावो पुनः सर्वकर्मसु द्रव्येषु वा। तथा हि-'जायापत्योर्न विभागो विद्यते' इत्युक्त्वा किमिति न विद्यते इत्यपेक्षायां हेतुमुक्तवान्-'पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु', 'तथा पुण्यफलेषु च' (आप० ध० २।१४, १७-१८) इति। हि यस्मात्पाणिग्रहणादारभ्य कर्मसु सहत्वं श्रूयते-'जायापती अग्निमादधीयाताम्' इति, तस्मादाधाने सहाधिकारादाधानसिद्धाग्निसाध्यकर्मसु सहाधिकारः। तथा 'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ' (आ० ६७) इत्यादिस्मरणाद्विवाहसिद्धाग्निसाध्येषु कर्मसु सहाधिकार एव। अतश्चोभयविधाग्निनिरपेक्षेषु कर्मसु पूर्तेषु जायापत्योः पथगेवाधिकारः संपद्यते। तथा पुण्यानां फलेषु निरपेक्षेषु सहाधिकारस्तेषां फलेषु सहत्वमिति बोद्धव्यं, न पुनः पूर्वानां भर्तृनुज्ञयानुष्ठितानां फलेष्वपि।। ननु द्रव्यस्वामित्वे पि सहत्वमूह्यम्-'भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिकेवश्यकर्तव्ये दाने तिथिभोजनभिक्षाप्रदानादौ हि यस्मान्न स्तेयमुपदिशन्ति मन्वादयस्तस्माद्भार्याया अपि द्रव्यस्वामित्वमस्ति, अन्यथा स्तेयं स्यात्' इति। तस्माद्भर्तुरिच्छया भार्याया अपि द्रव्यविभागो भवत्येव, न स्वेच्छया। यथा वक्ष्यति (व्य० ११५८-'यदि कुर्यात्समानं शान्त्यः कार्याः समांशिकाः' इति।। ५२।।

अधुना प्रातिभाव्यं निरूपयितुमाह-

दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।

आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि।। ५३।।

मिताक्षरा - यद्येकस्मिन्प्रयोगे द्वौ बहवो वा प्रतिभुवः स्युस्तदर्णं संविभज्य स्वांशेन दद्युः। एकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूषु एकस्याधमर्णस्य छाया साद श्यं तामाश्रिता एकच्छायाश्रिताः। अधमर्णो यथा कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थितस्तथा दानप्रतिभुवोऽपि प्रत्येकं कृत्स्नद्रव्यदानाय स्थिताः। एवं दर्शने प्रत्यये च। तेष्वेकच्छायाश्रितेषु प्रतिभूषु सत्सु धनिकस्योत्तमर्णस्य यथारुचि यथाकामम्। अतश्च धनिको वित्ताद्यपेक्षायां स्वार्थं यं प्रार्थयते स एव कृत्स्न दाप्यः, नांशतः। एकच्छायाश्रितेषु यदि कश्चिद्देशान्तरं गतस्तत्पुत्रश्च संनिहितस्तदा धनिकेच्छया स सर्वं दाप्यः। म ते तु कस्मिंश्चिद्देशान्तरं स्वपित्रंशमव द्विकं दाप्यः। यथाह कात्यायनः-‘एकच्छायाप्रविष्टानां दाप्यो यस्तत्र द श्यते। प्रोषिते तत्सुतः सर्वं पित्रंशं तु म ते समम्।। इति।। ५५।।

प्रातिभाव्ये ऋणदानविधिमुक्त्वा प्रतिभूदत्तस्य प्रतिक्रियाविधिमाह-

प्रतिभूदापितो यत् प्रकाशं धनिनो धनम्।

द्विगुणं प्रतिदातव्यम ऋणिकैस्तस्य तद्भवेत्।। ५६।।

अन्वय - धनिनः यत् धनं तु प्रतिभूः प्रकाशं दापितः ऋणिकैः तस्य तत् द्विगुणं प्रतिदातव्यं भवेत्।
अनुवाद - धनी को जितना धन प्रतिभू द्वारा सबके सामने दिलाया हो ऋणी उस प्रतिभू को उसका दुगुना धन दे।। ५६।।

मिताक्षरा - यद्द्रव्यं प्रतिभूस्तत्पुत्रो वा धनिकेनोपपीडितः प्रकाशं सर्वजनसमक्षं राज्ञा धनिनो दापितो न पुनर्द्वैगुण्यलोभेन स्वयमुपेत्य दत्तम्। यथाह नारदः (१।१२१) ‘यं चार्थं प्रतिभूदद्याद्भनिकेनोपपीडितः। ऋणिकस्तं प्रतिभुवे द्विगुणं प्रतिदापयेत्।।’ इति। ऋणिकैरधमर्णस्तस्य प्रतिभुवस्तद्द्रव्यं द्विगुणे प्रतिदातव्यं स्यात्। तच्च कालविशेषमनपेक्ष्य सद्य एव द्विगुणं दातव्यम्; वचनारम्भसामर्थ्यात्। एतच्च हिरण्यविषयम्। ननु इदं प्रतिभूरिति वचनं द्वैगुण्यमात्रं प्रतिपादयति, तच्च पूर्वोक्तकालकलाक्रमाबाधेनाप्युपपद्यते। यथा जातेष्टिविधानं शुचित्वाबाधेन। अपि च सद्यः सव द्विकदानपक्षे पशुस्त्रीणां सद्यः संतत्यभावान्मूलदानमेव प्राप्नोतीति, -तदसत्; ‘वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिगुणा परा’ (व्य० ३६) इत्यनेनैव कालकलाक्रमेण द्वैगुण्यादिसिद्धेः द्वैगुण्यमात्रविधाने चेदं वचनमनर्थकं स्यात्। पशुस्त्रीणां तु कालनक्रमपेक्षेऽपि संतत्यभावे स्वरूपदानमेव। यदा प्रतिभूरपि द्रव्यदानानन्तरं कियतापि कालेनाधमर्णं संघटते तदा संततिरपि संभवत्येव। यद्वा पूर्वसिद्धसंतत्या सह पशुस्त्रियो दास्यन्तीति न किंचिदेतत्। अथ प्रातिभाव्यं प्रीतिकृतम्, अतश्च प्रतिभुवा दत्तं प्रीतिदत्तमेव। नच प्रीतिदत्तस्य याचनात्प्राग्व द्विरस्ति; यथाह (नारदः १।१०६)-‘प्रीतिदत्तं तु यत्किंचिद्धर्धते न त्वयाचितम्। याच्यमानमदत्तं चैद्धर्धते प चक्रं शतम्।।’ इति अतश्चास्य प्रीतिदत्तस्यायाचितस्यापि दानदिवसादारभ्य यावद्विगुणं कालक्रमेण व द्विरित्यनेन वचनेनोच्यते इति, तदप्यसत्, -अस्यार्थस्यास्माद्धचनादप्रतीतेः ‘द्विगुणं प्रतिदातव्यम्’ इत्येतावदिह प्रतीयते। तस्मात्कालक्रमनपेक्ष्यैव द्विगुणं प्रतिदातव्यं वचनारम्भसामर्थ्यादिति सुष्टुक्तम्।। ५६।।

प्रतिभूदत्तस्य सर्वत्र द्वैगुण्ये प्राप्ते पवादमाह-

संततिः स्त्रीपशुष्वेव धान्यं त्रिगुणमेव च।

वस्त्रं चतुर्गुणं प्रोक्तं रसश्चाष्टगुणस्तथा।। ५७।।

अन्वय - स्त्रीपशुषु सन्ततिः धान्यं च त्रिगुणं, वस्त्रं चतुर्गुणं तथा रसश्चाष्टगुणः प्रोक्तम्।

अनुवाद - यदि प्रतिभू द्वारा ऋणी को स्त्रीपशु दिलाये गये हों तो ऋणी सन्तति सहित स्त्रीपशु प्रतिभू को लौटा दे। अन्न त्रिगुना लौटाये, वस्त्र चौरगुना, रस आठ गुना लौटाये।। ५७।।

मिताक्षरा - हिरण्यद्वैगुण्यवत्कालानादरेणैव स्त्रीपशवादयः प्रतिपादितव द्दया दाप्याः। श्लोकस्तु व्याख्यात एव। द्रव्यस्य यावती व द्विः पराकाष्ठोक्ता तद्रव्यं प्रतिभूदत्तं खादकेन तथा व द्दया सह कालविशेषमनपेक्ष्यैव सद्यो दातव्यमिति तात्पर्यार्थः। यदा तु दर्शनप्रतिभूः संप्रतिपन्ने काले अधमर्णं दर्शयितुमसमर्थस्तदा तदन्वेषणाय तस्य पक्षत्रयं दातव्यम्। तत्र यदि तं दर्शयति तदा मोक्तव्यो न्यथा

चात्यन्तिकं स्वत्वं भवति। नच मनुवचनविरोधः। यतः मनः (८।१४३-‘नत्वेवाधौ सोपकारे कौसिर्दी व द्विमाप्नुयात्’ इति। भोग्याधिं प्रस्तुत्येदमुच्यते-‘न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गो स्ति न विक्रयः’ इति। भोग्यस्याधेश्चिरकालावस्थाने प्याधीकरणविक्रयनिषेधेन धनिनः स्वत्वं नास्तति। इहाप्युक्तं ‘फलभोग्यो नव नश्यती’ति। गोप्याधौ तु प थगारब्धं मनुना (८।१४४)-‘न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुजानो व द्विमुत्स जेत्’ इति। इहाहत्प वक्ष्यते-गोप्याधिभोगे नो व द्विरिति। आधिः प्रणश्चेद्विगुणे इति तु गोप्याधि प्रत्युच्यत इति सर्वमविरुद्धम्॥५८॥

गोप्याधिभोगे नो व द्विः सोपकारे थ हापिते।

नष्टो देयो विनष्टश्च दैवराजकृताद ते॥ ५६॥

अन्वय - गोप्याधिभोगे अथ सोपकारे हापिते व द्विः नो। दैव राजकृताद ते नष्टो विनष्टश्च देयः।

अनुवाद - गोप्य, आधि जिसे धनी अपने काम में लाता है, तो फिर ऋणी उसका ब्याज न दे और भोग्य बन्धक में यदि कोई हानि हो जाय तो भी ब्याज न दे। दैव व राजोपद्रव के सिवाय और किसी प्रकार से यदि बन्धक वस्तु बिगड़ जाय या नष्ट हो जाय तो धनी अपने पास से उस वस्तु को दे॥ ५६॥

मिताक्षरा - किंच, गोप्याधेस्ताम्रकटाहादेरुपभोगेन व द्विर्भवति। अल्पे प्युपभोगे महत्यपि व द्विर्हातव्या; समयातिक्रमात्। तथा सोपकारे उपकारकारिणी बलीवर्दताम्रकटाहादौ भोग्याधौ सव द्विके हापिते हानिं व्यवहाराक्षमत्वं गमिते नो व द्विः इति संबन्धः। नष्टो विकृतिं गतः ताम्रकटाहारिशिखरभेदनादिना पूर्ववत्कृत्वा देयः। तत्र गोप्याधिर्नष्टश्चेत्पूर्ववत्कृत्वा देयः। उपभुक्तो पि चेद् द्विरपि हातव्या। भोग्याधिर्यदि नष्टस्तदा पूर्ववत्कृत्वा देयः। व द्विसद्भावे व द्विरपि हातव्या। विनष्ट आत्यन्तिकं नाशं प्राप्तः, सो पि देयो मूल्यादिद्वारेण। तद्दाने सव द्विकं मूल्यं लभते धनी। यदा न ददाति तदा मूलनाशः, ‘विनष्टे मूलनाशः स्यादैवराजकृताहते’ (१।१२६) इति नारदवचनात्। दैवराजकृताद ते-दैवमन्युदकदेशोपप्लवादि। दैवकृताद्विनाशाद्विना, तथा स्वापराधरहिताद्राजकृतात्। दैवराजकृते तु विनाशे सव द्विकं मूल्यं दातव्यमधमर्णेना ध्यन्तरं वा। यथाह-‘स्रोतसापहृते क्षेत्रे राज्ञा चैवापहारिते। आधिरन्यो थ कर्त्तव्यो देयं वा धनिने धनम्॥’ इति तत्र ‘स्रोतसापहृत’ इति दैवकृतोपलक्षणम्॥ ५६॥

आधेः स्वीकारणात् सिद्धिः रक्षमाणो प्यसारताम्।

यातश्चेदन्य आधेयो धनभाग्वा धनी भवेत्॥ ६०॥

अन्वय - आधेः स्वीकारणात् सिद्धिः। रक्षमाणो पि चेत् असारताम् यातः अन्यः आधेयः वा धनी धनभाग् भवेत्।

अनुवाद - बन्धक के स्वीकार मात्र से उसका स्वत्व सिद्ध हो जाता है। प्रयत्न पूर्वक रखने पर भी यदि कोई बन्धक वस्तु बिगड़ जाय तो फिर दूसरी वस्तु उसके बदले में रखे अथवा धनी को धन दे दे॥ ६०॥

मिताक्षरा - अपि च, आधेर्भोग्यस्य गोप्यस्य च स्वीकारणादुपभोगादाधिग्रहणसिद्धिर्भवति, न साक्षिलेख्यमात्रेण नाप्युद्देशमात्रेण। यथाह नारदः (१।१३८)-‘आधिस्तु द्विविधं प्रोक्तो जङ्गमः स्थावरस्तथा। सिद्धिरस्योभस्यापि भोगो यद्यस्ति नान्यथा।’ इति। अस्य च फलं-‘आधौ प्रतिग्रहे क्रीते पूर्वा तु बलवत्तरा’ (व्य० २३)। इति। या स्वीकारान्ता क्रिया सा पूर्वा बलवती, स्वीकाररहिता तु पूर्वापि न बलवतीति। सा चाधिः प्रयत्नेन रक्षमाणो पि कालवशेन यद्यसारतामविकृत एव सव द्विकमूल्यद्रव्यापर्याप्ततां गतस्तदाधिरन्यः कर्त्तव्यः, धनिने धनं वा देयम्। ‘रक्षमाणो प्यसारताम्’ इति वदता आधिः प्रयत्नेन रक्षीणयो धनिनेति ज्ञापितम्॥ ६०॥

‘आधिः प्रणश्येद्विगुणे’ (व्य० ५८) इत्यस्यापवादमाह-

चरित्रबन्धककृतं स व द्व्या दापयेद्धनम्।

सत्यंकारकृतं द्रव्यं द्विगुणं प्रतिपादयेत्॥ ६१॥

अनुवाद - ऋण के दुगुने होने पर ऋणी की अनुपस्थिति में धनी किसी साक्षी को रखकर उस बन्धक को बेच दे ॥६३॥

मिताक्षरा - धारणकादधमर्णाद्विना अधमर्णे संनिहिते साक्षिभिस्तदाप्तैश्च सह तमाधिं विक्रीय तद्धने ग ह्णीयाद्धनी। 'वा' शब्दो व्यवस्थतविकल्पार्थः। यदर्णग्रहणकाले द्विगुणीभूते पि धने धनमेव ग्रहीतव्यं, न त्वाधिनाश इति न विचाररितं, तदा 'आधिः प्रणश्येद्विगुणे' (व्य० ५८) इत्याधिनाशः। विचारिते त्वयं पक्ष इति ॥ ६३ ॥

भोग्याधौ विशेषमाह-

यदा तु द्विगुणीभूतम गमाधौ तदा खलु।

मोच्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने ॥ ६४ ॥

अन्वय - यदा तु आधौ ऋणं द्विगुणीभूतं तदा तदुत्पन्ने द्विगुणे धने प्रविष्टे आधिः खलु मोच्यः।

हिन्दी अर्थ - भोग्य बन्धक होने पर जब ऋण दुगुना हो जाय और धनी को दुगुना धन प्राप्त हो जाय तो वह बन्धक वस्तु वापस कर दे।

मिताक्षरा - यदा प्रयुक्तं धनं स्वकृतया व द्ध्या द्विगुणीभूतं तदाधौ कृते तदुत्पन्ने आध्युत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे धनिनः प्रविष्टे धनिना धिर्मोक्तव्यः। यदि वादावेवाधौ दत्ते 'द्विगुणीभूते द्रव्ये त्वयाधिर्मोक्तव्यः' इति, परिभाषया कारणान्तरेण वा भोगाभावेन यदा द्विगुणीभूतम गं तदा, आधौ भोगार्थं धनिनि प्रविष्टे तदुत्पन्ने द्रव्ये द्विगुणे सत्याधिर्मोक्तव्यः। अधिकोपभोगे तदपि देयम्। सर्वथा सव द्विकमूलर्णापाकरणार्थाध्युपभोगविषयमिदं वचनम्। तमेनं क्षयाधिमाचक्षते लौकिकाः। यत्र तु व द्धयर्थ एवाप्युपभोग इति परिभाषा, तत्र द्वैगुण्यातिक्रमे पि यावन्मूलदानं तावदुपभुङ्क्तं एवाधिम्। एतदेव स्पष्टीकृतं ब हस्पतिना (११।३३-४)-'ऋणी बन्धमवाप्नुयात्। फलभोग्यं पूर्णकालं दत्त्वा द्रव्यं तु सामकम्।। यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्तदा न धनभाग्धनी। ऋणी च न लभेद्बन्धं परस्परमतं विना।।' इति। अस्यार्थः-फलं भोग्यं यस्यासौ फलभोग्यः बन्धक आधिः। स च द्विविधः-सव द्विकमूलापाकरणार्थो व द्विमात्रापाकरणार्थश्च। तत्र च सव द्विमूलापाकरणार्थं बन्धं पूर्णकालं पूर्णः कालो यास्यासौ पूर्णकालस्तमाप्नुयाद णी। यदा सव द्विकं मूलं फलद्वारेण धनिनः प्रविष्टं तदा बन्धमाप्नुयादित्यर्थः। व द्विमात्रापाकरणार्थं तु बन्धकं सामकं दत्त्वाप्नुयाद णी। समं मूलं, सममेव सामकम्।। अस्यापवादमाह-यदि प्रकर्षितं तत्स्यात्। तत् बन्धकं प्रकर्षितमतिशयितं व द्धेरप्यधिकफलं यदि स्यात् 'तदा न धनभाग्धनी' सामकं न लभेत् धनी। मूलमदत्तैव ऋणी बन्धमवाप्नुयादिति यावत्। लभेताधमर्णः। व द्विशेषमपि दत्तैव लभेतेत्यर्थः। पुनरुभयत्रापवादमाह-'परस्परमतं विना' उत्तमर्णाधमर्णयोः परस्परानुमत्यभावे 'यदि प्रकर्षितम्' इत्याद्युक्तम्, परस्परानुमतौ तूत्कृष्टमपि बन्धकं यावन्मूलदानं तावदुपभुङ्क्ते धनी, निकृष्टमपि मूलमात्रदाने नैवाधमर्णो लभत इति ॥ ६४ ॥

इति ऋणादानप्रकरणम्।

अथ लेख्यप्रकरणम्

भुक्तिसाक्षिणौ निरूपितौ, सांप्रतं लेख्यं निरूपयते। तत्र लेख्यं द्विविधम्—शासनं जानपदं चेति। शासनं निरूपितम्। जानपदमभिधीयते। तच्च द्विविधम्—स्वहस्तकृतमन्यकृतं चेति। तत्र स्वस्तकृतमसाक्षिकं, अन्यकृतं ससाक्षिकम् अनयोश्च देशाचारानुसारेण प्रामाण्यम्। यथाह नारदः (१।१३५)-'लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्ता न्यकृतं तथा। असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः।।' इति। तत्रान्यकृतमाह-

यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम्।

लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम् ॥ ८४ ॥

अन्वय - यः कश्चिदर्थः परस्परम् स्वरुच्या निष्णातः तस्मिन् तु साक्षिमत् धनिकपूर्वकं लेख्यं कार्यम्।

अन्वय - ततः अन्ते लेखकः, उभयाभ्यर्थितेन अमुकसुनुना अमुकेन मया एतत् लिखितं, इति लिखेत् । अन्त में लेखक, दोनों की प्रार्थना से 'अमुक के पुत्र' अमुक नाम वाले मैंने यह लिख दिया ऐसा लिखे ॥ ८८ ॥

मिताक्षरा - अपि च, ततो लेखक उभाभ्यां धनिकाधमर्णिकाभ्यां प्रार्थितेन मया मुकेन देवदत्तेन विष्णुमित्रसूनुना एतलेख्यं लिखितमित्यन्ते लिखेत् ८८

सांप्रतं स्वकृतं लेख्यमाह—

विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वस्तलिखितं तु यत् ।

तत्प्रमाणं स्म तं लेख्यं बलोपधिकृताद् ते ॥ ८९ ॥

अन्वय - यत् तु बलोपधिकृताद् ऋते स्वहस्तलिखितं लेख्यं तत् साक्षिभिर्लेख्यं विनापि प्रमाणं स्म तम् ।

अनुवाद - जो लेख्यपत्र बलात्कार, भय व छलकपट से रहित अपने हाथ से लिखा जाय वह साक्षी के बिना भी प्रमाणित माना जाता है ॥ ८९ ॥

मिताक्षरा - यत्लेख्यं स्वहस्तेन लिखितमधमर्णेन तत्साक्षिभिर्विनापि प्रमाणं स्म तं मन्वादिभिः । **बलोपधिकृताहते** बलेन बलात्कारेण उपाधिना छललोभक्रोधभयमदादिलक्षणेन यत्कृतं तस्माद्धिना । नारदो प्याह (१।१३७) — 'मताभियुक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं च व्यवहारे बन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुनः साधुशब्दैरेव, प्रतिखिकदेशीभाषयापि लेखनीयम् । यथाह नारदः (१।१३६) — 'देशचाराविरुद्धं यद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । तत्प्रमाणं स्म तं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरम् ॥' इति । विधानं विधिः, आधेर्विधिराधिविधिराधीकरणं तस्य लक्षणं गोप्याधिभोग्याधिकालकृतमित्यादि तद्व्यक्तं विस्पष्टं यस्मिस्तद्व्यक्ताधिविधिलक्षणम् । अविलुप्तक्रमाक्षरम् । अर्थानां क्रमः क्रमश्चाक्षरणि च क्रमाक्षराणि अविलुप्तानि क्रमाक्षरणि यस्मिस्तदविलुप्तक्रमाक्षरं । तदेवंभूतं लेख्यं प्रमाणम् । राजशासनवन्न साधुशब्दनियमो त्रेत्यभिप्रायः ॥ ८९ ॥ लेख्यप्रसङ्गेन लेख्यारूढमप्य णं त्रिभिरेव देयमित्याह—

ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु ।

अन्वय - लेख्यकृतं तु ऋणं त्रिभिः पुरुषैः एव देयम् ।

अनुवाद - लेख्य ऋण तीन पुरुष अर्थात् स्वयं, पुत्र तथा पौत्र तक ही दिया जाता है ।

मिताक्षरा - यथा साक्ष्यादिकृतम णं त्रिभिरेव देयं, तथा लेख्यकृतमप्याहर्त तत्पुत्रतत्पुत्रैस्त्रिभिरेव देयं, न चतुर्थादिभिरिति नियम्यते । ननु 'पुत्रपौत्रैः ऋणं देयम्' (व्य० ५०) इत्यविशेषण ऋणमात्रं त्रिभिरेव देयमिति नियतमेव । बाढम् । अस्यैवोत्सर्गस्य पत्रारूढणविषये स्म त्यन्तरप्रभवामाशङ्कामपनेतुमिदं वचनमारब्धम् । तथा हि—पत्रलक्षणमभिधाय कात्यानेनाभिहितम्—'एवं कालमतिक्रान्तं पितृणां दाप्यते ऋणम्' इति । इत्थं पत्रारूढम णमतिक्रान्तकालमपि पितृणां संबन्धि दाप्यते । अत्र 'पितृणां' इति बहुवचननिर्देशात्कालमतिक्रान्तकालमिति वचनाच्चतुर्थादिर्दाप्य इति प्रतीयते । तथा हारीतेनापि—'लेख्यं यस्य भवेद्धस्ते लाभं तस्य विनिर्दिशेत्' इति । अत्रापि यस्य हस्ते लेख्य (पत्र) मस्ति तस्यर्णलाभः इति सामान्येन चतुर्थादिभ्यो ष्य णलाभो स्तीति प्रतीयते । अतश्चैतदाशङ्कानिव त्यर्थमेतद्वचनमित्युक्तम् । वचनद्वयं च योगीश्वरवचनानुसारेण योजनीयम् ॥-

अस्यापवादमाह—

आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ ९० ॥

अन्वय - आधिस्तु तावद् भुज्यते यावत् तत् न प्रदीयते ।

अनुवाद - परन्तु आधि अर्थात् बन्धक वस्तु तो तब तक भोगी जाती है, जब तक कि ऋणी उक्त ऋण चुका न दे ॥ ९० ॥

स्वहस्तेन लिखितं यलेख्यान्तरं तेन शुद्धिः। यदि सहशान्यक्षराणि भवन्ति तदा शुद्धिः स्यादित्यतिथः। 'आदि' शब्दात् साक्षिलेखकस्वहस्तलिखितान्तरसंवादाच्छुद्धिरिति। युक्त्या प्राप्तिर्युक्तिप्राप्तिः, देशकालपुरुषाणां द्रव्येण सह संबन्धः प्राप्तिः। 'अस्मिन्देशे स्मिन्काले स्य पुरुषस्येदं द्रव्यं घटते' इति युक्तिप्राप्तिः, क्रिया तत्साक्ष्युपन्यासः, चिह्नसाधारणं श्रीकारादि, 'संबन्धो र्थिप्रत्यर्थिनोः पूर्वमपि परस्परविश्वासेन दानग्रहणादिसंबन्धः, आगमो स्यैतावतो र्थस्य संभावितः प्राप्त्युपायः, एते एव हेतवः। एतिर्हेतुभिः संदिग्धलेख्यस्य शुद्धिः स्यात्' इत्यन्वयः। यदा तु लेख्यसंदेहे निर्णयो न जायते तदा साक्षिभिर्निर्णयः कार्यः। यथाह कात्यायनः—'दूषिते पत्रके वादी तदारूढांस्तु निर्दिशेत्' इति। साक्षिसंभवविषयमिदं वचनम्। साक्ष्यसंभवविषयं तु हारीतवचनम्—'न मयैतत्कृतं पत्रं कूटमेतेन कारितम्। अधरीकृत्य तत्पत्रमर्थे दिव्येन निर्णयः।।'इति॥६२॥

एवं शोधिते पत्रे ऋणे च दातव्ये प्राप्ते यदा कृत्स्नमेव ऋणं दातुमसमर्थस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—

लेख्यस्य प ष्टे भिलिखेद् दत्त्वा दत्त्वर्णिको धनम्।

धनी वोपगतं दद्यात् स्वहस्तपरिचिह्नितम्॥ ६३॥

अन्वय - दत्त्वर्णिको धनं दत्त्वा लेख्यस्य प ष्टे अभिलिखेत् धनी स्वहस्तपरिचिह्नितं उपगतं दद्यात्।

अनुवाद - ऋणी जितना धन देता जाय उसे उक्त लेख्यपत्र के प ष्टभाग में लिख दे और धनी जितना धन प्राप्त करे उसकी अपने हस्ताक्षरों से युक्त रसीद ऋणी को देता जाये॥ ६३॥

मिताक्षरा - यदा **धर्मर्णिकः** सकलमणं दातुमसमर्थस्तदा शक्त्यायनुसारेण दत्त्वा पूर्वकृतस्य **लेख्यस्य प ष्टे भिलिखेत्** 'एतावन्मया दत्तम्' इति। **उत्तमर्णो वा उपगतं** प्राप्तं धनं तस्यैव लेख्यस्य **प ष्टे दद्यादभिलिखेत्** 'एतावन्मया लब्धम्' इति। कथम्? **स्वहस्तपरिचिह्नितं** स्वहस्तलिखिताक्षरचिह्नितम्। **यद्वा,—उपगतं** प्रवेशपत्रं स्वहस्तलिखितचिह्नितमधमर्णायोत्तमर्णो **दद्यात्**॥६३॥

ऋणे तु कृत्स्ने दत्ते लेख्यं किं कर्तव्यमित्यत आह—

दत्त्वर्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्धयै वा न्यत्तु कारयेत्।

अन्वय - ऋणं दत्त्वा लेख्यं पाटयेत् वा शुद्धयै अन्यत्तु कारयेत्।

अनुवाद - सम्पूर्ण ऋण दे देन पर लेख्यपत्र को फाड़ देना चाहिए अथवा धनी से दूसरा धन प्राप्ति का शुद्ध पत्र प्राप्त कर ले।

मिताक्षरा - क्रमेण सकृदेव वा कृत्स्नमणं दत्त्वा पूर्वकृतं **लेख्यं पाटयेत्**। यदा तु दुर्गदेशावस्थितं लेख्यं नष्टं वा तदा **शुद्धयै** अधमर्णत्वनिवर्त्यर्थमन्यलेख्यं **कारयेदुत्तमर्णेनाधमर्णः**। पूर्वोक्तक्रमेणोत्तमर्णो विशुद्धिपत्रमधर्णाय दद्यादित्यर्थः॥—

ससाक्षिके ऋणे कृत्स्ने दातव्ये किं कर्तव्यमित्यत आह—

साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम्॥ ६४॥

अन्वय - यत् (ऋणं) साक्षिमत् भवेत् तत् ससाक्षिकम् दातव्यम्।

अनुवाद - जिस ऋण में कोई साक्षी हो तो वह ऋण साक्षियों के सामने देना चाहिए॥ ६४॥

मिताक्षरा - यत्तु **ससाक्षिकमणं तत्पूर्वसाक्षिसमक्षमेव दद्यात्**॥६४॥

इति लेख्यप्रकरणम्।

----- 0 -----

मिताक्षरा - स्वयमेव द्रव्यार्जनसमर्थस्य पित द्रव्य मनीहमानस्यानिच्छतो पि यत्किंचिदसारमपि दत्त्वा प थक्किया विभागः कर्तव्यः पित्रा। तत्पुत्रादीनां दायजिघ क्षा मा भूदिति।। -
'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन' (व्य. ११४) इति न्यूनाधिकविभागो दर्शितः। तत्र शास्त्रोक्तोद्दारादि-
विषमविभागव्यतिरेकेणान्यथाविषमविभागनिषेधार्थमाह -

न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पित कृतः स्म तः।। ११६।।

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - यदि पिता ने पुत्रों में न्यूनाधिक विभाग धर्मपूर्वक किया है तो फिर वह बदलता नहीं है।। ११६।।

मिताक्षरा - न्यूनाधिकविभागेन विभक्तानां पुत्राणामसौ न्यूनाधिकविभागो यदि धर्म्यः शास्त्रोक्तो भवति तदा सौ पित क तः क त एव न निवर्तत इति मन्वादिभिः स्म तः। अन्यथा तु पित क तो पि निवर्तत इत्यभिप्रायः। यथाह नारदः (१३।६) - 'व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः। अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः।।' इति।।११६।।

इदानीं विभागस्य कालान्तरं कर्त्रन्तरं प्रकारनियममाह -

विभजेरन् सुताः पित्रोरुर्ध्वं रिक्थम णं समम्।

अन्वय - सुताः पित्रोरुर्ध्वं रिक्थम णं समम् विभजेरन्।

अनुवाद - माता और पिता के मरने के बाद सभी पुत्र उनके धन को व ऋण को बराबर बाँट लें।

मिताक्षरा - पित्रोर्मातापित्रोरुर्ध्वं प्रयाणादिति कालो दर्शितः। सुता इति कर्तारो दर्शिताः। सममिति प्रकारनियमः। सममेवेति रिक्थम णं च विभजेरन्। ननु - 'ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च' (मनुः ६।१०४) इत्युपक्रम्य (मनुः ६।१०५) - ज्येष्ठ एव तु ग ह्यियात्पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा।।' इत्युक्तोक्तम् (मनुः ६।११२) - 'ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततो र्धं मध्यस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः।।' इति। सर्वस्माद्भव्य- समुदायासद्विंशतितमो भागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं तज्ज्येष्ठाय दातव्यम्; तदर्धं चत्वारिंशत्तमो भागो मध्यमं च द्रव्यं मध्यमाय दातव्यम्; तुरीयमशीतितमो भागो हीनं द्रव्यं च कनिष्ठाय दातव्यमिति मातापित्रोरुर्ध्वं विभजतामुद्दाराविभागो मनुना दर्शितः। तथा (मनुः ६।११६।११७) - 'उद्दारे नुद्ध ते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना। एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रो र्धं ततो नुजः।। अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः।।' इति। ज्येष्ठस्य द्वौ भागौ, तदनन्तरजातस्य सार्धं एको भागः ततो नुजानामेकैको विभाग इत्युद्धारव्यतिरेकेणापि विषमो विभागो दर्शितः पित्रोरुर्ध्वं विभजताम्। जीवद्विभागे च स्वयमेव विषमो विभागो दर्शितः - 'ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन' (व्य. ११४) इति। अतः सर्वस्मिन्नपि काले विषमो विभागो स्तीति कथं सममेव विभजेरन्निति नियम्यते।। अत्रोच्यते - सत्यम्, अयं विषमो विभागः शास्त्रद ष्टस्तस्तथापि लोकविद्विष्टत्वात्पुष्टेयः; 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु' (आ. १५६) इति निषेधात्। यथा 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (आ. १०६) इति विधाने पि लोकविद्विष्टवादननुष्ठानम्। यथा वा - 'मैत्रावरुणीं गां वशामनुवन्ध्यामालभेत' इति गवालम्भनविधाने पि लोकविद्विष्टवादननुष्ठानम्। उक्तं च - 'यथा नियोगधर्मो नो नानुवन्ध्यावधो पि वा। तथोद्धारविभागो पि नैव संप्रति वर्तते।।' इति। (नियोगमनतिक्रम्य यथानियोगं, नियोगाधीनो यो धर्मो देवराच्च सुतोतपति' रित्यादिः स नो भवति) आपस्तम्बो पि (आ. ध. २।१४।१) - 'जीवन्पुत्रेभ्योः दायं विभजेत्समम्' इति। समतामुक्त्वा - 'ज्येष्ठो दायद इत्येके' (आ. ध. २।१४।५) इति 'कृत्स्नधन' ग्रहणं ज्येष्ठस्यैकीयमतेनोपन्यस्य देशविशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य रथः पितुः परीभाण्डं च ग हे लंकारो भार्याया ज्ञातिधनं चेत्येके' (ध. २।१४।६६) इति निराकृतवान्। तं च शास्त्रविप्रतिषेधं स्वयमेव दर्शयति स्म 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते' (ध. २।१४।११) इति। तस्माद्विषमो विभागः शास्त्रद ष्टो पि लोकविरोधाच्छ्रुतिविरोधाच्च नानुष्ठेय इति सममेव विभजेरन्निति नियम्यते।। -

मातापित्रोर्धनं सुता विभजेरन्नित्युक्तं, तत्र मात धने पवादमाह -

आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम् तथा च पित द्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम्, आसुरादिविवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पित द्रव्यव्ययेन यत्क्रमायातमुद्ध तं तथा पित द्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धम्, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च विभजनीयम्। तथा 'पित द्रव्याविरोधेन' इत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पित द्रव्याविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभजनीयम्। अस्य च सर्वशेषत्वाभावे मैत्रमौद्वाहिकमित्यादिनाल्लब्धम्। अथच पित द्रव्याविरोधेनापि यन्मैत्रादिलब्धं तस्याविभाज्यत्वाय मैत्रादिवचनमर्थवदित्युच्यते। तथा सति समाचारविरोधः, विद्यालब्धे नारदवचनविरोधश्च। - 'कुटुम्बं विभ याद्भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः। भागं विद्याधनात्तस्मात्स लभेताश्रुतो पि सन्।।' (नारद : २३।२०) इति। तथा विद्याधनस्याविभाज्यस्य लक्षणमुक्तं कात्यायनेन - 'परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्तान्यतस्तु या। तथा लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते।।' इति। तथा 'पित द्रव्याविरोधेन' इत्यस्य भिन्नवाक्यत्वे प्रतिग्रहलब्धस्याविभाज्यत्वमाचारविरुद्धमापद्येत। एतदेव स्पष्टीकृतं मनुना (६।१०८) - 'अनुपन्नमित द्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्। दायादेभ्यो न तद्दद्याद्विद्यया लब्धमेव च।।' इति श्रमेण सेवायुद्धादिना। ननु पित द्रव्याविरोधेन यन्मैत्रादिलब्धं द्रव्यं तद्विभाज्यमिति न वक्तव्यम्; विभागप्राप्त्यभावात्। यद्येन लब्धं तत्तस्यैव, नान्यस्येति प्रसिद्धतरम्। प्राप्तिपूर्वकश्च प्रतिषेधः। अत्र कश्चिदित्थं प्राप्तिमाह - 'यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठो धिगच्छति। भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालिनः।।' (मनुः ६।२०४) इति। ज्येष्ठो वा कनिष्ठो वा मध्यमो वा पितरि प्रेते अप्रेते वा यवीयसां वर्षीयसां चेति व्याख्यानेन पितरि सत्यसति च मैत्रादीनां विभाज्यत्वं प्राप्तं प्रतिषिद्धयत इति, - तदसत् नह्यत्र प्राप्तस्य प्रतिषेधः, किंतु सिद्धस्यैवानुवादो यम्। लोकसिद्धस्यैवानुवादकान्येव प्रायेणास्मिन्नकरणे वचनानि। अथवा 'समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः।।' इति प्राप्तस्यापवाद इति संतुष्यतु भवान्। अतश्च 'यत्किञ्चित्पितरि प्रेते' इत्यस्मिन्वचने ज्येष्ठादिपदान्विवक्षया प्राप्तिरिति व्यामोहमात्रम्। अतो मैत्रादिवचनैः पितुः प्रागूर्ध्वं वाविभाज्यत्वेनोक्तस्य 'यत्किञ्चित्पितरि प्रेते' इत्यपवाद इति व्याख्येयम्। तथा न्यदप्यविभाज्यमुक्तं मनुना (६।२१६) - 'वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते।।' इति। घ तानामेव वस्त्राणामविभाज्यत्वं, यद्येन घ तं तत्तस्यैव। पित ध तवस्त्राणि तु पितुरुर्ध्वं विभजतां श्राद्धभोक्त्रे दातव्यानि। यथाह ब हस्पतिः - 'वस्त्रालंकारशय्यादि पितुर्यद्वाहनादिकम्। गन्धमाल्यैः समभ्यर्च्य श्राद्धभोक्त्रे समर्पयेत्।।' इति। अभिनवानि तु वस्त्राणि विभाज्यान्वेव। पत्रं वाहनमश्वशिविकादि, तदपि यद्येनारूढं तत्तस्यैव। पित्र्यं तु वस्त्रवदेव, अश्वादीनां बहुत्वे तु तद्विद्योपजीविनां विभाज्यत्वमेव। वैषम्येणाविभाज्यत्वे ज्येष्ठस्य (मनुः ६।१९६) - 'अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्। अजाविकं सैकशफं ज्येष्ठस्यैव विधीयते।।' इति मनुस्मरणात्। अलंकारो पि यो येन ध तः स तस्यैव। अध तः साधारणो विभाज्य एव। (मनुः ६।२००) - 'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो ध तो भवेत्'। न तं भजेरन्दायादा भजयानाः पतन्ति ते।।' इति अलङ्कारो ध तो भवेत्' इति विशेषेणोपादानादध तानां विभाज्यत्वं गम्यते। कृतान्नं तण्डुलमोदकादि तदप्यविभाज्यं यथासंभवं भोक्तव्यम्। उदकं उदकाधारः कूपादि, तच्च विषमं मूल्यद्वारेण न विभाज्यं पर्यायेणोपभोक्तव्यम्। स्त्रियश्च दास्यो विषमाः न मूल्यद्वारेण विभाज्याः, पर्यायेण कर्म कारयित्वाः। अवरुद्धास्तु पित्रा स्वरिण्याद्याः समा अपि पुत्रैर्न विभाज्याः। 'स्त्रीषु च संयुक्तास्वविभागः' (२५।४६) इति गौतमस्मरणात्। योगश्च क्षेमश्च योगक्षेमम्। 'योग' शब्देनालब्धलाभकारणं श्रौतसमार्ताग्निसाध्यं इष्टं कर्म लक्ष्यते। क्षेमशब्देन लब्धपरिक्षणहेतुभूतं बहिवैदिदानतडागारामनिर्माणादि पूर्तं कर्म लक्ष्यते। तदुभयं पैत कमपि पित द्रव्याविरोधार्जितमप्यविभाज्यम्। यथाह लौगाक्षिः - 'क्षेमं पूर्तं योगमिष्टत्याहुस्तत्त्वदर्शिनः। अविभाज्ये च ते प्रोक्ते शयनासनमेव च।।' इति। 'योगक्षेम' शब्देन योगक्षेमकारिणो राजमन्त्रिपुरोहितादय उच्यन्ते - इति केचित्। छत्रचामरशस्त्रोपानत्प्रभ तय इत्यन्ये। प्रचारो ग हारामादिषु प्रवेश निर्गममार्गः सो प्यविभाज्यः। यत्तूशनसा क्षेत्रस्याविभाज्यत्वमुक्तम् - 'अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि। याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्नमुदकं स्त्रियः।।' इति, तद्ब्राह्मणोत्पन्नक्षत्रियादिपुत्रविषयम्। 'न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै। यद्यप्येषां पिता दद्यान्म ते विप्रासुतो हरेत्।।' इति स्मरणात्। याज्यं याजनकर्मलब्धम्। पित प्रसादलब्धस्याविभाज्यत्वं वक्ष्यते। नियमातिक्रमार्जितस्याविभाज्यत्वमनन्तरमेव न्यरासि।

पितोद्धरति तत्स्वार्जितमिव पुत्रैः सार्धमकामः स्वयं न विभजेदिति वदन् पितामहार्जितमकामो पि पुत्रेच्छया पुत्रैः सह विभजेदिति दर्शयति ॥१२१॥

विभागोत्तरकालमुत्पन्नस्य पुत्रस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह -

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् ।

अन्वय - विभक्तेषु सर्वणायां जातः सुतः विभागभाक् (भवति) ।

अनुवाद - जब पिता अपनी सम्पत्ति का विभाग पुत्रों में कर चुका हो तब बाद में सवर्णा स्त्री में कोई और पुत्र उत्पन्न हो तो वह भी पिता व माता के धन का हिस्सेदार होता है।

मिताक्षरा - विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां भार्यायामुत्पन्नो विभागभाक् । विभज्यत इति विभागः । पित्रोर्विभागस्तं भजतीति विभागभाक्; पित्रोरुर्ध्वं तयोरंशं लभत इत्यर्थः । मातृ भागं चासत्यां दुहितरि, 'मातुर्दुहितरः शेषम्' (व्य. ११७) इत्युक्तत्वात् । असवर्णायामुत्पन्नस्तु स्वांशमेव पित्र्याल्लभते, मातृ कं तु सर्वमेव । एतदेव मनुनोक्तम् (६।२१६) - 'ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् इति । पित्रोरिदं पित्र्यमिति व्याख्येयम्; 'अनीशः पूर्वजः पित्रोर्भ्रातुर्भागे विभक्तजः' इति स्मरणात् । विभक्तयोर्मातापित्रोर्विभागे विभागात्पूर्वमुत्पन्नो न स्वामी, विभक्तजश्च भ्रातुर्भागे न स्वामीत्यर्थः । तथा विभागोत्तरकालं पित्रा यत्किंचिदर्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव; 'पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम् । विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्म ताः ॥' इति स्मरणात् । ये च विभक्ताः पित्रा सह संसृष्टाः पितुरुर्ध्वं तैः सार्धं विभक्तजो विभजेत् । यथाह मनुः (६।२१६) - 'संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह' इति ॥ -

पितुरुर्ध्वं पुत्रेषु विभक्तेषु पश्चादुत्पन्नस्य कथं विभागकल्पनेत्यत आह -

द श्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ॥ १२२ ॥

अन्वय - स्पष्टम् ।

अनुवाद - पिता के मरने के बाद यदि भाई आपस में पिता की सम्पत्ति का विभाग करें। ओर उस समय माता में पिता का गर्भ हो तथा बाद में कोई पुत्र उत्पन्न हो तो फिर आय व व्यय को देखते हुए उसका भी उस सम्पत्ति में भाग होता है ॥१२२॥

मिताक्षरा - तस्य पितरि प्रेते भ्रातृ विभागसमये स्पष्टगर्भायां मातरि भ्रातृ विभागोत्तरकालमुत्पन्नस्यापि विभागः । तद्विभागः कुत इत्यत आह । द श्यान्द्भ्रातृ भिर्गृहीताद्धनात् । कीदृशात् ? आयव्ययविशोधितात् । आयः प्रतिदिवसं प्रतिमासं प्रत्यब्दं वा यदुत्पद्यते, व्ययः पितृ कृतर्णापाकरणं, ताभ्यामायव्ययाभ्यां यच्छोधितं तत्तस्मादुद्धृत्य तद्भागो दातव्यः स्यात् । एतदुक्तं भवति- प्रातिस्विकेषु भागेषु तदुत्थमायं प्रवेश्य पितृ कृतं चर्णमपनीयावशिष्टेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यो भागेभ्यः किंचित्किंचिदुद्धृत्य विभक्तजस्य भागः स्वभागसमः कर्तव्य इति । एतच्च विभागसमये प्रज्ञस्य भ्रातुर्भार्यायामस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम् । स्पष्टगर्भायां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्तव्यः । यथाह वसिष्ठः (१७।४१) - 'अथ भ्रातृणां दायविभागो याश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभात्' इति । गृहीतगर्भाणामाप्रसवात्प्रतीक्षणमिति योजनीयम् ॥१२२॥ विभक्तजः पित्र्यं मातृ कं च सर्वं धनं गृह्णातीत्युक्तं, तत्र यदि विभक्तः पिता माता वा विभक्ताय पुत्राय स्नेहवशादाभरणादिकं प्रयच्छति, तदा विभक्तजेन दानप्रतिषेधो न कर्तव्यः, नापि दत्तं प्रत्याहर्तव्यमित्याह-

पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत् ।

अन्वय - स्पष्टम् ।

अनुवाद - माता-पिता ने जो चीज जिसको दे दी हो वह उसी की होगी ।

मिताक्षरा - मातापितृभ्यां विभक्ताभ्यां पूर्वं विभक्तस्य पुत्रस्य यद्दत्तमलंकारादि, तत्तस्यैव पुत्रस्य, न विभक्तजस्य स्वं भवति । न्याय साम्याद्विभागात्प्रागपि यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव । तथा असति विभक्तजे विभक्तयोः पित्रोरंशं तदूर्ध्वं विभजतां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव, नानन्यस्येति वेदितव्यम् ॥-

चतुर्थभागवचनमविवक्षितं संस्कारमात्रोपयोगिद्रव्यदानमेव विवक्षितमिति चेन्न। स्म तिद्वये पि चतुर्थाशदानाविवक्षायां प्रमाणाभावाददाने प्रत्यवायश्रवणाच्चेति। यदपि कैश्रिवदुच्यते- अंशदानविवक्षायां बहुभ्रात कायाः बहुधनत्वं, बहुभगिनीकस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति, तदुक्तरीत्या परिहतमेव। नह्यत्रात्मीयाद्भागादुद्ध त्य चतुर्थाशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात्; अतो सहायमेधातिथिप्रभ तीनां व्याख्यानमेव चतुरमत्र न भारुचेः। तस्मात्पितुरुर्ध्वं कन्याप्यंशभागिनी पूर्वं चेद्यात्किंचित्पिता ददाति, तदेव लभते; विशेषवचनाभावादिति सर्वमनवद्यम्।।१२४।।

एवं विभागं चेत्पिता कुर्यात् (व्य. ११४) इत्यादिना प्रबन्धेन समानजातीयानां भ्रातृणां परस्परं पित्रा च सह विभागकृत् पितरुक्ताः; अधुना भिन्नजातीयानां विभागमाह-

चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः।

क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विड्जास्तु द्व्येकभागिनः।। १२५।।

अन्वय - ब्राह्मणात्मजाः वर्णशः चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युः। क्षत्रजा स्त्रिद्व्येकभागा विड्जास्तु द्व्येकभागिनः (स्युः)।

अनुवाद - ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र प्रत्येक चार-चार भाग को प्राप्त करते हैं। क्षत्रियादि में उत्पन्न पुत्र तीन भाग तथा वैश्या में उत्पन्न पुत्र दो भाग और शूद्रा में उत्पन्न पुत्र एक भाग को प्राप्त करता है।। १२५।।

मिताक्षरा - 'तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण' (आ.१७) इति ब्राह्मणस्य चतस्रः, क्षत्रियस्य तिस्रः, वैश्यस्य द्वे शूद्रस्यैकेति भार्या दर्शिताः। तत्र ब्राह्मणात्मजा ब्राह्मणोत्पन्ना वर्णशः - 'वर्ण' शब्देन ब्राह्मणादिवर्णाः स्त्रिय उच्यन्ते। 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा.५।४।४३) इत्यधिकरण कारकादेकवचनाद्वीप्सायां शस्। अतश्च वर्णे वर्णे ब्राह्मणोत्पन्नाः यथाक्रमं चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्भवेयुः। एतदुक्तं भवति-ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नाः एकैकशश्चतुरो भागाँल्लभन्ते। तेनैव क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्रीन् वैश्यायां द्वौ द्वौ शूद्रायामेकमेकमिति। क्षत्रजाः क्षत्रियेणोत्पन्ना, 'वर्णशः' इत्यनुवर्तते; यथाक्रमं; त्रिद्व्येकभागाः। क्षत्रियेण क्षत्रियायामुत्पन्नाः प्रत्येकं त्रींस्त्री, वैश्यायां द्वौ द्वौ, शूद्रायामेकमेकम्। विड्जाः वैश्येणोत्पन्नाः। अत्रापि 'वर्णश' इत्यनुवर्तते, यथाक्रमं द्व्येकभागिनः। वैश्येन वैश्यायामुत्पन्नाः प्रत्येकं द्वौ द्वौ भागौ लभन्ते। शूद्रायामेकमेकम्। 'शूद्रस्यैकैव भार्या' इति भिन्नजातीयपुत्राभावात्तत्पुत्राणां पूर्वोक्त एव विभागः; यद्यपि 'चतुस्त्रिद्व्येकभागा' इत्यविशेषोक्तं, तथापि प्रतिग्रहप्राप्तभूयतिरिक्तविषयमिदं द्रष्टव्यम्। यतः स्मरन्ति - 'न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादिसुताय वै। यद्यप्येषा पिता दद्यान्म ते विप्रासुतो हरेत्।।' इति। प्रतिग्रहग्रहणात्क्रयादिना लब्धा भूः क्षत्रियादिसुतानामपि भवत्येव। शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधाच्च। 'शूद्रायां द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हति इति। यदि क्रयादिप्राप्ता भूः क्षत्रियादिसुतानां न भवेत्तदा शूद्रापुत्रस्य विशेषप्रतिषेधो नोपपद्यते। यत्पुनः (मनुः ६।१५५)-'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्। यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत्।।' इति, तदपि जीवता पित्रा यदि शूद्रापुत्राय किमपि प्रदत्तं स्यात्तद्विषयम्। यदा तु प्रसाददानं नास्ति, तदैकांशभागित्यविरुद्धम्।।१२५।।

अथ सर्वविभागशेषे किंचिदुच्यते -

अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यत् द श्यते।

तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः।। १२६।।

अन्वय - अन्योन्यापहृतं द्रव्यं यत् तु विभक्ते द श्यते तत् ते पुनः समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः।

अनुवाद - जो द्रव्य कहीं दबाया गया हो, विभाग के बाद उसका यदि पता लग जाता है तो फिर उस धन को बराबर हिस्से में बांट लेना चाहिए।। १२६।।

मिताक्षरा - परस्परापहृतं समुदायद्रव्यं विभागकाले चाज्ञातं विभक्ते पित धने यद् द श्यते, तत्समैरंशैर्विभजेरन्नित्येवं स्थितिः शास्त्रमर्यादा। अत्र 'समैरंशैः' इति वदतोद्धारविभागो निषिद्धः। विभजेरन्निति वदता येन दश्यते तेनैव न ग्राह्यमिति दर्शितम्। एवं च वचनस्यार्थवत्त्वान्न समुदायद्रव्यापहारे

प्रतिषिद्ध्य (मनुः ५।१५५।१६१) - 'आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्।। अनेकानि सहस्राणि कौमारब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्।। म ते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः।। अपत्यलोभद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते। सेह निन्दामवाप्नोति परलोकाच्च हीयते।।' इति पुत्रार्थमपि पुरुषान्तराश्रयणं निषेधति। तस्माद्विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प इति न युक्तम्।। एवं विवाहसंस्कृतानियोगे प्रतिषिद्धे कस्तर्हि धर्म्यो नियोग इत्यत आह (मनुः ६।६६।७०) - 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः।। यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्। मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृद् ताव तौ।।' इति। यस्मै वाग्दत्ता कन्या सा प्रतिग्रहमन्तरेणैव तस्याः पतिरित्यस्मादेव वचनादव गम्यते। तस्मिन्नेते देवरस्तस्य ज्येष्ठः कनिष्ठो वा निजः सोदरो विन्देत परिणयेत्। यथाविधि यथाशास्त्रमधिगम्य परिणीय अनेन विधानेन घ ताभ्यङ्गवाङ्निनयमादिना शुक्लवस्त्रां शुचिव्रतां मनोवाक्कायसंयतां मिथो रहस्यागर्भग्रहणात्प्रत्य त्वेकवारं गच्छेत्। अयं च विवाहो वाचनिको घ ताभ्यङ्गादिनियमवत्, नियुक्ताभिगमनाङ्गमिति न देवरस्य; भार्यात्वमापादयति। अतस्तदुत्पन्नमपत्यं क्षेत्रस्वामिन एव भवति, न देवरस्य संविदा तूभयोरपि।।१२८।।
समानासमानजातीयानां पुत्राणां विभागकल्पितरुक्ता, अधुना मुख्यगौणपुत्राणां दायग्रहणव्यवस्थां दर्शयिष्यंस्तेषां स्वरूपं तावदाह-

औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिकासुतः।

क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा।। १२८।।

अन्वय - धर्मपत्नीजः औरसः पुत्रिकासुतः तत्समः। सगोत्रेणेतरेण वा क्षेत्रजातस्तु क्षेत्रजः।

अनुवाद - जो पुत्र अपनी धर्मपत्नी में स्वयं उत्पन्न किया हो, वह 'औरस' पुत्र कहलाता है। 'पुत्रिकासुत' भी उसी के समान है और अपनी स्त्री में जो सगोत्र या असगोत्र से उत्पन्न हो वह 'क्षेत्रज' कहलाता है।। १२८।।

मिताक्षरा - उरसो जात औरसः पुत्रः, सचधर्मपत्नीजः - सवर्णा धर्मविवाहोढा धर्मपत्नी, तस्यां जात औरसः पुत्रो मुख्यः। तत्समः पुत्रिकासुतः तत्सम और ससमः, पुत्रिकायाः सुतः पुत्रिकासुतः। अत एवौरससमः। यथाह वसिष्ठः- 'अभ्रात कां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति।।' इति। अथवा पुत्रिकैव सुतः पुत्रिकासुतः; सो प्यौरससम एव पित्रवयवानामल्पत्वात्, मात्रवयवानां बाहुल्याच्च; यथाह वसिष्ठः (१७।१५) - 'त तीयः पुत्रिकैव' इति। त तीयः पुत्रः पुत्रिकैवेत्यर्थः। ह्यामुष्यायणस्तु जनकस्यौरसादकृष्टः; अन्यक्षेत्रोत्पन्नत्वात्। क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा। इतरेण सपिण्डेन देवरेण वोत्पन्नः पुत्रः क्षेत्रजः।।१२७।।

ग हे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्म तः।

कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः।। १२६।।

अन्वय - ग हे प्रच्छन्न उत्पन्नः सुतः तु गूढजः स्म तः। कन्यकाजातः कानीनः मातामहसुतः मतः।

अनुवाद - घर में गुप-चुप जो पुत्र उत्पन्न हो वह 'गूढज' कहलाता है और अविवाहिता कन्या में जो पुत्र होता है, उसे 'कानीन' कहते हैं। उसी को 'मातामहसुत' भी कहा जाता है।। १२६।।

मिताक्षरा - गूढजः पुत्रो भर्तृग हे प्रच्छन्न उत्पन्नो हीनाधिकजातीय पुरुषजत्वपरिहारेण पुरुषविशेषजत्वनिश्चयाभावे पि सवर्णजत्वनिश्चये सति बोद्धव्यः। कानीनस्तु कन्यकायामुत्पन्नः पूर्ववत्सवर्णात्स मातामहस्य पुत्रः। यद्यनूढा सा भवेत्तथा पितृ ग हे एव संस्थिता, अथोढा तदा वोढुरेव पुत्रः। यथाह मनुः (६।१७२) - 'पितृ वेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः। तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम्।।' इति।।१२६।।

अक्षतायां क्षतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः।

दद्यान्मातापिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्।। १३०।।

अन्येषामपि पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्सत्यप्युत्तरेषां पुत्राणां चतुर्थांशभागित्वमुक्तं वसिष्ठेन। 'तस्मिन्चत्प्रतिग हीते औरस उत्पद्येत चतुर्थभागभागी स्यादत्तकः' (१५।६) इति। 'दत्तक' ग्रहणं क्रीतकृत्रिमादीनां प्रदर्शनार्थम्; पुत्रीकरणाविशेषात्। तथा च कात्यायनः - 'उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे चतुर्थांशहराः सुताः। सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभाजनाः।।' इति। सवर्णा दत्तकक्षेत्रजादयस्ते सत्यौरसे चतुर्थांशहराः। असवर्णा कानीनगूढोत्पन्न सहोदजपौनर्भवास्ते त्वौरसे सति न चतुर्थांशहराः किंतु ग्रासाच्छादनभाजनाः। यदपि विष्णुवचनम् - 'अप्रशस्तास्तु कानीनगूढोत्पन्नसहोदजाः। पौनर्भवश्च नैवैते पिण्डरिक्थांशभागिनः।।' इति तदप्यौरसे सति चतुर्थांशनिषेधपरमेव; औरसाद्यभावे तु कानीनादीनामपि सकलपित्र्यधनग्रहणमस्त्येव। 'पूर्वाभावे परः परः' इति वचनात्।। यदपि मनुवचनम् (६।१६३) - 'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः। शेषाणामान शंस्यार्थं प्रदद्यात् प्रजीवनम्।।' इति, तदपि दत्तकादीनामौरसप्रतिकूलत्वे निर्गुणत्वे च वेदितव्यम्। तत्र क्षेत्रजस्य विशेषो दर्शितस्तेनैव (मनुः ६।१६४) - 'षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैत काङ्क्षनात्। औरसो विभजन्दायं पित्र्यं प चममेव वा।।' इति प्रतिकूलत्वनिर्गुणत्वसमुच्चये षष्ठमंशम्, एकतरसद्भावे प चवमिति विवेक्तव्यम्।। यदपि मनुना पुत्राणां षट्कद्वयमुपन्यस्य पूर्वषट्कस्य दायदबान्धवत्वमुक्तम्, उत्तरषट्कस्यादायाबान्धवत्वमुक्तम् (मनुः ६।१५६।१६०) - 'औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च। गूढोत्पन्नो पविद्धश्च दायदा बान्धवाश्च षट्।। कानीनश्च सहोदश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा। स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः।।' इति, तदपि स्वपित सपिण्डसमानोदकानां संहितारिक्थहरान्तराभावे पूर्वषट्कस्य तद्विक्थहरत्वम्, उत्तरषट्कस्य तु तन्नास्ति। बान्धवत्वं पुनः समानगोत्रत्वेन सपिण्डत्वेन चोदकप्रदानादिकार्यकरत्वं वर्गद्वयस्यापि सममेवेति व्याख्येयम्।। (मनुः ६।१४२) - 'गोत्ररिक्थे जनयितुर्न भजेद्दन्त्रिनमः सुतः। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा।।' इत्यत्र 'दन्त्रिम' ग्रहणस्य पुत्रप्रतिनिधिप्रदर्शनार्थत्वात्। पित धनहारित्वं तु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे सर्वेषामविशिष्टम्। (मनुः ६।१८५) - 'न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः।' इत्यौरसव्यतिरिक्तानां पुत्रप्रतिनिधीनां सर्वेषां रिक्थहारित्वप्रतिपादनपरत्वात् औरसस्य तु (मनुः ६।१३६) - 'एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।' इत्यनेनैव रिक्थभाक्त्वस्योक्तत्वात्। 'दायाद' शब्दस्य 'दायादानपि दापयेत्' इत्यादौ पुत्रव्यतिरिक्तरिक्थभागविषयत्वेन प्रसिद्धत्वाच्च। वासिष्ठादिषु वर्गद्वये पि कस्यचिह्यत्ययेन पाठो गुणवदगुणवद्विषयो वेदितव्यः। गौतमीये तु 'पौत्रिके यस्य दशमत्वेन पाठो विजातीयविषयः। तस्मात्स्थितमेतत्पूर्वपूर्वाभावे परः परां शभागिति।। यत्तु (६।१५२)' - 'भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्। सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्।।' इति, तदपि भ्रातृपुत्रस्य पुत्रीकरणसंभवे न्येषां पुत्रीकरणनिषेधार्थम्, न पुनः पुत्रत्वप्रतिपादनाय। 'तत्सुता गोत्रजा बन्धुः-' (व्य. १३५) इत्यनेन विरोधात्।।१३२।।

इदानीमुक्तोपसंहारव्याजेन तत्रैव नियममाह -

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः।

अन्वय - मया (याज्ञवल्क्येन) अयं विधिः सजातीयेषु तनयेषु प्रोक्तः।

अनुवाद - मुझ याज्ञवल्क्य द्वारा पूर्वोक्त विधि केवल सजातीय पुत्रों के विषय में ही कही गयी है।
मिताक्षरा - समानजातीयेष्वेव पुत्रेषु अयं 'पूर्वाभावे परः परः' इत्युक्तो विधिः, न भिन्नजातीयेषु। तत्र च कानीनगूढोत्पन्नसहोदजपौनर्भवाणां सवर्णत्वं जनकद्वारेण, न स्वरूपेण; तेषां वर्णजातिलक्षणाभावस्योक्तत्वात्। तथानुलोमजानां मूर्धावसिक्तादीनामौरसेष्वन्तर्भावात्तेषामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दायहरत्वं बोद्धव्यम्। शूद्रापुत्रस्त्वौरसो पि कृत्स्नं भागमन्याभावे पि न लभते। यथाह मनुः (६।१५४) - 'यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रो पि वा भवेत्। नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः।।' इति। यदि सत्पुत्रो विद्यमानद्विजातिपुत्रो यद्यपुत्रो विद्यमानद्विजातिपुत्रो वा स्यात्तस्मिन् ते क्षेत्रजादिर्वा न्यो वा सपिण्डः शूद्रापुत्राय तद्दनाद्दशमांशादधिकं न दद्यादित्यस्मादेव क्षत्रियावैश्यापुत्रयोः सवर्णापुत्राभावे सकलधनग्रहणं गम्यते।।

अधुना शूद्रधनविभागे विशेषमाह-

दायमवाप्नुयात्। मातर्यपि च व तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥' इति मातुः पितामह्याश्च धनसंबन्धो दर्शितः। शङ्खानापि - 'स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रात गामि द्रव्यं तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी' इति भ्रातृणां पित्रोर्ज्येष्ठयाश्च पत्न्याः क्रमेण धनसंबन्धो दर्शितः। कात्यायनेनापि- 'विभक्ते संस्थिते द्रव्यं पुत्राभावे पिता हरेत्। भ्राता वा जननी वा थ माता वा तत्पितुः क्रमात्॥' इत्येवमादीनां विरुद्धार्थानां वाक्यानां धारेश्वरेण व्यवस्था दर्शिता - 'पत्नी ग हणीयात्' इत्येतद्वचनजातं विभक्तभ्रात स्त्रीविषयम्। सा च यदि नियोगार्थिनी भवति। कुत एतत् नियोगसव्यपेक्षायाः पत्न्या धनग्रहणं न स्वतन्त्रायां इति। 'पिता हरेदपुत्रस्य' (मनुः ६।१५५) इत्यादिवचनात्तत्र व्यवस्थाकरणं वक्तव्यम्। नान्यह्यवस्थाकारणमस्ति इति गौतमवचनाच्च (२६।५।६) 'पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा अनपत्यस्यय रिक्थं भजेरन् स्त्री वा नपत्यस्य बीजं लिप्सेत' इति। अस्यार्थः - पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा अनपत्यस्य रिक्थं भजेरन्स्त्री वा रिक्थं भजेत् यदि बीजं लिप्सेतेति। मनुरपि (६।१४६) - धनं यो विभ याद्भ्रातुर्भ तस्य स्त्रियमेव वा। सो पत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम्॥' इति। अनेनैतद्दर्शयति विभक्तधने पि भ्रातर्युपरते पत्यद्वारोणैव पत्न्या धनसम्बन्धो नान्येथेति। तथा विभक्तधन पि (मनुः ६।१२०) - 'कनीया ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि। समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥' इति। तथा वसिष्ठो पि (१७।४७) 'रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः' इति रिक्थलोभान्नियोगं प्रतिषेधयन् नियोगद्वारकं एव पत्न्याः धनसंबन्धो नान्येथेति दर्शयति नियोगभावे पि पत्न्या भरणमात्रमेव नारदवचनाद् 'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' इति। योगीश्वरेणापि किल वक्ष्यते (व्य. १४२) - 'अपुत्रा योषितश्चैवषां मंतव्याः साधुव तयः। निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च॥' इति। अपि च, द्विजातीधनस्य यथार्थत्वात्स्त्रीणां च यज्ञे नधिकारद्धनग्रहणमयुक्तम्। यथा च केनापि स्म तम् - 'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये। अरिक्थभाजस्ते सर्वे ग्रासाच्छादनभाजनाः॥ यज्ञार्थं विहितं वित्तं तस्मात्तद्विनियोजयेत्। स्थानेषु धर्मजुष्टेषु न स्त्रीमूर्खविधर्मिषु॥' इति, - तदनुपपन्नम्; 'पत्नी दुहितरः' (व्य. १३५) इत्यत्र नियोगस्याप्रतीतेरप्रस्तुतत्वाच्च। अपि चेदमत्र वक्तव्यम्-पत्न्याः धनग्रहणे नियोगो वा निमित्तं तदुत्पन्नमपत्यं वा। तत्र नियोगस्यैव निमित्तत्वे अनुत्पादितपुत्राया अपि धनसंबन्धः प्राप्नोति। उत्पन्नस्य च पुत्रस्य धनसंबन्धो न प्राप्नोति। अथ तदपत्यस्यैव निमित्तत्वं, तथा सति पुत्रस्यैव धनसंबन्धात्पत्नीति नारद्व्यम्॥

अथ स्त्रीणां पतिद्वारको धनसंबन्धः पुत्रद्वारको वा नान्येथेति मतम्, - तदप्यसत्; (मनुः ६।१६४) - 'अध्यग्न्यावह्निकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रात मात पित प्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्म तम्॥' इत्यादिविरोधात्। किंच; सर्वथा पुत्राभावे 'पत्नी दुहितरः' इत्यारब्धम्। तत्र नियुक्ताया धनसंबन्ध वदता क्षेत्रजस्यैव धनसंबन्ध उक्तो भवति। स च प्रागेवाभिहित इति 'अपुत्रप्रकरणे पत्नी' ति नारद्व्यम्। अथ पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वा नपत्यस्य बीजं लिप्सेत' (गौ. २६।५) इति गौतमवचनान्नियुक्ताया धनसंबन्ध इति। तदप्यसत्, -नहि यदि बीजं लिप्सेत तदा नपत्यस्य स्त्री धनं ग हणीयादित्ययमर्थो स्मात्प्रतीयते। किंतु 'अनपत्यस्य धनं पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा भजेरन्स्त्री वा सा स्त्री बीजं वा लिप्सेत संयता वा भवेत्' इति तस्या धर्मान्तरोपदेशः; 'वा' शब्दस्य पक्षान्तरवचनत्वेन यद्यथाप्रतीतेः। अपि च संयताया एव धनग्रहणं युक्तं, न नियुक्तायाः स्म तिलोकनिन्दितायाः। 'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। पत्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च॥' इति संयताया एव धनग्रहणमुक्तम्॥

तथा नियोगश्च निन्दितो मनुना (६।६४) - 'नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियु ज्ञाना धर्म हन्युः सनातनम्॥' इत्यादिना। यत्तु वसिष्ठवचनम् (१७।६५) 'रिक्थलोभान्नास्ति नियोगः' इति, तद्विभक्ते संस ष्टिनि वा भर्तरि प्रेते तस्या धनसंबन्धो नारस्तीति स्वापत्यस्य धनसंबन्धार्थं नियोगो न कर्तव्य इति व्याख्येयम्। यदपि नारदवचनम् (१३।२६) - 'भरणं चास्य कुर्वीरन्स्त्रीणामाजीवनक्षयात्' इति, तदपि 'संस ष्टानां तु यो भागस्तेषामेव स इष्यते' इति संस ष्टानां प्रस्तुतत्वात्तत्स्त्रीणामनपत्यानां भरणमात्रप्रतिपादनपरम्। नच 'भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात्' (ना. १३।२४) इत्येतस्य संस ष्टिविषयत्वे 'संस ष्टानां तु यो भाग' (ना.१३।२४) इत्यनेन पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्।

पत्नीभरणमात्रोपयुक्तमेव द्रव्यमस्ति ततो न्यूनं वा तदा किं पत्न्येव ग ह्णात्युत भ्रातरो पीति विरोधे पूर्वबलीयस्त्वज्ञापनार्थं 'पत्नी दुहितर' इत्यारब्धमिति, तदप्यत्र भगवानाचार्यो न म प्यति। यतः (मनुः ६।१५५) - 'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति विकल्पस्मरणान्नेदं क्रमपरं वचनम्, अपि तु धनग्रहणे धिकारप्रदर्शनमात्रपरम्। तच्चासत्यपि पत्न्यादिगणे घटत इति व्याचक्षे। शङ्खवचनमपि संस ष्टभ्रात विषयमिति। अपि चाल्पविषयत्वमस्माद्धचनात्प्रकारणाद्वा नावगम्यते। 'धनभागुत्तरोत्तरः' (व्य. १३६) इत्यस्य च 'पत्नी दुहितर' इति विषयद्वये वाक्यान्तरमपेक्षयाल्पधनविषयत्वम्, पित्रादिषु तु धनमात्रविषयत्वमिति पूर्वोक्तं विधिवैषम्यं तदवस्थमेवेति यत्किंचिदेतत्। यतु हारीतवचनम्- विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा। आयुषः क्षपणार्थं तु दातव्यं जीवनं तदा।।' इति - तदपि शङ्कितव्यभिचारायाः सकलधनग्रहणनिषेधपरम्। अस्मादेव वचनादनाशङ्कितव्यभिचारायाः सकलधनग्रहणं गम्यते। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं शङ्खन 'ज्येष्ठा वा पत्नी' इति। ज्येष्ठा गुणज्येष्ठा अनाशङ्कितव्यभिचारा, सा सकलं धनं ग हीत्वा न्यां कर्कशामपि मात वत्पालयतीति सर्वमनवद्यम्। तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंस ष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव ग ह्णातीति स्थितम्। तद्भावे दुहितरः। 'दुहितर' इति बहुवचनं समानजातीयानामसमानजातीयानां च समविषमांशप्राप्त्यर्थम्। तथा च कात्यायनः - 'पत्नी भर्तुर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। तद्भावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा।।' इति। ब हस्पतिरपि (२५।५५-५६) - 'भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्म ता। अङ्गादङ्गात्संभवति पुत्रवद्दुहिता न णाम्।। तस्मात्पित धनं त्वन्यः कथं ग ह्णीत मानवः।।' इति। तत्र चोढानूढासमवाये नूढैव ग ह्णीत। 'तद्भावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा' इति विशेषस्मरणात्। तथा प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितानां समवाये अप्रतिष्ठितैव तद्भावे प्रतिष्ठिताः; 'स्त्रीधनं दुहितृणामप्रतानामप्रतिष्ठितानां च' (गौ. २६।६) इति गौतमवचनस्य पित धने पि समानत्वात्। न चैतत्पुत्रिकाविषयमीति मन्तव्यम्। 'तत्समः पुत्रिकासुतः' इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणे भिधानात्। 'च'शब्दाद्दुहित्रभावे दौहित्रो धनभाक्। यथाह विष्णुः - 'अपुत्रपौत्रसंताने दौहित्रा धनमाप्नुयुः। पूर्वांशं तु स्वधाकारे पौत्रा दौहित्रिका मताः।।' इति। मनुरपि (६।१३६) - 'अकृता वा कृता वा पि यं विन्देत्सद शात्सुतम्। पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम्।।' इति।।

तद्भावे पितरौ मातापितरौ धनभाजौ। यद्यपि युगपदधिकरणवचनतायां द्वन्द्वस्मरणात् तदपवादत्वादेकशेषस्य धनग्रहणे पित्रोः क्रमो न प्रतीयते, तथापि विग्रहवाक्ये 'मात ' शब्दस्य पूर्वनिपातादेकशेषाभावपक्षे च मातापितराविति 'मात ' शब्दस्य पूर्व श्रवणात् पाठक्रमादेवार्थक्रमावगमाद्धनसंबन्धे पि क्रमापेक्षायां, प्रतीतक्रमानुरोधेनैव प्रथमं माता धनभाक्, तद्भावे पितेति गम्यते। किंच पिता पुत्रान्तरेष्वपि साधारणः; माता तु न साधारणीति प्रत्यासत्यतिशयात् 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः ६।१८७) इति वचनान्मातुरेव प्रथमं धनग्रहणं युक्तम्। नच सपिण्डेष्वेव प्रत्यासत्तिर्नियामिका, अपि तु समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिकेत्यस्मादेव वचनादवगम्यत इति। मातापितरौर्मातुरेव प्रत्यासत्यतिशयाद्धनग्रहणं युक्ततरम्। तद्भावे पिता धनभाक्।

पित्रभावे भ्रातरो धनभाजः। तथा च (मनुः ६।१८५) - 'पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव वा' इति। यत्पुनर्धारेः श्वरेणोक्तम् (६।२१७) - 'अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्। मातर्यपि च व तायां पितुर्माता हरेद्धनम्।।' इति मनुवचनाज्जीवत्यपि पितरि मातरि व तायां पितुर्माता पितामही धनं हरेन्न पिता। यतः पित ग हीतं धनं विजातीयेष्वपि पुत्रेषु गच्छति, पितामहीग हीतं तु सजातीयेष्वेव गच्छतीति पितामह्येव ग ह्णातीति। एतदप्याचार्यो नानु मन्थते। विजातीयपुत्राणामपि धनग्रहणस्योक्तत्वात्, 'चतुस्त्रिद्वयेकभागाः स्युः' (व्य. १२५) इत्यादिनेति। यत्पुनः (मनुः ६।१५६) - 'अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः' इति मनुस्मरणं तत्र पाभिप्रायं, नतु पुत्राभिप्रायम्। भ्रात ष्वपि सोदराः प्रथमं ग ह्णीयुः भिन्नोदराणां मात्रा विप्रकर्षात्। 'अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्' (मनुः ६।१५७) इति स्मरणात्।

सोदराणामभावे भिन्नोदरा धनभाजः, भ्रातृणामप्यभावे तत्पुत्राः पित क्रमेण धनभाजः। भ्रात भ्रात पुत्रसमवाये

नच नैष्टिकस्य स्वार्जितधनसंबन्धो युक्तः, प्रतिग्रहादिनिषेधात्। 'अनिचयो भिक्षुः' (३।७) इति गौतमस्मरणात्। भिक्षोरपि न स्वार्जितधनसंबन्धसंभवः। उच्यते- वानप्रस्थस्य तावत्- 'अहो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा। अर्थस्य निचयं कुर्यात्कृतमाश्वयुजे त्यजेत्।।' (प्राय. ४७) इति वचनाद्धनसंबन्धो स्त्येव। यतेरपि - 'कौपीनाच्छादनार्थं वा वासो पि बिभ यात्तथा। योगसंभारभेदांश्च ग ह्णीयात्पादुके तथा।। इत्यादिवचनाद्ब्रह्मपुस्तकसंबन्धो स्त्येवः; नैष्टिकस्यापि शरीरयात्रार्थं वस्त्रादिसंबन्धो स्त्येवेति तद्विभागकथनं युक्तमेव १३७

इदानीं स्वर्यातस्य पुत्रस्य पत्न्यादयो धनभाज इत्युक्तस्यापवादमाह -

संस प्तिनस्तु संस ष्टी

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - विभक्त होकर फिर एक होने पर 'संस ष्टी' कहा जाता है। ऐसे किसी संस ष्टी के मर जाने पर उसका धन 'संस ष्टी' ही लेगा।

मिताक्षरा - विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संस ष्टं तदस्यास्तीति संस ष्टी; संस ष्टत्वं च न येन केनापि, किंतु पित्रा भ्रात्रा पित व्येण वा; यथा ह ब हस्पतिः (२५।७२) - 'विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः। पित व्येणाथवा प्रीत्या स तत्सं स ष्ट उच्यते।।' इति। तस्य संस ष्टिनो म तस्यांशं विभागं विभागकाले अविज्ञातगर्भायां भार्यायां पश्चादुत्पन्नस्य पुत्रस्य संस ष्टी दद्यात्। पुत्राभावे संस ष्ट्येवापहरेद्ग ह्णीयात्, न पत्न्यादिः।।

'संस प्तिनस्तु संस ष्टी' इत्यस्यापवादमाह -

सोदरस्य तु सोदरः।

दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य च म तस्य च।। १३८।।

अन्वय - सोदरस्य (संस प्तिनः) तु सोदरः (संस ष्टी) अंशं अपहरेत् जातस्य च दद्यात्।

अनुवाद - सोदर संस ष्टी कहीं मर जाय तो उसका धन सोदर संस ष्टी ही लेगा। यदि पीछे म त संस ष्टी का कोई पुत्र हो जाय तो फिर वह धन उस पुत्र को दे दे।। १३८।।

मिताक्षरा - संस प्तिनः संस ष्टित्यनुवर्तते। अतश्चव सोदरस्य संस ष्टिनो म तस्यांशं सोदर संस ष्टी अनुजातस्य सुतस्य दद्यात्; तदभावे अपहरेदिति पूर्ववत् संबन्धः। एवं च सोदरासोदरसंसर्गे सोदरसंस ष्टिनो धनं सोदर एव संस ष्टी ग ह्णाति न भिन्नोदरः संस ष्ट्यपीति पूर्वोक्तस्यापवादः।। १३८।।

इदानीं संस ष्टिन्यपुत्रे स्वर्याते संस ष्टिनो भिन्नोदरस्य, सोदरस्य चासंस ष्टिनः सद्भावे, कस्य धनग्रहणमिति विवक्षायां द्वयोर्विभज्य ग्रहणे कारणमाह -

अन्योदर्यस्तु संस ष्टी नान्योदर्यो धनं हरेत्।

असंस ष्ट्यपि वा दद्यात् संस ष्टो नान्यमात जः।। १३९।।

अन्वय - अन्योदर्यः संस ष्टी तु धनं हरेत् (असंस ष्टी) न। (सोदरः) असंस ष्ट्यपि वा आदद्यात् संस ष्टः अन्यमात जः न।

अनुवाद - अन्योदर संस ष्टी हो तो धन का अधिकारी है। असंस ष्टी हो तो धन का अधिकारी नहीं हो सकता है। परन्तु सोदर असंस ष्टी होने पर भी पूर्ण धन का अधिकारी है और सौतेला भाई संस ष्टी भी हो तो भी सम्पूर्ण धन का अधिकारी नहीं हो सकता है। फिर ये संस ष्टी आधे-आधे धन के अधिकारी होते हैं।। १३९।।

मिताक्षरा - अन्योदर्यः सापत्नो भ्राता संस ष्टी धनं हरेत्, न पुनरन्योदर्यो धनं हरेदसंस ष्टी। अनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यामन्योदर्यस्य संस ष्टित्वं धनग्रहणे कारणमुक्तं भवति। असंस ष्टीत्येतदुत्तरेणापि संबध्यते। अतश्चासंस ष्ट्यपि संस ष्टिनो धनमाददीत। को सावित्यत आह- संस ष्ट इति। संस ष्टः एकोदरसंस ष्टः। सोदर इति यावत्। अनेनासंस ष्टस्यापि सोदरस्य धनग्रहणे सोदरत्वं कारणमुक्तं, 'संस ष्ट' इत्युत्तरेणापि संबध्यते। तत्र च संस ष्टः संस ष्टीत्यर्थः। नान्यमात जः। अत्र 'एव' शब्दाध्याहारेण

क्लीबादिदुहितृणां विशेषमाह -

सुताश्वेषां प्रभर्तव्या यावद् वै भर्त्सात्कृताः॥ १४१॥

अन्वय - एषां च सुता यावद् वै भर्त्सात्कृताः प्रभर्तव्याः।

अनुवाद - और इनकी लड़कियों का जब तक विवाह न हो जाय, तब तक उनका भी भरण-पोषण करना चाहिए॥ १४१॥

मिताक्षरा - एषां क्लीबादीनां सुता दुहितरो यावद्विवाहसंस्कृता भवन्ति, तावद्भरणीयाः 'च' शब्दात्संस्कार्याश्च॥१४१॥

क्लीबादिपत्नीनां विशेषमाह -

अपुत्रा योषितश्वेषां भर्तव्या साधुव त्तयः।

निर्वास्या व्यभिचारिण्यः प्रतिकूलास्तथैव च॥ १४२॥

अन्वय - एषां च अपुत्राः साधुव त्तयः योषितः भर्तव्याः। व्याभिचारिण्यः तथैव च प्रतिकूलाः निर्वास्याः।

अनुवाद - इनकी पुत्रहीन स्त्रियों का भी पालन-पोषण करना चाहिए। यदि वे साध्वी हों, अन्यथा यदि व्यभिचारिणी हों या प्रतिकूल हों, तो उन्हें निकाल देना चाहिए॥१४२॥

मिताक्षरा - एषां क्लीबादीनामपुत्राः पत्न्यः साधुव त्तयः सदाचारश्चेद्भर्तव्या भरणीयाः, व्यभिचारिण्यस्तु निर्वास्याः। प्रतिकूलास्तथैव च निर्वास्या भवन्ति, भरणीयाश्चावाव्यभिचारिण्यश्चेत्। न पुनः प्रातिकूल्यमात्रेण भरणमपि न कर्तव्यम्॥१४२॥

'विभजेरन्सुताः पित्रोः'(व्य.११७) इत्यत्र स्त्रीपुंनविभागं संक्षेपेणाभिधाय पुरुषधनविभागो विस्तरेणाभिहितः, इदानीं स्त्रीधनविभागं विस्तरेणाभिधास्यंस्तत्स्वरूपं तावदाह -

पित मात पतिभ्रात दत्तमध्यग्न्युपागतम्।

आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ १४३॥

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - जो धन पिता, माता, भाई और पति ने दिया हो, विवाह के समय अग्नि की सन्निधि में जो धन प्राप्त हुआ हो और आधिवेदनिक अर्थात् 'अधिविन्ना' के रूप में जो धन मिला हो, ये सब 'स्त्रीधन' कहे जाते हैं॥१४३॥

मिताक्षरा - पित्रा मात्रा पत्या भ्रात्रा च यद्दत्तं, यच्च विवाहकाले ऽवधिकृत्य मातुलादिभिर्दत्तम्, आधिवेदनिकं अधिवेदननिमित्तं 'अधिविन्नस्त्रियै दद्यात्'(व्य. १४७) इति वक्ष्यमाणं। 'आद्य' शब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तमेतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्। 'स्त्रीधनं' शब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः। योगसंभवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। यत्पुनर्मनुनोक्तम् (६।१६४) - 'अध्यग्न्यध्यावहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रात मात पित प्राप्तं षड्विध स्त्रीधनं स्म तम्॥' इति स्त्रीधनं षड्विधत्वं, तन्नयूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय॥ अध्यग्न्यादिस्वरूपं च कात्यायनेनाभिहितम् - 'विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निंसनिधौ। तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयामाना पित गृहात्। अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम्॥ प्रीत्या दत्तं तु यत्किंचिच्छ्वर्षा वा श्वशुरेण वा। पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते। ऊढया कन्यया वा पि पत्युः पित ग हे पि वा। भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्म तम्॥' इति॥१४३॥

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च।

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - इसी प्रकार बन्धुओं के द्वारा दिया गया जो धन हो, शुल्क के रूप में हो धन हो तथा 'अन्वाधेयक' जो धन है, ये सब स्त्रीधन माने जाते हैं।

मिताक्षरा - किंच बन्धुभिः कन्याया मात बन्धुभिः पित बन्धुभिश्च यद्दत्तम्, शल्कं यद्गृहीत्वा कन्या

तदपत्यस्य वा भवेत्।।' इति। 'ब्राह्मणी' ग्रहणमुत्तमजात्युपलक्षणम्। अतश्चानपत्यवैश्याधनं क्षत्रियाधनं क्षत्रियाकन्या ग ह्णाति। पुत्राणामभावे पौत्राः पितामहीधनहारिणः। 'रिवथभाज ऋणं प्रतिकुर्युः (२६।७)' इति गौतमस्मरणात्, 'पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयम् (व्य. ५०) इति पौत्राणामपि पितामह्य णापकरणे धिकारात्। पौत्राणामप्यभावे पूर्वोक्ता भर्त्रादयो बान्धवा धनहारिणः।।१४५।।

स्त्रीधनंप्रसङ्गेन वाग्दत्ताविषयं किञ्चिदाह-

दत्त्वा कन्यां हरन् दण्ड्यो व्ययं दद्याच्च सोदयम्।।

अन्वय - कन्यां दत्त्वा हरन् दण्ड्यः सोदयम् व्ययं च दद्यात्।

अनुवाद - कन्या का वाग्दान करके यदि फिर मना करे तो वह राजा से दण्डनीय होता है और इस प्रसंग में जितना धन का खर्च हुआ हो उसको ब्याज सहित दे।

मिताक्षरा - कन्यां वाचा दत्त्वा पहरन् द्रव्यानुबन्धाद्यनुसारेण राज्ञा दण्डनीयः। एतच्चापहरणकारणाभावे; सति तु कारणे 'दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आब्रजेत् (आ.६५) इत्यपहाराभ्यनुज्ञानान्न दण्ड्यः। यच्च वाग्दाननिमित्तं वरेण स्वसंबन्धिनां कन्यासंबन्धिनां चोपचारार्थं धनं व्ययीकृतं, तत्सर्वं सोदयं सव द्विकं कन्यादाता वराय दद्यात्।।-

अथ कथंचिद्वाग्दत्ता संस्कारत्प्राङ् म्रियेत, तदा किं कर्तव्यमित्यत आह-

म तायां दत्तमादद्यात् परिशोध्योभयव्ययम्।। १४६।।

अन्वय - म तायां उभयव्ययम् परिशोध्य (वरः) दत्तम् आदद्यात्।

अनुवाद - यदि वाग्दान के बाद कन्या मर जाये तो इस विषय में अपना धन और कन्यादाता का जो धन व्यय हुआ है। उसका शोधन कर शेष धन वर ले ले।। १४६।।

मिताक्षरा - यदि वाग्दत्ता म ता तदा यत्पूर्वमङ्गुलीयकादि शुल्कं वरेण दत्तं, तद्वर आददीत परिशोध्योभयव्ययम्। उभयोरात्मनः कन्यादातुश्च यो व्ययः, तं परिशोध्य विगमय्यावशिष्टमाददीत। यत्तु कन्यायै मातामहादिभिर्दत्तं शिरो भूषणादिकं वा क्रमायातं, तत्सहोदरा भ्रातरौ ग ह्णीयुः; 'रिवथं म तायाः कन्याया ग ह्णीयुः सोदरास्तदभावे मातुस्तदभावे पितुः इति बौधायनस्मरणात्।।१४६।।

म तप्रजास्त्रीधनं भर्त गामीत्युक्तम्, इदानीं जीवन्त्याः सप्रजाया अपि स्त्रिया धनग्रहणे क्वचिद्भर्तुरभ्यनुज्ञामाह-

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।

ग हीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रिये दातुमर्हति।। १४७।।

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, रुग्णावस्था में और बन्दी होने पर इन सब अवस्थाओं में पति के द्वारा लिया गया स्त्री धन फिर नहीं लौटाया जाता है।।१४७।।

मिताक्षरा - दुर्भिक्षे कुटुम्बभरणार्थं, धर्मकार्ये अवश्यकर्तव्ये, व्याधौ च संप्रतिरोधके, बन्दिग्रहणनिग्रहादौ, द्रव्यान्तररहितः स्त्रीधनं ग ह्णन्भर्ता न पुनर्दातुमर्हति; प्रकारान्तरेणापहरन्दद्यात्। भर्त व्यतिरेकेण जीवन्त्याः स्त्रिया धनं केनापि दायादेन न ग्रहीतव्यम्; 'जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः। ताच्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः प थिवीपतिः।।' (मनुः ८।२६) इति दण्डविधानात्। तथा - 'पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो ध तो भवेत्। न तं भजेरन्दायादां भजमानाः पतन्ति ते।' (मनुः ६।२००) इति दोषश्रवणाच्च।।१४७।।

आधिवेदनिकं स्त्रीधनमुक्तं, तदाह-

अधिविन्नस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम्।

न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत्।।१४८।।

अन्वय - यस्यै अधिविन्नस्त्रियै स्त्रीधनं न दत्तं अधिवेदनिकं समम् (धनं) दद्यात्, दत्ते तु अर्धं प्रकल्पयेत्।

मिताक्षरा - न्यूनाङ्गाः करचरणादिविकलाः, न्यूनेन्द्रिया नेत्रश्रोत्रादिरहिताः, रोगिणोदुश्चर्मप्रभ तयः, तेषां सत्येनासत्येनान्यथास्तोत्रेण च निन्दार्थया स्तुत्या। यत्र नेत्रयुगलहीन एषो न्ध इत्युच्यते तत्सत्यम्। यत्र पुनश्च क्षुष्मानेवान्ध इत्युच्यते तदसत्यम्। यत्र विक ताक तिरेव दर्शनीयस्त्वमसीत्युच्यते तदन्यथास्तोत्रम्। एवंविधैर्यः क्षेपं निर्भर्त्सनं करोत्सयसौ अर्धाधिकत्रयोदशपणान्दण्डनीयः। (मनुः ८।२७४) - 'काणं वा प्यथवा ख जमन्यं वा पि तथाविधम्। तथ्येनापि ब्रवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्।।' इति यन्मनुवचनं, तदतिदुर्वत्तवर्णविषयम्। यदा पुनः पुत्रादयो मात्रादीन् शपन्ति तदा शतं दण्डनीया इति तनैवोक्तम्। (मनुः ८।२७५) - 'मातरं पितरं जायां भ्रातरं श्वशुरं गुरुम्। आक्षारय शतं दाप्यः पन्थानं चादददगुरोः।।' इति। एतच्च सापराधेषु मात्रादिषु गुरुषु निरपराधायां च जायायां द्रष्टव्यम्।।२०४।। अश्लीलाक्षेपे दण्डमाह -

अभिगन्तास्मि भगिनीं मातरं वा तवेति ह।

शपन्तं दापयेद् राजा प चर्विशतिकं दमम्।।२०५।।

अन्वय - तव मातरं भगिनीं वा अभिगन्तास्मि इति ह शपन्तं राजा प चर्विशतिकं दमम् दापयेत्।

अनुवाद - यदि कोई किसी को माँ बहन की गाली दे तो उसे राजा पच्चीस पण दण्ड दे।।२०५।।

मिताक्षरा - 'त्वदीयां भगिनीं मातरं वा अभिगन्तास्मि' इति शपन्तं अन्यां वा 'त्वज्जायामभिगन्ता स्मि' इत्येवं शपन्त राजा प चर्विशतिकं पणानां प चधिका विशतिर्यस्मिन्दण्डे स तथोक्तस्तं दमं दापयेत्।।२०५।। एवं समानगुणेषु वर्णेषु दण्डमभिधाय विषमगुणेषु दण्डं प्रतिदायितुमाह -

अर्धो धमेषु द्विगुणः परस्त्रीषूत्तमेषु च।

अन्वय - अधमेषु अर्धः, परस्त्रीषु उत्तमेषु च द्विगुणः।

अनुवाद - अपने से हीन जाति को आक्षेप करे तो आधा दण्ड दे अर्थात् साढ़े बारह पण दण्ड दे। अपने से उत्तम जाति या परस्त्री पर आक्षेप करे तो दुगुना दण्ड दे अर्थात् पचास पण दण्ड दे।

मिताक्षरा - अधमेष्वक्षेत्रापेक्षया न्यूनव तादिगुणेष्वर्धो दण्डः। पूर्ववाक्ये प चर्विशतेः प्रक तत्वात्तदपेक्षयार्धः सार्धद्वादशपणात्मको द्रष्टव्यः। परभार्यासु पुनरविशेषेण द्विगुणः प चविशत्यपेक्षयैव प चाशत्पणात्मको वेदितव्यः। तथोत्तमेषु च स्वापेक्षयाधिकश्रुतव तेषु दण्डः प चाशत्पणात्मक एव।।

वर्णानां मूर्धावसिक्तादीनां च परस्पराक्षेपे दण्डकल्पनामाह -

दण्डप्रणयनं कार्यं वर्णजात्युत्तराधरैः।। २०६।।

अन्वय - वर्णजात्युत्तराधरैः दण्डप्रणयनं कार्यम्।

अनुवाद - वर्ण व जाति की उत्तमाधमता को देखकर ही दण्ड का विधान करना चाहिए।। २०६।।

मिताक्षरा - वर्णा ब्राह्मणादयः, जातयो मूर्धावसिक्ताद्याः। वर्णाश्च जातयश्च वर्णजातयः। उत्तराश्च अधराश्च उत्तराधराः, वर्णजातयश्च ते, वर्णजातयश्च ते उत्तराधराश्च वर्णजात्युत्तराधराः, तैः वर्णजात्युत्तराधरैः परस्परमाक्षेपे क्रियमाणे दण्डस्य प्रणयनं प्रकर्षेण नयनमूहनं वेदितव्यम्। तच्च दण्डकल्पनमुत्तराधरैरिति विशेषेणोपादानादुत्तराधराभावापेक्षयैव कर्तव्यमित्यवगम्यते। यथा मूर्धावसिक्तं ब्राह्मणाद्धीनं क्षत्रियादुत्क ष्टं चाक्रुश्य ब्राह्मणः क्षत्रियाक्षेपनिमित्तात्प चाशत्पणदण्डात्किंचिदधिकं प चसप्तत्यात्मकं दण्डमर्हति, क्षत्रियो पि माक्रुश्य तमेव दण्डमर्हति। मूर्धावसिक्ताम्बुष्टयोः परस्पराक्षेपे ब्राह्मणक्षत्रिययोः परस्पराक्रोशनिमित्तकौ यथाक्रमेण दण्डौ वेदितव्यौ। एवमन्यत्राप्यूहनीयम्।।२०६।। एवं सवर्णविषये दण्डमभिधाय वर्णानामेव प्रतिलोमानुलोमाक्षेपे दण्डमाह -

प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः।

वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः।। २०७।।

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - ब्राह्मणादि वर्णों में प्रातिलोम्य अपवाद में अर्थात् हीन जाति वाला बड़ी जाति वाले को

मिताक्षरा - पातित्यहेतुभिर्ब्रह्महत्यादिभिर्वर्णिनामाक्षेपे क ते मध्यमसाहसं दण्डः। उपपातकसंयुक्ते पुनः
:गोघ्नस्त्वमसि' इत्येवमादिरूपे क्षेपे प्रथमसाहसं दण्डनीयः।।२१०।।

त्रैविद्यन पदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः।

मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः।। २११।।

अन्वय - त्रैविद्यन पदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः जातिपूगानां (क्षेपे) मध्यमः ग्रामदेशयोः (क्षेपे) प्रथमः।

अनुवाद - तीनों वेदों के ज्ञाता को, राजा को, तथा देवता को आक्षेप करने पर उत्तम साहस दण्ड होता है। ब्राह्मणादि जाति के पूग-(संघों) को आक्षेप करने पर मध्यम साहस दण्ड होता है तथा जो ग्राम व देश को आक्षेप करे उन्हें प्रथम साहस दण्ड देना पड़ता है।। २११।।

मिताक्षरा - किंच, त्रैविद्याः वेदत्रयसंपन्नास्तेषां राज्ञां देवानां च क्षेपे उत्तमसाहसो दण्डः। ये पुनर्ब्राह्मणमूर्धावसिक्तादिजातीनां पूगाः संघास्तेषामाक्षेपे मध्यमसाहसो दण्डः। ग्रामदेशयोः प्रत्येकमाक्षेपे प्रथमसाहसो दण्डो वेदितव्यः।।२११।।

इति वाक्पारुष्यं नाम विवादपदप्रकरणम्।

----- ० -----

अथ दण्डपारुष्यप्रकरणम्

संप्रति दण्डपारुष्यं प्रस्तूयते, तत्स्वरूपं च नारदेनोक्तम् (१५।४) - 'परगात्रेष्वभिद्रोहे हस्तपादायुधादिभिः। भस्मादिभिश्चोपघातो दण्डपारुष्यमुच्यते।।' इति। परगात्रेषु स्थावरजङ्गमात्मकद्रव्येषु हस्तपादायुधैरादिग्रहणाद्ग्रावादिभिर्यो भिद्राहो हिसनं दुःखोत्पादनं तथा भस्मना आदिग्रहणाद्रजः पङ्कपुरीषाद्यैश्च य उपघातः संस्पर्शनरूपं मनोदुःखोत्पादनं तदुभयं दण्डपारुष्यम्। दण्ड्यते नेनेति दण्डो देयः, तेने यत्पारुष्यं विरुद्धाचरणं जङ्गमादेर्द्रव्यस्य तद्दण्डपारुष्यम्। तस्य चावगोरणदिकारणभेदेन त्रैविध्यमभिधाय हीनमध्यमोत्तमद्रव्यरूपकर्मत्रैविध्यात्पुरत्रैविध्यं तेनैवोक्तम् (१५।५-६) - 'तस्यापि द ष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात्। अवगोरणनिःसङ्गपातनक्षतदर्शनैः।। हीनमध्योत्तमानां च द्रव्याणां समतिक्रमात्। त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधनम्।।' इति। निसङ्गपातनं निःशङ्कप्रहरणम्। त्रीण्येव साहसानि त्रिप्रकारण्येव। सहसा क तानि दण्डपारुष्याणीत्यर्थः। तथा वाग्दण्डपारुष्ययोरुभयोरपि द्वयोः प्रव त्तकलहयोर्मध्ये यः क्षमते न केवलं तस्य दण्डाभावः, किंतु पूज्य एव। तथा पूर्व कलहे प्रव त्स्य दण्डगुरुत्वम्। कलहे च बद्धवैरानुसन्धातुरेव दण्डभाक्त्वम्। तथा तयोर्द्वयोरपराधविशेषापरिज्ञाने दण्डः समः। तथा श्वचांदिभिरार्याणामपराधे क ते सज्जना एव दण्डदापने धिकारिणः, तेषामशक्यत्वे तान् राजा घातयेदेव, नार्थं ग ह्णीयादित्येवं प च प्रकारा विधयस्तेनैवोक्ताः (ना० १५।७) - 'विधिः प चविधस्तूक्त एतयोरुभयोरपि। पारुष्येसति संरम्भादुत्पन्ने क्रुद्धयोर्द्वयोः। स मन्यते यः क्षमते दण्डभाग्यो तिवर्तते। पूर्वमाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक्।। पश्चाद्यः सो प्यसत्कारी पूर्वं तु विनयो गुरुः। द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नति यः पुनः।। स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वं वा यदि वेतरः। पारुष्यदोषाव तयोर्युगपत्संप्रव त्तयोः।। विशेषश्चेन्न लक्ष्येत विनयः स्यात्समस्तयोः। श्वपाकषण्डचण्डालव्यङ्गेषु वधव त्तिषु।। हस्तिपत्रात्यदासेषु गुर्वाचार्यन पेषु च। मर्यादातिक्रमे सद्यो घात एवानुशासनम्।। यमेव ह्यतिवर्तेरन्नेते सन्तं जनं न षु। स एव विनयं कुर्यान्नूनं विनयभाङ्गन पः।। मला ह्येते मनुष्याणां धनमेषां मलात्मकम्। अतस्तान्घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत्।।' (१५।२, १०, ११-१४) इति।।

एवंभूतदण्डपारुष्यनिर्णयपूर्वकैत्वादण्डप्रणयनस्य तस्वरूपसंदेहे निर्णयहेतुमाह -

असाक्षिके हते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च।

द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृतो भयात्।। २१२।।

अन्वय - असाक्षिके हते तु कूटचिह्नकृतो भयात् चिह्नैः युक्तिभिः आगमेन च व्यवहारः च द्रष्टव्यः।

अनुवाद - यदि बिना साक्षी के ही कोई यह कहे कि 'अकेले में इसने मुझे मारा' तो राजा को चाहिए

प्रथसाहसादर्धदण्डो वेदितव्यः ।। भस्मादिसंस्पर्शं पुनः क्षत्रियवैश्ययोः 'प्रतिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमा' (व्य० २०७) इति वाक्पारुष्योक्तन्यायेन कल्प्यम् । शूद्रस्य तत्रापि हस्तच्छेद एव । (७।२७२) - 'अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठो छेदयेत्र पः । अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ।।' इति मनुस्मरणात् ।।२१५।। एवं प्रातिलोम्यापराधे दण्डमभिधाय पुनः सजातिमधिकं त्याह -

उद्गूर्णं हस्तपादे तु दशविंशतिकौ दमौ ।

परस्परं तु सर्वेषां शस्त्रे मध्यमसाहसः ।। २१६ ।।

अन्वय - हस्तपादे तु उद्गूर्णं (क्रमशः) दशविंशतिकौ दमौ । परस्परं शस्त्रे तु मध्यमसाहसः । सर्वेषाम् ।

अनुवाद - प्रहार के लिए यदि हाथ व पैर उठाये तो क्रमशः दस और बीस पण दण्ड देना पड़ता है । यदि आपस में एक दूसरे को मारने के लिए शस्त्र उठाये तो मध्यम साहस दण्ड देना पड़ता है । यह दण्ड सभी के लिए समान है ।।२१६।।

मिताक्षरा - हस्ते पादे वा ताडनार्थमुद्गूर्णं यथाक्रमं दशपणो विंशतिपणश्चदण्डो वेदितव्यः । परस्परवधार्थं शस्त्रे उद्गूर्णं सर्वेषां वर्णिनां मध्यमसाहसो दण्डः ।।२१६।।

पादकेशांशुककरोल्लु चनेषु पणान् दश ।

पीडाकर्षाशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः ।।२१७।।

अन्वय - पादकेशांशुककरोल्लु चनेषु दश पणान् पीडाकर्षाशुकावेष्टपादाध्यासे शतं दमः (दाप्यः) ।

अनुवाद - यदि पाँव, केश, कपड़ा और हाथ इनमें से किसी को पकड़ कर खींचे तो दश पण दण्ड देना पड़ता है और वस्त्र से लपेट कर पाँव से मारे व खींचे तो सौ पण दण्ड देना पड़ता है ।। २१७ ।।

मिताक्षरा - किंच, पादकेशवस्त्रकराणामन्यतमं गृहीत्वा या उल्लुचति झटित्याकर्षयति असौ दशपणान्दण्ड्यः । पीडा च कर्षांशुकोवेष्टश्च पादाध्यासश्च पीडाकर्षाशुकावेष्टपादाध्यासं तस्मिन्समुच्चिते शतं दण्ड्यः । एतदुक्तं भवति - अंशुकेनावेष्ट्य गाढमापीड्याक ष्य च यः पादेन घट्टयति, तं शतं पणान्दापयेदिति ।।२१७।।

शोणितेन विना दुःखं कुर्वन् काष्ठादिभिर्नरः ।

द्वात्रिंशतं पणान् दण्ड्यो द्विगुणं दर्शने स जः ।। २१८ ।।

अन्वय - काष्ठादिभिः नरः शोणितेन विना दुःखं कुर्वन् द्वात्रिंशतं पणान् दण्ड्यः अस जः दर्शने द्विगुणम् ।

अनुवाद - काष्ठादि से ताडन करने पर यदि खून न दिखाई दे तो बत्तीस पणों से दण्डनीय होता है । बहुत ताडन से खून भी दिखाई दे तो फिर दुगुणा दण्ड देना पड़ता है ।। २१८ ।।

मिताक्षरा - किंच । यः पुनः शोणितं यथा ना दृश्यते तथा म दुताडनं काष्ठलोष्ठादिभिः करोत्यसौ द्वात्रिंशतं पणान्दण्ड्यः ।। यदा पुनर्गाढताडनेन लोहितं दृश्यते तदा द्वात्रिंशतो द्विगुणं चतुःषष्टिपणान्दण्डनीयः । त्वङ्भासास्थिभेदे पुनर्विशेषो मनुना दर्शितः (८।२८४) - 'त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः । मांसभेत्ता च षण्णिकान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ।।' इति ।।२१८।।

करपाददतो भङ्गे छेदने कर्णनासयोः ।

मध्यो दण्डो व्रणोद्भेदे म तकल्पहते तथा ।। २१९ ।।

अन्वय - करपाददतो भङ्गे कर्णनासयोः छेदने, व्रणोद्भेदे म तकल्पहते मध्यो दण्डः ।

अनुवाद - हाथ, पैर और दांत के तोड़ने पर और नाक व कान के छेदन पर, फोड़े आदि के कुचलने पर और करीब-करीब म तकल्प मारने पर माध्यम साहस दण्ड देना पड़ता है ।।२१९।।

मिताक्षरा - किंच, करपाददन्तस्य प्रत्येकंभङ्गे कर्णनासस्य च प्रत्येकं छेदने रूढव्रणस्योद्भेदने म तकल्पो यथा भवति तथा हते ताडिते मध्यमसाहसो वेदितव्यः । अनुबन्धादिना विषयस्य साम्यमत्रापादनीयम् ।।२१९।।

मिताक्षरा - मुद्गरादिना कुड्यस्याभिघाते विदारणे द्विधाकरणे च यथाक्रमं प चपणो दशपणो विंशतिपणश्च दण्डो वेदितव्यः। अवपातने पुनः कुड्यस्तैते त्रयो दण्डाः समुच्चिता ग्राह्याः, पुनः कुड्यसंपादनार्थं च धनं स्वामिने दद्यात्।।२२३।।

दुःखोत्पादि ग हे द्रव्यं प्राणहरं तथा।

षोडशाद्यः पणान् दाप्यो द्वितीयो मध्यमं दमम्।। २२४।।

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - जो कोई किसी के घर में दुःख देने वाली या प्राण हरने वाली वस्तु फेंके तो उसे क्रमशः पहले में सोलह पण व दूसरे में मध्यम साहस दण्ड देना पड़ता है।। २२४।।

मिताक्षरा - अपि च, परग हे दुःखजनकं कण्टकादि द्रव्यं प्रक्षिपन्षोडशपणान्दण्ड्यः। प्राणहरं पुनर्विषभुजङ्गादिकं प्रक्षिपन्मध्यमसाहसं दण्ड्यः २२४

पश्वभिद्रोहे दण्डमाह -

दुःखे च शोणितोत्पादे शाखाङ्गच्छेदने तथा।

दण्डः क्षुद्रपशूनां तु द्विपणप्रभ तिः क्रमात्।। २२५।।

अन्वय - क्षुद्रपशूनां दुःखे, शोणितोत्पादे च तथा शाखाङ्गच्छेदने तु क्रमात् द्विपणप्रभ तिः दण्डः।

अनुवाद - छोटे-छोटे पशुओं को जो ताडन करे, शोणित निकाले निर्जीव अंग सींग आदि का छेदन करे तो वह क्रमशः २, ४, ६ और ८ पणों से दण्डनीय होता है।। २२५।।

मिताक्षरा - क्षुद्राणां पशूनां अजाविकहरिणप्रायाणां ताडनेन दुःखोत्पादने अस वस्त्रावणे शाखाङ्गच्छेदने। 'शाखा' शब्देन चात्र प्राणसंचाररहितं शङ्गादिकं लक्ष्यते। अङ्गानि करचरणप्रभ तीनि, शाखा चाङ्गं च शाखाङ्गं तस्य छेदने द्विपणप्रभ तिर्दण्डः। द्वौ पणौ यस्य दण्डस्य स द्विपणः। द्विपणः प्रभ तिरादिर्यस्य दण्डगणस्यासौ द्विपणप्रभ तिः। स च दण्डगणो द्विपणश्चतुःपणः षट्पणो षट्पण इत्येवंरूपो न पुनर्द्विपणस्त्रिपणश्चतुष्पणः पश्चपण इति। कथमिति चेदुच्यते? अपराधगुरुत्वात्तावत्प्रथमदण्डाद्गुरुतरमुपरितनं दण्डत्रितयमवगम्यते। तत्र चाश्रुतत्रित्वादिसंख्याश्रयणाद्वरं श्रुतिद्विसंख्याया एवाभ्यासाश्रयणेन गुरुत्वसंपादनमिति निरवद्यम्।।२२५।।

लिङ्गस्य छेदने म त्थौ मध्यमो मूल्यमेव च।

महापशूनामेषु स्थानेषु द्विगुणो दमः।। २२६।।

अन्वय - स्पष्टम्।

अनुवाद - छोटे पशुओं के लिङ्गछेदन में अथवा मारने में राजा को मध्यम साहस दण्ड देना पड़ता है तथा स्वामी को उसका मूल्य देना पड़ता है और महापशुओं हाथी, घोड़ा आदि के ताडनादि करने पर दुगुणा दण्ड देना पड़ता है।।२२६।।

मिताक्षरा - किंच, तेषां क्षुद्रपशूनां लिङ्गछेदने मरणे च मध्यमसाहसो दण्डः। स्वामिने च मूल्यं दद्यात्। महापशूनां पुनर्गो गजवाजिप्रभ तीनामेषु स्थानेषु ताडनलोहितस्रावणादिषु निमित्तेषु पूर्वोक्तादण्डाद्विगुणो दण्डो वेदितव्यः।।२२६।।

स्थावराभिद्रोहे दण्डमाह -

प्ररोहिशाखिनां शाखास्कन्धसर्वविदारणे।

उपजीव्यद्रुमाणां च विंशतेर्द्विगुणो दमः।। २२७।।

अन्वय - प्ररोहिशाखिनां उपजीव्यद्रुमाणां च शाखास्कन्धसर्वविदारणे विंशतेर्द्विगुणो दमः।

अनुवाद - जिन व क्षों के कलम लग सके, ऐसे व क्षों को और जिन व क्षों के द्वारा मनुष्य की

इकाई-III

कौटिल्य अर्थशास्त्र

आचार्य कौटिल्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ राजनीति और अर्थशास्त्र का ऐसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें ईसा से तीन शताब्दी पूर्व के एतद्विषयक भारतीय चिन्तन की पराकाष्ठा के दर्शन होते हैं। हमारे प्राचीन चिन्तन के बारे में पाश्चात्य विद्वानों का सामान्यतः यही मानना था कि भारत ने विचार क्षेत्र में तो प्रगति की है, लेकिन क्रिया क्षेत्र में बुरी तरह असफल रहा है, लेकिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर सिद्ध हो जाता है कि हम भारतीय प्राचीन काल में विचार क्षेत्र के साथ कार्य क्षेत्र में भी निपुण थे। इस अर्थशास्त्र में राज्य-प्रबन्ध सम्बन्ध समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय वर्णित हैं; जिनका अध्ययन-मनन करके भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं बल्कि संसार के राजनीतिज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि इसमें सिद्धान्त एवं क्रिया का समन्वित रूप मिलता है चाणक्य अर्थशास्त्र में नीति सम्बन्धी अत्यन्त उत्कृष्ट श्लोक सरल भाषा-शैली में निबद्ध हैं। अर्थशास्त्र यद्यपि राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थ है, फिर भी इसमें व्यावहारिक सामान्य नीति सम्बन्धी शाश्वत सत्य के द्योतक श्लोक मिलते हैं। इसी कारण आज इस ग्रन्थ का महत्व ग्रीक के अरस्तु अथवा अफलातून के ग्रन्थों से भी अधिक है।

अर्थशास्त्र के कर्ता और उनका समय

राजनीति सम्बन्धी ज्ञान के भण्डार अर्थशास्त्र के लेखक सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रधानमन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य माने जाते हैं। आचार्य कौटिल्य का मूल नाम विष्णुगुप्त था। 'चणक-ऋषि' का पुत्र होने के कारण 'चाणक्य' तथा कुटिल गोत्रीय ब्राह्मण होने से 'कौटिल्य' इनके उपनाम हैं। वैसे 'अभिज्ञान चिन्तामणि' नामक कोश के अनुसार इनके-वात्स्यायन, मल्लनाग, कौटिल्य, चाणक्य, द्रमिल, पक्षिश-स्वामी, विष्णुगुप्त, आंगल आदि आठ नाम भी मिलते हैं। जहां कुटिल गोत्रीय ब्राह्मण होने के कारण कौटिल्य कहा गया है, वहां यह भी मिलता है कि कुटिल नीति के पक्षपाती होने के कारण इन्हें कौटिल्य नाम से जाना जाता है। अर्थशास्त्र के अन्त में स्वयं चाणक्य द्वारा लिखे गये इस वाक्य से-"स्वमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च" सिद्ध होता है स्वयं विष्णुगुप्त ने ही सूत्र और भाष्य की रचना की है। कौटिल्य के जन्मस्थान के बारे में उल्लेख कहीं नहीं मिलता। माना जाता है कि आचार्य कौटिल्य का जन्म गान्धार जनपद के 'तक्षशिला' नामक नगर में हुआ था, उस समय तक्षशिला विश्वविद्यालय विद्याओं के क्षेत्र में प्रसिद्ध एवं मुख्य केन्द्र था। संस्कृत के प्रथम व्याकरणाचार्य 'पाणिनि' इसी विश्वविद्यालय के आचार्य थे। कौटिल्य ने इसी नगर में शिक्षा प्राप्त करके इसी विश्वविद्यालय में अध्ययन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उनके समय में विश्वविद्यालय की ख्याति के कारण बहुत दूर-दूर से ब्राह्मण कुमार, राजकुमार शिक्षा ग्रहण करने आते थे।

आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य संसार के प्रमुख राजनीतिज्ञों में अग्रगण्य हैं। इनका जन्म आज से लगभग २३५० वर्ष पूर्व हुआ था। चाणक्य ने मगध वंश को समूल नष्ट करके चन्द्रगुप्त को सम्राट बनाया था। इतिहासकारों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का शासनकाल ई०पू० ३२४ से ई०पू० ३०० के बीच ठहरता है। तदनुसार आचार्य कौटिल्य का स्थितिकाल निर्विवाद रूप से ई०पू० चतुर्थ शताब्दी मानना चाहिए। क्योंकि कौटिल्य अर्थशास्त्र पर अंग्रेजी अनुवाद करने वाले डॉ० फ्लीट ने अपनी संक्षिप्त भूमिका में अर्थशास्त्र का संभावित रचनाकाल ३२९-२६६ ई०पू० माना है। इस मत से डॉ० जैकोबी तथा डॉ० टॉमस आदि विद्वान भी सहमत हैं।

लेकिन कुछ विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। प्रोफेसर जॉली ने कौटिल्य का समय ईसा की चौथी शताब्दी माना है क्योंकि मैगस्थनीज के यात्रा विवरण में चाणक्य के नाम का उल्लेख नहीं है। उनका यह भी मानना है कि यह ग्रन्थ कामसूत्र, जो ई० चतुर्थ शती की रचना है, से भी मिलता-जुलता है। अन्य विद्वानों ने भी अर्थशास्त्र का समय ई० चतुर्थ शताब्दी माना है जिनमें विण्टरनिट्ज तथा डॉ० कीथ के नाम उल्लेखनीय हैं। उनका कहना है कि अर्थशास्त्र का रचयिता चाणक्य जैसा कोई राजनीतिज्ञ न होकर कोई विद्वान् पण्डित होना चाहिए।

वस्तुतः इतिहास के द्वारा चाणक्य का चन्द्रगुप्त मौर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। अर्थशास्त्र में 'नरेन्द्रार्थ', 'मौर्यार्थ' इत्यादि पदावली से भी यह निश्चित होता है कि अर्थशास्त्र की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य (ई०पू० चतुर्थ शताब्दी) के जीवनकाल में हुई। चाणक्य के अर्थशास्त्र पर अशोक का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अर्थशास्त्र और अशोक के शासन-लेखों में कुछ एक जैसे विधान पाये जाते हैं जैसे चक्रवाक, शुक और सारिका आदि पक्षियों की हत्या का वर्जित होना। युता, राजुका, समाज, महामाता आदि पारिभाषिक पदावली का दोनों में समान रूप से प्रयोग मिलता है। बाह्य प्रमाणों के आधार पर यदि विचार करें तो पता चलेगा कि सर्वप्रथम कामन्दक ने अपने 'नीतिसार' नामक ग्रन्थ का प्रयोजन एकमात्र कौटिल्य अर्थशास्त्र का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करना बतलाया है, साथ ही ग्रन्थारम्भ में विष्णुगुप्त को नमस्कार किया है। दण्डीकृत दशकुमारचरित में राजा के दैनिक कर्तव्यों का विवेचन भी अर्थशास्त्र की तरह मिलता है तथा दो स्थलों पर 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' को उद्धृत किया है इससे स्पष्ट होता है कि दण्डी को अर्थशास्त्र के ६००० श्लोकों का पर्याप्त ज्ञान भी था।

चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के पारस्परिक सम्बन्ध का पता कितने ही ग्रन्थों से मिल जाता है। सर्वप्रथम विष्णु पुराण, वायु पुराण तथा ब्राह्मण पुराण में चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के घनिष्ठ सम्बन्ध का वर्णन आया है। जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों में दोनों की मित्रता का वर्णन मिलता है। विशाखादत्त ने भी चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य की घनिष्ठता का चित्रण अपने नाटक 'मुद्राराक्षस' में किया है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य कौटिल्य, जिनका अपर नामक चाणक्य भी है, ही अर्थशास्त्र के कर्ता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का काल ई० पू० त तीय-चतुर्थ शताब्दी ही होना चाहिए।

कौटिल्य का कृतित्व

चन्द्रगुप्त मौर्य (ई०पू० चतुर्थ शताब्दी) के प्रधान अमात्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य तथा भारत के राजाओं को आने वाली पीढ़ी को राजनीति सिखाने के लिए जिन ग्रन्थों की रचना की, उनकी संख्या पांच मानी जाती है :-

- (१) कौटिल्य अर्थशास्त्र - जिसमें ६ हजार श्लोक हैं,
- (२) चाणक्य सूत्राणि - एक हजार श्लोकों में निबद्ध है,
- (३) चाणक्य नीति दर्पण - २४८ श्लोक,
- (४) लघु चाणक्य - १०८ श्लोक,
- (५) वद्ध चाणक्य - २०५ श्लोक।

चाणक्य का बनाया एक 'नीतिशास्त्र' भी है जिसके कई संस्करण प्रचलित हैं। जिनमें परस्पर पर्याप्त भेद हैं। भोज द्वारा सम्पादित संस्करण में आठ अध्याय और ५७६ श्लोक हैं। एक अन्य संस्करण में १६ अध्यायों में ३५० श्लोक बराबर विभक्त हैं। इस ग्रन्थ में सभी प्रकार के नीति वचन मिलते हैं। इसकी रचना-शैली आपस्तम्ब सूत्र, बौधायन-धर्मसूत्र आदि सूत्र ग्रन्थों की शैली के अधिक निकट है। इसमें गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण होने के कारण ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसके अलावा सूत्र तथा भाष्य दोनों एक ही लेखक के लिखे हुए हैं। वैसे कहीं-कहीं उपनिषद् एवं ऊर्ध्वकालीन ब्राह्मणों की भाषा की प्रणाली दृष्टिगोचर होती है। ग्रन्थ में आदि से लेकर अन्त तक

एक ही क्रम अपनाया गया है और समस्त ग्रन्थ पूर्व नियोजित योजना के आधार पर लिखा गया है। इस प्रकार से समस्त ग्रन्थों में एक आश्चर्यजनक एकरूपता के दर्शन होते हैं।

अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य

कौटिल्य का अर्थशास्त्र विश्व के राजशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों में मूर्धन्य माना जाता है। यह नितान्त यथार्थपरक और व्यावहारिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कुल १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १५० विषय हैं। एक व्यक्ति का ग्रन्थ होने के कारण इसमें अनुक्रम तथा व्यवस्था है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है-“सब शास्त्रों का अनुशीलन करके और प्रयोग द्वारा कौटिल्य ने नरेन्द्र चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए शासन की यह विधि बतायी है।

प्रथम अधिकरण में राजा की शिक्षा तथा उसके कर्तव्यों का निर्देशन है। एक राजा के लिए सांख्य, योग, लोकायत के दार्शनिक विचार, वेदांगों में वर्णित चारों वर्णों के कर्तव्य, देश की आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक दशा, चरवाहों के कर्तव्य, व्यापार, उद्योग नीति, दण्ड नीति आदि का ज्ञान रखना आवश्यक है। इसके साथ ही राजा के आन्तरिक एवं बाह्य कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए मन्त्री तथा गुप्तचरों का वर्णन किया गया है। क्योंकि राजकार्य सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता, एक पहिए से राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती, इसलिए राजा को परिषद् व सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिए। परिषद् में केवल ऐसे ही व्यक्तियों को नियुक्त किया जाये जो “सर्वोपधाशुद्ध” हों अर्थात् सब प्रकार के दोषों-निर्बलताओं से रहित हों। परिषद् के अमात्य राजा की शासन में सहायता तो करते ही थे, मन्त्री के अतिरिक्त पुरोहित का पद भी शासन में अत्यधिक महत्वपूर्ण था। इनके अतिरिक्त शासन सत्ता के अन्य महत्वपूर्ण पद ये थे-समाहर्ता, सन्निधाता, सेनापति, युवराज, प्रदेष्टा, नायक, व्यावहारिक, कर्मान्तिक, दण्डपाल, दुर्गपाल आदि। उस समय दूत और चर-व्यवस्था पर अत्यधिक ध्यान था। दूत की आवश्यकता, आचरण एवं व्यवहार, कर्तव्य, विशेषाधिकार तथा दूतों के विविध प्रकारों आदि का विस्तृत तथा उपयुक्त विवेचन अर्थशास्त्र के पहले, चौथे और बारहवें अधिकरण में है। चर को राजा की आँख कहा गया है। कौटिल्य ने चरों के नौ प्रकार बताते हुए उनके कर्तव्यों का विवेचन किया है। **दूसरे अधिकरण** में राज्य का कार्यभार संभालने वाले विभिन्न अध्यक्षों और अधिकारियों का विस्तार से वर्णन हुआ है। **तीसरे अधिकरण** में कानूनों का विस्तृत विवेचन है। कौटिल्य ने धर्मसंघीय और कण्टकशोधन न्यायालयों के गठन, अधिकार और कर्तव्य का विस्तार से विवेचन किया है। धर्मसंघीय न्यायालयों में व्यक्तियों के आपस के मुकदमे पेश होते थे, इसके विपरीत कण्टकशोधन न्यायालय में वे मुकदमे उपस्थित होते थे जिनका सम्बन्ध राज्य से होता था। **चौथे अधिकरण** में पुलिस द्वारा धोखा-धड़ी करने वालों को पकड़ने तथा समस्त छल-कपट के कार्यों का वर्णन है। **पांचवें अधिकरण** में अपकारी मंत्री से राजा के बचने तथा कर-विधान एवं कोष में धन-संग्रह की विधियों का विवेचन है। **छठे अधिकरण** में राजनीति के सात अंगों का उल्लेख है। प्रायः सभी राजनीतिशास्त्रज्ञों ने राज्य के सात अंग बतलाये हैं-स्वामी, अमात्य, जनपद या राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड एवं मित्र। अंगों को प्रकृति भी कहा जाता है। **सातवें अधिकरण** में शान्ति, युद्ध, तटस्थता, युद्ध की तैयारी, सन्धि, संदेहात्मक व्यवहार आदि के कारणों का उल्लेख है। **आठवें अधिकरण** में शिकार, जुआ, स्त्री, शराब, आग, पानी आदि द्वारा राजा को कैसी-कैसी विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, इन सभी बातों का वर्णन है। **नवें अधिकरण** में युद्ध का वर्णन है। **दसवें अधिकरण** में युद्ध विषयक शकुन आदि का वर्णन है। **ग्यारहवें अधिकरण** में स्त्री द्वारा शत्रु-विनाश का वर्णन है। **बारहवें अधिकरण** में शत्रु पर विजय प्राप्त करने की अनेक युक्तियाँ बताई गई हैं। **तेरहवें अधिकरण** में राजा को अपने शत्रु के नगर को जीतने के लिए किस प्रकार अपने को सर्वशक्तिशाली घोषित करना चाहिए, इन सभी साधनों का उल्लेख है। **चौदहवें अधिकरण** में कुछ असाधारण बातों का वर्णन है, जैसे-एक व्यक्ति एक माह तक बिना भोजन किए रह सकता है, कैसे वह आग पर चल सकता है। **पन्द्रहवें अधिकरण** में कार्य-योजना का विस्तृत वर्णन है।

इस प्रकार अर्थशास्त्र, राजशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय विषयों का अत्यन्त विशद और व्यावहारिक संहिताबद्ध कोश है। इन विषयों का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक निरूपण करने वाला यह ग्रन्थ विलक्षण भारतीय मेधा का निर्विवाद प्रतिष्ठापक है।

अर्थशास्त्र के प्रथम दो अधिकरणों में प्रतिपादित कुछ मुख्य विषय

१. विद्या चतुष्टय, २. इन्द्रियजय अर्थात् अरिषड्वर्ग त्याग, ३. अमात्यों की नियुक्ति और परीक्षा, ४. गुप्तचर और उनके कर्तव्य, ५. मन्त्रज्ञान और उसकी रक्षा, ६. दूत और उनके कार्य, ७. राजा द्वारा आत्मरक्षा के उपाय, ८. राजा की दिनचर्या और कर्तव्य, ९. जनपद, १०. दुर्ग, ११. नगर, १२. कोष, १३. आय-व्यय का लेखा, १४. शुल्क (चुंगी), १५. अध्यक्ष व उनके कार्य।

१. विद्याचतुष्टय

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति-ये चार विद्यार्ये हैं। (मनु सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्य त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, इन तीन विद्याओं को मानते हैं। उनका मत है कि आन्वीक्षिकी का समावेश त्रयी के अन्तर्गत ही हो जाता है। आचार्य बहस्पति के अनुयायी विद्वान् केवल दो ही विद्यार्ये मानते हैं : वार्ता और दण्डनीति। उनके मतानुसार त्रयी तो संसारी लोगों की आजीविका का साधन मात्र है। शुक्राचार्य के अनुयायी विद्वानों ने तो केवल दण्डनीति को ही विद्या माना है, और उसी को सम्पूर्ण विद्याओं का स्थान एवं कारण स्वीकार किया है। आचार्य कौटिल्य उक्त चारों विद्याओं को मानते हैं। धर्म और अर्थ का बोध कराना ही इन विद्याओं का विद्यात्व अर्थात् प्रयोजन है।

आन्वीक्षिकी - सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक दर्शन), ये आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार त्रयी में धर्म-अधर्म का, वार्ता में अर्थ-अनर्थ का और दण्डनीति में सुशासन-दुःशासन का ज्ञान प्रतिपादित है। त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता-अप्रधानता (बलाबल) को, भिन्न-भिन्न युक्तियों से, निर्धारित करती हुई आन्वीक्षिकी विद्या लोक का उपकार करती है; सुख-दुःख से बुद्धि को स्थिर रखती है; और सोचने, विचारने, बोलने तथा कार्य करने में सक्षम बनाती है। यह आन्वीक्षिकी विद्या सर्वदा ही सब विद्याओं का प्रदीप, सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय मानी गई है।

त्रयी - साम, ऋक् तथा यजु, इन तीनों वेदों का समन्वित नाम ही त्रयी है। अथर्ववेद और इतिहासवेद भी वेद कहे जाते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये छह वेदांग हैं। त्रयी में निरूपित यह धर्म, चारों वर्णों और चारों आश्रमों को अपने अपने धर्म (कर्तव्य) में स्थिर रखने के कारण लोक का बहुत ही उपकारक है। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान देना तथा दान लेना है। क्षत्रिय का धर्म, है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्रबल से जीविकोपार्जन करना और प्राणियों की रक्षा करना। वैश्य का धर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना कृषिकार्य एवं पशुपालन और व्यापार करना है। इसी प्रकार शूद्र का अपना धर्म है कि वह ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य की सेवा करे; खेती, पशु-पालन तथा व्यापार करे; और शिल्प (कारीगरी), गायन, वादन एवं चारण, भाट आदि का कार्य करे। ग हस्थ अपनी परम्परा के अनुकूल कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करे; सगोत्र तथा असगोत्र समाज में विवाह करे; ऋतुगामी हो; देव, पितर, अतिथि और भ त्यजनों को देकर सबसे अन्त में भोजन करे। ब्रह्मचारी का धर्म है कि वह नियमित स्वाध्याय करे; अग्निहोत्र करे; नित्य स्नान करे; भिक्षाटन करे; जीवनपर्यन्त गुरु के समीप रहे; गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र अथवा अपने किसी समान शाखाध्यायी के निकट रहे। वानप्रस्थी का धर्म है : ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना; भूमि पर शयन करना; जटा, म गचर्म को धारण किये रहना; अग्निहोत्र तथा प्रतिदिन स्नान करना; देव, पितर एवं अभ्यागतों की सेवा-पूजा करना और वन के कन्दमूल-फल पर निर्वाह करना। संन्यासी का धर्म है : जितेन्द्रिय होना; वह किसी भी सांसारिक कार्य को न करे; निष्किंचन बना रहे; एकाकी रहे; प्राणरक्षा मात्र के लिए स्वल्प आहार करे; समाज में न रहे; जंगलों में भी एक ही स्थान पर न रहे; मन, वचन, कर्म से अपना भीतर तथा बाहर पवित्र रखे।

प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे; सत्य बोले; पवित्र बना रहे; किसी से ईर्ष्या न करे; दयावान् और क्षमाशील बना रहे। अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसका पालन न करने से वर्ण तथा कर्म में संकरता आ जाती है, जिससे लोक का नाश हो जाता है। इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है। पवित्र आर्यमर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रमधर्म में नियमित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा दुखी नहीं होती, सदा सुखी रहती है।

वार्ता - कृषि, पशुपालन और व्यापार, ये वार्ताविद्या के विषय हैं। यह विद्या, धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थ और नौकर-चाकर आदि को देने से परम उपकारिणी है। इसी विद्या से उपार्जित कोश और सेना के बल पर राजा स्वपक्ष तथा परपक्ष को वश में कर लेता है।

दण्डनीति - दण्ड को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्डनीति कहलाती है। आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता, इन सभी विद्याओं की सुख-समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। वही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है; प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करती है; रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है और वही संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। उसी पर संसार की सारी लोकयात्रा निर्भर है। इसलिए लोक को समुचित मार्ग पर ले चलने की इच्छा रखने वाला राजा सदा ही उद्यतदण्ड दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहे। पुरातन आचार्यों का अभिमत है कि 'दण्ड के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है, जिससे सभी प्राणियों को सहज ही वश में किया जा सके'। किन्तु आचार्य कौटिल्य इस युक्ति से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो उठते हैं; किन्तु दण्ड में ढिलाई कर देने से भी लोक, राजा की अवहेलना करने लगता है। इसलिए राजा को समुचित दण्ड देने वाला होना चाहिए।' भली भाँति सोच-समझ कर प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त करता है। काम-क्रोध के वशीभूत होकर अज्ञानतापूर्वक अनुचित रीति से प्रयुक्त किया हुआ दण्ड, वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निःस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित कर देता है; फिर गृहस्थ लोगों का तो कहना ही क्या ? इसके विपरीत, यदि दण्ड से व्यवस्था सर्वथा ही तोड़ दी जाए तो उसका कुप्रभाव यह होगा कि जैसे छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है, वैसे ही बलवान् व्यक्ति, निर्बल व्यक्तियों का जीना मुश्किल कर देंगे। दण्ड-व्यवस्था के अभाव में सर्वत्र ही अराजकता फैल जाती है और निर्बल को बलवान् सताने लगता है; किन्तु दण्डधारी राजा से रक्षित दुर्बल भी बलवान् बना रहता है। राजा की दण्ड-व्यवस्था से पालित चारों वर्ण-आश्रम, सारा लोक, अपने-अपने धर्म कर्मों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपनी अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं। यही कारण है कि आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता, इन तीनों विद्याओं का अस्तित्व दण्डनीति पर आधारित है। शास्त्रविहित उचित रीति से प्रयुक्त दण्ड प्रजा के योगक्षेम का साधक होता है।

२. इन्द्रिय-जय अर्थात् अरिषड्वर्गत्याग -

विद्या और विनय का हेतु इन्द्रियजय है; अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष इस अरिषड्वर्ग के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका को उनके विषयों : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहलाता है। अथवा शास्त्रों में प्रतिपादित कर्तव्यों के सम्यक् अनुष्ठान को ही इन्द्रियजय कहते हैं। सारे शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है। शास्त्रविहित कर्तव्यों के विपरीत आचरण करने वाले इन्द्रिय-लोलुप राजा सारी पृथिवी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप भोजवंशीय दाण्डक्य नामक राजा कामवश ब्राह्मणकन्या का अपहरण करने के अपराध में, उसके पिता के शाप से, सपरिवार एवं सराष्ट्र विनष्ट हो गया। यही गति विदेह देश के राजा कराल की भी हुई। क्रोधवश राजा जनमेजय भी ब्राह्मणों से कलह कर बैठा और

वह भी उनके शाप से नष्ट हो गया। इसी प्रकार भगुवंशियों से कलह करने पर तालजंघ की भी दुर्गति हुई। लोभाभिभूत होकर इला का पुत्र पुरुरवा, चारों वर्णों से अत्याचारपूर्वक धन का अपहरण करने के कारण, उनके अभिशाप से मारा गया। यही हाल सौवीर देश के राजा अजबिन्दु का भी हुआ। अभिमानी रावण पर-पत्नी के अपहरण के अपराध से और दुर्योधन अपने भाइयों को राज्य का भाग न देने के अन्याय से मारे गये। मदोन्मत्त राजा डम्भोद्भव अपनी प्रजा का तिरस्कार करता रहा; अन्त में नर-नारायण के साथ युद्ध करते हुए वह भी विनाश को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार हैहयराज अर्जुन, परशुराम द्वारा मारा गया। हर्ष के वशीभूत होकर वातापि नाम का असुर, अगस्त्य ऋषि के शापवश मत्स्यमुख में जा पहुँचे। कामादि छह शत्रुओं के वश में होकर, ऊपर गिनाये गये राजाओं के अतिरिक्त दूसरे भी बहुत से राजा, सबन्धु-बान्धव एवं सराज्य नष्ट हो गये। किन्तु जामदग्न्य परशुराम, अम्बरीष और नाभाग जैसे जितेन्द्रिय राजाओं ने चिरकाल तक इस पृथिवी का उपभोग किया।

इसलिए, काम-क्रोधादि छहों शत्रुओं का सर्वथा परित्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। विद्वान् पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे। गुप्तचरों द्वारा स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के वृत्तान्त को अवगत करे। उद्योग के द्वारा राज्य के योग-क्षेम का सम्पादन करे। राजकीय नियमों द्वारा अपने-अपने धर्म पर दृढ़ बने रहने के लिए प्रजा पर नियन्त्रण रखे। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से प्रजा को विनम्र और शिक्षित बनावे। प्रजाजनों को धन-सम्मान प्रदान कर अपनी लोकप्रियता को बनाये रखे। दूसरे का हित करने में उत्सुक रहे। इस प्रकार इन्द्रियों को वश में रखता हुआ वह (राजा) पराई स्त्री, पराया धन और हिंसाप्रवृत्ति को सर्वथा त्याग दे। कुसमय शयन करना, च चलता, झूठ बोलना, अविनीत वृत्ति बनाये रखना, इस प्रकार के आचरणों को और इस प्रकार के आचरण वाले लोगों की संगति को वह छोड़ दे। उसको चाहिए कि वह अधर्माचरण और अनर्थकारी व्यवहार का भी परित्याग कर दे। काम का भी वह सेवन करे; किन्तु उससे धर्म और अर्थ को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। सर्वथा सुखरहित जीवन-यापन न करे। परस्पर अनुबद्ध धर्म, अर्थ और काम, इस त्रिवर्ग का सन्तुलित उपभोग करे। इस त्रिवर्ग का असंतुलित उपभोग बड़ा दुःखदायी सिद्ध होता है। आचार्य कौटिल्य का अभिमत है कि 'धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों में अर्थ प्रधान है, धर्म और काम अर्थ पर निर्भर है। गुरुजन और अमात्यवर्ग राजा की मर्यादा को निर्धारित करें। वे ही राजा को अनर्थकारी कार्यों से रोकते रहें। यदि वह एकान्त में प्रमाद करता हुआ अभर्थादित हो जाये तो समय-सूचक यन्त्र द्वारा अथवा घंटा आदि बजाकर उसको सावधान करें।

३. अमात्यों की नियुक्ति और परीक्षा

एक पहिये की गाड़ी की भाँति राजकाज भी बिना सहायता-सहयोग से नहीं चलाया जा सकता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को हृदयंगम करे। आचार्य भारद्वाज का अभिमत है कि 'राजा, अपने सहपाठियों को अमात्य पद पर नियुक्त करे; क्योंकि उनके हृदय की पवित्रता से वह सुपरिचित होता है; उनकी कार्यक्षमता को भी वह जान चुका होता है। ऐसे ही अमात्य राजा के विश्वासपात्र होते हैं'।

आचार्य विशालाक्ष का कहना है कि 'ऐसा उचित नहीं। एक साथ खेलने तथा उठने-बैठने के कारण सहपाठी अमात्य राजा का तिरस्कार कर सकते हैं। इसलिए अमात्य उनको बनाना चाहिए जो कि गुप्त कार्यों में राजा का साथ देते रहे हों। समान शील और समान व्यसन होने के कारण ऐसे लोग गुप्त बातों का भेद खुल जाने के भय से, राजा का अपमान नहीं करते हैं'।

आचार्य पराशर के मत से आचार्य विशालाक्ष की युक्तियाँ दोषपूर्ण हैं। पराशर का कहना है कि यह बात तो दोनों ही पक्षों पर एक समान चरितार्थ होती है। ऐसा करने से यह भी तो सम्भव है कि गुप्त बातों का भेद खुल जाने के भय से राजा ही अमात्य की कठपुतली बन जाय !

क्योंकि राजा जिन लोगों से जितना ही अपनी गुप्त बातें प्रकट करता है, उतना ही शक्ति से क्षीण होकर वह उनके वश में हो जाता है। इसलिए जो पुरुष राजा की प्राणघातक आपत्तियों में रक्षा करें, उनको अमात्य नियुक्त करना चाहिए। उनके अनुराग की परीक्षा राजा कर चुका होता है। आचार्य पिशुन इसको भक्ति कहते हैं। उनका कहना है कि 'प्राणों की चिन्ता न करके राजा की सहायता करना भक्ति है, सेवाधर्म है; वह बुद्धि का प्रमाण नहीं; जो कि अमात्य का सर्वोच्च गुण है। इसलिए अमात्य पद पर उन्हीं का नियुक्त करना चाहिए जो कि विशिष्ट राजकीय कार्यों पर नियुक्त होकर अपने कार्यों को विशेष योग्यता के साथ सम्पन्न करके दिखा दें, क्योंकि इस ढंग से उनके बुद्धि-वैशिष्ट्य की परीक्षा हो जाती है'।

आचार्य कौणपदन्त उक्त मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि 'ऐसे लोग अमात्योचित गुणों से शून्य होते हैं। अमात्यपद जिनको वंश-परम्परा से उपलब्ध रहा हो, उन्हीं को इस पद पर नियुक्त करना चाहिए। वे ही उसकी सम्पूर्ण रीति-नीति से सुपरिचित होते हैं। यही कारण है कि वे अपना अपकार होने पर भी, परम्परागत सम्बन्ध के कारण राजा को नहीं छोड़ते। यह बात पशु-पक्षियों तक में देखी जाती है कि गाय, अपरिचित गोष्ठ को छोड़कर परिचित गोष्ठ में ही जाकर ठहरती है'। आचार्य वातव्याधि, आचार्य कौणपदन्त के अभिमत के समर्थक नहीं है। उनकी मान्यता है कि 'इस प्रकार के अमात्य; राजा के सर्वस्व को अपने अधीन करके, राजा के समान स्वतन्त्र व त्ति वाले हो जाते हैं। इसलिए नीतिकुशल राजा नये व्यक्तियों को ही अमात्य नियुक्त करे। नये अमात्य, दण्डधारी राजा को यम का दूसरा अवतार समझ कर, उसकी कभी भी अवमानना नहीं करते'।

आचार्य बाहुदन्ती के मत से यह भी ठीक नहीं है। वे कहते हैं 'नीतिशास्त्रपारंगत, किन्तु क्रियात्मक अनुभव से शून्य व्यक्ति राजकार्यों को नहीं कर सकता है। इसलिए जो लोग कुलीन, बुद्धिमान् विश्वासपात्र, वीर और राजभक्त हों, उनको अमात्य पद पर नियुक्त करना चाहिए। उनमें गुणों की प्रधानता होती है'। आचार्य कौटिल्य के मतानुसार, भारद्वाज से लेकर बहुदन्तीपुत्र तक की विचार-परम्परा, अपने-अपने स्थान पर ठीक है। 'किसी भी पुरुष के सामर्थ्य की स्थिति उसके कार्यों की सफलता पर निर्भर है, और उसकी यह कार्यक्षमता उसकी विद्या-बुद्धि के बल पर ही आँकी जा सकती है।' इसलिए राजा को चाहिए कि वह सहपाठी आदि की भी सर्वथा अवहेलना न करे। उसके लिए वह परमावश्यक है कि वह विद्या, बुद्धि, साहस, गुण, दोष, देश, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्ति करे; किन्तु उन्हें अपना मन्त्री कदापि न बनाये।

सामान्य पदों पर अमात्यों की नियुक्ति करके, मन्त्री और पुरोहित के सहयोग से राजा, गुप्त उपायों के द्वारा उनके आचरणों की परीक्षा करे। धर्मोपधा से राजा, पुरोहित को किसी नीच जाति के यहाँ यज्ञ करने तथा पढ़ाने के लिए नियुक्त करे। जब पुरोहित इस कार्य के लिए निषेध करे तो राजा उसको उसके पद से च्युत कर दे। वह पदच्युत पुरोहित गुप्तचर स्त्री-पुरुषों के माध्यम से शपथपूर्वक प्रत्येक अमात्य को राजा से भिन्न कराये। वह कहे 'यह राजा बड़ा अधार्मिक है। हमें चाहिए कि उसके स्थान पर, उसके ही वंशज किसी श्रेष्ठ पुरुष को, किसी धार्मिक व्यक्ति को, समीप के किसी सामन्त को, अथवा किसी जंगल के स्वामी को, या जिसको भी एकमत होकर हम निश्चित कर लें, उसको, नियुक्त करें। मेरे इस प्रस्ताव को सब ने स्वीकार कर लिया है। बताओ, तुम्हारी क्या राय है?' पुरोहित की यह बात सुनकर यदि अमात्य उसको स्वीकार न करे तो उसे पवित्र हृदय वाला समझना चाहिए। गुप्त धार्मिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को 'धर्मोपधा' कहते हैं।

अर्थोपधा से राजा, किसी निन्दनीय या अपूज्य व्यक्ति का सत्कार करने के लिए, सेनापति को आदेश दे। राजा की इस बात से जब सेनापति रुष्ट हो जाए तो राजा उसको भी पदच्युत कर दे। वह पदच्युत अपमानित सेनापति गुप्तभेदियों द्वारा अमात्य को धन का प्रलोभन देकर उसे पूर्वोक्त विधि से राजा के विनाश के लिए उकसाये। वह कहे 'मेरी इस युक्ति को सभी ने स्वीकार कर लिया है।

बताओ, तुम्हारी क्या राय है ?' सेनापति की यह बात सुनकर अमात्य यदि उसका विरोध करे तो समझ लेना चाहिए कि वह पवित्र हृदय वाला है। गुप्त आर्थिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को ही 'अर्थोपधा' कहते हैं।

कामोपधा से राजा किसी सन्यासिनी का वेष धारण करने वाली विशेष गुप्तचर स्त्री को अन्तःपुर में ले जाकर उसका अच्छा स्वागत-सत्कार करे और फिर वह एक-एक अमात्य के निकट जाकर कहे 'महामात्य, महारानी जी आप पर आसक्त हैं। आपके समागम के लिए उन्होंने पूरी व्यवस्था कर दी है। इससे आपको यथेष्ट धन भी प्राप्त होगा।' अमात्य यदि उसका विरोध करे तो उसे पवित्रचित्त समझना चाहिए। गुप्त कामसम्बन्धी उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को ही 'कामोपधा' कहते हैं।

भयोपधा से नौका-विहार के लिए एक अमात्य दूसर अमात्यों को बुलाये; इस प्रस्ताव पर राजा उत्तेजित होकर उन सब को दण्डित कर दे। तदनन्तर राजा द्वारा पहले अपकृत हुआ कपट-वेषधारी छात्र उस तिरस्कृत एवं दण्डित अमात्य के निकट जाकर उससे कहे 'यह राजा बहुत ही बुरा है। इसका वध करके हम किसी दूसरे राजा को उसके स्थान पर नियुक्त करें। सभी अमात्यों को यह स्वीकृत है। कहिए, आपकी क्या राय है ?' अमात्य यदि उसका विरोध करे तो उसको शुचिचित्त समझना चाहिए। गुप्तभय सम्बन्धी उपायों द्वारा अमात्य की शुचिता की परीक्षा को ही 'भयोपधा' कहते हैं।

जो अमात्य धर्मपरीक्षा में खरे उतरे उन्हें धर्मस्थानीय (दीवानी कचहरी) तथा कण्टकशोधन (फौजदारी कचहरी) सम्बन्धी कार्यों में नियुक्त करना चाहिए। अर्थपरीक्षा में उत्तीर्ण अमात्यों को समाहर्ता (टैक्स कलक्टर) तथा सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) के पदों पर रखना चाहिए कामोपधा में परीक्षित अमात्यों को बाहरी विलास-स्थानों तथा भीतरी अन्तःपुर-सम्बन्धी रक्षा का भार सौंपना चाहिए। भयपरीक्षा में उत्तीर्ण अमात्यों को राजा अपना अंगरक्षक नियुक्त करे। इनके अतिरिक्त जो अमात्य सभी परीक्षाओं में खरे उतरे हों उन्हें मन्त्रिपद पर नियुक्त किया जाना चाहिए; और सभी परीक्षाओं में असफल अमात्यों को खदानों, हाथियों और जंगलों आदि की परिश्रम-साध्य व्यवस्था का भार सौंपना चाहिए।

सभी पुरातनअर्थशास्त्रविद् आचार्यों का यही अभिमत है कि 'धर्म, अर्थ, काम और भय द्वारा परीक्षित पवित्र अमात्यों को, उनकी कार्यक्षमता के अनुकूल कार्यभार सौंपना चाहिए।' किन्तु, इस सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य का एक संशोधन यह है कि 'अमात्यों की परीक्षा अवश्य ली जाय; पर उस परीक्षा का माध्यम राजा अपने को तथा रानी को न बनाये। क्योंकि कभी-कभी किसी निर्दोष अमात्य को छल-प्रपंचयुक्त इन गुप्त-रीतियों से ठगा जाना, पानी में विष घोल देने के समान हो जाता है। सम्भव हो सकता है कि उक्त रीतियों से बिगड़ा हुआ अमात्य फिर कभी भी सुधर न सके। क्योंकि छल-छदम् जैसे कपट उपायों के द्वारा ठगे गये चरित्रवान् पुरुष की बुद्धि तब तक चैन नहीं लेती, जब तक उसने अभीष्ट को प्राप्त न कर लिया हो।

इसलिए सर्वोत्तम यही है कि उक्त चारों उपायों से परीक्षण के लिए राजा, किसी बाह्य वस्तु को माध्यम बनाये और गुप्तचरों द्वारा अमात्यों के चरित्र की परीक्षा करे।

४. गुप्तचर और उनके कर्तव्य

आचार्य कौटिल्य के अनुसार राज्य की व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए राजा को अपने राज्य में योग्य गुप्तचर नियुक्ति करने चाहिए। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार कापटिक, उदास्थित, ग हपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद ओर भिक्षुकी आदि अनेक प्रकार के गुप्तचर होते हैं। दूसरों के रहस्यों को जानने वाला, बड़ा प्रगल्भ और विद्यार्थी की वेषभूषा में रहने वाला गुप्तचर 'कापटिक' कहलाता है। इस गुप्तचर का धन, मान और सत्कार से सन्तुष्ट कर मन्त्री उससे कहे 'जिस-किसी की भी तुम हानि होते देखो, राजा को और मुझे प्रमाण मान कर तत्काल ही तुम मुझे सूचित कर दो।'

बुद्धिमान्, सदाचारी, संन्यासी के वेष में रहने वाले गुप्तचर का नाम 'उदास्थित' है। वह अपने साथ बहुत-से विद्यार्थी और बहुत-सा धन लेकर, वहाँ जाकर विद्यार्थियों द्वारा कार्य करवाये, जहाँ कृषि, पशुपालन एवं व्यापार के लिए भूमि नियुक्त है। उस कार्य को करने से जो लाभ हो, उससे वह सब संन्यासियों के भोजन, वस्त्र एवं निवास का प्रबन्ध करे। जो भी इस प्रकार की आजीविका की इच्छा करे, उन्हें सब तरह से अपने वश में कर ले और उनसे कहे 'तुम्हें इसी वेष में राजा का कार्य करना है। जब तुम्हारे वेतन तथा भत्ते का समय आये, यहाँ उपस्थित हो जाना।' दूसरे संन्यासी भी अपने-अपने संप्रदाय के संन्यासियों को इसी प्रकार समझा-बुझा दें।

बुद्धिमान्, पवित्र हृदय और गरीब किसान के वेष में रहने वाले गुप्तचर को 'ग हपतिक' कहते हैं। वह कृषिकार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर 'उदास्थित' गुप्तचर के ही समान कार्य करे।

बुद्धिमान्, पवित्र हृदय, गरीब, व्यापारी के वेष में रहने वाला गुप्तचर 'वैदेहक' है। वह व्यापारकार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर 'उदास्थित' गुप्तचर की भाँति कार्य करता हुआ रहे।

जीविका के लिए सिर मुँड़ाये या जटा धारण किये हुये, राजा का कार्य करने वाला गुप्तचर ही 'तापस' है। वह कहीं नगर के समीप ही बहुत से मुंड या जटिल विद्यार्थियों को लेकर रहे और महीने दो महीने तक लोगों के सामने हरा शाक या मुट्ठीभर अनाज खाता रहे; वैसे छिपे तौर पर अपनी इच्छानुसार सुस्वादु भोजन करता रहे। वैदेहक तथा उसके अनुचर उसकी पूजा-अर्चना करें। शिष्यमण्डली घूम-घूम कर यह प्रचार करे कि यह तपस्वी पूर्ण सिद्ध, भविष्य-वक्ता और लौकिक शक्तियों से सम्पन्न है। अपना भविष्य-फल जानने की इच्छा से आगे हुए लोगों की पारिवारिक पहिचान, उनके शारीरिक चिह्नों के माध्यम से तथा अपने शिष्यों के संकेतों के अनुसार बताये। ऐसा भी बताये कि इन-इन कार्यों में थोड़ा लाभ का योग है। इसके अतिरिक्त वह, आग लगने, चोरी हो जाने, दुष्ट लोगों के वधस्वरूप इनाम देने; देश-विदेश के फल; यह कार्य आज होगा या कल; या इस कार्य को राजा करेगा; आदि बातें भी उनको बताये।

इस प्रश्नोत्तर प्रसंग में 'तापस' गुप्तचर की दूसरे सत्री आदि गुप्तचर सहायता करें। प्रश्नकर्ताओं में यदि धीर, बुद्धिमान्, चतुर लोग हों तो उनसे वह, राजा की ओर से, धन प्राप्त होने की बात कहे; मन्त्री के साथ भी उनकी मुलाकात का संयोग बताये। जब मन्त्री से इन लोगों की मुलाकात हो तो उचित यह होगा कि ऐसे लोगों को मन्त्री धन तथा आजीविका आदि देकर, गुप्तचर की भविष्यवाणी को सच्ची सिद्ध कर दे। जो लोग किसी कारणवश क्रुद्ध हो गए हों उन्हें धन एवं सम्मान देकर संतुष्ट किया जाए। जो बिना कारण ही क्रुद्ध हों तथा राजा से द्वेष रखते हों, उनका चुपचाप वध करवा डाले। इस प्रकार धन और मान से राजा द्वारा सम्मानित गुप्तचर तथा अमात्य आदि राजोपजीवी पुरुषों के सद्व्यवहारों को भली-भाँति जान लें। पाँच प्रकार के गुप्तचर पुरुषों की नियुक्ति और उनके कार्यों के विवरण का यही विधान है।

जो राजा के सम्बन्धी न हों; किन्तु जिनका पालन-पोषण करना राजा के लिए आवश्यक हो; जो सामुद्रिक विद्या, ज्योतिष, व्याकरण आदि अंगों का शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या; वशीकरण; इन्द्रजाल; धर्मशास्त्र; शकुनशास्त्र; पक्षिशास्त्र; कामशास्त्र तथा तत्संबंधी नाचने-गाने की कला में निपुण हों वे 'सत्री' कहलाते हैं।

अपने देश में रहने वाले ऐसे व्यक्ति, जो द्रव्य के लिए अपने प्राणों की परवाह न करके हाथी, बाघ और सांप से भी भिड़ जाते हैं, उन्हें 'तीक्ष्ण' कहते हैं।

अपने भाई-बंधुओं से भी स्नेह न रखने वाले, क्रूर प्रकृति और आलसी स्वभाव के व्यक्ति 'रसद' विष देने वाले कहलाते हैं।

आजीविका की इच्छुक, दरिद्र, प्रौढ, विधवा, दबंग, ब्राह्मणी, रनिवास में सम्मानित, प्रधान अमात्यों के घर में प्रवेश पानेवाली 'परिव्राजिका' संन्यासिनी के वेश में खुफिया का काम करने वाली नाम

की गुप्तचरी कहलाती है। इसी प्रकार मुंडा (मुंडित बौद्ध-भिक्षुणी) और व षली (शूद्रा) आदि नारी गुप्तचरियों को भी जान लेना चाहिए। ये सभी 'संचार' नामक गुप्तचर हैं।

राजा को चाहिए कि वह, इन सत्री आदि गुप्तचरों को मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, ड्योडिदार, अन्तःपुररक्षक, छावनी-रक्षक, कलक्टर, कोषाध्यक्ष, कमिश्नर, हवलदार नगरमुखिया, खदान-निरीक्षक, मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष, सेना-रक्षक, दुर्गरक्षक, सीमारक्षक और अटवीपाल आदि अधिकारियों के समीप, वेष, बोली, कौशल, भाषा तथा कुलीनता के आधार पर उनकी भक्ति और उनके सामर्थ्य की परीक्षा करके नियुक्त करे। उनमें से तीक्ष्ण नामक गुप्तचर का कर्तव्य है कि वह छत्र, चामर, व्यजन, पादुका, आसन, शिविका और घोड़े आदि बाहरी उपकरणों की देखरेख करता हुआ अमात्य आदि की सेवा करे और उनके व्यवहारों को जाने। तीक्ष्ण गुप्तचर द्वारा जानी हुई बातों को सत्र नामक गुप्तचर स्थानिक कापटिक आदि गुप्तचरों को बता दे। सूद (रसोइया), आरालिक (मांस पकाने वाला), स्नापक (नहलाने वाला), संवाहक (हाथ-पैर दबाने वाला), आस्तरक (विस्तर बिछाने वाला), कल्पक (नाई), प्रसाधक (श्रंगार करने वाला) और उदक-परिचारक (जल भरने वाला) आदि विभिन्न वेष में रह कर रसद नामक गुप्तचर, मन्त्री आदि उच्च अधिकारियों के भेदों का पता लगाये। इसी प्रकार कुबड़े, बौने, किरात (जंगली आदमी), गूंगे, बहरे, मूर्ख, अन्धे आदि के वेष में गुप्तचर और नट, नाचने-गाने-बजाने वाले, कहानी कहने वाले, कूद-फाँद कर खेल दिखाने वाले, आदि के वेष में स्त्री गुप्तचर सब रहस्यों का पता ले। भिक्षुकी वेष धारण करने वाली गुप्तचर महिला को चाहिये कि वह रसद आदि पुरुष गुप्तचरों से प्राप्त समाचारों को कापटिक आदि गुप्तचरों तक पहुँचा दे। संस्थाओं के विद्यार्थी अपनी विशिष्ट संकेत लिपि द्वारा उस सूचना को राजा तक पहुँचावे। ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि संस्था-गुप्तचरों को संचार-गुप्तचर और संचार-गुप्तचरों को संस्था-गुप्तचर बिल्कुल न जानने पावे। यदि अमात्य आदि के घरों में भिक्षुकी का अंतःप्रवेश निषिद्ध हो तो यह समाचार द्वारपालों के माध्यम से बाहर भिक्षुकी तक पहुँचे। यदि इसमें भी कुछ आशंका या असंभव जान पड़े तो अंतःपुर के नौकरों के माता-पिता बनने का बहाना करके व द्वा स्त्री-पुरुष भीतर प्रवेश करके रहस्य का पता लगायें। या तो रानियों के बाल सवॉरने वाली या नाचने-गाने वाली स्त्रियों अथवा दासियों द्वारा, अथवा निजी संकेतों वाले गीतों, श्लोकों, प्रार्थनाओं, या तो बाजों, बर्तनों, टोकरियों में गुप्त लेख रखकर अथवा अन्य विधियों से, जैसा भी समय के अनुसार अपेक्ष्य हो, अंतःपुर के समाचारों को बाहर लाया जाय। यदि इन युक्तियों से भी सफलता न मिले तो गुप्तचर को चाहिए कि वह किसी भयंकर बीमारी अथवा पागलपन के बहाने आग लगाकर या किसी को जहर देकर चुपचाप बाहर निकल आवे। परस्पर अपरिचित तीन गुप्तचरों द्वारा लाये गये समाचार यदि एक ही तरह से मिलें तो उन्हें ठीक समझना चाहिए। यदि वे परस्पर विरोधी समाचारों को लायें तो उन्हें या तो नौकरी से अलग कर दिया जाये अथवा चुपचाप पिटवाया जाये।

उक्त गुप्तचरों के अतिरिक्त 'कंटकशोधन' प्रकरण में आगे बताये गए गुप्तचरों को भी नियुक्त करना चाहिये। ऐसे गुप्तचर विदेशों में जाकर वहाँ की सरकार के वेतनभोगी नौकर बनें और उनके गुप्त रहस्यों को समझें। ये गुप्तचर मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष दोनों ओर से वेतन लें। उभयवेतनभोगी इस प्रकार के गुप्तचरों से सम्बन्ध में विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि वह उनके स्त्री-बच्चों को सत्कारपूर्वक अपने आधीन रखे। शत्रु की ओर से नियुक्त इस प्रकार के उभयवेतनभोगी गुप्तचरों की भी राजा जानकारी रखे और उनके माध्यम से अपने उभयवेतनभोगी गुप्तचरों की पवित्रता की भी परीक्षा करता रहे।

इस प्रकार विजिगीषु राजा को चाहिये कि वह शत्रु, मित्र, मध्यम तथा उदासीन राजाओं और उनके मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि अठारह प्रकार के अधीनस्थ कर्मचारियों के निकट; सभी स्थानों पर, अपने गुप्तचरों को नियुक्त करे। इसके अतिरिक्त उन शत्रु, मित्र, मध्यम आदि राजाओं के घरों तथा उनके मन्त्री, पुरोहित आदि के घरों में भी काम करने वाले कुबड़े, बौने, नपुंसक, कारीगर स्त्रियाँ,

गुंगे तथा दूसरे दूसरे प्रकार के बहानों को लेकर म्लेच्छ जाति के पुरुषों को नियुक्त करना चाहिए। दुर्गों में व्यापार करने वाले लोगों को, किले की सीमा पर सिद्ध तपस्वियों को, राज्य के अन्तर्गत अन्य स्थानों पर कृषक तथा उदास्थित पुरुषों को और राज्य की सीमा पर चरवाहों, को गुप्तचर वेष में नियुक्त करना चाहिये।

जंगल में शत्रु की प्रत्येक गतिविधि का पता लगाने के लिए चतुर, वानप्रस्थी ओर जंगली लोगों को गुप्तचर नियुक्त करना चाहिए। इस प्रकार, प्रकट रूप से सामान्य स्थिति में रहते हुए, शत्रु की ओर से नियुक्त सभी, तीक्ष्ण, कापटिक, उदास्थित आदि गुप्तचरों को अपने वर्ग के अनुसार ही पहचाने। शत्रु के किसी प्रलोभन या बहकावे में न फँसने वाले अपने विश्वस्त पुरुषों को, शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाने के लिए, राज्य की सीमा पर नियुक्त किया जाना चाहिए और उन्हें शत्रुपक्ष के लोगों को स्ववश करने के उपाय भी बता देने चाहिए। राजा को चाहिए के महामंत्री, मंत्री, पुरोहित आदि के समीप गुप्तचर नियुक्त करने के पश्चात् वह अपने प्रति प्रजाजनों तथा नगरनिवासियों का अनुराग-द्वेष जानने के लिए वहाँ भी गुप्तचरों की नियुक्ति करे। पहिले तो गुप्तचर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे; और बाद में वे तीर्थस्थानों, सभा-सोसाइटियों, खाने-पीने की दूकानों, राजकर्मचारियों के बीच, तथा नाना प्रकार के लोगों में ये कहकर वाद-विवाद करें कि 'यह राजा तो सर्वगुणसम्पन्न सुना जाता है; किन्तु इसमें कोई भी सद्गुण नहीं दिखाई दे रहा है। उल्टा वह नगरवासियों को दण्ड देकर एवं कर वसूली करके पीड़ा पहुँचा रहा है। उसके बाद सुनने वालों की उचित-अनुचित प्रतिक्रिया को ताड़ता हुआ दूसरा गुप्तचर उसके विरोध में यों कहे-'देखो, जैसे छोटी मछली बड़ी मछली को खा जाती है, पुराकाल में वैसे ही बलवान् लोगों ने निर्बल लोगों का रहना दूभर कर दिया था। इस अन्याय से बचने के लिए प्रजा ने मिलकर विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया; और तभी से खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवां भाग तथा थोड़ा-सा सुवर्ण राजा के लिए, कर रूप में निर्धारित भी कर दिया था। प्रजा के द्वारा निर्धारित भाग को पाकर राजाओं ने प्रजा के योगक्षेम का सारा दायित्व अपने ऊपर लिया। इस प्रकार ये निर्धारित दण्ड एवं कर प्रजा के उत्पीडनों को दूर करने में सहायक होते हैं और प्रजा की भलाई एवं कल्याण के कारण सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि जंगलों में एकान्त जीवन बिताने वाले ऋषि-मुनि भी दाना-दाना करके बीने हुए अन्न का छठा भाग राजा को देते हैं; यह जानकर कि राजा का इस पर सनातन हक है, जिसके बदले में वह हमारी रक्षा करता है। इन्द्र और यम के समान ये राजा लोग भी प्रजाजनों का प्रत्यक्ष निग्रह एवं उन पर अनुग्रह करने वाले होते हैं। इसलिए जो उनका तिरस्कार करता है, निश्चित ही, उस पर दैवी विपत्तियाँ टूटती हैं।

यही कारण है, जिनको दृष्टि में रख कर राजा का अपमान नहीं करना चाहिए।' इत्यादि बातों को कह कर राजा की निन्दा करने वालों को रोक दें। गुप्तचरों के लिए आवश्यक है कि वे अफवाहों पर भी ध्यान दें। जो लोग धान्य पशु, हिरण्य आदि से राजा की सेवा करते हैं; विपत्ति और अभ्युन्नति के समय उसकी सहायता करते हैं; राजा के प्रति क्रुद्ध भाई तथा कुपित प्रजा को जो शान्त कर देते हैं; उनकी प्रसन्नता और उनके कोप पर भी मुण्ड एवं जटिल गुप्तचर निगाह रखें।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह गुप्तचरों के माध्यम से अपने प्रजाजनों पर ध्यान रखने के साथ ही शत्रु देश की प्रजा के क्रुद्ध, लुब्ध, भीत तथा मानी आदि वर्गों को गुप्तचरों के माध्यम से अपने राजा के विरुद्ध करवाये। इस विषय में इन वर्गों की पहचान तथा उनको वश में करने के उपायों के बारे में वे लिखते हैं - जिसको धन देने की प्रतिज्ञा करके धन न दिया गया हो; किसी शिल्प या उपकार सम्बन्धी कार्यों को समान रूप से करने वाले दो व्यक्तियों में से एक का तो सम्मान किया गया हो और दूसरे की अवमानना की गई हो; राजा के विश्वस्त कर्मचारियों ने जिसको राजभवन में प्रवेश करने से रोक दिया हो; स्वयं बुलाकर जिसका तिरस्कार किया गया हो; राजाज्ञा से प्रवासित होने के कारण दुःखित, व्यय करके भी जिसका अभीष्ट कार्य पूरा न हुआ ओ, जिसको अपने धर्म तथा अधिकार से रोका गया हो; सम्मानित तथा अधिकारपूर्ण

पद से जिसको च्युत किया गया हो; राजपुरुषों द्वारा जिसको बदनाम किया गया हो; जिसकी स्त्री को जबरदस्ती छीन लिया गया हो; जिसको जेल में दूंस दिया गया हो; दूसरे के कहने मात्र से जिसको दण्ड दिया गया हो; झूठा इलजाम लगाकर जिस पर धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिया हो; जिसका सर्वस्व अपहरण किया गया हो; अशक्त कार्यों पर नियुक्त करके जिसको पीड़ित किया गया हो और जिसके बन्धु-बान्धवों को देश-निकाला दिया गया हो-इस प्रकार के सभी लोग 'क्रुद्धवर्ग' कहलाते हैं।

किसी लोभ के कारण हिंसा करके जो दूषित हो चुका हो; पाप कर्मों को करने में जो कुख्यात हो; अपने समान अपराधी को दण्डित हुआ देखकर जो घबड़ा गया हो; भूमि का अपहरण करने वाला; जो दण्ड के द्वारा वश में किया गया हो; सभी राजकीय विभागों पर जिसका अधिकार हो; अपनी कार्यक्षमता से जिसने प्रभूत धन एकत्र कर लिया हो; जो राजा के किसी वंशज हिस्सेदार के निकट कुछ कामना से रहता हो; जिससे राजा शत्रुता रखता हो और जो राजा से शत्रुता रखता हो-इस प्रकार से सभी लोग 'भीतवर्ग' कहलाते हैं।

जिसका सब धन-वैभव नष्ट हो गया हो; जो कायर, व्यसनी और अपव्ययी हो, वह 'लुब्धवर्ग' कहलाता है।

अपने को महान् समझने वाला; आत्मश्लाघी; शत्रु के सम्मान को सहन न करने वाला; नीच लोगों द्वारा प्रशंसित; तीक्ष्णप्रकृति; साहसी और भोग्य-पदार्थों से कभी सन्तुष्ट न होने वाला वर्ग ही 'मानीवर्ग' कहलाता है।

उक्त क्रुद्ध, लुब्ध, भीत आदि कृत्यपक्ष के लोगों में से जिस मुण्ड या जटिल गुप्तचर के जो-जो भक्त हों उसको वही गुप्तचर अपने वश में करे। गुप्तचर, क्रुद्धवर्ग के लोगों को उनके स्वामी से यह कह कर फोड़े, 'देखो, जैसे उन्मत्त पीलवान से चलाया गया मतवाला हाथी अपने सामने जो कुछ भी देखता है, उसे कुचल डालता है, उसी प्रकार शास्त्ररूपी आँखों से हीन, अपने अंधे मंत्री के साथ रहता हुआ यह राजा राष्ट्र और प्रजा को नष्ट करने के लिए उद्यत है। ऐसी अवस्था में इस राजा के प्रति तुम्हें कुपित होना चाहिए।' यह कहकर क्रुद्धवर्ग को राजा से फोड़ दे।

भीतवर्ग को अपने वश में करने के लिए गुप्तचर ऐसा कहे- 'देखो, जैसे डरा हुआ साँप जिससे भय खाता है उसी पर अपना विष उगल देता है, उसी प्रकार यह राजा भी तुमसे शंकित है और सर्वप्रथम तुम्हारे ऊपर क्रोधरूपी विष उगलने वाला है। तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम इस स्थान को छोड़ कर कहीं अन्यत्र चले जाओ।' यह कह कर भीतवर्ग का भेदन करे।

लुब्धवर्ग को वश में करने के लिए गुप्तचर यों कहे, 'देखो जैसे चाण्डालों की गाय चाण्डालों के लिए ही दूध देती है, ब्राह्मणों के लिए नहीं, उसी प्रकार राजा भी बल, बुद्धि और वाक्शक्ति से हीन लोगों के लिए लाभदायक है, सर्वगुण-सम्पन्न लोगों के लिए नहीं। इसके विपरीत अमुक राजा बड़ा गुणज्ञ है, तुम्हें उसी के आश्रय में रहना चाहिए।' इस प्रकार लुब्धवर्ग को मिलाये।

मानीवर्ग का भेदन करने के लिए गुप्तचर कहे 'देखो, जैसे चाण्डालों का कुँआ अकेले उन्हीं के लिए उपयोगी है, उसी प्रकार नीच राजा भी नीच लोगों के लिए ही सुखकर है, तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ पुरुषों के लिए नहीं। किन्तु वह अमुक नाम का राजा स्वयं गुणी और गुणज्ञों का आदर करने वाला है। तुम्हें उसी के आश्रम में जाकर रहना चाहिए।' इस प्रकार मानीवर्ग को उसके स्वामी से अलग करे। इस प्रकार राजा अपने पक्ष में किये गये पुरुषों को शपथ, संधि आदि से विश्वास दिला कर उन्हें उन्हीं कार्यों में नियुक्त करे, जिन पर वे नियुक्त थे; किन्तु उनके पीछे गुप्तचरों को अवश्य रखे। इस प्रकार राजा, शत्रुदेश में कृत्यपक्ष के पुरुषों को साम तथा दाम के द्वारा अपनी ओर मिलावे। परन्तु अकृत्यपक्ष के पुरुष उन्हें भेद तथा दण्ड के द्वारा अपनी ओर करते रहें और उनके सामने शत्रु के दोषों की निरन्तर चर्चा करते रहें।

५. मंत्र ज्ञान और उसकी रक्षा

आचार्य कौटिल्य के अनुसार विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि वह अपने देश में दुर्ग आदि तथा शत्रुदेश के सम्बन्ध में संधि-विग्रह आदि कार्यों पर विचार करे। इस प्रकार के सभी कार्यों को गंभीर विचार-विनिमय के अनन्तर ही आरम्भ करना चाहिए। गंभीर व गोपनीय विचार विमर्श ही मंत्र ज्ञान कहलाता है। मंत्र के पांच भाग होते हैं - (१) कार्यारम्भ करने का उपाय, (२) कार्यसाधक पुरुष तथा द्रव्य, (३) देशकाल विभाग, (४) विघ्न प्रतिकार और (५) कार्यसिद्धि।

किसी कार्य की सिद्धि के लिए मंत्र अर्थात् विचार-विमर्श जितना आवश्यक है उससे अधिक आवश्यक है उस मंत्र की रक्षा। अतः राजा मंत्र ज्ञान और उसकी रक्षा के विषय में सदैव सावधान रहे। जिस स्थान पर बैठकर मन्त्रणा की जाय वह चारों ओर से इस प्रकार बन्द होना चाहिए जिससे वहां पक्षी तक न झांक सके और कोई शब्द बाहर न सुनाई दे, क्योंकि अनुश्रुति है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता और मैना ने सुनकर बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्ते तथा अन्य पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में भी सुना जाता है। इसलिए राजा की आज्ञा के बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में मन्त्रणास्थल पर न जावे। यदि गुप्त मन्त्रणा के भेद को कोई फोड़ दे तो तत्काल ही उसको मरवा देना चाहिए।

कभी-कभी बिना कहे ही दूत, अमात्य तथा राजा के हाव-भाव एवं मुद्रा द्वारा भी गुप्त भेद प्रकट हो जाते हैं। स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत भिन्न चेष्टाएं 'इंगित' कहलाती हैं। चेष्टाओं के प्रकट करने वाले अंग 'आकार' या 'आकृति' कहलाते हैं। इसलिए विजिगीषु राजा को चाहिए कि जब तक विचारित कार्यों के आरम्भ करने का समय नहीं आता तब तक अपने गुप्त भावों को दबाकर रखे। मंत्रियों की असावधानी के कारण या मद्यपान की बेहोशी में अथवा सोते समय आकस्मिक प्रलाप द्वारा या विषय-भोग की लालसा से अथवा अभिमान के भाव से गुप्त मन्त्रणाएं समय से पहिले प्रकट हो जाती हैं।

आड़ में छिपकर सुननेवाले अथवा मन्त्रणाकाल में मूर्ख कहकर अपमानित हुआ व्यक्ति भी मन्त्र के भेद को फोड़ देता है। इसलिए इन सभी बातों को दृष्टि में रखकर राजा को चाहिए कि वह अपने गुप्त रहस्यों की सावधानी से रक्षा करे। आचार्य भारद्वाज का सुझाव है कि 'मन्त्र के प्रकट हो जाने पर राजा और उसके सलाहकारों की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। इसलिए इस प्रकार की गुप्त मन्त्रणाओं पर राजा अकेला ही विचार करे; क्योंकि मन्त्रियों के भी अपने सलाहकार होते हैं। उनके भी दूसरे लोग परामर्शदाता होते हैं इसलिए इस मन्त्रि-परम्परा के कारण गुप्त बातों के प्रकट हो जाने का भय बना रहता है। 'इसलिए गुप्त मन्त्रणाओं को राजा के अतिरिक्त कोई न जानने पावे। केवल कार्यारम्भ करने वाले व्यक्ति ही उसके आभास को जान सकें और उन्हें भी उसका परिणाम कार्य की समाप्ति के बाद ही ज्ञात हो।'

आचार्य विशालाक्ष कुछ संशोधन के साथ अपना विचार प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि 'एक ही व्यक्ति द्वारा सोचा-विचारा हुआ मन्त्र सिद्धिदायक नहीं हो सकता। सभी राजकार्य प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के होते हैं; उनके लिए मन्त्रियां की अपेक्षा होती है। न जाने हुए कार्य को जानना, जाने हुए कार्य का निश्चय करना, निश्चितकार्य को दृढ़ करना, किसी कार्य में सन्देह उत्पन्न हो जाने पर विचार-विमर्श द्वारा उस संशय का निराकरण करना, आंशिक कार्य को पूरी तरह विचारना इत्यादि सभी बातें मन्त्रियों के सहयोग से ही पूरी कह जा सकती हैं। इसलिए विजिगीषु राजा को अत्यन्त बुद्धिमान् और पर्याप्त अनुभवी व्यक्तियों के साथ बैठकर विचार करना चाहिए। 'राजा को चाहिए कि सलाह करते समय वह किसी को अवमानित न करे; सबकी बातों को ध्यापनपूर्वक सुने; यहाँ तक कि बालक की भी सारगर्भित बात को ग्रहण करे।'

आचार्य पराशर के मतावलम्बी विद्वानों का कहना है कि 'आचार्य विशालाक्ष के उक्त कथन से मन्त्र का ज्ञान भले ही हो सकता है, मन्त्र की रक्षा नहीं। इसलिए राजा को जिस कार्य के लिए सलाह

लेनी हो उस कार्य के समान ही दूसरे कार्य के सम्बन्ध में वह मन्त्रियों से पूछे। राजा किसी ऐतिहासिक घटना का हवाला देकर कहे कि अमुक कार्य इस ढंग से किया गया था; इसी कार्य को यदि इस ढंग से करना होता तो कैसे किया जाना चाहिए था। इस पर मन्त्री जो राय दें उसके अनुसार ही तत्समान अपने अभीष्ट कार्य को सम्पन्न करे। ऐसा करने से मन्त्र का ज्ञान भी हो जाता है और मन्त्र की रक्षा भी।'

आचार्य पिशुन अर्थात् नारद इस मन्तव्य को नहीं मानते। उनकी स्थापना है 'क्योंकि इस तरह प्रकारान्तर से मन्त्रियों के सम्मुख किसी बात को रख देने से वे समझने लगते हैं कि राजा हमारी सलाह नहीं मानता और उसका हम पर विश्वास नहीं है। इसलिए वे पूर्वघटित एवं अधिदित विषय पर लापरवाही से उत्तर देते हैं और उस बात को प्रकाशित भी कर देते हैं। यह तो मन्त्र के लिए बड़ा दोष है। इसलिए राजा को यही उचित है कि जो लोग जिन-जिन कार्यों पर नियुक्त एवं जिन-जिन विचारों के लिए उपयुक्त हैं उन्हीं के साथ वैसी सलाह करे। ऐसा करने से मन्त्रणा में अधिक परिमार्जन हो जाता है और उसकी सुरक्षा भी हो जाती है।

आचार्य कौटिल्य उक्त मत से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'नारदमुनि की बताई हुई युक्तियों के अनुसार मन्त्र व्यवस्थित नहीं हो सकता। इसलिए तीन या चार मन्त्रियों को साथ बैठकर राजा को मन्त्रणा करनी चाहिए। क्योंकि एक ही मन्त्री से सलाह करता हुआ राजा किसी कठिनतम कार्य के अड़ जाने पर उचित समाधान नहीं कर पाता और मन्त्री प्रतिद्वन्द्वी के रूप में मनमाना करने लगता है। दो मन्त्रियों के साथ बैठकर भी वह सलाह करता है तो कोई असंभव नहीं कि वे दोनों मिलकर राजा को अपने वश में कर लें अथवा दोनों लड़ने लग जायें तो सारी मन्त्रणा ही धूल में मिल जायेगी। यदि तीन या चार मन्त्री सलाहकार होंगे तो उस अवस्था से इस प्रकार के अनर्थकारी महान् दोष के उत्पन्न हो जाने की संभावना नहीं है। कोई भी दोष उसमें सहसा ही नहीं आ सकता है। यदि चार से अधिक मन्त्री हो जायें तो कार्य का निश्चय करना कठिन हो जाता है और उस दशा में मन्त्र की सुरक्षा में भी सन्देह हो जाता है।' इसलिए देश, काल और कार्य के अनुसार एक या दो मन्त्रियों के साथ भी राजा मन्त्रणा करे। अपनी विचार-शक्ति के अनुसार वह अकेला बैठकर कुछ कार्यों का स्वयं ही निर्णय करे।

मन्त्र के विषय में राजा एक-एक मन्त्री से अथवा एक साथ सभी मन्त्रियों से परामर्श कर सकता है। मन्त्रियों के भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को वह युक्तियों के द्वारा समझे। भली-भाँति समझ-बूझ जाने पर अविलंब ही वह अपने निश्चय को कार्यरूप में परिणत कर दे। किसी कार्य को अधिक समय तक विचारते रहना उचित नहीं है। जिन लोगों का कभी अपकार किया हो, उनके साथ या उनके सहयोगियों के साथ कभी भी मन्त्रणा नहीं करनी चाहिए।

मनु के अनुयायी अर्थशास्त्रविदों का इस सम्बन्ध में कहना है कि 'मन्त्रि-परिषद् में बारह अमात्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। बहस्पति के अनुयायी विद्वान् 'सोलह मन्त्रियों' के पक्ष में हैं। शुक्राचार्य-पक्ष के आचार्य मन्त्रियों की संख्या 'बीस' रखना अधिक उपयुक्त समझते हैं। आचार्य कौटिल्य का कहना है कि 'कार्य करने वाले पुरुषों के सामर्थ्य के अनुसार ही उनकी संख्या नियत होनी चाहिए।' वे निर्धारित मन्त्री विजिगीषु राजा के और उसके शत्रु राजा के सम्बन्ध में विचार करें। जो कार्य प्रारम्भ न किये गये हों उन्हें प्रारम्भ करायें; प्रारम्भ किये कार्यों को पूरा करावें और जो कार्य पूरे हो चुके हों उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन-संमार्जन करें।

निष्कर्ष यह है कि विभागीय अध्यक्ष अपने-अपने कार्यों को अंत तक अधिकाधिक निपुणता से सम्पन्न करें। जो मन्त्री राजा के सन्निकट हों, उनको साथ लेकर राजा उनके कार्यों का स्वयं ही निरीक्षण करे। किन्तु जो दूर हों, उनसे पत्र द्वारा परामर्श करता रहे। इन्द्र की मन्त्रि-परिषद् में एक हजार ऋषि थे, जो कि उसके कार्यों के निर्देशक थे। इसीलिए तो दो नेत्रों वाले इन्द्र को हजार आँखों वाला (सहस्राक्ष) कहा गया है।

अत्यावश्यक कार्य के आ जाने पर राजा, मन्त्रि-परिषद् का आयोजन कर उससे परामर्श करे। उनमें से बहुसमर्थित तथा शीघ्र ही कार्यसिद्धि कर देने वाली राय के अनुसार कार्य सम्पादन करे। इस ढंग से कार्य करते हुए राजा के गुप्त रहस्यों को कोई बाहरी व्यक्ति नहीं जा पाता है, प्रत्युत वह दूसरों के दोषों को भी जान लेता है। राजा को चाहिए कि वह अपने गुप्त भावों को उसी प्रकार अपने मन में छिपाये रखे जिस प्रकार कि कछुआ अपने अंगों को छिपाये रखता है। जिस प्रकार वेदाध्ययन से शून्य ब्राह्मण किसी श्रेष्ठ पुरुष के यहाँ श्राद्ध नहीं कर सकता है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान से शून्य व्यक्ति मन्त्र को सुरक्षित नहीं रख पाता है।

६. दूत और उनके कार्य

कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार दूत तीन प्रकार के होते हैं १- निस प्ठार्थ, २-परिमितार्थ और ३-शासनहर।

(१) **निस प्ठार्थ** - कुलीन, बुद्धिमान, वीर, तथा राजभक्ति आदि गुणों से सम्पन्न दूत जिसको कि अमात्य अथवा मन्त्री के समान ही अधिकार प्राप्त होते हैं तथा जिसको अपने राजा के प्रतिनिधि के रूप में शत्रुराजा से सन्धि विग्रह तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में वार्ता करने का अधिकार प्राप्त होता है वह निस प्ठार्थ दूत कहलाता है।

(२) **परिमितार्थ** -निस प्ठार्थ दूत से गुणों और अधिकारों में एक चौथाई न्यून गुण और अधिकार रखने वाला दूत परिमितार्थ कहलाता है। यह राजा द्वारा किसी कार्य विशेष के लिये नियुक्त किया जाता है। निर्धारित कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों में विचार या निर्णय का अधिकार उसे नहीं होता।

(३) **शासनहर**- शासनहर सामान्य कोटि का दूत होता है जिसका कार्य शासकीय पत्र अथवा सन्देशों को दूसरे राजा के पास ले जाना होता है।

आचार्य कौटिल्य दूतों के कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन करते हुए लिखते हैं कि पालकी आदि सवारी, घोड़े आदि वाहन, नौकर-चाकर और सोने-बिछाने आदि सामग्री की भली-भाँति व्यवस्था करके दूत को शत्रुदेश की ओर प्रस्थान करना चाहिये। दूत को पहले ही से यह सोच-विचार कर लेना चाहिये कि 'मैं अपने स्वामी का संदेश इस ढंग से कहूँगा; उसका यह उत्तर होगा तो मेरे प्रत्युत्तर की विधि इस प्रकार होगी; या किन-२ विधियों से उस शत्रु राजा को वश में करना होगा।' आदि-आदि।

राजदूत को चाहिए कि वह शत्रुदेश के वनरक्षक, सीमारक्षक, नगरवासियों तथा जनपदवासियों से मित्रता गांठे। साथ ही वह उभयपक्ष की सेनाओं के ठहरने योग्य युद्ध-भूमि और संयोग बने पर अपनी सेना के भाग सकने योग्य उपयुक्त स्थानों तथा रास्तों का भी निरीक्षण करे। साथ ही शत्रुपक्षी राजा के दुर्ग, उसके राज्य की सीमाएं, आमदनी, उपज, आजीविका के साधन, राष्ट्ररक्षा के तरीके, वहाँ के गुप्त भेद एवं वहाँ की बुराइयों का पता लगाना भी दूत का ही कर्तव्य है। किसी शत्रु राजा के राज्य में प्रवेश करने से पूर्व दूत, उस राजा की आज्ञा प्राप्त कर ले। प्राणान्तक परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर भी वह अपने स्वामी का संदेश अविकल रूप में कहे। यदि शत्रु राजा की वाणी में, मुखमुद्रा में, दृष्टि में प्रसन्नता झलकती हो; वह दूत की बातों को आदरपूर्वक सुन रहा हो; दूत को स्वेच्छया प्रश्न करने या अभीष्ट को प्रकट करने की स्वतन्त्रता हो; दूत के स्वामी राजा का कुशल-क्षेम तथा उसके गुणों के प्रति शत्रु राजा की उत्सुकता हो; दूत को वह आदरपूर्वक समीप ही बैठाये; राजकीय उत्सवों पर दूत को भी स्मरण करे और दूत के प्रत्येक कार्य पर शत्रु राजा का विश्वास हो; तो दूत को समझना चाहिए कि वह मुझ पर प्रसन्न है। यदि इसके विपरीत आचरण देखे, तो समझ ले कि शत्रु राजा उस पर रुष्ट है। इस प्रकार के रुष्ट हुए राजा से दूत कहे 'स्वामिन्, आप हों, अथवा दूसरे कोई भी राजा हों, दूत सभी का मुख होता है। उसी के माध्यम से राजा लोग पारस्परिक वार्ता-विनिमय करते हैं। इसलिए प्राणघातक स्थिति के आ जाने पर भी दूत सही संदेश ही निवेदित करते हैं। कोई चाण्डाल भी इस कार्य पर नियुक्त किया गया हो तो

राजधर्म के अनुसार वह भी अवध्य है, उसी स्थान पर यदि ब्राह्मण हो तो उसके वध से सम्बन्ध में तो सोचा भी नहीं जा सकता है। दूसरे की कही हुई बात को ही दुहरा देना मात्र दूत का कार्य होता है।'

जब तक शत्रुराजा उसे अपने राज्य से जाने की आज्ञा न दे तब तक वह वहीं रहे। शत्रुराजा द्वारा प्राप्त सम्मान पर वह गर्व न करे। शत्रुओं के बीच रहता हुआ अपने को वह बलवान् न समझे। किसी के कुवाक्य को भी वह पी ले। स्त्री-प्रसंग और मद्यपान को वह सर्वथा त्याग दे। अपने स्थान में एकाकी ही शयन करे। मद्य पीने तथा दूसरों के साथ शयन करने से प्रमादवश या स्वप्नावस्था में मन के गुप्त रहस्यों के प्रकट हो जाने का भय बना रहता है। दूत को चाहिए कि वह शत्रु-देश के कृत्यपक्ष को फोड़ देने का कार्य तथा अकृत्यपक्ष को वश में कर देने का कार्य अपने गुप्तचरों द्वारा जाने। राजा और अमात्य आदि उच्चाधिकारियों का पारस्परिक राग-द्वेष तथा राजा की बुराइयों का भेद वह तापस, वैदेहक आदि गुप्तचरों के द्वारा अवगत करे। अथवा तापस, वैदेहक आदि के शिष्यों, चिकित्सक तथा पाखण्डी के वेश में रहने वाले गुप्तचरों या उभयवेतनभोगी गुप्तचरों के द्वारा वह शत्रुराजा के रहस्यों का पता करता रहे। यदि इन गुप्तचरों से भी काम बनता न देखे तो, भिक्षुक, मत्त, उन्मत्त तथा सोते में प्रलाप करने वाले व्यक्तियों के माध्यम से शत्रु के कार्यों का पता लगाता रहे। तीर्थस्थानों, देवालयों, ग हचित्रों तथा लिपिसंकेतों द्वारा भी वह वहाँ के व तान्त जाने। ठीक-ठीक समाचार अवगत हो जाने पर वह तदनुसार भेदरूप उपायों का प्रयोग करे। दूत को चाहिए कि शत्रु के पूछे जाने पर भी वह अपने मन्त्रिपरिषद् का ठीक-ठीक परिचय न दे। 'आप तो सर्वज्ञ हैं' इतना कहकर बात को टाल दें। यदि इतना बताने पर भी शत्रुराजा को सन्तोष न हो तो उतना मात्र परिचय देना चाहिए, जितने से अपने कार्य की सिद्धि हो जाये।

कार्य सिद्ध हो जाने पर भी यदि शत्रुराजा दूत को अपने ही यहाँ रोके रखना चाहता है, तो दूत को, राजा की इस अप्रत्याशित नीति के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। उसको विचार करना चाहिए कि 'क्या शत्रुराजा को मेरे स्वामी पर आने वाली किसी सन्निकट विपत्ति का पता लग गया है। या कि वह मेरे जाने से पूर्व ही अपने किसी व्यसन का प्रतीकार करना चाहता है। अथवा वह पार्ष्णिग्राह (स्वामिराजा का शत्रु एवं शत्रुराजा का मित्र) तथा आसार (शत्रुराजा के मित्र का मित्र) को मेरे स्वामी के विरोध में युद्ध करने के लिए तो नहीं उकसाना चाहता। या उसका इरादा मेरे स्वामी के अमात्य आदि को उससे कुपित करने का तो नहीं है। या कि वह किसी आटविक को भिड़ाने का षड्यंत्र तो नहीं रच रहा है। उसकी योजना ऐसी तो नहीं है कि वह मित्र (स्वामिराजा के सम्मुख प्रदेश का मित्रराजा) तथा आक्रंद (स्वामिराजा के पृष्ठप्रदेश का मित्र राजा) आदि मित्र राष्ट्रों के राजाओं को मरवाना चाहता हो। या अपने ऊपर किये गये आक्रमण का, अपने अमात्य आदि के कोप का तथा अपने आटविक का प्रतीकार तो नहीं करना चाहता है। या कि वह मेरे स्वामी के इस प्रस्तुत आक्रमण को टालने तथा रोकने का यत्न तो नहीं कर रहा है। अथवा वह युद्ध की तैयारी के लिए धातुसंग्रह, किलाबन्दी तथा सैन्य-संग्रह तो नहीं कर रहा है। या वह सैन्य-शिक्षण तथा उचित देश-काल की आकांक्षा में तो नहीं है। अथवा किसी प्रकार के तिरस्कार, प्रीति, विवाह-सम्बन्ध, दोष-वैमनस्य आदि के लिए तो वह मुझे नहीं रोक रहा है।' इस प्रकार के रहस्यों, कारणों और उद्देश्यों के सम्बन्ध में दूत अच्छी तरह से छानबीन करे। रोके जाने के कारणों का ठीक-ठीक पता लग जाने पर वह उचित समझे तो रुके अन्यथा वहाँ से चल दे। अपने स्वामी की अभीष्ट-सिद्धि के लिये वह चाहे तो उसी नगर में रुककर, गुप्त पुरुषों के द्वारा राजा तक सूचनाएं पहुँचा कर, उनका प्रतीकार करवावे। अपने स्वामी का ऐसा संदेश, जिसको सुनकर शत्रुराजा क्रोधित हो उठे, सुनाने पर, दूत को बिना अनुमति लिये ही वहाँ से कूच कर देना चाहिये अन्यथा उसका पकड़ा जाना निश्चित है।

शत्रुप्रदेश में अपने स्वामी का संदेश लेकर जाना; शत्रुराजा का संदेश लाने के लिए जाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, समय आने पर अपने पराक्रम को दिखाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु

के कृत्यपक्ष के पुरुषों को फोड़ देना, शत्रु के मित्रों को उसके विमुख कर देना, तीक्ष्ण, रसद आदि गुप्तचरों एवं अपनी सेना को भगा देना, शत्रु के बांधवों एवं रत्नों का अपहरण कर लेना, शत्रु के देश में रहकर गुप्तचरों के कार्यों का निरीक्षण करना, समय आने पर पराक्रम दिखाना, सन्धि की चिरस्थिति के निमित्त जमानत-रूप में रखे हुए राजकुमार को मुक्त कराना और मारण, मोहन उच्चाटन आदि का प्रयोग करना, ये सभी दूत के कार्य हैं। राजा को चाहिये कि वह उपर्युक्त सभी कार्य दूतों के द्वारा करवाये और शत्रुओं के पीछे अपने दूतों या गुप्तचरों को लगाये रखे। अपने देश में तो वह शत्रुदूतों के कार्यों का पता प्रकट रूप से लगाये, किन्तु शत्रुदेश में उनकी सूचनायें गुप्त रूप से संग्रह करवाये।

७. राजा द्वारा आत्मरक्षा के उपाय

आचार्य कौटिल्य के अनुसार अपने निकटवर्ती सम्बन्धियों तथा शत्रुओं से सुरक्षित राजा ही राज्य की रक्षा कर सकता है। राजा को चाहिये कि सर्वप्रथम वह अपनी रानियों और अपने पुत्रों से अपनी रक्षा का प्रबन्ध करे। रानियों से किस प्रकार राजा को आत्मरक्षा करनी चाहिये, इसके उपाय आगे बताये जायेंगे।

अपने पुत्रों से आत्मरक्षा करने के लिए राजा को चाहिये कि वह जन्म से ही राजपुत्रों पर कड़ी निगरानी रखे, क्योंकि केकड़े की भाँति राजपुत्र भी अपने पिता के भक्षक होते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य भारद्वाज का कहना है कि 'यदि राजकुमारों में पित भक्ति की भावना न दिखाई दे तो उनका चुपचाप वध कर डालना ही श्रेयस्कर है।'

आचार्य विशालाक्ष इसको पापकर्म कहते हैं। उनका कथन है कि 'निरपराध बच्चों को इस प्रकार मरवा डालना घोर पाप और अतिक्रूरता है, इस प्रकार तो क्षत्रिवंश ही सर्वथा नष्ट हो जायेगा। इसलिए यदि राजकुमारों में पित भक्ति न दिखाई दे तो उन्हें किसी स्थान में कैद करके रखा जाना उचित है।' आचार्य पराशर के अनुयायी इसके भी विरुद्ध हैं। उनका अभिमत है कि 'यह तो सर्पभय के समान है। जैसे घर में घुसा हुआ सांप भयावह होता है, उसी प्रकार पुत्र को कैद में रखना भी भयप्रद है, क्योंकि राजकुमार को जब चाहे पता चल जायेगा कि पिता ने अपने वध के भय से उसे कैद में डाल रखा है, तो वह पिता के घर में रहता हुआ सरलता से उसके वध की योजना तैयार कर सकता है। इसलिए राज्य की सीमा के दूरस्थ दुर्ग में ही राजकुमार को रखना श्रेयस्कर है।'

आचार्य पिशुन इस युक्ति से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'दूरस्थ दुर्ग में राजपुत्र को रखना उसी प्रकार भयावह है; जैसे आक्रमण करने से पूर्व मेढा कुछ पीछे हट जाता है और पुनः दुर्गने वेग से झपट पड़ता है।' राजकुमार को जब अपने कैद होने का कारण विदित हो जाएगा तो वह अपनी योजना को पूरा करने के लिए दुर्गपाल को मित्र बनाकर, उसकी सहायता से अपने पिता पर आक्रमण कर सकता है। इसलिए राजकुमार को, राज्य की सीमा से बाहर किसी पड़ोसी राजा के दुर्ग में रखना ही अधिक उपयुक्त है।'

आचार्य कोणपदन्त की कुछ दूसरी ही स्थापना है। उनकी स्थापना है कि 'राजकुमार को परराज्याश्रित करने का परिणाम यह होगा कि जैसे गाय का बछड़ा दूसरे के हाथ में सौंप देने से इच्छानुसार वह कभी भी गाय को दुह सकता है वैसे ही राजकुमार का संरक्षक पड़ोसी राजा, राजकुमार को अपने वश में करके उचित-अनुचित रीति से इच्छानुसार विजिगीषु से धन आदि ले सकता है। इसलिए राजकुमार को ननिहाल में रख देना ही उचित जान पड़ता है।'

आचार्य वातव्याधि इस सलाह पर आपत्ति प्रकट करते हैं। उनका परामर्श है कि 'राजकुमार को उसके मात कुल में रखना एक ध्वजा के समान है; जिसको मात कुल वाले अपनी आमदनी का वैसा ही साधन बनाकर उपयोग कर सकते हैं, जैसा कि अदिति नाम की भिक्षुणी और कौशिक नाम के सपेरे जीविका-निर्वाह के लिए अपने पेशेवर कौतुकों को दिखाते फिरते हैं। इसलिए राजकुमार को, उसकी इच्छानुसार, विषय-भोग में लिप्त रहने देना चाहिए, क्योंकि विषय-वासनाओं में उलझे हुए

राजकुमारों को पिता से द्रोह करने का अवकाश ही नहीं मिलता है।

आचार्य कौटिल्य इस सिद्धान्त को, जीते-जी राजपुत्रों की हत्या कर देने के समान अनर्थकारी बताते हैं। उनका कहना है 'राजकुमारों को इस प्रकार विषय-भोग में फंसाना उन्हें जीते ही मृत्यु के मुख में दे देना है। जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अशिक्षित राजकुमारों का कुल बिना युद्ध आदि के ही विनष्ट हो जाता है। इसलिए राजा को चाहिए कि जब रानी ऋतुमती हो, तो (संतति की) ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि के निमित्त ऋत्विक्, इंद्र और बुहस्पति आदि देवताओं के लिये हविदान किया जाये। जब महारानी गर्भवती हो जाये तो कौमारभ त्प अंग के ज्ञाता शिशु-चिकित्सकों के निर्देशानुसार गर्भ की पुष्टि तथा उसके सुखपूर्वक प्रजनन के लिए यत्न किया जाये। राजकुमार के पैदा हो जाने पर विद्वान् पुरोहित विधिपूर्वक उसका संस्कार करें। जब वह समझने योग्य हो जाये तो विभिन्न विषयों के पारंगत विद्वान् उसको शिक्षा दें।

आचार्य आंभ के मतानुयायियों का कहना है कि 'सत्रियों (गुप्तचरो) में से कोई एक सत्री राजकुमार को म गया, द्यूत, मद्य और स्त्रियों का प्रलोभन दें। यह भी कहे कि पिता पर आक्रमण करके तुम राज्य को ले लो, फिर मौज करो। इस पर दूसरा सत्री कहे ऐसा करना बहुत बुरा है।'

आचार्य कौटिल्य के मतानुसार राजकुमार के भीतर यह कुबुद्धि जगाना बहुत ही अनिष्टदायी है। उनका तर्क एवं सुझाव है कि 'सरलमति बालकों में ऐसी कुबुद्धि पैदा करना महादोष कहा जायेगा। जैसे मिट्टी का नया बर्तन घी, तेल आदि जिस भी नये द्रव्य का स्पर्श पाकर उसी को चूस लेता है, ठीक वैसे ही, अपरिपक्व बुद्धिवाले बालक को जो कुछ भी सिखाया जाता है, उसको वह शास्त्र-उपदेश की भाँति अमिट रूप से बुद्धि में जमा लेता है। इसलिये सरलमति बालकों को धर्म, अर्थ का ही उपदेश देना चाहिये, अनर्थ का नहीं।' सत्री लोग हम आपके ही हैं। इस अपनत्व को दर्शित करते हुए, राजपुत्र का पालन करें। यदि राजकुमार का युवा मन परस्त्री के लिए बेचैन हो उठता है तो उस समय उसके संरक्षकों को चाहिये कि आर्यावेश धारण की हुई अपवित्र, घण्य स्त्रियों को रात्रि में एकांत में राजकुमार के निकट भेज कर उसके मन में ऐसी घणा तथा खिन्नता पैदा करायें कि परस्त्री की चाह से उसका मन सर्वथा फिर जाये। यदि वह मद्य पीने की इच्छा करे तो मद्य में कोई ऐसा पदार्थ मिलाकर उसको दिया जाये, जिससे कि मद्य के लिए उसकी अरुचि हो जाये। यदि वह जुआ खेलने की कामना करे तो छली-कपटी लोगों के साथ बैठाकर उसको इतना उद्विग्न किया जाये कि आगे से वह जुआ खेलने का नाम भी न ले। यदि वह शिकार खेलना चाहता है तो कपटवेश धारण किये हुये राजपुरुष बेचैन करके उधर से उसके मन को खिन्न कर दे। यदि वह पिता पर आक्रमण करने की इच्छा रखता है तो पहिले तो उसे बढ़ावा दिया जाये किन्तु ऐन मौके पर उससे कहें 'देखो राजा के साथ कभी द्वेष नहीं करना चाहिये। यदि तुम असफल हो गये तो तुम्हारी मृत्यु अवश्यभावी है और जीत भी गये तो पित घातक होने के कारण तुमको घोर नरक भोगना पड़ेगा, सारी प्रजा तुमको लानत देगी और कोई असंभव नहीं कि एकमत होकर प्रजा तुम्हारा प्राणान्त कर दे। इसलिए तुम्हें इस भयंकर पाप-कर्म से बचना चाहिए।' यदि एक ही राजपुत्र हो, और वह पित द्रोही निकले तो उसे कैद कर देना चाहिये। यदि पुत्र अधिक हों तो उस द्रोही पुत्र को सीमांत प्रदेश अथवा किसी दूसरे देश में प्रवासित कर देना चाहिये, जहाँ कि उचित अन्न-वस्त्र प्राप्त न हों और जहाँ की प्रजा की उसके प्रति कोई सहानुभूति न हो। इसके विपरीत जो राजपुत्र आत्मगुणसम्पन्न हों, उसको सेनापति या युवराज के उच्च पद पर नियुक्त किया जाये। राजपुत्रों की तीन श्रेणियाँ हैं : १- बुद्धिमान्, २- आहार्यबुद्धि और ३- दुर्बुद्धि। जो धर्म और अर्थविषयक उपदेश को उचित रीति से ग्रहण करके तदनुसार आचरण करता है, 'बुद्धिमान्' है। जो धर्म और अर्थ को समझ तो लेता है, किन्तु तदनुसार अपना आचरण नहीं बना पाता उसे 'आहार्यबुद्धि' कहते हैं। जो बुराईयों में लीन तथा धर्म और अर्थ से द्वेष रखता है वह 'दुर्बुद्धि' है।

यदि राजा का एक ही पुत्र हो और वह भी दुर्बुद्धि निकले तो राजा उस दुर्बुद्धि राजकुमार से ऐसा पुत्र पैदा कराने का यत्न करे, जो राजा बनने के योग्य हो। यदि ऐसा भी संभव न हो तो अपनी

पुत्री के पुत्र को राज्य का उत्तराधिकार संभालने के योग्य बनाये। यदि राजा बूढ़ा हो गया हो, या सदैव रुग्ण ही रहता हो, तो अपने किसी ममेरे भाई अथवा अपने ही कुल के किसी बंधु से या किसी गुणवान् सामंत से अपनी स्त्री में नियोग कराकर पुत्र पैदा करवाये। किन्तु अयोग्य अशिक्षित पुत्र को राज्यभार न सौंपे। यदि अनेक पुत्रों में एक पुत्र दुर्बुद्धि हो तो उसे किसी दूसरे देश में भेज कर रोक रखे। वैसे राजा को चाहिए कि सर्वदा ही वह अपने पुत्रों की कल्याण-कामना करता रहे। यदि सभी पुत्र राजा को एक समान प्रिय हों, तो उस अवस्था में वह ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा बनावे। अथवा वे सभी भाई मिलकर राज्य को संभालें, क्योंकि यदि राज्य का संचालन सामुदायिक ढंग से हुआ तो निश्चित ही वह राज्य दुर्जय होता है। सामुदायिक राज्य-व्यवस्था से एक बड़ा लाभ यह भी है कि एक व्यक्ति के व्यसनग्रस्त हो जाने पर दूसरे व्यक्ति उसके कार्य को संभाल लेते हैं और इस प्रकार सदैव प्रजा की सुखमय अवस्था बनी रहती है।

राजपुत्रों से अपनी रक्षा करता हुआ राजा रानियों से भी सदैव सावधान रहे। इसके उपाय रूप में राजा अपने आवास गृह का विशिष्ट प्रबन्ध करे। इसके लिए उसको वास्तुविद्या के विशेषज्ञ (इंजीनियर) जिस स्थान को उपयुक्त बतायें, उसी स्थान पर ऐसे अन्तःपुर का निर्माण कराना चाहिये, जिसके चारों ओर परकोटा एवं खाई और जिसमें अनेक ड्यौढ़ियाँ हों। या कोशागार-निर्माण के विधानानुसार अन्तःपुर के बीच में राजा अपना महल बनवाये, या ऐसा मकान बनवाये, जिसकी दीवारों तथा गलियों का पता न लगे, ऐसे मकान को मोहनगृह (भुलभलैया) कहते हैं, उसके बीच में राजा अपने रहने का मकान बनवाये, या भूमि को खुदवा कर उसमें घर बनवाये, उस भूमिगृह के दरवाजे पर, समीप ही किसी देवता की मूर्ति स्थापित करवाये, उसमें आने जाने के लिए गुप्त सुरंगें हों, या तो फिर ऐसा महल बनवाये, जिसकी दीवारों के भीतर गुप्त मार्ग हो, अथवा पोले खम्बों के भीतर आने-आने तथा चढ़ने-उतरने का रास्ता हो, अथवा आपत्तिकाल के निवारण के लिए यन्त्रों के आधार पर ऐसा वासगृह बनवाये जिसको इच्छानुसार नीचे-ऊपर तथा इधर-उधर हटाया जा सके, अथवा आपत्तिकाल के उपस्थित हो जाने पर ऐसे भवन का निर्माण करवाये। यदि राजा को इस बात की आशंका हो कि उसके समान ही दूसरा शत्रु राजा भी नीति-निपुण वास्तुकलाविद् है और वह गुप्तभवन-निर्माणसम्बन्धी सभी रहस्यों को जानता है तो वह अपनी बुद्धि के अनुसार उसमें परिवर्तन कर दे। मनुष्य की हड्डी में बांस के रगड़ने से उत्पन्न अग्नि का स्पर्श, यदि अथर्ववेद के मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ बाईं ओर से तीन परिक्रमा करते हुए, कराया जाये तो उस अंतःपुर को आग नहीं जला सकती; और न दूसरी अग्नि ही वहाँ जल सकती है। बिजली के गिरने से जले हुए पेड़ की राख लेकर उसमें उतनी ही मिट्टी मिला दी जाये और दोनों को धतूरे के पानी के साथ गूँथकर यदि उसका दीवारों पर लेपन किया जाये तब भी वहाँ दूसरी अग्नि असर नहीं कर सकती है। गिलोय, शंखपुष्पी, कालीपांढरी और करौंदे के पेड़ पर लगे हुए बंदे की माला आदि के रख देने; अथवा सहिजन (सैजन) के पेड़ के ऊपर पैदा हुए पीपल के पत्तों के बंदनवार बाँध देने से अंतःपुर में सर्प, बिच्छु आदि विषैले जंतुओं तथा दूसरे विषों का कोई प्रभाव नहीं होता है। बिल्ली, मोर, नेवला और म ग आदि भी सांपों को खा जाते हैं। अन्न आदि में सर्प-विष की आशंका होने पर तोता, मैना और बड़ा भौरा चिल्लाने लगते हैं। विष के समीप होने पर क्रौंच पक्षी विह्वल हो जाता है। जीवंजीव (चकोर के समान एक पक्षी) नामक पक्षी जहर को देखकर मुरझा जाता है। कोयल विष को देखकर मर जाती है। विष को देखकर चकोर की आँखें लाल हो जाती हैं। इन सब उपायों के द्वारा राजा अपने आप को तथा अंतःपुर को अग्नि, सर्प और विष के भय से बचा कर रखे।

राजमहल के पीछे कक्ष्याभाग में रनिवास, उसके समीप ही प्रसूता, बीमार तथा असाध्य रोगिणी स्त्रियों के लिए अलग-अलग तीन आवास बनवाये जायें और उन्हीं के साथ छोटे-छोटे उद्यान तथा सरोवरों का निर्माण किया जाये। बाहर की ओर राजकुमारियों और युवक राजकुमारों के लिए स्थान बनवाये जायें। राजमहल के आगे हरी-हरी घास और फूलों से सजे हुए उपवन होने चाहिए।

उसके बाद मंत्रसभा का स्थान, फिर दरबार और तदनन्तर युवक राजकुमार, समाहर्ता-सन्निधाता आदि अध्यक्षों के प्रधान कार्यालय होने चाहिए। कक्ष्याओं के बीच-बीच में क चुकी तथा अंतःपुररक्षकों की उपस्थिति रहे।

रनिवास के अन्दर जाकर राजा किसी विश्वस्त बूढ़ी परिचारिका के साथ महारानी से मिले। अकेला किसी रानी के पास न जाये, क्योंकि ऐसा करने से कभी कभी बड़ा धोखा हो जाता है। कहा जाता है कि पहले कभी भद्रसेन नामक राजा के भाई वीरसेन ने उसकी रानी से मिलकर छिपे में भद्रसेन राजा को मार डाला था। इसी प्रकार माता की शय्या के नीचे छिपे हुए राजकुमार ने अपने पिता कारुश को मार डाला था। इसी प्रकार काशीराज की रानी ने धान की खोलों में मधु के बहाने विष मिलाकर अपने पति को मार डाला था। इसी भाँति विष में बुझे नूपुर के द्वारा वैरन्त्य राजा को और विष-बुझी करघनी की मणि से सौबीर राजा को, शीशे के द्वारा जालूथ राजा को और अपनी वेणी में शस्त्र छिपाकर बिडूरथ राजा को, उनकी रानियों ने धोखे में मार डाला था। इसलिए रानियों से मिलते समय, राजा को इस प्रकार की अदृष्ट विपत्तियों में सावधान रहना चाहिए।

राजा को चाहिए कि वह मुंडी, जटी इसी प्रकार के अन्य धूर्त और बाहर की दासियों के साथ रानियों का संपर्क न होने दे। रानियों के सगे-सम्बन्धी भी उन्हें प्रसव या बीमारी की अवस्था के अतिरिक्त न देखने पावें।

अस्सी वर्ष की अवस्था के पुरुष तथा पचास वर्ष की बूढ़ी स्त्रियाँ माता-पिता की भाँति रानियों के हितचिंतन में रत रहे। अंतःपुर के दूसरे वृद्ध तथा नपुंसक पुरुष रानियों के चरित्र का ध्यान रखें और उनको राजा की हितकामना में लगाये रखें। अंतःपुर के सभी परिचारक-परिचारिकार्ये अपने-अपने स्थानों पर ही रहें, एक दूसरे के स्थान पर न जाने पावें। इसी प्रकार भीतर का कोई भी आदमी बाहर के आदमियों से न मिलने पावे। जो भी वस्तु महल के बाहर आवे तथा महल में जावे उसका भली-भाँति निरीक्षण कर और उसके सम्बन्ध में सारे विवरण रजिस्टर में लिख लेने चाहिए। राजमहल के बाहर-भीतर जाने-आने वाली प्रत्येक वस्तु पर राजकीय मुहर लग जानी चाहिये। अपने निकट सम्बन्धियों से आत्मरक्षा में सावधान राजा को बाह्य व्यक्तियों से अपनी रक्षा के लिए अधोलिखित विशिष्ट प्रबन्ध करने चाहिये :-

प्रातःकाल राजा के बिस्तर से उठते ही, धनुष-बाण लिये स्त्रियाँ उसे घेर लें। शयनकक्ष से उठकर राजा जब दूसरे कक्ष में प्रवेश करे तो वहाँ कुर्ता, पगड़ी पहिने हुए नपुंसक तथा दूसरे सेवक राजा की देख-रेख के लिए उपस्थित रहें। तीसरे कक्ष में कुबड़े, बौने एवं निम्न जाति के परिजन राजा की रक्षा करें। चौथे कक्ष में मंत्रियों, सम्बन्धियों और हाथ में भाला लिये द्वारपालों द्वारा राजा की रक्षा होनी चाहिए। वंश-परम्परा के अनुगत, उच्चकुलोत्पन्न, शिक्षित, अनुरक्त और प्रत्येक कार्य को भली-भाँति समझने वाले पुरुषों को राजा अपना अंगरक्षक नियुक्त करे। किन्तु धन-सम्मान-रहित विदेशी व्यक्ति को तथा एक बार पथक् होकर पुनः नियुक्त स्वदेशीय व्यक्ति को भी राजा अपना अंगरक्षक कदापि नियुक्त न करे। राजमहल की भीतरी सेना, राजा और रनिवास की रक्षा करे। माहानसिक को चाहिए कि वह किसी एकांत स्थान में भोज्य पदार्थों का स्वाद ले-लेकर उन्हें सुस्वादु तथा सुरक्षा से तैयार कराये। भोजन के तैयार हो जाने पर राजा पहिले अग्नि तथा पक्षियों को बलि प्रदान कर, फिर स्वयं खावे। जिस अन्न में विष मिला हो उसे अग्नि में डालने से अग्नि और लपट, दोनों नीले रंग के हो जाते हैं तथा उसमें चट-चट शब्द होता है। विषमिश्रित अन्न के खाने पर पक्षियों की भी मृत्यु हो जाती है। विषयुक्त अन्न की भाप मयूर ग्रीवा जैसे रंग की होती है; वह भोजन शीघ्र ही ठण्डा हो जाता है; हाथ के स्पर्श या तोड़ने-मोड़ने से उसका रंग बदल जाता है, उसमें गाँठ-सी पड़ जाती है, और वह अन्न अधपका ही रह जाता है। विष मिली दाल जल्दी ही सूख जाती है, फिर से आँच पर रखा जाये तो मट्ठे की तरह वह फट जाती है; उसकी झाग काली तथा वह अलग-अलग हो जाती है, और उसका स्वाद, स्पर्श, उसकी सुगंध आदि सब जाते

रहते हैं। विषयुक्त रसेदार तरकारी विरंगी-विकृत हो जाती है, उसका पानी अलग तैरता रहता है और उसके ऊपर रेखा-सी खिंच जाती है। यदि घी, तेल आदि रसिक पदार्थों में विष मिला हो तो उनमें नीले रंग की रेखाएं तैरने लगती हैं, विष-मिश्रित दूध में ताम्रवर्ण की, शराब तथा पानी में काले रंग की, दही में श्यामवर्ण की और शहद में सफेद रंग की रेखाएं दिखाई देती हैं। आम, अनारआदि द्रव्यों में विष मिला हो तो वे सिकुड़ जाते हैं, उनमें सडांध आने लगती है, और पकने पर उनका वर्ण कुछ कालापन एवं भूरापन लिये होता है। यदि सूखे हुए पदार्थों में विष मिला हो तो वे छूते ही चूर-चूर होकर विवर्ण हो जाते हैं। विषमिश्रित ठोस पदार्थ मुलायम और मुलायम पदार्थ ठोस हो जाता है। विषमय वस्तु के समीप रंगने वाले छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं। ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों पर यदि विष का प्रयोग किया गया हो तो उनमें स्थान-स्थान पर धब्बे पड़ जाते हैं। यदि कपड़ा सूती हुआ तो उसका सूत और ऊनी हुआ तो उसकी रुआँ उड़ जाती है। सोने, चांदी, स्फटिक मणि आदि धातुओं पर यदि विष का प्रयोग किया गया हो तो उनकी आभा पंकिल दिखाई देती है, उनकी चमक, भारीपन और पहिचान आदि सब जाते रहते हैं।

विष देने वाले का मुँह सूख जाता है, उसके चेहरे का रंग बदल जाता है, बातचीत करते हुए उसकी वाणी लड़खड़ाने लगती है, उसको पसीना, कंपकपी तथा जंभाई आने लगती है, बेचैन होकर वह गिर पड़ता है, संदेहवश दूसरों की बातें वह ध्यानपूर्वक सुनने लगता है, बात-बात में वह आवेश करने लगता है; अपने कार्य और अपने स्थान पर उसका मन स्थिर नहीं रह पाता है।

विषविद्या के जानकार और वैद्य राजा के समीप अवश्य रहें। वैद्य को चाहिए कि औषधालय में स्वयं खाकर परीक्षा की हुई औषधि को वह राजा के सामने लाकर उसमें से कुछ को पकाने-पीसने वाले लोगों और कुछ स्वयं भी खाकर पुनः राजा को दे। इसी प्रकार जल तथा मद्य को भी, परीक्षा करने के उपरांत राजा को देना चाहिए।

दाढ़ी-मूँछ बनाने वाले नाई तथा वस्त्रालंकरण धारण कराने वाले परिचारकों को चाहिए कि वे स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण किये हाथों को अच्छी तरह धोकर राजमहल के अन्दर रहने वाले कंचुकी आदि से मुहर लगे हुए उस्तरा और वस्त्राभूषण को लेकर राजा की परिचर्या करें। राजा को स्नान कराना, उसके अंगों को दबाना, बिस्तर बिछाना, कपड़े धोना और माला बनाना आदि कार्यों को दासियाँ ही करें, अथवा दासियों की देख-रेख में उस कार्य के जानकार लोग करें। दासियों को चाहिए कि अपनी आँखों से देखकर ही वे राजा को वस्त्रालंकरण पहनावें। स्नान के समय उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं, जैसे-उबटन, चन्दन, सुगन्धित चूर्ण तथा पटवास आदि को, दासियाँ पहले अपनी छाती व बाँह पर लगाकर आजमा लें और तदनंतर राजा पर उसका प्रयोग करें। यही बात दूसरे स्थान से आई हुई वस्तुओं के सम्बन्ध में भी जान लेनी चाहिए।

खेल दिखाने वाले नट-नर्तक, हथियार, आग, विष आदि के अतिरिक्त दूसरे खेलों को ही राजा के सामने दर्शित करें। नट-नर्तकों के उपयोग में आने वाली सामग्री, जैसे-वादन, वस्त्र, घोड़े, अलंकरण आदि, राजमहल से ही दी जानी चाहिए।

विश्वस्त प्रधान पुरुष के साथ होने पर ही राजा पालकी तथा घोड़े आदि यान-वाहनों पर चढ़े। विश्वस्त नाविक के रहने पर ही नौका पर चढ़े। दूसरी नाव पर बंधी एवं वायु से चालित नाव पर वह कदापि न बैठे। राजा जब नौका-विहार करे तो, सुरक्षा के लिए, नदी के दोनों तटों पर सेना तैनात रहनी चाहिए मछुओं द्वारा भलीभाँति जाँच किए गए घाट पर ही वह स्नान करे। इसी प्रकार सपेरों द्वारा परिशोधित उद्यान में ही वह भ्रमण करे। चोर तथा व्याघ्र आदि से रहित, कुत्ते रखने वाले शिकारियों के साथ राजा, चलते हुए लक्ष्य पर निशाना साधने के उद्देश्य से जंगल में जाये। दर्शनार्थ आये हुए किसी सिद्ध या तपस्वी से मिलते समय राजा, अपने विश्वस्त सशस्त्र पुरुष को साथ ले ले। अपने मंत्रि-परिषद् के साथ ही वह सामंत राजा के दूत से मिले। घोड़े, हाथी या रथ पर सवार युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाली सेना का वह युद्धोचित कवच आदि पहिन कर सैनिक

वेश में निरीक्षण करे। बाहर जाते या बाहर से आते समय, राजा हाथ में दण्ड लिये रक्षकों द्वारा दोनों ओर से सुरक्षित मार्ग पर चले। ऐसा प्रबंध हो कि रास्ते भर में कहीं भी राजा को शस्त्ररहित पुरुष, संन्यासी या लूला-लंगड़ा, अपंग व्यक्ति न दिखाई दे। पुरुषों की भीड़ में भी वह कदापि न घुसे। किसी देवालय, सभा, उत्सव तथा पार्टी आदि में वह शामिल होने जाय तो कम से कम दस सिपाही तथा सेनानायक उसके साथ उपस्थित रहें। विजय की इच्छा रखने वाला राजा जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार दूसरों के द्वारा दिये गये कष्टों से भी वह अपनी रक्षा करे।

८. राजा की दिनचर्या और कर्तव्य

राजा के उन्नतिशील होने पर ही उसका सारा भू-व्यवहार उन्नतिशील होता है। इसके विपरीत राजा के प्रमादी होने पर सारा भू-व्यवहार प्रमाद करने लगता है। उस दशा में प्रमादित भू-व्यवहार राज्यकार्यों को चुपचाप पी जाता है। ऐसा राजा शत्रुओं के धोखे में आ जाता है। इसलिए राजा को उचित है कि वह अपने आपको सदा ही उन्नतिशील बनाये रखे। राजकार्य को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए वह दिन और रात आठ-आठ घड़ियों में बाँट दे। अथवा पुरुष की छाया से भी वह समय का विभाजन कर सकता है।

सूर्योदय से लेकर जब तक पुरुष की छाया तिगुनी लंबी रहे, वह दिन का पहिला आठवाँ हिस्सा है। इस छाया को 'त्रिपौरुषी' छाया कहते हैं। इसी प्रकार वह छाया जब एक पुरुष के बराबर लम्बी रह जाये, तो वह दिन का दूसरा भाग है। उसको 'एकपौरुषी' छाया कहते हैं। तदनंतर वही 'एकपौरुषी' छाया घटकर जब चार अंगुल मात्र रह जाय तो वह दिन का तीसरा भाग है। इसको 'चतुरंगुली' छाया कहते हैं। उसके बाद का समय मध्याह्न कहलाता है। दिन का यह चौथा भाग है। मध्याह्न के उपरांत इसके विपरीत क्रम से चतुरंगुला, पौरुषी, त्रिपौरुषी और दिनांत, ये चार भाग हैं। इस प्रकार दिन के ये आठ भाग हुए।

पूर्वाह्न के प्रथम भाग में राजा रक्षा-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करे और बीते हुए दिन के आय-व्यय की जाँच करे। दूसरे भाग में वह पुरवासियों तथा जन-पदवासियों के कार्यों का निरीक्षण करे। तीसरे भाग में स्नान, भोजन तथा स्वाध्याय करे और चौथे भाग में बीते दिन की अवशिष्ट आमदनी को संभाले तथा उसी भाग में विभिन्न कार्यों पर अध्यक्ष आदि की नियुक्ति भी करे। उत्तरार्ध के पाँचवें भाग में वह मंत्रि-परिषद् के परामर्श से पत्र भेजे तथा आवश्यक कार्यों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करे। इसी समय वह गुप्तचरों के कार्यों एवं गुप्त बातों के सम्बन्ध में जाने-सुने। छठे भाग में वह स्वतंत्र होकर स्वेच्छया विहार तथा विचार करे। सातवें भाग में वह हाथी, घोड़े, रथ तथा अस्त्र-शस्त्रों का निरीक्षण करे। अंतिम आठवें भाग में वह सेनापति के साथ युद्ध आदि के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करे। दिनांत के बाद वह संध्योपासन करे।

इसी प्रकार रात्रि के पहिले भाग में वह गुप्तचरों को देखे। दूसरे भाग में स्नान, भोजन, स्वाध्याय, तीसरे भाग में संगीत सुनता हुआ शयन करे और चौथे, पाँचवें भाग तक सोता रहे। रात्रि के छठे भाग में संगीत द्वारा जागा हुआ वह अर्थशास्त्र सम्बन्धी तथा दिन में संपादित किये जाने योग्य कार्यों पर विचार करे। सातवें भाग में गुप्त-मंत्रणा करे और गुप्तचरों को यथास्थान भेजे। रात्रि के अन्तिम आठवें भाग में ऋत्विक्, आचार्य तथा पुरोहित के साथ स्वस्तिवाचन-सहित आशीर्वाद ग्रहण करे। इसी समय वह वैद्य, प्रधान रसोइयां और ज्योतिषी आदि से भी तत्संबंधी बातों पर परामर्श करे। इन सब कार्यों से निवृत्त हो वह बछड़े वाली गाय और बैल की प्रदक्षिणा करके राज-दरबार में प्रवेश करे। ऊपर का काल-विभाग सामान्य-दृष्टि से निरूपित किया गया है, वैसे शक्ति तथा अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार स्वेच्छया राजा अपनी कार्य-व्यवस्था को स्वयं भी निर्धारित कर सकता है।

राजा जब दरबार में हो तो प्रत्येक कार्यार्थी को वह बिना रोक-टोक प्रवेश करने की अनुमति दे

दे। क्योंकि जो राजा कठिनाई से प्रजा को दर्शन देता है, उसके समीप रहने वाले कर्मचारी उसके कार्यों को उलट-पलट कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि राजा के अमात्य आदि उससे कुपित हो जाते हैं, राजकार्य शिथिल पड़ जाते हैं, राजा अपने शत्रुओं के अधीन हो जाता है। इसलिए राजा को उचित है कि देवालय, ऋषि-आश्रम, धूर्तपाखंडियों के केन्द्र, वेदपाठी ब्राह्मणों के संस्थान, पशुशाला आदि स्थानों का और बाल, व द्र, रुग्ण, दुःखित, अनाथ तथा स्त्रियों से सम्बद्ध कार्यों का स्वयमेव विधिपूर्वक निरीक्षण करे। इनमें से यदि कोई कार्य अत्यावश्यक है, अथवा उसकी अवधि बीत रही है तो उसी का निरीक्षण राजा पहिले करे। राजा को चाहिए कि पहिले वह उस कार्य को देखे, जिसकी मियाद बीत चुकी है। उसको देखने में वह अधिक विलंब न करे। क्योंकि इस प्रकार अवधि बीत जाने पर कार्य या तो कष्टसाध्य हो जाता है अथवा सर्वथा असाध्य हो जाता है। राजा को चाहिए कि पुरोहित एवं आचार्य के साथ यज्ञशाला में उपस्थित होकर उन विद्वानों और तपस्वियों के कार्यों को खड़े ही खड़े अभिवादनपूर्वक देखे। तपस्वियों तथा मायावी लोगों के कार्यों का निर्णय राजा, अकेला न करके वेदविद् विद्वानों के साथ बैठकर करे। अकेले वह उन लोगों के कोप का कारण न बने। उद्योग करना, यज्ञ करना, अनुशासन करना, दान देना, शत्रु ओर मित्रों में-उनके गुण-दोषों के अनुसार समान व्यवहार करना, दीक्षा समाप्त कर अभिषेक करना, ये सब राजा के नैमित्तिक व्रत हैं।

प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आप को अच्छे लगने वाले कार्यों को करने में राजा का हित नहीं, बल्कि उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यों के सम्पादन करने में है। इसलिए राजा को चाहिए कि उद्योगशील होकर वह व्यवहार-सम्बन्धी तथा राज्य-सम्बन्धी कार्यों को उचित रीति से पूरा करे। उद्योग ही अर्थ का मूल है, और इसके विपरीत, उद्योगहीनता ही अनर्थों को देने वाली है। राजा यदि उद्योगी न हुआ तो उसके प्राप्त अर्थों और प्राप्तव्य अर्थों, दोनों का ही नाश हो जाता है; किन्तु जो राजा उद्योगी है, वह शीघ्र उद्योग का मधुर फल पाता है और इच्छित सुख-संपदा का उपभोग करता है।

६. जनपद

जनपद का अर्थ है राष्ट्र, देश अथवा स्वजातीय राज्य। दूसरे शब्दों में जनपद जनयुक्त भूमि है। वस्तुतः जनपद राज्य का आधार रूप है। इसलिए श्रेयस्काम राजा को यह आवश्यक है कि वह अपने जनपद के योगक्षेम की सम्पूर्ण व्यवस्था करे।

कौटिल्य लिखते हैं कि राजा को चाहिए कि दूसरे देश के मनुष्य बुलाकर अथवा अपनी देश की आबादी को बढ़ाकर वह पुराने या नये जनपद को बसाये। प्रत्येक जनपद में कम से कम सौ घर और अधिक से अधिक पाँच सौ घर वाले, ऐसे गाँव बसाये जायें जिसमें प्रायः शूद्र तथा किसान अधिक हों। एक गाँव दूसरे गाँव से कोस भर या दो कोस की दूरी से अधिक नहीं होना चाहिए, जिससे अवसर आने पर वे एक दूसरे की मदद कर सकें। नदी, पहाड़, जंगल, बेर के वृक्ष, खाई तालाब, सेंमल के वृक्ष, शमी के वृक्ष और बरगद आदि के वृक्ष लगाकर उन बसाये हुए गाँवों की सीमा निर्धारित करें।

आठ सौ गाँवों के बीच में एक **स्थानीय**; चार सौ गाँवों के समूह में एक **द्रोणमुख**; दो सौ गाँवों के बीच में एक **कार्वटिक** और दस गाँवों के समूह में **संग्रहण** नामक स्थानों की विशेष रूप से स्थापना करे। राज्य की सीमा पर अंतपाल नामक दुर्गरक्षक के संरक्षण में एक दुर्ग की भी स्थापना करे। जनपद की सीमा पर अंतपाल की अध्यक्षता में ही द्वारभूत स्थानों का भी निर्माण करे। उनके भीतरी भागों की रक्षा व्याध, शबर, पुलिन्द, चाण्डाल आदि वनचर जातियों के लोग करें।

राजा को चाहिए कि वह ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय आदि ब्राह्मणों के लिए भूमिदान करे, किन्तु उनसे कर आदि न ले और उस भूमि को वापिस भी न ले। इसी प्रकार विभागीय अध्यक्षों, संख्यायकों, गोपों, स्थानिकों, अनीकस्थों, वैद्यों, अश्वशिक्षकों और जंघाकरिकों आदि अपने अधिकारियों,

कर्मचारियों और प्रजाजनो के लिए भी राजा भूमि-दान करे। किन्तु इस प्रकार पायी हुई जमीन को बेचने या गिरवी रखने के लिए वर्जित कर दे। खेती के उपयोगी जो भूमि लगान पर जिस भी किसान के नाम दर्ज की जाय, उसके मर जाने के बाद राजा को अधिकार है कि वह उस भूमि को म तक किसान के पुत्र आदि को दे या न दे। किन्तु ऐसी ऊसर या बंजर जमीन जिसको किसान ने अपने श्रम से खेती योग्य बनाया है, राजा को चाहिए कि उसे कभी भी वापिस न ले, ऐसी जमीन पर किसानों को पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि कोई किसान किसी खेती योग्य भूमि को बिना जोते-बोये परती ही डाले रहता है तो राजा को चाहिए कि ऐसे किसान से उस भूमि को छीन कर किसी जरूरतमंद दूसरे किसान को दे दे। ऐसे जरूरतमंद किसान के न मिलने पर गाँव का मुखिया या व्यापारी उस जमीन पर खेती करे। खेती करने की शर्त पर यदि कोई जमीन को ले और उसमें खेती न करे तो उससे उसका हर्जाना वसूल करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अन्न, बीज, बैल और धन आदि देकर किसानों की सहायता करता रहे और किसानों को भी चाहिए कि फसल कट जाने पर सुविधानुसार धीरे-धीरे वे उधार ली हुई वस्तुओं को राजा को वापिस कर दें। किसानों की स्वास्थ्य-वृद्धि और रुग्णता-निवारण के लिए राजा उन्हें परिमित धन देता रहे, जिससे कि वे धन-धान्य की वृद्धि करके राजकोष को समृद्ध बनावें। किन्तु इस प्रकार की सहायता से यदि राजकोष को कोई हानि पहुंचे, तो राजा उसको बन्द कर दे; क्योंकि कोष के कम हो जाने पर राजा, नगर और जनपद-निवासियों को सताने लगता है। किसी नये कुल को बसाये जाने के लिए प्रतिज्ञात धन राजा को अवश्य देना चाहिए। अथवा राजकोष की आय के अनुसार स्वास्थ्य-सुधार के लिए राजा धन अवश्य खर्च करता रहे। यदि नगर और जनपद-निवासी राजा के द्वारा स्वास्थ्य सुधार के लिए खर्च किए गए धन को चुका दें, तो पिता के समान राजा उन पर अनुग्रह करे।

राजा को चाहिए कि वह आकर (खान) से उत्पन्न सोना-चाँदी आदि के विक्रय-स्थान, चंदन आदि उत्तम काष्ठ के बाजार, हाथियों के जंगल, पशुओं की वृद्धि के स्थान, आयात-निर्यात के स्थान, जल-थल के मार्ग और बड़े-बड़े बाजारों या बड़ी-बड़ी मंडियों की भी व्यवस्था कराये। भूमि की सिंचाई के लिए राजा को चाहिए कि नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बँधवाये, अथवा वर्षा ऋतु के जल को भी बड़े-बड़े जलाशयों में भरवा दे। यदि प्रजाजन ऐसा कार्य करना चाहते हैं तो राजा को चाहिए कि उन्हें जलाशय के लिए भूमि, नहर के लिए रास्ता और आवश्यकतानुसार लकड़ी आदि सामान देकर उनका उपकार करें। देवालय और बाग-बगीचे आदि के लिये भी राजा, प्रजा की भूमिदान आदि से सहायता करे। गाँव के जो मनुष्य अन्य आवश्यक कार्यों के आ जाने पर उस सहकारी उद्योग में सम्मिलित न हो सकें तो वे अपने स्थान पर नौकर तथा बैल भेज कर सहयोग दें। यदि वे ऐसा भी न करें तो अनुपात के अनुसार उनसे उनके हिस्से का सारा खर्च लिया जाये और कार्य समाप्त होने पर न तो उन्हें उसका साझीदार समझा जाय और न ही उसका लाभ उठाने दिया जाये। इस प्रकार के बड़े-बड़े जलाशयों में उत्पन्न होने वाली मछली, प्लव पक्षी और कमलदंड आदि व्यापार-योग्य वस्तुओं पर राजा का ही अधिकार रहे।

यदि नौकर-चाकर, भाई, पुत्र आदि अपने मालिक की आज्ञा का उल्लंघन करें तो राजा उन्हें उचित शिक्षा दे। राजा को चाहिए कि वह बालक, वृद्ध, व्याधिग्रस्त, विपत्तिग्रस्त और अनाथ व्यक्तियों का भरण-पोषण करे। संतानहीन और पुत्रवती अनाथ स्त्रियों तथा उनके बच्चों की भी राजा रक्षा करे। नाबालिग बच्चे की सम्पत्ति पर गाँव के वृद्ध पुरुषों का अधिकार रहे। उसको वे बढ़ाते रहें और बालिग हो जाने पर उसकी सम्पत्ति को उसे वापिस कर दें। इस प्रकार देव-सम्पत्ति पर भी ग्राम-वृद्धों का ही अधिकार हो, जो कि उसकी वृद्धि में तत्पर रहें। जब कोई पुरुष समर्थ होने पर भी, अपने लड़के-बच्चों, स्त्रियों, माता-पिता, नाबालिक भाई, अविवाहित तथा विधवा बहिन आदि का भरण-पोषण न करे तो राजा उसे बारह पणों का दंड दे। किन्तु ये लड़के, स्त्री आदि यदि किसी कारण से पतित हो गए हों तो सम्बन्धी उनका भरण पोषण करने के लिए बाध्य नहीं है। यह निषेध माता के सम्बन्ध में नहीं, माता यदि पतिता भी हो तो उसका भरण-पोषण और उसकी

रक्षा करनी चाहिए। पुत्र तथा स्त्री के जीवन-निर्वाह का उचित प्रबन्ध किये बिना ही यदि कोई पुरुष, संन्यास ग्रहण कर ले तो राजा को उसे प्रथम साहस दंड देना चाहिए। यह दंड उस पुरुष को भी दिया जाना चाहिए जो अपनी स्त्री को संन्यासिनी हो जाने को प्रेरित करे।

जब मनुष्य के मैथुन-सम्बन्धी कामविकार शांत हो जाएं तब उसे धर्माधिकारी पुरुषों की अनुमति लेकर संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए, इस राज्य-नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को कारागार में बंद कर दिया जाये। वानप्रस्थ के अतिरिक्त कोई दूसरा संन्यासी जनपद में न रहना चाहिए, इसी प्रकार राजभक्त जनसंघ के अतिरिक्त तथा स्थानीय सहकारी संस्थाओं के अतिरिक्त कोई दूसरी संस्था संघ राज्य में न बनने पावे, जो द्रोह या फूट फैलाने वाला सिद्ध हो।

गाँवों में कोई भी नाट्यगृह, विहार तथा क्रीडा-शालाएँ नहीं होनी चाहिए। नट, नर्तक, गायक, वादक, भाण और कुशलीव आदि गाँवों में अपना खेल दिखा कर कृषि आदि कार्यों में विघ्न उत्पन्न न करें। क्योंकि गाँवों में नाट्यशालाएँ आदि न होने से ग्रामवासी अपने-अपने कृषिकर्म में संलग्न रहते हैं, जिससे कि राजकोष में अभिवृद्धि होती है और सारा देश धन-धान्य से समृद्ध होता है।

राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं, जंगली लोगों, व्याधियों एवं दुर्भिक्षों से अपने देश को बचावे। वह उन क्रीडाओं का भी बहिष्कार कराये जो धन का अपव्यय और विलासप्रियता को बढ़ाने वाली हों। राजा को चाहिए कि दंड, विष्टि, कर आदि की बाधा से कृषि की रक्षा करे। इसी प्रकार चोर, हिंसक जंतु, विष-प्रयोग तथा अन्य कष्टों से भी किसानों के पशुओं की रक्षा करे। वल्लभ, कार्मिक, चोर, अंतपाल और व्याघ्र आदि, राजपुरुषों लुटेरों एवं हिंसक जंतुओं से ग्रस्त व्यापार-मार्गों को भी राजा परिशोधन करे। अर्थात् अपने देश से इन सब आपत्तियों को दूर करे।

इस प्रकार राजा प्रथम तो लकड़ी के जंगल, हाथियों के जंगल, सेतुबन्ध तथा खानों की रक्षा करे और तदुपरान्त आवश्यकतानुसार नये जंगल, सेतुबन्ध आदि का निर्माण करवाये। ऊसर भूमि में पशुओं के लिए चरागाहें बनवानी चाहिए। जिस भूमि को वक्ष-लता एवं मग आदि के लिए छोड़ दिया गया हो, ऐसे दो कोस तक फैले हुए जंगल को वेदाध्यायी ब्राह्मणों को वेदाध्ययन एवं सोमयाग के लिए दे देना चाहिए; इसी प्रकार के तपोवनों को तपस्वियों के लिए दे देना चाहिए। ऐसे ही दो कोस परिमाण के मगवन को राजा अपने विहार के लिए तैयार कराये। उस विहारवन के दो दरवाजे हों, उसके चारों ओर खुदी हुई खाई हो, उसमें स्वादिष्ट फल, लता, गुल्म एवं वक्ष हों, वह काँटेदार पेड़ों से रहित हो, उसमें कम गहरे सरोवर हों, मनुष्यों से परिचित मग हों, मगया के लिए वहाँ ऐसे व्याघ्र, हाथी, हथिनी तथा उनके बच्चे रखे गये हों, जिनके नख एवं दाँत न हों उसके ही समीप एक दूसरा मगवन ऐसा तैयार कराया जाए, जिसमें देश-देशान्तरों के जानवर लाकर रखे गये हों।

चंदन, पलाश, अशोक आदि लकड़ी के लिए अलग-अलग वन लगाये जायें। लकड़ी के जंगलों की सम्पूर्ण व्यवस्था, जंगलों के अध्यक्ष तथा जंगलों पर जीवन बिताने वाले पुरुष करें। जनपद की सीमा पर जंगल के अध्यक्षों के संरक्षण में एक हस्तिवन भी स्थापित करना चाहिए। हस्तिवन के अध्यक्षों को आवश्यक है कि वह स्वयं तथा अपने सहयोगी वनपालों के सहयोग से पर्वत, नदी, जलाशय तथा किसी जलमय स्थान से होकर हस्तिवनों के अन्दर जाने वाले मार्गों की भली-भाँति देख-रेख रखे। हाथियों को मारने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्राणदण्ड की सजा मिलनी चाहिए। मग तक हाथी के दाँतों को उखाड़कर जो स्वयं ही राजपुरुषों के सुपुर्द कर दे, उसे सवा चार पण पुरस्कार स्वरूप दिया जाना चाहिए।

१०. दुर्ग

राजा के लिए आवश्यक है कि जनपद की सीमाओं की चारों दिशाओं में युद्धोचित प्राकृतिक दुर्ग का निर्माण करवाये। दुर्ग चार प्रकार के होते हैं-१. औदक २. पार्वत ३. धान्वन और ४. वनदुर्ग। चारों ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत स्थल प्रदेश **औदकदुर्ग** कहलाता है। बड़ी-बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित दुर्ग **पार्वतदुर्ग** कहलाता है। जल

तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग **धान्वनदुर्ग** है। इसी प्रकार चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा काँटेदार सघन झाड़ियों से परिवेष्टित दुर्ग **वनदुर्ग** कहलाता है। इनमें औदक तथा पार्वतदुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में लाये जाते हैं। धान्वन और वनदुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं अथवा आपत्ति के समय इन दुर्गों में भागकर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है।

राजा को चाहिए कि धनोत्पादन के मुख्य केन्द्रों पर बड़े-बड़े स्थानीय दुर्गों का निर्माण करवाये। वास्तुविद्या के विद्वान् जिस प्रदेश को श्रेष्ठ बतायें, वहीं पर नगर बसाना चाहिए, अथवा किसी नदी के संगम पर, बड़े-बड़े तालाबों के किनारे, या कमलयुक्त जलाशयों के तट पर भी नगर बसाये जा सकते हैं। दुर्ग का निर्माण संबंधित भूमि के अनुसार गोल, लम्बा अथवा चौकोर, जैसा भी उचित हो, होना चाहिए। उसके चारों ओर छोटी-छोटी नहरों द्वारा पानी का प्रबन्ध अवश्य रहे। उसके इधर-उधर की भूमि में पैदा होने वाली बिक्री योग्य वस्तुओं का संग्रह तथा उनके विक्रय का प्रबन्ध भी वहाँ होना चाहिए। दुर्ग में आने-जाने के लिए जलमार्ग और स्थल-मार्ग दोनों की सुविधा होनी चाहिए। दुर्ग के चारों ओर एक-एक दंड की दूरी पर तीन खाइयाँ खुदवानी चाहिए। वे खाइयाँ क्रमशः चौदह, बारह और दस दंड चौड़ी होनी चाहिए। अथवा चौड़ाई का तीसरा हिस्सा गहरी भी हो सकती है। उन खाइयों की तलहटी बराबर चौरस एवं मजबूत पत्थरों से बँधी हो। उनकी दीवारें पत्थर अथवा ईंटों से मजबूत बनी हुई हों। कहीं-कहीं खाइयाँ इतनी कम गहरी हों कि जहाँ से जल बाहर की ओर छलकने लगे अथवा किसी नदी के जल से इन्हें भरा जा सके। उनमें जल के निकलने का मार्ग अवश्य रहना चाहिये। कमल के फूल तथा घड़ियाल आदि जलचर भी उनमें रहें खाई से चार दंड की दूरी पर छह दण्ड ऊँचा, सब ओर से मजबूत और ऊपर की चौड़ाई से दुगुनी नीव वाला एक बड़ा वप्र (प्राकार या फसील) बनवाया जाये। इसके बनवाने में वही मिट्टी काम में लाई जाये, जो खाई से खोदकर बाहर फेंकी गई है। प्राकार तीन प्रकार का होना चाहिए-

१. ऊर्ध्वचय, २. म चप ष्ट और ३. कुम्भकुक्षिक, अर्थात् क्रमशः ऊपर पतला, नीचे चपटा और बीच में कुम्भाकार। इन प्राकारों को बनवाते समय, इनकी मिट्टी को हाथी और बैलों से अच्छी तरह रौंदवाना चाहिए, जिससे कि मिट्टी बैठकर मजबूत हो जाये। इनके चारों ओर काँटेदार विषैली झाड़ियाँ लगी होनी चाहिए। प्राकार बन जाने पर यदि मिट्टी बची रह जाये तो उसे उन्हीं गड्ढों में भर देना चाहिए, जहाँ से उसको खोदा गया है, अथवा उस अवशिष्ट मिट्टी से, प्राकार के जो छिद्र रह गए हों, उन्हें भरवा देना चाहिए। वप्र बन जाने पर उसके ऊपर दीवार बनवानी चाहिए। वह दीवार चौड़ाई से दुगुनी ऊँची हो, कम-से-कम बारह हाथ से लेकर चौदह, सोलह, अठारह सम संख्याओं में, अथवा पन्द्रह, सत्रह आदि विषम संख्याओं में, अधिक-से-अधिक चौबीस हाथ तक ऊँची होनी चाहिए। प्राकार का ऊपरी भाग इतना चौड़ा होना चाहिए जिस पर एक रथ आसानी से चलाया जा सके। ताड़ व क्ष की जड़ के समान, म दंग बाजे के समान, बंदर की खोपड़ी के समान आकार वाले ईंट-पत्थरों की कंकरीटों से अथवा बड़े-बड़े शिलाखंडों से प्राकार का निर्माण करवाना चाहिये। लकड़ी का प्राकार कभी भी नहीं बनवाना चाहिए, क्योंकि उसमें सदा आग लगने का भय बना रहता है।

प्राकार के आगे एक ऐसी अट्टालिका बनवाये जिसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई प्राकार के बराबर हो। ऊँचाई के अनुपात से उस पर सीढ़ियाँ भी बनवानी चाहियें। ये अट्टालिकायें एक-दूसरी से तीस दंड की दूरी पर हों। दो अट्टालिकाओं के बीच, चौड़ाई से डेढ़ गुना लम्बा **प्रतोली** नाम का एक घर बनवाना चाहिए, जिसकी दूसरी मंजिल में जनानखाना रहे। अट्टालिका और प्रतोली के बीच में इन्द्रकोष नामक एक विशिष्ट स्थान बनवाया जाये। वह इतना ही बड़ा हो जिसमें तीन धनुर्धारी संतरी आसानी से बैठ सकें। उसके आगे छिद्रयुक्त एक ऐसा तख्ता लगा रहना चाहिए, जिससे धनुर्धारी बाहर की वस्तु देख सके और भीतर से ही निशाना बाँध सकें, किन्तु बाहर के लोग उन्हें न देख सकें। प्राकार के साथ ही एक ऐसा देवपथ बनवाना चाहिए जो अट्टालक, प्रतोली तथा

इन्द्रकोष के बीच में दो हाथ चौड़ा और प्राकार के पास आठ हाथ चौड़ा हो। इसी प्रकार एक दंड या दो दंड की दूरी पर चार्या अर्थात् प्राकार आदि पर चढ़ने उतरने का स्थान बनवाना चाहिये। प्राकार के ऊपर ही जिस स्थान को कोई न देख सके, **प्रधावितिका** तथा उसके पास ही **निष्कुहद्वार** भी बनवाने चाहिए। बाहर से छोड़े गये बाण बादि से सुरक्षित रहने के लिए छिपने योग्य आड़ को **प्रधावितिका** कहते हैं। उसमें निशाना मारने के लिए जो छिद्र बनाया जाता है, उसको **निष्कुहद्वार** कहा जाता है। प्राकार की बाहरी भूमि में शत्रुओं के घुटनों को तोड़ देने वाले खूँटे, त्रिशूल, अंधेरे गड़दे, लौह-कंटक के ढेर, साँप के काँटे, ताड़पत्रों के समान बने हुए लोहे के जाल, तीन नोकवाले नुकीले काँटे, कुत्ते की दाढ़ के समान लोहे की तीक्ष्ण कीलें, बड़े-बड़े लट्टे, कीचड़ से भरे हुए गढ़े, आग और जहरीले पानी के गढ़े आदि बनाकर दुर्ग के मार्ग को पाट देना चाहिये।

जिस स्थान पर किले का दरवाजा बनवाना हो, वहाँ पहिले प्राकार के दोनों भागों में डेढ़ दण्ड लम्बा-चौड़ा मण्डप बनाया जाये। तदनन्तर उसके ऊपर प्रतोली के समान छह खम्भे खड़े करके द्वार का निर्माण करवाया जाये। द्वार का निर्माण पाँच दंड परिधि से करना चाहिए, और तदनन्तर एक-एक दंड बढ़ाते हुए अधिक से अधिक आठ दंड तक उसकी परिधि होनी चाहिए; अथवा कुछ विद्वानों के मन से दरवाजा दो दंड का हो या नीचे के आधार के परिणाम से छटा तथा आठवां हिस्सा अधिक ऊपर का दरवाजा बनवाया जाये। दरवाजे के खम्भों की ऊँचाई पन्द्रह हाथ से लेकर अठारह हाथ तक होनी चाहिए। खम्भों की मोटाई उसकी ऊँचाई से छटा हिस्सा होनी चाहिए। मोटाई से दुगुना भाग भूमि में गाड़ दिया जावे और चौथाई भाग खम्भे के ऊपर चूल के लिए छोड़ दिया जावे।

प्रतोलिका के तीन तल्लों में से पहिले तल्ले के पाँच हिस्से किए जायें। उनमें से बीच के हिस्से में बावड़ी बनवाई जाये, उसके दायें बायें शाला और शाला के छोरों पर सीमाग ह बनवाये जायें। शाला के किनारों पर भी आमने-सामने छोटे-छोटे दो चबूतरे बनवाये जायें जिन पर बुर्जे भी हों। शाला और सीमाग ह के बीच में आणि (एक छोटा दरवाजा) होना चाहिए। मकान की दूसरी मंजिल की ऊँचाई पहिली मंजिल की ऊँचाई से आधी होनी चाहिए, उसकी छत के नीचे सहारे के लिए छोटे-छोटे खंभे भी होने चाहिए। मकान की तीसरी मंजिल को **उत्तमागार** कहते हैं, उसकी ऊँचाई डेढ़ दंड होनी चाहिए। उत्तमागार परिमाण द्वारा का त तीयांश होना चाहिए। उसके पार्श्व भाग पक्की ईंटों से मजबूत होने चाहिए। उसकी बाईं ओर घुमावदार सीढियाँ और दाहिनी ओर गुप्त सीढियाँ होनी चाहिए।

दुर्ग के दरवाजे का ऊपरी बुर्ज दो हाथ लम्बा होना चाहिए। दोनों फाटक तीन या पाँच तख्तों की पर्त के बने हों। किवाड़ों के पीछे दो-दो अर्गलाएं होनी चाहिए। किवाड़ों को बन्द करने के लिए एक अरत्नी परिमाण (एक हाथ) की इन्द्रकील (चटखनी) होनी चाहिए। फाटक के बीच में पाँच हाथ का एक छोटा सा दरवाजा जुड़ा होना चाहिए। पूरा दरवाजा इतना बड़ा होना चाहिए कि जिसमें चार हाथी एक साथ प्रवेश कर सकें। द्वार की ऊँचाई का आधा, हाथी के नाखून के आकार-प्रकार का, मजबूत लकड़ी का बना हुआ ऐसा मार्ग होना चाहिए जिससे यथा अवसर किले में टहला जा सके। जहाँ जल का अभाव हो वहाँ मिट्टी का ही मार्ग बनवाना चाहिए। प्राकार की ऊँचाई जितना किन्तु उसके त तीयांश जितना, गोह के मुँह के आकार का एक **नगरद्वार** भी बनवाना चाहिए। प्राकार के बीच में एक बावड़ी बनाकर उससे संबद्ध एक द्वार भी बनवाये। उस द्वार को **पुष्करिणी** कहते हैं। जिस दरवाजे के आसपास चार शालाएं बनाई जायें और उस दरवाजे में पुष्करिणी द्वार से ड्योढ़ा दरवाजा लगा हो। उसका नाम **कुमारीपुरद्वार** है। जो दरवाजा दुर्मंजिला हो एवं जिस पर कंगूरे आदि न लगे हों, उसे **मुण्डकद्वार** कहते हैं। इस प्रकार राजा अपनी भूमि और संपत्ति के अनुसार जैसा उचित समझे, कुछ परिवर्तन करके दरवाजे को बनवाये। दुर्ग के अन्दर की नहरें सामान्य नहरों से तिगुनी चौड़ी बनवायें, जिनके द्वारा हर प्रकार का सामान अन्दर और बाहर ले जाया-लाया जा सके।

पत्थर, कुदाली, कुल्हाड़ी, बाण, हाथियों का सामान, गदा, मुद्गर, लाठी, चक्र, मशीनें, तोपों, लोहारों के औजार, लोहे का बना सामान, नुकीले भाले, बांस, ऊँट की गर्दन के आकार वाले हथियार, अग्निबाण आदि सामान नहर के द्वारा लाया और ले जाया जाता है।

११. नगर

आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में नगर निर्माण के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका मानना है कि राजा को विशेषज्ञ नगरकारों के मार्गदर्शन में सभी प्रकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नगर का निर्माण कराना चाहिये।

अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण के चतुर्थ अध्याय में कौटिल्य लिखते हैं कि वास्तुविद्याविशेषज्ञों के निर्देशानुसार जिस भूमि को नगर-निर्माण के लिए चुना जाये उसमें पूरब से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले तीन-तीन राजमार्ग हों। इन छह राजमार्गों में नगर-निर्माण या ग ह-निर्माण की भूमि का विभाग करना चाहिए। चारों दिशाओं में कुल मिलाकर बारह द्वार हों, जिसमें जल, थल तथा गुप्त मार्ग बने हों। नगर में चार दण्ड (२४ फीट) चौड़ी रथ्याएँ (छोटी गलियाँ) हों। राजमार्ग, द्रोणमुख, स्थानीय राष्ट्र, चरागाह, संयानीय (व्यापारी मंडियाँ), सैनिक छावनियाँ, श्मशान और गाँवों की ओर जाने वाली सभी सड़कों की चौड़ाई आठ दण्ड (१६ गज) होनी चाहिए। जलाशयों तथा जंगलों की ओर जाने वाली सड़कों की चौड़ाई चार दंड होनी चाहिये। हाथियों के आने जाने का मार्ग और खेतों को जाने वाला रास्ता दो दंड चौड़ा होना चाहिये। रथों के लिए पाँच अरत्नि (ढाई गज) और पशुओं के चलने का रास्ता दो गज चौड़ा होना चाहिए। मनुष्य तथा भेड़-बगरी आदि छोटे पशुओं के लिए एक गज चौड़ा रास्ता होना चाहिये। नगर के सुद द् भूमिभाग में राजभवनों का निर्माण कराना चाहिये; साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह भूमि चारों वर्णों की आजीविका के लिए उपयोगी हो। ग ह-भूमि के बीच से उत्तर की ओर नवें हिस्से में, निशांत-प्रणिधि प्रकरण में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार, अंतःपुर का निर्माण कराना चाहिये, जिसका द्वार पूरब या पश्चिम की ओर हो। अन्तःपुर के पूर्वोत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित के भवन, यज्ञशाला, जलाशय और मंत्रियों के भवन बनवाये जायें। अन्तःपुर के पूर्व-दक्षिण भाग में महानस (रसोईघर), हस्तिशाला और कोष्ठागार हों। उसके आगे पूरब दिशा में द्रव, तेल, पुष्पहार, अन्न, घी, तेल की दुकानें और प्रधान कारीगरों एवं क्षत्रियों के निवासस्थान होने चाहिए। दक्षिण-पूरब में भंडागार, राजकीय पदार्थों के आय-व्यय का स्थान और सोने-चाँदी की दुकानें होनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम दिशा में शस्त्रागार तथा सोने-चाँदी के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को रखने का स्थान होना चाहिये। उससे आगे, दक्षिण दिशा में नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यापाराध्यक्ष, खदानों तथा कारखानों के निरीक्षक, सेनाध्यक्ष, भोजनालय, शराब एवं मांस की दुकानें, वेश्या, नट और वैश्य आदि के निवासस्थान होने चाहिये। पश्चिम-दक्षिण भाग में ऊँटों एवं गधों के गुप्ति-स्थान (तबेले) तथा उनके व्यापार के लिए एक अस्थायी घर बनवाया जाये। पश्चिम-उत्तर की ओर रथ तथा पालकी आदि सवारियों को रखने के स्थान होने चाहिए। उसके आगे, पश्चिम दिशा में ही ऊन, सूत, बाँस और चमड़े का कार्य करने वाले, हथियार और उनके स्थान बनवाने वाले और शूद्र लोगों को बसाया जाना चाहिये। उत्तर-पश्चिम में राजकीय पदार्थों को बेचने-खरीदने का बाजार औषधालय होने चाहिए। उत्तर-पूरब में कोषग ह और गाय, बैल तथा घोड़ों के स्थान बनवाने चाहिए। उसके आगे, उत्तर दिशा की ओर नगरदेवता, कुलदेवता, लुहार, मनिहार और ब्राह्मणों के स्थान बनवाये जायें। नगर के ओर-छोर जहाँ खाली जगह छूटी है, धोबी, दर्जी, जुलाहे और विदेशी व्यापारियों को बसाया जाये।

दुर्गा, विष्णु, जयंत, इन्द्र, शिव, वरुण, अश्विनीकुमार, लक्ष्मी और मदिरा, इन देवताओं की स्थापना नगर के बीच में करनी चाहिये। कोष्ठागार आदि में भी कुलदेवता या नगरदेवता की स्थापना करनी चाहिये। प्रत्येक दिशा में मुख्य द्वार पर उसके अधिष्ठाता देवता की स्थापना की जाये। उत्तर का

देवता ब्रह्मा, पूर्व का इन्द्र, दक्षिण का यम और पश्चिम का सेनापति (कुमार) होता है। नगर की परिखा से बाहर दो-सौ गज की दूरी पर चैत्य, पुण्यस्थान, उपवन और सेतुबंध आदि स्थानों की रचना और यथास्थान दिग्देवताओं की भी स्थापना की जाये। नगर के उत्तर या पूरब में श्मशान होना चाहिए। दक्षिण दिशा में छोटी जाति वाले लोगों का श्मशान होना चाहिए। जो भी इस नियम का उल्लंघन करे उसे प्रथम साहस-दण्ड दिया जाये। कापालिकों और चाण्डालों का निवास स्थान श्मशानों के ही समीप बनवाया जाये। नगर में बसने वाले परिवारों को उनके अध्यक्ष तथा उनके योग्य भूमि की गुंजायश देखकर ही, बसाया जाये। उन खेतों में फूल, फल, साग-सब्जी, कमल आदि की क्यारियाँ बनाई जायें। राजा तथा राजपुरुषों की आज्ञा प्राप्त कर उनमें अनाज तथा विक्रय योग्य वस्तुएँ पैदा की जायें। दशकुलीबाड़ (बीस हलों से जोती जाने वाली भूमि) के बीज सिंचाई के लिए एक कुआँ होना चाहिए। घी, तेल, इत्र, क्षार, नमक, दवा, सूखे साक, भूसा, सूखा मांस, घास, लकड़ी, लोहा, चमड़ा, कोयला, ताँत, विष, सींग, बाँस, छाल, चन्दन या देवदार की लकड़ी, हथियार, कवच और पत्थर, इन सभी वस्तुओं को दुर्ग के अन्दर इतनी तादाद में जमा होना चाहिए कि कई वर्षों तक उपयोग में लाने के लिए पर्याप्त हों। उनमें पुरानी वस्तु की जगह नई वस्तु रख देनी चाहिये। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल इन चारों प्रकार की सेनाओं को अनेक सुयोग्य सेनाध्यक्षों के संरक्षण में रखा जाना चाहिये। क्योंकि अनेक सेनाध्यक्षों की नियुक्ति से पहला लाभ तो यह है कि पारस्परिक भय के कारण वे शत्रु में जाकर नहीं मिल पाते और दूसरा लाभ यह है कि एक अध्यक्ष के फूट जाने पर दूसरा अध्यक्ष कार्य संभाल सकता है। इन नगरदुर्गों के निर्माण के नियमों के अनुसार ही जनपद की सीमा के दुर्गों और उनके प्रबन्ध का विधान समझ लेना चाहिये। राजा को चाहिए कि वह नगर में ऐसे लोगों को न बसने दें, जिनके कारण राष्ट्र तथा नगर का नैतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय स्तर गिरता हो। यदि इनको बसाना ही हो तो सीमा-प्रान्त में बसाया जाये और उनसे राज्यकर वसूल किया जाये।

१२. कोष

कोष राज्य का आवश्यक अंग है। अर्थशास्त्रकार आचार्य कौटिल्य का कहना है कि सारे कार्य कोष पर निर्भर हैं। इसलिए राजा को चाहिये कि सबसे पहिले कोष पर ध्यान दे। राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाना, राष्ट्र के चरित्र पर ध्यान रखना, चोरों पर निगरानी रखना, राजकीय अधिकारियों को रिश्वत लेने से रोकना, सभी प्रकार के अन्नोत्पादन को प्रोत्साहित करना, जल-स्थल में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक व्यापार-योग्य वस्तुओं को बढ़ाना, अग्नि आदि के भय से राज्य की रक्षा करना, ठीक समय पर यथोचित कर वसूल करना और हिरण्य आदि की भेंट लेना, ये सब कोषवृद्धि के उपाय हैं। राजकोष की वृद्धि के लिए राजा समाहर्ता नाम का अधिकारी नियुक्त करे। समाहर्ता (कलक्टर जनरल) को चाहिए कि वह १. दुर्ग, २. राष्ट्र, ३. खनि, ४. सेतु, ५. वन, ६. व्रज और ७. व्यापार सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करे।

दुर्ग : शुल्क, दण्ड, पौतव, नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष (पटवारी, कानूनगो, अमीन), मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, तेल-घी आदि का विक्रेता, सुवर्णाध्यक्ष, दुकान, वेश्या, द्यूत, वास्तुकार, बढई, लुहार, सुनार, मन्दिरों के निरीक्षक, द्वारपाल और नट-नर्तक आदि से लिया जाने वाला धन **दुर्ग** कहलाता है। **राष्ट्र** : सीता, भाग, बलि, कर, वणिक, नदीपालस्तर, नाव का कर, पट्टन, विंवीत, वर्तनी, रज्जू और चोर रज्जू (चोरों को पकड़ने के लिये ग्रामवासियों से मिला धन) आदि आय के साधन **राष्ट्र** नाम से कहे जाते हैं। **खनि** : सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूँगा, शंख, लोहा, लवण, भूमि, पत्थर और खनिज पदार्थ **खनि** कहे जाते हैं। **सेतु** : फूल, फल, केला, सुपारी, अन्न के खेत, अदरख और हल्दी के खेत इन सबको **सेतु** कहा जाता है। **वन** : हरिण आदि पशु, लकड़ी आदि द्रव्य और हाथियों के जंगल को **वन** कहा जाता है। **व्रज** : गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, घोड़ा, खच्चर और जानवर **व्रज** नाम से कहे जाते हैं, क्योंकि वे अपने गोष्ठ में रहते हैं। **वणिकपथ** : स्थलमार्ग और जलमार्ग, व्यापार के इन दो मार्गों को **वणिकपथ** कहा जाता है।

ये सभी आमदनी के साधन हैं। इनके अतिरिक्त मूल (अनाज, साग, सब्जी आदि को बेचकर एकत्र किया गया धन), भाग (पैदावार का षष्ठांश), ब्याजी, परिघ, क्ल प्त, रूपिक, अत्यय आदि भी आमदनी के साधन हैं।

देवपूजा, पित पूजा, दान, स्वस्तिवाचन आदि धार्मिक कृत्य, अन्तःपुर, रसोईघर, दूत प्रेषण, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्यग्रह, कुप्यग ह का व्यय कर्मान्त, विष्टि, पैदल, हाथी, घोड़ा तथा रथ आदि चारों प्रकार के सेना-संग्रह का व्यय, गाय, भैंस, बकरी आदि उपयोगी पशुओं का व्यय, हरिण, पक्षी तथा अन्य हिंसक जंगली जानवरों की रक्षा के लिए किया गया व्यय और स्थान, लकड़ी, घास आदि के जंगलों की सुरक्षा के लिए किया गया व्यय, ये सभी व्यय के स्थान कहलाते हैं।

राजा के राज्याभिषेक के बाद, उसके प्रत्येक कार्य में 'व्युष्ट' नाम से कहे जाने वाले वर्ष, मास, पक्ष और दिन इन चारों बातों का उल्लेख होना चाहिये, राजवर्ष के तीन विभाग हैं : १. वर्षा, २. हेमन्त और ३. ग्रीष्म, इन तीनों विभागों में प्रत्येक के आठ-आठ पक्ष होते हैं। प्रत्येक पक्ष पन्द्रह दिन का होता है, प्रत्येक ऋतु के तीसरे तथा सातवें पक्ष में एक-एक दिन कम माना जाये, शेष छहों पक्ष पन्द्रह-पन्द्रह दिन के माने जायें, इसके अतिरिक्त एक अधिमास भी माना जाये, यही काल-विभाजन राजकीय कार्यों में प्रयुक्त किया जाना चाहिये। समाहर्ता को चाहिए कि वह करणीय, सिद्ध, शेष, आय, व्यय तथा नीवी आदि कार्यों को उचित रीति से सम्पन्न करे। करणीय ६ प्रकार का होता है १. संस्थान २. प्रचार ३. शरीरावस्थान ४. आदान ५. सर्वसमुदयपिण्ड और ६. संजात। सिद्ध भी ६ प्रकार का होता है १. कोशार्पित २. राजहार ३. पुरव्यय ४. परसंवत्सरानुव त्त ५. शासनमुक्त और ६. मुखाज्ञप्त। शेष के भी ६ भेद हैं १. सिद्धप्रकर्मयोग २. दण्डशेष ३. बलात्कृत प्रतिस्तब्ध ४. अवसष्ट ५. असार और ६. अल्पसार।

आय तीन प्रकार की है १. वर्तमान, २. पर्युषित और ३. अन्यजात। प्रतिदिन की आमदनी को 'वर्तमान' आय कहा जाता है, पिछले वर्ष का बकाया अथवा शत्रुदेश से प्राप्त धन 'पर्युषित' आय है, भूले हुए धन की स्मृति, अपराध-स्वरूप प्राप्त धन, कर के अतिरिक्त अन्य उपायों या प्रभुत्व से प्राप्त धन, काजी-हाउस से प्राप्त धन, भेटस्वरूप प्राप्त धन, शत्रुसेना से अपहृत धन और लावारिस का धन 'अन्यजात' आय कहलाती है। इसके अतिरिक्त सैनिक खर्च से बचा हुआ धन, स्वास्थ्य विभाग के व्यय से बचा हुआ धन और इमारतों के बनवाने से बचा हुआ धन 'व्ययप्रत्याय' कहलाता है। यह भी एक प्रकार की आय है। बिक्री के समय वस्तुओं की कीमत बढ़ जाने से, निषिद्ध वस्तुओं के बेचने से, बाट-तराजू आदि की बेईमानी से तथा खरीदारों की प्रतिस्पर्धा से प्राप्त धन भी आमदनी का धन है।

व्यय चार प्रकार का होता है : १. नित्य २. नित्योत्पादिक ३. लाभ और ४. लाभोत्पादिक। प्रतिदिन के नियमित व्यय को 'नित्य' व्यय कहते हैं। पाक्षिक, मासिक तथा वार्षिक आय के लिए व्यय किया गया धन 'लाभ' कहलाता है। नित्य तथा लाभ नामक व्यय से अधिक खर्च हो जाने वाले धन को क्रमशः 'नित्योत्पादिक' तथा 'लाभोत्पादिक' कहा जाता है। सब तरह के आय-व्यय का भली-भाँति हिसाब करके भी बचत रूप में निकलने वाला धन 'नीवी' कहलाता है, जो दो प्रकार का होता है १. प्राप्त और २. अनुवत्त। प्राप्त वह, जो खजाने में जमा हो और अनुवत्त वह, जो खजाने में जमा किया जाने वाला हो। समाहर्ता को चाहिए कि वह ऊपर निर्दिष्ट विधियों, साधनों एवं मार्गों से राजकीय धन का संग्रह करे और आय-व्यय में बचत-हानि का लेखा-जोखा ठीक रखे। यदि किसी अवस्था में भविष्य की विशेष आय की आशा में पहिले अधिक व्यय भी करना पड़े तो वैसा करके आय को बढ़ाये।

राजा के लिये यह आवश्यक है कि समाहर्ता द्वारा संग्रहीत राजकोष की सुरक्षा के लिए गुणवान् सन्निधाता अर्थात् कोषाध्यक्ष को नियुक्त करे। सन्निधाता को चाहिए कि वह कोषग ह, द श्यग ह, कोष्ठागार, पण्यग ह, शस्त्रागार और कारागार का निर्माण करवाये। सीलरहित स्थान में बावड़ी के

समान एक चौरस गड्ढा खुदवाकर चारों ओर से उसकी दीवारों और फर्श को मोटी मजबूत शिलाओं से चुनवाना चाहिए। उसके बीच में मजबूत लकड़ियों से बने हुए पिंजरे के समान अनेक कोठरियाँ हों; उसमें तीन मंजिलें हों; तीनों मंजिलों में बढ़िया दरवाजे तथा सुन्दर फर्श हों; ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने के लिए उसमें लिफ्ट लगा हो, उसके दरवाजों पर देवताओं की मूर्तियाँ अंकित हों, इस प्रकार का एक भूमिग ह (अण्डरग्राउण्ड) बनवाना चाहिए। उस भूमिग ह के ऊपर एक कोषग ह बनवाना चाहिए, उस पर भीतर-बाहर से बन्द की जाने वाली अर्गलाएं हों, एक बरामदा हो, पक्की ईंटों से उसको बनाया गया हो, एवं वह चारों ओर अनेक पदार्थों से भरे हुए मकानों से घिरा हो। जनपद के मध्यभाग में प्राणदण्ड पाये पुरुषों के द्वारा, आपत्ति में काम आने वाला एक ध्रुवनिधि (गुप्त खजाना) बनवाना चाहिए। पक्की ईंटों से चुना हुआ, चार भवनों से परिवे त, एक दरवाजे वाला अनेक कक्षों वाला एवं मंजिलों से युक्त और चारों ओर खुले हुए खम्भों वाले चबूतरे से घिरा हुआ पण्यग ह (विक्रेय वस्तुओं को रखने का घर) तथा कोष्ठागार (कोठार) बनवाना चाहिए। अनेक लम्बे दालानों से युक्त, चारों ओर अनेक कोठरियों से घिरी हुई दीवारों वाला, भीतर की ओर कुप्यग ह बनवाना चाहिए। उसी में एक तहखाना बनवाकर शस्त्रागार बनवाया जाये। धर्मस्थ (न्यायाधीश) और महायाम (समाहर्ता आदि) से सजा पाये हुये लोगों को काराग ह में रखना चाहिये। काराग ह में स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग स्थान होने चाहिए। उसके बहिर्भाग तथा चारों ओर की अच्छी तरह रक्षा होनी चाहिए। उक्त सभी कोशग ह आदि स्थानों में शाला, परिखा और कूओं की तरह स्नानागार भी बनवाने चाहिए। अग्नि और विष से भी उनकी रक्षा की जानी चाहिए। विष की रक्षा के लिए बिल्ली और नेवला आदि को पालना चाहिए। इन स्थानों की भलीभाँति रक्षा की जानी चाहिए। उनके अधिष्ठित देवताओं जैसे, कोषग ह का कुबेर, पण्यग ह तथा कोष्ठागार की श्री, कुप्यग ह का विश्वकर्मा, शस्त्रागार का यम और बन्दीग ह का वरुण आदि की पूजा करवानी चाहिए। वर्षाजल को मापने के लिए कोष्ठागार में एक ऐसा कुण्ड बनवाया जाना चाहिए जिसके मुँह का घेरा एक अरत्नि (चौबीस अंगुल) हो।

कोष्ठागाराध्यक्ष, प्रत्येक वस्तु के विशेषज्ञों की सहायता से नये ओर पुराने का भेद समझकर रत्न, चन्दन, वस्त्र, लकड़ी, चमड़ा, बाँस आदि उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करे। यदि कोई व्यक्ति असली रत्न की जगह नकली रत्न दे और छल से असली रत्न का अपहरण कर ले जाये तो अपहरण करने वाले और कराने वाले, दोनों को उत्तम साहसदंड दिया जाये। चन्दन आदि वस्तुओं में कपट करने पर मध्यम साहसदंड दिया जाना चाहिए। वस्त्र, लकड़ी और चमड़ा जैसे पदार्थों में छल करने वाले व्यक्ति से वैसी ही दूसरी वस्तु ले ली जाये या उसका मूल्य ले लिया जाये और उतना ही उससे दण्डरूप में वसूल कर लिया जाये। सिक्कों के पारखी पुरुषों द्वारा स्वर्णमुद्रा का संग्रह किया जाना चाहिए। सिक्कों में से जो नकली मालूम हो उसको तत्काल ही काट दिया जाये, जिससे उसको व्यवहार में न लाया जा सके। नकली सिक्कों को लाने वाले पुरुष भी प्रथम साहसदण्ड के अपराधी हैं। धान्याधिकारी पुरुष को चाहिए कि वह शुद्ध, पूरा तथा नया अन्न ले। यदि वह ऐसा न करे तो उससे दुगुना दण्ड वसूल किया जाये।

इसी प्रकार पण्य, कुप्य और आयुध के सम्बन्ध में भी नियम समझने चाहिए। प्रत्येक अधिकारी पुरुष को, उसके सहकारियों को तथा उन दोनों के बीच काम करने वाले पुरुषों को, पहली बार किसी वस्तु का अपहरण करने पर क्रमशः एक पण, दो पण और चार पण का दण्ड दिया जाना चाहिए। यदि वे फिर भी अपहरण करें तो क्रमानुसार उन्हें प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए। इस पर भी वे न मानें तो उन्हें प्राणदण्ड दिया जाये।

कोषाध्यक्ष यदि सुरंग आदि उपाय से कोष का अपहरण करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाये। इसमें अधीनस्थ लोगों को उसका आधा दण्ड दिया जाये। यदि कोष का अपहरण करने में अधीनस्थ लोगों का हाथ न हो तो उन्हें दण्ड न दिया जाये। केवल उनकी निंदा तथा उपहास कर उनको दुत्कारा जाये। यदि चोर संध लगाकर चोरी करे तो चित्रवध का दण्ड दिया जाये। कोषाध्यक्ष को चाहिए

कि विश्वासी पुरुषों के सहयोग से ही वह धन-संग्रह आदि का कार्य करे। कोषाध्यक्ष को चाहिए कि वह जनपद तथा नगर से होने वाली आय को अच्छी तरह से जाने। इस सम्बन्ध में उसे इतनी जानकारी होनी चाहिए कि यदि उससे सौ वर्ष पीछे की आय का लेखा-जोखा पूछा जाये तो तत्काल ही वह उसकी समुचित जानकारी दे सके। बचे हुए धन को वह सदा कोष में दिखाता रहे। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजकोष के नष्ट होने के कारणों का उल्लेख भी किया है। बुद्धिमान राजा के लिए यह आवश्यक है कि उन कारणों को जानकर कोष को नष्ट होने से बचाये। आचार्य कौटिल्य के अनुसार - कोषक्षय के आठ कारण हैं : १. प्रतिबन्ध, २. प्रयोग, ३. व्यवहार, ४. अवस्तार, ५. परिहापण, ६. उपभोग, ७. परिवर्तन और ८. अपहार। राजकर को वसूल करना, वसूल करके उसे अपने अधिकार में न रखना, और अधिकार में करके भी उसे खजाने में जमा न करना, यह तीन प्रकार का **प्रतिबंध** है। जो अध्यक्ष इन माध्यमों से कोष का क्षय करे, उस पर क्षत राशि से दशगुना जुर्माना करना चाहिए। कोषधन का स्वयं ही लेन-देन करके वृद्धि का यत्न करना **प्रयोग** कहलाता है। ऐसे अधिकारी पर दुगुना जुर्माना करना चाहिये। कोष के द्रव्य से स्वयं ही व्यापार करना **व्यवहार** कहलाता है। ऐसा करने पर भी दुगुना दण्ड देना चाहिए। राजकर वसूल करने वाला अधिकारी, नियत समय से कर-वसूली न करके रिश्वत लेने की इच्छा से, मियाद बीत जाने का भय देकर प्रजा को तंग करके जो धन एकत्र करता है उसे **अवस्तार** कहते हैं। ऐसा करने पर उसे नुकसान की राशि से पाँच गुना दण्ड देना चाहिए। जो अध्यक्ष अपने कुप्रबंध के कारण कर की आय को कम कर देता है और व्यय की राशि को बढ़ा देता है, उस क्षय को **परिहापण** कहते हैं। ऐसा करने पर अध्यक्ष को क्षय से चौगुना दण्ड दिया जाये। राजकोष के द्रव्य को स्वयं भोग करना तथा दूसरों को भोग कराना '**उपभोग**' क्षय है। इसके अपराध में अध्यक्ष को, यदि वह रत्नों का उपभोग करता है तो प्राणदण्ड, सारद्रव्यों का उपभोग करता है तो मध्यम साहस दण्ड और फल्यु एवं कृष्य आदि पदार्थों का उपभोग करता है तो, उससे द्रव्य वापिस लेकर उसकी लागत का दण्ड दिया जाना चाहिये। राजकोष के द्रव्यों को दूसरे द्रव्यों से बदल लेना **परिवर्तन** कहलाता है। इस कार्य को करने वाले अध्यक्ष के लिए भी उपभोग-क्षय के समान ही दण्ड दिया जाये। प्राप्त आय को रजिस्टर में न चढ़ाना, नियमित व्यय को रजिस्टर में चढ़ाकर भी खर्च न करना और प्राप्त नीवी के सम्बन्ध में मुकर जाना, यह तीन प्रकार का **अपहार** है। अपहार के द्वारा कोषक्षय करने वाले अध्यक्ष को हानि से बारहगुना दण्डित करना चाहिये।

अध्यक्ष, चालीस प्रकार के उपायों से राजद्रव्य का अपहरण कर सकते हैं। पहले फसल में प्राप्त हुए द्रव्य को दूसरी फसल आने पर रजिस्टर में चढ़ाना, दूसरी फसल की आदमनी का कुछ हिस्सा पहली फसल के रजिस्टर में चढ़ा देना, राजकर को रिश्वत लेकर छोड़ देना, राजकर से मुक्त देवालय, ब्राह्मण आदि से कर वसूल करना, कर देने पर भी उसको रजिस्टर में न चढ़ाना, कर न देने पर भी उसको रजिस्टर में भर देना, कम प्राप्त हुए धन को रिश्वत लेकर पूरा दर्ज कर देना पूरे प्राप्त हुए धन को अधूरा लिख देना, जो द्रव्य प्राप्त हुआ है उसकी जगह दूसरा ही द्रव्य भर देना, एक पुरुष से प्राप्त हुए धन को रिश्वत लेकर, दूसरे के नाम दर्ज कर देना, योग्य वस्तु को न देना, जो वस्तु देने योग्य नहीं है, उसका दे देना, समय पर किसी वस्तु को न देना, रिश्वत लेकर असमय में ही उस वस्तु को दे देना, थोड़ा देकर भी बहुत लिख देना, बहुत देकर भी थोड़ा लिख देना, अभीष्ट वस्तु की जगह दूसरी ही वस्तु दे देना, जिस व्यक्ति को देने के लिए कहा गया है, उसके बदलें में किसी दूसरे को ही दे देना, राजधन को वसूल करके उसे खजाने में जमा न करना, राजकर को वसूल न करके, रिश्वत लेकर, उसे जमा-रजिस्टर में चढ़ा देना, राजाज्ञा से वस्त्रादि क्रय करके तत्काल ही उनका मूल्य चुकता न करके एकांत में कुछ रकम देना, अधिक मूल्य से क्रीत वस्तुओं की रकम कम करके रजिस्टर में लिखना, सामूहिक कर वसूली को अलग-अलग व्यक्ति से लेना, अलग-अलग व्यक्ति से लिये जाने वाले कर को सामूहिक रूप में वसूल करना, बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य की वस्तु से बदल देना, अल्पमूल्य की वस्तु को बहुमूल्य वस्तु से बदलना, रिश्वत

लेकर बाजार में वस्तुओं की कीमत बढ़ा देना, वस्तुओं का भाव बढ़ा देना, दो दिन का वेतन दिया हो तो चार दिन बढ़ाकर लिख देना, चार दिन का वेतन दिया हो तो दो दिन घटाकर लिख देना, मलमासरहित संवत्सर को मलमास युक्त बना देना, महीने के दिन घटा-बढ़ाकर लिख देना, नौकरों की संख्या बढ़ाकर लिख देना, एक जरिये से हुई आमदनी को दूसरे जरिये से दर्ज कर देना, ब्राह्मणादि को स्वीकृत धन में से कुछ स्वयं ले लेना, कुटिल उपाय से अतिरिक्त धन वसूल करना, सामूहिक वसूली में से न्यूनाधिक्य रूप में धन लेना, वर्णविषमता दिखाकर धन का अपहरण कर लेना, जहाँ मूल्य निर्धारित न हो, वहाँ दाम बढ़ाकर लाभ उठाना, तोल में कमी-बेशी करके उपार्जन करना, नाप में विषमता पैदा करके धन कमाना और घ त से भरे हुए सौ बड़े घड़ों की जगह सौ छोटे घड़े दे देना, राजकीय धन को अपहरण करने के ये चालीस तरीके हैं।

यदि किसी अध्यक्ष के सम्बन्ध में राजा को यह सन्देह हो जाये कि उसने अनुचित उपायों से राजकीय धन का अपहरण किया है तो राजा को चाहिये कि उस विभाग के प्रधान निरीक्षक, कोषाध्यक्ष, लेखक, कर लेने वाले और कर दिलाने वाले सलाहकारों को अलग-अलग बुलाकर यह पूछे कि उनके अध्यक्ष ने गबन किया है या नहीं। यदि उनमें से कोई झूठ बोले तो उसे गबन करने वाले अपराधी के समान ही दण्ड दिया जाये। अपने सारे राज्य में राजा यह घोषणा करा दे कि अपराधी अध्यक्ष ने जिस जिसका गबन किया है, उसकी सूचना राजदरबार को भेज दी जाये। इस प्रकार सूचना मिलने पर राजा, प्रजा की उस हानि को पूरा करे। यदि अध्यक्ष के विरुद्ध एक साथ ही अनेक शिकायतें हों और उनमें से वह किसी को भी स्वीकार न करे तो उसका एक भी अपराध साबित हो जाने पर, सभी शिकायतों का अभियोग उस पर लगाया जाये। यदि अभियुक्त कुछ अपराधों को स्वीकार करता है और कुछ से मुकर जाता है, तो उससे पूरे सबूत मांगे जायें। गबन किये गये बहुत से धन के सम्बन्ध में पूरे सबूत नहीं मिलते, कुछ ही धन के सम्बन्ध में सबूत मिल पाते हों, तो उस पर पूरे गबन का अभियोग लगाना चाहिये। यदि कोई निष्पक्ष, राजहितेच्छु व्यक्ति किसी अध्यक्ष के गबन की सूचना देता है, तो अपराध सिद्ध हो जाने पर, उस अपहृत धन का छठा भाग सूचना देने वाले को दिया जाना चाहिये। यदि सूचना देने वाला व्यक्ति राजकर्मचारी हो तो उसे बारहवाँ भाग दिया जाना चाहिये। यदि अभियोग बहुत से धन का सिद्ध हो चुका है, किन्तु मिला कुछ ही धन है तो सूचना देने वाले व्यक्ति को उस प्राप्त धन में से ही हिस्सा देना चाहिये। यदि अपराध सिद्ध न हो सके तो सूचना देने वाले व्यक्ति को उचित शारीरिक या आर्थिक दण्ड दिया जाना चाहिये। किसी भी अपराधी को क्षमा न किया जाये। अभियोग साबित हो जाने पर सूचना देने वाला व्यक्ति अदालत से अपने को बरी करा सकता है, किन्तु रिश्वत लेकर यदि वह अपराधी के पक्ष में हो जाता है, और सच्चा बयान नहीं देता है तो उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये।

१३. आय-व्यय का लेखा

आचार्य कौटिल्य ने राज्य की अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए राजा को यह निर्देश दिया है कि वह अपने राज्य में होने वाली आय और व्यय का विधिवत् हिसाब रखने के लिए अक्षपटल अध्यक्ष अर्थात् आय-व्यय निरीक्षक नियुक्त करे।

आय-व्यय का निरीक्षक, अक्षपटल का निर्माण कराये, उसका दरवाजा पूरब या उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए, उसमें लेखकों के बैठने के लिए कक्ष और आय-व्यय की निबन्ध-पुस्तकों को रखने के लिये नियमित व्यवस्था होनी चाहिये। उसमें विभिन्न विभागों की नामावली, जनपद की पैदावार एवं उसकी आमदनी का विवरण, खान तथा कारखानों के आय-व्यय का हिसाब, कर्मचारियों की नियुक्ति, अन्न एवं सुवर्ण आदि का उपयोग, प्रयाम (अनाज के गोदाम), व्याजी (कम तोलने के कारण व्यापारियों व दण्डरूप में हुई आमदनी), योग, स्थान, वेतन, विष्टि आदि का ब्योरा, रत्नसार एवं कुप्य आदि पदार्थों के मूल्य, उनका गुण, तौल, उनकी लम्बाई-चौड़ाई, ऊँचाई एवं असली मूलधन का उल्लेख, देश, ग्राम, जाति, कुल सभा-सोसाइटियों के धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा

परिस्थितियों का उल्लेख, राजकीय सहायता से जीवित रहने वाले प्रग्रह, निवासस्थान, भेंट, परिहार एवं वेतन आदि का उल्लेख, महारानी तथा राजपुत्रों द्वारा रत्न एवं भूमि आदि की प्राप्ति का विवरण, राजा, महारानी तथा राजपुत्रों को नियमित रूप से दिये जाने वाले धन के अतिरिक्त दिया हुआ धन, उत्सवों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधारों से प्राप्त धन का उल्लेख और मित्र राजाओं तथा शत्रु राजाओं के साथ संधि-विग्रह आदि के निमित्त प्राप्त हुआ अथवा खर्च हुए धन का विवरण आदि सभी ऐसे विषय हैं जिनका उल्लेख निबन्धपुस्तक में किया जाना चाहिये।

इसके बाद सभी उत्पत्ति-केन्द्रों एवं विभागों के लिए किए जाने वाले, किए गए तथा बचे हुए आय, व्यय नीवी, कार्यकर्ताओं की उपस्थिति, प्रचार, चरित्र और संस्थान आदि सब बातों को रजिस्टर में दर्ज करके राजा को दे देना चाहिये। उत्तम, मध्यम और निकृष्ट जैसे भी कार्य हों उनके अनुसार ही उनके अध्यक्ष नियुक्त किये जाने चाहिये। एक ही कार्य को करने वाले अनेक व्यक्तियों में उसी व्यक्ति को अध्यक्ष नियुक्त किया जाना चाहिए जो निपुण, गुणी, यशस्वी हो और जिसे दण्ड देने के पश्चात् राजा को पश्चात्ताप न करना पड़े।

यदि कोई अध्यक्ष राजकीय धन का गबन करके उसको अदा करने में असमर्थ हो तो वह धन क्रमशः उसके हिस्सेदार, उसके जामिन, उसके अधीनस्थ कर्मचारी, उसके पुत्र एवं भाई, उसकी स्त्री एवं लड़की अथवा उसके नौकर अदा करें। तीन-सौ-चौवन दिन-रात तक एक कर्मसंवत्सर होता है। उसकी समाप्ति आषाढ़ी पूर्णिमा को समझनी चाहिये। इसी वर्ष-गणना के हिसाब से प्रत्येक अध्यक्ष का वेतन दिया जाना चाहिये। यदि अध्यक्ष की नियुक्ति वर्ष के मध्य में हुई है तो उसको कम वेतन और यदि उसने पूरे वर्ष कार्य किया है तो उसे पूरा वेतन दिया जाना चाहिये। प्रत्येक कर्मचारी के कार्य का ब्यौरा उपस्थिति रजिस्टर से देखना चाहिये। अध्यक्ष को चाहिये कि वह जनपद के समस्त कार्यालयों की कार्य-व्यवस्था का ज्ञान गुप्तचरों से प्राप्त करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो अपनी अज्ञानता के कारण वह धनोत्पादन में हानिकर सिद्ध होता है। १. अज्ञान २. आलस्य ३. प्रमाद ४. काम ५. क्रोध ६. दर्प, ७. लोभ, ये धनोत्पादन में विघ्न डालने वाले दोष हैं। अधिक परिश्रम से कतराने के कारण आलस्य के द्वारा, गाना-बजाना तथा स्त्रियों में आसक्त रहने के कारण प्रमाद के द्वारा, निन्दा, अधर्म तथा अनर्थ के कारण भय द्वारा, किसी कार्यार्थी पर अनुग्रह करने के कारण काम द्वारा, किसी क्रूरता के कारण क्रोध द्वारा, विद्या, धन एवं राजप्रिय होने के कारण दर्प द्वारा और नाप-तौल तर्कना तथा हिसाब में गड़बड़ कर देने के कारण लोभ के द्वारा, कर्मचारी लोग आमदनी में बाधा डाल देते हैं।

आचार्य मनु के अनुयायी विद्वानों का कहना है कि 'जो कर्मचारी ऊपर निर्दिष्ट दोषों के वशीभूत होकर जितना अपराध करे उसको उसी क्रम से दण्ड दिया जाना चाहिये' अर्थात् यदि वह अज्ञान के कारण अपराध करता है तो उसे उतना ही दण्ड दिया जाना चाहिये जितने का कि उसने नुकसान किया है, यदि वह आलस्य के कारण नुकसान करता है तो दुगुना, प्रमाद के कारण नुकसान करता है तो तिगुना दण्ड दिया जाना चाहिये। आचार्य पराशर के मतानुयायियों का कहना है कि 'अपराध करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आठगुना दण्ड देना चाहिये, क्योंकि सभी अपराध एक समान हैं।' आचार्य बहस्पति के अनुयायी विद्वानों का मत है कि 'सभी अपराधियों को दसगुना दण्ड दिया जाना चाहिए।' शुक्राचार्य के अनुयायी कहते हैं कि 'सबको बीसगुना दण्ड मिलना चाहिये।' किन्तु आचार्य कौटिल्य का कहना है कि जो जितना अपराध करे तदनुसार ही उसे दण्ड दिया जाना चाहिये।

सभी कार्यालयों के अध्यक्ष आषाढ़ के महीने में वर्ष की समाप्ति पर प्रधान कार्यालय में आकर हिसाब का मिलान करें। उन आये हुए लोगों को तब तक एक-दूसरे से बातचीत न करनी दी जाये तथा मिलने न दिया जाये, जब तक कि उनके पास राजकीय मोहर लगे रजिस्टर तथा व्यय से बचा हुआ धन मौजूद हैं। सर्वप्रथम आय-व्यय को सुनकर उसके पास जो बचत शेष हो उसे ले लिया जाये। अध्यक्ष की बताई हुई आय-राशि से यदि रजिस्टर का हिसाब अधिक निकले ओर उसी प्रकार बताए हुए व्यय की अपेक्षा रजिस्टर में उससे कम निकले तो अध्यक्ष पर, उसके द्वारा बताई गई

कम-अधिक रकम का आठगुना जुर्माना किया जाये। यदि आमदनी से अधिक अथवा व्यय से कम रकम रजिस्टर में चढ़ी हो तो ऐसी दशा में अध्यक्ष को दण्ड न दिया जाये, वरन् आय-व्यय की जो कमी-बेसी हुई है उसी को दे दी जाये। जो अध्यक्ष निश्चित समय में अपने रजिस्टर तथा शेष धन आदि को लेकर प्रधान कार्यालय में उपस्थित नहीं होता उसके हिसाब में जितना बाकी निकले उसका दस गुना जुर्माना उस पर किया जाना चाहिये। यदि प्रधान अध्यक्ष निर्धारित समय पर क्षेत्रीय कार्यालयों में पहुंच जाये और वहां के विभागीय अध्यक्ष कार्यालय का हिसाब-किताब दिखाने में असमर्थ हों तो उन्हें प्रथम साहस-दण्ड दिया जाना चाहिये। इसके विपरीत यदि प्रधान अध्यक्ष निर्धारित समय पर न पहुँच पावे तो उसे दुगुना प्रथम साहस-दण्ड देना चाहिये।

राजा के महामात्र आदि प्रधान कर्मचारी आय-व्यय तथा नीवी सम्बन्धी सारी राजकीय व्यवस्थाएं प्रजाजनों को समझायें-बुझायें। यदि उनमें से कोई झूठा प्रचार करे तो उसे उत्तम साहस-दण्ड दिया जाना चाहिये। द्रव्य की वसूली करने वाला राजकर्मचारी यदि निर्धारित समय पर द्रव्य-वसूली न कर सके तो उसे एक मास का ओर समय दिया जाये। यदि फिर भी वह द्रव्य संग्रह करके राजकोष में न पहुँचा सके तो उस पर प्रति मास के हिसाब से दो-सौ रुपया जुर्माना कर देना चाहिये। जिस अध्यक्ष के पास थोड़ा राजदेय धन बाकी हो, निर्धारित समय से केवल पाँच दिन तक उसकी प्रतीक्षा की जाये। तदनन्तर उसे भी दंडनीय समझा जाये। कोषधन ओर कोषरजिस्टर लाने वाले अध्यक्ष की परीक्षा पहिले धर्म के द्वारा ली जाये, अर्थात् उसे देखा जाये कि वह धर्मात्मा है या दम्भी, फिर उसके व्यवहार को देखा जाये, तदनन्तर उसके आचार-विचार, उसकी पूर्वस्थिति, उसके कार्य एवं हिसाब-किताब और अन्त में उसके कार्यों को पारस्परिक मिलान करके उसकी परीक्षा ली जाये, गुप्तचरों द्वारा भी उसके भेद जाने जायें।

अध्यक्ष को चाहिये कि वह प्रतिदिन, प्रति पाँच दिन, प्रतिपक्ष, प्रतिमास, प्रति चार मास और प्रतिवर्ष के क्रम से राजकीय आय-व्यय एवं नीवी का लेखाजोखा साफ-सुथरे ढंग से रखे अर्थात् वर्षारंभ से, पहले एक दिन का हिसाब, फिर एक साथ पाँच दिन का हिसाब, फिर एक साथ पन्द्रह दिन का हिसाब, फिर एक साथ एक मास का हिसाब, और अंत में एक साथ पूरे वर्ष का हिसाब करके रखे। आय का लेखा निर्दोष और साफ रहे, एतदर्थ रजिस्टर में राजवर्ष (मास, पक्ष, दिन), देश, काल, मुख (आयमुख, आयशरीर), उत्पत्ति, अनुवृत्ति प्रमाण, कर देने वाले का नाम, दिलानेवाले अधिकारी का नाम, लेखक का नाम और लेने वाले का नाम, इस प्रकार स्तंभ बने होने चाहिए। व्यय का लेखा तैयार करने के लिए रजिस्टर में इस प्रकार के खाने होने चाहिए : व्युष्ट, देश, काल, मुख, लाभ व्यय का कारण, देय वस्तु का नाम, मिलावटी द्रव्य में अच्छाई-बुराई का उल्लेख, तौल, किसकी आज्ञा से व्यय किया गया, किसको दिया गया, भाण्डागारिक और लेने वाले का पूरा विवरण। इसी प्रकार नीवी का लेखा; व्युष्ट, देश, काल, मुख, द्रव्य का स्वरूप, द्रव्य की विशेषता, तौल, जिस पात्र में द्रव्य रखा जाये और द्रव्य का संरक्षक आदि विवरणों के आधार पर तैयार करना चाहिये। यदि क्लर्क अर्थलाभ को रजिस्टर में दर्ज नहीं करता है, राजकीय आज्ञा का उल्लंघन करता है, अथवा आय-व्यय के सम्बन्ध में विपरीत कल्पनाएं भी करता है तो उसको प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये। क्रम के विरुद्ध, उलट-पलट कर विपरीत लिख देना, किसी वस्तु को बिना समझे-बूझे ही लिख देना, एक वस्तु को दुबारा चढ़ा देना, ऐसी गड़बड़ी करने वाले कर्मचारी को बारह पण का दण्ड दिया जायें यदि नीवी के सम्बन्ध में लेखक की ऐसी गड़बड़ी पायी जाये तो चौबीस पण दण्ड, उसका गबन करे तो साठ पण दण्ड दिया जाना चाहिये। झूठ बोलने वाले को चोर जितना दण्ड देना चाहिये। हिसाब-किताब के सम्बन्ध में पीछे से किसी बात को स्वीकार करने पर चोरी से दुगुना दण्ड और पूछे जाने पर किसी बात का उत्तर न देकर बाद में उसका उत्तर देने पर भी यही दंड देना चाहिये। राजा को चाहिये कि वह अपने अध्यक्ष के थोड़े अपराध को क्षमा कर दे और यदि वह पूर्वापेक्षया आमदनी में थोड़ी भी वृद्धि कर लेता है तो उसके प्रति प्रसन्नता एवं संतोष प्रकट करे। महान् उपकार करने वाले अध्यक्ष का कृतज्ञ होकर राजा को सदैव उसका सम्मान करना चाहिये।

१४. शुल्क (चुंगी)

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अन्तर्देशीय व्यापार की व्यवस्था तथा उससे राजकोष की वृद्धि के लिए राजा द्वारा शुल्क अर्थात् चुंगी के विधान का निर्देश दिया है। इस कार्य के लिए राजा को शुल्काध्यक्ष की नियुक्ति करनी चाहिये।

यह शुल्काध्यक्ष शुल्कशाला का निर्माण करवावे, उसके पूर्व तथा उत्तर की ओर, प्रधान द्वार के पास, शुल्कशाला की पहिचान के लिए एक पताका लगवा दे। शुल्कशाला में चार-पाँच कर्मचारियों की नियुक्ति की जानी चाहिये, जो माल को लाने ले जाने वाले व्यापारियों का नाम, उनकी जाति, उनका निवास स्थान, माल का विवरण और उस पर कहीं-कहीं मुहर लगी है, इसका विवरण लिखें जिन व्यापारियों के माल पर मुहर न लगी हो, उनको जितनी चुंगी (शुल्क) देनी चाहिये, उन पर उसका दुगुना जुर्माना किया जाये। जिन व्यापारियों ने अपने माल पर नकली मुहर लगाई है उन पर चुंगी का आठ गुना जुर्माना ठोकना चाहिये। जो व्यापारी मुहर लगाकर उसको मिटा दे, उन्हें तीन घड़ी तक ऐसे स्थान पर बैठाया जाये, जहाँ पर कि आने-जाने वाले सभी व्यापारी उनके अपराध को जान सकें। माल का नाम बदलने वाले व्यापारी पर सवापण दण्ड करना चाहिये। शुल्कशाला की ध्वजा के नीचे एकत्र होकर व्यापारी लोग अपने माल का नाम, उसकी कीमत और उसके वजन आदि की बोली बोलें। तीन बार आवाज लगाने पर जो भी खरीद ले, उसे माल दे देना चाहिये, यदि खरीदने वालों में होड़ लग जाये तो माल का मूल्य बढ़ा कर बोली बोली जाये और निर्धारित आमदनी से अधिक मूल्य एवं उसकी चुंगी राजकीय कोष में जमा कर दी जाये। अधिक चुंगी देने के डर से जो व्यापारी अपने माल और उसके मूल्य को कम करके बताये, उस अतिरिक्त माल को राजा ले ले, अथवा व्यापारी से आठ गुना शुल्क वसूल किया जाये। यही दण्ड उस व्यापारी को भी देना चाहिये जो कि बढ़िया माल की जगह, उसी प्रकार की दूसरी पेटी आदि में घटिया माल रख कर उसका मूल्य कम कर दे अथवा जो व्यापारी नीचे के हिस्से में अच्छा माल भर कर ऊपर से सस्ता माल भर दे और उसी के अनुसार चुंगी दे। प्रतिद्वन्द्विता के कारण जो ग्राहक किसी चीज का मूल्य बढ़ा दे, उस बढ़े हुए मूल्य को राजा ले ले अथवा उस मूल्य बढ़ाने वाले खरीददार से दुगुनी चुंगी वसूल कर ली जाये।

मित्रता या रिश्त के कारण यदि अध्यक्ष किसी अपराधी व्यापारी को माफ कर दे तो अपराध के अनुपात से आठ गुना दण्ड अध्यक्ष को दिया जाये। इसलिए माल की बिक्री तौल कर अथवा गिन कर भली भाँति करनी चाहिये, जिससे छल-कपट न हो सके। कोयला, नमक आदि कम चुंगी वाली वस्तुओं पर अन्दाज से ही कर लेना चाहिये, उन्हें तौलने की आवश्यकता नहीं है। जो व्यापारी छिपकर किसी छल से चुंगी दिए बिना ही चुंगीघर को लौंघ कर चले जायें उन्हें नियत शुल्क से आठ गुना अधिक शुल्क देना चाहिये। असली रास्ता छोड़ कर इधर-उधर से निकल जाने वाले लकड़हारे और ग्वाले आदि पर भी निगरानी रखनी चाहिये।

विवाह सम्बन्धी, विवाह में प्राप्त, सदावर्त या क्षेत्रों के लिये दिया गया दान, यज्ञकर्म एवं जन्मोत्सव के लिए भेजा हुआ देवपूजा, मुंडन, जनेऊ, गोदान और व्रत आदि धार्मिक कार्यों से सम्बद्ध माल पर चुंगी न ली जानी चाहिये। किन्तु चुंगी के भय से जो व्यक्ति अपने माल का सम्बन्ध उक्त कार्यों से बतायें तो उसे चोरी का दण्ड दिया जाये। यदि कोई व्यापारी चुंगी दिए माल के साथ बिना चुंगी दिए माल को निकाल ले जाये या इसी प्रकार बिना मुहर लगे माल को निकाल ले जाये, अथवा चुंगी दिये माल में बिना चुंगी का माल मिला दे, उस व्यापारी का वह बिना चुंगी का माल जब्त कर दिया जाये और उस पर उतना ही दण्ड निर्धारित किया जाये। जो व्यापारी चुंगी देने के भय से अपने अच्छे माल को घटिया बताकर धोखे से निकाल ले जाने की चेष्टा करे, उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये। शस्त्र, कवच, लोहा, रथ, रत्न, अन्न और पशु आदि किसी भी प्रतिबन्ध लगी वस्तु को लाने-ले जाने वाले व्यापारी को पूर्व निर्धारित दण्ड दिया जाये और उसकी उस वस्तु

को जब्त कर लिया जाये। इनमें से कोई वस्तु यदि बाहर लायी जाये तो वह बिना चुंगी दिये भी नगर-सीमाओं के बाहर बेची जा सकती है। सीमा रक्षक अन्तपाल को चाहिये कि वह माल ढोने वाली प्रति गाड़ी से मार्गरक्षा-कर के रूप में सवा पण कर वसूल करे। घोड़े, खच्चर, गधे आदि एक खुर वाले पशुओं की गाड़ी पर एक पण, बैल आदि पशुओं पर आधा पण, बकरी, भेड़ आदि छोटे पशुओं पर चौथाई पण और कंधे पर भार ढोने वाले व्यक्तियों पर एक माष (तांबे का सिक्का) कर लेना चाहिये। यदि किसी व्यापारी की कोई वस्तु गुम हो गई या चोरी हो गई हो तो अन्तपाल उसका पता लगाये। नष्ट हुई वस्तु मिल जाये तो दे दे, अन्यथा अपने ही पास से दे। अन्तपाल को चाहिये कि वह विदेशी व्यापारियों के माल की भली-भाँति जाँच कर उस पर मुहर लगाये और रमन्ना (पास) काटकर उन्हें चुंगी के अध्यक्ष के पास भेज दे। उन विदेशी व्यापारियों के साथ गुप्त व्यापारी का भेष धारण किये राजा का खुफिया व्यापारियों के सम्बन्ध की सारी सूचनाएं पहले ही राजा तक पहुँचा दे। इस सूचना को तथा व्यापारियों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी राजा, शुल्काध्यक्ष के पास भेज दे, जिससे कि राजा की जानकारी पर विश्वास किया जा सके और राजा की बात को विश्वासपूर्वक कहा जा सके। तदनुसार शुल्काध्यक्ष व्यापारियों से कहे 'आप लोगों में से अमुक-अमुक व्यापारी के पास इतना घटिया और इतना बढ़िया माल है, आप लोगों को कुछ भी छिपाना नहीं चाहिये। देखिये, राजा का इतना प्रभाव है कि उससे कोई बात छिपी नहीं रह सकती है।' जो व्यापारी घटिया माल को छिपाने का यत्न करे, उस पर चुंगी से आठ गुना जुर्माना और जो बढ़िया माल को छिपाये उसका सारा माल जब्त कर लेना चाहिये। राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाले विष या फल आदि माल को राजा नष्ट कर दे और यदि प्रजा का उपकार करने वाला तथा कठिनाई से प्राप्त होने वाला धान्य आदि माल हो तो उस पर चुंगी न लगाई जाये, जिससे उस माल का अपने देश में अधिक आयात हो। शुल्कव्यवहार के तीन प्रकार हैं : १. बाह्य, २. आभ्यन्तर, और ३. आतिथ्य। इनके दो भाग हैं : १. निष्क्राम्य और २. प्रवेश्य। बाहर जाने वाले माल पर लगाई गई चुंगी को निष्क्राम्य और बाहर से आने वाले माल पर लगाई चुंगी को प्रवेश्य कहते हैं। आयात माल पर सामान्यतः उसकी लागत का पाँचवाँ हिस्सा चुंगी ली जानी चाहिये। फूल, फल, साग, गाजर, मूल, शकरकन्द, धान्य, सूखी मछली और मांस, इन वस्तुओं पर उनकी लागत का छठा हिस्सा चुंगी लेनी चाहिये। शंख, हीरा, मणि, मुक्ता, प्रवाल और हार, इन मूल्यवान् वस्तुओं की चुंगी उनके विशेषज्ञों, पारखियों अथवा विशिष्ट रूप से नियत समय के लिए नियत वेतन पर नियुक्त व्यक्तियों द्वारा निर्धारित करनी चाहिये। मोटे तथा महीन रेशमी कपड़ों, कीमखाब, सूती कवच, हरताल, मैन्सिल, हिंगुल, लोहा, गेरू, चन्दन, अगर पीपल, मादक बीजों से निकाला गया द्रव्य, शराब, हाथदौत, म गचर्म, रेशमी तागे, बिछौना, ओढ़ना, अन्य रेशमी वस्त्र और बकरी तथा भेड़ की ऊन के बने कपड़ों आदि पर उनके मूल्य का पन्द्रहवाँ हिस्सा चुंगी ली जानी चाहिये।

१५. अध्यक्ष व उनके कार्य

आचार्य कौटिल्य ने सम्पूर्ण राज्य के प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अपने अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ के अध्यक्ष प्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में विभिन्न कार्यों को देखने वाले अध्यक्षों और अधिकारियों का उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ प्रमुख पदाधिकारियों और उनके कार्यों का सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत है :-

सन्निधाता - कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था में कोषाध्यक्ष को सन्निधाता कहा जाता था। इसका मुख्य कार्य भिन्न भिन्न प्रकार के राज धन को सुरक्षित रखने के लिए कोशग ह, पण्यग ह तथा कोष्ठागार, कुप्यग ह तथा आयुधागार और बन्धनागार आदि का निर्माण कराना था। राजकोष को सुरक्षित रखना उसका मुख्य उत्तरदायित्व था।

समाहर्ता - तत्कालीन राज्य व्यवस्था में समाहर्ता राजकोष का स चय करता था। राज्य में होने वाली कृषि तथा व्यापार आदि में से राज कर को वसूलने वाला यह मुख्य अधिकारी था। वर्तमान व्यवस्था में इसे कलक्टर (जनरल) कहते हैं।

अक्षपटलाध्यक्ष - राजकीय धन के आय व्यय का लेखा जिस स्थान पर लिखा जाता था उसे अक्षपटल कहा जाता था। अक्षपटल नामक कार्यालय का मुख अधिकारी अक्षपटलाध्यक्ष कहलाता था। इस लेखा कार्यालय के निर्माण से लेकर वहाँ होने वाले लेखा सम्बन्धी समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व अक्षपटलाध्यक्ष का ही होता था।

आकाराध्यक्ष - यह राज्य की विभिन्न प्रकार की खानों का कार्य देखने वाला उच्चाधिकारी था। यह शुल्बशास्त्र, धातुशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा मणिशास्त्र आदि विभिन्न विषयों का ज्ञाता होता था। इसका कार्य विभिन्न धातुओं की खानों का पता लगाना तथा वहाँ से यथाविधि धातु आदि का संग्रह करना होता था। पुनः भिन्न भिन्न धातुओं के उपयोग की व्यवस्था करने वाले भिन्न-भिन्न अध्यक्ष होते थे, यथा - लौह से बनने वाले पदार्थों का व्यवहार देखने वाला लौहाध्यक्ष, सिक्के ढलवाने वाला लक्षणाध्यक्ष, नमक की व्यवस्था देखने वाला लवणाध्यक्ष तथा सुवर्ण और चाँदी का व्यवहार सम्भालने वाला सुवर्णाध्यक्ष आदि।

कोष्ठागाराध्यक्ष - कोष्ठ का मूल अर्थ है धान्य, तेल, घी आदि खाने योग्य पदार्थ है। इन सब पदार्थों के संग्रह की तथा उनके रख-रखाव की व्यवस्था देखने वाला कोष्ठागाराध्यक्ष होता था।

पण्याध्यक्ष - विक्रय के योग्य राज द्रव्य को अर्थशास्त्र में पण्य कहा गया है। उस पण्य द्रव्य के क्रय और विक्रय की व्यवस्था को देखने वाला अधिकारी पण्याध्यक्ष होता था।

कुप्याध्यक्ष - मूल्यवान् व क्षों की लकड़ी, छाल तथा बाँस आदि सब कुप्य कहलाते हैं। इनकी व्यवस्था देखने वाला अधिकारी कुप्याध्यक्ष कहलाता था।

आयुधागाराध्यक्ष - सब प्रकार के आयुधों के निर्माण तथा उन्हें सुरक्षित रखने वाला उत्तरदायी अधिकारी आयुधागाराध्यक्ष होता था।

पौतवाध्यक्ष - सब प्रकार की तौल माप आदि का काम देखने वाले अधिकारी को पौतवाध्यक्ष कहा जाता था।

शुल्काध्यक्ष - राज्य में बाहर से आने वाली तथा राज्य से बाहर जाने वाली व्यापारिक वस्तुओं पर नियमानुसार शुल्क अर्थात् चुंगी वसूलने वाला मुख्याधिकारी शुल्काध्यक्ष कहलाता था।

सूत्राध्यक्ष - सूत्राध्यक्ष का कार्य सभी प्रकार के सूत तथा उनसे बनने वाले वस्त्र-निर्माण की व्यवस्था देखना होता था।

सीताध्यक्ष - कृषि योग्य भूमि को सीता कहा जाता है। कृषि कर्म के निरीक्षक के लिए नियुक्त मुख्याधिकारी सीताध्यक्ष होता था। सब प्रकार की बीजों का संग्रह करवाना, उन्हें सुरक्षित रखना तथा यथा समय किसानों को देना, वर्षा आदि का पूर्वानुमान, हुई वर्षा का मान, तदनुसार कृषि कर्म की व्यवस्था आदि देखना इसके प्रमुख कार्य होते थे।

नावाध्यक्ष - राज्य के घाटों पर आने जाने वाली नौकाओं से टैक्स लेने वाला राजकीय पुरुष नावाध्यक्ष कहलाता था।

गो ध्यक्ष - दुधारु पालतू पशुओं की व्यवस्थाओं का निरीक्षण करने वाला राजकीय अधिकारी गो ध्यक्ष कहा जाता था।

अश्वाध्यक्ष - राजकीय अश्वों की व्यवस्था देखने वाला मुख्य अधिकारी।

हस्त्यध्यक्ष - राजकीय हस्तियों का प्रबन्ध करने वाला प्रमुख अधिकारी।

रथाध्यक्ष - सेना में काम आने वाले रथों की व्यवस्था देखने वाला प्रमुख अधिकारी।

पत्यध्यक्ष - पैदल सेना का प्रधान अधिकारी।

सेनापति - राजकीय सेना का प्रधान अधिकारी सेनापति होता था। अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, रथाध्यक्ष तथा पत्यध्यक्ष उसी के मार्गदर्शन में कार्य करते थे।

प्रथमं अधिकरणम्

अध्याय-१

विद्यासमुद्देशः आन्वीक्षकीस्थापना

- (१) आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।
- (२) त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः। त्रयीविशेषो ह्यान्वीक्षकीति।
- (३) वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः। संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयान्नाविद इति।
- (४) दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः। तस्यां हि सर्वविद्यारम्भाः प्रतिबद्धा इति।
- (५) चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्।
- (६) साङ्ख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी। धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थान्थौ वार्तायां नयापनयौ दण्डनीत्याम् बलाबले चैतासां हेतुभिरन्वीक्षमानाणां विद्या लोकायतपकरोति; व्यसने भ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति; प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति।
- (७) प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता।।

इति कौटिलीयार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे विद्यासमुद्देशे आन्वीक्षकीस्थापना नाम प्रथमो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति-ये चार विद्यार्ये हैं।
- (२) मनु सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्य त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, इन तीन विद्याओं को मानते हैं। उनका मत है कि आन्वीक्षकी का समावेश त्रयी के अन्तर्गत ही हो जाता है।
- (३) आचार्य ब हस्पति के अनुयायी विद्वान् केवल दो ही विद्यार्ये मानते हैं : वार्ता और दण्डनीति। उनके मतानुसार त्रयी तो संसारी लोगों की आजीविका का साधन मात्र है।
- (४) शुक्राचार्य के अनुयायी विद्वानों ने तो केवल दण्डनीति को ही विद्या माना है, और उसी को सम्पूर्ण विद्याओं का स्थान एवं कारण स्वीकार किया है।
- (५) आचार्य कौटिल्य उक्त चारों विद्याओं को मानते हैं। धर्म और अर्थ का बोध कराना ही इन विद्याओं का विद्यात्व अर्थात् प्रयोजन है।
- (६) सांख्य, योग और लोकायत (चार्वाक दर्शन), ये आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार त्रयी में धर्म-अधर्म का, वार्ता में अर्थ-अनर्थ का और दण्डनीति में सुशासन-दुःशासन का ज्ञान प्रतिपादित है। त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता-अप्रधानता (बलाबल) को, भिन्न-भिन्न युक्तियों से, निर्धारित करती हुई आन्वीक्षकी विद्या लोक का उपकार करती है; सुख-दुःख से बुद्धि को स्थिर रखती है; और सोचने, विचारने, बोलने तथा कार्य करने में सक्षम बनाती है।
- (७) यह आन्वीक्षकी विद्या सर्वदा ही सब विद्याओं का प्रदीप, सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय मानी गई है।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में आन्वीक्षकी स्थापना नाम का पहला अध्याय समाप्त।

अध्याय २

त्रयीस्थापना

- (१) सामग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी। अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोविचितिर्ज्योतिषमिति चाङ्गानि।
- (२) एष त्रयीधर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः।
- (३) स्वधर्मो ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति। क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च। वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं कृषिपाशुपाल्ये वणिज्या च। शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारुकुशीलवकर्म च।
- (४) ग हस्थस्य स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमानर्षिभिर्वैवाह्यम तुगामित्वं देवपित्रतिथिभ्यो त्यागः शेषभोजनं च।
- (५) ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायो ग्निकार्योभिषेको भैक्षव्रतत्वमाचार्ये प्राणान्तिकी व त्तिस्तदभावे गुरुपुत्रे सन्नह्यचारिणि वा।
- (६) वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्यं भूमौ शय्या जटा जिनधारणमग्निहोत्राभिषेकौ देवतापित्रतिथिपूजा वन्यश्चाहारः।
- (७) परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किं चनत्वं सङ्गत्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो बाह्याभ्यन्तरं च शौचम्।
- (८) सर्वेषामर्हिंसा सत्यं शौचमनसूया न शंस्यं क्षमा च।
- (९) स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकः सङ्करादुच्छिद्येत।
- (१०) तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।।
- (११) व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।।
इति कौटिलीयार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे विद्यासमुद्देशे त्रयीस्थापना नाम द्वितीयो ६ यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) साम, ऋक् तथा यजु, इन तीनों वेदों का समन्वित नाम ही त्रयी है। अथर्ववेद और इतिहासवेद भी वेद कहे जाते हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दोविचिति (विचिति=विचार, विवेक) और ज्योतिष, ये छह वेदांग हैं।
- (२) त्रयी में निरूपित यह धर्म, चारों वर्णों और चारों आश्रमों को अपने अपने धर्म (कर्तव्य) में स्थिर रखने के कारण लोक का बहुत ही उपकारक है।
- (३) ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान देना तथा दान लेना है। क्षत्रिय का धर्म, है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्रबल से जीविकोपार्जन करना और प्राणियों की रक्षा करना। वैश्य का धर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना कृषिकार्य एवं पशुपालन और व्यापार करना है। इसी प्रकार शूद्र का अपना धर्म है कि वह ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य की सेवा करे;

खेती, पशु-पालन तथा व्यापार करे; और शिल्प (कारीगरी), गायन, वादन एवं चारण, भाट आदि का कार्य करे।

- (४) ग हस्थ अपनी परम्परा के अनुकूल कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करे; सगोत्र तथा असगोत्र समाज में विवाह करे; ऋतुगामी हो; देव, पितर, अतिथि और भ त्यजनों को देकर सबसे अन्त में भोजन करे।
- (५) ब्रह्मचारी का धर्म है कि वह नियमित स्वाध्याय करे; अग्निहोत्र करे; नित्य स्नान करे; भिक्षाटन करे; जीवनपर्यन्त गुरु के समीप रहे; गुरु की अनुपस्थिति में गुरुपुत्र अथवा अपने किसी समान शाखाध्यायी के निकट रहे।
- (६) वानप्रस्थी का धर्म है : ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना; भूमि पर शयन करना; जटा, म गचर्म को धारण किये रहना; अग्निहोत्र तथा प्रतिदिन स्नान करना; देव, पितर एवं अभ्यागतों की सेवा-पूजा करना और वन के कन्दमूल-फल पर निर्वाह करना।
- (७) संन्यासी का धर्म है : जितेन्द्रिय होना; वह किसी भी सांसारिक कार्य को न करे; निष्किंचन बना रहे; एकाकी रहे; प्राणरक्षा मात्र के लिए स्वल्प आहार करे; समाज में न रहे; जंगलों में भी एक ही स्थान पर न रहे; मन, वचन, कर्म से अपना भीतर तथा बाहर पवित्र रखे।
- (८) प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक आश्रम का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार की हिंसा न करे; सत्य बोले; पवित्र बना रहे; किसी से ईर्ष्या न करे; दयावान् और क्षमाशील बना रहे।
- (९) अपने धर्म का पालन करने से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। उसका पालन न करने से वर्ण तथा कर्म में संकरता आ जाती है, जिससे लोक का नाश हो जाता है।
- (१०) इसलिए राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को धर्म और कर्म मार्ग से भ्रष्ट न होने दे। अपनी प्रजा को धर्म और कर्म में प्रवृत्त रखने वाला राजा लोक और परलोक में सुखी रहता है।
- (११) पवित्र आर्यमर्यादा में अवस्थित, वर्णाश्रमधर्म में नियमित और त्रयी धर्म से रक्षित प्रजा दुखी नहीं होती, सदा सुखी रहती है।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में त्रयी स्थापना नाम का दूसरा अध्याय समाप्त।

अध्याय ३

वार्तादण्डनीतिस्थापना

- (१) कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तथा स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्।
- (२) आन्वीक्षकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। अलब्धलाभार्था; लब्धपरिरक्षणी; रक्षितविवर्धनी; वद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च।
- (३) तस्यामायत्ता लोकयात्रा। तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्। न ह्येवंविधं वशोपनयनमस्ति भूतानां यथा दण्ड इत्याचार्याः।
- (४) नेति कौटिल्यः। तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः। म दुदण्डः परिभूयते। यथार्हदण्डः पूज्यः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति।
- (५) दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्दानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्ग पुनर्गहस्थान्। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेन गुप्तः प्रभवतीति।
- (६) चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु।।

इति कौटिलीयार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे विद्यासमुद्देशे वार्तास्थापना दण्डनीतिस्थापना च तृतीयो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) कृषि, पशुपालन और व्यापार, ये वार्ताविद्या के विषय हैं। यह विद्या, धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थ और नौकर-चाकर आदि को देने से परम उपकारिणी है। इसी विद्या से उपार्जित कोश और सेना के बल पर राजा स्वपक्ष तथा परपक्ष को वश में कर लेता है।
- (२) आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता, इन सभी विद्याओं की सुख-समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। दण्ड को प्रतिपादित करने वाली नीति ही दण्डनीति कहलाती है। वही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है; प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करती है; रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है और वही संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। उसी पर संसार की सारी लोकयात्रा निर्भर है। इसलिए लोक को समुचित मार्ग पर ले चलने की इच्छा रखने वाला राजा सदा ही उद्यतदण्ड अर्थात् यथायोग्य दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहे।
- (३) पुरातन आचार्यों का अभिमत है कि 'दण्ड के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है, जिससे सभी प्राणियों को सहज ही वश में किया जा सके'।
- (४) किन्तु आचार्य कौटिल्य इस युक्ति से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो उठते हैं; किन्तु दण्ड में ढिलाई कर देने से भी लोक, राजा की अवहेलना करने लगता है। इसलिए राजा को समुचित दण्ड देने वाला होना चाहिए।'।
- (५) भली भाँति सोच-समझ कर प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त करता है।

काम-क्रोध के वशीभूत होकर अज्ञानतापूर्वक अनुचित रीति से प्रयुक्त किया हुआ दण्ड, वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निःस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित कर देता है; फिर गहस्थ लोगों का तो कहना ही क्या ? इसके विपरीत, यदि दण्ड से व्यवस्था सर्वथा ही तोड़ दी जाए तो उसका कुप्रभाव यह होगा कि जैसे छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है, वैसे ही बलवान् व्यक्ति, निर्बल व्यक्तियों का जीना मुश्किल कर देंगे। दण्ड-व्यवस्था के अभाव में सर्वत्र ही अराजकता फैल जाती है और निर्बल को बलवान् सताने लगता है; किन्तु दण्डधारी राजा से रक्षित दुर्बल भी बलवान् बना रहता है।

- (9) राजा की दण्ड-व्यवस्था से पालित चारों वर्ण-आश्रम, सारा लोक, अपने-अपने धर्म कर्मों में प्रवृत्त होकर निरन्तर अपनी अपनी मर्यादा पर बने रहते हैं।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में वार्तादण्डनीतिस्थापना नाम का तीसरा अध्याय समाप्त।

अध्याय ४

व द्ध-संयोगः

- (१) तस्माद्दण्डमूलास्तिस्रो विद्याः। विनयमूलो दण्डः प्राणभ तां योगक्षेमावहः।
- (२) कृतकः स्वाभाविकश्च विनयः। क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्। शुश्रूषाश्रवणग्रहणाधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिविष्टबुद्धिं विद्या विनयति नेतरम्।
- (३) विद्यानां तु यथास्वमाचार्यप्रामाण्याद्धिनयो नियमश्च।
- (४) व त्तचौलकर्मा लिपिं संख्यां चोपयु जीत। व तोपनयनस्त्रयीमान्चीक्षकी च शिष्टेभ्यः, वार्तामध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वक्त प्रयोक्त भ्यः।
- (५) ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात्। अतो गोदानं दारकर्म च। अस्य नित्यश्च विद्याव द्धसंयोगो विनयव द्धर्थं तन्मूलत्वाद्धिनयस्य।
- (६) पूर्वमहर्भागं हस्त्यश्वरथप्रहरणविद्यासु विनयं गच्छेत्। पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिह त्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः। शेषमहोरात्रभागमपूर्वं ग्रहणं ग हीतपरिचयं च कुर्यात्। अग हीतानामाभीक्ष्यश्रवणं च।
- (७) श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते; प्रज्ञया योगो योगादात्मवत्तेति विद्यासामर्थ्यम्।
- (८) विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां प थिर्वी भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः।।

इति कौटिलीयार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे विद्यासमुद्देशे व द्धसंयोगानामकः चतुर्थो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) यही कारण है कि आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता, इन तीनों विद्याओं का अस्तित्व दण्डनीति पर आधारित है। शास्त्रविहित उचित रीति से प्रयुक्त दण्ड प्रजा के योगक्षेम का साधक होता है।
- (२) विनय अर्थात् शिक्षा दो प्रकार की होती है : १. कृतक (कृत्रिम, बनावटी, नैमित्तिक) और २. स्वाभाविक (स्वतः सिद्ध)। शिक्षा सुपात्र को ही योग्य बना सकती है, अपात्र को नहीं। विद्या से वही योग्य हो सकते हैं, जो कि शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह (तर्क-वितर्क) में विवेक तथा बुद्धि से काम लेते हैं।
- (३) विभिन्न विद्याओं के विभिन्न आचार्यों के मतानुसार ही शिष्य का शिक्षण और नियमन होना चाहिए।
- (४) मुण्डन-संस्कार के बाद वर्णमाला और अङ्कमाला का अभ्यास करे। उपनयन के बाद सदाचारशील विद्वान् आचार्यों से त्रयी तथा आन्वीक्षकी, विभागीय अध्यक्षां से वार्ता और वक्ता-प्रयोक्ता विशेषज्ञों से दण्डनीति की शिक्षा ग्रहण करें।
- (५) सोलह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करे। तदनन्तर गोदानविधि अनुसार समावर्तन संस्कार और विवाह करे। विवाह के बाद अपने विनय की व द्धि के लिए सदा ही विद्याव द्ध पुरुषों का सहवास करे, क्योंकि सारे विनय का मूल वे ही हैं।

- (६) दिन का पहिला भाग हाथी, घोड़ा, रथ, अस्त्र-शस्त्र आदि विद्याओं की शिक्षा में बिताये। दिन के दूसरे भाग को इतिहास सुनने में लगाये। पुराण, इतिवत्त, आख्यायिका, उदाहरण (मीमांसा), धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र, ये सभी विषय इतिहास हैं। दिन और रात के शेष बचे समय में नये ज्ञान का अर्जन और अर्जित ज्ञान का मनन-चिन्तन करे। जो विषय एक बार सुनने में बुद्धिस्थ न हो सके, उसका बार-बार श्रवण करे।
- (७) क्योंकि शास्त्र-श्रवण से बुद्धि का विकास होता है, उससे योगशास्त्रों में रुचि और योग से आत्मबल प्राप्त होता है। यही विद्या का सुपरिणाम है।
- (८) जो विद्वान् राजा प्राणिमात्र की हितकामना में लगा रहता है और प्रजा के शासन तथा शिक्षण में तत्पर रहता है, वह चिरकाल तक पृथिवी का निर्बाध शासन करता है।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में वद्ध संयोग नाम का चौथा अध्याय समाप्त।

अध्याय ५

इन्द्रिय-जयः अरिषड्वर्गत्यागः

- (१) विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः; कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः कर्णत्वगक्षिजिह्वान्नाणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्व- विप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः।
- (२) शास्त्रार्थानुष्ठानं वा। कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धव तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तो पि राजा सद्यो विनश्यति। यथा दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश। करालश्च वैदेहः। कोपाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तस्तालजङ्घश्च भ गुप्तु। लोभादेल्श्चातुर्वर्ण्यमत्याहारयमाणः सौवीरश्चाजबिन्दुः। मानाद्रावणः परदारानप्रयच्छन्। दुर्योधनो राज्यादंशं च। मदाद् डम्भोद्भवो भूतावमानी हैहयश्चार्युनः। हर्षाद्वातापिगस्त्यमत्यासादन्व ष्णिसंघश्च द्वैपायनमिति।
- (३) एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।
सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः।।
शत्रुषड्वर्गम त्स ज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः।
अम्बरीषश्च नाभागो बुभुजाते चिरं महीम्
इति कौटिलीयार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमे धिकरणे इन्द्रियजये अरिषड्वर्गत्यागः प चमो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) विद्या और विनय का हेतु इन्द्रियजय है; अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष इस अरिषड्वर्ग के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका को उनके विषयों : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में प्रवृत्त न होने देना ही इन्द्रियजय कहलाता है।
- (२) अथवा शास्त्रों में प्रतिपादित कर्तव्यों के सम्यक् अनुष्ठान को ही इन्द्रियजय कहते हैं। सारे शास्त्रों का मूल कारण इन्द्रियजय है। शास्त्रविहित कर्तव्यों के विपरीत आचरण करने वाले इन्द्रिय-लोलुप राजा सारी पृथिवी का अधिपति होता हुआ भी शीघ्र नष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप भोजवंशीय दाण्डक्य नामक राजा कामवश ब्राह्मणकन्या का अपहरण करने के अपराध में, उसके पिता के शाप से, सपरिवार एवं सराष्ट्र विनष्ट हो गया। यही गति विदेह देश के राजा कराल की भी हुई। क्रोधवश राजा जनमेजय भी ब्राह्मणों से कलह कर बैठा और वह भी उनके शाप से नष्ट हो गया। इसी प्रकार भृगुवंशियों से कलह करने पर तालजङ्घ की भी दुर्गति हुई। लोभाभिभूत होकर इला का पुत्र पुरुरवा, चारों वर्णों से अत्याचारपूर्वक धन का अपहरण करने के कारण, उनके अभिशाप से मारा गया। यही हाल सौवीर देश के राजा अजबिन्दु का भी हुआ। अभिमानी रावण पर-पत्नी के अपहरण के अपराध से और दुर्योधन अपने भाइयों को राज्य का भाग न देने के अन्याय से मारे गये। मदोन्मत्त राजा डम्भोद्भव अपनी प्रजा का तिरस्कार करता रहा; अन्त में नर-नारायण के साथ युद्ध करते हुए वह भी विनाश को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार हैहयराज अर्जुन, परशुराम द्वारा मारा गया। हर्ष के वशीभूत होकर वातापि नाम का असुर, अगस्त्य ऋषि के शापवश मृत्युमुख में जा पहुँचे।

- (३) कामादि छह शत्रुओं के वश में होकर, ऊपर गिनाये गये राजाओं के अतिरिक्त दूसरे भी बहुत से राजा, सबन्धु-बान्धव एवं सराज्य नष्ट हो गये। किन्तु जामदग्न्य परशुराम, अम्बरीष और नाभाग जैसे जितेन्द्रिय राजाओं ने चिरकाल तक इस पृथिवी का उपभोग किया।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में इन्द्रियजय और अरिषड्वर्गत्याग नाम का पांचवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ६

राजर्षिव त्तम्

- (१) तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत। व द्धसंयोगेन प्रज्ञां, चारेण चक्षुरुत्थानेन योगक्षेमसाधनं, कार्यानुशासनेन स्वधर्मस्थापनं, विनयं विद्योपदेशेन, लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन, हितेन व त्तिम्।
- (२) एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत्। स्वप्नं लौल्यमन तमुद्धतवेषत्वमनर्थसंयोगं च; अधर्मसंयुक्तमानर्थसंयुक्तं च व्यवहारम्।
- (३) धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत्। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति।
- (४) अर्थ एवं प्रधान इति कौटिल्यः; अर्थमूलो हि धर्मकामाविति।
- (५) मर्यादां स्थापयेदाचार्यानामात्यान् वा। य एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। छायानालिकाप्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।
- (६) सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श् णुयान्मतम्।।
इति कौटिलीयार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमे धिकरणे इन्द्रियजये राजर्षिव त्तं षष्ठो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) इसलिए, काम-क्रोधादि छहों शत्रुओं का सर्वथा परित्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे। विद्वान् पुरुषों की संगति में रहकर बुद्धि का विकास करे। गुप्तचरों द्वारा स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र के व तान्त को अवगत करे। उद्योग के द्वारा राज्य के योग-क्षेम का सम्पादन करे। राजकीय नियमों द्वारा अपने-अपने धर्म पर द ढ बने रहने के लिए प्रजा पर नियन्त्रण रखे। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से प्रजा को विनम्र और शिक्षित बनावे। प्रजाजनों को धन-सम्मान प्रदान कर अपनी लोकप्रियता को बनाये रखे। दूसरे का हित करने में उत्सुक रहे।
- (२) इस प्रकार इन्द्रियों को वश में रखता हुआ वह (राजा) पराई स्त्री, पराया धन और हिंसाप्रव त्ति को सर्वथा त्याग दे। कुसमय शयन करना, च चलता, झूठ बोलना, अविनीत व त्ति बनाये रखना, इस प्रकार के आचरणों को और इस प्रकार के आचरण वाले लोगों की संगति को वह छोड़ दे। उसको चाहिए कि वह अधर्माचरण और अनर्थकारी व्यवहार का भी परित्याग कर दे।
- (३) काम का भी वह सेवन करे; किन्तु उससे धर्म और अर्थ को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे। सर्वथा सुखरहित जीवन-यापन न करे। परस्पर अनुबद्ध धर्म, अर्थ और काम, इस त्रिवर्ग का सन्तुलित उपभोग करे। इस त्रिवर्ग का असंतुलित उपभोग बड़ा दुःखदायी सिद्ध होता है।
- (४) आचार्य कौटिल्य का अभिमत है कि 'धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों में अर्थ प्रधान है, धर्म और काम अर्थ पर निर्भर है।
- (५) गुरुजन और अमात्यवर्ग राजा की मर्यादा को निर्धारित करें। वे ही राजा को अनर्थकारी कार्यों से रोकते रहें। यदि वह एकान्त में प्रमाद करता हुआ अभर्यादित हो जाये तो समय-सूचक यन्त्र द्वारा अथवा घंटा आदि बजाकर उसको सावधान करें।

- (६) एक पहिये की गाड़ी की भाँति राजकाज भी बिना सहायता-सहयोग से नहीं चलाया जा सकता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को हृदयंगम करे।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में राजर्षिवत्त नाम का छठा अध्याय समाप्त।

अध्याय ७

अमात्यनियुक्तिः

- (१) सहाध्यायिनो मात्यान् कुर्वीत, दष्टशौचसामर्थ्यत्वादिति भारद्वाजः। ते ह्यस्य विश्वास्या भवन्तीति।
- (२) नेति विशालाक्षः। सहक्रीडितत्वात् परिभवन्त्येनम्। ये ह्यस्य गुह्यसधर्माणस्तानमात्यान् कुर्वीत, समानशीलव्यसनत्वात्। ते ह्यस्य मर्मज्ञभयान्नापराध्यन्तीति।
- (३) साधारण एष दोष इति पराशरः। तेषामपि मर्मज्ञभयात्कृताकृतान्यनुवर्तेत।
- (४) यावद्भ्यो गुह्यमाचष्टे जनेभ्यः पुरुषाधिपः।
अवशः कर्मणा तेन वश्यो भवति तावताम्।।
- (५) य एनमापत्सु प्राणाबाधयुक्तास्वनुग ह्णीयुस्तानमात्यान् कुर्वीत, दष्टानुरागत्वादिति।
- (६) नेति पिशुनः। भक्तिरेषा न बुद्धिगुणः। संख्यातार्थेषु कर्मसु नियुक्ता ये यथादिष्टमर्थं सविशेषं वा कुर्युस्तानमात्यान् कुर्वीत, दष्टगुणत्वादिति।
- (७) नेति कौणपदन्तः। अन्यैरमात्यगुरुरयुक्ता ह्येते। पित पैतामहानमात्यान् कुर्वीत, दष्टापदानत्वात्। ते ह्येनमपचरन्तमपि न त्यजन्ति, सगन्धत्वात्। अमानुषेष्वपि चैतद् दश्यते-गावो ह्यसगन्धं गोगणमतिक्रम्य सगन्धेष्वेवावतिष्ठन्ते इति।
- (८) नेति वातव्याधिः। ते ह्यस्य सर्वमपग ह्य स्वामिवत् प्रचरन्तीति। तस्मात्प्रीतिविदो नवानमात्यान् कुर्वीत। नवास्तु यमस्थाने दण्डधरं मन्यमाना नापराध्यन्तीति।
- (९) नेति बाहुदन्तीपुत्रः। शास्त्रविददष्टकर्मा कर्मसु विषादं गच्छेत्।
- (१०) सर्वमुपपन्नमिति कौटिल्यः। कार्यसामर्थ्याद्धि पुरुषसामर्थ्यं कल्प्यते सामर्थ्यतश्च।
- (११) विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः।।
इति विनयाधिकारिके प्रथमे धिकरणे मात्योत्यनियुक्तिनामकः सप्तमो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) आचार्य भारद्वाज का अभिमत है कि 'राजा, अपने सहपाठियों को अमात्य पद पर नियुक्त करे; क्योंकि उनके हृदय की पवित्रता से वह सुपरिचित होता है; उनकी कार्यक्षमता को भी वह जान चुका होता है। ऐसे ही अमात्य राजा के विश्वासपात्र होते हैं'।
- (२) आचार्य विशालाक्ष का कहना है कि 'ऐसा उचित नहीं। एक साथ खेलने तथा उठने-बैठने के कारण सहपाठी अमात्य राजा का तिरस्कार कर सकते हैं। इसलिए अमात्य उनको बनाना चाहिए जो कि गुप्त कार्यों में राजा का साथ देते रहे हों। समान शील और समान व्यसन होने के कारण ऐसे लोग गुप्त बातों का भेद खुल जाने के भय से, राजा का अपमान नहीं करते हैं'।
- (३) आचार्य पराशर के मत से आचार्य विशालाक्ष की युक्तियाँ दोषपूर्ण हैं। पराशर का कहना है कि यह बात तो दोनों ही पक्षों पर एक समान चरितार्थ होती है। ऐसा करने से यह भी तो

सम्भव है कि गुप्त बातों का भेद खुल जाने के भय से राजा ही अमात्य की कठपुतली बन जाय ! क्योंकि :

- (४) राजा जिन लोगों से जितना ही अपनी गुप्त बातें प्रकट करता है, उतना ही शक्ति से क्षीण होकर वह उनके वश में हो जाता है।
- (५) इसलिए जो पुरुष राजा की प्राणघातक आपत्तियों में रक्षा करें, उनको अमात्य नियुक्त करना चाहिए। उनके अनुराग की परीक्षा राजा कर चुका होता है।
- (६) आचार्य पिशुन इसको भक्ति कहते हैं। उनका कहना है कि 'प्राणों की चिन्ता न करके राजा की सहायता करना भक्ति है, सेवाधर्म है; वह बुद्धि का प्रमाण नहीं; जो कि अमात्य का सर्वोच्च गुण है। इसलिए अमात्य पद पर उन्हीं को नियुक्त करना चाहिए जो कि विशिष्ट राजकीय कार्यों पर नियुक्त होकर अपने कार्यों को विशेष योग्यता के साथ सम्पन्न करके दिखा दें, क्योंकि इस ढंग से उनके बुद्धि-वैशिष्ट्य की परीक्षा हो जाती है'।
- (७) आचार्य कौणपदन्त उक्त मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि 'ऐसे लोग अमात्योचित गुणों से शून्य होते हैं। अमात्यपद जिनको वंश-परम्परा से उपलब्ध रहा हो, उन्हीं को इस पद पर नियुक्त करना चाहिए। वे ही उसकी सम्पूर्ण रीति-नीति से सुपरिचित होते हैं। यह कारण है कि वे अपना अपकार होने पर भी, परम्परागत सम्बन्ध के कारण राजा को नहीं छोड़ते। यह बात पशु-पक्षियों तक में देखी जाती है कि गाय, अपरिचित गोष्ठ को छोड़कर परिचित गोष्ठ में ही जाकर ठहरती है'।
- (८) आचार्य वातव्याधि, आचार्य कौणपदन्त के अभिमत के समर्थक नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि 'इस प्रकार के अमात्य; राजा के सर्वस्व को अपने अधीन करके, राजा के समान स्वतन्त्र व त्ति वाले हो जाते हैं। इसलिए नीतिकुशल राजा नये व्यक्तियों को ही अमात्य नियुक्त करे। नये अमात्य, दण्डधारी राजा को यम का दूसरा अवतार समझ कर, उसकी कभी भी अवमानना नहीं करते'।
- (९) आचार्य बाहुदन्ती के मत से यह भी ठीक नहीं है। वे कहते हैं 'नीतिशास्त्रपारंगत, किन्तु क्रियात्मक अनुभव से शून्य व्यक्ति राजकार्यों को नहीं कर सकता है। इसलिए जो लोग कुलीन, बुद्धिमान् विश्वासपात्र, वीर और राजभक्त हों, उनको अमात्य पद पर नियुक्त करना चाहिए। उनमें गुणों की प्रधानता होती है'।
- (१०) आचार्य कौटिल्य के मतानुसार, भारद्वाज से लेकर बहुदन्तीपुत्र तक की विचार-परम्परा, अपने-अपने स्थान पर ठीक है। 'किसी भी पुरुष के सामर्थ्य की स्थिति उसके कार्यों की सफलता पर निर्भर है, और उसकी यह कार्यक्षमता उसकी विद्या-बुद्धि के बल पर ही आँकी जा सकती है।' इसलिए
- (११) राजा को चाहिए कि वह सहपाठी आदि की भी सर्वथा अवहेलना न करे। उसके लिए वह परमावश्यक है कि वह विद्या, बुद्धि, साहस, गुण, दोष, देश, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्ति करे; किन्तु उन्हें अपना मन्त्री कदापि न बनाये।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में अमात्यनियुक्ति नाम का सातवां अध्याय समाप्त।

अध्याय ८

मन्त्रि-पुरोहितयोर्नियुक्तिः

- (१) जानपदो भिजातः स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान् प्राज्ञो धारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिर्मेत्रो द ढभक्तिः शीलबलारोग्यसत्त्वसंयुक्तः सतम्भचापल्यवर्जितः संप्रत्रियो वैराणामकर्तृत्यमात्यसंपत्। अतः पादार्धगुणहीनो मध्यमावरौ।
- (२) तेषां जनपदमवग्रहं चाप्यतः परीक्षेत, समानविद्येभ्यः शिल्पं शास्त्रचक्षुष्मतां च; कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारयिष्णुतां दाक्ष्यं च; कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं च; आपद्युत्साहप्रभावौ क्लेशसहत्वं च; संध्यवहाराच्छौचं मैत्रतां द ढभक्तित्वं च; संवासिभ्यः शीलबलारोग्यसत्त्वयोगमस्तम्भचापल्यं च; प्रत्यक्षतः संप्रियत्वमवैरित्वं च।
- (३) प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः स्वयंदष्टं प्रत्यक्षं, परोपदिष्टं परोक्षं, कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम्। यौगपद्यात्तु कर्मणामनेकत्वादनेकस्थत्वाच्च देशकालात्ययो मा भूदिति परोक्षममात्यैः कारयेदित्यमात्यकर्म।
- (४) पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतमापदां देवमानुषीणाम् अर्थवभिरुपायश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः, पितरं पुत्रो, भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तत।
- (५) ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशस्त्रितम्।।

इति विनयाधिकारिके प्रथमे धिकरणे मन्त्रीपुरोहितयोर्नियुक्तिर्नामाष्टमो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) स्वदेशोत्पन्न, कुलीन, अवगुणशून्य, निपुण सवार एवं ललितकलाओं का ज्ञाता, अर्थशास्त्र का विद्वान्, बुद्धिमान्, स्मरणशक्तिसम्पन्न, चतुर, वाक्पटु, प्रगल्भ (दबंग), प्रतिवाद तथा प्रतिकार करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, सहिष्णु, पवित्र, मित्रता के योग्य, द ढ स्वामिभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान्, निरभिमानी, स्थिरप्रकृति, प्रियदर्शी और द्वेषवृत्तिरहित पुरुष प्रधानमन्त्री पद के योग्य है। जिनमें इसके एक-चौथाई या आधी योग्यताएं हों उन्हें मध्यम या निकृष्ट मन्त्री समझना चाहिए।
- (२) मन्त्री नियुक्त करने से पूर्व राजा को चाहिए कि वह प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्त पुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान तथा उनकी आर्थिक स्थिति का; सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रप्रवेश का; नये-नये कार्यों में नियुक्त कर उनकी बुद्धि, स्मृति तथा चतुराई का; व्याख्यानों एवं सभाओं के माध्यम से उनकी वाक्पटुता, प्रगल्भता एवं प्रतिभा का; आपत्तियों से उनके उत्साह, प्रभाव तथा सहिष्णुता का; व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं द ढ स्वामिभक्ति का; सहवासियों एवं पड़ोसियों के माध्यम से उनके शील, बल, स्वास्थ्य, गौरव, अप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति का पता लगाये और उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित प्रकृति की परीक्षा स्वयं राजा करे।
- (३) प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय, राजा के व्यवहार की ये तीन विधियाँ हैं। स्वयं देखा हुआ प्रत्यक्ष, दूसरों के माध्यम से जाना हुआ परोक्ष और सम्पादित कार्यों से किये जाने वाले कार्यों का

अनुमान करना ही अनुमेय कहलाता है। कार्यों की विधियाँ ओर उनके विधान एक जैसे नहीं हैं। राजा उन कार्यों को अकेला नहीं कर सकता है। जिससे कार्यों के सम्पादन में देश-काल का अतिक्रमण न हो, एतदर्थ, अमात्यों के द्वारा परोक्ष रूप से राजा उन कार्यों को कराये। इसी हेतु अमात्यों की नियुक्ति और परीक्षा के लिए ऊपर वैसा विधान किया गया है।

- (४) उच्छुक्लोत्पन्न; शील-गुणसम्पन्न; वेद-वेदांगों का ज्ञाता; ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र, दण्डनीति में पारंगत; अथर्ववेद में निर्दिष्ट उपायों द्वारा दैवी तथा मानुषी विपत्तियों का प्रतिकार करनेवाला; इन योग्यताओं से सम्पन्न पुरोहित को नियुक्त करना चाहिए। जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे भूत चलता है, वैसे ही राजा को पुरोहित का अनुगामी होना चाहिए।
- (५) इस प्रकार ब्राह्मण पुरोहित से संवर्धित, सर्वगुणसम्पन्न योग्य मन्त्रियों के परामर्श से अभिरक्षित और शास्त्रोक्त अनुष्ठानों का आचरण करने वाला राजकुल युद्ध के बिना भी अजेय एवं अलभ्य वस्तुओं को सहज ही में प्राप्त कर लेता है।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में मन्त्रिपुरोहितनियुक्ति नाम का आठवां अध्याय समाप्त।

अध्याय ६

उपधाभिः शौचाशौचज्ञानममात्यानाम्

- (१) मन्त्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वा मात्यानुपधाभिः शोधयेत्।
- (२) पुरोहितमयाज्ययाजनाध्यापने नियुक्तममभ्यमाणं राजावक्षिपेत्। सन्निभिः शपथपूर्वमेकैकममात्यमुपजापयेत्-अधार्मिको यं राजा, साधु धार्मिकमन्यमस्य तत्कुलीनमवरुद्धं कुल्यमेकप्रग्रहं सामन्तमाटविकमौपपादिकं वा प्रतिपादयामः। सर्वेषामेतद्रोचते, कथं वा तवेति ? प्रत्याख्याने शुचिरिति धर्मोपधा।
- (३) सेनापतिरसत्प्रतिग्रहणावक्षिप्तः सन्निभिरेकैकममात्यमुपजापयेत्लोभनीयेनार्थेन राजविनाशाय-सर्वेषामेतद्रोचते, कथं वा तवेति ? प्रत्याख्याने शुचिरित्यर्थोपधा।
- (४) परित्राजिका लब्धविश्वासान्तःपुरे कृतसत्कारा महामात्रमेकैकमुपजपेत्-राजमहिषी त्वां कामयते। कृतसमागमोपाया महानर्थश्चते भविष्यतीति। प्रत्याख्याने शुचिरिति कामोपधा।
- (५) प्रवहणनिमित्तमेको मात्यः सर्वानमात्यानावाहयेत्। तेनोद्वेगेन राजा तानवरुन्ध्यात्। कापटिकच्छात्रः पूर्वावरुद्धस्तेषामर्थ-मानावक्षिप्तमेकैकममात्यमुपजपेत्-असत्प्रवत्तो यं राजा, सहसैनं हत्वा न्यं प्रतिपादयामः। सर्वेषामेतद्रोचते, कथं वा तवेति ? प्रत्याख्याने शुचिरिति भयोपधा।
- (६) तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, अर्थोपधाशुद्धान् समाहत् 'सन्निधात निचयकर्मसु, कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरविहाररक्षासु, भयोपधाशुद्धानासन्नकार्येषु राज्ञः। सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्। सर्वत्राशुचीन् खनिद्रव्यहस्तिवनकर्मान्तेषूपयोजयेत्।
- (७) त्रिवर्गभयसंशुद्धानमात्यान् स्वेषु कर्मसु।
अधिकुर्याद् यथाशौचमित्याचार्या व्यवस्थिताः।।
- (८) न त्वेव कुर्यादात्मानं देवी वा लक्ष्मीश्वरः।
शौचहेतोरमात्यानामेतत् कौटिल्यदर्शनम्।।
- (९) न दूषणमदुष्टस्य विषेणोवाम्भसश्चरेत्।
कदाचिद्धि प्रदुष्टस्य नाधिगम्येत भेषजम्।।
- (१०) कृता च कलुषा बुद्धिरुपधाभिश्चतुर्विधा।
नागत्वा न्तर्निवर्तेत स्थिता सत्त्ववतां धतौ।।
- (११) तस्माद् बाह्यमधिष्ठानं कृत्वा कार्यं चतुर्विधे।
शौचाशौचममात्यानां राजा मार्गेत सन्निभिः।।
इति विनयाधिकारिके प्रथमे धिकरणे उपधाभिः शौचाशौचज्ञानममात्यानां नवमो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) सामान्य पदों पर अमात्यों की नियुक्ति करके, मन्त्री और पुरोहित के सहयोग से राजा, गुप्त उपायों के द्वारा उनके आचरणों की परीक्षा करे।

- (२) धर्मोपधा से राजा, पुरोहित को किसी नीच जाति के यहाँ यज्ञ करने तथा पढ़ाने के लिए नियुक्त करे। जब पुरोहित इस कार्य के लिए निषेध करे तो राजा उसको उसके पद से च्युत कर दे। वह पदच्युत पुरोहित गुप्तचर स्त्री-पुरुषों के माध्यम से शपथपूर्वक प्रत्येक अमात्य को राजा से भिन्न कराये। वह कहे 'यह राजा बड़ा अधार्मिक है। हमें चाहिए कि उसके स्थान पर, उसके ही वंशज किसी श्रेष्ठ पुरुष को, किसी धार्मिक व्यक्ति को, समीप के किसी सामन्त को, अथवा किसी जंगल के स्वामी को, या जिसको भी एकमत होकर हम निश्चित कर लें, उसको, नियुक्त करें। मेरे इस प्रस्ताव को सब ने स्वीकार कर लिया है। बताओ, तुम्हारी क्या राय है?' पुरोहित की यह बात सुनकर यदि अमात्य उसको स्वीकार न करे तो उसे पवित्र हृदय वाला समझना चाहिए। गुप्त धार्मिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को 'धर्मोपधा' कहते हैं।
- (३) अर्थोपधा से राजा, किसी निन्दनीय या अपूज्य व्यक्ति का सत्कार करने के लिए, सेनापति को आदेश दे। राजा की इस बात से जब सेनापति रुष्ट हो जाए तो राजा उसको भी पदच्युत कर दे। वह पदच्युत अपमानित सेनापति गुप्तभेदियों द्वारा अमात्य को धन का प्रलोभन देकर उसे पूर्वोक्त विधि से राजा के विनाश के लिए उकसाये। वह कहे 'मेरी इस युक्ति को सभी ने स्वीकार कर लिया है। बताओ, तुम्हारी क्या राय है?' सेनापति की यह बात सुनकर अमात्य यदि उसका विरोध करे तो समझ लेना चाहिए कि वह पवित्र हृदय वाला है। गुप्त आर्थिक उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को ही 'अर्थोपधा' कहते हैं।
- (४) कामोपधा से राजा किसी सन्यासिनी का वेष धारण करने वाली विशेष गुप्तचर स्त्री को अन्तःपुर में ले जाकर उसका अच्छा स्वागत-सत्कार करे और फिर वह एक-एक अमात्य के निकट जाकर कहे 'महामात्य, महारानी जी आप पर आसक्त हैं। आपके समागम के लिए उन्होंने पूरी व्यवस्था कर दी है। इससे आपको यथेष्ट धन भी प्राप्त होगा।' अमात्य यदि उसका विरोध करे तो उसे पवित्रचित्त समझना चाहिए। गुप्त कामसम्बन्धी उपायों द्वारा अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा को ही 'कामोपधा' कहते हैं।
- (५) भयोपधा से नौका-विहार के लिए एक अमात्य दूसरे अमात्यों को बुलाये; इस प्रस्ताव पर राजा उत्तेजित होकर उन सब को दण्डित कर दे। तदनन्तर राजा द्वारा पहले अपकृत हुआ कपट-वेषधारी छात्र उस तिरस्कृत एवं दण्डित अमात्य के निकट जाकर उससे कहे 'यह राजा बहुत ही बुरा है। इसका वध करके हम किसी दूसरे राजा को उसके स्थान पर नियुक्त करें। सभी अमात्यों को को यह स्वीकृत है। कहिए, आपकी क्या राय है?' अमात्य यदि उसका विरोध करे तो उसको शुचिचित्त समझना चाहिए। गुप्तभय सम्बन्धी उपायों द्वारा अमात्य की शुचिता की परीक्षा को ही 'भयोपधा' कहते हैं।
- (६) जो अमात्य धर्मपरीक्षा में खरे उतरें उन्हें धर्मस्थानीय (दीवानी कचहरी) तथा कण्टकशोधन (फौजदारी कचहरी) सम्बन्धी कार्यों में नियुक्त करना चाहिए। अर्थपरीक्षा में उत्तीर्ण अमात्यों को समाहर्ता (टैक्स कलक्टर) तथा सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) के पदों पर रखना चाहिए। कामोपधा में परीक्षित अमात्यों को बाहरी विलास-स्थानों तथा भीतरी अन्तःपुर-सम्बन्धी रक्षा का भार सौंपना चाहिए। भयपरीक्षा में उत्तीर्ण अमात्यों को राजा अपना अंगरक्षक नियुक्त करे। इनके अतिरिक्त जो अमात्य सभी परीक्षाओं में खरे उतरे हों उन्हें मन्त्रिपद पर नियुक्त किया जाना चाहिए; और सभी परीक्षाओं में असफल अमात्यों को खदानों, हाथियों और जंगलों आदि की परिश्रम-साध्य व्यवस्था का भार सौंपना चाहिए।
- (७) सभी पुरातनअर्थशास्त्रविद् आचार्यों का यही अभिमत है कि 'धर्म, अर्थ, काम और भय द्वारा परीक्षित पवित्र अमात्यों को, उनकी कार्यक्षमता के अनुकूल कार्यभार सौंपना चाहिए।'
- (८) किन्तु, इस सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य का एक संशोधन यह है कि 'अमात्यों की परीक्षा

अवश्य ली जाय; पर उस परीक्षा का माध्यम राजा अपने को तथा रानी को न बनाये।

- (६) क्योंकि कभी-कभी किसी निर्दोष अमात्य को छल-प्रपंचयुक्त इन गुप्त-रीतियों से ठगा जाना, पानी में विष घोल देने के समान हो जाता है। सम्भव हो सकता है कि उक्त रीतियों से बिगड़ा हुआ अमात्य फिर कभी भी सुधर न सके। क्योंकि :
- (१०) छल-छदम् जैसे कपट उपायों के द्वारा ठगे गये चरित्रवान् पुरुष की बुद्धि तब तक चैन नहीं लेती, जब तक उसने अभीष्ट को प्राप्त न कर लिया हो।
- (११) इसलिए सर्वोत्तम यही है कि उक्त चारों उपायों से परीक्षण के लिए राजा, किसी बाह्य वस्तु को माध्यम बनाये और गुप्तचरों द्वारा अमात्यों के चरित्र की परीक्षा करे।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में अमात्यों के शौचाशौचज्ञान नाम का नवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १०

गूढपुरुषोत्पत्तिः

- (१) उपधाभिः शुद्धामात्यवर्गो गूढपुरुषानुत्पादयेत्। कापटिकोदास्थितग हपतिर्वैदेहकतापसव्य जनान् सत्रितीक्ष्णरसदभिक्षुकीश्व।
- (२) परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः कापटिकः। तमर्थमानाभ्यामुत्साह्य मन्त्री ब्रूयात्-राजानं मां च प्रमाणं कृत्वा यस्य यदकुशलं पश्यसि तत्तदानीमेव प्रत्यादिशेति।
- (३) प्रव्रज्याप्रत्यवसितः प्रज्ञाशौचयुक्त उदास्थितः। स वार्ताकर्मप्रदिष्टायां भूमौ प्रभूतहिरण्यान्तेवासी कर्म कारयेत्। कर्मफलाच्च सर्वप्रव्रजितानां ग्रासाच्छादनावसथान्प्रतिविदध्यात्। व त्तिकामांश्चोपजपेत्-एतेनैव वेषेण राजार्थश्चरितव्यो भक्तवेतनकाले चोपस्थातव्यमिति। सर्वप्रव्रजिताश्च स्वं स्वसं वर्गमुपजपेयुः।
- (४) कर्षको व त्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो ग हपकतिकव्य जनः। स कृषिकर्मप्रदिष्टायां भूमाविति समानं पूर्वेण।
- (५) वाणिजको व त्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो वैदेहकव्य जनः। स वणिक्कर्मप्रदिष्टायां भूमाविति समानं पूर्वेण।
- (६) मुण्डो जटिलो वा व त्तिकामस्तापसव्य जनः। स नगराभ्याशे प्रभूतमुण्डजटिलान्तेवासी शाकं यवसमुष्टिं वा मासद्विमासान्तरं प्रकाशमश्नीयात्, गूढमिष्टमाहारम्। वैदेहकान्तेवासिनश्चैनं समिद्धयोगैरर्चयेयुः। शिष्याश्चास्यावेदयेयुः - असौ सिद्धः सामेधिक इति। समेधाशास्तिभिश्चा-भिगतानमड्विद्यया शिष्यसंज्ञाभिश्च कर्माण्यभिजने वसितान्यादिशेदल्पलाभमग्निदाहं चोरभयं दूष्यवधं तुष्टिदानं विदेशप्रव त्तिज्ञानम् इदमद्य रवो वा भविष्यतीदं वा राजा करिष्यतीति।
- (७) तदस्य गूढाः सत्रिणश्च संवादयेयुः। सत्वप्रज्ञावाक्यशक्तिसम्पन्नानां राजभाव्यमनुव्याहरेन्मन्त्रिसंयोगं च। मन्त्री चैषां व त्तिकर्मभ्यां वियतेत।
- (८) ये च कारणादभिक्रुद्धास्तानर्थमानाभ्यां शमयेत्, अकारणक्रुद्धान् तूष्णींदण्डेन राजद्विष्टकारिणश्च।
- (९) पूजिताश्वार्थमानाभ्यां राशा राजोपजीविनाम्।
जानीयुः शौचमित्येताः प च संस्थाः प्रकीर्तिताः।।
इति कौटिल्यार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमे धिकरणे गूढपुरुषोत्पत्तिर्नाम दशमो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) धर्मोपधा आदि उपायों के द्वारा अमात्यवर्ग की परीक्षा कर लेने के अनन्तर राजा गुप्तचरों की नियुक्ति करे। कापटिक, उदास्थित, ग हपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद ओर भिक्षुकी आदि अनेक प्रकार के गुप्तचर होते हैं।
- (२) दूसरों के रहस्यों को जानने वाला, बड़ा प्रगल्भ और विद्यार्थी की वेषभूषा में रहने वाला गुप्तचर 'कापटिक' कहलाता है। इस गुप्तचर को धन, मान और सत्कार से सन्तुष्ट कर मन्त्री उससे कहे 'जिस-किसी की भी तुम हानि होते देखो, राजा को और मुझे प्रमाण मान कर

तत्काल ही तुम मुझे सूचित कर दो।'

- (३) बुद्धिमान्, सदाचारी, संन्यासी के वेष में रहने वाले गुप्तचर का नाम 'उदास्थित' है। वह अपने साथ बहुत-से विद्यार्थी और बहुत-सा धन लेकर, वहाँ जाकर विद्यार्थियों द्वारा कार्य करवाये, जहाँ कृषि, पशुपालन एवं व्यापार के लिए भूमि नियुक्त है। उस कार्य को करने से जो लाभ हो, उससे वह सब संन्यासियों के भोजन, वस्त्र एवं निवास का प्रबन्ध करे। जो भी इस प्रकार की आजीविका की इच्छा करे, उन्हें सब तरह से अपने वश में कर ले और उनसे कहे 'तुम्हें इसी वेष में राजा का कार्य करना है। जब तुम्हारे वेतन तथा भत्ते का समय आये, यहाँ उपस्थित हो जाना।' दूसरे संन्यासी भी अपने-अपने संप्रदाय के संन्यासियों को इसी प्रकार समझा-बुझा दें।
- (४) बुद्धिमान्, पवित्र हृदय और गरीब किसान के वेष में रहने वाले गुप्तचर को 'ग हपतिक' कहते हैं। वह कृषिकार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर 'उदास्थित' गुप्तचर के ही समान कार्य करे।
- (५) बुद्धिमान्, पवित्र हृदय, गरीब, व्यापारी के वेष में रहने वाला गुप्तचर 'वैदेहक' है। वह व्यापारकार्य के लिए नियुक्त भूमि में जाकर 'उदास्थित' गुप्तचर की भाँति कार्य करता हुआ रहे।
- (६) जीविका के लिए सिर मुँड़ाये या जटा धारण किये हुये, राजा का कार्य करने वाला गुप्तचर ही 'तापस' है। वह कहीं नगर के समीप ही बहुत से मुंड या जटिल विद्यार्थियों को लेकर रहे और महीने दो महीने तक लोगों के सामने हरा शाक या मुट्ठीभर अनाज खाता रहे; वैसे छिपे तौर पर अपनी इच्छानुसार सुस्वादु भोजन करता रहे। वैदेहक तथा उसके अनुचर उसकी पूजा-अर्चना करें। शिष्यमण्डली घूम-घूम कर यह प्रचार करे कि यह तपस्वी पूर्ण सिद्ध, भविष्य-वक्ता और लौकिक शक्तियों से सम्पन्न है। अपना भविष्य-फल जानने की इच्छा से आगे हुए लोगों की पारिवारिक पहिचान, उनके शारीरिक चिह्नों के माध्यम से तथा अपने शिष्यों के संकेतों के अनुसार बताये। ऐसा भी बताये कि इन-इन कार्यों में थोड़ा लाभ का योग है। इसके अतिरिक्त वह, आग लगने, चोरी हो जाने, दुष्ट लोगों के वधस्वरूप इनाम देने; देश-विदेश के फल; यह कार्य आज होगा या कल; या इस कार्य को राजा करेगा; आदि बातें भी उनको बताये।
- (७) इस प्रश्नोत्तर प्रसंग में 'तापस' गुप्तचर की दूसरे सत्री आदि गुप्तचर सहायता करें। प्रश्नकर्ताओं में यदि धीर, बुद्धिमान्, चतुर लोग हों तो उनसे वह, राजा की ओर से, धन प्राप्त होने की बात कहे; मन्त्री के साथ भी उनकी मुलाकात का संयोग बताये। जब मन्त्री से इन लोगों की मुलाकात हो तो उचित यह होगा कि ऐसे लोगों को मन्त्री धन तथा आजीविका आदि देकर, गुप्तचर की भविष्यवाणी को सच्ची सिद्ध कर दे।
- (८) जो लोग किसी कारणवश क्रुद्ध हो गए हों उन्हें धन एवं सम्मान देकर संतुष्ट किया जाए। जो बिना कारण ही क्रुद्ध हों तथा राजा से द्वेष रखते हों, उनका चुपचाप वध करवा डाले।
- (९) इस प्रकार धन और मान से राजा द्वारा सम्मानित गुप्तचर तथा अमात्य आदि राजोपजीवी पुरुषों के सद्व्यवहारों को भली-भाँति जान लें। पाँच प्रकार के गुप्तचर पुरुषों की नियुक्ति और उनके कार्यों के विवरण का यही विधान है।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में गुढपुरुषोत्पत्ति नाम का दसवां अध्याय समाप्त।

अध्याय ११

गूढपुरुषप्रणिधिः

- (१) ये चास्य सम्बन्धिनो वश्यभर्तव्यास्ते लक्षमङ्गविद्यां जम्भकविद्यां मायागतमाश्रमधर्म निमित्तमन्तरचक्रमित्यधीयानाः सत्रिणः संसर्गविद्या वा।
- (२) ये जनपदे शूरास्त्यक्तात्मानो हस्तिनं व्याले वा द्रव्यहेतोः प्रतियोधयेयुस्ते तीक्ष्णाः।
- (३) ये बन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराश्चालसाश्च ते रसदाः।
- (४) परिव्राजिका व त्तिकामा दरिद्रा विधवा प्रगल्भा ब्राह्मण्यन्तःपुरे कृतसत्कारा महामात्रकुलान्यधिगच्छेत्। एतया मुण्डाव बल्यो व्याख्याताः। इति स चाराः।
- (५) तान् राजा स्वविषये मन्त्रिपुरोहितसेनापतियुवराजदौवारिकान्तर्वशिक-प्रशास्त समाहर्तसन्निधात प्रदेष्ट नायक- पौरव्यावहारिककार्मान्तिकमन्त्रिपरिषदध्यक्ष-दण्डदुर्गान्तपालाटविकेषु श्रद्धेयदेशवेषशिल्पभाषाभिजनापदेशान् भक्तितः सामर्थ्ययोगाच्चापसर्पयेत्।
- (६) तेषां बाह्यं चारं छत्रमङ्गारव्यजनपादुकासनयानवाहनोपग्राहिणस्तीक्ष्णा विद्युः। तं सत्रिणः संस्थास्वर्पयेयुः।
- (७) सूदारालिकस्नापकसंवाहकास्तरककल्पकप्रसाधकोदकपरिचारका रसदाः कुब्जवामनकिरातमूकबधिरजडान्धच्छद्मानो नटनर्तकगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवाः स्त्रियश्चाभ्यन्तरं चारं विद्युः। तं भिक्षुक्यः संस्थास्वर्पयेयुः।
- (८) संस्थानामन्तेवासिनः संज्ञालिपिभिश्चारस चारं कुर्युः। न चान्योन्यं संस्थास्ते वा विद्युः।
- (९) भिक्षुकीप्रतिषेधे द्वाःस्थपरम्परा मातापितव्यजनाः शिल्पकारिकाः कुशीलवा दास्यो वा गीतपाठ्यवाद्यभाण्डगूढलेख्यसंज्ञाभिर्वा चारं निर्हारयेयुः। दीर्घरोगोन्मादाग्निरसविसर्गेण वा गूढनिर्गमनम्।
- (१०) त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः तेषामभीक्षणविनिपाते तूष्णीदण्डः प्रतिषेधो वा।
- (११) कण्टकशोधनोक्ताश्चापसर्पाः परेषु कृतवेतना वसेयुः सम्पातनिश्चारार्थं, त उभयवेतनाः।
- (१२) ग हीतपुत्रादारांश्च कुर्यादुभयवेतनान्
तांश्चारिप्रहितान् विद्यात् तेषां शौचं च तद्विधैः॥
- (१३) एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरान्।
उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि॥
- (१४) अन्तर्गहचरास्तेषां कुब्जवामनषण्डकाः।
शिल्पवत्यः स्त्रियो मूकाश्चित्राश्च म्लेच्छजातयः॥
- (१५) दुर्गेषु वणिजः संस्था दुर्गान्ते सिद्धतापसाः।
कर्षकोदास्थिता राष्ट्रे राष्ट्रान्ते ब्रजवासिनः॥
- (१६) वने वनचराः कार्याः श्रमणाटविकादयः।
परप्रवत्तिज्ञानार्थाः शीघ्राश्चारपरम्पराः॥

(१७) परस्य चैते बोद्धव्यास्ताद शैरेव ताद शाः।

चारस चारिणः संस्था गूढाश्चागूढसंज्ञिताः।।

(१८) अकृत्यान् कृत्यपक्षीयेदर्शितान् कार्यहेतुभिः।

परापसर्पज्ञानार्थं मुख्यानन्तेषु वायसेत्।।

इति कौटिल्यार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमा धिकरणे गूढपुरुषप्रणिधिर्नाम एकादशमो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) जो राजा के सम्बन्धी न हों; किन्तु जिनका पालन-पोषण करना राजा के लिए आवश्यक हो; जो सामुद्रिक विद्या, ज्योतिष, व्याकरण आदि अंगों का शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या; वशीकरण; इन्द्रजाल; धर्मशास्त्र; शकुनशास्त्र; पक्षिशास्त्र; कामशास्त्र तथा तत्संबंधी नाचने-गाने की कला में निपुण हों वे 'सत्री' कहलाते हैं।
- (२) अपने देश में रहने वाले ऐसे व्यक्ति, जो द्रव्य के लिए अपने प्राणों की परवाह न करके हाथी, बाघ और सांप से भी भिड़ जाते हैं, उन्हें 'तीक्ष्ण' कहते हैं।
- (३) अपने भाई-बंधुओं से भी स्नेह न रखने वाले, क्रूर प्रकृति और आलसी स्वभाव के व्यक्ति 'रसद' विष देने वाले कहलाते हैं।
- (४) आजीविका की इच्छुक, दरिद्र, प्रौढ, विधवा, दबंग, ब्राह्मणी, रनिवास में सम्मानित, प्रधान अमात्यों के घर में प्रवेश पानेवाली 'परिव्राजिका' संन्यासिनी के वेश में खुफिया का काम करने वाली नाम की गुप्तचरी कहलाती है। इसी प्रकार मुंडा (मुंडित बौद्ध-भिक्षुणी) और व षली (शूद्रा) आदि नारी गुप्तचरियों को भी जान लेना चाहिए। ये सभी 'संचार' नामक गुप्तचर हैं।
- (५) राजा को चाहिए कि वह, इन सत्री आदि गुप्तचरों को मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, ज्योतिषिदार, अन्तःपुररक्षक, छावनी-रक्षक, कलक्टर, कोषाध्यक्ष, कमिश्नर, हवलदार नगरमुखिया, खदान-निरीक्षक, मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष, सेना-रक्षक, दुर्गरक्षक, सीमारक्षक और अटवीपाल आदि अधिकारियों के समीप, वेष, बोली, कौशल, भाषा तथा कुलीनता के आधार पर उनकी भक्ति और उनके सामर्थ्य की परीक्षा करके नियुक्त करे।
- (६) उनमें से तीक्ष्ण नामक गुप्तचर का कर्तव्य है कि वह छत्र, चामर, व्यजन, पादुका, आसन, शिविका और घोड़े आदि बाहरी उपकरणों की देखरेख करता हुआ अमात्य आदि की सेवा करे और उनके व्यवहारों को जाने। तीक्ष्ण गुप्तचर द्वारा जानी हुई बातों को सत्र नामक गुप्तचर स्थानिक कापटिक आदि गुप्तचरों को बता दे।
- (७) सूद (रसोइया), आरालिक (मांस पकाने वाला), स्नापक (नहलाने वाला), संवाहक (हाथ-पैर दबाने वाला), आस्तरक (विस्तर बिछाने वाला), कल्पक (नाई), प्रसाधक (शृंगार करने वाला) और उदक-परिचारक (जल भरने वाला) आदि विभिन्न वेष में रह कर रसद नामक गुप्तचर, मन्त्री आदि उच्च अधिकारियों के भेदों का पता लगाये। इसी प्रकार कुबड़े, बौने, किरात (जंगली आदमी), गूंगे, बहरे, मूर्ख, अन्धे आदि के वेष में गुप्तचर और नट, नाचने-गाने-बजाने वाले, कहानी कहने वाले, कूद-फाँद कर खेल दिखाने वाले, आदि के वेष में स्त्री गुप्तचर सब रहस्यों का पता ले। भिक्षुकी वेष धारण करने वाली गुप्तचर महिला को चाहिये कि वह रसद आदि पुरुष गुप्तचरों से प्राप्त समाचारों को कापटिक आदि गुप्तचरों तक पहुँचा दे।
- (८) संस्थाओं के विद्यार्थी अपनी विशिष्ट संकेत लिपि द्वारा उस सूचना को राजा तक पहुँचावें। ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि संस्था-गुप्तचरों को संचार-गुप्तचर और संचार-गुप्तचरों को संस्था-गुप्तचर बिल्कुल न जानने पावें।

- (६) यदि अमात्य आदि के घरों में भिक्षुकी का अंतःप्रवेश निषिद्ध हो तो यह समाचार द्वारपालों के माध्यम से बाहर भिक्षुकी तक पहुँचे। यदि इसमें भी कुछ आशंका या असंभव जान पड़े तो अंतःपुर के नौकरों के माता-पिता बनने का बहाना करके व द्वा स्त्री-पुरुष भीतर प्रवेश करके रहस्य का पता लगायें। या तो रानियों के बाल सवॉरने वाली या नाचने-गाने वाली स्त्रियों अथवा दासियों द्वारा, अथवा निजी संकेतों वाले गीतों, श्लोकों, प्रार्थनाओं, या तो बाजों, बर्तनों, टोकरियों में गुप्त लेख रखकर अथवा अन्य विधियों से, जैसा भी समय के अनुसार अपेक्ष्य हो, अंतःपुर के समाचारों को बाहर लाया जाय। यदि इन युक्तियों से भी सफलता न मिले तो गुप्तचर को चाहिए कि वह किसी भयंकर बीमारी अथवा पागलपन के बहाने आग लगाकर या किसी को जहर देकर चुपचाप बाहर निकल आवे।
- (१०) परस्पर अपरिचित तीन गुप्तचरों द्वारा लाये गये समाचार यदि एक ही तरह से मिलें तो उन्हें ठीक समझना चाहिए। यदि वे परस्पर विरोधी समाचारों को लायें तो उन्हें या तो नौकरी से अलग कर दिया जाये अथवा चुपचाप पिटवाया जाये।
- (११) उक्त गुप्तचरों के अतिरिक्त 'कंटकशोधन' प्रकरण में आगे बताये गए गुप्तचरों को भी नियुक्त करना चाहिये। ऐसे गुप्तचर विदेशों में जाकर वहाँ की सरकार के वेतनभोगी नौकर बनें और उनके गुप्त रहस्यों को समझें। ये गुप्तचर मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष दोनों ओर से वेतन लें।
- (१२) उभयवेतनभोगी इस प्रकार के गुप्तचरों से सम्बन्ध में विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि वह उनके स्त्री-बच्चों को सत्कारपूर्वक अपने आधीन रखे। शत्रु की ओर से नियुक्त इस प्रकार के उभयवेतनभोगी गुप्तचरों की भी राजा जानकारी रखे और उनके माध्यम से अपने उभयवेतनभोगी गुप्तचरों की पवित्रता की भी परीक्षा करता रहे।
- (१३) इस प्रकार विजिगीषु राजा को चाहिये कि वह शत्रु, मित्र, मध्यम तथा उदासीन राजाओं और उनके मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि अठारह प्रकार के अधीनस्थ कर्मचारियों के निकट; सभी स्थानों पर, अपने गुप्तचरों को नियुक्त करे।
- (१४) इसके अतिरिक्त उन शत्रु, मित्र, मध्यम आदि राजाओं के घरों तथा उनके मन्त्री, पुरोहित आदि के घरों में भी काम करने वाले कुबड़े, बौने, नपुंसक, कारीगर स्त्रियां, गूंगे तथा दूसरे दूसरे प्रकार के बहानों को लेकर म्लेच्छ जाति के पुरुषों को नियुक्त करना चाहिए।
- (१५) किलों में व्यापार करने वाले लोगों को, किले की सीमा पर सिद्ध तपस्वियों को, राज्य के अन्तर्गत अन्य स्थानों पर कृषक तथा उदास्थित पुरुषों को और राज्य की सीमा पर चरवाहों, को गुप्तचर वेष्ट में नियुक्त करना चाहिये।
- (१६) जंगल में शत्रु की प्रत्येक गतिविधि का पता लगाने के लिए चतुर, वानप्रस्थी ओर जंगली लोगों को गुप्तचर नियुक्त करना चाहिए।
- (१७) इस प्रकार, प्रकट रूप से सामान्य स्थिति में रहते हुए, शत्रु की ओर से नियुक्त सभी, तीक्ष्ण, कापटिक, उदास्थित आदि गुप्तचरों को अपने वर्ग के अनुसार ही पहचाने।
- (१८) शत्रु के किसी प्रलोभन या बहकावे में न फँसने वाले अपने विश्वस्त पुरुषों को, शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाने के लिए, राज्य की सीमा पर नियुक्त किया जाना चाहिए और उन्हें शत्रुपक्ष के लोगों को स्ववश करने के उपाय भी बता देने चाहिए।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में गूढपुरुषप्रणिधि नाम का ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १२

स्वविषये कृत्याकृत्यपक्षरक्षणम्

- (१) कृतमहामात्यापसर्पः पौरजानपदानपसर्पयेत्।
- (२) सत्त्रिणो द्वन्द्विनस्तीर्थसभाशालापूगजनसमवायेषु विवादं कुर्युः - सर्वगुणसम्पन्नश्चायं राजा श्रूयते। न चास्य कश्चिद् गुणो द श्यते यः पौरजानपदान् दण्डकाराभ्यां पीडयति इति।
- (३) तत्र ये नुप्रशंसेयुः, तानितरस्तं च प्रतिषेधयेत् - मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भ ता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः। तेषां कित्त्विषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम्। तस्माद् छषड्भागमारण्यका अपि निवपन्ति - तस्यैतद् भागधेयं यो स्मान् गोपायतीति। इन्द्रयमस्थानमेतद् राजानः प्रत्यक्षहेडप्रसादाः। तानवमन्यमानं दैवो पि दण्डः स्प शति। तस्माद् राजानो नावमन्तव्या इति क्षुद्रकान् प्रतिषेधयेत्।
- (४) किंवदन्तीं च विद्युः।
- (५) ये चास्य धान्यपशुहिरण्यान्याजीवन्ति, तैरुपकुर्वन्ति व्यसने अभ्युदये वा, कुपितं बन्धुं राष्ट्रं वा व्यावर्तयन्ति, अमित्रमाटविकं वा प्रतिषेधयन्ति, तेषां मुण्डजटिलव्य जनास्तुष्टातुष्टत्वं विद्युः।
- (६) तुष्टान् भूयः पूजयेत्। अतुष्टान्स्तुष्टिहेतोस्त्यागेन साम्ना च प्रसादयेत्। परस्परद्वन्द्वे भेदयेदेनान् सामन्ताटविकतत्कुलीनावरुद्धेभ्यश्च। तथाप्यतुष्ट्यतो दण्डकरसाधनाधिकारेण वा जनपदविद्वेषं ग्राहयेत्। विद्विष्टानुपांशुदण्डेन जनपदकोपेन वा साधयेत्। गुप्तपुत्रदारानाकरकर्मान्तेषु वा वासयेत् परेषामास्पदभयात्।
- (७) क्रुद्धलुब्धभीतावमानिनस्तु परेषां कृत्याः। तेषां कार्तान्तिकनैमित्तिकमौहूर्तिकव्य जनाः परस्परभिसम्बन्धम् अमित्रप्रतिसम्बन्धं वा विद्युः।
- (८) तुष्टानर्थमानाभ्यां पूजयेत्। अतुष्टान् सामदानभेददण्डैः साधयेत्।
- (९) एवं स्वविषये कृत्यानकृत्यांश्च विचक्षणः।
परोपजापात् संरक्षेत् प्रधानान् क्षुद्रकानपि।।
इति कौटिल्यार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमा धिकरणे कृत्याकृत्यपक्षरक्षणं नाम द्वादशो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) राजा को चाहिए कि महामंत्री, मंत्री, पुरोहित आदि के समीप गुप्तचर नियुक्त करने के पश्चात् वह अपने प्रति प्रजाजनो तथा नगरनिवासियों का अनुराग-द्वेष जानने के लिए वहाँ भी गुप्तचरो की नियुक्ति करे।
- (२) पहले तो गुप्तचर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे; और बाद में वे तीर्थस्थानों, सभा-सोसाइटियों, खाने-पीने की दूकानों, राजकर्मचारियों के बीच, तथा नाना प्रकार के लोगों में ये कहकर वाद-विवाद करें कि 'यह राजा तो सर्वगुणसम्पन्न सुना जाता है; किन्तु इसमें कोई भी सद्गुण नहीं दिखाई दे रहा है। उल्टा वह नगरवासियों को दण्ड देकर एवं कर वसूली करके पीड़ा पहुँचा रहा है।

- (3) उसके बाद सुनने वालों की उचित-अनुचित प्रतिक्रिया को ताड़ता हुआ दूसरा गुप्तचर उसके विरोध में यों कहे-‘देखो, जैसे छोटी मछली बड़ी मछली को खा जाती है, पुराकाल में वैसे ही बलवान् लोगों ने निर्बल लोगों का रहना दूभर कर दिया था। इस अन्याय से बचने के लिए प्रजा ने मिलकर विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया; और तभी से खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवां भाग तथा थोड़ा-सा सुवर्ण राजा के लिए, कर रूप में निर्धारित भी कर दिया था। प्रजा के द्वारा निर्धारित भाग को पाकर राजाओं ने प्रजा के योगक्षेम का सारा दायित्व अपने ऊपर लिया। इस प्रकार ये निर्धारित दण्ड एवं कर प्रजा के उत्पीड़नों को दूर करने में सहायक होते हैं और प्रजा की भलाई एवं कल्याण के कारण सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि जंगलों में एकान्त जीवन बिताने वाले ऋषि-मुनि भी दाना-दाना करके बीने हुए अन्न का छठा भाग राजा को देते हैं; यह जानकर कि राजा का इस पर सनातन हक है, जिसके बदले में वह हमारी रक्षा करता है। इन्द्र और यम के समान ये राजा लोग भी प्रजाजनों का प्रत्यक्ष निग्रह एवं उन पर अनुग्रह करने वाले होते हैं। इसलिए जो उनका तिरस्कार करता है, निश्चित ही, उस पर दैवी विपत्तियाँ टूटती हैं। यही कारण है, जिनको दृष्टि में रख कर राजा का अपमान नहीं करना चाहिए।’ इत्यादि बातों को कह कर राजा की निन्दा करने वालों को रोक दें।
- (४) गुप्तचरों के लिए आवश्यक है कि वे अफवाहों पर भी ध्यान दें।
- (५) जो लोग धान्य पशु, हिरण्य आदि से राजा की सेवा करते हैं; विपत्ति और अभ्युन्नति के समय उसकी सहायता करते हैं; राजा के प्रति क्रुद्ध भाई तथा कुपित प्रजा को जो शान्त कर देते हैं; उनकी प्रसन्नता और उनके कोप पर भी मुण्ड एवं जटिल गुप्तचर निगाह रखें।
- (६) जो लोग राजा से संतुष्ट हों उन्हें धन और मान द्वारा और भी संतुष्ट करना चाहिए। जो किसी कारण अप्रसन्न हैं, उन्हें भी प्रसन्न करने के लिए धन आदि देना चाहिए; सान्त्वना भी देनी चाहिए; न हो तो इन असंतुष्ट व्यक्तियों में आपसी कलह करा दे; सामन्त, आटविक एवं उनके सम्बन्धियों से भी इनकी फूट डाल दे। इन उपायों के बावजूद भी यदि वे असंतुष्ट ही बने रहें तो राजा को चाहिए कि अपने दण्डसम्बन्धी या करसम्बन्धी अधिकारों द्वारा वह सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ उनका द्वेष करा दे। जब सारा जनपद उनका द्वेषी हो जाय तब या तो चुपचाप ही उनका वध करवा दिया जाए अथवा असन्तुष्ट जनपद से ही उनका दमन करा दिया जाये।
- (७) इन लोगों के दमन के लिए एक दूसरा तरीका यह भी है कि राजा उनके स्त्री-बच्चों को अपने अधिकार में कर ले और उन्हें खदान के कार्य में भेज दिया जाये। क्योंकि ऐसा भी संभव है कि ये असंतुष्ट लोग शत्रुपक्ष में जाकर मिल जाये। प्रायः ऐसा देखा गया है कि क्रोधी, लोभी, डरपोक और अपमानित लोग सहज ही शत्रु के वश में हो जाते हैं।
- (८) जो व्यक्ति सन्तुष्ट हों, राजा उन्हें और भी धन-मान से सत्कृत करे। किन्तु असन्तुष्ट व्यक्तियों को साम, दाम, दण्ड, भेद जैसे भी बन पड़े, अपने वश में करे।
- (९) इस प्रकार बुद्धिमान् राजा को चाहिए कि अपने राज्य के छोटे-बड़े कृत्य अकृत्य लोगों को वह, किसी भी प्रकार, शत्रु के पक्ष में जाने से रोके।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में स्वविषयक कृत्याकृत्यपक्षरक्षण नाम का बारहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १३

परविषये कृत्याकृत्यपक्षोपग्रहः

- (१) कृत्याकृत्यपक्षोपग्रहः स्वविषये व्याख्यातः परविषये वाच्यः।
- (२) संश्रुत्यार्थान् विप्रलब्धः, तुल्यकारिणोः शिल्पे वोपकारे वा विमानितः, वल्लभावरुद्धः, समाहूय पराजितः, प्रवासोपतप्तः, कृत्वा व्ययमलब्धकार्यः, स्वधर्माद् दाय्याद्याद् वोपरुद्धः, मानाधिकाराभ्यां भ्रष्टः, कुल्यैरन्तर्हितः, प्रसभाभिमिष्टस्त्रीकः, काराभिन्यस्तः, परोक्तदण्डितः, मिथ्याचारवारितः, सर्वस्वमाहारितः, बन्धनपरिविष्टः, प्रवासितबन्धुरिति क्रुद्धवर्गः।
- (३) स्वयमुपहतः, विप्रकृतः, पापकर्माभिख्यातः, तुल्यदोषदण्डेनोद्विग्नः, पर्यात्तभूमिः, दण्डेनोपहतः, सर्वाधिकरणस्थः, सहसोपचितार्थः, तत्कुलीनोपाशंसुः, प्रद्विष्टो राज्ञा, राजद्वेषी चेति भीतवर्गः।
- (४) परीक्षीणो त्यात्तस्वः कदर्यो व्यसन्यत्याहितव्यवहारश्चेति लुब्धवर्गः।
- (५) आत्मसम्भावितो मानकामः शत्रुपूजामर्षितो नीचैरुपहितस्तीक्ष्णः साहसिको भोगेनासन्तुष्ट इति मानिवर्गः।
- (६) तेषां मुण्डजटिलव्यजनैर्यो यद्भक्तिः कृत्यपक्षीयस्तं तेनोपजापयेत्।
- (७) यथा मदान्धो हस्ती मतेनाधिष्ठितो यद्यदासादयति तत् सर्वं प्रम द्गात्येवमयमशास्त्रचक्षुरन्धो राजान्धेन मन्त्रिणा अधिष्ठितः, पौरजानपदवधायाम्युत्थितः। शक्यमस्य प्रतिहस्तिप्रोत्साहनेनापकर्तुम् अमर्षः क्रियताम् - इति क्रुद्धवर्गमुपजापयेत्।
- (८) यथा लीनः सर्पो यस्माद् भयं पश्यति तत्र विषमुत्स जत्येवमयं राजा जातदोषाशङ्क कस्त्वयि पुरा क्रोधविषम त्स जति। अन्यत्र गम्यताम्-इति भीतवर्गमुपजापयेत्।
- (९) यथा स्वगणिनां धेनुः स्वभ्यो दुग्धे न ब्राह्मणेभ्यः, एवमयं राजा सत्त्वप्रज्ञावाक्यशक्तिहीनेभ्यो दुग्धे नात्मगुणसम्पन्नेभ्यः। असौ राजा पुरुषविशेषज्ञः सेव्यताम्-इति लुब्धवर्गमुपजापयेत्।
- (१०) यथाचण्डालोदपानश्चण्डालानामेवोपभोग्यो नान्येषामेवमयं राजा नीचो नीचानामेवोपभोग्यो न त्वद्विधानामार्याणाम्। असौ राजा पुरुषविशेषज्ञः, तत्र गम्यताम्-इति मानिवर्गमुपजापयेत्।
- (११) तथेति प्रतिपन्नांस्तान् संहितान् पणकर्मणा।
योजयेत यथाशक्ति सापसर्पान् स्वकर्मसु।।
- (१२) लभेत सामदानाभ्यां कृत्यांश्च परभूमिषु।
अकृत्यान् भेददण्डाभ्यां परदोषांश्च दर्शयेत्।।
इति कौटिल्यार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमा धिकरणे परविषये कृत्याकृत्यपक्षोपग्रहः
त्रयोदशो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) अपने देश में कृत्य-अकृत्य पक्ष को किस प्रकार सुरक्षित अथवा संगठित रखना चाहिए, इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। शत्रुदेश के कृत्य-अकृत्य पक्ष को किस प्रकार अपने वश में करना चाहिए, अब इसका वर्णन किया जाता है।
- (२) जिसको धन देने की प्रतिज्ञा करके धन न दिया गया हो; किसी शिल्प या उपकार सम्बन्धी

कार्यों को समान रूप से करने वाले दो व्यक्तियों में से एक का तो सम्मान किया गया हो और दूसरे की अवमानना की गई हो; राजा के विश्वस्त कर्मचारियों ने जिसको राजभवन में प्रवेश करने से रोक दिया हो; स्वयं बुलाकर जिसका तिरस्कार किया गया हो; राजाज्ञा से प्रवासित होने के कारण दुःखित, व्यय करके भी जिसका अभीष्ट कार्य पूरा न हुआ ओ, जिसको अपने धर्म तथा अधिकार से रोका गया हो; सम्मानित तथा अधिकारपूर्ण पद से जिसको च्युत किया गया हो; राजपुरुषों द्वारा जिसको बदनाम किया गया हो; जिसकी स्त्री को जबरदस्ती छीन लिया गया हो; जिसको जेल में दूंस दिया गया हो; दूसरे के कहने मात्र से जिसको दण्ड दिया गया हो; झूठा इलजाम लगाकर जिस पर धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिया हो; जिसका सर्वस्व अपहरण किया गया हो; अशक्त कार्यों पर नियुक्त करके जिसको पीड़ित किया गया हो और जिसके बन्धु-बान्धवों को देश-निकाला दिया गया हो-इस प्रकार के सभी लोग 'क्रुद्धवर्ग' कहलाते हैं।

- (३) किसी लोभ के कारण हिंसा करके जो दूषित हो चुका हो; पाप कर्मों को करने में जो कुख्यात हो; अपने समान अपराधी को दण्डित हुआ देखकर जो घबड़ा गया हो; भूमि का अपहरण करने वाला; जो दण्ड के द्वारा वश में किया गया हो; सभी राजकीय विभागों पर जिसका अधिकार हो; अपनी कार्यक्षमता से जिसने प्रभूत धन एकत्र कर लिया हो; जो राजा के किसी वंशज हिस्सेदार के निकट कुछ कामना से रहता हो; जिससे राजा शत्रुता रखता हो और जो राजा से शत्रुता रखता हो-इस प्रकार से सभी लोग 'भीतवर्ग' कहलाते हैं।
- (४) जिसका सब धन-वैभव नष्ट हो गया हो; जो कायर, व्यसनी और अपव्ययी हो, वह 'लुब्धवर्ग' कहलाता है।
- (५) अपने को महान् समझने वाला; आत्मश्लाघी; शत्रु के सम्मान को सहन न करने वाला; नीच लोगों द्वारा प्रशंसित; तीक्ष्णप्रकृति; साहसी और भोग्य-पदार्थों से कभी सन्तुष्ट न होने वाला वर्ग ही 'मानीवर्ग' कहलाता है।
- (६) उक्त क्रुद्ध, लुब्ध, भीत आदि कृत्यपक्ष के लोगों में से जिस मुण्ड या जटिल गुप्तचर के जो-जो भक्त हों उसको वही गुप्तचर अपने वश में करे।
- (७) गुप्तचर, क्रुद्धवर्ग के लोगों को उनके स्वामी से यह कह कर फोड़े, 'देखो, जैसे उन्मत्त पीलवान से चलाया गया मतवाला हाथी अपने सामने जो कुछ भी देखता है, उसे कुचल डालता है, उसी प्रकार शास्त्ररूपी आँखों से हीन, अपने अंधे मंत्री के साथ रहता हुआ यह राजा राष्ट्र और प्रजा को नष्ट करने के लिए उद्यत है। ऐसी अवस्था में इस राजा के प्रति तुम्हें कुपित होना चाहिए।' यह कहकर क्रुद्धवर्ग को राजा से फोड़ दे।
- (८) भीतवर्ग को अपने वश में करने के लिए गुप्तचर ऐसा कहे- 'देखो, जैसे डरा हुआ साँप जिससे भय खाता है उसी पर अपना विष उगल देता है, उसी प्रकार यह राजा भी तुमसे शंकित है और सर्वप्रथम तुम्हारे ऊपर क्रोधरूपी विष उगलने वाला है। तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम इस स्थान को छोड़ कर कहीं अन्यत्र चले जाओ।' यह कह कर भीतवर्ग का भेदन करे।
- (९) लुब्धवर्ग को वश में करने के लिए गुप्तचर यों कहे, 'देखो जैसे चाण्डालों की गाय चाण्डालों के लिए ही दूध देती है, ब्राह्मणों के लिए नहीं, उसी प्रकार राजा भी बल, बुद्धि और वाक्शक्ति से हीन लोगों के लिए लाभदायक है, सर्वगुण-सम्पन्न लोगों के लिए नहीं। इसके विपरीत अमुक राजा बड़ा गुणज्ञ है, तुम्हें उसी के आश्रय में रहना चाहिए।' इस प्रकार लुब्धवर्ग को मिलाये।
- (१०) मानीवर्ग का भेदन करने के लिए गुप्तचर कहे 'देखो, जैसे चाण्डालों का कुँआ अकेले उन्हीं के लिए उपयोगी है, उसी प्रकार नीच राजा भी नीच लोगों के लिए ही सुखकर है, तुम्हारे

जैसे श्रेष्ठ पुरुषों के लिए नहीं। किन्तु वह अमुक नाम का राजा स्वयं गुणी और गुणज्ञों का आदर करने वाला है। तुम्हें उसी के आश्रम में जाकर रहना चाहिए।' इस प्रकार मानीवर्ग को उसके स्वामी से अलग करे।

- (११) इस प्रकार राजा अपने पक्ष में किये गये पुरुषों को शपथ, संधि आदि से विश्वास दिला कर उन्हें उन्हीं कार्यों में नियुक्त करे, जिन पर वे नियुक्त थे; किन्तु उनके पीछे गुप्तचरों को अवश्य रखे।
- (१२) इस प्रकार राजा, शत्रुदेश में कृत्यपक्ष के पुरुषों को साम तथा दाम के द्वारा अपनी ओर मिलावे। परन्तु अकृत्यपक्ष के पुरुष उन्हें भेद तथा दण्ड के द्वारा अपनी ओर करतेरहें और उनके सामने शत्रु के दोषों की निरन्तर चर्चा करते रहें।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में परविषयक कृत्याकृत्यपक्षोगपग्रह नामक तेरहवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १४

मन्त्राधिकारः

- (१) कृतस्वपक्षपरपक्षोपग्रहः कार्यारम्भांश्चिन्तयेत्। मन्त्रपूर्वा सर्वारम्भाः।
- (२) तदुद्देशः संव तः कथानामनिःस्त्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुक्रशारिकाभिर्मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः। तस्मान्मन्त्रोद्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत् उच्छिद्येत मन्त्रभेदी।
- (३) मन्त्रभेदो हि दूतामात्यस्वामिनामिङ्गिताकाराभ्याम्। इङ्गितमन्यथाव त्तिः। आकृतिग्रहणमाकारः।
- (४) तस्य संवरणम् आयुक्तपुरुषरक्षणमाकार्यकालादिति। तेषां हि प्रमादमदसुप्तप्रलापकामादिरुत्सेकः प्रच्छन्नो वमतो वा मन्त्रं भिनत्ति। तस्माद् रक्षेन्मन्त्रम्।
- (५) मन्त्रभेदो ह्ययोगक्षेमकरो राज्ञस्तदायुक्तपुरुषाणां च। तस्माद् गुह्यमेको मन्त्रयेतेति भारद्वाजः। मन्त्रिणामपि हि मन्त्रिणो भवन्ति। तेषामप्यन्ये। सैषा मन्त्रिपरम्परा मन्त्रं भिनत्ति।
- (६) तस्मान्नास्य परे विद्युः कर्म किञ्चिच्चिकीर्षितम्।
आरब्धारस्तु जानीयुरारब्धं कृतमेव वा।।
- (७) नैकस्य मन्त्रसिद्धिरस्तीति विशालाक्षः। प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजव त्तिः। अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयबलाधानमर्थद्वैधस्य संशयच्छेदनमेकदेशदृष्टस्य शेषोपलब्धिरिति मन्त्रिसाध्यमेतत्। तस्माद् बुद्धिव द्धैः सार्धमासीत् मन्त्रम्।
- (८) न कचिदवमन्येत सर्वस्य ऋणुयान्तम्।
बालस्याप्यर्थवद् वाक्यमुपयु जीत पण्डितः।।
- (९) एतन्मन्त्रज्ञानं नैतन्मन्त्ररक्षणमिति पाराशराः। यदस्य कार्यमभिप्रेतं तत्प्रतिरूपकं मन्त्रिणः पच्छेत् ' कार्यमिदमेवमासीदेवं वा यदि भवेत् तत् कथं कर्तव्यमिति। ते यथा ब्रूयुः तत् कुर्यात्। एवं मन्त्रोपलब्धिः संव त्तिश्च भवतीति।
- (१०) नेति पिशुनः। मन्त्रिणो हि व्यवहितमर्थं व त्तमव त्तं वा प ष्टमनादरेण ब्रुवन्ति प्रकाशयन्ति वा। स दोषः। तस्मात् कर्मसु ये येष्वभिप्रेतास्तैः सह मन्त्रयेत्। तैर्मन्त्रयमाणो हि मन्त्रबुद्धिं गुप्तिं च लभत इति।
- (११) नेति कौटिल्यः। अनवस्था ह्येषा। मन्त्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा। सह मन्त्रयेत। मन्त्रयमाणो ह्येकेनार्थकृच्छ्रेषु निश्चयं नाधिगच्छेत्। एकश्च मन्त्री यथेष्टमनवग्रहश्चरति। द्वाभ्यां मन्त्रणमाणो द्वाभ्यां संहताभ्यामवग ह्यते, विग हीताभ्यां विनाश्यते। त्रिषु चतुर्षु वा नैकान्तं कृच्छ्रेणोपपद्यते महादोषम्। उपपन्नं तु भवति। ततः परेषु कृच्छ्रेणार्थनिश्चयो गम्यते, मन्त्रो वा रक्ष्यते।
- (१२) देशकालकार्यवशेन त्वेकेनसह द्वाभ्यामेको वा यथासामर्थ्यं मन्त्रयेत।
- (१३) कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्वयसंपद देशकालविभागः विनिपातप्रतीकारः कार्यकसिद्धिरिति प चाङ्गो मन्त्रः। तानेकैकशः पच्छेत् समस्तांश्च। हेतुभिश्चैषां मतिप्रविवेकान् विद्यात्। अवाप्तार्थः कालं नातिक्रामयेत्। न दीर्घकालं मन्त्रयेत्। न च तेषां पक्ष्यैर्येषामपकुर्यात्।
- (१४) मन्त्रिपरिषदं द्वादशामत्यान् कुर्वीतेति मानवाः।
- (१५) षोडशेति बार्हस्पत्याः।

- (१६) विशतिमित्यौशनसाः ।
- (१७) यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः ।
- (१८) ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं च चिन्तयेयुः । अकृतारम्भमारब्धानुष्ठानमनुष्ठितविशेषं नियोगसम्पदं च कर्मणां कुर्युः । आसन्नैः सह कार्याणि पश्येत् । अनासन्नैः सह पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत् । इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद षीणां सहस्रम् । स तच्चक्षुः । तस्मादिमं द्वयक्षं सहस्राक्षमाहुः ।
- (१९) आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात् । तत्र यद् भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत् कुर्यात् । कुर्वतश्च :-
- (२०) नास्य गुह्यं परे विद्युश्छिद्रं विद्यात् परस्य च ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि यत्स्याद् विव तमात्मनः ॥
- (२१) यथा ह्यश्रोत्रियः श्राद्धं न सतां भोक्तुमर्हति ।
एवमश्रुतशास्त्रार्थो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥
- इति कौटिल्यार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमा धिकरणे मन्त्राधिकारो नाम चतुर्दशो ध्यायः ।

हिन्दी अनुवाद

- (१) अपने देश और शत्रुदेश के कृत्य-अकृत्य पक्ष को वश में करने के उपरान्त विजय की इच्छा रखने वाले राजा को चाहिए कि वह अपने देश में दुर्ग आदि तथा शत्रुदेश के सम्बन्ध में संधि-विग्रह आदि कार्यों पर विचार करे। इस प्रकार के सभी कार्यों को गंभीर विचार-विनिमय के अनन्तर ही आरम्भ करना चाहिए।
- (२) जिस स्थान पर बैठकर मन्त्रणा की जाय वह चारों ओर से इस प्रकार बन्द होना चाहिए जिससे वहां पक्षी तक न झांक सके और कोई शब्द बाहर न सुनाई दे, क्योंकि अनुश्रुति है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता और मैना ने सुनकर बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्ते तथा अन्य पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में भी सुना जाता है। इसलिए राजा की आज्ञा के बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थिति में मन्त्रणास्थल पर न जावे। यदि गुप्त मन्त्रणा के भेद को कोई फोड़ दे तो तत्काल ही उसको मरवा देना चाहिए।
- (३) कभी-कभी बिना कहे ही दूत, अमात्य तथा राजा के हाव-भाव एवं मुद्रा द्वारा भी गुप्त भेद प्रकट हो जाते हैं। स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत भिन्न चेष्टाएं 'इंगित' कहलाती हैं। चेष्टाओं के प्रकट करने वाले अंग 'आकार' या 'आकृति' कहलाते हैं।
- (४) इसलिए विजिगीषु राजा को चाहिए कि जब तक विचारित कार्यों के आरम्भ करने का समय नहीं आता तब तक अपने गुप्त भावों को दबाकर रखे। मंत्रियों की असावधानी के कारण या मद्यपान की बेहोशी में अथवा सोते समय आकस्मिक प्रलाप द्वारा या विषय-भोग की लालसा के अथवा अभिमान के भाव से गुप्त मन्त्रणाएं समय से पहिले प्रकट हो जाती हैं। आड़ में छिपकर सुननेवाले अथवा मन्त्रणाकाल में मूर्ख कहकर अपमानित हुआ व्यक्ति भी मन्त्र के भेद को फोड़ देता है। इसलिए इन सभी बातों को दृष्टि में रखकर राजा को चाहिए कि वह अपने गुप्त रहस्यों की सावधानी से रक्षा करे।
- (५) आचार्य भारद्वाज का सुझाव है कि 'मन्त्र के प्रकट हो जाने पर राजा और उसके सलाहकारों की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। इसलिए इस प्रकार की गुप्त मन्त्रणाओं पर राजा अकेला ही विचार करे; क्योंकि मन्त्रियों के भी अपने सलाहकार होते हैं। उनके भी दूसरे लोग परामर्शदाता होते हैं इसलिए इस मन्त्रि-परम्परा के कारण गुप्त बातों के प्रकट हो जाने का भय बना रहता है।

- (६) 'इसलिए गुप्त मन्त्रणाओं को राजा के अतिरिक्त कोई न जानने पावे। केवल कार्यारम्भ करने वाले व्यक्ति ही उसके आभास को जान सकें और उन्हें भी उसका परिणाम कार्य की समाप्ति के बाद ही ज्ञात हो।'
- (७) आचार्य विशालाक्ष कुछ संशोधन के साथ अपना विचार प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि 'एक ही व्यक्ति द्वारा सोचा-विचारा हुआ मन्त्र सिद्धिदायक नहीं हो सकता। सभी राजकार्य प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के होते हैं; उनके लिए मन्त्रियों की अपेक्षा होती है। न जाने हुए कार्य को जानना, जाने हुए कार्य का निश्चय करना, निश्चितकार्य को दृढ़ करना, किसी कार्य में सन्देह उत्पन्न हो जाने पर विचार-विमर्श द्वारा उस संशय का निराकरण करना, आंशिक कार्य को पूरी तरह विचारना इत्यादि सभी बातें मन्त्रियों के सहयोग से ही पूरी कह जा सकती हैं। इसलिए विजिगीषु राजा को अत्यन्त बुद्धिमान् और पर्याप्त अनुभवी व्यक्तियों के साथ बैठकर विचार करना चाहिए।'
- (८) 'राजा को चाहिए कि सलाह करते समय वह किसी को अवमानित न करे; सबकी बातों को ध्यापनपूर्वक सुने; यहाँ तक कि बालक की भी सारगर्भित बात को ग्रहण करे।'
- (९) आचार्य पराशर के मतावलम्बी विद्वानों का कहना है कि 'आचार्य विशालाक्ष के उक्त कथन से मन्त्र का ज्ञान भले ही हो सकता है, मन्त्र की रक्षा नहीं। इसलिए राजा को जिस कार्य के लिए सलाह लेनी हो उस कार्य के समान ही दूसरे कार्य के सम्बन्ध में वह मन्त्रियों से पूछे। राजा किसी ऐतिहासिक घटना का हवाला देकर कहे कि अमुक कार्य इस ढंग से किया गया था; इसी कार्य को यदि इस ढंग से करना होता तो कैसे किया जाना चाहिए था। इस पर मन्त्री जो राय दें उसके अनुसार ही तत्समान अपने अभीष्ट कार्य को सम्पन्न करे। ऐसा करने से मन्त्र का ज्ञान भी हो जाता है और मन्त्र की रक्षा भी।'
- (१०) आचार्य पिशुन अर्थात् नारद इस मन्तव्य को नहीं मानते। उनकी स्थापना है 'क्योंकि इस तरह प्रकारान्तर से मन्त्रियों के सम्मुख किसी बात को रख देने से वे समझने लगते हैं कि राजा हमारी सलाह नहीं मानता और उसका हम पर विश्वास नहीं है। इसलिए वे पूर्वघटित एवं अधिदित विषय पर लापरवाही से उत्तर देते हैं और उस बात को प्रकाशित भी कर देते हैं। यह तो मन्त्र के लिए बड़ा दोष है। इसलिए राजा को यही उचित है कि जो लोग जिन-जिन कार्यों पर नियुक्त एवं जिन-जिन विचारों के लिए उपयुक्त हैं उन्हीं के साथ वैसी सलाह करे। ऐसा करने से मन्त्रणा में अधिक परिमार्जन हो जाता है और उसकी सुरक्षा भी हो जाती है।'
- (११) आचार्य कौटिल्य उक्त मत से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'नारदमुनि की बताई हुई युक्तियों के अनुसार मन्त्र व्यवस्थित नहीं हो सकता। इसलिए तीन या चार मन्त्रियों को साथ बैठाकर राजा को मन्त्रणा करनी चाहिए। क्योंकि एक ही मन्त्री से सलाह करता हुआ राजा किसी कठिनतम कार्य के अड़ जाने पर उचित समाधान नहीं कर पाता और मन्त्री प्रतिद्वन्द्वी के रूप में मनमाना करने लगता है। दो मन्त्रियों के साथ बैठकर भी वह सलाह करता है तो कोई असंभव नहीं कि वे दोनों मिलकर राजा को अपने वश में कर लें अथवा दोनों लड़ने लग जायें तो सारी मन्त्रणा ही धूल में मिल जायेगी। यदि तीन या चार मन्त्री सलाहकार होंगे तो उस अवस्था से इस प्रकार के अनर्थकारी महान् दोष के उत्पन्न हो जाने की संभावना नहीं है। कोई भी दोष उसमें सहसा ही नहीं आ सकता है। यदि चार से अधिक मन्त्री हो जायें तो कार्य का निश्चय करना कठिन हो जाता है और उस दशा में मन्त्र की सुरक्षा में भी सन्देह हो जाता है।'
- (१२) इसलिए देश, काल और कार्य के अनुसार एक या दो मन्त्रियों के साथ भी राजा मन्त्रणा करे। अपनी विचार-शक्ति के अनुसार वह अकेला बैठकर कुछ कार्यों का स्वयं ही निर्णय करे।

- (१३) मंत्र के पाँच अंग होते हैं : १- कार्यारम्भ करने का उपाय, २- पुरुष तथा द्रव्य-सम्पत्ति, ३- देश-काल का विभाग, ४- विधन-प्रतीकार और ५- कार्यसिद्धि। मंत्र के विषय में राजा एक-एक मंत्री से अथवा एक साथ सभी मंत्रियों से परामर्श कर सकता है। मंत्रियों के भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को वह युक्तियों के द्वारा समझे। भली-भाँति समझ-बूझ जाने पर अविलंब ही वह अपने निश्चय को कार्यरूप में परिणत कर दे। किसी कार्य को अधिक समय तक विचारते रहना उचित नहीं है। जिन लोगों का कभी अपकार किया हो, उनके साथ या उनके सहयोगियों के साथ कभी भी मंत्रणा नहीं करनी चाहिए।
- (१४) मनु के अनुयायी अर्थशास्त्रविदों का इस सम्बन्ध में कहना है कि 'मन्त्रि-परिषद् में बारह अमात्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए।
- (१५) ब हस्पति के अनुयायी विद्वान् 'सोलह मन्त्रियों' के पक्ष में हैं।
- (१६) शुक्राचार्य-पक्ष के आचार्य मन्त्रियों की संख्या 'बीस' रखना अधिक उपयुक्त समझते हैं।
- (१७) आचार्य कौटिल्य का कहना है कि 'कार्य करने वाले पुरुषों के सामर्थ्य के अनुसार ही उनकी संख्या नियत होनी चाहिए।'
- (१८) वे निर्धारित मन्त्री विजिगीषु राजा के और उसके शत्रु राजा के सम्बन्ध में विचार करें। जो कार्य प्रारम्भ न किये गये हों उन्हें प्रारम्भ करायें; प्रारम्भ किये कार्यों को पूरा करावें और जो कार्य पूरे हो चुके हों उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन-संमार्जन करें। निष्कर्ष यह है कि विभागीय अध्यक्ष अपने-अपने कार्यों को अंत तक अधिकाधिक निपुणता से सम्पन्न करें। जो मन्त्री राजा के सन्निकट हों, उनको साथ लेकर राजा उनके कार्यों का स्वयं ही निरीक्षण करे। किन्तु जो दूर हों, उनसे पत्र द्वारा परामर्श करता रहे। इन्द्र की मन्त्रि-परिषद् में एक हजार ऋषि थे, जो कि उसके कार्यों के निर्देशक थे। इसीलिए तो दो नेत्रों वाले इन्द्र को हजार आँखों वाला (सहस्राक्ष) कहा गया है।
- (१९) अत्यावश्यक कार्य के आ जाने पर राजा, मन्त्रि-परिषद् का आयोजन कर उससे परामर्श करे। उनमें से बहुसमर्थित तथा शीघ्र ही कार्यसिद्धि कर देने वाली राय के अनुसार कार्य सम्पादन करे।
- (२०) इस ढंग से कार्य करते हुए राजा के गुप्त रहस्यों को कोई बाहरी व्यक्ति नहीं जा पाता है, प्रत्युत वह दूसरों के दोषों को भी जान लेता है। राजा को चाहिए कि वह अपने गुप्त भावों को उसी प्रकार अपने मन में छिपाये रखे जिस प्रकार कि कछुआ अपने अंगों को छिपाये रखता है।
- (२१) जिस प्रकार वेदाध्ययन से शून्य ब्राह्मण किसी श्रेष्ठ पुरुष के यहाँ श्राद्ध नहीं कर सकता है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञान से शून्य व्यक्ति मन्त्र को सुरक्षित नहीं रख पाता है।
- विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में मन्त्राधिकार नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १५

दूतप्रणिधिः

- (१) उद्ध तमन्त्रो दूतप्रणिधिः अमात्यसम्पदोपेतो निस ष्टार्थः, पादगुणहीनः परिमितार्थः, अर्धगुणहीनः शासनहरः ।
- (२) सुप्रतिविहितयानवाहनपुरुषपरिवापः प्रतिष्ठेत । शासनमेवं वाच्यः परः, स वक्ष्यत्येवं, तस्येदं प्रतिवाक्यम्— एवमतिसन्धातव्यमित्यधीयानो गच्छेत् । अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेत् । अनीकस्थानयुद्धप्रतिग्रहापसारभूमिरात्मनः परस्य चावेक्षेत । दुर्गराष्ट्रप्रमाणं सारव त्तिगुप्तिच्छिद्राणि चोपलभेत । पराधिष्ठानमनुज्ञातः प्रविशेत् । शासनं च यथोक्तं ब्रूयात् प्राणाबाधे पि द ष्टे । परस्य वाचि वक्त्रे द ष्ट्यां च प्रसादं वाक्यपूजनमिष्टपरिप्रश्नं गुणकथासङ्गमासन्नमासनं सत्कार-मिष्टेषु स्मरणं विश्वासगमनं च लक्षयेत् तुष्टस्य । विपरीतमनुष्टस्य । तं ब्रूयात्—वै राजानस्त्वं चान्ये च । तस्मादुद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारः तेषामन्तावसायिनो प्यवध्याः, किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणाः । परस्यैतद् वाक्यमेष दूत धर्म इति ।
- (३) वसेदविस ष्टः; पुपूजया नोत्सिक्तः; परेषु बलित्वं न मन्येत; वाक्यमनिष्टं सहेत; स्त्रियः पानं च वर्जयेत्; एकः शयीत; सुप्तमत्तयोर्हि भावज्ञानं द ष्टम् । कृत्यपक्षोपजापमकृत्यपक्षे गूढप्रणिधानं रागापरागौभर्तरि रन्ध्रं च प्रकृतीनां तापसवैदेहकव्य जनाभ्यामुपलभेत । तयोरन्ते-वासिभिश्चिकित्सकपाषण्डव्य जनोभयवेतनैर्वा, तेषामसम्भाषायां चाचकमतोन्मत्सुप्तप्रलापैः पुण्यस्थानदेवग हचित्रलेख्यसंज्ञाभिर्वा चारमुपलभेत । उपलब्धस्योपजापमुपेयात् । परेण चोक्तः स्वासां प्रकृतीनां परिमाणं नाचक्षीत । सर्वं वेद भवानिति ब्रूयात्, कार्यसिद्धिकरं वा ।
- (४) कार्यस्य सिद्धावुपरुध्यमानस्तर्कयेत् । किं भर्तुर्मे व्यसनमासन्नं पश्यन्, स्वं वा व्यसनं प्रतिकर्तुकामः, पाष्णिग्राहासारावन्तः— कोपमाटविकं वा समुत्थापयितुकामः, सस्यकुप्यपण्यसङ्ग्रहं दुर्गकर्म बलसमुत्थानं वा कर्तुकामः, स्वसैन्यानां वा व्यायामदेशकालावाकाङ्क्षमाणः, परिभवप्रमदाभ्यां वा, संसर्गानुबन्धार्थी वा मामुपरुणद्धीति ज्ञात्वा वसेदपसरेद्वा । प्रयोजनमिष्टमवेक्षेत वा । शासनमनिष्टमुक्त्वा बन्धवधभयादविस ष्टो प्यपगच्छेत् । अन्यथा नियम्येत ।
- (५) प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसङ्ग्रहः ।
उपजापः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम् ॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः ।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः ॥
- (६) स्वदूतैः कारयेदेतत् परदूतांश्च रक्षयेत् ।
प्रतिदूतापसर्पाभ्यां द श्याद श्यैश्च रक्षिभिः ॥
इति कौटिल्यार्थशास्त्रे विनयाधिकारिके प्रथमा धिकरणे दूतप्रणिधिर्नाम प चदशो ध्यायः ।

हिन्दी अनुवाद

- (१) गुप्त मन्त्रणा के निश्चित होजाने पर ही दूत को शत्रुदेश की ओर भेजना चाहिए । दूत तीन प्रकारके होते हैं १- निस ष्टार्थ, २-परिमितार्थ और ३-शासनहर । अमात्य के पूर्वोक्त गुणों से

सम्पन्न निस प्तार्थ, उनमें एक चौथाई गुणहीन परिमितार्थ और आधा गुणहीन शासनहर कहलाता है।

- (२) पालकी आदि सवारी, घोड़े आदि वाहन, नौकर-चाकर और सोने-बिछाने आदि सामग्री की भली-भाँति व्यवस्था करके दूत को शत्रुदेश की ओर प्रस्थान करना चाहिये। दूत को पहिले ही से यह सोच-विचार कर लेना चाहिये कि 'मैं अपने स्वामी का सन्देश इस ढंग से कहूँगा; उसका यह उत्तर होगा तो मेरे प्रत्युत्तर की विधि इस प्रकार होगी; या किन-किन विधियों से उस शत्रु राजा को वश में करना होगा।' आदि-आदि। राजदूत को चाहिए कि वह शत्रुदेश के वनरक्षक, सीमारक्षक, नगरवासियों तथा जनपदवासियों से मित्रता गांटे। साथ ही वह उभयपक्ष की सेनाओं के ठहरने योग्य युद्ध-भूमि और संयोग बने पर अपनी सेना के भाग सकने योग्य उपयुक्त स्थानों तथा रास्तों का भी निरीक्षण करे। साथ ही शत्रुपक्षी राजा के दुर्ग, उसके राज्य की सीमाएं, आमदनी, उपज, आजीविका के साधन, राष्ट्ररक्षा के तरीके, वहाँ के गुप्त भेद एवं वहाँ की बुराइयों का पता लगाना भी दूत का ही कर्तव्य है। किसी शत्रु राजा के राज्य में प्रवेश करने से पूर्व दूत, उस राजा की आज्ञा प्राप्त कर ले। प्राणान्तक परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर भी वह अपने स्वामी का संदेश अविकल रूप में कहे। यदि शत्रु राजा की वाणी में, मुखमुद्रा में, दृष्टि में प्रसन्नता झलकती हो; वह दूत की बातों को आदरपूर्वक सुन रहा हो; दूत को स्वेच्छया प्रश्न करने या अभीष्ट को प्रकट करने की स्वतन्त्रता हो; दूत के स्वामी राजा का कुशल-क्षेम तथा उसके गुणों के प्रति शत्रु राजा की उत्सुकता हो; दूत को वह आदरपूर्वक समीप ही बैठाये; राजकीय उत्सवों पर दूत को भी स्मरण करे और दूत के प्रत्येक कार्य पर शत्रु राजा का विश्वास हो; तो दूत को समझना चाहिए कि वह मुझ पर प्रसन्न है। यदि इसके विपरीत आचरण देखे, तो समझ ले कि शत्रु राजा उस पर रुष्ट है। इस प्रकार के रुष्ट हुए राजा से दूत कहे 'स्वामिन्, आप हों, अथवा दूसरे कोई भी राजा हों, दूत सभी का मुख होता है। उसी के माध्यम से राजा लोग पारस्परिक वार्ता-विनिमय करते हैं। इसलिए प्राणघातक स्थिति के आ जाने पर भी दूत सही संदेश ही निवेदित करते हैं। कोई चाण्डाल भी इस कार्य पर नियुक्त किया गया हो तो राजधर्म के अनुसार वह भी अवध्य है, उसी स्थान पर यदि ब्राह्मण हो तो उसके वध से सम्बन्ध में तो सोचा भी नहीं जा सकता है। दूसरे की कही हुई बात को ही दुहरा देना मात्र दूत का कार्य होता है।'
- (३) जब तक शत्रुराजा उसे अपने राज्य से जाने की आज्ञा न दे तब तक वह वहीं रहे। शत्रुराजा द्वारा प्राप्त सम्मान पर वह गर्व न करे। शत्रुओं के बीच रहता हुआ अपने को वह बलवान् न समझे। किसी के कुवाक्य को भी वह पी ले। स्त्री-प्रसंग और मद्यपान को वह सर्वथा त्याग दे। अपने स्थान में एकाकी ही शयन करे। मद्य पीने तथा दूसरों के साथ शयन करने से प्रमादवश या स्वप्नावस्था में मन के गुप्त रहस्यों के प्रकट हो जाने का भय बना रहता है। दूत को चाहिए कि वह शत्रु-देश के कृत्यपक्ष को फोड़ देने का कार्य तथा अकृत्यपक्ष को वश में कर देने का कार्य अपने गुप्तचरों द्वारा जाने। राजा और अमात्य आदि उच्चाधिकारियों का पारस्परिक राग-द्वेष तथा राजा की बुराइयों का भेद वह तापस, वैदेहक आदि गुप्तचरों के द्वारा अवगत करे। अथवा तापस, वैदेहक आदि के शिष्यों, चिकित्सक तथा पाखण्डी के वेश में रहने वाले गुप्तचरों या उभयवेतनभोगी गुप्तचरों के द्वारा वह शत्रुराजा के रहस्यों का पता करता रहे। यदि इन गुप्तचरों से भी काम बनता न देखे तो, भिक्षुक, मत्त, उन्मत्त तथा सोते में प्रलाप करने वाले व्यक्तियों के माध्यम से शत्रु के कार्यों का पता लगाता रहे। तीर्थस्थानों, देवालयाँ, ग हचित्रों तथा लिपिसंकेतों द्वारा भी वह वहाँ के व तान्त जाने। ठीक-ठीक समाचार अवगत हो जाने पर वह तदनुसार भेदरूप उपायों का प्रयोग करे। दूत को चाहिए कि शत्रु के पूछे जाने पर भी वह अपने मन्त्रिपरिषद् का ठीक-ठीक परिचय न दे। 'आप तो सर्वज्ञ हैं' इतना कहकर बात को टाल दें। यदि इतना बताने पर भी शत्रुराजा

को सन्तोष न हो तो उतना मात्र परिचय देना चाहिए, जितने से अपने कार्य की सिद्धि हो जाये।

- (४) कार्य सिद्ध हो जाने पर भी यदि शत्रुराजा दूत को अपने ही यहाँ रोके रखना चाहता है, तो दूत को, राजा की इस अप्रत्याशित नीति के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। उसको विचार करना चाहिए कि 'क्या शत्रुराजा को मेरे स्वामी पर आने वाली किसी सन्निकट विपत्ति का पता लग गया है। या कि वह मेरे जाने से पूर्व ही अपने किसी व्यसन का प्रतीकार करना चाहता है। अथवा वह पाष्णिग्राह (स्वामीराजा का शत्रु एवं शत्रुराजा का मित्र) तथा आसार (शत्रुराजा के मित्र का मित्र) को मेरे स्वामी के विरोध में युद्ध करने के लिए तो नहीं उकसाना चाहता। या उसका इरादा मेरे स्वामी के अमात्य आदि को उससे कुपित करने का तो नहीं है। या कि वह किसी आटविक को भिड़ाने का षड्यंत्र तो नहीं रच रहा है। उसकी योजना ऐसी तो नहीं है कि वह मित्र (स्वामिराजा के सम्मुख प्रदेश का मित्रराजा) तथा आक्रंद (स्वामिराजा के पृष्ठप्रदेश का मित्र राजा) आदि मित्र राष्ट्रों के राजाओं को मरवाना चाहता हो। या अपने ऊपर किये गये आक्रमण का, अपने अमात्य आदि के कोप का तथा अपने आटविक का प्रतीकार तो नहीं करना चाहता है। या कि वह मेरे स्वामी के इस प्रस्तुत आक्रमण को टालने तथा रोकने का यत्न तो नहीं कर रहा है। अथवा वह युद्ध की तैयारी के लिए धातुसंग्रह, किलाबन्दी तथा सैन्य-संग्रह तो नहीं कर रहा है। या वह सैन्य-शिक्षण तथा उचित देश-काल की आकांक्षा में तो नहीं है। अथवा किसी प्रकार के तिरस्कार, प्रीति, विवाह-सम्बन्ध, दोष-वैमनस्य आदि के लिए तो वह मुझे नहीं रोक रहा है।' इस प्रकार के रहस्यों, कारणों और उद्देश्यों के सम्बन्ध में दूत अच्छी तरह से छानबीन करे। रोके जाने के कारणों का ठीक-ठीक पता लग जाने पर वह उचित समझे तो रुके अन्यथा वहाँ से चल दे। अपने स्वामी की अभीष्ट-सिद्धि के लिये वह चाहे तो उसी नगर में रुककर, गुप्त पुरुषों के द्वारा राजा तक सूचनाएं पहुँचा कर, उनका प्रतीकार करवावे। अपने स्वामी का ऐसा संदेश, जिसको सुनकर शत्रुराजा क्रोधित हो उठे, सुनाने पर, दूत को बिना अनुमति लिये ही वहाँ से कूच कर देना चाहिये अन्यथा उसका पकड़ा जाना निश्चित है।
- (५) शत्रुप्रदेश में अपने स्वामी का संदेश लेकर जाना; शत्रुराजा का संदेश लाने के लिए जाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, समय आने पर अपने पराक्रम को दिखाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु के कृत्यपक्ष के पुरुषों को फोड़ देना, शत्रु के मित्रों को उसके विमुख कर देना, तीक्ष्ण, रसद आदि गुप्तचरों एवं अपनी सेना को भगा देना, शत्रु के बांधवों एवं रत्नों का अपहरण कर लेना, शत्रु के देश में रहकर गुप्तचरों के कार्यों का निरीक्षण करना, समय आने पर पराक्रम दिखाना, सन्धि की चिरस्थिति के निमित्त जमानत-रूप में रखे हुए राजकुमार को मुक्त कराना और मारण, मोहन उच्चाटन आदि का प्रयोग करना, ये सभी दूत के कार्य हैं।
- (६) राजा को चाहिये कि वह उपर्युक्त सभी कार्य दूतों के द्वारा करवाये और शत्रुओं के पीछे अपने दूतों या गुप्तचरों को लगाये रखे। अपने देश में तो वह शत्रुदूतों के कार्यों का पता प्रकट रूप से लगाये, किन्तु शत्रुदेश में उनकी सूचनायें गुप्त रूप से संग्रह करवाये।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में दूतप्रणिधि नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १६

राजपुत्ररक्षणम्

- (१) रक्षितो राजा राज्यं रक्षत्यासन्नेभ्यः परेभ्यश्च । पूर्व दारेभ्यः पुत्रेभ्यश्च ।
- (२) दाररक्षणं निशान्तप्रणिधौ वक्ष्यामः ।
- (३) पुत्ररक्षणं जन्मप्रभ ति राजपुत्रान् रक्षेत् । कर्कटकसधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्राः ।
- (४) तेषामजातस्नेहे पितर्युयांशुदण्डः श्रेयानिति भारद्वाजः ।
- (५) न शंसद ष्टवधः क्षत्रविनाशश्चेति विशालाक्षः । तस्मादेकस्थानावरोधः श्रेयानिति ।
- (६) अहिभयमेतदिति पाराशराः । कुमारो हि विक्रमभयान्मां पिता रुणद्धीति ज्ञात्वा तमेवाङ्के कुर्यात् । तस्मादन्तपालदुर्गे वासः श्रेयानिति ।
- (७) औरभ्रकं भयमेतदिति पिशुनः । प्रत्यापत्तेर्हि तदेव कारणं ज्ञात्वान्तपालसखः स्यात् । तस्मात् स्वविषयादपकृष्टे सामन्तदुर्गे वसः श्रेयानिति ।
- (८) वत्सस्थानमेतदिति कौणपदन्तः । वत्सेनेव हि धेनुं पितरमस्य सामन्तो दुह्यात् । तस्मान्मात बन्धुषु वासः श्रेयानिति ।
- (९) ध्वजस्थानमेदिति वातव्याधिः । तेन हि ध्वजेनादितिकौशिकवदस्य मात बान्धवा भिक्षेरन् । तस्माद् ग्राम्यधर्मेष्वेनमवस जेयुः । सुखोपरुद्धा हि पुत्राः पितरं नाभिद्रुह्यन्तीति ।
- (१०) जीवन्मरणमेतदिति कौटिल्यः । काष्ठमिव हि घुणजग्धं राजकुलमविनीतपुत्रमभियुक्तमात्रं भज्येत । तस्यामाद तुसत्यां महिष्याम् ऋत्विजश्वरुमैन्द्रबार्हस्पत्यं निर्वपेयुः । आपन्नसत्त्वायां कौमारभ त्यो गर्भभर्मणि प्रजनने च वियतेत । प्रजातायाः पुत्रसंस्कारं पुरोहितः कुर्यात् । समर्थं तद्विदो विनयेयुः ।
- (११) सत्रिणामेकश्चैनं म गयाद्यूतमद्यस्त्रीभिः प्रलोभयेत्—पितरि विक्रम्य राज्यं ग हाणेति । तदन्यः सत्री प्रतिषेधयेद् इत्याम्भीयाः ।
- (१२) महादोषमबुद्धबोधनमिति कौटिल्यः । नवं हि द्रव्यं येन येनार्थजातेनीपदिह्यते तत्तदाचूषति । एवमयं नवबुद्धिर्यद्यदुच्येत तत्तच्छास्त्रोपदेशमिवाभिजानाति । तस्माद् धर्ममर्थं चास्योपदिशेन्नधर्ममनर्थं च ।
- (१३) सत्रिणस्त्वेनं तव स्म इति वदन्तः । पालयेयुः । यौवनोत्सेकात् परस्त्रीषु मनः कुर्वाणमार्याव्य जनाभिः स्त्रीभिरमेध्याभिः शून्यागारेषु रात्रावुद्वेजयेयुः । मद्यकामं यो गपाने नोद्वेजयेयुः । द्यूतकामं कापटिकैः पुरुषैरुद्वेजयेयुः । म गयाकामं प्रतिरोधकव्य जनैस्त्रासयेयुः । पितरि विक्रमबद्धिं तथेत्यनुप्रविश्य भेदयेयुः । अप्रार्थनीयो राजा, विपन्ने घातः, सम्पन्ने नरकपातः, संक्रोशः प्रजाभिरेकलोष्टवधश्चेति ।
- (१४) विरागं प्रियमेकपुत्रं वा बध्नीयात् । बहुपुत्रः प्रत्यन्तमन्यविषयं वा प्रेषयेद्यत्र गर्भः पण्यं डिम्बो वा न भवेत् । आत्मसम्पन्नं । सेनापत्ये यौवराज्ये वा स्थापयेत् ।
- (१५) बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्दुर्बुद्धिरिति पुत्रविशेषाः । शिष्यमाणो धर्मार्थावुपलभते चानुतिष्ठति च बुद्धिमान् । उपलभमानो नानुतिष्ठत्याहार्यबुद्धिः । अपायनित्यो धर्मार्थद्वेषी चेति दुर्बुद्धिः ।
- (१६) स यद्येकपुत्रः पुत्रोत्पत्तावस्य वियतेत । पुत्रिकापुत्रानुत्पादयेद्वा । व द्धस्तु व्याधितो वा राजा

मात बन्धुकुल्यगुणवत्सामन्तानामन्यतमेन क्षेत्रे बीजमुत्पादयेत्। न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत्।

(१७) बहूनामेकसंरोधः पिता पुत्रहितो भवेत्।

अन्यत्रापद ऐश्वर्यं ज्येष्ठभागि तु पूज्यते।।

(१८) कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसङ्घो हि दुर्जयः।

अराजव्यसनाबाधः शश्वदावसति क्षितिम्।।

इति विनयाधिकारिके प्रथमा धिकरणेराजपुत्ररक्षणं नाम षोडशो ध्यायः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) निकटवर्ती सम्बन्धियों तथा शत्रुओं से सुरक्षित राजा ही राज्य की रक्षा कर सकता है। राजा को चाहिये कि सर्वप्रथम वह अपनी रानियों और अपने पुत्रों से अपनी रक्षा का प्रबन्ध करे।
- (२) रानियों से किस प्रकार राजा को आत्मरक्षा करनी चाहिये, इसके उपाय आगे निशान्तप्रणिधि प्रकरण में बताये जायेंगे।
- (३) अपने पुत्रों से आत्मरक्षा करने के लिए राजा को चाहिये कि वह जन्म से ही राजपुत्रों पर कड़ी निगरानी रखे, क्योंकि केकड़े की भाँति राजपुत्र भी अपने पिता के भक्षक होते हैं।
- (४) इस सम्बन्ध में आचार्य भारद्वाज का कहना है कि 'यदि राजकुमारों में पित भक्ति की भावना न दिखाई दे तो उनका चुपचाप वध कर डालना ही श्रेयस्कर है।'
- (५) आचार्य विशालाक्ष इसको पापकर्म कहते हैं। उनका कथन है कि 'निरपराध बच्चों को इस प्रकार मरवा डालना घोर पाप और अतिक्रूरता है, इस प्रकार तो क्षत्रिवंश ही सर्वथा नष्ट हो जायेगा। इसलिए यदि राजकुमारों में पित भक्ति न दिखाई दे तो उन्हें किसी स्थान में कैद करके रखा जाना उचित है।'
- (६) आचार्य पराशर के अनुयायी इसके भी विरुद्ध हैं। उनका अभिमत है कि 'यह तो सर्पभय के समान है। जैसे घर में घुसा हुआ साँप भयावह होता है, उसीप्रकार पुत्र को कैद में रखना भी भयप्रद है, क्योंकि राजकुमार को जब चाहे पता चल जायेगा कि पिता ने अपने वध के भय से उसे कैद में डाल रखा है, तो वह पिता के घर में रहता हुआ सरलता से उसके वध की योजना तैयार कर सकता है। इसलिए राज्य की सीमा के दूरस्थ दुर्ग में ही राजकुमार को रखना श्रेयस्कर है।'
- (७) आचार्य पिशुन इस युक्ति से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'दूरस्थ दुर्ग में राजपुत्र को रखना उसी प्रकार भयावह है; जैसे आक्रमण करने से पूर्व मेढ़ा कुछ पीछे हट जाता है और पुनः दुगने वेग से झपट पड़ता है। राजकुमार को जब अपने कैद होने का कारण विदित हो जाएगा तो वह अपनी योजना को पूरा करने के लिए दुर्गपाल को मित्र बनाकर, उसकी सहायता से अपने पिता पर आक्रमण कर सकता है। इसलिए राजकुमार को, राज्य की सीमा से बाहर किसी पड़ोसी राजा के दुर्ग में रखना ही अधिक उपयुक्त है।'
- (८) आचार्य कोणपदन्त की कुछ दूसरी ही स्थापना है। उनकी स्थापना है कि 'राजकुमार को परराज्याश्रित करने का परिणाम यह होगा कि जैसे गाय का बछड़ा दूसरे के हाथ में साँप देने से इच्छानुसार वह कभी भी गाय को दुह सकता है वैसे ही राजकुमार का संरक्षक पड़ोसी राजा, राजकुमार को अपने वश में करके उचित-अनुचित रीति से इच्छानुसार विजिगीषु से धन आदि ले सकता है। इसलिए राजकुमार को ननिहाल में रख देना ही उचित जान पड़ता है।'

- (६) आचार्य वातव्याधि इस सलाह पर आपत्ति प्रकट करते हैं। उनका परामर्श है कि 'राजकुमार को उसके मात कुल में रखना एक ध्वजा के समान है; जिसको मात कुल वाले अपनी आमदनी का वैसा ही साधन बनाकर उपयोग कर सकते हैं, जैसा कि अदिति नाम की भिक्षुणी और कौशिक नाम के सपेरे जीविका-निर्वाह के लिए अपने पेशेवर कौतुकों को दिखाते फिरते हैं। इसलिए राजकुमार को, उसकी इच्छानुसार, विषय-भोग में लिप्त रहने देना चाहिए, क्योंकि विषय-वासनाओं में उलझे हुए राजकुमारों को पिता से द्रोह करने का अवकाश ही नहीं मिलता है।
- (९०) आचार्य कौटिल्य इस सिद्धान्त को, जीते-जी राजपुत्रों की हत्या कर देने के समान अनर्थकारी बताते हैं। उनका कहना है 'राजकुमारों को इस प्रकार विषय-भोग में फंसाना उन्हें जीते ही मृत्यु के मुख में दे देना है। जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अशिक्षित राजकुमारों का कुल बिना युद्ध आदि के ही विनष्ट हो जाता है। इसलिए राजा को चाहिए कि जब रानी ऋतुमती हो, तो (संतति की) ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि के निमित्त ऋत्विक्, इंद्र और बृहस्पति आदि देवताओं के लिये हविदान किया जाये। जब महारानी गर्भवती हो जाये तो कौमारभ त्व अंग के ज्ञाता शिशु-चिकित्सकों के निर्देशानुसार गर्भ की पुष्टि तथा उसके सुखपूर्वक प्रजनन के लिए यत्न किया जाये। राजकुमार के पैदा हो जाने पर विद्वान् पुरोहित विधिपूर्वक उसका संस्कार करें। जब वह समझने योग्य हो जाये तो विभिन्न विषयों के पारंगत विद्वान् उसको शिक्षा दें।
- (९१) आचार्य आंभ के मतानुयायियों का कहना है कि 'सत्रियों (गुप्तचरो) में से कोई एक सत्री राजकुमार को म गया, द्यूत, मद्य और स्त्रियों का प्रलोभन दें। यह भी कहे कि पिता पर आक्रमण करके तुम राज्य को ले लो, फिर मौज करो। इस पर दूसरा सत्री कहे ऐसा करना बहुत बुरा है।'
- (९२) आचार्य कौटिल्य के मतानुसार राजकुमार के भीतर यह कुबुद्धि जगाना बहुत ही अनिष्टदायी है। उनका तर्क एवं सुझाव है कि 'सरलमति बालकों में ऐसी कुबुद्धि पैदा करना महादोष कहा जायेगा। जैसे मिट्टी का नया बर्तन घी, तेल आदि जिस भी नये द्रव्य का स्पर्श पाकर उसी को चूस लेता है, ठीक वैसे ही, अपरिपक्व बुद्धिवाले बालक को जो कुछ भी सिखाया जाता है, उसको वह शास्त्र-उपदेश की भाँति अमिट रूप से बुद्धि में जमा लेता है। इसलिये सरलमति बालकों को धर्म, अर्थ का ही उपदेश देना चाहिये, अनर्थ का नहीं।'
- (९३) सत्री लोग हम आपके ही हैं। इस अपनत्व को दर्शित करते हुए, राजपुत्र का पालन करें। यदि राजकुमार का युवा मन परस्त्री के लिए बेचैन हो उठता है तो उस समय उसके संरक्षकों को चाहिये कि आर्यावेश धारण की हुई अपवित्र, घण्य स्त्रियों को रात्रि में एकांत में राजकुमार के निकट भेज कर उसके मन में ऐसी घणा तथा खिन्नता पैदा करायें कि परस्त्री की चाह से उसका मन सर्वथा फिर जाये। यदि वह मद्य पीने की इच्छा करे तो मद्य में कोई ऐसा पदार्थ मिलाकर उसको दिया जाये, जिससे कि मद्य के लिए उसकी अरुचि हो जाये। यदि वह जुआ खेलने की कामना करे तो छली-कपटी लोगों के साथ बैठाकर उसको इतना उद्विग्न किया जाये कि आगे से वह जुआ खेलने का नाम भी न ले। यदि वह शिकार खेलना चाहता है तो कपटवेश धारण किये हुये राजपुरुष बेचैन करके उधर से उसके मन को खिन्न कर दे। यदि वह पिता पर आक्रमण करने की इच्छा रखता है तो पहिले तो उसे बढ़ावा दिया जाये किन्तु ऐन मौके पर उससे कहें 'देखो राजा के साथ कभी द्वेष नहीं करना चाहिये। यदि तुम असफल हो गये तो तुम्हारी मृत्यु अवश्यंभावी है और जीत भी गये तो पितृघातक होने के कारण तुमको घोर नरक भोगना पड़ेगा, सारी प्रजा तुमको लानत देगी और कोई असंभव नहीं कि एकमत होकर प्रजा तुम्हारा प्राणान्त कर दे। इसलिए तुम्हें इस भयंकर

पाप-कर्म से बचना चाहिए।’

- (१४) यदि एक ही राजपुत्र हो, और वह पित द्रोही निकले तो उसे कैद कर देना चाहिये। यदि पुत्र अधिक हों तो उस द्रोही पुत्र को सीमांत प्रदेश अथवा किसी दूसरे देश में प्रवासित कर देना चाहिये, जहाँ कि उचित अन्न-वस्त्र प्राप्त न हों और जहाँ की प्रजा की उसके प्रति कोई सहानुभूति न हो। इसके विपरीत जो राजपुत्र आत्मगुणसम्पन्न हों, उसको सेनापति या युवराज के उच्च पद पर नियुक्त किया जाये।
- (१५) राजपुत्रों की तीन श्रेणियां हैं : १- बुद्धिमान्, २- आहार्यबुद्धि और ३- दुर्बुद्धि। जो धर्म और अर्थविषयक उपदेश को उचित रीति से ग्रहण करके तदनुसार आचरण करता है, ‘बुद्धिमान्’ है। जो धर्म और अर्थ को समझ तो लेता है, किन्तु तदनुसार अपना आचरण नहीं बना पाता उसे ‘आहार्यबुद्धि’ कहते हैं। जो बुराइयों में लीन तथा धर्म और अर्थ से द्वेष रखता है वह ‘दुर्बुद्धि’ है।
- (१६) यदि राजा का एक ही पुत्र हो और वह भी दुर्बुद्धि निकले तो राजा उस दुर्बुद्धि राजकुमार से ऐसा पुत्र पैदा कराने का यत्न करे, जो राजा बनने के योग्य हो। यदि ऐसा भी संभव न हो तो अपनी पुत्री के पुत्र को राज्य का उत्तराधिकार संभालने के योग्य बनाये। यदि राजा बूढ़ा हो गया हो, या सदैव रुग्ण ही रहता हो, तो अपने किसी ममेरे भाई अथवा अपने ही कुल के किसी बंधु से या किसी गुणवान् सामंत से अपनी स्त्री में नियोग कराकर पुत्र पैदा करवाये। किन्तु अयोग्य अशिक्षित पुत्र को राज्यभार न सौंपे।
- (१७) यदि अनेक पुत्रों में एक पुत्र दुर्बुद्धि हो तो उसे किसी दूसरे देश में भेज कर रोक रखे। वैसे राजा को चाहिए कि सर्वदा ही वह अपने पुत्रों की कल्याण-कामना करता रहे। यदि सभी पुत्र राजा को एक समान प्रिय हों, तो उस अवस्था में वह ज्येष्ठ पुत्र को ही राजा बनावे।
- (१८) अथवा वे सभी भाई मिलकर राज्य को संभालें, क्योंकि यदि राज्य का संचालन सामुदायिक ढंग से हुआ तो निश्चित ही वह राज्य दुर्जय होता है। सामुदायिक राज्य-व्यवस्था से एक बड़ा लाभ यह भी है कि एक व्यक्ति के व्यसनग्रस्त हो जाने पर दूसरे व्यक्ति उसके कार्य को संभाल लेते हैं और इस प्रकार सदैव प्रजा की सुखमय अवस्था पृथ्वी पर बनी रहती है। विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में राजपुत्ररक्षण नामक सोलहवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १७

अवरुद्धव तम्, अवरुद्धे च व त्तिः

- (१) राजपुत्रः कृच्छव त्तिरसद शो कर्मणि नियुक्तः पितरमनुवर्तेत, अन्यत्र प्राणाबाधकप्रकृतिकोपपातकेभ्यः। पुण्यकर्मणि नियुक्तः पुरुषमधिष्ठातारं याचेत्। पुरुषाधिष्ठितस्त्व सविशेषमादेशमनुतिष्ठेत्। अभिरूपं च कर्मफलमौपायनिकं च लाभं पितुरुपनाययेत्।
- (२) तथा प्यतुष्यन्तमन्यस्मिन् पुत्रे दारेषु वा स्निह्यन्तमरणाय आप च्छेत्। बन्धवधभयाद् वा यः सामन्तो न्यायव त्तिर्धार्मिकः सत्यवागविसंवादकः प्रतिग्रहीता मानयिता चाभिपन्नानां तमाश्रयेत्। तत्रस्थः कोशदण्ड-सम्पन्न प्रवीरपुरुषकन्यासम्बन्धमटवीसम्बन्धं कृत्यपक्षोपग्रहं वा कुर्यात्।
- (३) एकचरः सुवर्णपाकमणिरागहेमरुप्यमण्याकरकर्मान्तानाजीवेत्। पाषण्डसङ्घद्रव्यमश्रोत्रियभोग्यं देवदध्यमाढ्यविधवाद्यं वा गूढमनुप्रविश्य सार्थयानपात्राणि च मदनरसंयोगेनातिसन्धायावहरेत्। पारग्रामिकं वा योगमातिष्ठेत्। मातुः परिजनोपग्रहेण वा चेष्टेत्। कारुशिल्पिकुशीलवचिकित्सकवाग्जीवनपाषण्डच्छद्मभिर्वा नष्टरूपस्तद्व्य जनसखश्छिद्रे प्रविश्य राज्ञः शस्त्ररसाभ्यां प्रहृत्य ब्रूयात्—अहमसौ कुमारः, सहभोग्यमिदं राज्यमेको नार्हति भोक्तुं, तत्र ये कामयन्ते भर्तु तानहं द्विगुणेन भक्तवेतनेनोपस्थास्य इति, इत्यवरुद्धव तम्।
- (४) अवरुद्धं तु मुख्यपुत्रमपसर्पाः प्रतिपाद्यानयेयुः, माता वा प्रतिग हीता। त्यक्तं गूढपुरुषाः शस्त्ररसाभ्यां हन्युः। अत्यक्तं तुल्यशीलाभिः स्त्रीभिः पानेन म गयया वा प्रसज्य रात्रावुपग ह्यानयेयुः।
- (५) उपस्थितं च राज्येन मदूर्ध्वमिति सान्त्वयेत्।
एकस्थमथ संरुन्ध्यात् पुत्रवान् वा प्रवासयेत्।।
इति विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे वरुद्धव त्तमवरुद्धे च व त्तिर्नाम सप्तदशो ध्यायः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) अपनी हैसियत से निम्न कार्य पर नियुक्त एवं कठिनाई से जीवन-यापन करने वाले राजपुत्र को चाहिए कि अपने पिता के आदेशों का वह पूर्णतः पालन करे। परन्तु किसी कार्य को करने में यदि प्राणभय, अमात्य आदि प्रकृतियों के कुपित होने का भय अथवा पातकभय हो तो राजपुत्र को चाहिए कि वह पिता के आदेशों का कदापि पालन न करे। किसी पुण्यकार्य में नियुक्त राजपुत्र अपने लिए एक संरक्षक की मांग करे और उसके निर्देशानुसार वह राजा की आज्ञाओं का पालन करे। कार्य के अनुसार उसको जो कुछ फल प्राप्त हो और प्रजाजनों से उसको जो कुछ भी उपहार मिलें, उनको वह पिता के पास भिजवा दें।
- (२) इस पर भी यदि राजा संतुष्ट न हो और दूसरे पुत्रों तथा स्त्रियों के साथ विशेष स्नेह-प्रेम प्रदर्शित करता रहे तो राजपुत्र को चाहिए कि वह अपने पिता की आज्ञा लेकर तपस्या आदि करने के लिए जंगल में चला जाये अथवा ऐसा करने पर यदि उसको गिरफ्तार होने या मारे जाने का भय हो तो वह ऐसे राजा की शरण में चला जाये, जो न्यायपरायण, धार्मिक, सत्यवादी, धोखा न देने वाला, शरणागत की रक्षा करने वाला और आश्रय में आये हुए व्यक्ति

का स्वागत-सत्कार करने वाला हो। वहाँ रहकर वह धन-बल से सम्पन्न होकर किसी वीर पुरुष की कन्या से विवाह कर ले और तब अपने पिता के आटविक लोगों से मित्रता कर वहाँ के कृत्यपक्ष को अपने साथ मिलाने का यत्न करे।

- (३) यदि राजपुत्र को धन बल की उपलब्धि न हो तो वह रासायनिक कर्मों के द्वारा मणि, मुक्ता, सुवर्ण, चाँदी आदि विक्रेय पदार्थों को बनाकर उनके अथवा दूसरे खनिज पदार्थों के व्यापार द्वारा अपनी जीविका चलाये। अथवा पाखंडी, अधर्मी पुरुषों की संचित कमाई को श्रोत्रिय के अतिरिक्त दूसरे लोगों के भोग्य द्रव्य की, देव-निमित्तक द्रव्य की या किसी धन-सम्पन्न विधवा के द्रव्य की चोरी करके अपना जीविकोपार्जन करे। या जहाजी व्यापारियों को औषधि आदि से बेहोश कर उन्हें धोखा देकर उनके धन का अपहरण करे। अथवा विजिगीषु राजा जब किसी दूसरे गाँव को चला जाये, जब उसके यहाँ से धन का अपहरण करे, अथवा अपनी माता के परिजनों को अपने अनुकूल बनाकर उनके द्वारा अपने उद्धार की चेष्टा करे। अथवा बढ़ई, लुहार, नट, वैद्य, भाट, कथावाचक, पाखंडी आदि पुरुषों के साथ अपने वेश को छिपाकर, किन्तु उनके सद श न बनकर, अपने पिता के दोषों का पता लगाकर उन्हीं को पकड़ कर शस्त्र या जहर के द्वारा राजा को मारकर फिर अमात्य आदि से वह इस प्रकार कहे : 'मैं ही असली राजकुमार हूँ, सांझे में भोगे जाने वाले राज्य को कोई भी अकेले नहीं भोग सकता है, जो राजकर्मचारी पूर्ववत् शान्ति से अपने पदों पर बने रहना चाहते हैं, उन्हें मैं दुगुना वेतन दूँगा।' यहाँ तक नजरबन्द राजकुमार के व्यवहार का निरूपण किया गया।
- (४) अमात्य आदि मुख्य पुरुषों के पुत्र गुप्तरूप में जाकर नजरबन्द राजकुमार को यह दिलासा देकर मना ले आवें कि राजा उसको अवश्य ही युवराज बनायेगा। या राजा से सत्कृत राजपुत्र की माता ही उसको मना ले आवे। यदि वह राजपुत्र किसी भी तरीके से राजा का कहना न माने तो उस दशा में राजा को यही उचित है कि उस सर्वथा परित्याज्य राजपुत्र को वह गुप्तचरों से शस्त्र या विष आदि के द्वारा मरवा डाले। यदि अभी तक राजा ने उसका परित्याग न किया हो तो ऐसी स्थिति में समान स्वभाव वाली स्त्रियों के द्वारा मद्य आदि पिलाकर या शिकार आदि के बहाने रात में गिरफ्तार कर उसको राजा के सामने लाये जाने का यत्न किया जाये।
- (५) अपने पास लाये जाने पर राजा उस राजकुमार से कहे कि 'मेरे बाद इस राज्य के स्वामी तुम्हीं बनोगे' ऐसा कहकर संतुष्ट करे। यदि वह एक ही पुत्र हो और अधार्मिक साबित हो तो उसे बन्दी बनाकर रखे और यदि अनेक पुत्र हों तो उसको देशनिकाला दे दे या मरवा डाले।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में अवरुद्धवत्त नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १८

राजप्रणिधिः

- (१) राजानमुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठन्ते भ त्याः। प्रमाद्यन्तमनुप्रमाद्यन्ति। कर्माणि चास्य भक्षयन्ति। द्विषद्भिश्चातिसन्धीयते। तस्मादुत्थानमात्मनः कुर्वीत। नाडिकाभिरहरष्टधा रात्रिं च विभजेत्; छायाप्रमाणेन वा। त्रिपौरुषी पौरुषी चतुरङ्गुला च छाया मध्याह्न इति चत्वारः पूर्वे दिवसस्याष्टभागाः। तैः पश्चिमा व्याख्याताः।
- (२) तत्र पूर्वे दिवसस्याष्टभागे रक्षाविधानमायव्ययौ च ष णुयात्। द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्। त तीये स्नानभोजनं सेवेत; स्वाध्यायं च कुर्वीत। चतुर्थे हिरण्यप्रतिग्रहमध्यक्षांश्च कुर्वीत। प चमे मन्त्रिपरिषदा पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत; चारगुह्यबोधनीयानि च बुद्धयेत। षष्ठे स्वैरविहारं मन्त्रं वा सेवेत। सप्तमे हस्त्यश्वरथायुधीयान् पश्येत्। अष्टमे सेनापतिसखो विक्रमं चिन्तयेत्। प्रतिष्ठे हनि सन्ध्यामुपासीत।
- (३) प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरुषान्पश्येत्। द्वितीये स्नानभोजनं कुर्वीत स्वाध्यायं च। त तीये तूर्यघोषेण संविष्टश्चतुर्थप चमौ शयीत षष्ठे तूर्यघोषेण प्रतिबुद्धः शास्त्रामितिकर्तव्यतां च चिन्तयेत्। सप्तमे मन्त्रमध्यासीत; गूढपुरुषांश्च प्रेषयेत्। अष्टमे ऋत्विगाचार्यपुरोहितसखः स्वस्त्ययनानि प्रतिग हणीयात्; चिकित्सकमाहानसिकमौहूर्तिकांश्च पश्येत्। सवत्सां धेनुं व षभं च प्रदक्षिणीकृत्योपस्थानं गच्छेत्।
- (४) आत्मबलानुकूल्येन वा निशाहर्भागान् प्रविभज्य कार्याणि सेवेत।
- (५) उपस्थानगतः कार्यार्थिनामद्वारासङ्गं कारयेत्। दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यते। तेन प्रकृतिकोपमरिवशं वा गच्छेत्। तस्माद्देवताश्रमपाषण्डश्रोत्रियपशुपुण्यस्थानानां बालव द्भव्याधित-यसन्यनाथानां स्त्रीणां च क्रमेण कार्याणि पश्येत्; कार्यगौरवादात्ययिकवशेन वा।
- (६) सर्वमात्ययिकं कार्यं ष णुयान्नातिपातयेत्। कृच्छ्रसाध्यमतिक्रान्तमसाध्यं वा विजायते।
- (७) अग्नयगारगतः कार्यं पश्येद्वैद्यतपस्विनाम्। पुरोहिताचार्यसखः प्रत्युत्थायाभिवाद्य च।।
- (८) तपस्विनां तु कार्याणि त्रैविद्यैः सह कारयेत्। मायोयोगविदां चैव न स्वयं कोपकारणात्।।
- (९) राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्। दक्षिणा व तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्।।
- (१०) प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।
- (११) तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्। अर्थस्य मूलमुत्थानमनमर्थस्य विपर्ययः।।

(१२) अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।

प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चार्थसम्पदम्॥

इति विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे राजप्रणिधिर्नामाष्टादशो ध्यायः॥

हिन्दी अनुवाद

- (१) राजा के उन्नतिशील होने पर ही उसका सारा भू-व्यवहार उन्नतिशील होता है। इसके विपरीत राजा के प्रमादी होने पर सारा भू-व्यवहार प्रमाद करने लगता है। उस दशा में प्रमादित भू-व्यवहार राज्यकार्यों को चुपचाप पी जाता है। ऐसा राजा शत्रुओं के धोखे में आ जाता है। इसलिए राजा को उचित है कि वह अपने आपको सदा ही उन्नतिशील बनाये रखे। राजकार्य को व्यवस्थित ढंग से संचालित करने के लिए वह दिन और रात आठ-आठ घड़ियों में बांट दे। अथवा पुरुष की छाया से भी वह समय का विभाजन कर सकता है। सूर्योदय से लेकर जब तक पुरुष की छाया तिगुनी लंबी रहे, वह दिन का पहला आठवाँ हिस्सा है। इस छायाको 'त्रिपौरुषी' छाया कहते हैं। इसी प्रकार वह छाया जब एक पुरुष के बराबर लम्बी रह जाये, तो वह दिन का दूसरा भाग है। उसको 'एकपौरुषी' छाया कहते हैं। तदनंतर वही 'एकपौरुषी' छाया घटकर जब चार अंगुल मात्र रह जाय तो वह दिन का तीसरा भाग है। इसको 'चतुरंगुली' छाया कहते हैं। उसके बाद का समय मध्याह्न कहलाता है। दिन का यह चौथा भाग है। मध्याह्न के उपरान्त इसके विपरीत क्रम से चतुरंगुला, पौरुषी, त्रिपौरुषी, और दिनांत, ये चार भाग हैं। इस प्रकार दिन के ये आठ भाग हुए।
- (२) पूर्वाह्न के प्रथम भाग में राजा रक्षा-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करे और बीते हुए दिन के आय-व्यय की जाँच करे। दूसरे भाग में वह पुरवासियों तथा जन-पदवासियों के कार्यों का निरीक्षण करे। तीसरे भाग में स्नान, भोजन तथा स्वाध्याय करे और चौथे भाग में बीते दिन की अवशिष्ट आमदनी को संभाले तथा उसी भाग में विभिन्न कार्यों पर अध्यक्ष आदि की नियुक्ति भी करे। उत्तरार्ध के पाँचवें भाग में वह मंत्रि-परिषद् के परामर्श से पत्र भेजे तथा आवश्यक कार्यों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करे। इसी समय वह गुप्तचरों के कार्यों एवं गुप्त बातों के सम्बन्ध में जाने-सुने। छठे भाग में वह स्वतंत्र होकर स्वेच्छया विहार तथा विचार करे। सातवें भाग में वह हाथी, घोड़े, रथ तथा अस्त्र-शस्त्रों का निरीक्षण करे। अंतिम आठवें भाग में वह सेनापति के साथ युद्ध आदि के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करे। दिनांत के बाद वह संध्योपासन करे।
- (३) इसी प्रकार रात्रि के पहिले भाग में वह गुप्तचरों को देखे। दूसरे भाग में स्नान, भोजन, स्वाध्याय, तीसरे भाग में संगीत सुनता हुआ शयन करे और चौथे, पाँचवें भाग तक सोता रहे। रात्रि के छठे भाग में संगीत द्वारा जागा हुआ वह अर्थशास्त्र सम्बन्धी तथा दिन में संपादित किये जाने योग्य कार्यों पर विचार करे। सातवें भाग में गुप्त-मंत्रणा करे और गुप्तचरों को यथास्थान भेजे। रात्रि के अन्तिम आठवें भाग में ऋत्विक्, आचार्य तथा पुरोहित के साथ स्वस्तिवाचन-सहित आशीर्वाद ग्रहण करे। इसी समय वह वैद्य, प्रधान रसोइयां और ज्योतिषी आदि से भी तत्संबंधी बातों पर परामर्श करे। इन सब कार्यों से निवृत्त हो वह बछड़े वाली गाय और बैल की प्रदक्षिणा करके राज-दरबार में प्रवेश करे।
- (४) ऊपर का काल-विभाग सामान्य-दृष्टि से निरूपित किया गया है, वैसे शक्ति तथा अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार स्वेच्छया राजा अपनी कार्य-व्यवस्था को स्वयं भी निर्धारित कर सकता है।
- (५) राजा जब दरबार में हो तो प्रत्येक कार्यार्थी को वह बिना रोक-टोक प्रवेश करने की अनुमति

दे दे। क्योंकि जो राजा कठिनाई से प्रजा को दर्शन देता है, उसके समीप रहने वाले कर्मचारी उसके कार्यों को उलट-पलट कर देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि राजा के अमात्य आदि उससे कुपित हो जाते हैं, राजकार्य शिथिल पड़ जाते हैं, राजा अपने शत्रुओं के अधीन हो जाता है। इसलिए राजा को उचित है कि देवालय, ऋषि-आश्रम, धूर्तपाखंडियों के केन्द्र, वेदपाठी ब्राह्मणों के संस्थान, पशुशाला आदि स्थानोंका और बाल, वृद्ध, रुग्ण, दुःखित, अनाथ तथा स्त्रियों से सम्बद्ध कार्यों का स्वयमेव विधिपूर्वक निरीक्षण करे। इनमें से यदि कोई कार्य अत्यावश्यक है, अथवा उसकी अवधि बीत रही है तो उसी का निरीक्षण राजा पहिले करे।

- (६) राजा को चाहिए कि पहिले वह उस कार्य को देखे, जिसकी मियाद बहुत बीत चुकी है। उसको देखने में वह अधिक विलंब न करे। क्योंकि इस प्रकार अवधि बीत जाने पर कार्य या तो कष्टसाध्य हो जाता है अथवा सर्वथा असाध्य हो जाता है।
- (७) राजा को चाहिए कि पुरोहित एवं आचार्य के साथ यज्ञशाला में उपस्थित होकर उन विद्वानों और तपस्वियों के कार्यों को खड़े ही खड़े अभिवादनपूर्वक देखे।
- (८) तपस्वियों तथा मायावी लोगों के कार्यों का निर्णय राजा, अकेला न करके वेदविद् विद्वानों के साथ बैठकर करे। अकेले वह उन लोगों के कोप का कारण न बने।
- (९) उद्योग करना, यज्ञ करना, अनुशासन करना, दान देना, शत्रु ओर मित्रों में-उनके गुण-दोषों के अनुसार समान व्यवहार करना, दीक्षा समाप्त कर अभिषेक करना, ये सब राजा के नैमित्तिक व्रत हैं।
- (१०) प्रजा के सुख में राजा का सुख ओर प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आप को अच्छे लगने वाले कार्यों को करने में राजा का हित नहीं, बल्कि उसका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यों के सम्पादन करने में है।
- (११) इसलिए राजा को चाहिए कि उद्योगशील होकर वह व्यवहार-सम्बन्धी तथा राज्य-सम्बन्धी कार्यों को उचित रीति से पूरा करे। उद्योग ही अर्थ का मूल है, और इसके विपरीत, उद्योगहीनता ही अनर्थों को देने वाली है।
- (१२) राजा यदि उद्योगी न हुआ तो उसके प्राप्त अर्थों और प्राप्तव्य अर्थों, दोनों का ही नाश हो जाता है; किन्तु जो राजा उद्योगी है, वह शीघ्र उद्योग का मधुर फल पाता है और इच्छित सुख-संपदा का उपभोग करता है।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में अठारहवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १६

निशान्तप्रणिधिः

- (१) वास्तुकप्रशस्ते देशे सप्राकारपरिखाद्वारमनेककक्ष्यापरिगतमन्तःपुरं कारयेत्।
- (२) कोशग हविधानेन वा मध्ये वासग हं, गूढभित्तिस चारं मोहनग हं तन्मध्ये वा वासग हं भूमिग हं वा सन्नकाष्ठचैत्यदेवतापिधानद्वारमनेकसुरुङ्गास चारं प्रासादं वा गूढभित्तिसोपानं, सुषिरस्तम्भप्रवेशापसारं वा, वासग हं यन्त्रवद्धतलावपातं कारयेद् आपत्प्रतीकारार्थम्। आपदि वा कारयेत्। अतो न्यथा वा विकल्पयेत्; सहाध्यायिभयात्।
- (३) मानुषेणाग्निना त्रिरपसव्यं परिगतमन्तःपुरमग्निरन्यो न दहति; न चात्रान्यो ग्निजर्वलति; वैद्युतेन भस्मना मत्संयुक्तेन कनकवारिणा वलिप्तं च।
- (४) जीवन्तीश्वेतामुष्ककपुष्पवन्दाकाभिरक्षीवे जातस्याश्वत्थस्य प्रतानेन वा गुप्तं सर्पा विषाणि वा न प्रसहन्ते। मार्जारमयूरनकुलप षतोत्सर्गः सर्पान्मक्षयति। शुकः शारिका भङ्गराजो वा सर्पविषशङ्कायां क्रोशति। क्रौ चो विषाभ्याशे माद्यतिः ग्लायति जीव जीवकः; म्रियते मत्तकोकिलः; चकोरस्याक्षिणी विरज्येते। इत्येवम् अग्निविषसर्पेभ्यः प्रतिकुर्वीत।
- (५) पष्ठतः कक्ष्याविभागे स्त्रीनिवेशो गर्भव्याधिवैद्यप्रत्याख्यातसंस्था वक्षोदकस्थानं च। बहिः कन्याकुमारपुरम्। पुरस्तादलङ्कारभूमिर्मन्त्रभूमिरुपस्थानं कुमाराध्यक्षस्थानं च। कक्ष्यान्तरेष्वन्तर्वशिकसैन्यं तिष्ठेत्।
- (६) अन्तर्ग हगतः स्थविरस्त्रीपरिशुद्धां देवीं पश्येत्। न काचिदभिगच्छेत्। देवीग हे लीनो हि भ्राता भद्रसेनं जघान; मातुः शय्या न्तर्गतश्च पुत्रःकारुशम्। लाजान् मधुनेति विषेण पर्यस्य देवी काशिराजं, विषदिग्धेन नूपुरेण वैरन्त्यं, मेखलामणिना सौवीरं, जालूथमादर्शनं, वेण्यां गूढं शस्त्रं कृत्वा देवी विडूरथं जघान। तस्मादेतान्यास्पदानि परिहरेत्।
- (७) मुण्डजटिलकुहकप्रतिसंसर्ग बाह्याभिश्च दासीभिः प्रतिषेधयेत्। न चैनाः कुल्याः पश्येयुरन्यत्र गर्भव्याधिसंस्थाभ्यः। रूपाजीवाः स्नानप्रघर्षशुद्धशरीराः परिवर्तितवस्त्रालङ्काराः पश्येयुः। आशीतिकाः पुरुषाः पचाशत्काः स्त्रियो वा मातापित व्यजनाः स्थविरवर्षवराभ्यागारिकाश्चावरोधानां शौचाशौचं विद्युः, स्थापयेयुश्च स्वामिहिते।
- (८) स्वभूमौ च वसेत् सर्वः परभूमौ न स चरेत्।
न च बाह्येन संसर्गं कश्चिदाभ्यन्तरो व्रजेत्।।
- (९) सर्वं चावेक्षितं द्रव्यं निबद्धागमनिर्गमम्।
निर्गच्छेदधिगच्छेद्वा मुद्रासंक्रान्तभूमिकम्।।
इति विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे निशान्तप्रणिधिर्नामकोनविंशो ध्यायः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) वास्तुविद्या के विशेषज्ञ (इंजीनियर) जिस स्थान को उपयुक्त बतायें, उसी स्थान पर ऐसे अन्तःपुर का निर्माण कराना चाहिये, जिसके चारों ओर परकोटा एवं खाई और जिसमें अनेक ड्यौड़ियाँ हों।
- (२) या कोशागार-निर्माण के विधानानुसार अन्तःपुर के बीच में राजा अपना महल बनवाये, या

ऐसा मकान बनवाये, जिसकी दीवारों तथा गलियों का पता न लगे, ऐसे मकान को मोहनग ह (भुलभलैया) कहते हैं, उसके बीच में राजा अपने रहने का मकान बनवाये, या भूमि को खुदवा कर उसमें घर बनवाये, उस भूमिग ह के दरवाजे पर, समीप ही किसी देवता की मूर्ति स्थापित करवाये, उसमें आने जाने के लिए गुप्त सुरंगें हों, या तो फिर ऐसा महल बनवाये, जिसकी दीवारों के भीतर गुप्त मार्ग हो, अथवा पोले खम्बों के भीतर आने-आने तथा चढ़ने-उतरने का रास्ता हो, अथवा आपत्तिकाल के निवारण के लिए यन्त्रों के आधार पर ऐसा वासग ह बनवाये जिसको इच्छानुसार नीचे-ऊपर तथा इधर-उधर हटाया जा सके, अथवा आपत्तिकाल के उपस्थित हो जाने पर ऐसे भवन का निर्माण करवाये। यदि राजा को इस बात की आशंका हो कि उसके समान ही दूसरा शत्रु राजा भी नीति-निपुण वास्तुकलाविद् है और वह गुप्तभवन-निर्माणसम्बन्धी सभी रहस्यों को जानता है तो वह अपनी बुद्धि के अनुसार उसमें परिवर्तन कर दे।

- (३) मनुष्य की हड्डी में बांस के रगड़ने से उत्पन्न अग्नि का स्पर्श, यदि अथर्ववेद के मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ बाईं ओर से तीन परिक्रमा करते हुए, कराया जाये तो उस अंतःपुर को आग नहीं जला सकती; और न दूसरी अग्नि ही वहाँ जल सकती है। बिजली के गिरने से जले हुए पेड़ की राख लेकर उसमें उतनी ही मिट्टी मिला दी जाये और दोनों को धतूरे के पानी के साथ गूँथकर यदि उसका दीवारों पर लेपन किया जाये तब भी वहाँ दूसरी अग्नि असर नहीं कर सकती है।
- (४) गिलोय, शंखपुष्पी, कालीपांढरी और करौंदे के पेड़ पर लगे हुए बंदे की माला आदि के रख देने; अथवा सहिजन (सैजन) के पेड़ के ऊपर पैदा हुए पीपल के पत्तों के बंदनवार बाँध देने से अंतःपुर में सर्प, बिच्छु आदि विषैले जंतुओं तथा दूसरे विषों का कोई प्रभाव नहीं होता है। बिल्ली, मोर, नेवला और म ग आदि भी सांपों को खा जाते हैं। अन्न आदि में सर्प-विष की आशंका होने पर तोता, मैना और बड़ा भौरा चिल्लाने लगते हैं। विष के समीप होने पर क्रौंच पक्षी विह्वल हो जाता है। जीवंजीव (चकोर के समान एक पक्षी) नामक पक्षी जहर को देखकर मुरझा जाता है। कोयल विष को देखकर मर जाती है। विष को देखकर चकोर की आँखें लाल हो जाती हैं। इन सब उपायों के द्वारा राजा अपने आप को तथा अंतःपुर को अग्नि, सर्प और विष के भय से बचा कर रखे।
- (५) राजमहल के पीछे कक्ष्याभाग में रनिवास, उसके समीप ही प्रसूता, बीमार तथा असाध्य रोगिणी स्त्रियों के लिए अलग-अलग तीन आवास बनवाये जायें और उन्हीं के साथ छोटे-छोटे उद्यान तथा सरोवरों का निर्माण किया जाये। बाहर की ओर राजकुमारियों और युवक राजकुमारों के लिए स्थान बनवाये जायें। राजमहल के आगे हरी-हरी घास और फूलों से सजे हुए उपवन होने चाहिए। उसके बाद मंत्रसभा का स्थान, फिर दरबार और तदनन्तर युवक राजकुमार, समाहर्ता-सन्निधाता आदि अध्यक्षों के प्रधान कार्यालय होने चाहिए। कक्ष्याओं के बीच-बीच में क चुकी तथा अंतःपुररक्षकों की उपस्थिति रहे।
- (६) रनिवास के अन्दर जाकर राजा किसी विश्वस्त बूढ़ी परिचारिका के साथ महारानी से मिले। अकेला किसी रानी के पास न जाये, क्योंकि ऐसा करने से कभी कभी बड़ा धोखा हो जाता है। कहा जाता है कि पहले कभी भद्रसेन नामक राजा के भाई वीरसेन ने उसकी रानी से मिलकर छिपे में भद्रसेन राजा को मार डाला था। इसी प्रकार माता की शय्या के नीचे छिपे हुए राजकुमार ने अपने पिता कारुश को मार डाला था। इसी प्रकार काशीराज की रानी ने धान की खोलों में मधु के बहाने विष मिलाकर अपने पति को मार डाला था। इसी भाँति विष में बुझे नूपुर के द्वारा वैरन्त्य राजा को और विष-बुझी करघनी की मणि से सौबीर राजा को, शीशे के द्वारा जालूथ राजा को और अपनी वेणी में शस्त्र छिपाकर बिडूरथ राजा को,

उनकी रानियों ने धोखे में मार डाला था। इसलिए रानियों से मिलते समय, राजा को इस प्रकार की अदृष्ट विपत्तियों में सावधान रहना चाहिए।

- (७) राजा को चाहिए कि वह मुंडी, जटी इसी प्रकार के अन्य धूर्त और बाहर की दासियों के साथ रानियों का संपर्क न होने दे। रानियों के सगे-सम्बन्धी भी उन्हें प्रसव या बीमारी की अवस्था के अतिरिक्त न देखने पावें। स्नान, उबटन के बाद सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर वेश्याएं राजा के निकट जायें। अस्सी वर्ष की अवस्था के पुरुष तथा पचास वर्ष की बूढ़ी स्त्रियाँ माता-पिता की भाँति रानियों के हितचिंतन में रत रहे। अंतःपुर के दूसरे व द्ध तथा नपुंसक पुरुष रानियों के चरित्र का ध्यान रखें और उनको राजा की हितकामना में लगाये रखें।
- (८) अंतःपुर के सभी परिचारक-परिचारिकार्यें अपने-अपने स्थानों पर ही रहें, एक दूसरे के स्थान पर न जाने पावें। इसी प्रकार भीतर का कोई भी आदमी बाहर के आदमियों से न मिलने पावे।
- (९) जो भी वस्तु महल के बाहर आवे तथा महल में जावे उसका भली-भाँति निरीक्षण कर और उसके सम्बन्ध में सारे विवरण रजिस्टर में लिख लेने चाहिए। राजमहल के बाहर और भीतर जाने-आने वाली प्रत्येक वस्तु पर राजकीय मुहर लग जानी चाहिये।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २०

आत्मरक्षितकम्

- (१) शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत; द्वितीयस्यां कक्ष्यायां क चुकोष्णीषिभिर्वर्षवराभ्यागारिकैः, तृतीयस्यां कुब्जवामनकिरातैः, चतुर्थ्यां मन्त्रिभिः सम्बन्धिभिदोवारिकैश्च प्रासपाणिभिः।
- (२) पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबन्धं शिक्षितमनुरक्तं कृतकर्माणं जनमासन्नं कुर्वीत; नान्यतोदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं वाप्यपकृत्योपगृह्णीतम्। अन्तर्वंशिकसैन्यं राजानमन्तःपुरं च रक्षेत्।
- (३) गुप्ते देशे माहानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत्। तद्राजा तथैव प्रतिभु जीत, पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा।
- (४) अग्नेर्ज्वालाधूमनीलता शब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य, वयसां विपत्तिश्च। अन्नस्योष्मा मयूरग्रीवाभः शैत्यमाशु क्लिष्टस्येव वैवर्ण्यं सोदकत्वमक्लिन्नत्वं च। व्यजनानामाशुशुष्कत्वं च क्वाथः श्यामफेनपटलविच्छिन्नभावो गन्धस्पर्शरसवधश्च। द्रवेषु हीनातिरिक्तं च्छायादर्शनं फेनपटलसीमान्तोर्ध्वराजीदर्शनं च। रसस्य मध्ये नीलाराजी, पयसस्ताम्रा, मद्यतोययोः काली, दध्नः श्यामा, मधुनः श्वेता च। द्रव्याणामार्द्राणामाशुप्रग्लनत्वमुत्पक्वभावः क्वाथनीलश्यामता च। शुष्काणामाशुशातनं वैवर्ण्यं च। कठिनानां मृदुत्वं मृदूनां कठिनत्वं च। तदभ्याशे क्षुद्रसत्त्ववधश्च। आस्तरणप्रावरणानां श्याममण्डलता तन्तुरोमपक्ष्मशातनं च। लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहता स्नेहरागगौरवप्रभाववर्णस्पर्शवधश्च। इति विषयुक्तलिङ्गानि।
- (५) विषप्रदस्य तु शुष्कश्यामवक्त्रता वाक्सङ्गस्वेदो विजम्भणं चातिमात्रं वेपथुः प्रस्खलनं वाक्यविप्रेक्षणमावेशः कर्मणि स्वभूमौ चानवस्थानमिति।
- (६) तस्मादस्य जाङ्गलीविदो भिषजश्चासन्नाः स्युः।
- (७) भिषग्भैषज्यागारादास्वादविशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत् पानं पानीयं चौरधेन व्याख्यातम्।
- (८) कल्पकप्रसाधकाः स्नानशुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्रमुपकरणमन्तर्वंशिकहस्तादादाय परिचरेयुः।
- (९) स्नापकसंवाहकास्तरकरजकमालाकारकर्म दास्यः कुर्युः; ताभिरधिष्ठिता वा शिल्पिनः। आत्मचक्षुषि निवेश्य वस्त्रमाल्यं दद्युः; स्नानानुलेपनप्रघर्षचूर्णवासस्नानीयानि स्ववक्षोबाहुषु च। एतेन परस्मादागतकं व्याख्यातम्।
- (१०) कुशीलवाः शस्त्राग्निरसवर्जं नर्मयेयुः। आतोद्यानि चैषामन्तस्तिष्ठेयुः, अश्वरथद्विपालङ्काराश्च।
- (११) मौलपुरुषाधिष्ठितं यानवाहनमारोहेत्; नावं चाप्तानारविकाधिष्ठिताम्। अन्यनौप्रतिबद्धां वातवेगवशां च नोपेयात्। उदकान्ते सैन्यमासीत। मत्स्यग्राहविशुद्धमवगाहेत। व्यालग्राहपरिशुद्धमुद्यानं गच्छेत्।
- (१२) लुब्धकैः स्वगणिभिरपास्तस्तेनव्यालपराबाधभयं चललक्षपरिचयार्थं मगारण्यं गच्छेत्।
- (१३) आप्तशस्त्रग्राहाधिष्ठितः सिद्धतापसं पश्येत्; मन्त्रिपरिषदा सामन्तदूतम्। सन्नद्धोऽस्वं हस्तिनं रथं वा रूढः सन्नद्धमनीकं गच्छेत्।
- (१४) निर्याणे भियाने च राजमार्गमुभयतः कृतारक्षं दण्डिभिरपास्तशस्त्रहस्तप्रव्रजितव्यङ्गं गच्छेत्।

न पुरुषसम्बाधमवगाहेत । यात्रासमाजोत्सवप्रवहणानि च दशवर्गिकाधिष्ठितानि गच्छेत् ।
 (१५) यथा च योगपुरुषैरन्यान्राजा धितिष्ठति ।
 तथा यमन्यबाधेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान् ।।
 इति विनयाधिकारिके प्रथमाधिकरणे आत्मरक्षितकं विंशो ध्यायः ।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) प्रातःकाल राजा के बिस्तर से उठते ही, धनुष-बाण लिये स्त्रियाँ उसे घेर लें। शयनकक्ष से उठकर राजा जब दूसरे कक्ष में प्रवेश करे तो वहाँ कुर्ता, पगड़ी पहिने हुए नपुंसक तथा दूसरे सेवक राजा की देख-रेख के लिए उपस्थित रहें। तीसरे कक्ष में कुबड़े, बौने एवं निम्न जाति के परिजन राजा की रक्षा करें। चौथे कक्ष में मंत्रियों, सम्बन्धियों और हाथ में भाला लिये द्वारपालों द्वारा राजा की रक्षा होनी चाहिए।
- (२) वंश-परम्परा के अनुगत, उच्चकुलोत्पन्न, शिक्षित, अनुरक्त और प्रत्येक कार्य को भली-भाँति समझने वाले पुरुषों को राजा अपना अंगरक्षक नियुक्त करे। किन्तु धन-सम्मान-रहित विदेशी व्यक्ति को तथा एक बार पथक् होकर पुनः नियुक्त स्वदेशीय व्यक्ति को भी राजा अपना अंगरक्षक कदापि नियुक्त न करे। राजमहल की भीतरी सेना, राजा और रनिवास की रक्षा करे।
- (३) माहानसिक को चाहिए कि वह किसी एकांत स्थान में भोज्य पदार्थों का स्वाद ले-लेकर उन्हें सुस्वादु तथा सुरक्षा से तैयार कराये। भोजन के तैयार हो जाने पर राजा पहिले अग्नि तथा पक्षियों को बलि प्रदान कर, फिर स्वयं खावे।
- (४) जिस अन्न में विष मिला हो उसे अग्नि में डालने से अग्नि और लपट, दोनों नीले रंग के हो जाते हैं तथा उसमें चट-चट शब्द होता है। विषमिश्रित अन्न के खाने पर पक्षियों की भी मृत्यु हो जाती है। विषयुक्त अन्न की भाप मयूर ग्रीवा जैसे रंग की होती है; वह भोजन शीघ्र ही ठण्डा हो जाता है; हाथ के स्पर्श या तोड़ने-मोड़ने से उसका रंग बदल जाता है, उसमें गाँठ-सी पड़ जाती है, और वह अन्न अधपका ही रह जाता है। विष मिली दाल जल्दी ही सूख जाती है, फिर से आँच पर रखा जाये तो मट्टे की तरह वह फट जाती है; उसकी झाग काली तथा वह अलग-अलग हो जाती है, और उसका स्वाद, स्पर्श, उसकी सुगंध आदि सब जाते रहते हैं। विषयुक्त रसेदार तरकारी विरंगी-विकृत हो जाती है, उसका पानी अलग तैरता रहता है और उसके ऊपर रेखा-सी खिंच जाती है। यदि घी, तेल आदि रसिक पदार्थों में विष मिला हो तो उनमें नीले रंग की रेखाएं तैरने लगती हैं, विष-मिश्रित दूध में ताम्रवर्ण की, शराब तथा पानी में काले रंग की, दही में श्यामवर्ण की और शहद में सफेद रंग की रेखाएं दिखाई देती हैं। आम, अनार आदि द्रव्यों में विष मिला हो तो वे सिकुड़ जाते हैं, उनमें सडांध आने लगती है, और पकने पर उनका वर्ण कुछ कालापन एवं भूरापन लिये होता है। यदि सूखे हुए पदार्थों में विष मिला हो तो वे छूते ही चूर-चूर होकर विवर्ण हो जाते हैं। विषमिश्रित ठोस पदार्थ मुलायम और मुलायम पदार्थ ठोस हो जाता है। विषमय वस्तु के समीप रँगने वाले छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े मर जाते हैं। ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों पर यदि विष का प्रयोग किया गया हो तो उनमें स्थान-स्थान पर धब्बे पड़ जाते हैं। यदि कपड़ा सूती हुआ तो उसका सूत और ऊनी हुआ तो उसकी रुआँ उड़ जाती है। सोने, चांदी, स्फटिक मणि आदि धातुओं पर यदि विष का प्रयोग किया गया हो तो उनकी आभा पंकिल दिखाई देती है, उनकी चमक, भारीपन और पहिचान आदि सब जाते रहते हैं। यहां तक कि विषमिश्रित पदार्थों के पहिचान की विधियों का निरूपण किया गया है।

- (५) विष देने वाले का मुँह सूख जाता है, उसके चेहरे का रंग बदल जाता है, बातचीत करते हुए उसकी वाणी लड़खड़ाने लगती है, उसको पसीना, कंपकपी तथा जंभाई आने लगती है, बेचैन होकर वह गिर पड़ता है, संदेहवश दूसरों की बातें वह ध्यानपूर्वक सुनने लगता है, बात-बात में वह आवेश करने लगता है; अपने कार्य और अपने स्थान पर उसका मन स्थिर नहीं रह पाता है।
- (६) इसलिए विषविद्या के जानकार और वैद्य राजा के समीप अवश्य रहें।
- (७) वैद्य को चाहिए कि औषधालय में स्वयं खाकर परीक्षा की हुई औषधि को वह राजा के सामने लाकर उसमें से कुछ को पकाने-पीसने वाले लोगों और कुछ स्वये भी खाकर पुनः राजा को दे। इसी प्रकार जल तथा मद्य को भी, परीक्षा करने के उपरांत राजा को देना चाहिए।
- (८) दाढ़ी-मूँछ बनाने वाले नाई तथा वस्त्रालंकरण धारण कराने वाले परिचारकों को चाहिए कि वे स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण किये हाथों को अच्छी तरह धोकर राजमहल के अन्दर रहने वाले कंचुकी आदि से मुहर लगे हुए उस्तरा और वस्त्राभूषण को लेकर राजा की परिचर्या करें
- (९) राजा को स्नान कराना, उसके अंगों को दबाना, बिस्तर बिछाना, कपड़े धोना और माला बनाना आदि कार्यों को दासियाँ ही करें, अथवा दासियों की देख-रेख में उस कार्य के जानकार लोग करें। दासियों को चाहिए कि अपनी आँखों से देखकर ही वे राजा को वस्त्रालंकरण पहनावें। स्नान के समय उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं, जैसे-उबटन, चन्दन, सुगन्धित चूर्ण तथा पटवास आदि को, दासियाँ पहले अपनी छाती व बाँह पर लगाकर आजमा लें और तदनंतर राजा पर उसका प्रयोग करें। यही बात दूसरे स्थान से आई हुई वस्तुओं के सम्बन्ध में भी जान लेनी चाहिए।
- (१०) खेल दिखाने वाले नट-नर्तक, हथियार, आग, विष आदि के अतिरिक्त दूसरे खेलों को ही राजा के सामने दर्शित करें। नट-नर्तकों के उपयोग में आने वाली सामग्री, जैसे-वादन, वस्त्र, घोड़े, अलंकरण आदि, राजमहल से ही दी जानी चाहिए।
- (११) विश्वस्त प्रधान पुरुष के साथ होने पर ही राजा पालकी तथा घोड़े आदि यान-वाहनों पर चढ़े। विश्वस्त नाविक के रहने पर ही नौका पर चढ़े। दूसरी नाव पर बंधी एवं वायु से चालित नाव पर वह कदापि न बैठे। राजा जब नौका-विहार करे तो, सुरक्षा के लिए, नदी के दोनों तटों पर सेना तैनात रहनी चाहिए मछुओं द्वारा भलीभाँति जाँच किए गए घाट पर ही वह स्नान करे। इसी प्रकार सपेरों द्वारा परिशोधित उद्यान में ही वह भ्रमण करे।
- (१२) चोर तथा व्याघ्र आदि से रहित, कुत्ते रखने वाले शिकारियों के साथ राजा, चलते हुए लक्ष्य पर निशाना साधने के उद्देश्य से जंगल में जाये।
- (१३) दर्शनार्थ आये हुए किसी सिद्ध या तपस्वी से मिलते समय राजा, अपने विश्वस्त सशस्त्र पुरुष को साथ ले ले। अपने मंत्रि-परिषद् के साथ ही वह सामंत राजा के दूत से मिले। घोड़े, हाथी या रथ पर सवार युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाली सेना का वह युद्धोचित कवच आदि पहिन कर सैनिक वेश में निरीक्षण करे।
- (१४) बाहर जाते या बाहर से आते समय, राजा हाथ में दण्ड लिये रक्षकों द्वारा दोनों ओर से सुरक्षित मार्ग पर चले। ऐसा प्रबंध हो कि रास्ते भर में कहीं भी राजा को शस्त्ररहित पुरुष, संन्यासी या लूला-लंगड़ा, अपंग व्यक्ति न दिखाई दे। पुरुषों की भीड़ में भी वह कदापि न घुसे। किसी देवालय, सभा, उत्सव तथा पार्टी आदि में वह शामिल होने जाय तो कम से कम दस सिपाही तथा सेनानायक उसके साथ उपस्थित रहें।

(१५) विजय की इच्छा रखने वाला राजा जैसे अपने गुप्तचरों द्वारा दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार दूसरों के द्वारा दिये गये कष्टों से भी वह अपनी रक्षा करे।

विनयाधिकारिक प्रथम अधिकरण में बीसवाँ अध्याय समाप्त।

दूसरा अधिकरण : अध्यक्षों का निरूपण

अध्याय १

जनपदनिवेशः

- (१) भूतपूर्वमभूतपूर्व वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्।
- (२) शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं प चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्। नदीशैलवनग ष्टिदरीसेतुबन्ध- शाल्मलीशमीक्षीरव क्षानन्तेषु सीम्नां स्थापयेत्।
- (३) अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं, चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखं, द्विशतग्राम्याः खार्वटिकं, दशग्रामीसङ्ग्रहेण सङ्ग्रहणं स्थापयेत्।
- (४) अन्तेष्वन्तपालदुर्गाणि, जनपदद्वाराण्यन्तपालाधिष्ठितानि स्थापयेत्। तेषामन्तराणि वागुरिकशबरपुलिन्दचण्डालारण्यचरा रक्षेयुः।
- (५) ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्। अध्यक्षसङ्ख्यायकादिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थचिकित्साश्वदमकजङ्घाकरिकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्जम्।
- (६) करदेभ्यः कृतक्षेत्राण्यैकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्तृभ्यो नादेयात्।
- (७) अकृषतामाच्छिद्यान्धेभ्यः प्रयच्छेत्। ग्रामभ तकवैदेहका वा कृषेयुः। अकृषन्तो पहीनं दद्युः। धान्यपशुहिरण्यैश्चैनानुग हणीयात्। तान्यनु सुखेन दद्युः।
- (८) अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशव द्विकरौ दद्यात्। कोशोपघातिकौ वर्जयेत्। अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते। निवेशसमकालं यथागतकं वा परिहारं दद्यात्। निव तपरिहारान् पितेवानुग हणीयात्।
- (९) आकरकर्मान्तद्रव्यहस्तिवनव्रजवणिक्पथप्रचारान्वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेत्।
- (१०) सहोदकमाहार्योदकं वा सेतुं बन्धयेत्। अन्येषां वा बध्नतां भूमिमार्गव क्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्; पुण्यस्थानारामाणां च सम्भूय सेतुबन्धादपाक्रामतः कर्मकरबलीवर्दाः कर्म कुर्युः। व्ययकर्मणि च भागी स्यात्। न चांशं लभेत।
- (११) मत्स्यप्लवहरितपण्यानां सेतुषु राजा स्वाम्यं गच्छेत्। दासाहितकबन्धूननुष प्वतो राजा विनयं ग्राहयेत्। बालव द्दव्याधितव्यसन्ननाथांश्च राजा बिभ यात्; स्त्रियमप्रजातां प्रजातायाश्च पुत्रान्।
- (१२) बालद्रव्यं ग्रामव द्वा वर्धयेयुराव्यवहारप्रापणात्; देवद्रव्यं च।
- (१३) अपत्यदारान् मातापितरौ भ्रात नप्राप्तव्यवहारान्भगिनीः कन्या विधवाश्चाभिभ्रतः शक्तिमतो द्वादशपणो दण्डो न्यत्र पतितेभ्यः; अन्यत्र मातुः।
- (१४) पुत्रदारामप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वः साहसदण्डः; स्त्रियं च प्रब्राजयतः। लुप्तव्यवायः प्रव्रजेदाप च्छ्य धर्मस्थान्, अन्यथा नियम्येत।

- (१५) वानप्रस्थादन्यः प्रव्रजितभावः, सुजातादन्यः सङ्घेः, सामुत्थायकादन्यः समयानुबन्धो वा नास्य जनपदमुपनिवेशेत्।
- (१६) न च तत्रारामा विहारार्थाः शालाः स्युः। नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः। निराश्रयत्वाद् ग्रामाणां क्षेत्राभिरतत्वाच्च पुरुषाणां कोशविष्टिद्रव्यधान्यरसव द्विर्भवतीति।
- (१७) परचक्राटवीग्रस्तं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम्।
देशं परिहरेद्राजा व्ययक्रीडाश्च वारयेत्॥
- (१८) दण्डविष्टिकराबाधैः रक्षदुपहतां कृषिम्।
स्तेनव्यालपिषग्राहैर्व्याधिभिश्च पशुव्रजान्॥
- (१९) वल्लभैः कार्मिकैः स्तेनैरन्तपालैश्च पीडितम्।
शोधयेत्पशुसङ्घैश्च क्षीयमाणं वणिकपथम्॥
- (२०) एवं द्रव्यद्विपवनं सेतुबन्धमथाकरान्।
रक्षेत्पूर्वकृतान् राजा नवांश्चाभिप्रवर्तयेत्॥
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे जनपदनिवेशः प्रथमो ध्यायः; आदितः एकविंशः॥

हिन्दी अनुवाद

- (१) राजा को चाहिए कि दूसरे देश के मनुष्य बुलाकर अथवा अपनी देश की आबादी को बढ़ाकर वह पुराने या नये जनपद को बसाये।
- (२) प्रत्येक जनपद में कम से कम सौ घर और अधिक से अधिक पाँच सौ घर वाले, ऐसे गाँव बसाये जायें जिसमें प्रायः शूद्र तथा किसान अधिक हों। एक गाँव दूसरे गाँव से कोस भर या दो कोस की दूरी से अधिक नहीं होना चाहिए, जिससे अवसर आने पर वे एक दूसरे की मदद कर सकें। नदी, पहाड़, जंगल, बेर के वृक्ष, खाई तालाब, सेंमल के वृक्ष, शमी के वृक्ष और बरगद आदि के वृक्ष लगाकर उन बसाये हुए गाँवों की सीमा निर्धारित करें।
- (३) आठ सौ गाँवों के बीच में एक स्थानीय; चार सौ गाँवों के समूह में एक द्रोणमुख; दो सौ गाँवों के बीच में एक कार्वटिक और दस गाँवों के समूह में संग्रहण नामक स्थानों की विशेष रूप से स्थापना करे।
- (४) राज्य की सीमा पर अंतपाल नामक दुर्गरक्षक के संरक्षण में एक दुर्ग की भी स्थापना करे। जनपद की सीमा पर अंतपाल की अध्यक्षता में ही द्वारभूत स्थानों का भी निर्माण करे। उनके भीतरी भागों की रक्षा व्याध, शबर, पुलिन्द, चाण्डाल आदि वनचर जातियों के लोग करें।
- (५) राजा को चाहिए कि वह ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय आदि ब्राह्मणों के लिए भूमिदान करे, किन्तु उनसे कर आदि न ले और उस भूमि को वापिस भी न ले। इसी प्रकार विभागीय अध्यक्षों, संख्यायकों, गोपों, स्थानिकों, अनीकस्थों, वैद्यों, अश्वशिक्षकों और जंघाकरिकों आदि अपने अधिकारियों, कर्मचारियों और प्रजाजनों के लिए भी राजा भूमि-दान करे। किन्तु इस प्रकार पायी हुई जमीन को बेचने या गिरवी रखने के लिए वर्जित कर दे।
- (६) खेती के उपयोगी जो भूमि लगान पर जिस भी किसान के नाम दर्ज की जाय, उसके मर जाने के बाद राजा को अधिकार है कि वह उस भूमि को मृतक किसान के पुत्र आदि को दे या न दे।
- (७) किन्तु ऐसी ऊसर या बंजर जमीन जिसको किसान ने अपने श्रम से खेती योग्य बनाया है,

राजा को चाहिए कि उसे कभी भी वापिस न ले, ऐसी जमीन पर किसानों को पूर्ण अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि कोई किसान किसी खेती योग्य भूमि को बिना जोते-बोये परती ही डाले रहता है तो राजा को चाहिए कि ऐसे किसान से उस भूमि को छीन कर किसी जरूरतमंद दूसरे किसान को दे दे। ऐसे जरूरतमंद किसान के न मिलने पर गाँव का मुखिया या व्यापारी उस जमीन पर खेती करे। खेती करने की शर्त पर यदि कोई जमीन को ले और उसमें खेती न करे तो उससे उसका हर्जाना वसूल करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अन्न, बीज, बैल और धन आदि देकर किसानों की सहायता करता रहे और किसानों को भी चाहिए कि फसल कट जाने पर सुविधानुसार धीरे-धीरे वे उधार ली हुई वस्तुओं को राजा को वापिस कर दें।

- (८) किसानों की स्वास्थ्य-वृद्धि और रुग्णता-निवारण के लिए राजा उन्हें परिमित धन देता रहे, जिससे कि वे धन-धान्य की वृद्धि करके राजकोष को समृद्ध बनावें। किन्तु इस प्रकार की सहायता से यदि राजकोष को कोई हानि पहुंचे, तो राजा उसको बन्द कर दे; क्योंकि कोष के कम हो जाने पर राजा, नगर और जनपद-निवासियों को सताने लगता है। किसी नये कुल को बसाये जाने के लिए प्रतिज्ञात धन राजा को अवश्य देना चाहिए। अथवा राजकोष की आय के अनुसार स्वास्थ्य-सुधार के लिए राजा धन अवश्य खर्च करता रहे। यदि नगर और जनपद-निवासी राजा के द्वारा स्वास्थ्य-सुधार के लिए खर्च किए गए धन को चुका दें, तो पिता के समान राजा उन पर अनुग्रह करे।
- (९) राजा को चाहिए कि वह आकर (खान) से उत्पन्न सोना-चाँदी आदि के विक्रय-स्थान, चंदन आदि उत्तम काष्ठ के बाजार, हाथियों के जंगल, पशुओं की वृद्धि के स्थान, आयात-निर्यात के स्थान, जल-थल के मार्ग और बड़े-बड़े बाजारों या बड़ी-बड़ी मंडियों की भी व्यवस्था कराये।
- (१०) भूमि की सिंचाई के लिए राजा को चाहिए कि नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बंधवाये, अथवा वर्षा ऋतु के जल को भी बड़े-बड़े जलाशयों में भरवा दे। यदि प्रजाजन ऐसा कार्य करना चाहते हैं तो राजा को चाहिए कि उन्हें जलाशय के लिए भूमि, नहर के लिए रास्ता और आवश्यकतानुसार लकड़ी आदि सामान देकर उनका उपकार करें। देवालय और बाग-बगीचे आदि के लिये भी राजा, प्रजा की भूमिदान आदि से सहायता करे। गाँव के जो मनुष्य अन्य आवश्यक कार्यों के आ जाने पर उस सहकारी उद्योग में सम्मिलित न हो सकें तो वे अपने स्थान पर नौकर तथा बैल भेज कर सहयोग दें। यदि वे ऐसा भी न करें तो अनुपात के अनुसार उनसे उनके हिस्से का सारा खर्च लिया जाये और कार्य समाप्त होने पर न तो उन्हें उसका साझीदार समझा जाय और न ही उसका लाभ उठाने दिया जाये।
- (११) इस प्रकार के बड़े-बड़े जलाशयों में उत्पन्न होने वाली मछली, प्लव पक्षी और कमलदंड आदि व्यापार-योग्य वस्तुओं पर राजा का ही अधिकार रहे। यदि नौकर-चाकर, भाई, पुत्र आदि अपने मालिक की आज्ञा का उल्लंघन करें तो राजा उन्हें उचित शिक्षा दे। राजा को चाहिए कि वह बालक, वृद्ध, व्याधिग्रस्त, विपत्तिग्रस्त और अनाथ व्यक्तियों का भरण-पोषण करे। संतानहीन और पुत्रवती अनाथ स्त्रियों तथा उनके बच्चों की भी राजा रक्षा करे।
- (१२) नाबालिग बच्चे की सम्पत्ति पर गाँव के वृद्ध पुरुषों का अधिकार रहे। उसको वे बढ़ाते रहें और बालिग हो जाने पर उसकी सम्पत्ति को उसे वापिस कर दें। इस प्रकार देव-सम्पत्ति पर भी ग्राम-वृद्धों का ही अधिकार हो, जो कि उसकी वृद्धि में तत्पर रहें।
- (१३) जब कोई पुरुष समर्थ होने पर भी, अपने लड़के-बच्चों, स्त्रियों, माता-पिता, नाबालिक भाई, अविवाहित तथा विधवा बहिन आदि का भरण-पोषण न करे तो राजा उसे बारह पणों का दंड दे। किन्तु ये लड़के, स्त्री आदि यदि किसी कारण से पतित हो गए हों तो सम्बन्धी उनका

भरण पोषण करने के लिए बाध्य नहीं है। यह निषेध माता के सम्बन्ध में नहीं, माता यदि पतिता भी हो तो उसका भरण-पोषण और उसकी रक्षा करनी चाहिए।

- (१४) पुत्र तथा स्त्री के जीवन-निर्वाह का उचित प्रबन्ध किये बिना ही यदि कोई पुरुष, संन्यास ग्रहण कर ले तो राजाको उसे प्रथम साहस दंड देना चाहिए। यह दंड उस पुरुष को भी दिया जाना चाहिए जो अपनी स्त्री को संन्यासिनी हो जाने को प्रेरित करे। जब मनुष्य के मैथुन-सम्बन्धी कामविकार शांत हो जाएं तब उसे धर्माधिकारी पुरुषों की अनुमति लेकर संन्यास आश्रम में प्रवेश करना चाहिए, इस राज्य-नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को कारागार में बंद कर दिया जाये।
- (१५) वानप्रस्थ के अतिरिक्त कोई दूसरा संन्यासी जनपद में न रहना चाहिए, इसी प्रकार राजभक्त जनसंघ के अतिरिक्त तथा स्थानीय सहकारी संस्थाओं के अतिरिक्त कोई दूसरी संस्था संघ राज्य में न बनने पावे, जो द्रोह या फूट फैलाने वाला सिद्ध हो।
- (१६) गाँवों में कोई भी नाट्यगृह, विहार तथा क्रीडा-शालाएँ नहीं होनी चाहिए। नट, नर्तक, गायक, वादक, भाण और कुशलीव आदि गाँवों में अपना खेल दिखा कर कृषि आदि कार्यों में विघ्न उत्पन्न न करें। क्योंकि गाँवों में नाट्यशालाएँ आदि न होने से ग्रामवासी अपने-अपने कृषिकर्म में संलग्न रहते हैं, जिससे कि राजकोष में अभिवृद्धि होती है और सारा देश धन-धान्य से समृद्ध होता है।
- (१७) राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं, जंगली लोगों, व्याधियों एवं दुर्भिक्षों से अपने देश को बचावे। वह उन क्रीडाओं का भी बहिष्कार कराये जो धन का अपव्यय और विलासप्रियता को बढ़ाने वाली हों।
- (१८) राजा को चाहिए कि दंड, विष्टि, कर आदि की बाधा से कृषि की रक्षा करे। इसी प्रकार चोर, हिंसक जंतु, विष-प्रयोग तथा अन्य कष्टों से भी किसानों के पशुओं की रक्षा करे।
- (१९) वल्लभ, कार्मिक, चोर, अंतपाल और व्याघ्र आदि, राजपुरुषों लुटेरों एवं हिंसक जंतुओं से ग्रस्त व्यापार-मार्गों को भी राजा परिशोधन करे। अर्थात् अपने देश से इन सब आपत्तियों को दूर करे।
- (२०) इस प्रकार राजा प्रथम तो लकड़ी के जंगल, हाथियों के जंगल, सेतुबन्ध तथा खानों की रक्षा करे और तदुपरान्त आवश्यकतानुसार नये जंगल, सेतुबंध आदि का निर्माण करवाये।

अध्यक्ष-प्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में प्रथम अध्याय समाप्त।

अध्याय २

भूमिच्छिद्र-विधानम्

- (१) अकृष्यायां भूमौ पशुभ्यो विवीतानि प्रयच्छेत्। प्रदिष्टाभयस्थावरजङ्गमानि च ब्राह्मणेभ्यो ब्रह्मसोमारण्यानि, तपोवनानि च तपस्विभ्यो गोरुतपराणि प्रयच्छेत्। तावन्मात्रमेकद्वारं खातगुप्तं स्वादुफलगुल्मगुच्छमकण्टकिद्रुममुत्तानतोयाशयं दान्तम गचतुष्पदं भग्ननखदंष्ट्रव्यालं मार्गायुकहस्तिहस्तिनीकलभं म गवनं विहारार्थं राज्ञः कारयेत्।
- (२) सर्वातिथिम गं प्रत्यन्ते चान्यन्म गवनं भूमिवशेन वा निवेशयेत्।
- (३) कुप्यप्रदिष्टानां च द्रव्याणामेकैकशो वा वनं निवेशयेत्; द्रव्यवनकर्मान्तानटवीश्व द्रव्यनापाश्रयाः।
- (४) प्रत्यन्ते हस्तिवनमटव्यारक्ष्यं निवेशयेत्। नागवनाध्यक्षः पार्वतं नादेयं सारसमानूपं च नागवनं विदितपर्यन्तप्रवेशनिष्कसनं नागवनपालैः पालयेत्। हस्तिघातिनं हन्युः। दन्तयुगं स्वयं म तस्याहरतः सपादचतुष्पणो लाभः।
- (५) नागवनपाला हस्तिपकपादपाशिकसैमिकवनचरकपासिकर्मिकसखाहस्तिमूत्रपुरीषच्छन्नगन्धा भल्लातकीशाखाप्रतिच्छन्नाः प चभिः सूप्तभिर्वा हस्तिबन्धकीभिः सह चरन्तः शय्यास्थानपद्यालण्डकूलपातोद्देशेन हस्तिकुलपर्यग्नं विद्युः।
- (६) यूथचरमेकचरं निर्यूथं यूथपतिं हस्तिनं व्यालं मत्तं पोतं बद्धमुक्तं च निबन्धेन विद्युः। अनीकस्थप्रमाणैः प्रशस्तव्य जनाचारान्हस्तिनो ग हणीयुः। हस्तिप्रधानो हि विजयो राज्ञाम्। परानीकव्यूहदुर्गस्कन्धावारप्रमर्दना ह्यतिप्रमाणशरीराः प्राणहरकर्माणो हस्तिन इति।
- (७) कलिङ्गाङ्गजाः श्रेष्ठाः प्राच्याश्वेति करुशजाः।
दाशार्णाश्चापरान्ताश्च द्विपानां मध्यमा मताः॥
- (८) सौरष्ट्रिकाः पा चनदाः तेषां प्रत्यवरा स्म ताः।
सर्वेषां कर्मणा वीर्यं जवस्तेजश्च वर्धते॥
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे भूमिच्छिद्रविधानं द्वितीयो ध्यायः; आदितो द्वाविंशः॥

हिन्दी अनुवाद

- (१) ऊसर भूमि में पशुओं के लिए चरागाहें बनवानी चाहिए। जिस भूमि को व क्ष-लता एवं म ग आदि के लिए छोड़ दिया गया हो, ऐसे दो कोस तक फैले हुए जंगल को वेदाध्यायी ब्राह्मणों को वेदाध्ययन एवं सोमयाग के लिए दे देना चाहिए; इसी प्रकार के तपोवनों को तपस्वियों के लिए दे देना चाहिए। ऐसे ही दो कोस परिमाण के म गवन को राजा अपने विहार के लिए तैयार कराये। उस विहारवन के दो दरवाजे हों, उसके चारों ओर खुदी हुई खाई हो, उसमें स्वादिष्ट फल, लता, गुल्म एवं व क्ष हों, वह काँटेदार पेड़ों से रहित हो, उसमें कम गहरे सरोवर हों, मनुष्यों से परिचित म ग हों, म गया के लिए वहाँ ऐसे व्याघ्र, हाथी, हथिनी तथा उनके बच्चे रखे गये हों, जिनके नख एवं दाँत न हों
- (२) उसके ही समीप एक दूसरा म गवन ऐसा तैयार कराया जाए, जिसमें देश-देशान्तरों के जानवर लाकर रखे गये हों।
- (३) **कुप्याध्यक्ष** प्रकरण में निर्दिष्ट चंदन, पलाश, अशोक आदि लकड़ी के लिए अलग-अलग वन

लगाये जायें। लकड़ी के जंगलों की सम्पूर्ण व्यवस्था, जंगलों के अध्यक्ष तथा जंगलों पर जीवन बिताने वाले पुरुष करें।

- (४) जनपद की सीमा पर जंगल के अध्यक्षों के संरक्षण में एक हस्तिवन भी स्थापित करना चाहिए। हस्तिवन के अध्यक्षों को आवश्यक है कि वह स्वयं तथा अपने सहयोगी वनपालों के सहयोग से पर्वत, नदी, जलाशय तथा किसी जलमय स्थान से होकर हस्तिवनों के अन्दर जाने वाले मार्गों की भली-भाँति देख-देख रखे। हाथियों को मारने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्राणदण्ड की सजा मिलनी चाहिए। म तक हाथी के दाँतों को उखाड़कर जो स्वयं ही राजपुरुषों के सुपुर्द कर दे, उसे सवा चार पण पुरस्कार स्वरूप दिया जाना चाहिए।
- (५) हस्तिवन के रक्षकों को चाहिए कि वे हस्तिपक, पादपाशिक, सैमिक, वनचरक और पारिकर्मिक आदि पुरुषों को साथ लेकर जंगल में हाथियों के समूह का पता लगायें। अपने साथ वे हाथी के मल-मूत्र के गंध के समान किसी वस्तु को, हाथियों को वश में करने वाली पाँच-सात हथिनियों को भी साथ में लेकर और स्वयं को भल्लातकी की शाखा में छिपाये हुये, हाथियों के पड़ाव, उनके पैरों के निशान, उनके मल-मूत्र त्यागने की जगह और उनके द्वारा गिराये गये नदी-कगारों आदि का सुराग लेकर हस्तिसमूहों का पता लगायें।
- (६) झुंड के साथ घूमने वाले, अकेले विचरण करने वाले, झुंड से फूटे हुए, झुंडप्रमुख, दुष्टप्रकृति, उन्मत, शिशुहस्ति, बंधनमुक्त आदि हाथियों से सम्बन्धित जितने भी विवरण हैं, उनकी जानकारी, हस्तिवनरक्षक अपनी गणनापुस्तक से प्राप्त करें। हस्तिविद्या में निपुण पुरुषों के निर्देशानुसार श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त हाथियों को ही पकड़ना चाहिए, क्योंकि हाथी ही राजा की विजय के प्रधान साधन हैं। भारी भरकम हाथी ही शत्रुसेना, उसकी व्यूह-रचना, उसके दुर्ग तथा उसकी छावनियों को कुचलने वाले और उसके प्राणों तक को लेने वाले होते हैं।
- (७) कलिंग, अंग और पूर्वीय करुश देश के हाथी सर्वोत्तम गिने जाते हैं। दशार्ण तथा पश्चिम देश के हाथी मध्यम माने जाते हैं।
- (८) गुजरात और पंजाब के हाथी अधम कहे जाते हैं। इस पर भी, प्रत्येक हाथी के बल, विक्रम, वेग और तेज का संवर्धन आदि उसको दी जाने वाली समुचित शिक्षा पर निर्भर है।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में दूसरा अध्याय समाप्त।

अध्याय ३

दुर्गविधानम्

- (१) चतुर्विंशं जनपदान्ते साम्प्रसारिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत्; अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धमौदकं, प्रास्तरं गुहां वा पार्वतं, निरुदकस्तम्भमिरिणं वा धान्वनं, खजनोदकं स्तम्भगहनं वा वनदुर्गम्। तेषां नदीपर्वतदुर्गे जनपदारक्षस्थानं धान्वनवनदुर्गमटवीस्थानम् आपद्यपसारो वा।
- (२) जनपदमध्ये समुदयस्थानं स्थानीयं निवेशयेत्। वास्तुकप्रशस्ते देशे नदीसङ्गमे हृदस्य वा विशेषस्याङ्के सरसस्तटाकस्य वा वत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा वास्तुकवशेन प्रदक्षिणोदकं पण्यपुटभेदनमंसवारिपथाभ्यामुपेतम्। तस्य परिखास्तिस्रो दण्डान्तराः कारयेत्। चतुर्दश द्वादश दशेति दण्डान् विस्तीर्णाः विस्तारादवगाधाः पादोनमर्धं वा त्रिभागमूला मूले चतुरश्राः पाषाणोपहिताः पाषाणेष्टकाबद्धपाश्वा वा तोयान्तिकीरागन्तुतोयपूर्णा वा सपरिवाहाः पद्मग्राहवतीः।
- (३) चतुर्दण्डावकृष्ट परिखायाः षड्दण्डोच्छ्रितमवरुद्धं तद्विगुणविष्कम्भं खाताद्वप्रं कारयेत्; ऊर्ध्वचयं म चप ष्टं कुम्भकुक्षिकं वा हस्तिभिर्गोभिश्च क्षुण्णं कण्टकिगुल्मविषवल्लीप्रतानवन्तम्। पांसुशेषेण वास्तुच्छिद्रं वा पूरयेत्।
- (४) वप्रस्योपरि प्राकारं विष्कम्भद्विगुणोत्सेधमेष्टकं द्वादशहस्तादूर्ध्वमोजं युग्मं वा आचतुर्विंशतिहस्तादिति कारयेत्। रथचर्यास चारं तालमूलमुरजकैः कपिशीर्षकैश्चाचिताग्रं पथुशिलासंहितं वा शैलं कारयेत्; न त्वेव काष्ठमयम्। अग्निरवहितो हि तस्मिन्वसति।
- (५) विष्कम्भचतुरश्रमट्टालकमुत्सेधसमावक्षेपसोपानं कारयेत्, त्रिंशद्दण्डान्तरं च।
- (६) द्वयोरट्टालकयोर्मध्ये सहर्म्यद्वितलामध्यर्धायामां प्रतोलीं कारयेत्।
- (७) अट्टालकप्रतोलीमध्ये त्रिधानुष्काधिष्ठानं सापिधानच्छिद्रफलकसंहितमितीन्द्रकोशं कारयेत्।
- (८) अन्तरेषु द्विहस्तविष्कम्भं पार्श्वे चतुर्गुणामनुप्राकारम् अष्टहस्तायतं देवपथं कारयेत्।
- (९) दण्डान्तरा द्विदण्डान्तरा वाचार्याः कारयेत्; अग्राह्ये देशे प्रधावितिकां निष्कुहद्वारं च।
- (१०) बहिर्जानुभ जनीत्रिशूलप्रकरकूपकूटावपातकण्टकप्रतिसराहिप ष्टतालपत्रश्च ड्गाटकश्वदंष्ट्रार्गलोपस्कन्दनपादुकाम्बरीषोद पानकैः। छन्नपथं कारयेत्।
- (११) प्राकारमुभयतो मण्डपकमध्यर्धदण्डं कृत्वा प्रतोलीषट्तालान्तरं द्वारं निवेशयेत्; प चदण्डादेकोत्तरव द्वाष्टदण्डादिति चतुरश्रम्। द्विदण्डं वा। षड्भागमायामादधिकमष्टभागं वा।
- (१२) प चशहस्तादेकोत्तरमष्टादशहस्तादिति तुलोत्सेधः।
- (१३) स्तम्भस्य परिक्षेपाः षडायामा द्विगुणो निखातः चूलिकायाश्चतुर्भागः।
- (१४) आदितलस्य प च भागाः शाला वापी सीमाग हं च। दशभागिकै समतवारणौ द्वौ प्रतिम चो अन्तरम् आणिः। हर्म्यं च समुच्छ्रयादर्धतलं स्थूणावबन्धश्च। आर्धवास्तुकमुत्तमागारं त्रिभागान्तरं वा, इष्टकावबद्धपाश्वै, वामतः प्रदक्षिणसोपानं गूढभित्तिसोपानमितरतः।
- (१५) द्विहस्तं तोरणशिरः, त्रिप चभागिकौ द्वौ कवाटयोगौ, द्वौ द्वौ परिधौ, अरत्निरिन्द्रकीलः,

प यहस्तमणिद्वारं, चत्वारो हस्तिपरिधाः।

- (१६) निवेशार्धं हस्तिनखः मुखसमः। संक्रमो संहार्यो वा भूमिमयो वा निरुदके।
- (१७) प्राकारसमं मुखमवस्थाप्य त्रिभागगोधामुखं गोपुरं कारयेत्; प्राकारमध्ये कृत्वा वार्षी भुष्करिणीद्वारं, चतुःशालमध्यर्धान्तराणिकं कुमारीपुरं, मुण्डहर्म्यं द्वितलं मुण्डकद्वारं, भूमिद्रव्यवशेन वा। त्रिभागाधिकायामा भाण्डवाहिनीः कुल्याः कारयेत्।
- (१८) तासु पाषाणकुदालकुठारीकाण्डकल्पनाः।
मुसुण्डिमुद्गरा दण्डचक्रयन्त्रशतघ्नयः।।
कार्याः कार्मारिकाः शूला वेधनाग्राश्च वेणवः।
उष्ट्रग्रीव्यो ग्निसंयोगाः कुप्यकल्पे च यो विधिः।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे दुर्गविधानं नाम त तीयोध्यायः आदितस्त्रयोविंशः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) जनपद-सीमाओं की चारों दिशाओं में राजा युद्धोचित प्राकृतिक दुर्ग का निर्माण करवाये। दुर्ग चार प्रकार के हैं-१. औदक २. पार्वत ३. धान्वन और ४. वनदुर्ग। चारों ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत स्थल प्रदेश **औदकदुर्ग** कहलाता है। बड़ी-बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित दुर्ग **पार्वतदुर्ग** कहलाता है। जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग **धान्वनदुर्ग** है। इसी प्रकार चारों ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा काँटेदार सघन झाड़ियों से परिवृत दुर्ग **वनदुर्ग** कहलाता है। इनमें औदक तथा पार्वतदुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के उपयोग में लाये जाते हैं। धान्वन और वनदुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी होते हैं अथवा आपत्ति के समय इन दुर्गों में भागकर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है।
- (२) राजा को चाहिए कि धनोत्पादन के मुख्य केन्द्र बड़े-बड़े स्थानीय नगर दुर्गों का निर्माण करवाये। वास्तुविद्या के विद्वान् जिस प्रदेश को श्रेष्ठ बतायें, वहीं पर नगर बसाना चाहिए, अथवा किसी नदी के संगम पर, बड़े-बड़े तालाबों के किनारे, या कमलयुक्त जलाशयों के तट पर भी नगर बसाये जा सकते हैं। नगर का निर्माण संबंधित भूमि के अनुसार गोल, लम्बा अथवा चौकोर, जैसा भी उचित हो, होना चाहिए। उसके चारों ओर छोटी-छोटी नहरों द्वारा पानी का प्रबन्ध अवश्य रहे। उसके इधर-उधर की भूमि में पैदा होने वाली बिक्री योग्य वस्तुओं का संग्रह तथा उनके विक्रय का प्रबन्ध भी वहाँ होना चाहिए। नगर में आने-जाने के लिए जलमार्ग और स्थल-मार्ग दोनों की सुविधा होनी चाहिए। नगर के चारों ओर एक-एक दंड की दूरी पर तीन खाइयाँ खुदवानी चाहिए। वे खाइयाँ क्रमशः चौदह, बारह और दस दंड चौड़ी होनी चाहिए। अथवा चौड़ाई का तीसरा हिस्सा गहरी भी हो सकती है। उन खाइयों की तलहटी बराबर चौरस एवं मजबूत पत्थरों से बँधी हो। उनकी दीवारें पत्थर अथवा ईंटों से मजबूत बनी हुई हों। कहीं-कहीं खाइयाँ इतनी कम गहरी हों कि जहाँ से जल बाहर की ओर छलकने लगे अथवा किसी नदी के जल से इन्हें भरा जा सके। उनमें जल के निकलने का मार्ग अवश्य रहना चाहिये। कमल के फूल तथा घड़ियाल आदि जलचर भी उनमें रहें
- (३) खाई से चार दंड की दूरी पर छह दण्ड ऊँचा, सब ओर से मजबूत और ऊपर की चौड़ाई से दुगुनी नीव वाला एक बड़ा वप्र (प्राकार या फसील) बनवाया जाये। इसके बनवाने में वही मिट्टी काम में लाई जाये, जो खाई से खोदकर बाहर फँकी गई है। प्राकार तीन प्रकार का

होना चाहिए-१. ऊर्ध्वचय, २. म चप ष्ट और ३. कुम्भकुक्षिक, अर्थात् क्रमशः ऊपर पतला, नीचे चपटा और बीच में कुम्भाकार। इन प्राकारों को बनवाते समय, इनकी मिट्टी को हाथी और बैलों से अच्छी तरह रौंदवाना चाहिए, जिससे कि मिट्टी बैठकर मजबूत हो जाये। इनके चारों ओर काँटेदार विषैली झाड़ियाँ लगी होनी चाहिए। प्राकार बन जाने पर यदि मिट्टी बची रह जाये तो उसे उन्हीं गड्ढों में भर देना चाहिए, जहाँ से उसको खोदा गया है, अथवा उस अवशिष्ट मिट्टी से, प्राकार के जो छिद्र रह गए हों, उन्हें भरवा देना चाहिए।

- (४) वप्र बन जाने पर उसके ऊपर दीवार बनवानी चाहिए। वह दीवार चौड़ाई से दुगुनी ऊँची हो, कम-से-कम बारह हाथ से लेकर चौदह, सोलह, अठारह सम संख्याओं में, अथवा पन्द्रह, सत्रह आदि विषम संख्याओं में, अधिक-से-अधिक चौबीस हाथ तक ऊँची होनी चाहिए। प्राकार का ऊपरी भाग इतना चौड़ा होना चाहिए जिस पर एक रथ आसानी से चलाया जा सके। ताड़ व क्ष की जड़ के समान, म दंग बाजे के समान, बंदर की खोपड़ी के समान आकार वाले ईंट-पत्थरों की कंकरीटों से अथवा बड़े-बड़े शिलाखंडों से प्राकार का निर्माण करवाना चाहिये। लकड़ी का प्राकार कभी भी नहीं बनवाना चाहिए, क्योंकि उसमें सदा आग लगने का भय बना रहता है।
- (५) प्राकार के आगे एक ऐसी अट्टालिका बनवाये जिसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई प्राकार के बराबर हो। ऊँचाई के अनुपात से उस पर सीढ़ियाँ भी बनवानी चाहियें। ये अट्टालिकार्ये एक-दूसरी से तीस दंड की दूरी पर हों।
- (६) दो अट्टालिकाओं के बीच, चौड़ाई से डेढ़ गुना लम्बा **प्रतोली** नाम का एक घर बनवाना चाहिए, जिसकी दूसरी मंजिल में जनानखाना रहे।
- (७) अट्टालिका और प्रतोली के बीच में इन्द्रकोष नामक एक विशिष्ट स्थान बनवाया जाये। वह इतना ही बड़ा हो जिसमें तीन धनुर्धारी संतरी आसानी से बैठ सकें। उसके आगे छिद्रयुक्त एक ऐसा तख्ता लगा रहना चाहिए, जिससे धनुर्धारी बाहर की वस्तु देख सकें और भीतर से ही निशाना बाँध सकें, किन्तु बाहर के लोग उन्हें न देख सकें।
- (८) प्राकार के साथ ही एक ऐसा देवपथ बनवाना चाहिए जो अट्टालक, प्रतोली तथा इन्द्रकोष के बीच में दो हाथ चौड़ा और प्राकार के पास आठ हाथ चौड़ा हो।
- (९) इसी प्रकार एक दंड या दो दंड की दूरी पर चार्या अर्थात् प्राकार आदि पर चढ़ने उतरने का स्थान बनवाना चाहिये। प्राकार के ऊपर ही जिस स्थान को कोई न देख सके, **प्रधावितिका** तथा उसके पास ही **निष्कुहद्वार** भी बनवाने चाहिए। बाहर से छोड़े गये बाण बादि से सुरक्षित रहने के लिए छिपने योग्य आड़ को **प्रधावितिका** कहते हैं। उसमें निशाना मारने के लिए जो छिद्र बनाया जाता है, उसको **निष्कुहद्वार** कहा जाता है।
- (१०) प्राकार की बाहरी भूमि में शत्रुओं के घुटनों को तोड़ देने वाले खूँटे, त्रिशूल, अँधेरे गड्ढे, लौह-कंटक के ढेर, साँप के काँटे, ताड़पत्रों के समान बने हुए लोहे के जाल, तीन नॉकवाले नुकीले काँटे, कुत्ते की दाढ़ के समान लोहे की तीक्ष्ण कीलें, बड़े-बड़े लट्ठे, कीचड़ से भरे हुए गढ़े, आग और जहरीले पानी के गढ़े आदि बनाकर दुर्ग के मार्ग को पाट देना चाहिये।
- (११) जिस स्थान पर किले का दरवाजा बनवाना हो, वहाँ पहिले प्राकार के दोनों भागों में डेढ़ दण्ड लम्बा-चौड़ा मण्डप बनाया जाये। तदनन्तर उसके ऊपर प्रतोली के समान छह खम्भे खड़े करके द्वार का निर्माण करवाया जाये। द्वार का निर्माण पाँच दंड परिधि से करना चाहिए, और तदनन्तर एक-एक दंड बढ़ाते हुए अधिक से अधिक आठ दंड तक उसकी परिधि होनी चाहिए; अथवा कुछ विद्वानों के मन से दरवाजा दो दंड का हो। या नीचे के आधार के परिणाम से छठा तथा आठवाँ हिस्सा अधिक ऊपर का दरवाजा बनवाया जाये।

- (१२) दरवाजे के खम्भों की ऊँचाई पन्द्रह हाथ से लेकर अठारह हाथ तक होनी चाहिए।
- (१३) खम्भों की मोटाई उसकी ऊँचाई से छठा हिस्सा होनी चाहिए। मोटाई से दुगुना भाग भूमि में गाड़ दिया जावे और चौथाई भाग खम्भे के ऊपर चूल के लिए छोड़ दिया जावे।
- (१४) प्रतोलिका के तीन तल्लों में से पहिले तल्ले के पाँच हिस्से किए जायें। उनमें से बीच के हिस्से में बावड़ी बनवाई जाये, उसके दायें बायें शाला ओर शाला के छोरों पर सीमाग ह बनवाये जायें। शाला के किनारों पर भी आमने-सामने छोटे-छोटे दो चबूतरे बनवायें जायें जिन पर बुर्जे भी हों। शाला और सीमाग ह के बीच में आणि (एक छोटा दरवाजा) होना चाहिए। मकान की दूसरी मंजिल की ऊँचाई पहिली मंजिल की ऊँचाई से आधी होनी चाहिए, उसकी छत के नीचे सहारे के लिए छोटे-छोटे खंभे भी होने चाहिए। मकान की तीसरी मंजिल को **उत्तमागार** कहते हैं, उसकी ऊँचाई डेढ़ दंड होनी चाहिए। उत्तमागार परिमाण द्वारा का त तीयांश होना चाहिए। उसके पार्श्व भाग पक्की ईंटों से मजबूत होने चाहिए। उसकी बाईं ओर घुमावदार सीढियाँ और दाहिनी ओर गुप्त सीढियाँ होनी चाहिए।
- (१५) दुर्ग के दरवाजे का ऊपरी बुर्ज दो हाथ लम्बा होना चाहिए। दोनों फाटक तीन या पाँच तख्तों की पर्त के बने हों। किवाड़ों के पीछे दो-दो अर्गलाएं होनी चाहिए। किवाड़ों को बन्द करने के लिए एक अरत्नी परिमाण (एक हाथ) की इन्द्रकील (चटखनी) होनी चाहिए। फाटक के बीच में पाँच हाथ का एक छोटा सा दरवाजा जुड़ा होना चाहिए। पूरा दरवाजा इतना बड़ा होना चाहिए कि जिसमें चार हाथी एक साथ प्रवेश कर सकें।
- (१६) द्वार की ऊँचाई का आधा, हाथी के नाखून के आकार-प्रकार का, मजबूत लकड़ी का बना हुआ ऐसा मार्ग होना चाहिए जिससे यथा अवसर किले में टहला जा सके। जहाँ जल का अभाव हो वहाँ मिट्टी का ही मार्ग बनवाना चाहिए।
- (१७) प्राकार की ऊँचाई जितना किन्तु उसके त तीयांश जितना, गोह के मुँह के आकार का एक **नगरद्वार** भी बनवाना चाहिए। प्राकार के बीच में एक बावड़ी बनाकर उससे संबद्ध एक द्वार भी बनवाये। उस द्वार को **पुष्करिणी** कहते हैं। जिस दरवाजे के आसपास चार शालाएं बनाई जायें और उस दरवाजे में पुष्करिणी द्वार से ड्योढ़ा दरवाजा लगा हो। उसका नाम **कुमारीपुरद्वार** है। जो दरवाजा दुर्मंजिला हो एवं जिस पर कंगूरे आदि न लगे हों, उसे **मुण्डकद्वार** कहते हैं। इस प्रकार राजा अपनी भूमि और संपत्ति के अनुसार जैसा उचित समझे, कुछ परिवर्तन करके दरवाजे को बनवाये। दुर्ग के अन्दर की नहरें सामान्य नहरों से तिगुनी चौड़ी बनवायें, जिनके द्वारा हर प्रकार का सामान अन्दर और बाहर ले जाया-लाया जा सके।
- (१८) पत्थर, कुदाली, कुल्हाड़ी, बाण, हाथियों का सामान, गदा, मुद्गर, लाठी, चक्र, मशीनें, तोपों, लोहारों के औजार, लोहे का बना सामान, नुकीले भाले, बांस, ऊँट की गर्दन के आकार वाले हथियार, अग्निबाण आदि सामान नहर के द्वारा लाया और ले जाया जाता है।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में तीसरा अध्याय समाप्त।

अध्याय ४

दुर्गनिवेशः

- (१) त्रयः प्राचीना राजमार्गास्त्रय उदीचीना इति वास्तुविभागः। स द्वादशद्वारो युक्तोदकभूमिच्छन्नपथः।
- (२) चतुर्दण्डान्तरा स्थ्याः। राजमार्गद्वोणमुखस्थानीयराष्ट्रविवीतपथाः संयानीयव्यूहश्मशान-ग्रामपथाश्चाष्टदण्डाः। चतुर्दण्डः सेतुवनपथः। द्विदण्डो हस्तिक्षेत्रेपथः। प चारत्नयो रथपथश्चत्वारः पशुपथो द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्यपथः।
- (३) प्रवीरे वास्तुनि राजनिवेशश्चातुर्वर्ण्यसमाजीवे। वास्तुहृदयादुत्तरे नवभागे यथाक्तविधानमन्तःपुरं प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा कारयेत्। तस्य पूर्वोत्तरं भागमाचार्यपुरोहितेज्यातोयस्थानं मन्त्रिणश्चावसेयुः। पूर्वदक्षिणं भागं महानसं हस्तिशाला कोष्ठागारं च। ततः पर गन्धमाल्यधान्यरसपण्याः प्रधानकारवः क्षत्रियाश्च। पूर्वा दिशमधिवसेयुः। दक्षिणपूर्व भागं भाण्डांगारमक्षपटल कर्मनिष्ठाश्च दक्षिणपश्चिमं भागं कुप्यग हमायुधागारं च। ततः परं नगरधान्यव्यावहारिककार्मान्तिकबलाध्यक्षाः। पक्वान्नसुरामांसपण्याः रूपाजीवास्तालावचरा वैश्याश्च दक्षिणां दिशमधिवसेयुः पश्चिमदक्षिणं भागं खरोष्ट्रगुप्तिस्थानं कर्मग हं च। पश्चिमोत्तरं भागं वानरथशालाः। ततः परं ऊर्णासूत्रवेणुचर्मवर्मशस्त्रावरणकारवः शूद्राश्च पश्चिमां दिशमधिवसेयुः। उत्तरपश्चिमं भागं पण्यमैषज्यग हम्, उत्तरपूर्व भागं कोशो गवाश्वं च। ततः परं नगरराजदेवतालोहमणिकारवो ब्राह्मणाश्चोत्तरां दिशमधिवसेयुः। वास्तुच्छिद्रानुलासेषु श्रेणीप्रवहणिकनिकाया आवसेयुः।
- (४) अपराजिताप्रतिहतजयन्तवैजयन्तकोष्ठकान् शिववैश्रवणाशिवश्रीमदिराग हं च पुरमध्ये कारयेत्। कोष्ठकालयेषु यथोद्देशं वास्तुदेवताः स्थापयेत्। ब्राह्मैन्द्रमाम्यसैनापत्यानि द्वाराणि। बहिः परिखायाः धनुश्शतावकृष्टाश्चैत्यपुण्यस्थानवनसेतुबन्धाः। कार्याः, यथादिशं च दिग्देवताः।
- (५) उत्तरः पूर्वो वा श्मशानवाटः, दक्षिणेन वर्णोत्तमानाम्। तस्याविक्रमे पूर्वः साहसदण्डः।
- (६) पाषण्डचण्डालानां श्मशानान्ते वासः।
- (७) कर्मान्तक्षेत्रवशेन वा कुटुम्बिनां सीमानं स्थापयेत्। तेषु पुष्पफलवाटषण्डकेदारान्धान्यपण्यनिचयांश्चानुज्ञाताः कुर्युः, दशकुलीवाटं कूपस्थानम्। सर्वस्नेहधन्याक्षारलवणमैषज्यशुष्कशाकयवसवल्लूरत णकाष्ठलोहचर्माङ्गारस्नायुविषविषाण-वेणुवल्कलसारदारुप्रहरणावर्णाश्मनिचयाननेकवर्षोपभोगसहान् कारयेत्। नवेनानवं शोधयेत्।
- (८) हस्त्यश्वरथपादातमनेकमुख्यमवस्थापयेत्। अनेकमुख्यं हि परस्परभयात् परोपजापं नोपैतीति।
- (९) एतेनान्तपालदुर्गसंस्कारा व्याख्याताः।
- (१०) न च बाहिरिकान्कुर्यात्पुरराष्ट्रोपघातकान्।
क्षिपेज्जनपदस्यान्ते सर्वान्वादापयेत्करान्।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे दुर्गनिवेशश्चतुर्थोऽध्यायः आदितश्चतुर्विंशः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) वास्तुविद्याविशेषज्ञों के निर्देशानुसार जिस भूमि को नगर-निर्माण के लिए चुना जाये उसमें

पूरब से पश्चिम की ओर और उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले तीन-तीन राजमार्ग हों। इन छह राजमार्गों में नगर-निर्माण या ग ह-निर्माण की भूमि का विभाग करना चाहिए। चारों दिशाओं में कुल मिलाकर बारह द्वार हों, जिसमें जल, थल तथा गुप्त मार्ग बने हों।

- (२) नगर में चार दण्ड (२४ फीट) चौड़ी रथ्याएँ (छोटी गलियों) हों। राजमार्ग, द्रोणमुख, स्थानीय राष्ट्र, चरागाह, संयानीय (व्यापारी मंडियां), सैनिक छावनियाँ, श्मशान और गाँवों की ओर जाने वाली सभी सड़कों की चौड़ाई आठ दण्ड (१६ गज) होनी चाहिए। जलाशयों तथा जंगलों की ओर जाने वाली सड़कों की चौड़ाई चार दंड होनी चाहिये। हाथियों के आने जाने का मार्ग और खेतों को जाने वाला रास्ता दो दंड चौड़ा होना चाहिये। रथों के लिए पाँच अरत्नि (ढाई गज) और पशुओं के चलने का रास्ता दो गज चौड़ा होना चाहिए। मनुष्य तथा भेड़-बगरी आदि छोटे पशुओं के लिए एक गज चौड़ा रास्ता होना चाहिये।
- (३) नगर के सुद द्भूमिभाग में राजभवनों का निर्माण कराना चाहिये; साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यह भूमि चारों वर्णों की आजीविका के लिए उपयोगी हो। ग ह-भूमि के बीच से उत्तर की ओर नवें हिस्से में, निशांत-प्रणिधि प्रकरण में निर्दिष्ट नियमों के अनुसार, अंतःपुर का निर्माण कराना चाहिये, जिसका द्वार पूरब या पश्चिम की ओर हो। अन्तःपुर के पूर्वोत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित के भवन, यज्ञशाला, जलाशय और मंत्रियों के भवन बनवाये जायें। अन्तःपुर के पूर्व-दक्षिण भाग में महानस (रसोईघर), हस्तिशाला और कोष्ठागार हों। उसके आगे पूरब दिशा में द्रव, तेल, पुष्पहार, अन्न, घी, तेल की दुकानें और प्रधान कारीगरों एवं क्षत्रियों के निवासस्थान होने चाहिए। दक्षिण-पूरब में भंडागार, राजकीय पदार्थों के आय-व्यय का स्थान और सोने-चाँदी की दुकानें होनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम दिशा में शस्त्रागार तथा सोने-चाँदी के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को रखने का स्थान होना चाहिये। उससे आगे, दक्षिण दिशा में नगराध्यक्ष, धान्याध्यक्ष, व्यापराध्यक्ष, खदानों तथा कारखानों के निरीक्षक, सेनाध्यक्ष, भोजनालय, शराब एवं मांस की दुकानें, वेश्या, नट और वैश्य आदि के निवासस्थान होने चाहिये। पश्चिम-दक्षिण भाग में ऊँटों एवं गधों के गुप्ति-स्थान (तबेले) तथा उनके व्यापार के लिए एक अस्थायी घर बनवाया जाये। पश्चिम-उत्तर की ओर रथ तथा पालकी आदि सवारियों को रखने के स्थान होने चाहिए। उसके आगे, पश्चिम दिशा में ही ऊन, सूत, बाँस और चमड़े का कार्य करने वाले, हथियार और उनके स्थान बनवाने वाले और शूद्र लोगों को बसाया जाना चाहिये। उत्तर-पश्चिम में राजकीय पदार्थों को बेचने-खरीदने का बाजार औषधालय होने चाहिए। उत्तर-पूरब में कोषग ह और गाय, बैल तथा घोड़ों के स्थान बनवाने चाहिए। उसके आगे, उत्तर दिशा की ओर नगरदेवता, कुलदेवता, लुहार, मनिहार और ब्राह्मणों के स्थान बनवाये जायें। नगर के ओर-छोर जहाँ खाली जगह छूटी है, धोबी, दर्जी, जुलाहे और विदेशी व्यापारियों को बसाया जाये।
- (४) दुर्गा, विष्णु, जयंत, इन्द्र, शिव, वरुण, अश्विनीकुमार, लक्ष्मी और मदिरा, इन देवताओं की स्थापना नगर के बीच में करनी चाहिये। कोष्ठागार आदि में भी कुलदेवता या नगरदेवता की स्थापना करनी चाहिये। प्रत्येक दिशा में मुख्य द्वार पर उसके अधिष्ठाता देवता की स्थापना की जाये। उत्तर का देवता ब्रह्मा, पूर्व का इन्द्र, दक्षिण का यम और पश्चिम का सेनापति (कुमार) होता है। नगर की परिखा से बाहर दो-सौ गज की दूरी पर चैत्य, पुण्यस्थान, उपवन और सेतुबंध आदि स्थानों की रचना और यथास्थान दिग्देवताओं की भी स्थापना की जाये।
- (५) नगर के उत्तर या पूरब में श्मशान होना चाहिए। दक्षिण दिशा में छोटी जाति वाले लोगों का श्मशान होना चाहिए। जो भी इस नियम का उल्लंघन करे उसे प्रथम साहस-दण्ड दिया जाये।

- (६) कापालिकों और चाण्डालों का निवास स्थान श्मशानों के ही समीप बनवाया जाये।
- (७) नगर में बसने वाले परिवारों को उनके अध्यक्षों तथा उनके योग्य भूमि की गुंजायश देखकर ही, बसाया जाये। उन खेतों में फूल, फल, साग-सब्जी, कमल आदि की क्यारियाँ बनाई जायें। राजा तथा राजपुरुषों की आज्ञा प्राप्त कर उनमें अनाज तथा विक्रय योग्य वस्तुएँ पैदा की जायें। दशकुलीबाड़ (बीस हलों से जोती जाने वाली भूमि) के बीज सिंचाई के लिए एक कुआँ होना चाहिए। घी, तेल, इत्र, क्षार, नमक, दवा, सूखे साक, भूसा, सूखा मांस, घास, लकड़ी, लोहा, चमड़ा, कोयला, ताँत, विष, सींग, बाँस, छाल, चन्दन या देवदार की लकड़ी, हथियार, कवच और पत्थर, इन सभी वस्तुओं को दुर्ग के अन्दर इतनी तादाद में जमा होना चाहिए कि कई वर्षों तक उपयोग में लाने के लिए पर्याप्त हों। उनमें पुरानी वस्तु की जगह नई वस्तु रख देनी चाहिये।
- (८) हाथी, घोड़े, रथ और पैदल इन चारों प्रकार की सेनाओं को अनेक सुयोग्य सेनाध्यक्षों के संरक्षण में रखा जाना चाहिये। क्योंकि अनेक सेनाध्यक्षों की नियुक्ति से पहला लाभ तो यह है कि पारस्परिक भय के कारण वे शत्रु में जाकर नहीं मिल पाते और दूसरा लाभ यह है कि एक अध्यक्ष के फूट जाने पर दूसरा अध्यक्ष कार्य संभाल सकता है।
- (९) इन नगरदुर्गों के निर्माण के नियमों के अनुसार ही जनपद की सीमा के दुर्गों और उनके प्रबन्ध का विधान समझ लेना चाहिये।
- (१०) राजा को चाहिए कि वह नगर में ऐसे लोगों को न बसने दें, जिनके कारण राष्ट्र तथा नगर का नैतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय स्तर गिरता हो। यदि इनको बसाना ही हो तो सीमा-प्रान्त में बसाया जाये और उनसे राज्यकर वसूल किया जाये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में चौथा अध्याय समाप्त।

अध्याय ५

सन्निधात निचयकर्म

- (१) सन्निधाता कोशग हं पण्यग हं कोष्ठागारं कुप्यग हमायुधागारं बन्धनागारं च कारयेत्।
- (२) चतुरश्रां वापीमनुदकोपस्नेहां खानयित्वा प थुशिलाभिरुभयतः पार्श्वं मूलं च प्रचित्य सारदारुप जरं भूमिसमत्रितलमनेकविधानं कुट्टिमदेशस्थानतलमेकद्वारं यन्त्रयुक्तसोपानं देवतापिधानं भूमिग हं कारयेत्। तस्योपर्युभयतोनिषेधं सप्रग्रीवमैष्टकं भाण्डवाहिनीपरिक्षिप्तं कोशग हं कारयेत्, प्रासादं वा। जनपदान्ते ध्रुवनिधिमापदथऋमभित्यक्तैः पुरुषैः कारयेत्।
- (३) पक्वेष्टकास्तम्भं चतुःशालमेकद्वारमनेकस्थानतलं विव तस्तम्भापसारमुभयतः पण्यग हं, कोष्ठागारं च, दीर्घबहुलशालं कक्ष्याव तकुड्यमन्तः कुप्यग हं, तदेव भूमिग ह्युक्तमायुधागारं, प थग।
- (४) धर्मस्थीयं महामात्रीयं विभक्तस्त्रीपुरुषस्थानमपसारतः सुगुप्तकक्ष्यं बन्धनागारं कारयेत्।
- (५) सर्वेषां शालाखातोदपानवच्च स्नानग हाग्निविषत्राणमार्जारनकुलारक्षाः स्वदैवपूजनयुक्ताः कारयेत्।
- (६) कोष्ठागारे वर्षमानमरत्निमुखं कुण्डं स्थापयेत्।
- (७) तज्जातकरणाधिष्ठितः पुराणं नवं च रत्नं सारं फल्गु कुप्य वा प्रतिग ह्णीयात्। तत्र रत्नोपधावुत्तमो दण्डः कर्तः कारयितुश्च, सारोपधौ मध्यमः, फल्गुकुप्योपधौ तच्च तावच्च दण्डः।
- (८) रूपदर्शकविशुद्धं हिरण्यं प्रतिग ह्णीयाद्, अशुद्धं छेदयेत्। आहर्तुः पूर्वः साहसदण्डः।
- (९) शुद्धं पूर्णमभिनवं च धान्यं प्रतिग ह्णीयात्। विपर्यये मूलद्विगुणो दण्डः।
- (१०) तेन पण्यं कुप्यमायुधं च व्याख्यातम्।
- (११) सर्वाधिकरणेषु युक्तोपयुक्ततत्पुरुषाणां पण्डिपणचतुष्पणाः, परमपहारेषु पूर्वमध्यमोत्तमवधा दण्डाः।
- (१२) कोशाधिष्ठितस्य कोशावच्छेदे घातः। तद्वैवाद त्यकाराणामर्धदण्डः। परिभाषणमविज्ञाते। चोराणामभिप्रघर्षणे चित्रो घातः।
- (१३) तस्मादाप्तपुरुषाधिष्ठितः सन्निधाता निचयावनुतिष्ठेत्।
- (१४) बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षशतादपि।
यथा प ष्ठो न सज्येत व्यवशेषं च दर्शयेत्।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे सन्निधात निचयकर्म प चमो ध्यायः आदितः प चर्विंशः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) को चाहिए कि वह कोषग ह, द श्यग ह, कोष्ठागार, पण्यग ह, शस्त्रागार और कारागार का निर्माण करवाये।
- (२) सीलरहित स्थान में बावड़ी के समान एक चौरस गड्ढा खुदवाकर चारों ओर से उसकी दीवारों और फर्श को मोटी मजबूत शिलाओं से चुनवाना चाहिए। उसके बीच में मजबूत

लकड़ियों से बने हुए पिंजरे के समान अनेक कोठरियाँ हों; उसमें तीन मंजिलें हों; तीनों मंजिलों में बढ़िया दरवाजे तथा सुन्दर फर्श हों; ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने के लिए उसमें लिफ्ट लगा हो, उसके दरवाजों पर देवताओं की मूर्तियाँ अंकित हों, इस प्रकार का एक भूमिग ह (अण्डरग्राउण्ड) बनवाना चाहिए। उस भूमिग ह के ऊपर एक कोषग ह बनवाना चाहिए, उस पर भीतर-बाहर से बन्द की जाने वाली अर्गलाएं हों, एक बरामदा हो, पक्की ईंटों से उसको बनाया गया हो, एवं वह चारों ओर अनेक पदार्थों से भरे हुए मकानों से घिरा हो। जनपद के मध्यभाग में प्राणदण्ड पाये पुरुषों के द्वारा, आपत्ति में काम आने वाला एक धुवनिधि (गुप्त खजाना) बनवाना चाहिए।

- (३) पक्की ईंटों से चुना हुआ, चार भवनों से परिवे त, एक दरवाजे वाला अनेक कक्षों वाला एवं मंजिलों से युक्त और चारों ओर खुले हुए खम्भों वाले चबूतरे से घिरा हुआ पण्यग ह (विक्रेय वस्तुओं को रखने का घर) तथा कोष्ठागार (कोठार) बनवाना चाहिए।
अनेक लम्बे दालानों से युक्त, चारों ओर अनेक कोठरियों से घिरी हुई दीवारों वाला, भीतर की ओर कुप्यग ह बनवाना चाहिए। उसी में एक तहखाना बनवाकर शस्त्रागार बनवाया जाये।
- (४) धर्मस्थ (न्यायाधीश) और महायाम (समाहर्ता आदि) से सजा पाये हुये लोगों को काराग ह में रखना चाहिये। काराग ह में स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग स्थान होने चाहिए। उसके बहिर्भाग तथा चारों ओर की अच्छी तरह रक्षा होनी चाहिए।
- (५) उक्त सभी कोषग ह आदि स्थानों में शाला, परिखा और कूओं की तरह स्नानागार भी बनवाने चाहिए। अग्नि और विष से भी उनकी रक्षा की जानी चाहिए। विष की रक्षा के लिए बिल्ली और नेवला आदि को पालना चाहिए। इन स्थानों की भलीभाँति रक्षा की जानी चाहिए। उनके अधिष्ठित देवताओं जैसे, कोषग ह का कुबेर, पण्यग ह तथा कोष्ठागार की श्री, कुप्यग ह का विश्वकर्मा, शस्त्रागार का यम और बन्दीग ह का वरुण आदि की पूजा करवानी चाहिए।
- (६) वर्षाजल को मापने के लिए कोष्ठागार में एक ऐसा कुण्ड बनवाया जाना चाहिए जिसके मुँह का घेरा एक अरत्ति (चौबीस अंगुल) हो।
- (७) कोष्ठागाराध्यक्ष, प्रत्येक वस्तु के विशेषज्ञों की सहायता से नये ओर पुराने का भेद समझकर रत्न, चन्दन, वस्त्र, लकड़ी, चमड़ा, बाँस आदि उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करे। यदि कोई व्यक्ति असली रत्न की जगह नकली रत्न दे और छल से असली रत्न का अपहरण कर ले जाये तो अपहरण करने वाले और कराने वाले, दोनों को उत्तम साहसदंड दिया जाये। चन्दन आदि वस्तुओं में कपट करने पर मध्यम साहसदंड दिया जाना चाहिए। वस्त्र, लकड़ी और चमड़ा जैसे पदार्थों में छल करने वाले व्यक्ति से वैसी ही दूसरी वस्तु ले ली जाये या उसका मूल्य ले लिया जाये और उतना ही उससे दण्डरूप में वसूल कर लिया जाये।
- (८) सिक्कों के पारखी पुरुषों द्वारा स्वर्णमुद्रा का संग्रह किया जाना चाहिए। सिक्कों में से जो नकली मालूम हो उसको तत्काल ही काट दिया जाये, जिससे उसको व्यवहार में न लाया जा सके। नकली सिक्कों को लाने वाले पुरुष भी प्रथम साहसदण्ड के अपराधी हैं।
- (९) धान्याधिकारी पुरुष को चाहिए कि वह शुद्ध, पूरा तथा नया अन्न ले। यदि वह ऐसा न करे तो उससे दुगुना दण्ड वसूल किया जाये।
- (१०) इसी प्रकार पण्य, कुप्य और आयुध के सम्बन्ध में भी नियम समझने चाहिए।
- (११) प्रत्येक अधिकारी पुरुष को, उसके सहकारियों को तथा उन दोनों के बीच काम करने वाले पुरुषों को, पहली बार किसी वस्तु का अपहरण करने पर क्रमशः एक पण, दो पण और चार पण का दण्ड दिया जाना चाहिए। यदि वे फिर भी अपहरण करें तो क्रमानुसार उन्हें प्रथम

साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए। इस पर भी वे न मानें तो उन्हें प्राणदण्ड दिया जाये।

- (१२) कोषाध्यक्ष यदि सुरंग आदि उपाय से कोष का अपहरण करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाये। इसमें अधीनस्थ लोगों को उसका आधा दण्ड दिया जाये। यदि कोष का अपहरण करने में अधीनस्थ लोगों का हाथ न हो तो उन्हें दण्ड न दिया जाये। केवल उनकी निंदा तथा उपहास कर उनको दुत्कारा जाये। यदि चोर सेंध लगाकर चोरी करे तो उन्हें चित्रवध का दण्ड दिया जाये।
- (१३) इसलिए कोषाध्यक्ष को चाहिए कि विश्वासी पुरुषों के सहयोग से ही वह धन-संग्रह आदि का कार्य करे।
- (१४) कोषाध्यक्ष को चाहिए कि वह जनपद तथा नगर से होने वाली आय को अच्छी तरह से जाने। इस सम्बन्ध में उसे इतनी जानकारी होनी चाहिए कि यदि उससे सौ वर्ष पीछे की आय का लेखा-जोखा पूछा जाये तो तत्काल ही वह उसकी समुचित जानकारी दे सके। बचे हुए धन को वह सदा कोष में दिखाता रहे।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में सन्निधात निचयकर्म नामक पाँचवां अध्याय समाप्त।

अध्याय ६

समाहर्त समुदयप्रस्थापनम्

- (१) समाहर्ता दुर्ग राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।
- (२) शुल्कं दण्डः पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं घ तं क्षारः सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारवाहिरिकादेयं च दुर्गम्।
- (३) सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावः पट्टनं विवीतं वर्तनी रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम्।
- (४) सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ता-प्रवालशङ्ख-लोहलवणभूमि-प्रस्तररसधातवः खनिः।
- (५) पुष्पफलवाटषण्डकेदारमूलवापाः सेतुः।
- (६) पशुम गद्रव्यहस्तिवनपरिग्रहो वनम्।
- (७) गोमहिषमजाविकं खरोष्ट्रमश्वाश्वतराश्च व्रजः।
- (८) स्थलपथो वारिपथश्च वणिक्पथः।
- (९) इत्यायशरीरम्। मूलं भागो व्याजी परिधः क्ल प्तं रूपिकमत्ययश्चायमुखम्।
- (१०) देवपित पूजादानार्थं स्वस्तिवाचनमन्तःपुरं महानसं दूतप्रावर्तिमं कोष्ठागारमायुधागारं पण्यग हं कुप्यग हं कर्मान्तो विष्टिः पत्यश्वरथद्विप-परिग्रही गोमण्डलं पशुम गपक्षिव्यालवाटाः, काष्ठत णवाटश्चेति व्यय-शरीरम्।
- (११) राजवर्ष मासः पक्षो दिवसश्च व्युष्टम्। वर्षाहेमन्तग्रीष्माणां त तीयसप्तमा दिवसोनाः पक्षाः, शेषाः पूर्णाः। प थगधिमासक इति कालः।
- (१२) करणीयं सिद्धं शेषमायव्ययौ नीवी च।
- (१३) संस्थानं प्रचारः शरीरावस्थापनमादानं सर्वसमुदयपिण्डः स जातमेतत्करणीयम्।
- (१४) कोशापितं राजहरः पुरव्ययश्च पुरव्ययश्च प्रविष्टं, परमसंवत्सरानुव त्तं शासनमुक्तं मुखाज्ञप्तं चापातनीयम्, एतत्सिद्धम्।
- (१५) सिद्धिप्रकर्मयोगः दण्डशेषमाहरणीयं, बलात्कृतप्रतिस्तब्धमवस ष्टं च प्रशोध्यम्, ऐतच्छेषमसारमल्पसारं च।
- (१६) वर्तमानः पर्युषितो न्यजातश्चायः। दिवसानुव तो वर्तमानः। परमसांवत्सरिकः परप्रचारसंक्रान्तो वा पर्युषितः। नष्टप्रस्म तमायुक्तदण्डः पार्श्वं पारिहीणिकमौपायनिकं डमरगतकस्वमपुत्रकं निधिश्चान्यजातः। विक्षेपव्याधितान्तरारम्भशेषश्च। व्ययप्रत्यायः। विक्रये पण्यानामर्घव द्विरुपजा मानोन्मानविशेषो व्याजी क्रयसङ्घर्षे वा व द्विरित्यायः।
- (१७) नित्यो नित्योत्पादिको लाभो लाभोत्पादिक इति व्ययः। दिवसानुव तो नित्यः। पक्षमासंवत्सरलाभो लाभः। तयोरुत्पन्नो नित्योत्पादिको लाभोत्पादिक इति।
- (१८) व्ययस जातादायव्ययविशुद्धा नीवी प्राप्ता चानुव ता चेति।
- (१९) एवं कुर्यात्समुदयं व द्विं चास्य दर्शयेत्।

हासं व्ययस्य च प्राज्ञः साधयेच्च विपर्ययम्।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे समाहर्त समुदयप्रस्थापनं षष्ठो ध्यायः आदितः षड्विंशः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) समाहर्ता (कलक्टर जनरल) को चाहिए कि वह १. दुर्ग, २. राष्ट्र, ३. खनि, ४. सेतु, ५. वन, ६. व्रज और ७, व्यापार सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करे।
- (२) **दुर्ग** : शुल्क, दण्ड, पौतव, नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष (पटवारी, कानूनगो, अमीन), मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, तेल-घी आदि का विक्रेता, सुवर्णाध्यक्ष, दुकान, वेश्या, द्यूत, वास्तुकार, बढई, लुहार, सुनार, मन्दिरों के निरीक्षक, द्वारपाल और नट-नर्तक आदि से लिया जाने वाला धन **दुर्ग** कहलाता है।
- (३) **राष्ट्र** : सीता, भाग, बलि, कर, वणिक, नदीपालस्तर, नाव का कर, पट्टन, विंवीत, वर्तनी, रज्जू और चोर रज्जू (चोरों को पकड़ने के लिये ग्रामवासियों से मिला धन) आदि आय के साधन **राष्ट्र** नाम से कहे जाते हैं।
- (४) **खनि** : सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूँगा, शंख, लोहा, लवण, भूमि, पत्थर और खनिज पदार्थ **खनि** कहे जाते हैं।
- (५) **सेतु** : फूल, फल, केला, सुपारी, अन्न के खेत, अदरख और हल्दी के खेत इन सबको **सेतु** कहा जाता है।
- (६) **वन** : हरिण आदि पशु, लकड़ी आदि द्रव्य और हाथियों के जंगल को **वन** कहा जाता है।
- (७) **व्रज** : गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, घोड़ा, खच्चर और जानवर **व्रज** नाम से कहे जाते हैं, क्योंकि वे अपने गोष्ठ में रहते हैं।
- (८) **वणिकपथ** : स्थलमार्ग और जलमार्ग, व्यापार के इन दो मार्गों को **वणिकपथ** कहा जाता है।
- (९) ये सभी आमदनी के साधन हैं। इनके अतिरिक्त मूल (अनाज, साग, सब्जी आदि को बेचकर एकत्र किया गया धन), भाग (पैदावार का षष्ठांश), ब्याजी, परिघ, क्ल प्त, रूपिक, अत्यय आदि भी आमदनी के साधन हैं।
- (१०) देवपूजा, पित पूजा, दान, स्वस्तिवाचन आदि धार्मिक कृत्य, अन्तःपुर, रसोईघर, दूत प्रेषण, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्यग्रह, कुप्यग ह का व्यय कर्मान्त, विष्टि, पैदल, हाथी, घोड़ा तथा रथ आदि चारों प्रकार के सेना-संग्रह का व्यय, गाय, भैंस, बकरी आदि उपयोगी पशुओं का व्यय, हरिण, पक्षी तथा अन्य हिंसक जंगली जानवरों की रक्षा के लिए किया गया व्यय और स्थान, लकड़ी, घास आदि के जंगलों की सुरक्षा के लिए किया गया व्यय, ये सभी व्यय के स्थान कहलाते हैं।
- (११) राजा के राज्याभिषेक के बाद, उसके प्रत्येक कार्य में 'व्युष्ट' नाम से कहे जाने वाले वर्ष, मास, पक्ष और दिन इन चारों बातों का उल्लेख होना चाहिये, राजवर्ष के तीन विभाग हैं : १. वर्षा, २. हेमन्त और ३. ग्रीष्म, इन तीनों विभागों में प्रत्येक के आठ-आठ पक्ष होते हैं। प्रत्येक पक्ष पन्द्रह दिन का होता है, प्रत्येक ऋतु के तीसरे तथा सातवें पक्ष में एक-एक दिन कम माना जाये, शेष छहों पक्ष पन्द्रह-पन्द्रह दिन के माने जायें, इसके अतिरिक्त एक अधिमास भी माना जाये, यही काल-विभाजन राजकीय कार्यों में प्रयुक्त किया जाना चाहिये।
- (१२) समाहर्ता को चाहिए कि वह करणीय, सिद्ध, शेष, आय, व्यय तथा नीवी आदि कार्यों को उचित रीति से सम्पन्न करे।
- (१३) करणीय ६ प्रकार का होता है १. संस्थान २. प्रचार ३. शरीरावस्थान ४. आदान ५. सर्वसमुदयपिण्ड और ६. संजात।
- (१४) सिद्ध भी ६ प्रकार का होता है १. कोशार्पित २. राजहार ३. पुरव्यय ४. परसंवत्सरानुव त्त ५. शासनमुक्त और ६. मुखाज्ञप्त।

- (१५) शेष के भी ६ भेद हैं १. सिद्धप्रकर्मयोग २. दण्डशेष ३. बलात्कृत प्रतिस्तब्ध ४. अवसष्ट ५. असार और ६. अल्पसार।
- (१६) आय तीन प्रकार की है १. वर्तमान, २. पर्युषित और ३. अन्यजात। प्रतिदिन की आमदनी को 'वर्तमान' आय कहा जाता है, पिछले वर्ष का बकाया अथवा शत्रुदेश से प्राप्त धन 'पर्युषित' आय है, भूले हुए धन की स्मृति, अपराध-स्वरूप प्राप्त धन, कर के अतिरिक्त अन्य उपायों या प्रभुत्व से प्राप्त धन, काजी-हाउस से प्राप्त धन, भेटस्वरूप प्राप्त धन, शत्रुसेना से अपहृत धन और लावारिस का धन 'अन्यजात' आय कहलाती है। इसके अतिरिक्त सैनिक खर्च से बचा हुआ धन, स्वास्थ्य विभाग के व्यय से बचा हुआ धन और इमारतों के बनवाने से बचा हुआ धन 'व्ययप्रत्याय' कहलाता है। यह भी एक प्रकार की आय है। बिक्री के समय वस्तुओं की कीमत बढ़ जाने से, निषिद्ध वस्तुओं के बेचने से, बाट-तराजू आदि की बेईमानी से तथा खरीदारों की प्रतिस्पर्धा से प्राप्त धन भी आमदनी का धन है।
- (१७) व्यय चार प्रकार का होता है : १. नित्य २. नित्योत्पादिक ३. लाभ और ४. लाभोत्पादिक। प्रतिदिन के नियमित व्यय को 'नित्य' व्यय कहते हैं। पाक्षिक, मासिक तथा वार्षिक आय के लिए व्यय किया गया धन 'लाभ' कहलाता है। नित्य तथ लाभ नामक व्यय से अधिक खर्च हो जाने वाले धन को क्रमशः 'नित्योत्पादिक' तथा 'लाभोत्पादिक' कहा जाता है।
- (१८) सब तरह के आय-व्यय का भली-भाँति हिसाब करके भी बचत रूप में निकलने वाला धन 'नीवी' कहलाता है, जो दो प्रकार का होता है १. प्राप्त और २. अनुवत्त। प्राप्त वह, जो खजाने में जमा हो और अनुवत्त वह, जो खजाने में जमा किया जाने वाला हो।
- (१९) समाहर्ता को चाहिए कि वह ऊपर निर्दिष्ट विधियों, साधनों एवं मार्गों से राजकीय धन का संग्रह करे और आय-व्यय में बचत-हानि का लेखा-जोखा ठीक रखे। यदि किसी अवस्था में भविष्य की विशेष आय की आशा में पहिले अधिक व्यय भी करना पड़े तो वैसा करके आय को बढ़ाये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में समाहृत समुदयप्रस्थापन नामक छठा अध्याय समाप्त।

अध्याय ७

अक्षपटले गाणनिक्याधिकारः

- (१) अक्षपटलमध्यक्षः प्राङ्मुखं वा विभक्तोपस्थानं निबन्धपुस्तकस्थानं कारयेत्।
- (२) तत्राधिकरणानां संख्याप्रचारस जाताग्रं, कर्मान्तानां द्रव्यप्रयोगे व द्विक्षयव्ययप्रयामव्याजी-योगस्थानवेतनविष्टिप्रमाणं, रत्नसारफल्गुकुप्यानामतर्घप्रतिवर्णकप्रतिमानमानोन्मानभाण्डं, देशग्रामजातिकुलसङ्घानां धर्मव्यवहारचारित्रसंस्थानं, राजोपजीविनां प्रग्रहप्रदेशभोगपरिहार-भक्तवेतनलाभं, राज्ञश्च पत्नीपुत्राणां रत्नभूमिलाभं निर्देशौत्पादिकप्रतीकारलाभं, निमित्त्रामित्राणां च सन्धिविक्रमप्रदानादानं निबन्धपुस्तकस्थं कारयेत्।
- (३) ततः सर्वाधिकरणानां करणीयं सिद्धं शेषमायव्ययौ नीवीं उपस्थानं प्रचारचरित्रसंस्थानं च निबन्धेन प्रयच्छेत्। उत्तममध्यमावरेषु च कर्मसु तज्जातिकमध्यक्षं कुर्यात्। सामुदायिकेष्वक्ल प्तिकं यमुपहत्य न राजानुत्पेत्।
- (४) संग्रहाणिः प्रतिभुवः कर्मोपजीविनः पुत्रा आतरो भार्या दुहितरो भत्याश्वास्य कर्मच्छेदं वहेयुः।
- (५) त्रिशतं चतुःप चाशच्चाहोरात्राणां कर्मसंवत्सरः। तमाषाढीपर्यवसानमूनं पूर्णं वा दद्यात्। करणाधिष्ठितमधिमासकं कुर्यात्। अपसर्पाधिष्ठितं च प्रचारम्। प्रचारचरित्रसंस्थानान्यनुपलभमानो हि प्रकृतः समुदयमज्ञानेन परिहापयति। उत्थानक्लेशासहत्वादास्येन, शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु प्रमादेन, संक्रोशाधर्मानर्थभीरुर्भयेन, कार्यार्थिष्वनुग्रहबुद्धिः कामेन हिंसाबुद्धिः कोपेन, विद्याद्रव्यवल्लभापाश्रयाद् दर्पेण, तुलामानतर्कगणिकान्तरोपधानात् लोभेन।
- (६) तेषामानुपूर्व्या यावानर्थोपघातः तावानेकोत्तरो दण्ड इति मानवाः। सर्वत्राष्टगुण इति पाराशराः। दशगुण इति बार्हस्पत्याः। विंशतिगुण इत्यौशनसाः। यथापराधमिति कौटिल्यः।
- (७) गाणनिक्यान्याषाढीमागच्छेयुः। आगतानां समुद्रपुस्तभाण्डनीवीकानामेकत्रासम्भाषावरोधं कारयेत्। आयव्ययनीवीनामग्राणि श्रुत्वा नीमीमवहारयेत्। यच्चाग्रादायस्यान्तरवर्णं नीव्या वर्धेत, व्ययस्य वा यत् परिहापयेत्, तदष्टगुणमध्यक्षं दापयेत्। विपर्यये तमेव प्रति स्यात्।
- (८) यथाकालमनागतानामपुस्तनीवीकानां वा देयदशबन्धो दण्डः। कार्मिके चोपस्थिते कारणिकस्याप्रतिबन्धतः पूर्वः साहसदण्डः। विपर्यये कार्मिकस्य द्विगुणः।
- (९) प्रचारसमं महामात्राः समग्राः श्रावयेयुरविषममात्राः। पथम्भूतो मिथ्यावादी चैषामुत्तमदण्डं दद्यात्।
- (१०) अकृताहोरूपहरं मसमाकाङ्क्षेत। मासादूर्ध्वं मासद्विशतोत्तरं दण्डं दद्यात्। अल्पशेषनीविकं प चरात्रमाकाङ्क्षेत ततः परम्।
- (११) कोशपूर्वमहोरूपहरं धर्मव्यवहारचरित्रसंस्थानसङ्कलननिर्वर्तनानुमानचारप्रयोगैरवेक्षेत।
- (१२) दिवसप चरात्रपक्षमासचातुर्मास्यसंवत्सरैश्च प्रतिसमानयेत्। व्युष्टदेशकालमुखोत्पत्त्यनुव त्ति-प्रमाणदायकदापक-निबन्धकप्रतिग्राहकैश्चायं समानयेत्। व्युष्टदेशकालमुखलाभकारणदेययोग-परिमाणाज्ञापकोद्धारकनिघात कप्रतिग्राहकैश्च व्ययं समानयेत्। व्युष्टदेशकालमुखानुवर्तनरूप-लक्षणपरिमाणनिकेपभाजनगोपायकैश्च नीवीं समानयेत्।

- (१३) राजार्थे कारणिकस्याप्रतिबन्धतः प्रतिषेधयतो वाजां निबन्धादायव्ययमन्यथा वापि कल्पयतः पूर्वः साहसदण्डः ।
- (१४) क्रमावहीनम लक्रममविज्ञातं पुनरुक्तं वा वस्तुकमवलिखतो द्वादशपणो दण्डः ।
- (१५) नीवीमवलिखतो द्विगुणः, भक्षयतो ष्टगुणः, नाशयतः प चबन्धः प्रतिदानं च । मित्यावादे स्तेयदण्डः । पश्चात् प्रतिज्ञाते द्विगुणः प्रस्म तोत्पन्ने च ।
- (१६) अपराधं सहेताल्पं तुष्येदल्पे पि चोदये ।
महोपकारं चाध्यक्षं प्रग्रहेणाभिपूजयेत् ।।
अत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे अक्षपटले गाणनिक्याधिकारः सप्तमो ध्यायः, आदितः सप्तविंशः ।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) आय-व्यय का निरीक्षक, अक्षपटल का निर्माण कराये, उसका दरवाजा पूरब या उत्तर दिशा की ओर होना चाहिए, उसमें लेखकों के बैठने के लिए कक्ष और आय-व्यय की निबन्ध-पुस्तकों को रखने के लिये नियमित व्यवस्था होनी चाहिये ।
- (२) उसमें विभिन्न विभागों की नामावली, जनपद की पैदावार एवं उसकी आमदनी का विवरण, खान तथा कारखानों के आय-व्यय का हिसाब, कर्मचारियों की नियुक्ति, अन्न एवं सुवर्ण आदि का उपयोग, प्रयाम (अनाज के गोदाम), व्याजी (कम तोलने के कारण व्यापारियों व दण्डरूप में हुई आमदनी), योग, स्थान, वेतन, विष्टि आदि का ब्यौरा, रत्नसार एवं कुप्य आदि पदार्थों के मूल्य, उनका गुण, तौल, उनकी लम्बाई-चौड़ाई, ऊँचाई एवं असली मूलधन का उल्लेख, देश, ग्राम, जाति, कुल सभा-सोसाइटियों के धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा परिस्थितियों का उल्लेख, राजकीय सहायता से जीवित रहने वाले प्रग्रह, निवासस्थान, भेंट, परिहार एवं वेतन आदि का उल्लेख, महारानी तथा राजपुत्रों द्वारा रत्न एवं भूमि आदि की प्राप्ति का विवरण, राजा, महारानी तथा राजपुत्रों को नियमित रूप से दिये जाने वाले धन के अतिरिक्त दिया हुआ धन, उत्सवों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधारों से प्राप्त धन का उल्लेख और मित्र राजाओं तथा शत्रु राजाओं के साथ संधि-विग्रह आदि के निमित्त प्राप्त हुआ अथवा खर्च हुए धन का विवरण आदि सभी ऐसे विषय हैं जिनका उल्लेख निबन्धपुस्तक में किया जाना चाहिये ।
- (३) इसके बाद सभी उत्पत्ति-केन्द्रों एवं विभागों के लिए किए जाने वाले, किए गए तथा बचे हुए आय, व्यय नीवी, कार्यकर्त्ताओं की उपस्थिति, प्रचार, चरित्र और संस्थान आदि सब बातों को रजिस्टर में दर्ज करके राजा को दे देना चाहिये । उत्तम, मध्यम और निकृष्ट जैसे भी कार्य हों उनके अनुसार ही उनके अध्यक्ष नियुक्त किये जाने चाहिये । एक ही कार्य को करने वाले अनेक व्यक्तियों में उसी व्यक्ति को अध्यक्ष नियुक्त किया जाना चाहिए जो निपुण, गुणी, यशस्वी हो और जिसे दण्ड देने के पश्चात् राजा को पश्चात्ताप न करना पड़े ।
- (४) यदि कोई अध्यक्ष राजकीय धन का गबन करके उसको अदा करने में असमर्थ हो तो वह धन क्रमशः उसके हिस्सेदार, उसके जामिन, उसके अधीनस्थ कर्मचारी, उसके पुत्र एवं भाई, उसकी स्त्री एवं लड़की अथवा उसके नौकर अदा करें ।
- (५) तीन-सौ-चौवन दिन-रात तक एक कर्मसंवत्सर होता है । उसकी समाप्ति आषाढी पूर्णिमा को समझनी चाहिये । इसी वर्ष-गणना के हिसाब से प्रत्येक अध्यक्ष का वेतन दिया जाना चाहिये । यदि अध्यक्ष की नियुक्ति वर्ष के मध्य में हुई है तो उसको कम वेतन और यदि उसने पूरे वर्ष कार्य किया है तो उसे पूरा वेतन दिया जाना चाहिये । प्रत्येक कर्मचारी के कार्य का

ब्यौरा उपस्थिति रजिस्टर से देखना चाहिये। अध्यक्ष को चाहिये कि वह जनपद के समस्त कार्यालयों की कार्य-व्यवस्था का ज्ञान गुप्तचरों से प्राप्त करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो अपनी अज्ञानता के कारण वह धनोत्पादन में हानिकर सिद्ध होता है। १. अज्ञान २. आलस्य ३. प्रमाद ४. काम ५. क्रोध ६. दर्प, ७. लोभ, ये धनोत्पादन में विघ्न डालने वाले दोष हैं। अधिक परिश्रम से कतराने के कारण आलस्य के द्वारा, गाना-बजाना तथा स्त्रियों में आसक्त रहने के कारण प्रमाद के द्वारा, निन्दा, अधर्म तथा अनर्थ के कारण भय द्वारा, किसी कार्यार्थी पर अनुग्रह करने के कारण काम द्वारा, किसी क्रूरता के कारण क्रोध द्वारा, विद्या, धन एवं राजप्रिय होने के कारण दर्प द्वारा और नाप-तौल तर्कना तथा हिसाब में गड़बड़ कर देने के कारण लोभ के द्वारा, कर्मचारी लोग आमदनी में बाधा डाल देते हैं।

- (६) आचार्य मनु के अनुयायी विद्वानों का कहना है कि 'जो कर्मचारी ऊपर निर्दिष्ट दोषों के वशीभूत होकर जितना अपराध करे उसको उसी क्रम से दण्ड दिया जाना चाहिये' अर्थात् यदि वह अज्ञान के कारण अपराध करता है तो उसे उतना ही दण्ड दिया जाना चाहिये जितने का कि उसने नुकसान किया है, यदि वह आलस्य के कारण नुकसान करता है तो दुगुना, प्रमाद के कारण नुकसान करता है तो तिगुना दण्ड दिया जाना चाहिये। आचार्य पराशर के मतानुयायियों का कहना है कि 'अपराध करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आठगुना दण्ड देना चाहिये, क्योंकि सभी अपराध एक समान हैं।' आचार्य बहस्पति के अनुयायी विद्वानों का मत है कि 'सभी अपराधियों को दसगुना दण्ड दिया जाना चाहिए।' शुक्राचार्य के अनुयायी कहते हैं कि 'सबको बीसगुना दण्ड मिलना चाहिये।' किन्तु आचार्य कौटिल्य का कहना है कि जो जितना अपराध करे तदनुसार ही उसे दण्ड दिया जाना चाहिये।'
- (७) सभी कार्यालयों के अध्यक्ष आषाढ़ के महीने में वर्ष की समाप्ति पर प्रधान कार्यालय में आकर हिसाब का मिलान करें। उन आये हुए लोगों को तब तक एक-दूसरे से बातचीत न करनी दी जाये तथा मिलने न दिया जाये, जब तक कि उनके पास राजकीय मोहर लगे रजिस्टर तथा व्यय से बचा हुआ धन मौजूद हैं। सर्वप्रथम आय-व्यय को सुनकर उसके पास जो बचत शेष हो उसे ले लिया जाये। अध्यक्ष की बताई हुई आय-राशि से यदि रजिस्टर का हिसाब अधिक निकले ओर उसी प्रकार बताए हुए व्यय की अपेक्षा रजिस्टर में उससे कम निकले तो अध्यक्ष पर, उसके द्वारा बताई गई कम-अधिक रकम का आठगुना जुर्माना किया जाये। यदि आमदनी से अधिक अथवा व्यय से कम रकम रजिस्टर में चढ़ी हो तो ऐसी दशा में अध्यक्ष को दण्ड न दिया जाये, वरन् आय-व्यय की जो कमी-बेसी हुई है उसी को दे दी जाये।
- (८) जो अध्यक्ष निश्चित समय में अपने रजिस्टर तथा शेष धन आदि को लेकर प्रधान कार्यालय में उपस्थित नहीं होता उसके हिसाब में जितना बाकी निकले उसका दस गुना जुर्माना उस पर किया जाना चाहिये। यदि प्रधान अध्यक्ष निर्धारित समय पर क्षेत्रीय कार्यालयों में पहुँच जाये और वहाँ के विभागीय अध्यक्ष कार्यालय का हिसाब-किताब दिखाने में असमर्थ हों तो उन्हें प्रथम साहस-दण्ड दिया जाना चाहिये। इसके विपरीत यदि प्रधान अध्यक्ष निर्धारित समय पर न पहुँच पावे तो उसे दुगुना प्रथम साहस-दण्ड देना चाहिये।
- (९) राजा के महामात्र आदि प्रधान कर्मचारी आय-व्यय तथा नीवी सम्बन्धी सारी राजकीय व्यवस्थाएं प्रजाजनों को समझाये-बुझाये। यदि उनमें से कोई झूठा प्रचार करे तो उसे उत्तम साहस-दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (१०) द्रव्य की वसूली करने वाला राजकर्मचारी यदि निर्धारित समय पद द्रव्य-वसूली न कर सके तो उसे एक मास का ओर समय दिया जाये। यदि फिर भी वह द्रव्य संग्रह करके राजकोष में न पहुँचा सके तो उस पर प्रति मास के हिसाब से दो-सौ रुपया जुर्माना कर देना चाहिये। जिस अध्यक्ष के पास थोड़ा राजदेय धन बाकी हो, निर्धारित समय से केवल पाँच दिन तक

उसकी प्रतीक्षा की जाये। तदनन्तर उसे भी दंडनीय समझा जाये।

- (११) कोषधन ओर कोषरजिस्टर लाने वाले अध्यक्ष की परीक्षा पहिले धर्म के द्वारा ली जाये, अर्थात् उसे देखा जाये कि वह धर्मात्मा है या दम्भी, फिर उसके व्यवहार को देखा जाये, तदनन्तर उसके आचार-विचार, उसकी पूर्वस्थिति, उसके कार्य एवं हिसाब-किताब और अन्त में उसके कार्यों को पारस्परिक मिलान करके उसकी परीक्षा ली जाये, गुप्तचरों द्वारा भी उसके भेद जाने जायें।
- (१२) अध्यक्ष को चाहिये कि वह प्रतिदिन, प्रति पाँच दिन, प्रतिपक्ष, प्रतिमास, प्रति चार मास और प्रतिवर्ष के क्रम से राजकीय आय-व्यय एवं नीवी का लेखा-जोखा साफ-सुथरे ढंग से रखे। अर्थात् वर्षारम्भ से, पहिले एक दिन का हिसाब, फिर एक साथ पाँच दिन का हिसाब, फिर एक साथ पन्द्रह दिन का हिसाब, फिर एक साथ एक मास का हिसाब, और अन्त में एक साथ पूरे वर्ष का हिसाब करके रखे। आय का लेखा निर्दोष और साफ रहे, एतदर्थ रजिस्टर में राजवर्ष (मास, पक्ष, दिन), देश, काल, मुख (आयमुख, आयशरीर), उत्पत्ति, अनुवृत्ति प्रमाण, कर देने वाले का नाम, दिलानेवाले अधिकारी का नाम, लेखक का नाम और लेने वाले का नाम, इस प्रकार स्तंभ बने होने चाहिए। व्यय का लेखा तैयार करने के लिए रजिस्टर में इस प्रकार के खाने होने चाहिए : व्युष्ट, देश, काल, मुख, लाभ व्यय का कारण, देय वस्तु का नाम, मिलावटी द्रव्य में अच्छाई-बुराई का उल्लेख, तौल, किसकी आज्ञा से व्यय किया गया, किसको दिया गया, भाण्डागारिक और लेने वाले का पूरा विवरण। इसी प्रकार नीवी का लेखा; व्युष्ट, देश, काल, मुख, द्रव्य का स्वरूप, द्रव्य की विशेषता, तौल, जिस पात्र में द्रव्य रखा जाये और द्रव्य का संरक्षक आदि विवरणों के आधार पर तैयार करना चाहिये।
- (१३) यदि कारणिक अर्थलाभ को रजिस्टर में दर्ज नहीं करता है, राजकीय आज्ञा का उल्लंघन करता है, अथवा आय-व्यय के सम्बन्ध में विपरीत कल्पनाएं भी करता है तो उसको प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (१४) क्रम के विरुद्ध, उलट-पलट कर विपरीत लिख देना, किसी वस्तु को बिना समझे-बूझे ही लिख देना और एक वस्तु को दुबारा चढ़ा देना, ऐसी गड़बड़ी करने वाले कर्मचारी को बारह पण का दण्ड दिया जायें
- (१५) यदि नीवी के सम्बन्ध में लेखक की ऐसी गड़बड़ी पायी जाये तो चौबीस पण दण्ड, उसका गबन करे तो साठ पण दण्ड दिया जाना चाहिये। झूठ बोलने वाले को चोर जितना दण्ड देना चाहिये। हिसाब-किताब के सम्बन्ध में पीछे से किसी बात को स्वीकार करने पर चोरी से दुगुना दण्ड और पूछे जाने पर किसी बात का उत्तर न देकर बाद में उसका उत्तर देने पर भी यही दंड देना चाहिये।
- (१६) राजा को चाहिये के वह अपने अध्यक्ष के थोड़े अपराध को क्षमा कर दे और यदि वह पूर्वापेक्षया आमदनी में थोड़ी भी वृद्धि कर लेता है तो उसके प्रति प्रसन्नता एवं संतोष प्रकट करे। महान् उपकार करने वाले अध्यक्ष का कृतज्ञ होकर राजा को सदैव उसका सम्मान करना चाहिये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में अक्षपटल में गाणनिक्याधिकार नामक सातवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ८

समुदयस्य युक्तापहृतस्य प्रत्यानयनम्

- (१) कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्वं कोषमवेक्षेत।
- (२) प्रचारसम द्विःस्वरित्रानुग्रहश्चोरग्रहा युक्तप्रतिषेधः सस्यसम्पत् पण्यबाहुल्यमुपसर्गप्रमोक्षः परिहारक्षयो हिरण्योपायनमिति कोषव द्विः।
- (३) प्रतिबन्धः प्रयोगो व्यवहारो वस्तारः परिहापणमुपभोगः परिवर्तनमपहारश्चेति कोषक्षयः।
- (४) सिद्धीनामसाधनमनवतारणमप्रवेशनं वा प्रतिबन्धः। तत्र दशबन्धो दण्डः।
- (५) कोषद्रव्याणां व द्विप्रयोगः प्रयोगः।
- (६) पण्यव्यवहारो व्यवहारः। तत्र फलद्विगुणो दण्डः।
- (७) सिद्धं कालमप्राप्तं करोत्यप्राप्तं प्राप्तं वेत्यवस्तारः। तत्र प चबन्धो दण्डः।
- (८) क्ल प्तमायं परिहापयति व्ययं वा विवर्धयतीति परिहापणम्। तत्र हीनचतुर्गुणो दण्डः।
- (९) स्वयमन्यैर्वा राजद्रव्याणामुपभोजनमुपभोगः। तत्र रत्नोपभोगे घातः, सारोपभोगे मध्यमः साहसदण्डः, फल्गुकुप्योपभोगे तच्च तावच्च दण्डः।
- (१०) राजद्रव्याणामन्यद्रव्येणादानं परिवर्तनं, तद् उपभोगेन व्याख्यातम्।
- (११) सिद्धमायं न प्रवेशयति निबद्धं व्ययं न प्रयच्छति, प्राप्तां नीर्वी विप्रतिजानीत इत्यपहारः। तत्र द्वादशगुणो दण्डः।
- (१२) तेषां हरणोपायाश्चत्वारिंशत्-पूर्वं सिद्धं पश्चादवतारितम्, पश्चात् सिद्धं पूर्वमवतारितम्, साध्यं न सिद्धम् असाध्यं सिद्धम्, सिद्धमसिद्धं कृतम्, असिद्धं सिद्धं कृतम्, अल्पसिद्धं बहुकृतम्, बहुसिद्धमल्पं कृतम्, अन्यत् सिद्धमन्यत् कृतम्, अन्यतः सिद्धमन्यतः कृत्, देयं न दत्तम्, अदेयं दत्तम्, काले न दत्तम्, अकाले दत्तम्, अल्पं दत्तं बहु कृतम्, बहु दत्तमल्पं कृतम्, अन्यद् दत्तमन्यत् कृतम्, अन्यतो दत्तमन्यतः कृतम्, प्रविष्टमप्रविष्टं कृतम्, अप्रिविष्टं प्रविष्टं कृतम्, कुप्यमदत्तमूल्यं प्रविष्टम्, दत्तमूल्यं न प्रविष्टम्, संक्षेपो विक्षेपः कृतः, विक्षेपः संक्षेपो वा, महार्घमल्पार्घेण परिवर्तितम् अल्पार्घं महार्घेण वा, समारोपितो र्घः, प्रत्यवरोपितो वा, रात्रयः समारोपिताः, प्रत्यवरोपिता वा, संवत्सरो मासविषमः कृतः, मासो दिवसविषमो वा, समागमविषमः, मुखविषमः, धार्मिकविषमः, निर्वर्तनविषमः, पिण्डविषमः, वर्णविषमः, अर्धविषमः, मानविषमः, मापनविषमः, भाजनविषम इति हरणोपायाः।
- (१३) तत्रोपयुक्तनिधायकयनिबन्धकप्रतिग्राहकदायकदापकमन्त्रिवैयाव त्यकरानेकैकशो नुयु जीत। मिथ्यावादे चैषां युक्तसमो दण्डः।
- (१४) प्रचारे चावघोषयेत्-अमुना प्रकृतेनोपहताः प्रज्ञापयन्त्विति। प्रज्ञापयतो यथोपघातं दापयेत्। अनेकेषु चाभियोगेष्वपव्ययमानः सकृदेव परोक्तः सर्वं भजेत। वैषम्ये सर्वत्रानुयोगं दद्यात्। महत्यर्थापहारे चाल्पेनापि सिद्धः सर्वं भजेत।
- (१५) कृतप्रतिघातावस्थः सूचको निष्पन्नार्थः षष्ठमंशं लभेत, द्वादशमंशं भ तकः। प्रभूताभियोगादल्पनिष्पत्तौ निष्पन्नस्यांशं लभेत। अनिष्पन्ने शारीरं हैरण्यं वादण्डं लभेत, न चानुग्राह्यः।

(१६) निष्पत्तौ निक्षिपेद्वादमात्मानं वापवाहयेत्।

अभियुक्तोपजापात्तु, सूचको वधमाप्नुयात्।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे समुदयस्य युक्तापहतस्य प्रत्यानयनमष्टमो ध्यायः, आदितः अष्टाविंशः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) सारे कार्य कोष पर निर्भर हैं। इसलिए राजा को चाहिये कि सबसे पहिले कोष पर ध्यान दे।
- (२) राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाना, राष्ट्र के चरित्र पर ध्यान रखना, चोरों पर निगरानी रखना, राजकीय अधिकारियों को रिश्वत लेने से रोकना, सभी प्रकार के अन्नोत्पादन को प्रोत्साहित करना, जल-स्थल में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक व्यापार-योग्य वस्तुओं को बढ़ाना, अग्नि आदि के भय से राज्य की रक्षा करना, ठीक समय पर यथोचित कर वसूल करना और हिरण्य आदि की भेंट लेना, ये सब कोषवृद्धि के उपाय हैं।
- (३) कोषक्षय के आठ कारण हैं : १. प्रतिबन्ध, २. प्रयोग, ३. व्यवहार, ४. अवस्तार, ५. परिहापण, ६. उपभोग, ७. परिवर्तन और ८. अपहार।
- (४) राजकर को वसूल करना, वसूल करके उसे अपने अधिकार में न रखना, और अधिकार में करके भी उसे खजाने में जमा न करना, यह तीन प्रकार का **प्रतिबंध** है। जो अध्यक्ष इन माध्यमों से कोष का क्षय करे, उस पर क्षत राशि से दशगुना जुर्माना करना चाहिए।
- (५) कोषधन का स्वयं ही लेन-देन करके वृद्धि का यत्न करना **प्रयोग** कहलाता है। ऐसे अधिकारी पर दुगुना जुर्माना करना चाहिये।
- (६) कोष के द्रव्य से स्वयं ही व्यापार करना **व्यवहार** कहलाता है। ऐसा करने पर भी दुगुना दण्ड देना चाहिए।
- (७) राजकर वसूल करने वाला अधिकारी, नियत समय से कर-वसूली न करके रिश्वत लेने की इच्छा से, मियाद बीत जाने का भय देकर प्रजा को तंग करके जो धन एकत्र करता है उसे **अवस्तार** कहते हैं। ऐसा करने पर उसे नुकसान की राशि से पाँच गुना दण्ड देना चाहिए।
- (८) जो अध्यक्ष अपने कुप्रबंध के कारण कर की आय को कम कर देता है और व्यय की राशि को बढ़ा देता है, उस क्षय को **परिहापण** कहते हैं। ऐसा करने पर अध्यक्ष को क्षय से चौगुना दण्ड दिया जाये।
- (९) राजकोष के द्रव्य को स्वयं भोग करना तथा दूसरों को भोग कराना **'उपभोग'** क्षय है। इसके अपराध में अध्यक्ष को, यदि वह रत्नों का उपभोग करता है तो प्राणदण्ड, सारद्रव्यों का उपभोग करता है तो मध्यम साहस दण्ड और फल्गु एवं कुप्य आदि पदार्थों का उपभोग करता है तो, उससे द्रव्य वापिस लेकर उसकी लागत का दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (१०) राजकोष के द्रव्यों को दूसरे द्रव्यों से बदल लेना **परिवर्तन** कहलाता है। इस कार्य को करने वाले अध्यक्ष के लिए भी उपभोग-क्षय के समान ही दण्ड दिया जाये।
- (११) प्राप्त आय को रजिस्टर में न चढ़ाना, नियमित व्यय को रजिस्टर में चढ़ाकर भी खर्च न करना और प्राप्त नीवी के सम्बन्ध में मुकर जाना, यह तीन प्रकार का **अपहार** है। अपहार के द्वारा कोषक्षय करने वाले अध्यक्ष को हानि से बारहगुना दण्डित करना चाहिये।
- (१२) अध्यक्ष, चालीस प्रकार के उपायों से राजद्रव्य का अपहरण कर सकते हैं। पहले फसल में

प्राप्त हुए द्रव्य को दूसरी फसल आने पर रजिस्टर में चढ़ाना, दूसरी फसल की आदमनी का कुछ हिस्सा पहली फसल के रजिस्टर में चढ़ा देना, राजकर को रिश्वत लेकर छोड़ देना, राजकर से मुक्त देवालय, ब्राह्मण आदि से कर वसूल करना, कर देने पर भी उसको रजिस्टर में न चढ़ाना, कर न देने पर भी उसको रजिस्टर में भर देना, कम प्राप्त हुए धन को रिश्वत लेकर पूरा दर्ज कर देना पूरे प्राप्त हुए धन को अधूरा लिख देना, जो द्रव्य प्राप्त हुआ है उसकी जगह दूसरा ही द्रव्य भर देना, एक पुरुष से प्राप्त हुए धन को रिश्वत लेकर, दूसरे के नाम दर्ज कर देना, योग्य वस्तु को न देना, जो वस्तु देने योग्य नहीं है, उसका दे देना, समय पर किसी वस्तु को न देना, रिश्वत लेकर असमय में ही उस वस्तु को दे देना, थोड़ा देकर भी बहुत लिख देना, बहुत देकर भी थोड़ा लिख देना, अभीष्ट वस्तु की जगह दूसरी ही वस्तु दे देना, जिस व्यक्ति को देने के लिए कहा गया है, उसके बदलें में किसी दूसरे को ही दे देना, राजधन को वसूल करके उसे खजाने में जमा न करना, राजकर को वसूल न करके, रिश्वत लेकर, उसे जमा-रजिस्टर में चढ़ा देना, राजाज्ञा से वस्त्रादि क्रय करके तत्काल ही उनका मूल्य चुकता न करके एकांत में कुछ रकम देना, अधिक मूल्य से क्रीत वस्तुओं की रकम कम करके रजिस्टर में लिखना, सामूहिक कर वसूली को अलग-अलग व्यक्ति से लेना, अलग-अलग व्यक्ति से लिये जाने वाले कर को सामूहिक रूप में वसूल करना, बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य की वस्तु से बदल देना, अल्पमूल्य की वस्तु को बहुमूल्य वस्तु से बदलना, रिश्वत लेकर बाजार में वस्तुओं की कीमत बढ़ा देना, वस्तुओं का भाव बढ़ा देना, दो दिन का वेतन दिया हो तो चार दिन बढ़ाकर लिख देना, चार दिन का वेतन दिया हो तो दो दिन घटाकर लिख देना, मलमासरहित संवत्सर को मलमास युक्त बना देना, महीने के दिन घटा-बढ़ाकर लिख देना, नौकरों की संख्या बढ़ाकर लिख देना, एक जरिये से हुई आमदनी को दूसरे जरिये से दर्ज कर देना, ब्राह्मणादि को स्वीकृत धन में से कुछ स्वयं ले लेना, कुटिल उपाय से अतिरिक्त धन वसूल करना, सामूहिक वसूली में से न्यूनाधिक्य रूप में धन लेना, वर्णविषमता दिखाकर धन का अपहरण कर लेना, जहाँ मूल्य निर्धारित न हो, वहाँ दाम बढ़ाकर लाभ उठाना, तोल में कमी-बेशी करके उपार्जन करना, नाप में विषमता पैदा करके धन कमाना और घ त से भरे हुए सौ बड़े घड़ों की जगह सौ छोटे घड़े दे देना, राजकीय धन को अपहरण करने के ये चालीस तरीके हैं।

- (१३) यदि किसी अध्यक्ष के सम्बन्ध में राजा को यह सन्देह हो जाये कि उसने अनुचित उपायों से राजकीय धन का अपहरण किया है तो राजा को चाहिये कि उस विभाग के प्रधान निरीक्षक, कोषाध्यक्ष, लेखक, कर लेने वाले और कर दिलाने वाले सलाहकारों को अलग-अलग बुलाकर यह पूछे कि उनके अध्यक्ष ने गबन किया है या नहीं। यदि उनमें से कोई झूठ बोले तो उसे गबन करने वाले अपराधी के समान ही दण्ड दिया जाये।
- (१४) अपने सारे राज्य में राजा यह घोषणा करा दे कि अपराधी अध्यक्ष ने जिस जिसका गबन किया है, उसकी सूचना राजदरबार को भेज दी जाये। इस प्रकार सूचना मिलने पर राजा, प्रजा की उस हानि को पूरा करे। यदि अध्यक्ष के विरुद्ध एक साथ ही अनेक शिकायतें हों और उनमें से वह किसी को भी स्वीकार न करे तो उसका एक भी अपराध साबित हो जाने पर, सभी शिकायतों का अभियोग उस पर लगाया जाये। यदि अभियुक्त कुछ अपराधों को स्वीकार करता है और कुछ से मुकर जाता है, तो उससे पूरे सबूत मांगे जायें। गबन किये गये बहुत से धन के सम्बन्ध में पूरे सबूत नहीं मिलते, कुछ ही धन के सम्बन्ध में सबूत मिल पाते हों, तो उस पर पूरे गबन का अभियोग लगाना चाहिये।
- (१५) यदि कोई निष्पक्ष, राजहितेच्छु व्यक्ति किसी अध्यक्ष के गबन की सूचना देता है, तो अपराध सिद्ध हो जाने पर, उस अपहृत धन का छटा भाग सूचना देने वाले को दिया जाना चाहिये।

यदि सूचना देने वाला व्यक्ति राजकर्मचारी हो तो उसे बारहवाँ भाग दिया जाना चाहिये। यदि अभियोग बहुत से धन का सिद्ध हो चुका है, किन्तु मिला कुछ ही धन है तो सूचना देने वाले व्यक्ति को उस प्राप्त धन में से ही हिस्सा देना चाहिये। यदि अपराध सिद्ध न हो सके तो सूचना देने वाले व्यक्ति को उचित शारीरिक या आर्थिक दण्ड दिया जाना चाहिये। किसी भी अपराधी को क्षमा न किया जाये।

- (५६) अभियोग साबित हो जाने पर सूचना देने वाला व्यक्ति अदालत से अपने को बरी करा सकता है, किन्तु रिश्वत लेकर यदि वह अपराधी के पक्ष में हो जाता है, और सच्चा बयान नहीं देता है तो उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में अपहृतप्रत्यायन नामक आठवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ६

उपयुक्तपरीक्षा

- (१) अमात्यसम्पदोपेताः सर्वाध्यक्षाः शक्तितः कर्मसु नियोज्याः। कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षां कारयेत्, चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणाम्। अश्वसधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ताः कर्मसु विकुर्वते।
- (२) तस्मात् कर्तारं कारणं देशं कालं कार्यं प्रक्षेपमुदयं चैषु विद्यात्। ते यथासन्देशमसंहता अविग हीताः कर्माणि कुर्युः। संहता भक्षयेयुः विग हीता विनाशयेयुः। न चानिवेद्य भर्तुः किञ्चिदारम्भं कुर्युरन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः। प्रमादस्थानेषु चैषामत्ययं स्थापयेद् दिवसवेतनव्ययद्विगुणम्।
- (३) यश्चैषां यथादिष्टमर्थं सविशेषं वा करोति स स्थानमानौ लभेत।
- (४) अल्पायतिश्चेन्महाव्ययो भक्षयति। विपर्यये यथायतिव्ययश्च न भक्षयति इत्याचार्याः अपसर्पेणैवोपलभ्यते इति कौटिल्यः।
- (५) यः समुदयं परिहापयति स राजार्थं भक्षयति। स चेदज्ञानादिभिः परिहापयति तदेनं यथागुणं दापयेत्।
- (६) यः समुदयं द्विगुणमुद्भावयति स जनपदं भक्षयति। स चेद् राजार्थमुपनयत्यल्पापराधं वारयितव्यः। महति यथापराधं दण्डयितव्यः।
- (७) यः समुदयं व्ययमुपनयति स पुरुषकर्माणि भक्षयति। स कर्मदिवसद्वयमूलपुरुषवेतनापहारेषु यथापराधं दण्डयितव्यः।
- (८) तस्मादस्य यो यस्मिन्नधिकरणे शासनस्थः स तस्य कर्मणो याथातथ्यमायव्ययौ च व्याससमासाभ्यामाचक्षीत।
- (९) मूलहरतादात्विककदयांश्च प्रतिषेधयेत्। यः पितृपैतामहमर्थमन्यायेन भक्षयति स मूलहरः। यो यद्यदुत्पद्यते तत्तद् भक्षयति स तादात्विकः। यो भत्यात्यमपीडाभ्यामुपचिनोत्यर्थं स कदर्यः। सः पक्षवांश्चेदनादेयः। विपर्यये पर्यादातव्यः।
- (१०) यो महत्यर्थसमुदये स्थितः कदर्यः सन्निधत्ते, अवनिधत्ते, अवस्त्रावयति वा-सन्निधत्ते स्ववेश्मनि, अवनिधत्ते पौरजानपदेषु अवस्त्रावयति परविषये-तस्य संत्री मन्त्रिमित्रभ त्यबन्धुपक्षमागतिगतिं च दुव्याणामुपलभेत।
- (११) यश्चास्य परिविषये स चारं कुर्यात्तमनुप्रविश्य मन्त्रं विद्यात्। सुविदिते शत्रुशासनापदेशनैर्न घातयेत्।
- (१२) तस्मादस्याध्यक्षाः संख्यायकलेखकरूपदर्शकनीवीग्राहकोत्तराध्यक्षसखाः कर्माणि कुर्युः।
- (१३) उत्तराध्यक्षा हस्त्यश्वरथारोहाः। तेषामन्तेवासिनः शिल्पशौचयुक्ताः सङ्ख्यायाकादीनामपसर्पाः।
- (१४) बहुमुख्यमनित्यं चाधिकरणं स्थापयेत्।
- (१५) यथा ह्यनास्वादयितुं न शक्यं जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा।
अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राज्ञः स्वल्पो प्यनास्वादयितुं न शक्यः।।
- (१६) मत्स्या यथान्तःसलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ता ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः।।

(१७) अपि शक्या गतिर्जातुं पततां खे पतत्रिणाम्।

न तु प्रच्छन्नभावानां युक्तानां चरतां गतिः।।

(१८) आस्रवयेच्चोपचितान् विपर्यस्येच्च कर्मसु।

यथा न भक्षयन्त्यर्थं भक्षितं निर्वमन्ति वा।।

(१९) न भक्षयन्ति ये त्वर्थान् न्यायतो वर्धयन्ति च।

नित्याधिकाराः कार्यास्ते राज्ञः प्रियहिते रताः।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे उपयुक्तपरीक्षा नवमो ध्यायः, आदितः एकोनत्रिंशः।।

हिन्दी अनुवाद

- (१) राजकीय उच्चपदस्थ कर्मचारियों को अमात्य के गुणों से युक्त होना चाहिए, योग्यता एवं कार्यक्षमता के आधार पर ही उन्हें भिन्न-भिन्न पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिये। उपयुक्त पदों पर नियुक्त किए जाने के अनन्तर समय-समय पर राजा उनके चाल-चलन की निगरानी कराता रहे, क्योंकि मनुष्यों की चित्त-वृत्तियां सदा एक जैसी नहीं रहती हैं। देखा यह जाता है कि कभी कभी मनुष्य भी घोड़ों की आदत जैसा आचरण करने लगते हैं। अर्थात् घोड़ा जैसे अपने स्थान पर बँधा हुआ शान्त दिखाई देता है, किन्तु रथ आदि में जोड़ते ही वह बिगड़ पड़ता है, वैसे ही स्वभाव से शांत दिखाई देने वाला मनुष्य भी कार्य पर नियुक्त हो जाने के बाद उद्वण्ड हो जाता है।
- (२) इसलिए राजा को चाहिए कि अध्यक्षों के सम्बन्ध में वह कारण, देश, काल, कार्य, वेतन और लाभ, इन बातों की जानकारी रखे। उच्चपदस्थ कर्मचारियों को भी चाहिए कि वे राजा के आदेशानुसार एक-दूसरे से द्वेष न करते हुए जुदा-जुदा रह कर ही अपने कार्यों में तत्पर रहें। यदि वे आपस में मिल जायेंगे तो राजधन का अपहरण करेंगे और परस्पर द्वेष करेंगे तो राजकार्यों को नष्ट कर देंगे। कर्मचारियों को चाहिए कि राजा की आज्ञा प्राप्त किए बिना वे किसी भी नये कार्य का आरम्भ न करें, किन्तु आपत्तियों का प्रतीकार करने के लिए किये जाये योग्य कार्यों को वे राजा की अनुमति प्राप्त किए बिना भी आरम्भ कर सकते हैं। यदि उच्चपदस्थ कर्मचारी अपने कार्यों में प्रमाद करें तो उन पर उनके वेतन का दुगुना दण्ड किया जाये।
- (३) जो पदाधिकारी आदिष्ट कार्य को पूरा करके, स्वेच्छया किसी दूसरे हितकर कार्य को भी करता है, उसे तरक्की और सम्मान दिया जाना चाहिये।
- (४) कुछ पुरातन आचार्यों का कहना है कि 'यदि किसी अध्यक्ष की आमदनी थोड़ी और खर्च अधिक दिखाई दे, तो समझ लेना चाहिये कि वह राज्य के धन का अपहरण करता है। यदि जितनी आमदनी है, उतना ही व्यय दिखाई दे तो समझना चाहिये कि वह न तो राजधन का गबन करता है और न रिश्वत लेता है।' किन्तु आचार्य कौटिल्य का कथन है कि 'धन का अपहरण करने वाला भी थोड़ा खर्च कर सकता है। अतः गुप्तचरों द्वारा ही इस कार्य का ठीक पता लग सकता है।'
- (५) जो अधिकारी नियमित आय में कमी दिखाता है, वह निश्चय ही राजधन का अपहरण करता है। यदि उसकी अज्ञानता, प्रमाद एवं आलस्य के कारण हुई है तो उसे अपराध के अनुसार दुगुना, तिगुना दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (६) जो अधिकारी नियमित आय से दुगुनी आय दिखाता है, वह निश्चय ही प्रजा को पीड़ित कर इतना धन वसूल करता है। यदि वह उस दुगुनी आमदनी को राजकोष के लिए भेज देता है

तो उसे इतना ही दण्ड देना चाहिए, जिससे कि आगे ऐसा अनुचित कार्य न कर सके। यदि वह उस अधिक धन को राजकोष के लिए न भेज कर स्वयं ही खा लेता है तो उसे अपराध के अनुसार कठोर दण्ड दिया जाना चाहिये।

- (७) जो अधिकारी व्ययनिमित्त निर्धारित राशि को खर्च न करके बचा लेता है वह मजदूरों का पेट काटता है उस अपराधी अधिकारी को, कार्यहानि के मूल्य का तथा मजदूरी के अपहरण का, यथोचित दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (८) इसलिए प्रत्येक राजकीय अधिकारी का कर्तव्य है कि अपने कार्य की यथार्थता और तत्सम्बन्धी आय-व्यय का विवरण वह संक्षेप में तथा विस्तार से राजा के सम्मुख प्रस्तुत करे।
- (९) उसका यह भी कर्तव्य है कि वह मूलहर, तादात्विक तथा कदर्य पुरुषों पर भी अंकुश रखे। अपनी वंशानुगत सम्पत्ति का उपभोग जो अन्याय से करता है वह **मूलहर** है। जो पुरुष जितना उत्पन्न करता है उतना ही व्यय भी कर लेता है, वह **तादात्विक** कहलाता है। जो अपने को और अपने नौकरों को कष्ट देकर धनोपार्जन करता है वह **कदर्य** कहा जाता है। यदि निषेध करने पर भी ये मूलहर आदि अपने कार्यों को न छोड़ें तो उनकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया जाये और बंधु-बांधव हों तो उन्हें पदच्युत कर दिया जाये।
- (१०) जो कदर्य (कंजूस) पदाधिकारी गहरी आमदनी करता है, धन को भूमि में गाड़ता है, उसको किसी के पास छिपाकर रखता है, शत्रुदेश में भेजकर किसी के पास जमा करता है, उस अधिकारी के परामर्शदाता, मित्र, नौकर, बंधु-बांधव और आय-व्यय आदि का पता गुप्तचर प्राप्त करें।
- (११) गुप्तचर को चाहिए कि वह कदर्य अधिकारी के धन की शत्रुदेश में ले जाने वाले पुरुष से मिलकर अथवा उसका सेवक बनकर, उसके रहस्य का पता लगावे। गुप्तचर द्वारा राजा को जब इस भेद की सही जानकारी प्राप्त हो जाये तो वह शत्रु के आदेश का बहाना बनाकर उस कदर्य अधिकारी को मरवा डाले।
- (१२) इसलिए प्रत्येक विभाग के सभी अध्यक्षों को चाहिए कि वे संख्यानक, लेखक, रूपदर्शक, नीवीग्राहक और उत्तराध्यक्ष इस सबके सहयोग से ही कार्य करें।
- (१३) उत्तराध्यक्ष (प्रधान अधिकारी) उनको नियुक्त किया जाये, जो हाथी, घोड़े और रथों की सवारी में निपुण हों। उनके अधीनस्थ ऐसे आज्ञाकारी, कुशल, पवित्र एवं सदाचरणशील कार्यकर्ता हों, जो संख्यानक आदि राजकीय कर्मचारियों की प्रवृत्तियों का पता लगाने में गुप्तचरों का कार्य करें
- (१४) प्रत्येक विभाग में अनेक उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए, किन्तु उन्हें एक ही विभाग में रहने दिया जाये।
- (१५) जैसे जीभ में रखे हुए मधु अथवा विष का स्वाद लिए बिना नहीं रहा जा सकता, उसी प्रकार अर्थाधिकार कार्यों पर नियुक्त पुरुष, अर्थ का थोड़ा भी स्वाद न लें, यह असंभव है।
- (१६) जिस प्रकार पानी में रहने वाली मछलियां पानी पीती नहीं दिखाई देती हैं, उसी प्रकार अर्थकार्यों पर नियुक्त कर्मचारी भी धन का अपहरण करते हुए नहीं जाने जा सकते हैं।
- (१७) आकाश में उड़ने वाले पक्षियों की गतिविधि का पता लगाया जा सकता है, किन्तु धन का अपहरण करने वाले कर्मचारियों की गतिविधि से पार पाना कठिन है।
- (१८) राजा, जब ऐसे अध्यक्षों का पता लगा ले, तो वह उन धनसम्पन्न अधिकारियों की सारी सम्पत्ति को छीन ले और उनके उच्चपदों से गिराकर निम्न पदों पर नियुक्त कर दे, जिससे भविष्य में गबन न कर सकें एवं अपने गबन को स्वयं ही उगल दें।

(५६) जो अध्यक्ष राज्यधन का अपहरण नहीं करते, वरन्, न्यायपरायण होकर राजा की समृद्धि में यत्नशील रहते हैं और प्रिय समझकर राजा का हित करते रहते हैं, ऐसे सच्चरित्र अध्यक्षों को सदा सम्मानपूर्वक उच्चपद पर बनाये रखना चाहिये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में उपयुक्तपरीक्षा नामक नौवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १०

शासनाधिकारः

- (१) शासने शासनमित्याचक्षते। शासनाप्रधाना हि राजानः, तन्मूलत्वात्। सन्धिविग्रहयोः।
- (२) तस्मादमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखवाचनसमर्थो लेखकः स्यात्। सो व्यग्रमना राज्ञः सन्देशं श्रुत्वा निश्चितार्थं लेखं विदध्याद्, देशैश्वर्यवंशनामधेयोपचारमीश्वरस्य, देशनामधेयोपचारमनीश्वरस्य।
- (३) जातिं कुलं स्थानवयःश्रुतानि कर्मर्द्धिशीलान्यथ देशकालौ।
यौनानुबन्धं च समीक्ष्य कार्यं लेखं विदध्यात् पुरुषानुरूपम्।।
- (४) अर्थक्रमः, सम्बन्धः, परिपूर्णता, माधुर्यमौदार्यं, स्पष्टत्वम्, इति लेखसम्पत्।
- (५) तत्र यथावदनुपूर्वक्रिया प्रधानस्यार्थस्य पूर्वमभिनिवेश इत्यर्थस्य क्रमः।
- (६) प्रस्तुतस्यार्थस्यानुपरोधादुत्तरस्य विधानमासमाप्तेरिति सम्बन्धः।
- (७) अर्थपदाक्षराणामन्यूनातिरिक्तता हेतूदाहरणद ष्टान्तैरर्थोपवर्णनाश्रान्तपदतेति परिपूर्णता।
- (८) सुखोपनीतचार्वर्थशब्दाभिधानं माधुर्यम्।
- (९) अग्राम्यशब्दाभिधानमौदार्यम्।
- (१०) प्रतीतशब्दप्रयोगः स्पष्टत्वमिति।
- (११) अकारादयो वर्णास्त्रिषष्टिः।
- (१२) वर्णसङ्घातः पदम्। तच्चतुर्विधं नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति। सूत्र नाम सत्त्वाभिधायि।
अविशिष्टलिङ्गमाख्यातं क्रियावाचि। क्रियाविशेषकाः प्रादय उपसर्गाः। अव्ययाश्चादयो निपाताः।
- (१३) पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ। एकपदावरस्त्रिपदपरः परपदार्थानुरोधेन वर्गः कार्यः।
लेखपरिसंहरणार्थं इतिशब्दो वाचिकमस्येति च।
- (१४) निन्दा प्रशंसा प च्छा च तथाख्यानमथार्थना।
प्रत्याख्यानमुपालम्भः प्रतिषेधो थ चोदना।।
सान्त्वमभ्यवपत्तिश्च भर्त्सनानुनयो तथा।
एतेष्वर्थाः प्रवर्तन्ते त्रयोदशसु लेखजाः।।
- (१५) तत्राभिजनशरीरकर्मणां दोषवचनं निन्दा। गुणवचनमेतेषामेव प्रशंसा। कथमेतदिति प च्छा।
एवम् इत्याख्यानम्। देहीत्यर्थना। न प्रयच्छयामीति प्रत्याख्यानम्। अननुरूपं भवत
इत्युपालम्भः। मा कार्षीः इति प्रतिषेधः। इदं क्रियतामिति चोदना। यो हं स भवान्, मम
यद् द्रव्यं तद्भवतः इत्युपग्रहः सान्त्वम्। व्यसनसाहाय्यमभ्यवपत्तिः। सदोषमायति-
प्रदर्शनमभिभर्त्सनम्।
- (१६) अनुनयस्त्रिविधो र्थकृतावतिक्रमे पुरुषादिव्यसने चेति।
- (१७) प्रज्ञापनाज्ञापनिदानलेखास्तथा परीहारनिस ष्टिलेखौ।
प्राव त्तिकश्च प्रतिलेख एव सर्वत्रगश्चेति हि शासनानि।।
- (१८) अनेन विज्ञापितमेवमाह तद्दीयतां चेद्यति तत्त्वमस्ति।

- राज्ञः समीपे वरकारमाह प्रज्ञापनैषा विविधोपदिष्टा।।
- (१६) भर्तृराज्ञा भवेद् यत्र निग्रहानुग्रहौ प्रति।
विशेषण तु भ त्पेषु तदाज्ञालेखलक्षणम्।।
- (२०) यथार्हगुणसंयुक्ता पूजा यत्रोपलक्ष्यते।
अप्याधौ परिदाने वा भवतस्तावुपग्रहौ।।
- (२१) जातेर्विशेषेषु पुरेषु चैव ग्राकेषु देशेषु च तेषु तेषु।
अनुग्रहो यो न पतेनिदेशात्तज्ज्ञः परीहार इति व्यवस्येत्।।
- (२२) निसृष्टिस्थापना कार्यकरणे वचने तथा।
एष वाचिकलेखः स्याद्भवेन्नैसृष्टिकोऽपि वा।।
- (२३) विविधां देवसंयुक्तां तत्त्वजां चैव मानुषीम्।
द्विविधां तां व्यवस्यन्ति प्रवृत्तिं शासनं प्रति।।
- (२४) दृष्ट्वा लेखं यथातत्त्वं ततः प्रत्यनुभाष्य च।
प्रतिलेखो भवेत् कार्यो यथा राजवचस्तथा।।
- (२५) यथेश्वराश्चाधिकृतांश्च राजा रक्षोपकारी पथिकार्थमाह।
सर्वत्रगो नाम भवेत् स मार्गं देशे च सर्वत्र च वेदितव्यः।।
- (२६) उपायाः सामोपप्रदानभेददण्डाः।
- (२७) तत्र सामं पञ्चविधं-गुणसंकीर्तनं, सम्बन्धापाख्यानं, परस्पररोपकारसन्दर्शनं, आमायतिप्रदर्शनं, अमात्मोपनिधानमिति।
- (२८) तत्राभिजनशरीरकर्मप्रकृतिश्रुतद्रव्यादीनां गुणागुणग्रहणं प्रशंसा स्तुतिर्गुणसङ्कीर्तनम्।
- (२९) ज्ञातियौवनमौखस्त्रौवकुलहृदयमित्रसंकीर्तनं सम्बन्धोपाख्यानम्।
- (३०) स्वपक्षपरपक्षयोरन्योन्योपकारसंकीर्तनं परस्पररोपकारसन्दर्शनम्।
- (३१) अस्मिन्नेवं कृतं इदमावयोर्भवतीत्याशाजननमायतिप्रदर्शनम्।
- (३२) यो हं स भवान्, यन्मम द्रव्यं तदभवता स्वकृत्येषु प्रयोज्यताम् इत्यात्मोपनिधानमिति।
- (३३) उपप्रदानमर्थोपकारः।
- (३४) शङ्काजननं निर्भर्त्सनं च भेदः।
- (३५) वधः परिवलेशो र्थहरणं दण्ड इति।
- (३६) अकान्तिर्व्याघातः पुनरुक्तमपशब्दः संप्लव इति लेखदोषाः।
- (३७) तत्र कालपुत्रकमचारुविषमविरागाक्षरत्वमकान्तिः।
- (३८) पूर्वेण पश्चिमस्यानुपपत्तिर्व्याघातः।
- (३९) उक्तस्याविशेषणं द्वितीयमुच्चारणं पुनरुक्तम्।
- (४०) लिङ्गवचनकालकारंकाणामन्यथाप्रयोगो पशब्दः।
- (४१) अवर्गे वर्गकरणं वर्गे चावर्गक्रिया गुणविपर्यासः संप्लव इति।
- (४२) सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थं शासनस्य विधिः कृतः।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे शासनाधिकारं नाम दशमो ध्यायः, आदितः त्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) राजा की ओर से पत्र आदि पर लिखित आज्ञा या प्रतिज्ञा का नाम 'शासन' है। राजा लोग शासन पर ही विश्वास करते हैं, मौखिक बात पर नहीं। संधि, विग्रह आदि षाड्गुण्य सम्बन्धी राजकीय कार्य शासनमूलक होने पर ही ठीक समझे जाते हैं।
- (२) इसलिए राजकीय शासन को लिखने वाले लेखक को अमात्य की योग्यताओं वाला, आचार-विचार का ज्ञाता, शीघ्र ही सुंदर वाक्य-योजना में निपुण, सुलेखक और विभिन्न लिपियों को पढ़ने-लिखने वाला होना चाहिये। वह लेखक प्रकृतिस्थ होकर राजा के संदेश को सुने और पूर्वापर प्रसंगों को दृष्टि में रखकर स्पष्ट अभिप्राय प्रकट करने वाले लेख को लिखे। लेख यदि किसी राजा से सम्बद्ध हो तो, उसमें देश, ऐश्वर्य, वंश और नाम का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। यदि उसका सम्बन्ध अमात्य से हो तो उसमें केवल उसके देश और नाम का ही उल्लेख किया जाये।
- (३) लेख यदि किसी राजकार्य-सम्बन्धी हो तो उसमें जाति, कुल, स्थान, आयु, योग्यता, कार्य, धन-सम्पत्ति, सदाचार, देश, काल, वैवाहिक सम्बन्ध आदि बातों का भली-भाँति विचार करके, प्राप्तकर्ता पुरुषों की श्रेष्ठता, निकृष्टता आदि का भी अवश्य उल्लेख करें।
- (४) उस लेखक में १. अर्थक्रम, २. संबंध, ३. परिपूर्णता, ४. माधुर्य, ५. औदार्य और ६. स्पष्टता आदि छह प्रकार की योग्यतायें होनी चाहिये।
- (५) प्रधान अर्थ और अप्रधान अर्थ पूर्वापर यथानुक्रम में रखना ही अर्थक्रम कहलाता है।
- (६) लेख की समाप्ति पर्यन्त अगला अर्थ, प्रस्तुत अर्थ का बाधक न होने पर अर्थसम्बन्ध कहलाता है।
- (७) अर्थपद तथा अक्षरों का न्यूनाधिक्य न होना, हेतु उदाहरण तथा दृष्टान्त सहित अर्थ का निरूपण करना और प्रभावहीन शब्दों का प्रयोग न करना परिपूर्णता कहलाता है।
- (८) सरल सुबोध शब्द का प्रयोग करना माधुर्य है।
- (९) शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना औदार्य कहलाता है।
- (१०) सुप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग करना ही स्पष्टता है।
- (११) अकार आदि त्रेसठ वर्ण होते हैं।
- (१२) वर्णों के समूह को पद कहते हैं। पद चार प्रकार का होता है : १. नाम, २. आख्यात, ३. उपसर्ग और ४. निपात। जाति, गुण और द्रव्य को बताने वाला पद नाम कहलाता है। स्त्री-पुरुष आदि विशेष लिंगों से रहित क्रियावाचक पद को आख्यात कहते हैं। क्रियाओं के विशेष अर्थों का द्योतन करने वाले उनके आरंभ में लगे हुए प्र, परा, आदि पद उपसर्ग कहलाते हैं। च आदि अव्ययों को निपात कहते हैं।
- (१३) सम्पूर्ण अर्थ को कहने वाले पदसमूह का नाम वाक्य है। कम-से-कम एक पद पर और अधिक-से-अधिक तीन पद पर मुख्य पद के अनुसार विराम करना चाहिये। लेख की समाप्ति को बताने के लिए अन्त में इति शब्द लिख देना चाहिये, यदि लेख में पूरी बातें न लिखी गई हों तो अन्त में वाचिकमस्य, इस प्रकार लिख देना चाहिये।
- (१४) निन्दा, प्रशंसा, पच्छा, आख्यान, अर्थना, प्रत्याख्यान, उपालम्भ, प्रतिषेध, चोदना, सान्त्वना, अभ्यवपत्ति, भर्त्सना और अनुनय इन्हीं तरह बातों में से किसी बात को प्रकट किया जाता है।
- (१५) किसी के वंश, शरीर और कार्य में दोषारोपण करना निन्दा है। उन्हीं बातों के सम्बन्ध में गुणगान करना प्रशंसा है। 'यह कैसा हुआ ?' इस प्रकार पूछना ही पच्छा है। 'इसको इस

प्रकार करना चाहिये' ऐसा कहना आख्यान है। 'दीजिए' इस प्रकार माँगना अर्थना है। 'नहीं देता हूँ' इस प्रकार निषेध करना ही प्रत्याख्यान है। 'यह कार्य आपने अपने अनुरूप नहीं किया' इस प्रकार का वचन उपालम्भ है। 'ऐसा मत करो' यह प्रतिषेध है। 'ऐसा करना चाहिये' इस प्रकार की प्रेरणा चोदना है। 'जो मैं हूँ वही आप हैं, जो मेरा धन है वही आपका भी है' इस प्रकार की तसल्ली देना सान्त्वना है। आपत्ति के समय सहायता करना अभ्यवपत्ति है। दोष देकर धमकी देना भर्त्सना हैं

- (१६) अनुनय तीन प्रकार का होता है : १.. अर्थकरणनिमित्तक, २. अतिक्रमनिमित्तक ओर ३. पुरुषादिव्यसननिमित्तक। किसी आवश्यक कार्य को करने के लिए अनुनय किया जाना ही अर्थकरणनिमित्तक है और किसी कुपित पुरुष को शान्त करने के लिए अनुनय करना अतिक्रमनिमित्तक है, और किसी आत्मीय की म त्तु के कारण आई हुई विपत्ति में अनुनय करना पुरुषाधिव्यसननिमित्तक है। अनुनय कहते हैं अनुग्रह को।
- (१७) १. प्रज्ञापना, २. आज्ञा, ३. परिदान, ४. परीहार, ५. निस प्ति ६. प्राव त्तिक, ७. प्रतिलेख और ८. सर्वत्रग, लेख के ये आठ भेद और हैं।
- (१८) यदि कोई महामात्र राजकीय धन का संग्रह करके अपने पास रख लेता है और गुप्तचर से उसकी सूचना पाकर राजा जब उस महामात्र से राजकीय धन को राजकोष में जमा करने की आज्ञा देता है और जब महामात्र धन देना स्वीकार कर लेता है तब जो लिखा-पढ़ी होती है, उस लेख-पत्र का नाम ही प्रज्ञानता है।
- (१९) जिस लेख-पत्र में राजा की ओर से निग्रह या अनुग्रह की आज्ञा हो और विशेषरूप से जो नौकरों के सम्बन्ध में लिखा जाये उसे आज्ञा कहते हैं।
- (२०) जिस लेख-पत्र में समुचित गुणों से सत्कार का भाव प्रकट किया जाता है उसे परिदान कहते हैं। यह दो प्रकार से लिखा जाता है। १. जब नौकरों का कोई आत्मीय मर जाता है जिसके कारण वे व्यथित हैं; २. जब राजा उनकी रक्षा के लिए दयाभाव प्रकट करता है।
- (२१) विशेष जातियों, नगरों, ग्रामों और देशों पर राजा की आज्ञा के अनुसार जो अनुग्रह किया जाता है, विशेषज्ञ लोक उसी को परीहार कहते हैं।
- (२२) किसी कार्य के करने तथा कहने में किसी आत्मवचन का प्रमाण देना ही निस प्ति है, उसके वाचिक और नैस प्तिक दो भेद होते हैं।
- (२३) अनेक प्रकार की दैवी, पारमार्थिक और मानुषी आपत्तियों की सूचना को प्राव त्तिक कहते हैं। वह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है।
- (२४) दूसरे के भेजे हुए लेख को भली-भाँति देखने और पढ़ने के अनन्तर, फिर राजा के सामने पढ़कर, राजा की आज्ञा के अनुसार उसका जो उत्तर लिखा जाये उसको प्रतिलेख कहते हैं।
- (२५) जिस लेखपत्र में राजा राहगीरों की रक्षा ओर उनके उपकार के लिए अपने अधिकारियों को आदेश देता है वह सर्वत्रग है; क्योंकि वह मार्ग में, देश में तथा राष्ट्र में सब जगहों पर लिखा जाता है।
- (२६) उपाय चार हैं : १. साम, २. दाम, ३. दण्ड और ४, भेद।
- (२७) उनमें साम पाँच प्रकार का होता है : १. गुणसंकीर्तन, २. सम्बन्धोपाख्यान, ३. परस्परपकारसंदर्शन, ४. आयतिप्रदर्शन और ५. आत्मोपनिधान।
- (२८) वंश, शंरीर; कार्य, स्वभाव, विद्वत्ता; हाथी-घोड़े-रथ आदि के गुणों और अवगुणों को जानकर उनकी प्रशंसा करना ही गुणसंकीर्तन कहलाता है।
- (२९) समानकुल, विवाह, गुरु-शिष्य, पुरोहित-यजमान, वंशपरंपरागत, हार्दिक और मैत्रीभाव आदि

सात प्रकार के सम्बन्धों में से किसी एक का कथन करना सम्बन्धोपाख्यान है।

- (३०) परस्पर एक दूसरे द्वारा किए गये उपकार का कथन करना परस्पर उपकारसंदर्शन कहलाता है।
- (३१) इस कार्य के करने में हम दोनों को ऐसा फल प्राप्त होगा, ऐसी आशा करना आयतिप्रदर्शन है।
- (३२) 'जो मैं हूँ वही आप हैं तथा मेरा धन ही आपका धन है, उसे आप इच्छानुसार अपने कार्य में लगा सकते हैं।' इस आत्मसमर्पण की भावना को आत्मोपनिधान कहते हैं।
- (३३) धन आदि के द्वारा उपकार करना दान या उपप्रदान है।
- (३४) शत्रु के हृदय में शंका पैदा कर देना भेद है।
- (३५) उसे मार देना, उसको पीड़ा पहुँचाना या उसके धन का अपहरण करना दण्ड कहलाता है।
- (३६) पत्रलेख के पाँच दोष हैं-१. अकान्ति, २. व्याघात, ३. पुनरुक्त, ४. अपशब्द और ५. संप्लव।
- (३७) स्याही पड़े कागज पर लिखना, मलिन कागज पर लिखना, भद्दे अक्षर लिखना, छोटे-बड़े अक्षर लिखना और फीकी स्याही से लिखना अकान्ति नामक दोष है।
- (३८) पहले लेख से पिछले लेख का विरोध हो जाना अथवा पहले लेख से पिछले लेख की बाधा हो जाना व्याघात दोष है।
- (३९) जो बात पहले कही गई हो उसे ही दुहरा देना पुनरुक्त दोष है।
- (४०) लिंग, वचन, काल और कारक का विपरीत प्रयोग करना अपशब्द दोष है।
- (४१) लेख में विराम आदि चिह्नों की, अर्थक्रम के अनुसार योजना न करना, संप्लव दोष है।
- (४२) आचार्य कौटिल्य ने सम्पूर्ण शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके और उनके प्रयोगों की अच्छी तरह परीक्षा करके ही राजा के लिए इस शासनविधि की रचना की है।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में शासनाधिकार नामक दसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ११

कोषप्रवेश्यरत्नपरीक्षा

- (१) कोषाध्यक्षः कोषप्रवेश्यं रत्नं सारं फल्गु कुप्यं वा तज्जातकरणाधिष्ठितः प्रतिग हणीयात्।
- (२) ताम्रपर्णिकं, पाण्ड्यकवाटकं, पाशिक्यं, कौलेयं, चौर्ण्यं, माहेन्द्रं कार्दमिकं स्रौतसीयं, हादीयं, हैमवतं च मौक्तिकम्।
- (३) शङ्ख शुक्तिः प्रकीर्णकं च योनयः।
- (४) मसूरकं त्रिपुटकं कूर्मकमर्धचन्द्रं क चुकितं यमकं कर्तकं खरकं सिक्थकं कामण्डलुकं श्यावं नीलं दुर्विद्धं चाप्रशस्तम्।
- (५) स्थूलं व तं निस्तलं भ्राजिष्णु श्वेतं गुरु स्निग्धं देशविद्धं च प्रशस्तम्।
- (६) शीर्षकमुपशीर्षकं प्रकाण्डकमवघाटकं तरलप्रतिबन्धं चेति यष्टिप्रभेदाः।
- (७) यष्टीनामष्टसहस्रमिन्द्रच्छन्दः। ततो धं विजयच्छन्दः। शतं देवच्छन्दः। चतुष्पष्टिरर्धहारः। चतुष्टप चाशद्रश्मिकलापः। द्वात्रिंशद्गुच्छः। सप्तविंशतिर्नक्षत्रमाला। चतुर्विंशतिर्धगुच्छः। विंशतिर्माणवकः। ततो धर्मर्धमाणवकः। एत एव मणिमध्यास्तन्माणवका भवन्ति। एकशीर्षकः शुद्धो हारः। तद्वच्छेषाः। मणिमध्यो धमाणवकस्त्रिफलकः फलकहारः प चफलको वा। सूत्रमेकावली शुद्धा। सैव मणिमध्या यष्टिः। हेममणिचित्रा रत्नावली। हेममणिमुक्तान्तरो पर्वतकः। सुवर्णसूत्रान्तरं सोपानकम्। मणिमध्यं वा मणिसोपानकम्।
- (८) तेन शिरोहस्तपादकटीकलापजालकविकल्पा व्याख्याताः।
- (९) मणिः कोटौ मालेयकः पारसमुद्रकश्च।
- (१०) सौगन्धिकः पद्मरागः अनुवद्यरागः पारिजातपुष्पकः बालसूर्यकः।
- (११) वैदूर्यः - उत्पलवर्णः शिरीषपुष्पक उदकवर्णो वंशरागः शुकपत्रवर्णः पुष्यरागो गोमूत्रको गोमेदकः।
- (१२) नीलावलीय इन्द्रनीलः कलायपुष्पको महानीलो जाम्बवाभो जीभूतप्रभो नन्दकः स्रवन्मध्यः।
- (१३) शुद्धस्फटिकः मूलाटवर्णः शीतव ष्टिः सूर्यकान्तश्चेति मणयः।
- (१४) षडश्रश्चतुरश्रो व त्तो वा, तीव्ररागः संस्थानवानच्छः स्निग्धो गुरुरचिष्मानन्तर्गतप्रभः प्रभानुलेपी चेति मणिगुणाः।
- (१५) मन्दरागप्रभः सशर्करः पुष्पच्छिद्रः खण्डो दुर्विद्धो लेखाकीर्ण इति दोषाः।
- (१६) विमलकः सस्यको जनमूलकः पित्तकः सुलभको लोहिताक्षो म गाश्मको ज्योतीरसको मैलेयक आहिच्छत्रकः कूर्पः प्रतिकूर्पः सुगन्धिकूर्पः क्षीरपकः शुक्तिचूर्णकः शिलाप्रवालकः पुलकः शुक्रपुलक इत्यन्तरजातयः।
- (१७) शेषाः काचमणयः।
- (१८) सभाराष्ट्रकं मध्यमराष्ट्रकं कास्तीरराष्ट्रकं श्रीकटनकं मणिमन्तकमिन्द्रवानकं च वज्रम्।
- (१९) खनिः स्रोतः प्रकीर्णकं च योनयः।
- (२०) मार्जाराक्षकं च शिरीषपुष्पकं गोमूत्रकं गामेदकं शुद्धस्फटिकं मूलाटीपुष्पकवर्णं मणिवर्णानामन्यतमवर्णमिति वज्रवर्णाः।

- (२१) स्थूलं स्निग्धं गुरु प्रहारसहं समकोटिकं भाजनलेखितं कुआमि आजिष्णु च प्रशस्तम्।
- (२२) नष्टकोणं निरश्रिपाशर्वापव त्तं च अप्रशस्तम्।
- (२३) प्रबालकं आलकन्दकं वैवर्णिकं च रक्तं पद्मरागं च करटगर्भिणिकावर्जमिति।
- (२४) चन्दनम्-सातनं रक्तं भूमिगन्धि। गोशीर्षकं कालताम्रं मत्स्यगन्धि। हरिचन्दनं शुक्रपत्रवर्णमाग्नगन्धिं तार्णसं च। ग्रामेरुकं रक्तं रक्तकालं वा वस्तमूत्रगन्धि। देवसभेयं रक्तं पद्मगन्धि। जावकं च। जोङ्गकं रक्तं रक्तकालं वा स्निग्धम् तौरुपं च। मालेयकं पाण्डुरक्तम्। कुचन्दनं कालवर्णकं गोमूत्रगन्धि। कालपर्वतकं रूक्षमगुरुकालं रक्तं रक्तकालं वा। कोशकारपर्वतकं कालं कालचित्रं वा। शीतोदकीयं पदमाभं कालस्निग्धं वा नागपर्वतकं रूक्षं शैलवर्णं वा। शाकलं कपिलमिति।
- (२५) लघु स्निग्धमश्यानं सर्पिः स्नेहलेपि गन्धसुखं त्वगनुसार्यनुल्बणमविराग्युष्णसहं दाहग्राहि सुखस्पर्शनमिति चन्दनगुणाः।
- (२६) अगुरु-जोङ्गकं कालं कालचित्रं मण्डलचित्रं वा। श्यामं दोङ्गकम्। पारसमुद्रकं चित्ररूपम्। उशीरगन्धि नवमालिकागन्धि वेति।
- (२७) गुरु स्निग्धं पेशलगन्धि निर्हारि अग्निसहमसंप्लुतधूमं समगन्धं विमर्दसहम् इत्यगुरुगुणाः।
- (२८) तैलपर्णिकम्-अशोकग्राभिकं मांसवर्णं पद्मगन्धि। जोङ्गकं रक्तपीतकमुत्पलगन्धि गोमूत्रगन्धि वा ग्रामेरुकं स्निग्धं गोमूत्रगन्धि। सौवर्णकुड्यकं रक्तपीतं मातुलुङ्गान्धि। पूर्णकद्वीपकं पद्मगन्धि नवनीतगन्धि वेति।
- (२९) भद्रश्रीयम्-पारलौहित्यकं जातीवर्णम्। आन्तरवत्यमुशीरवर्णम्। उभयं कुष्ठगन्धि चेति।
- (३०) कालेयकः - स्वर्णभूमिजः स्निग्धपीतकः। अतीतरपर्वतको रक्तपीतकः इति साराः।
- (३१) पिण्डक्वाथधूमसहमविरागि योगानुविधायि च। चन्दनागरुवच्च तेषां गुणाः।
- (३२) कान्तनावकं प्रैयकं चोत्तरपर्वतकं चर्म। कान्तनावकं मयूरग्रीवाभम्। प्रैयकं नीलं पीतं श्वेतं लेखाविन्दुचित्रम्। तदुभयमष्टाङ्गुलायामम्।
- (३३) बिसी महाबिसी च द्वादशाग्राकीये। अव्यक्तरूपा दुहिलिका चित्र वा बिसी। परुषा श्वेतप्राया महाबिसी। द्वादशाङ्गुलायाममुभयम्।
- (३४) श्यामिका कालिका कदली चन्द्रोत्तरा शाकुला चारोहजाः। कपिला बिन्दुचित्रा वार श्यामिका। कालिका कपिला कपोतवर्णा वा तदुभयमष्टाङ्गुलायाम। परुषा कदली हस्तायता। सैव चन्द्रचित्रा चन्द्रोत्तरा। कदलीत्रिभागा शाकुला कोठमण्डलचित्रा कृतकर्णिकाजिनचित्रा चेति।
- (३५) सामूरं चीनसी सामूल च बाहलवेयाः। षड्त्रिंशदङ्गुलम जनवर्णं सामूरम्। चीनसी रक्तकालौ पाण्डुकाली वा। सामूली गोधूमवर्णति।
- (३६) सातिना नलतूला व त्तपुच्छा औद्राः। सातिना कृष्णा। नलतूमला नलतूलवर्णा। कपिला व त्तपुच्छा च। इति चर्मजातयः।
- (३७) चर्मणां म दु स्निग्धं बहुलरोम च श्रेष्ठम्।
- (३८) शुद्धं शुद्धरक्तं पक्षरक्तं च आविकम्। खचितं वानचित्रं खण्डसङ्घात्यं तनतुर्विच्छिन्नं च।
- (३९) कम्बलः केचलकः कलमितिका सौमितिका तुरगास्तरणं वर्णकं तच्छिलकं वारवाणः। परिस्तोमः समन्तभद्रकं च आविकम्।
- (४०) पिच्छलमार्द्रमिव च सूक्ष्म म दु च श्रेष्ठम्।
- (४१) अष्टप्लोतिसङ्घात्या कृष्णा भिङ्गिसी वर्षवारणम्, अपसारक इति नेपालकम्।

- (४२) संपुटिका चतुरश्रिका लम्बरा कटवानकं प्रावरकः सत्तलिकेति म गरोम।
- (४३) वाङ्गकं श्वेतं स्निग्धं दुकूलं, पौण्ड्रकं श्मामं मणिस्निग्धं, सौवर्णकुड्यकं सूर्यवर्णम्।
मणिस्निग्धोदकवानं चतुरश्रवानं व्यामिश्रवानं च।
- (४४) एतेषामेकांशुकमध्यर्धद्वित्रिचतुरंशुकमिति।
- (४५) तेन काशिकं पौण्ड्रकं च क्षौमं व्याख्यातम्।
- (४६) मागधिका पौण्ड्रिका सौवर्णकुड्यका च पत्रोर्णाः नागव क्षो लिकुचो वकुलो वटश्च योनयः।
पीतिका नागव क्षिका, गोधूमवर्णा लैकुची, श्वेता वाकुली, शेषा नवनीतवर्णा।
- (४७) तासां सौवर्णकुड्यका श्रेष्ठा। तथा कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः।
- (४८) माधुरमापरान्तकं कालिङ्गकं काशिकं वाङ्गकं वात्सकं माहिषकं च कार्पासिकं श्रेष्ठमिति।
- (४९) अतः परेषां रत्नानां प्रमाणं मूल्यलक्षणम्।
जातिं रूपं च जानीयान्निधानं नवकर्म च।।
- (५०) पुराणप्रतिसंस्कारं कर्मगुह्यमुपस्करान्।
देशकालपरीभोगं हिंसाणां च प्रतिक्रियाम्।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे कोशप्रेवश्यरत्नपरीक्षा नाम एकादशो ध्यायः, आदितः एकत्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) कोषाध्यक्ष को चाहिए कि वह विशेषज्ञों की सहमति से ही रत्न, सार, फल्गु और कुप्य आदि मूल्यवान् द्रव्यों को राजकोष के लिए लेना स्वीकार करे।
- (२) मोतियों के दस उत्पत्ति स्थान हैं : १. ताम्रपर्णिक, २. पाण्ड्यकवाटक, ३. पाशिक्य, ४. कौलेय, ५. चौर्णय, ६. माहेन्द्र, ७. कार्दमिक, ८. स्रौतसीय, ९. हादीय और १०. हैमवत।
- (३) मोतियों की उत्पत्ति के तीन कारण हैं : शुक्ति, शंख और प्रकीर्णक।
- (४) दूषित मोतियों के तेरह प्रकार होते हैं। १. मसूरक, २. त्रिपुटक, ३. कूर्मक, ४. अर्धचन्द्रक, ५. कंचुकित, ६. यमक, ७. कर्तक, ८. खरक, ९. सिक्थक, १०. कामण्डलुक, ११. श्याव, १२. नील और १३. दुर्विद्ध।
- (५) मोटा, गोल, तलरहित, दीप्तिमान, श्वेत, वजनी, चिकना और उचित स्थान पर बिंधा मोती उत्तम कोटि का है।
- (६) यष्टि अर्थात् मोतियों की माला के कई नाम हैं, शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और तरलप्रतिबन्ध।
- (७) एक हजार आठ लड़ों की माला को इन्द्रच्छन्द, उससे आधी पाँच सौ चार लड़ों की माला को विजयच्छन्द, सौ लड़ों की माला को देवच्छन्द, चौसठ लड़ों की माला को अर्धहार, चौवन लड़ों की माला को रश्मिकलाप, बत्तीस लड़ों की माला को गुच्छ, सत्ताईस लड़ों की माला को नक्षत्रमाला, चौबीस लड़ों की माला को अर्धगुच्छ, बीस लड़ों की माला को माणवक और उससे आधी दस लड़ों की माला को अर्धमाणवक कहा जाता है। इन्हीं मालाओं के बीच में यदि मणि पियो दी जाये तो उनके नाम के आग्र माणवक शब्द जुड़ जाता है। यदि इन्द्रच्छन्द आदि मालाओं में सभी मोती शीर्षक के समान पियोये जाते हैं तो उनका नाम इन्द्रच्छन्दशीर्षक शुद्धहार, विजयच्छन्दशीर्षक शुद्धहार कहा जाता है। इसी प्रकार यदि इन्द्रच्छन्द आदि में सभी मोती उपशीर्षक के समान पियोये गए हों तो उसे इन्द्रच्छन्दोपशीर्षकशुद्धहार कहा जाता है।

यदि इन शुद्धहारों के बीच में मणि पिरो दी जाये तो, बजाय शुद्धहार के ये अर्धमाणवक कहलाते हैं और तब उनका पूरा नामकरण होता है इन्द्रच्छन्दशीर्षकार्धमाणवक। इसी प्रकार उपशीर्षक आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। दस लड़ियों की माला में यदि सोने के तीन या पाँच दाने पिरो दिये गए हों तो उसे फलकहार कहा जाता है। एक ही लड़ी की मोती की माला का नाम सूत्र है। यदि उसके बीच में मणि पिरो दी जाये तो उसे ही यष्टि कहा जाता है। सोने के दाने और मणियों से पिरोई गई मोती की माला रत्नावली कहलाती है। यदि किसी माला में सोने के दाने, मणि और मोती क्रमशः पिरो दिये गये हैं तो उस माला को अपवर्तक कहते हैं। यदि अपवर्तक माला में मणि न लगी हो तो उसका नाम सोपानक है। यदि बीच में मणि लगा दी जाये तो उसे मणिसोपानक कहते हैं।

- (८) इसी प्रकार शिर, हाथ, पैर और कमर की भिन्न-भिन्न मालाओं के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये।
- (९) मणियों के तीन उत्पत्ति-स्थान हैं : १. कोट, २. मालेयक और ३. पारसमुद्रक।
- (१०) मणियों में पाँच प्रकार के मणिक्य होते हैं: १. सौगन्धिक, २. पद्मराग, ३. अनवद्यराग, ४. पारिजात पुष्पक और ५. बालसूर्यक।
- (११) वैदूर्य मणि आठ प्रकार की होती है : १. उत्पलवर्ण, २. शिरीषपुष्पक, ३. उदकवर्ण, ४. वंशराग, ५. शुकपत्रवर्ण, ६. पुष्यराग, ७. गोमूत्रक और ८. गोमेदक।
- (१२) इन्द्रनीलमणि भी आठ प्रकार की होती है : १. नीलाबलीय, २. इन्द्रनील, ३. कलायपुष्पक, ४. महानील, ५. जाम्बवाभ, ६. जीमूतप्रभ, ७. नन्दक और ८. स्रवन्मध्य।
- (१३) स्फटिक मणि चार प्रकार की होती है : १. शुद्धस्फटिक, २. मूलाटवर्ण, ३. शीतवष्टि और ४. सूर्यकान्त।
- (१४) मणियों में ग्यारह प्रकार के गुण होते हैं : १. षड्ज, २. चतुरस्र, ३. वृत्त, ४. गहरे रंगवाली चमकदार, ५. आभूषण में लगाने योग्य, ६. निर्मल, ७. चिकनी, ८. भारी, ९. दीप्तियुक्त, १०. च चलकान्तियुक्त और ११. अपनी कांति से पास की वस्तु को प्रकाशित कर देने वाली।
- (१५) मणियों में सात प्रकार के दोष पाये जाते हैं : १. हलके रंग वाली, २. हलकी प्रभावाली, ३. खुरदरी, ४. छोटे छिद्र वाली, ५. कटी हुई, ६. उपयुक्त स्थान पर न बेधी हुई और ७. विभिन्न रेखाओं वाली।
- (१६) मणियों की अठारह प्रकार की उपजातियाँ हैं - १. विमलक, २. सस्यक, ३. अंजनमूलक, ४. पित्तक, ५. सुलभक, ६. लोहिताक्ष, ७. म गाश्मक, ८. ज्योतीरसक, ९. मैलेयक, १०. आहिच्छत्रक, ११. कूर्प, १२. प्रतिकूर्प, १३. सुगन्धिकूर्प, १४. क्षीरपक, १५. सुगन्धिकूर्प, १६. शिलाप्रवालक, १७. पुलक और १८. शुक्रपुलक।
- (१७) इनके अतिरिक्त जो मणियाँ हों वे काँच के समान निम्न कोटि की होती हैं।
- (१८) हीरे के छह उत्पत्ति स्थान हैं : १. सभाराष्ट्रक, २. मध्यमराष्ट्रक, ३. कास्तीरराष्ट्रक, ४. श्रीकटनक, ५. मणिमंतक और ६. इन्द्रवानक।
- (१९) इनके अतिरिक्त खदान, विशेष जलप्रवाह और हाथी दाँत की जड़ आदि भी हीरे के उत्पत्तिस्थान हैं। खान और जलप्रवाह आदि के अन्य स्थानों में उत्पन्न हीरा को प्रकीर्णक कहते हैं।
- (२०) हीरे के अनेक आकार-प्रकार हैं : बिलाव की आँख के समान, शिरीष पुष्प की आकृति का, गोमूत्र के समान, गोरोचन की भाँति, सर्वथा स्वच्छ, श्वेत, मुलहटी के फूल जैसा, और मणियों की आकृति का।

- (२१) मोटा, वजनी, घन की चोट सहने वाला, समकोण पानी से भरे पीतल के बर्तन में उसको हिलाने से लकीरें डाल देने वाला, चर्खे में लगे तकुवे के तरह घूमने वाला और चमकदार हीरा उत्तम कोटि का है।
- (२२) नष्टकोण, नुकीले कोनों से रहित और छोटे-बड़े कोनों वाला हीरा दूषित समझा जाता है।
- (२३) प्रवाल (भूंगा) के दो उत्पत्ति स्थान हैं - १. आलकन्दक और २. वैवर्णिक। प्रवाल के दो रंग होते हैं : १. रक्त और २. कमल। वह कीड़े का खाया हुआ तथा बीच में मोटा या उठा हुआ नहीं होना चाहिये।
- (२४) चन्दन के सोलह उत्पत्ति स्थान, नौ रंग, छह गन्ध और ग्यारह गुण होते हैं। उत्पत्तिस्थान- १. सातन देश में उत्पन्न चन्दन लाल रंग का होता है और उसमें धरती की सोंध होती है, २. गोशीर्ष देश में उत्पन्न चन्दन कालिमा एवं लाली लिए होता है और उसमें मछली की जैसी गन्ध होती है, ३. हरि नामक देश में उत्पन्न चन्दन तोते के पंख के समान हरे रंग का और उसमें आम की जैसी महक होती है, ४. तणसा नामक दनी के किनारे उत्पन्न होने वाला चन्दन भी हरिचन्दन के ही समान होता है, ५. ग्रामेरु प्रदेश में उत्पन्न चन्दन या तो लाल रंग का अथवा लाल-काले मिले हुए रंग का होता है और उसमें बकरे की पेशाब जैसी गन्ध होती है, ६. देवसभा नामक स्थान में उत्पन्न चन्दन लाल रंग का और पद्म के समान सुगन्धि वाला होता है, ७. जाबक देश का चन्दन या तो लाल रंग का अथवा लाल-काला रंग का चिकना होता है और वह भी पद्म के समान सुगन्धित होता है, ८. तुरूप देश का चन्दन भी जोंगरु की भांति होता है, ९. माल देश में उत्पन्न चन्दन का रंग लाल-पीला होता है, उसमें पद्म के समान सुगन्ध होती है, १०. कुचन्दन काले रंग का तथा गोमूत्र के समान गन्ध वाला होता है, ११. काल पर्वत पर उत्पन्न चन्दन खुरदुरा, अगर के समान काला या लाल या लाल-काला होता है और उसमें भी गोमूत्र जैसी गन्ध होती है, १२. कोशकार पर्वत पर उत्पन्न चन्दन काला अथवा चितकबरा होता है, १३. शीतोदक देश में उत्पन्न चन्दन पत्र के रंग का या काला अथवा स्निग्ध होता है, १४. नाग पर्वत पर उत्पन्न चन्दन रूखा और सेवार के रंग जैसा होता है, १५. शाकल देश में उत्पन्न पीला-लाल (कपिल) वर्ण का होता है।
- (२५) चन्दन में ग्यारह गुण होते हैं : १. लघु, स्निग्ध, ३. बहुत दिनों में सूखने वाला, ४. शरीर में घी के समान लगने वाला, ५. सुगन्धित, ६. त्वचा के भीतर ठंडक पहुँचाने वाला, ७. बिना फटा, ८. स्थायी वर्ण एवं गन्ध वाला, ९. गर्मी शान्त करने वाला, १०. सन्ताप को दूर करने वाला और ११. सुखकर स्पर्श वाला।
- (२६) अगर का निरूपण इस प्रकार है-जोंगक नामक अगर तीन तरह का होता है : काला, चितकबरा और काले-सफेद दागों वाला। दोंगक नामक अगर काला होता है, जोंगक और दोंगक दोनों आसाम में पैदा होते हैं। समुद्र पार पैदा होने वाला अगर, चित्र रूप का होता है, जिसकी गन्ध खश और चमेली जैसी होती है।
- (२७) भारी, स्निग्ध, सुगन्धित, दूर तक सुगन्ध फेंकने वाला, अग्नि को सहन करने वाला, जिसका धुआँ व्याकुल न कर दे, जलते समय एक जैसी गन्ध देने वाला और वस्त्र आदि पर पोंछ देने से गन्ध बनी रहना; ये अगर के गुण हैं।
- (२८) असम में पैदा होने वाला तैलपणिक चन्दन मांस के रंग का और पद्म के समान गन्ध वाला होता है। असम में ही पैदा होने वाला दूसरा तैलपणिक चन्दन लाल-पीले रंग का और कमल अथवा गोमूत्र की गन्ध का होता है। ग्रामेरु प्रदेश में पैदा होने वाला चन्दन चिकना और गोमूत्र की गन्ध का होता है। असम के सुवर्णकुड्य नामक स्थान में पैदा होने वाला चन्दन लाल-पीला और नींबू की गन्ध का होता है। पूर्णक द्वीप में उत्पन्न चन्दन पद्म अथवा मक्खन की गन्ध का होता है।

- (२९) भद्रश्रीय नामक चन्दन दो प्रकार का होता है : १. पारलौहित्य ओर २. आन्तरवत्य। पारलौहित्य असम में पैदा होता है और उसका रंग चमेलीपुष्प जैसा होता है, आन्तरवत्य चन्दन भी असम में ही पैदा होता है, उसका रंग खस की भाँति होता है। इन दोनों को गन्ध कूट औषधि की तरह होती है।
- (३०) कालेयक नामक चन्दन स्वर्णभूमि में पैदा होता है और वह स्निग्ध एवं पीले रंग का होता है। हिमालय पर पैदा होने वाला कालेयक लाल-पीले रंग का होता है। यहां तक सार वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है।
- (३१) तैलपर्णिक, भद्रश्रीय और कालेयक, इन तीनों में पीसने पर, पकाने पर, आग में जलाने पर किसी प्रकार का विकार पैदा न होना, दूसरी वस्तु के साथ मिलाने पर तथा देर तक रखे रहने पर उनकी गन्ध में किसी प्रकार का फर्क न आना, ये गुण पाये जाते हैं। पूर्वोक्त चन्दनों में जो गुण बताये गये हैं, वे भी इन तीनों में पाये जाते हैं।
- (३२) फल्गु पदार्थों में पहिला स्थान चमड़े का है, जिसकी लगभग पन्द्रह जातियाँ होती हैं, १. कान्तनावक और २. प्रेयक दोनों का चमड़ा हिमालय में पैदा होता है। उनमें कान्तनावक मयूरग्रीवा का कान्ति वाला और प्रेयक नीले-पीले तथा सफेद रेखाओं अथवा दागों से युक्त होता है। इन दोनों का विस्तार आठ अंगुल होता है।
- (३३) हिमालय में स्थित म्लेच्छों के बारह गांवों में ३. बिसी और ४. महाबिसी नामक चमड़ा पैदा होता है। बिसी बहुरंग, वालों वाला एवं चितकबरा, और महाबिसी कठोर तथा श्वेत होता है। इन दोनों का विस्तार बारह-बारह अंगुल होता है।
- (३४) हिमालय के आरोह नामक स्थान में पैदा होने वाला चमड़ा पाँच प्रकार का होता है : ५. श्यामिका, ६. कालिका, ७. कदली, ८. चन्द्रोत्तरा और ९. शाकुला। कपिल और चितकबरे रंग का चमड़ा श्यामिका है। कपिल अथवा कबूतरी रंग का चमड़ा कालिका कहलाता है। इन दोनों का विस्तार आठ-आठ अंगुल होता है। कदली नामक चमड़ा कठोर तथा खुरदरा होता है, जिसकी लम्बाई एक हाथ मानी गई है। कदली नामक चमड़े पर यदि चन्द्रबिन्दु अंकित हो तो वह चन्द्रोत्तरा कहलाता है। रंग में ये दोनों कालिका के समान होते हैं। कदली से तीन गुणा बड़ा या कदली का तीसरा हिस्सा शाकुला नामक चमड़ा होता है, जिसमें लाल धब्बे और कुछ गांठें पड़ी होती हैं।
- (३५) हिमालय के बाहलव नामक प्रदेश में तीन प्रकार का चमड़ा होता है : १०. सामूर, ११. चीनसी और १२. सामूली। सामूर चमड़ा अजन के समान काले रंग का होता है। चीनसी चमड़ा लाल-काला अथवा पीला-काला रंग का होता है। सामूली गेहुएं रंग का होता है। ये दोनों छबीस-छबीस अंगुल के होते हैं।
- (३६) उद्र नामक जलचर प्राणी की खाल तीन प्रकार की होती है : १३. सातिना, १४. नलतूला और १५. वत्तपुच्छ। सातिना काले रंग की होती है। चमड़े की ये चन्द्रह प्रकार की भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं।
- (३७) मुलायक, चिकना और अधिक बालों वाला चमड़ा उत्तम समझा जाता है।
- (३८) भेड़ की ऊन के चमड़े प्रायः सफेद और सफेद-लाल अथवा दूसरे रंग के भी होते हैं। इनके चार भेद हैं : १. खचित, २. वानचित्र, ३. खण्डसंघात्य और ४. तन्तु-विच्छिन्न।
- (३९) इनके अतिरिक्त १. कम्बल, २. केचलक, ३. कलमितिका, ४. सौमितिका, ५. तुरगास्तरण, ६. वर्णक, ७. तच्छिलक, ८. वारवाण, ९. परिस्तोम और १०. समन्तभद्रक, ये दस भेद बने हुए ऊनी वस्त्रों के और होते हैं।
- (४०) चिकना, चमकदार, बारीक डोरे का और मुलायम कम्बल उत्तम समझा जाता है।

- (४१) काले रंग के आठ टुकड़ों को जोड़कर भिंगिसी बनाई जाती है, जो कि वर्षा में भीगने से बचाती है। इसी तरह एक ही साबूत कपड़े का बना अपसारक कहलाता है। ये कपड़े नेपाल देश में बनते हैं।
- (४२) म ग के बालों से छह प्रकार का कपड़ा बनाया जाता है : १. संपुटिका, २. चतुरश्रिका, ३. लम्बरा, ४. कटवानक, ५. प्रावरक और ६. सत्तलिका।
- (४३) दुशाला देश भेद से तीन प्रकार का होता है : १. बांगक, २. पौण्ड्रक ३. सौवर्णकुड्यक। वांगक अर्थात् बंगाल में बना हुआ दुशाला सफेद एवं चिकना होता है, पौण्ड्रक अर्थात् पुंड्र देश में बना हुआ दुशाला काला एवं मणि के समान स्निग्ध होता है, और असम के सुवर्णकुड्य नामक स्थान में बना हुआ दुशाला सूर्य के समान चमकदार होता है। इन दुशालों की बुनावट तीन प्रकार की होती है : १. दुशाले बनाने के साधनभूत वस्तु तन्तु पहिले पानी में भिगो दिए जायें, फिर मणिबन्ध में रगड़कर उन्हें मजबूत बना दिया जाये, २. ताना और बाना दोनों का धागा एक-सा बारीक हो, इस प्रकार की बुनावट, ३. कपास, रेशम, ऊन आदि मिले हुए तन्तुओं से रंगीन बुनावट करना।
- (४४) जिसके ताने और बाने में एक जैसे बारीक तन्तु हों, वह उत्तम दुशाला है, इनसे ड्योढे, दुगने, तिबुने आदि मोटे तन्तुओं के होने पर उत्तरोत्तर वह दुशाला कम कीमत का समझा जाता है।
- (४५) इसी प्रकार काशी तथा पुंड्र आदि में बनने वाले रेशमी वस्त्रों की उत्कृष्टता-निकृष्टता के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए अर्थात् रेशम के तन्तु जितने बारीक और एक सूत के होंगे, रेशम उतना ही उत्तम होगा और तन्तुओं के मोटे होने पर उत्तरोत्तर वह निकृष्ट समझा जायेगा।
- (४६) मगध, पुंड्रक और सुवर्णकुड्यक, इन तीन देशों में पत्रोर्णा नाम की ऊन होती है। वह नागकेसर, बड़हर, मौलसरी और बरगद, इन चार पेड़ों से पैदा होती है। नागकेसर के पेड़ से निकाली जाने वाली पत्रोर्णा पीली होती है। बड़हर पर गेहुँए रंग की होती है। मौलसरी की सफेद होती है। बरगद तथा अन्य वृक्षों की पत्रोर्णा मक्खन के रंग की होती हैं।
- (४७) उनमें सुवर्णकुड्यक की पत्रोर्णा उत्तम समझी जाती हैं। इसी प्रकार दूसरे रेशम और चीन में उत्पन्न होने वाले चीनपट्ट में सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।
- (४८) मधुरा (मदुरा), अपरांतक (कोंकण), कलिंग, काशी, वंग, वत्स और महिषक (मैसूर) इन देशों में पैदा होने वाली कपास के कपड़े सर्वोत्तम समझे जाते हैं।
- (४९) कोषाध्यक्ष को चाहिये कि वह, मोती से लेकर कपास तक जिन रत्न, सार और फल्यु आदि पदार्थों का निरूपण किया गया है तथा जिनका निरूपण आगे किया जायेगा, इसके अतिरिक्त रत्नों के प्रमाण, मूल्य, लक्षण, जाति, रूप, निधान और संस्कार-शुद्धि आदि विषयों के सम्बन्ध में विस्तार से जानकारी प्राप्त करे।
- (५०) पुराने रत्नों का पुनः संस्कार, उनको छीलना, उनका रंग बदलना, उनको साफ करना, देश-काल के अनुसार उनका उपयोग करना, कृमि-कीटों से उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करना आदि कार्य भी कोषाध्यक्ष की जानकारी से सम्बद्ध है।

अध्यक्षप्रचार नामक दूसरे अधिकरण में कोशप्रवेश्यरत्नपरीक्षा नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १२

आकरकर्मान्तप्रवर्तनम्

- (१) आकराध्यक्षः शुल्बधातुशास्त्ररसपाकमणिरागज्ञस्तज्ज्ञसखो वा तज्जातकर्मकरोपकरणसम्पन्नः किट्टमूषाङ्गारभस्मलिङ्गं वाकरं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा भूमिप्रस्तररसधातुमत्यर्थवर्णगौरवमुग्रगन्धरसं परीक्षेत ।
- (२) पर्वतानामभिज्ञातोदेशानां बिलगुहोपत्यकालयनगुढखातेष्वन्तःप्रस्यन्दिनो जम्बूचूततालफलपक्वहरिद्राभेदहरितालमनःशिला क्षौद्रहिङ्गुलुकपुण्डरीकशुकमयूरपत्रवर्णाः सवर्णोदकौषधिपर्यन्ताश्विक्कणा विशदा भारिकाश्च रसाः का चनिकाः ।
- (३) अप्सु निष्ठ्यूतास्तैलवद्विसर्पिणः पङ्कमलग्राहिणश्च ताम्ररूप्ययोः शतादुपरि वेद्धारः ।
- (४) तत्प्रतिरूपकमुग्रगन्धरसं शिलाजतु विद्यात् ।
- (५) पीतकास्ताम्रकास्ताम्रपीतका वा भूमिप्रस्तरधातवो भिन्ना नीलराजीमन्तो मुद्गमाषकृसवर्णा वा दधिबिन्दुपिण्डचित्रा हरिद्राहरीतकीपदम्पचाशैवलयकृत्स्लीहानवद्यवर्णा भिन्नाश्चु चुबालुका-लेखाबिन्दुस्वस्तिकवन्तः सगुलिका अर्चिष्मन्तस्ताप्यमाना न भिद्यन्ते बहुफेनधूमाश्च सुवर्णधातवः प्रतीवापार्थास्ताम्ररूप्यवेधना ।
- (६) शङ्खकूर्परस्फटिकनवनीतकपोतपारावतविमलकमयूरग्रीवावर्णाः सस्यकगोमेदकगुडमत्स्यण्डिकावर्णाः कोविदारपद्मपाटलीकलायक्षौमातसीपुष्पवर्णाः ससीसाः सा जनाः विस्रा भिन्ना श्वेताभाः कृष्णाः कृष्णाभाः श्वेताः सर्वे वा लेखबिन्दुचित्रा म दवो ध्यायमाना न स्फुटन्ति बहुफेनधूमाश्च रूप्यधातवः ।
- (७) सर्वधातूनां गौरववद्भ्यो सत्त्ववद्भिः । तेषामशुद्धा मूढगर्भा वा तीक्ष्णमूत्रक्षारभाविता राजव क्षवटपीलुगोपित्तरोचनामहिषखर- करभमूत्रलण्डपिण्डबद्धास्तत्प्रतीवापास्तदवलेपा वा विशुद्धाः स्रवन्ति ।
- (८) यवमाषतिलपलाशपीलुक्षारैर्गोक्षीराजक्षीरैर्वा कदलीवज्रकन्दप्रतीवापो मार्दवकरः ।
- (९) मधुमधुकमजापयः सतैलं ध तगुडकिण्वयुतं सकन्दलीकम् ।
यदपि शतसहस्रधा विभिन्नं भवति म दु त्रिभिरेव तन्निषेकैः ॥
- (१०) गोदन्तश्च ङ्गप्रतीवापो म दुस्तम्भनः ।
- (११) भारिकः स्निग्धो म दुश्च प्रस्तरधातुभूमिभागो वा पिङ्गलो हरितः पाटलो लोहितो वा ताम्रधातुः ।
- (१२) काकमेचकः कपोतरोचनावर्णः श्वेतराजिनद्धो वा विस्रः सीसधातुः ।
- (१३) ऊषरकर्बुरः पक्वलोष्ठवर्णो वा त्रपुधातुः ।
- (१४) कुरुम्बः पाण्डुरोहितः सिन्दुवारपुष्पवर्णो वा तीक्ष्णधातुः ।
- (१५) काकाण्डभुजपत्रवर्णो वा वैकृन्तकधातुः ।
- (१६) अच्छः स्निग्धः सप्रभो घोषवान् शीततीव्रस्तनुरागश्च मणिधातुः ।
- (१७) धातुसमुत्थं तज्जातकर्मान्तेषु प्रयोजयेत् ।
- (१८) कृतभाण्डव्यवहारमेकमुखम्, अत्ययं चान्यत्रकर्त क्रेत विक्रेत णां स्थापयेत् ।

- (१६) आकरिकमपहरन्तमष्टगुणं दापयेदन्यत्र रत्नेभ्यः।
- (२०) स्तेनमनिस ष्टोपजीविनं च बद्ध्वा कर्म कारयेद्, दण्डोपकारिणं च।
- (२१) व्ययक्रियाभारिकमाकरं भागेन प्रक्रयेण वा दद्यात्, लाघविकमात्मना कारयेद्।
- (२२) लोहाध्यक्षः ताम्रसीसत्रपुवैकृन्तकारकूटव त्तकंसताललोहकर्मान्तान् कारयेत्, लोहभाण्डव्यवहारं च।
- (२३) लक्षणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसा जनानामन्यतमाषबीजयुक्तं कारयेत् पणम्, अर्धपणं पादमष्टभागमिति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्धमाषकं काकणीमर्धकाकणीमिति।
- (२४) रूपदर्शकः पणयात्रां व्यावहारिकीं कोशप्रवेश्यां च स्थापयेत्। रूपिकमष्टकं शतं, प चकं व्याजी, पारीक्षिकमष्टभागिकं शतम्। प चर्विशतिपणमत्ययं चान्यत्र कर्तक्रेत विक्रेत परीक्षित भ्यः।
- (२५) खन्यध्यक्षः शङ्खवज्रमणिमुक्ताप्रबालक्षारकर्मान्तान् कारयेत्, पणनव्यवहारं च।
- (२६) लवण्याध्यक्षः पाकमुक्तं लवणभागं प्रक्रयं च यथाकालं संग ह्णीयाद्, विक्रयाच्च मूल्यं रूपं व्याजी च।
- (२७) आगन्तुलवणं षड्भागं दद्यात्। दत्तभागविभागस्य विक्रयः। प चकं शतं व्याजी, रूपं, रूपिकं च। क्रेता शुल्कं, राजपण्यच्छेदानुरूपं च वैधरणं दद्यात्। अन्यत्रक्रेता षट्छतमत्ययं च।
- (२८) विलवणमुत्तमं दण्डं दद्यात्, अनिस ष्टोपजीवी च। अन्यत्र वानप्रस्थेभ्यः। श्रोत्रियास्तपस्विनी विष्टय च भक्तलवणं हरेयुः।
- (२९) अतो न्यो लवणक्षारवर्गः शुल्कं दद्यात्।
- (३०) एवं मूल्यं विभागं च व्याजी परिघमत्ययम्।
शुल्कं वैधरणं दण्डं रूपं रूपिकमेव च।।
खनिभ्यो द्वादशविधं धातुं पण्यं च संहरेत्।
एवं सर्वेषु एण्येषु स्थापयेन्मुखसंग्रहम्।।
- (३१) आकरप्रभवः कोषः कोषादण्डः प्रजायते।
प थिवी कोषदण्डाभ्यां प्राप्यते कोषभूषणा।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे आकरकर्मान्तप्रवर्तनं नाम द्वादशो ध्यायः, आदितः द्वात्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) आकर (खान) के अध्यक्ष को चाहिये कि वह शुल्बशास्त्र, धातुशास्त्र, रसायन, पाकविधि और मणिराग आदि के विषयों में निपुणता प्राप्त करे अथवा उन विषयों के विशेषज्ञ पुरुषों तथा उन वस्तुओं के व्यापारियों के साथ रहकर, कुल्हाड़े, धौंकनी, सन्सी आदि आवश्यक सामग्री को साथ लेकर, कीटी, मूषा, राख आदि लक्षणों को देखकर पुरानी खान की परीक्षा करे, यदि मिट्टी, पत्थर, पानी आदि में धातु मिली हुई जान पड़े या उनका रंग चमकदार मालूम हो या वे वजनदार लगे अथवा उनमें तेज गन्ध आती हो तो इन लक्षणों से समझ लेना चाहिये कि उस स्थान पर खान है।
- (२) परिचित पहाड़ों के गड्ढों, गुफाओं, तराइयों, पथरीले स्थानों एवं शिलाओं से ढके हुए छेदों द्वारा बहने वाले जल से, जिसका रंग जामुन, आम, ताड़ का फल, पक्की हल्दी, हरताल, मैनिंसिल, शहद, शिगरफ, कमल, तोता, मोर-पंख आदि के रंग का हो और अपने समान रंग

के पानी तथा औषधि तक बहने वाले चिकने भारी जल को देखकर सोने की खान का अनुमान करना चाहिये।

- (३) इस प्रकार के जल को यदि दूसरे जल में मिलाया जाये और वह तेल की तरह फैलने लगे, या निरबिबीसी फल के समान पानी को साफ करता हुआ नीचे बैठ जाये अथवा सौ पल तौबा या चाँदी उसके ऊपर डालकर यदि वह उसको एक पल जल सुनहरा बना दे तो समझना चाहिये कि इस जल-स्रोत के नीचे अवश्य ही सोने की खान है।
- (४) यदि किसी स्थान पर उसी के समान केवल तेज गन्ध या उग्र रस की संभावना हो तो समझना चाहिये कि वहाँ पर शिलाजीत का उत्पत्ति स्थान है।
- (५) पीले या तौबे अथवा दोनों रंगों की मिट्टी और पत्थर जिनके तोड़ने पर बीच में नीली रेखायें या मूंग, उड़द, तिल आदि के समान या दही के छोटे-छोटे कणों के समान छोटी-छोटी बूंदों वाला, हल्दी, हरीतकी, कमलपत्र, सेवार, यकृत, प्लीहा तथा केसर के समान या तोड़ने पर बारीक रेत की रेखाओं, बूंदों, स्वस्तिक-चिह्नों, मोटे रेत के कणों के समान, कान्ति युक्त और तपाये जाने पर न फटने वाली तथा बहुत झाग एवं धुआँ देने वाली सुवर्ण धातु होती है। इस प्रकार की मिट्टी और पत्थर से तौबा तथा चाँदी को सोना बनाया जा सकता है।
- (६) शंख, कपूर, स्फटिक मणि, मक्खन, जंगली कबूतर, पालतू कबूतर, सफेद तथा लाल रंग की मणि, मयूर ग्रीवा, नील मणि, गोरीचन, गुड़, शक्कर, कचनार, कमल, पाटली, मटर, अलसी आदि के समान रंग वाले, सीसा, अंजन, दुर्गन्ध से युक्त, तोड़ने पर बाहर से सफेद प्रतीत होने वाले अथवा हर प्रकार की रेखाओं तथा बूंदों से युक्त, म दु, तपाये जाने पर जो फटे नहीं किन्तु बहुत झाग और धुआँ उगले, इस प्रकार की धातु रूप्यधातु कही जाती है।
- (७) इन सभी धातुओं के सम्बन्ध में यह समझना चाहिये कि उनमें जितना भारीपन होगा वे उतनी ही उत्तम कोटि की सिद्ध होगी। इनमें जो धातु अशुद्ध हो अथवा मैल जम जाने के कारण जिसके गुण-दोषों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पा रहा हो उसका शोधन कर लिया जाये। शोधन के प्रकार ये हैं : तीक्ष्णमूत्र, तीक्ष्णक्षार, अमलतास, बरगद, पीलु, गोरोचन, भैंसे का मूत्र, बालक का मूत्र तथा उनके पुरीष (मल) आदि वस्तुओं में कई बार धातुओं की भावनाएं देने से वे विशुद्ध हो जाती हैं, अमलतास आदि के चूर्ण से अथवा उनके लेप से भी धातु का मल नष्ट होकर वे अपने असली रूप में आ जाती हैं।
- (८) जो, उड़द, तिल, ढाक, पीलु, व क्ष का क्षार और गाय तथा बकरी के दूध में केला एवं सूरण को एक साथ मिलाकर यदि उनमें सोने-चाँदी की भावना दी जाये तो वे नर्म हो जाते हैं।
- (९) शहद, मुलहटी, बकरी का दूध, तेल, घी, गुड़ की शराब और खादर में पैदा होने वाले झाड़ आदि सब को मिलाकर, उनमें तीन बार सोने-चाँदी की भावना दी जाये तो वे चाहे जितने भी कटे-फटे खुरदरे क्यों न हों, मुलायम हो जाते हैं।
- (१०) यदि पिंघले हुए सोने-चाँदी के ऊपर गाय के दाँत तथा सींग का चूर्ण बुरक दिया जाये तो सोना-चाँदी ठोस हो जाते हैं।
- (११) जहाँ पाषाणधतु, भूमिधातु और ताम्रधातु, इन तीन प्रकार के पत्थर तथा मिट्टी के चिकने एवं म दु भू-भाग हों, वहाँ तौबे की खान होती है। तौबा चार प्रकार का होता है १. पिंगल, २. हरित, ३. पाटल और ४. लोहित।
- (१२) जो भूमि-भाग कौए के समान काला, कबूतर तथा गोरोचन की आकृति वाला, सफेद रेखाओं से युक्त और दुगन्धपूर्ण हो, वहाँ शीशे की खान समझनी चाहिये।
- (१३) जो भूमि-भाग ऊसर जमीन की भाँति कुछ सफेदी लिये हो, अथवा पके हुए ढेले के रंग का हो, वहाँ सफेद शीशे की खान समझनी चाहिए।

- (१४) जो भूमि भाग चिकने पत्थरों वाला, कुछ सफेदी एवं लाली लिये हो, अथवा उसकी आकृति निर्गुण्डी के पुष्प से मिलती हो, वहाँ लोहे की खान समझनी चाहिये।
- (१५) जो भूमि-भाग कौवे के अण्डे या भोजपत्र की आकृति का हो, वहाँ इस्पाती लोहे की खान समझनी चाहिये।
- (१६) जो भूमि-भाग, इतना स्वच्छ हो कि जिसमें परछाई दिखाई दे, जो चिकना, दीप्त, शब्द देने वाला, अत्यन्त शीतल और फीके रंग वाला हो, वहाँ मणियों की खान जाननी चाहिये।
- (१७) खान से प्राप्त सुवर्ण आदि के लाभ को पुनः खान के कार्यों में लगाकर अधिक लाभ प्राप्त करना चाहिये।
- (१८) किसी एक नियत स्थान में ही सुवर्ण आदि धातुओं की बिक्री की व्यवस्था करनी चाहिए, उससे अन्यत्र बेचने वाले व्यक्तियों को दण्डित किया जाना चाहिये।
- (१९) धातुओं की चोरी करने वाले व्यक्ति पर, चोरी का आठ गुणा दण्ड करना चाहिये, किन्तु वह रत्नों की चोरी करता है तो उसको प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये।
- (२०) जो व्यक्ति चोरी करे अथवा राजा की अनुमति के बिना धातुओं का व्यापार करे, उसे पकड़कर खान के कार्य में लगा देना चाहिये और जिस व्यक्ति को न्यायालय ने प्राणदण्ड की सजा दी हो, किन्तु कारणवश वह उस दण्ड को पूरा न कर सके तो, ऐसे व्यक्ति को भी खान में लगा देना चाहिये।
- (२१) यदि खान पर लोगों का कर्जा चढ़ गया हो और उस कर्ज को चुकता कर देने पर ही लाभ निर्भर हो तो, खान के अध्यक्ष को चाहिये कि वह थोड़ी-थोड़ी किस्तों में उस कर्ज को चुकता कर दे अथवा राजा से, कुछ सोना देकर एक मुस्त रकम देकर, वह उस कर्ज को सर्वथा चुकता कर दे। यदि थोड़ी पूँजी या थोड़े श्रम से कार्य पूरा हो सकता है, तो अध्यक्ष स्वयं ही वैसा कर दे।
- (२२) अध्यक्ष को चाहिये कि वह ताँबा, शीशा, त्रपु, वैकृतक, आरकूट, व त्त, कंस और ताल आदि अन्य प्रकार के लोहों का कार्य अपनी देखरेख में कराये। लोहे की बनी वस्तुओं एवं तत्सम्बन्धी कार्य-व्यवहार को भी वह अपनी निगरानी में करवाये।
- (२३) टकसाल के अध्यक्ष को चाहिये कि वह पण, अर्धपण, पादपण तथा अष्टभागपण नामक चार चाँदी के सिक्कों को विधिपूर्वक ढलवावे। १६ माष का एक पण होता है। उसमें ४ माष ताँबा, लोहा, राँगा, सीसा तथा अंजन, इसमें से कोई भी एक माष, बाकी ११ माष चाँदी होनी चाहिये। इसी हिसाब से अर्धपण (अठन्नी), पादपण (चवन्नी) और अष्टभागपण (दुवन्नी) आदि को ढलवावे। पण के चौथे हिस्से को व्यवहार में लाने के लिए ताँबे का एक अलग सिक्का होना चाहिये, जिसमें चौथाई हिस्सा चाँदी एक हिस्सा लोहा, शीशा आदि में से कोई एक और ग्यारह माष ताँबा होना चाहिये, इस सिक्के का नाम मापक है, जिसका वजन सोलह माष होता है, इसका भी अर्धमापक सिक्का तैयार करवाना चाहिये, इसके पादमापक तथा अष्टभागमापक के लिए 'काकणी' तथा 'अर्धकाकणी' नामक सिक्कों को बनवाना चाहिए।
- (२४) सिक्कों के विशेषज्ञ को इस बात की व्यवस्था कर देनी चाहिये कि कौन-सा सिक्का चलाया जाये और कौन-सा सिक्का खजाने में जमा किया जाये। सौ पण पर जो आठ पण राज्यभाग जनता से लिया जाता है, उसका नाम रूपिक है; सौ पण पर पाँच पण राज्यभाग व्याजी और सौ पण पर आठ पण राज्यभाग पारीक्षिक कहलाता है। यदि कोई पारीक्षिक का अपहरण करे तो उसे पच्चीस पण दण्ड दिया जाये, यदि अधिक अपहरण करे तो, अपहृत धन के हिसाब से, उस पर दुगुना, चौगुना दण्ड नियत करना चाहिये। किन्तु सिक्कों को बनाने, बेचने,

खरीदने और परीक्षा करने वाले अधिकारियों के लिये दण्ड-विधान की व्यवस्था कुछ दूसरी ही है।

- (२५) खान के अध्यक्ष को चाहिये कि वह शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल तथा सभी तरह के क्षारों की उत्पत्ति और उनके क्रय-विक्रय की सुव्यवस्था करे।
- (२६) लवण के अध्यक्ष को चाहिए कि वह बिक्री के लिए तैयार नमक की और किसी दूसरी खान से कुछ शर्तों के आधार पर नियत मात्रा में उपलब्ध होने वाले नमक का ठीक समय से संग्रह कर ले, उसको चाहिये कि वह उसके विक्रय का, बिक्री से प्राप्त होने वाले मूल्य का और रूप एवं व्याजी का सुप्रबंध करे।
- (२७) विदेश से बिक्री के लिये आये हुये नमक का छटा भाग राजकर के रूप में देना चाहिये। जो व्यक्ति समुचित राजकर एवं तौल का टैक्स अदा करे वही उसको बेचने का अधिकारी है और उसे पाँच प्रतिशत व्याजी, रूप तथा रूपिक भी राजकर के रूप में अदा करना चाहिये। उस माल को खरीदने वाला व्यक्ति भी राजकर अदा करे, उसकी छीजन भी वह पूरी करे। राजकीय बाजार का कोई व्यापारी यदि बाहर से नमक मंगाता है तो उससे छह प्रतिशत राजकर के अतिरिक्त जुर्माना भी अदा किया जाये।
- (२८) घटिया या मिलावटी नमक बेचने वाले व्यापारी को उत्तम साहस दण्ड देना चाहिये। इसी प्रकार जो राजाज्ञा के विरुद्ध नमक को बनाता है या उसका व्यापार करता है, उसे भी उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये। किन्तु यह नियम वानप्रस्थियों पर लागू नहीं होता है। श्रोत्रिय, बेगार ढोने वाले और तपस्वी लोग बिना कीमत दिये भी अपने उपयोग के लायक नमक ले जा सकते हैं।
- (२९) इनके अतिरिक्त, नमक और क्षार का उपयोग करने वाले सभी लोग नमक के अध्यक्ष और क्षार के अध्यक्ष को शुल्क अदा करें
- (३०) इस प्रकार मूल्य, विभाग, व्याजी, परिघ, अत्यय, शुल्क, वैधरण, दण्ड, रूप, रूपिक, खनिज पदार्थ और भिन्न-भिन्न प्रकार के विक्रेय पदार्थों का संग्रह करना चाहिये। राज्यभर की सभी मंडियों में प्रमुख विक्रेय वस्तुएं बिक्री के लिये रखी जानी चाहिये।
- (३१) कोष की उन्नति खान पर निर्भर है, कोष की समृद्धि से शक्तिशाली सेना तैयार की जा सकती है। इस कोषगर्भा पृथिवी को कोष और सेना से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में आकरकर्मान्तप्रवर्तन नामक बारहवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १३

अक्षशालायां सुवर्णाध्यक्षः

- (१) सुवर्णाध्यक्ष सुवर्णरजतकर्मान्तानामसम्बन्धावेशनचतुः शालामेकद्वारामक्षशालां कारयेत्। विशिखामध्ये सौवर्णिकं शिल्पवन्तमभिजातं प्रात्ययिकं च स्थापयेत्।
- (२) जाम्बूनदं शातकुम्भं हाटकं वैणवं च ङिगशुक्तिजं, जातरूपं रसविद्धमाकरोदगतं च सुवर्णम्।
- (३) किं जल्कवर्णं म दु स्निग्धमनादि भ्राजिष्णु च श्रेष्ठं, रक्तपीतकं मध्यमं रक्तमवरं श्रेष्ठानाम्।
- (४) पाण्डु श्वेतं चाप्राप्तकम्। तद्येनाप्राप्तकं तच्चतुर्गुणेन सीसेन शोधयेत्, सीसान्वयेन भिद्यमानं शुष्कपटलैर्धर्मापयेत्, रुक्षत्वादिभद्यमानं तैलगोमये निषेचयेत्।
- (५) आकरोदगतं सीसान्वयेन भिद्यमानं पाकपत्राणि कृत्वा गण्डिकासु कुट्टयेत्, कन्दलीवज्जकन्दकल्के वा निषेचयेत्।
- (६) तुथोदगतं गौडिकं काम्बुकं चाक्रवालिकं च रूप्यम्। श्वेतं स्निग्धं म दु च श्रेष्ठम्। विपर्यये स्फोटनं च दुष्टम्। तत्सीसचतुर्भागेन शोधयेत्।
- (७) उदगतचूलिकमच्छं भ्राजिष्णु दधिवर्णं व शुद्धम्।
- (८) शुद्धस्यैको हरिद्रस्य सुवर्णो वर्णकः। ततः शुल्बकाकण्युत्तरापसारिता आ चतुःसीमान्तादिति षोडश वर्णकाः।
- (९) सुवर्णं पूर्वं निकष्य पश्चाद्द्वर्णिकां निकषयेत्। समरागलेखमनिम्नोन्नते देशे निकषितम्। परिम दितं परिलीढं नखान्तराद्वा गैरिकेणावचूर्णितमुपधिं विद्यात्। जातिहिङ्गुलकेन पुष्पकासीसेन वा गौमूत्रभावितेन दिग्धेनाग्रहस्तेन संस्पष्टं सुवर्णं श्वेतीभवति।
- (१०) सकेसरः स्निग्धो म दुर्भाजिष्णुश्च निकषरागः श्रेष्ठः।
- (११) कालिङ्गकस्तापीपाषाणो वा मुद्गवर्णो निकषः श्रेष्ठः। समरागी विक्रयक्रयहितः। हस्तिच्छविकः सहरितः प्रतिरागी विक्रयहितः। स्थिरः परुषो विषमवर्णश्चाप्रतिरागी क्रयहितः।
- (१२) छेदश्चिक्कणः समवर्णः श्लक्ष्णो म दुर्भाजिष्णुश्च श्रेष्ठः।
- (१३) तापे बहिरन्तश्च समः किं जल्कवर्णः कुरण्डपुष्पवर्णो वा श्रेष्ठः। श्यावो नीलश्चाप्राप्तकः।
- (१४) तुलाप्रतिमानं पौतवाध्यक्षे वक्ष्यामः। तेनोपदेशेन रूप्यसुवर्णं दद्यादाददीत च।
- (१५) अक्षशालामनायुक्तो नोपगच्छेत्। अभिगच्छन्नुच्छेद्यः आयुक्तो वा सरूप्यसुवर्णस्तेनैव जीयेत। विचितवस्त्रहस्तगुह्याः का चनप षतत्वष्टृतपनीयकारवो ध्मायकचरकपांसुधावकाः प्रविशेयुनिष्कसेयुश्च। सर्वं चैषामुपकरणमनिष्ठिताश्च प्रयोगास्तत्रै- वावतिष्ठेरन्। ग हीतं सुवर्णं ध तं च प्रयोगं करणमध्ये दध्यात्। सायं प्रातश्च लक्षितं कर्तकारयित मुद्राभ्यां निदध्यात्।
- (१६) क्षेपणो गुणः क्षुद्रकमिति कर्माणि। क्षेपणः काचारपणादीनि। गुणः सूत्रवानादीनि। घनं सुषिरं प षतादियुक्तं क्षुद्रकमिति।
- (१७) अर्पयेत् काचकर्मणः प चभागं का चनं दशभागं कटुमानम्। ताम्रपादयुक्तं रूप्यं रूप्यपादयुक्तं वा सुवर्णं संस्कृतकं तस्माद्रक्षेत्।
- (१८) प षतकाचकर्मणस्त्रयो हि भागाः परिभाण्डं द्वौ वास्तुकम्। चत्वारो वा वास्तुकं त्रयः परिभाण्डम्।

- (१६) त्वष्टकर्मणः। शुल्बभाण्डं समसुवर्णेन संयूहयेत्। रूप्यभाण्डं घनं घनसुषिरं वा सुवर्णाधेन अवलेपयेत्। चतुर्भागसुवर्णं वा बालुकाहिङ्गुलकस्य रसेन चूर्णेन वा वासयेत्।
- (२०) तपनीयं ज्येष्ठं सुवर्णं सुरागं, समसीसातिक्रान्तं पाकपत्रपक्वं सैन्धविकयोज्ज्वलितं नीलपीतश्वेतहरितशुकपोतवर्णानां प्रकृतिर्भवति। तीक्ष्णं चास्य मयूरग्रीवाभं श्वेतभङ्गं चिमिचिमायितं पीतचूर्णितं काकणिकः सुवर्णरागः।
- (२१) तारमुपशुद्धं वा। अस्थितुथे चतुः, समसीसे चतुः, शुष्कतुथे चतुः, कपाले त्रिगोमये द्विः, एवं सप्तदशतुत्थातिक्रान्तं सैन्धविकयोज्ज्वलितम्। एतस्मात्काकण्युत्तरापसारिता। आ द्विमाषादिति सुवर्णं देयं, पश्चाद्दरागयोगः। श्वेततारं भवति।
- (२२) त्रयं शाः तपनीयस्य द्वात्रिंशद्भागश्वेततारमूर्च्छितं तत् श्वेतलोहितकं भवति। ताम्रं पीतकं करोति।
- (२३) तपनीयमुज्ज्वल्य रागत्रिभागं दद्यात्। पीतरागं भवति।
- (२४) श्वेततारभागौ द्वावेकस्तपनीयस्य मुद्गवर्णं करोति।
- (२५) कालायसस्यार्धभागाभ्यक्तं कृष्णं भवति। प्रतिलेपिना रसेन द्विगुणाभ्यक्तं तपनीयं शुकपत्रवर्णं भवति। तस्यारम्भे रागविशेषेषु प्रतिवर्णिकां ग हणीयात्।
- (२६) तीक्ष्णताम्रसंस्कारं च बुध्येत। तस्माद्द्वजमणिमुक्ताप्रवालरूपानामपनेयिमानं च रूप्यसुवर्णभाण्डबन्धप्रमाणानि चेति।
- (२७) समरागं समद्वन्द्वमशक्तं प षतं स्थिरम्।
सुप्रम ष्टमसंपीतं विभक्तं धारणे सुखम्॥
अभिनीतं प्रभायुक्तं संस्थानमधुरं समम्।
मनोनेत्राभिरामं च तपनीयगुणाः स्म ताः॥
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे अक्षशालायां सुवर्णाध्यक्षं नाम त्रयोदशो ध्यायः, आदितस्त्रयस्त्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) सुवर्णाध्यक्ष को चाहिए कि वह सोने-चाँदी के प्रत्येक कार्य को करने के लिए एक अक्षशाला का निर्माण करवाये, उसमें एक ही प्रधान द्वार होना चाहिए, उसके चारों ओर, एक दूसरे से अलग, चार बड़े भवन होने चाहिये। विशिखा में चतुर, कुलीन, विश्वस्त और पारखी सर्पाँकों को बसाया जाये।
- (२) सोना पाँच प्रकार का होता है; उसके रंग भी पाँच होते हैं : १. जाम्बूनद, २. शातकुम्भ, ३. हाटक, ४. वैणव और ५. शं गिशुक्तिज। सुवर्ण के तीन प्रकार : १. जातरूप, २. रसविद्ध और ३. आकारोद्गत।
- (३) कमलरज की आकृति का, म दु, स्निग्ध, शब्दरहित और चमकदार सोना सर्वोत्तम; लाल-पीत वर्ण मिश्रित सोना मध्यम और केवल लाल वर्ण का निकृष्ट होता है।
- (४) उत्तम कोटि के सुवर्ण में से जिसमें कुछ पीलाई एवं सफेदी हो वह अप्राप्तक कहलाता है। उस सोने में जितना मेल मिला हो, उससे चौगुना शीशा डालकर उसे शुद्ध करना चाहिये। शीशा मिला देने से यदि वह फटने लगे तो उसे जंगली कण्डों की आग में तपाना चाहिये। यदि शुद्ध करते समय रूखापन आ जाने से वह फटने लगे तो तेल और गोबर को मिलाकर बार-बार उसमें भावना देनी चाहिये।

- (५) खान से निकाले हुए सोने को भी शीशा मिलाकर शुद्ध किया जाना चाहिए यदि शीशा मिलाने से वह फटने लगे तो उसके साथ पके हुए पत्ते मिला लिये जायें और तब उसको लकड़ी के तख्ते पर रखकर खूब कूटा जाना चाहिए। अथवा कन्दलीलता, श्रीवेर और कमलजड़ का क्वाथ बनाकर तब तक उसे सुवर्ण को उसमें भिगोया जाये, जब तक कि उसका फटना दूर नहीं होता है।
- (६) चाँदी चार प्रकार की होती है : १. तुत्थोद्गत, २. गौडिक, ३. कांबुक और ४. चाक्रवालिक। श्वेत, स्निग्ध और मुलायम चाँदी सर्वोत्तम समझी जाती है। इनके विपरीत काली, रूक्ष, खरखरी और फटी हुई चाँदी खराब होती है। खराब चाँदी में चौथाई शीशा डालकर उसको शुद्ध करना चाहिये।
- (७) जिसमें बुदबुदे उठे हों, जो स्वच्छ, चमकदार और दही के समान श्वेत हो, वह शुद्ध चाँदी होती है।
- (८) हल्दी के समान स्वच्छ, शुद्ध सुवर्ण का सोलह माष का वर्णक शुद्ध वर्णक कहलाता है। उसमें चतुर्थांश ताँबा मिला दिया जाये और उतना ही हिस्सा सुवर्ण कम कर दिया जाये, इसी तरह सोने का हिस्सा कम करके और ताँबे का हिस्सा मिलाकर सोलह वर्णक बन जाते हैं। ये सोलहों मिश्र वर्णक कहलाते हैं और उनमें शुद्ध वर्णक को जोड़ दिया जाये तो सत्रह वर्णक हो जाते हैं।
- (९) वर्णक की परीक्षा करने से पूर्व सुवर्ण की परीक्षा कर लेनी चाहिये; सोने को पहले कसौटी पर घिसना चाहिये और तत्पश्चात् वर्णक को घिसने के बाद उनमें समान वर्ण तथा समान रेखाएं दिखाई दें, घिसने से ऊँचा-नीचा न हो तो वर्णक को ठीक समझना चाहिये। १. यदि विक्रेता वर्णक को उत्कृष्ट बताने के उद्देश्य से कसौटी को उस पर जोर से रगड़ें, अथवा ३. नाखून में गेरु आदि कोई लाल-पीली वस्तु छिपाकर सोने के साथ कसौटी पर रेखा बना दे, तो इस प्रकार से यह तीनों प्रकार का कपटपूर्ण व्यवहार कहा जाता है। कपटी सर्राफ सोने को घटिया सिद्ध करने के लिए गो-मूत्र में भावना दिये गये एक विशेष प्रकार के सिंगरफ के साथ कुछ पीले रंग के हरताल के साथ लिपटे हुए लेप को हाथ के अग्रभाग के स्पर्श से सोने का रंग फीका कर देते हैं।
- (१०) केसर के समान रंग वाली, स्निग्ध, म दु और चमकदार रेखा जिस कसौटी पर खिंचे, उसे सर्वोत्तम समझना चाहिये।
- (११) कलिंग देश के महेन्द्र पर्वत से अथवा तापी नदी से उत्पन्न, मूंग के समान आकृति वाली कसौटी सर्वोत्तम समझनी चाहिये। सोने के रंग को ठीक तरह से ग्रहण करने वाली कसौटी क्रेता-विक्रेता, दोनों के लिए उचित है। हस्तिचर्म के समान खरखरी, हरे रंग की और विपरीत रंग को बताने वाली कसौटी सोना बेचने वालों के हक में अच्छी है। इस प्रकार टोस, कठोर, खरखरी, तरह-तरह के रंगों वाली और असली रंग को न बताने वाली कसौटी सोना खरीदने वालों के लिए अच्छी नहीं है।
- (१२) चिकना, बाहर-भीतर एक रंग वाला, स्निग्ध, म दु और चमकदार, सोने का टुकड़ा श्रेष्ठ समझा जाता है।
- (१३) यदि सोने का टुकड़ा, तपाये जाने पर, बाहर भीतर एक ही रंग दे या वह कमलरज के समान दिखाई दे या वह कुरण्ड के फूल की भाँति हो जाये तो उसे भी श्रेष्ठ समझना चाहिये। यदि तपाने से उसमें फर्क पड़ जाये, उस पर नीलिमा छा जाये तो समझना चाहिये कि वह खोटा है।
- (१४) सोना-चाँदी तोलने का विधान आगे चलकर 'पौतवाध्यक्ष' प्रकरण में कहा जायेगा। उस

प्रकरण में निर्दिष्ट तौल के अनुसार ही सोना-चाँदी देने और लेने चाहिए।

- (१५) अक्षशाला में वे ही व्यक्ति प्रवेश करें, जो वहाँ कार्य करने के लिए नियुक्त किये गये हैं। निषेध करने पर भी यदि कोई प्रवेश करते हुए पकड़ा जाये तो उसका सर्वस्व अपहरण कर लेना चाहिये। अक्षशाला में कार्य करने वाला कोई भी व्यक्ति यदि अपने साथ सोना चाँदी ले जाता हुआ पकड़ा जाये तो उसे भी यथायोग्य दण्ड देना चाहिये। रसप्रयोग से सोना बनाने वाले, तरह-तरह के आभूषण बनाने वाले, छोटी-छोटी गोली बनाने वाले, बड़े-बड़े पात्र बनाने वाले, तरह-तरह के आभूषण बनाने वाले, झाड़ू देने वाले तथा अन्य परिचारक, अपनी-अपनी वर्दी पहने तलाशी देकर अक्षशाला में प्रवेश करें और बाहर निकलें। इन कारीगरों के औजार एवं आधे बनाये हुये आभूषण आदि अक्षशाला में ही रहें, बाहर कदापि न जाने पावें। भांडागार से तोल कर लिया गया सोना तथा उससे बने हुए आभूषण आदि, कार्य करने के अनन्तर, भांडागार के लेखक को भली भाँति तोल कर सौंप देना चाहिए और विधिवत् उसको रजिस्टर में दर्ज करवा देना चाहिये। सायं और प्रातः प्रतिदिन, काम खत्म होने और शुरु होने पर सौवर्णिक तथा सुवर्णाध्यक्ष से मुहर लगाकर भण्डार का लेखक उस सुवर्ण को भण्डार में बन्द करके रख दे।
- (१६) आभूषण सम्बन्धी कार्य तीन प्रकार के होते हैं : १. क्षेपण, २. गुण और ३. क्षुद्रक। आभूषणों पर मणियों के जोड़ने को क्षेपण कहते हैं। सोने के बारीक सूतों को जोड़ने के लिए गुण कहा जाता है। ठोस तथा पीले, छोटी-छोटी बूंदों या गोलियों से बने आभूषण सम्बन्धी कार्य को क्षुद्रक कहते हैं।
- (१७) मणियों की जुड़ाई सम्बन्धी कार्य को काचकर्म कहते हैं। मणि के पाँचवें हिस्से को सोने से पिरो दें; मणि इधर-उधर न होने पावे, उसके लिए चारों ओर से सोने की पट्टी लगी रहती है उसको कटुमान कहा जाता है। मणि का जितना हिस्सा सोने में पिरो दिया जाये उसका आधा हिस्सा कटुवान का होना चाहिये; स्वर्णकार शुद्ध किए हुए सोने में मिलावट कर सकते हैं; चाँदी की जगह ताँबा और सोने की जगह चाँदी भर कर वे उतने अंश को हड़प कर सकते हैं; यह मिलावटी सोना-चाँदी शुद्ध ही जैसा प्रतीत होता है; इसलिए इस सम्बन्ध में अध्यक्ष को पूरी निगरानी रखनी चाहिये।
- (१८) मिश्रित काचकर्म के सम्बन्ध में ध्यान रखना चाहिए कि पहले गुटिका आदि से मिश्रित काचकर्म के लिए जितना सुवर्ण निर्धारित हो उसके पाँच भाग किए जायें; उनमें तीन भाग पदम्, स्वस्तिक आदि बनाने के लिए और दो भाग उसका आधारपीठ बनाने के लिए होते हैं; यदि मणि बड़ी हो तो सुवर्ण के सात हिस्से करने चाहिये। जिनमें चार हिस्से आधार के लिए और शेष तीन हिस्से स्वस्तिक आदि के लिए काम में लाये जायें।
- (१९) ताँबे तथा चाँदी के घनपात्र की विधि इस प्रकार है : जितना ताँबे का पात्र हो उतना ही सोने का पात्र उसके ऊपर चढ़वा देना चाहिए; चाँदी का पात्र चाहे ठोस हो या पीला हो, उस पर उसके भार से आधे, सोने का पानी चढ़वा दे; अथवा चौथा हिस्सा सोना लेकर उसे बालू और शिंगरफ के चूर्ण एवं रस के साथ मिलाकर भूसी अग्नि में पिघलाकर पानी की तरह चढ़वा दे।
- (२०) आभूषण आदि के लिए प्रस्तुत, कमलरज के समान स्वच्छ, स्निग्ध और चमकदार सोना उत्तम किस्म का है। वह शुद्ध सोना नील, पीत, श्वेत, हरित और शुकपोत आदि रंग के आभूषणों के योग्य होता है। अशुद्ध सुवर्ण में उसके परिमाण का सीसा डालकर उसे शुद्ध किया जाये; अथवा उसके पतले-पतले पत्र बनाकर फिर अरणे के कण्डों की तपन से उसको शुद्ध किया जाये; या सिंधदेश की मिट्टी के साथ घिसकर उसे शुद्ध किया जाये। इस सुवर्ण के साथ इस्पाती लोहा भी नील, पीत आदि आभूषणों के योग्य होता है। इस्पाती लोहा मोर की गर्दन

के समान आकृति का और काटने पर श्वेत, चमकता हुआ होना चाहिए। यदि गरम करके उसका चूर्ण बनाया जाये और उसको एक काकिणी सोने में मिला दिया जाये तो सोने का रंग खिल उठता है।

- (२१) लोहे के स्थान पर शुद्ध चाँदी भी मिलाई जा सकती है। हड्डी के चूर्ण के साथ मिली हुई मिट्टी से बनी हुई घरिया में चार बार, मिट्टी और सीसे से बनी घरिया में चार बार, शुद्ध मिट्टी से बनी घरिया में तीन बार और गोबर में तीन बार - इस प्रकार सत्रह बार घरिया में बदलने के बाद सिंधदेश की खारी मिट्टी में रगड़ देने से श्वेतवर्ण की शुद्ध रूप्यधातु तैयार हो जाती है। उसमें से एक काकिणी चाँदी सोने में मिलाई जा सकती है। इस प्रकार दो माष तक चाँदी मिलाकर उतना सोना निकाला जा सकता है। इस प्रकार सोने में चाँदी मिला देने से और तदनन्तर उसको चमका देने वाली चीजों के सहयोग से सुवर्ण भी चाँदी की तरह चमकने लगता है।
- (२२) बत्तीस भागों में विभक्त साधारण सोने में तीन भाग मिलाकर उनकी जगह तीन भाग शुद्ध सोना और शेष चाँदी को एक साथ मिलाकर घरिया में उलटने-पुलटने से उसका रंग श्वेत-लाल मिश्रित रंग का हो जाता है। यदि पूर्वोक्त रीति से चाँदी के साथ या ताँबे को सोने में मिला दिया जाये तो वह उसके रंग को पीला बना देता है।
- (२३) साधारण सोने को खारी मिट्टी से चमका कर उसमें शुद्ध सोने का तीसरा भाग मिला दिया जाये तो उसका रंग लाल-पीला हो जाता है।
- (२४) दो भाग शुद्ध चाँदी में एक भाग सोने को मिला कर भावना देने से उसका रंग मूंग के समान हो जाता है।
- (२५) सोने का छठा हिस्सा लोहा मिला देने से उसका रंग काला हो जाता है। पिघले हुए लोहे तथा शुद्ध चाँदी से मिला हुआ दुगुना सोना संवापंखी रंग का हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त नील, आदि रंगों के भेद को जानने के लिए प्रत्येक वर्णक को ग्रहण करना चाहिये।
- (२६) सोने का रंग बदलने के लिए उपयोग में आने वाले लोहे, ताँबे को शुद्ध करना आवश्यक है; इसलिए उनके शुद्ध करने की विधि भली-भाँति जान लेनी चाहिए। जिससे वज्रमणि, मुक्ता, प्रवाल आदि उत्तम रत्नों में मिलावट न हो सके और सोने-चाँदी आदि के आभूषण में कोई न्यूनाधिक मेल करके गड़बड़ी न कर सके, इसके लिए उत्तम रत्नों और सोना-चाँदी के आभूषणों के सम्बन्ध में अच्छी तरह जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये।
- (२७) १. एक सा रंग होना, २. वजन तथा रूप में समान होना, ३. बीच में गाँठ आदि का न होना, ४. टिकाऊ होना, ५. अच्छी तरह चमकाया हुआ होना, ६. ठीक तरह बना हुआ होना, ७. अलग-अलग हिस्सों वाला, ८. पहनने में सुखकर, साफ-सुथरा, १०. कांतिमान, ११. अच्छा दिखाई देने वाला, १२. एक जैसी बनावट का, १३. अयुक्त छिद्रों से रहित और १४. मन तथा आँखों को अच्छा लगने वाला, ये चौदह गुण सोने के आभूषणों में होते हैं।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में अक्षशाला में सुवर्णाध्यक्ष नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १४

विशिखायां सौवर्णिकप्रचारः

- (१) सौवर्णिकः पौरजानपदानां रूप्यसुवर्णमावेशनिभिः कारयेत्। निर्दिष्टकालकार्यं च कर्म कुर्युः, अनिर्दिष्टकालं कार्यापदेशम्।
- (२) कालातिपातने पादहीनं वेतनं तद्विगुणश्च दण्डः। कार्यस्यान्यथाकरणे वेतननाशः, तद्विगुणश्च दण्डः।
- (३) यथावर्णप्रमाणं निक्षेपं ग ह्णीयुस्तथाविधमेवार्पयेयुः, कालान्तरादपि तथाविधमेव प्रतिग ह्णीयुरन्यत्र क्षीणपरिशीर्णभ्याम्।
- (४) आवेशनिभिः सुवर्णपुद्गललक्षणप्रयोगेषु तत्तज्जानीयात्।
- (५) तप्तकलधौतकयोः काकणिकः सुवर्णं क्षयो देयः। तीक्ष्णकाकणी रूप्यद्विगुणो रागप्रक्षेपस्तस्य षड्भागः क्षयः।
- (६) वर्णहीने माषावरे पूर्वः साहसदण्डः, प्रमाणहीने मध्यमः, तुलाप्रतिमानोपधावुत्तमः, कृतभाण्डोपधौ च।
- (७) सौवर्णिकेनाद ष्टमन्यत्र वा प्रयोगं कारयतो द्वादशपणो दण्डः, कर्तुर्द्विगुणः सापसारश्चेत्। अनपसारः कण्टकशोधनाय नीयेत। कर्तुश्च द्विशतो दण्ड पणछेदनं वा।
- (८) तुलाप्रतिमानमाण्डं पौतवहस्तात्क्रीणीयुः। अन्यथा द्वादशपणो दण्डः।
- (९) घनं घनसुषिरं संयूह्यमवलेप्यं सङ्घात्यं वासितकं च कारुकर्म।
- (१०) तुलाविषमपसारणं विस्त्रावणं पेटकः पिङ्कश्चेति हरणोपायाः।
- (११) सन्नानिन्युत्कीर्णिका भिन्नमस्तकोपकण्ठी कुशिक्या सकटुकक्ष्या वारिवेल्लयस्कान्ता वा दुष्टतुलाः।
- (१२) रूप्यस्य द्वौ भागावेकः शुल्बस्य त्रिपुटकम्। तेनाकरोद्गतमपसार्यते। तत्रिपुटकापसारितं, शुल्बेन शुल्बापसारितं, वेल्केन वेल्कापसारितं, शुल्बार्धसारेण हेम्ना हेमापसारितम्।
- (१३) मूकमूषा पूतिकिष्टः करटकमुखं नाली सन्दंशो जोङ्गनी सुवर्चिकालवणम्। तदेव सुवर्णमित्यपसारणमार्गाः। पूर्वप्रणिहिता वा पिण्डवालुका मूषाभेदादग्निष्ठा उद्धियन्ते।
- (१४) पश्चाद्बन्धने आचितकपत्रपरीक्षायां वा रूप्यरूपेण परिवर्तनं विस्त्रावणम्, पिण्डवालुकानां लोहपिण्डवालुकार्भवा।
- (१५) गाढश्चाभ्युद्धार्यश्च पेटकः संयूह्यावलेप्यसङ्घात्येषु क्रियते। सीसरूपं सुवर्णपत्रेणावलिप्तमभ्यन्तरमष्टकेन बद्धं गाढपेटकः। स एव पटलसम्पुटेभ्युद्धार्यः। पत्रमाश्लिष्टं यमकपत्रं वावलेप्येषु क्रियते। शुल्बं तारं वा गर्भः पत्राणाम्। संघात्येषु क्रियते शुल्बरूपं सुवर्णपत्रसंहतं प्रम ष्टं सुपार्श्वम्। तदेव यमकपत्रसंहतं प्रम ष्टम्। ताम्रताररूपं चोत्तरवर्णकः।
- (१६) तदुभयं तापनिकषाभ्यां निशब्दोल्लेखनाभ्यां वा विद्यात्। अभ्युद्धार्य बदराम्ने लवणोदके वा सादयन्ति इति पेटकः।
- (१७) घनसुषिरे वा रूपे सुवर्णम न्मालुकाहिङ्गुलुककल्को वा तप्तो वतिष्ठते। द ढवास्तुके वा रूपे

वालुकामिश्रजतुगान्धारपङ्को वा तप्तो वतिष्ठते। तयोस्तपनमवध्वंसनं वा शुद्धिः। सपरिभाण्डे वा रूपे लवणमुल्कया कटुशर्करया तप्तमवतिष्ठते। तस्य क्वाथनं शुद्धिः। अभ्रपटलमष्टकेन द्विगुणवास्तुके वा रूपे बध्यते। तस्यापिहितकाचकस्योदके निमज्जत एकदेशः सीदति। पटलान्तरेषु वा सूच्या भिद्यते। मणयो रूप्यं सुवर्णं वा घनसुषिराणां पिङ्कः। तस्य तापनमवध्वंसनं वा शुद्धिः। इति पिङ्कः।

- (१८) तस्माद्भ्रजमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्गललक्षणान्युपलभेत।
- (१९) कृतभाण्डपरीक्षायां पुराणभाण्डप्रतिसंस्कारे वा चत्वारो हरणोपायाः—परिकुट्टनमवच्छेदनमुल्लेखनं परिमर्दनं वा। पेटकापदेशेन प षतं गुणं पिटका वा यत् परिशातयन्ति तत् परिकुट्टनम्। यद् द्विगुणवास्तुकानां वा रूपे सीसरूपं प्रक्षिप्याभ्यान्तरमवच्छिन्दन्ति तदवच्छेदनम्। यद्घनानां तीक्ष्णेनोल्लिखन्ति तदुल्लेखनम्। हरितालमनःशिलाहिङ्गुलक- चूर्णानामन्यतमेन कुरुविन्दचूर्णेन वा वस्त्रं संयूह्य यत् परिमर्दन्ति तत् परिमर्दनम्। तेन सौवर्णराजतानि भाण्डानि क्षीयन्ते। न चैषां किञ्चिदवरुणं भवति।
- (२०) भग्नखण्डघ ष्टानां संयूह्यानां सद शेनानुमानं कुर्यात्। अवलेप्यानां यावदुत्पाटितं तावदुत्पाट्यानुमानं कुर्यात्। विरूपाणां वा। तापनमुदकपेषणं च बहुशः कुर्यात्।
- (२१) अवक्षेपः प्रतिमानमग्निर्गण्डिका भण्डिकाधिकरणी पिच्छः सूत्र चेल्लं बोल्लनं शिर उत्सङ्गो मक्षिका स्वकायेक्षा द तिरुदकशेरावमग्निष्ठमिति काचं विद्यात्।
- (२२) राजतानां विरुं मलग्राहि परुषं प्रस्तीतं विवर्णं वा दुष्टमिति विद्यात्।
- (२३) एवं नवं च जीर्णं च विरूपं चाषि भाण्डकम्।
परीक्षेतात्ययं चैषां यथोद्दिष्टं प्रकल्पयेत्॥
- इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे विशिखायां सौवर्णिकप्रचारो नाम चतुर्दशो ध्यायः,
आदितश्चतुस्त्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) सौवर्णिक (राज्य का प्रधान आभूषण व्यापारी) को चाहिए कि वह नगरवासियों और जनपदवासियों के सोने-चाँदी के आभूषणों का कार्य शिल्पशाला में बैठकर काम करने वाले सुनारों द्वारा कराये। सुनारों को चाहिए कि वे समय और वेतन को नियत करके ही कार्य करें; यदि कार्य की अधिकता हो या वायदे की अवधि बीत रही हो, तो उन्हें नियत समय से भी अधिक कार्य करना चाहिये।
- (२) यदि कोई सुनार वायदे के अनुसार कार्य पूरा न करे तो उसके वेतन का चौथाई भाग जब्त करके उसे वेतन का दुगुना दण्ड दिया जाये। यदि कोई सुनार अभीष्ट जेवर न बनाकर दूसरा ही जेवर बनाकर दे, तो उसकी मजदूरी जब्त कर उसे नियत वेतन का दुगुना दण्ड दिया जाये।
- (३) सुनारों को चाहिए कि वे जिस प्रकार और जितने वजन का सोना आदि आभूषण के लिए लें, उसी प्रकार और उतने ही वजन का आभूषण बनाकर वापिस करें। सुनार के परदेश चले जाने अथवा उसकी मृत्यु हो जाने के कारण यदि सुनार के घर सोना बहुत दिनों तक पड़ा रह जाये तो उसके उत्तराधिकारियों से वह सोना वापिस ले लेना चाहिये। यदि सोना नष्ट हो गया हो या छीज गया हो तो सुनार से उसका मुआवजा भी लेना चाहिये।
- (४) सौवर्णिक को चाहिये कि वह सुनारों के द्वारा किये जाने वाले पुद्गल तथा लक्षण आदि कपट प्रयोगों के सम्बन्ध में भी अच्छी जानकारी रखे।

- (५) यदि छोटे सोने-चाँदी के आभूषण बनाने के लिए दिए जायें तो सुनार को एक काकणी (एक चौथाई माष) छीजन देनी चाहिये। सोने का रंग बदलने के लिए एक काकणी लोहा और दो काकणी चाँदनी उसमें मिलानी चाहिये। एक काकणी लोहा और दो काकणी चाँदी का छठा भाग छीजन के लिए निकाल लेना चाहिये।
- (६) यदि अपनी अज्ञानता के कारण सुनार एक माष सुवर्ण को कांतिहीन कर दे तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये; तौल में कम करे तो मध्यम साहस दण्ड; और तराजू-बाट में कपट करे तो उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये, इसी प्रकार सोने-चाँदी के बने हुए पात्र में यदि कोई व्यक्ति हेर-फेर करे तो उसे भी उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (७) सौवर्णिक की अनुमति प्राप्त कर या न प्राप्त कर यदि कोई व्यक्ति शिल्पशाला से बाहर किसी सुनार से आभूषण बनवाये तो उसे बारह पण दण्ड देना चाहिये, और जेवर बनाने वाले सुनार को चौबीस पण। उनके लिए यह दण्ड-व्यवस्था उसी दशा में है यदि उन पर चोरी की आशंका न हो तो और यदि उन पर चोरी किए जाने की आशंका हो तो उन्हें कण्टकशोधक के पास न्याय के लिए ले जाना चाहिये। यदि अपराध सिद्ध हो जाये तो सुनार पर दो-सौ पण दण्ड निर्धारित किया जाये और इतना धन देने से यदि वह इन्कार करे तो उसकी उंगलियाँ कटवा देनी चाहिये।
- (८) सुनारों को चाहिये कि वे सोना-चाँदी तोलने के बाट-तराजू कही से न खरीद कर पीतवाध्यक्ष के यहाँ से ही खरीदें। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उन पर बारह पण का दण्ड कर देना चाहिये।
- (९) सुनारों के १. घन, २. घनसुषिर, ३. संयूह्य, ४. अवलेप्य, ५. संघात्य, और ६. वासितक, ये छह प्रकार के कार्य होते हैं।
- (१०) १. तुलाविषम, २. अपसारण, ३. विस्रावण, ४. पेटक और ५. पिङ्ग, ये पाँच तरीके सुनारों के चोरी करने के हैं।
- (११) काँटे या तराजू का बढ़ा-घटा होना, जिससे ठीक तरह न तौला जा सके, तुलाविषम कहलाता है। ऐसे काँटे आठ प्रकार के होते हैं : १. सन्नमिनी, २. उत्कीर्णिका, ३. भिन्नमस्तका, ४. उपकंठी, ५. कुशिक्या, ६. सकटुकक्ष्या, ७. पारिवेल्य, ८. आयस्कांता।
- (१२) नकली द्रव्य को मिलाकर असली द्रव्य को चुना लेना अपसारण कहलाता है। वह चार प्रकार का होता है : १. दो हिस्सा चाँदी और एक हिस्सा ताँबा मिलाकर जो घोल तैयार किया जाये उसको त्रिपुटक कहते हैं। शुद्ध सोने में यह त्रिपुटक मिला कर उतना सोना निकाल दिया जाये ओर किसी के खोटा बताने पर कहा जाये कि वह तो खान से ही ऐसा निकला है, इस चोरी का नाम त्रिपुटकापसारित है। २. जिस सोने में ताँबा मिला कर चोरी की जाये उसको शुल्बापसारित कहते हैं। ३. लोहा-चाँदी के मिश्रित घोल को वेल्लक कहते हैं; उस वेल्लक को मिलाकर सोने की जो चोरी की जाती है उसको वेल्लकापसारित कहते हैं। ४. ताँबे के साथ आधा सोना मिलाकर उसके बदले में जो चोरी की जाती है उसे हेमापसारित कहते हैं।
- (१३) अपसारण के ढंग इस प्रकार हैं : मूकमूषा, पूतिकिट्ट, करटकमुख, नाली, संदंश, जोंगनी सुवर्चिका और नमक। उनसे जब कहा जाये कि उन्होंने सोना खोटा कर दिया है, तो झट ये कह देते हैं कि यह आप का दिया हुआ सोना है, यह खान से ही ऐसा निकला है। ये अपसारण के तरीके हैं। या पहिले ही से आग में बारीक बालुका-सी डाल दी जाती है और फिर मूषा को अग्नि में रख कर मूषा को टूट जाने का बहाना करता है और तब मालिक के सामने उस बालुका को सोने में मिला दिया जाता है और उतना ही सोना वह होशियारी से मार लेता है।

- (१४) किसी बनी हुई वस्तु को पीछे से जोड़ते समय या पात्रों की परीक्षा करते समय खरे सोने की जगह खोटा सोना जोड़ देना विस्त्रावन कहलाता है। सोने की खान में उत्पन्न बालुका को लोहे की खान में उत्पन्न बालुका से बदल देना भी विस्त्रावण कहलाता है।
- (१५) पेटक दो प्रकार का होता है : १. गांठ और २. अभ्युद्धार्य; इसका प्रयोग संयूह्य, अवलेप्य तथा संघात्य कर्मों में किया जाता है। सीसे के पत्ते को सोने के पत्ते से मढ़ कर बीच में लाख से जोड़ देना ही गाठपेटक कहलाता है। वही बन्धन यदि सरलता से खुलने योग्य हो तो उसे अभ्युद्धार्यपेटक कहते हैं। अवलेप्य क्रियाओं में एक ओर या दोनों ओर सोने का पतला सा पत्रा जोड़ कर सोने को चुराया जा सकता है। अथवा बाहर पत्ता लगाने की बजाय सुवर्ण पत्रों के बीच में ताँबे या चाँदी का पत्ता लगा कर भी सोना चुराया जाता है। संघात्य क्रियाओं में ताँबे की वस्तु को एक ओर से सोने के पत्ते से मढ़कर उस हिस्से को खूब चमकदार एवं सुन्दर बना दिया जाता है। उसी ताँबे की वस्तु को दोनों ओर से इसी प्रकार चमकदार एवं सुन्दर सोने के पत्तों से मढ़कर उतना ही असली सोना हड़प लिया जाता है।
- (१६) इन दोनों प्रकार के पेटकों की शुद्धता जाँचने के लिए उन्हें अग्नि में तपाये, कसौटी पर घिसवाये या हल्की चोट देकर या रेखा खींचकर या किसी तीक्ष्ण वस्तु से निशान देकर उनकी परीक्षा करे। अभ्युद्धार्य पेटक बेरी के कसैले रंग में अथवा नमक के पानी में डालकर जाना जाये। ऐसा करने से उसका रंग कुछ लाल-सा हो जाता है।
- (१७) ठोस या पोले गहनों में सुवर्णभत्त, सुवर्णमालुका और शिंगरफ का चूर्ण अग्नि में तपाकर लगा दिया जाता है और उतना ही शुद्ध सोना निकाल दिया जाता है। जिस आभूषण का आधार मजबूत हो उसमें साधारण धातुओं की बालुका की लाख और सिन्दूर का घोल आग में तपाकर लगा दिया जाता है और उसके बराबर का सोना निकाल दिया जाता है। इसप्रकार के ठोस तथा पोले गहनों को आग में तपाकर उन पर चोट देने से उनकी परीक्षा करनी चाहिये। बूंदेदार मणिबन्ध जैसे गहनों को, नमक की छोटी डलियों के साथ, लपट देने वाली आग में तपाने से उनकी शुद्धि हो जाती है। बेरी के अम्ल रस में उबाल कर भी उनकी शुद्धता को जाँचा जा सकता है। अभ्रक को उसके दुगुने सुवर्ण में लाख आदि से जोड़कर भी असली सोना रख लिया जाता है। उसकी परीक्षा के लिए अभ्रक लगे गहनों को बेरी के अम्ल जल में छोड़ देना चाहिये; अभ्रक लगा हिस्सा पानी में तैरता रहेगा। यदि अभ्रक की जगह ताँबा मिलाया गया हो तो सुई से छेदकर उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये। ठोस या पीले गहनों में काँचमणि, चाँदी और खोटा सोना मिलाकर पिंग नामक उपाय द्वारा शुद्ध सोना चुराया जा सकता है। उसको आग में तपाना तथा उस पर हथौड़े की चोट करना ही उसकी शुद्धता का उपाय है।
- (१८) इसलिये सौवर्णिक को चाहिये कि वह, वज्र, मणि, युक्ता और प्रवाल की जाति, उनके रूप, गुण, प्रमाण, पुद्गल और लक्षण आदि को भली-भाँति जाने, जिससे कोई व्यक्ति उनका अपहरण न कर सके।
- (१९) पात्र और आभरण आदि के तैयार हो जाने पर, उनकी परीक्षा करते समय भी सोने आदि का चार प्रकार से अपहरण किया जा सकता है : १. परिकुट्टन से, २. अवच्छेदन से, ३. उल्लेखन से और ४. परिमर्दन से। पूर्वोक्त पेटक ढंग से परीक्षा करने के बहाने जो छोटे टुकड़े या छोटी गोली सुनार काट लिया करते हैं, उसे ही परिकुट्टन कहते हैं। पत्रों से जुड़े आभूषणों में सोने मढ़े हुये कुछ सीसे के पत्ते मिलाकर और भीतर से काटकर सोना निकाल लेना ही अवच्छेदन कहलाता है। ठोस गहनों को तेज औजार से खोद देना ही उल्लेखन है। हरताल, शिंगरफ, मैन्सिल और कुरुविंद पत्थर के चूर्ण को भी कपड़े के साथ सानकर, उससे आभूषणों को रगड़ा जाना ही परिमर्दन कहलाता है। ऐसा करने से आभरण घिस जाते हैं;

किन्तु उन पर किसी प्रकार की खरोंच या चोट नहीं दिखाई देती है।

- (२०) परिकुट्टन अवच्छेदन आदि कपट उपायों से जितने सुवर्ण का अपहरण किया गया हो, उसका ब्योरा, उसके समानजातीय शेष अवयवों से प्राप्त करना चाहिये। जिन आभूषणों पर अवलेप्य का प्रयोग किया गया हो, उस पर से कटे सोने के टुकड़े को देखकर उसकी क्षति का अनुमान किया जाये। जिन आभूषणों में अधिक खोटा माल मिला दिया गया हो उनकी हानि का परिमाण, उनके सद श दूसरे आभूषणों को तौलकर जाना जाये। उनको आग में तपाकर पानी में छोड़ दिया जाये और तब हथौड़े से चोट करके उनकी शुद्धता को जाँचा जाये।
- (२१) अपहरण के और भी तरीके हैं : १. अवक्षेप (हाथ की सफाई से खरे माल को लेकर खोटा माल भिड़ा देना), २. प्रतिमान, (बदली करके चुरा लेना) ३. अग्नि के बीच से चुरा लेना, ४. गाण्डिका (पीटने के बहाने), ५. भण्डिका (घरिया में रखने के बहाने), ६. अधिकरणी (लोहे के पात्र में रखने के बहाने), ७. पिच्छ (मोर-पेंच से चुराना), ८. सूत्र (कांटे की डोरी के बहाने), ९. चेल्ल (वस्त्र में छिपा लेना), १०. बोल्लन (कोई किस्सा छेड़कर), ११. उत्संग (गोद या गुप्त अंग में छिपाकर), १२. मक्षिका (मक्खी उड़ाने के बहाने पिघली हुई धातु को अपने अंग में लगा देना) तथा १३. पसीना, १४. धौंकनी, १५. जल का शकोरा और १६. आग में डाले हुये खोटे माल आदि के बहाने सोना-चाँदी चुराया जा सकता है।
- (२२) मिलावटी चाँदी के आभूषणों में पाँच प्रकार के दोष होते हैं : १० विस्त्र (दुर्गन्ध) होना, २. मलिन हो जाना, ३. कठोर हो जाना, ४. खुरदरा हो जाना और ५. रंग बदल जाना।
- (२३) इस प्रकार नये और पुराने विरूप हुए पात्रों या आभूषणों की भली-भाँति परीक्षा कर लेनी चाहिये; और फिर मिलावट के अनुसार ही अपराधियों पर दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिये।
अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में विशिखा में सौवर्णिक-प्रचार नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १५

कोष्ठागाराध्यक्षः

- (१) कोष्ठागाराध्यक्षः सीताराष्ट्रक्रयिमपरिवर्तकप्रामित्यकापमित्यकसिंहनिकान्यजातव्यय-प्रत्यायोपस्थानानिउपलभेत्।
- (२) सीताध्यक्षोपनीतः सस्यवर्णकः सीता।
- (३) पिण्डकरः, षड्भागः सेनाभक्तं, बलिः, करः, उत्सङ्गः, पार्श्व, पारिहीणिकम्, औपायनिकं, कौष्ठेयकं च राष्ट्रम्।
- (४) धान्यमूल्यं कोशनिर्हारः प्रयोगप्रत्यादानं च क्रयिमम्।
- (५) सस्यवर्णानामर्घान्तरेण विनिमयः परिवर्तकः।
- (६) सस्यायचनमन्यतः प्रामित्यकम्।
- (७) तदेव प्रतिदानार्थमापमित्यकम्।
- (८) कुट्टकरोचकसक्तुशुक्तपिष्टकर्म तज्जीवनेषु तैलपीडनमौरभ्रचाक्रिकेष्विक्षूणां च क्षारकर्म सिंहनिका।
- (९) नष्टप्रस्म तादिरन्यजातः।
- (१०) विक्षेपव्याधितान्तरारम्भशेषं च व्ययप्रत्यायः।
- (११) तुलामानान्तरं हस्तपूरणमुत्करो व्याजी पर्युषितं प्रार्जितं चोपस्थानमिति।
- (१२) धान्यस्नेहक्षारलवणानाम्।
- (१३) धान्यकल्पं सीताध्यक्षे वक्ष्यामः। सर्पिस्तैलवसामज्जानः स्नेहाः।
- (१४) फाणितगुडमत्स्यण्डिकाखण्डशर्कराः क्षारवर्गः।
- (१५) सैन्धवसामुद्रविडयवक्षारसौवर्चलोद्भेदजा लवणवर्गः।
- (१६) क्षौद्रं मार्द्धीकं च मधु।
- (१७) इक्षुरसगुडमधुफाणितजाम्बवपनसानामन्यतमो मेषश्च इग्गीपिप्पलीक्वाथाभिषुतो मासिकः षाण्मासिकः सांवत्सरिको वा चिदिभटोर्वारुकेशुकुण्डाम्रफलामलकावसुतः शुद्धो वा शुक्तवर्गः।
- (१८) व क्षाम्लकरमर्दाप्रविदलामलकमातुलुङ्गकोलवदरसौवीरकपरूपकादिः फलाम्लवर्गः।
- (१९) दधिधान्याम्लादिर्द्रवाम्लवर्गः।
- (२०) पिप्पलीमरिचश्च इग्गवेराजाजीकिराततित्तगौरसर्षपकुस्तुम्बुरुचोरकदमनकमरुवकशिग्रुकाण्डादिः कटुकवर्गः।
- (२१) शुष्कमत्स्यमांसकन्दमूलफलशाकादि च शाकवर्गः।
- (२२) ततो र्धमापदर्थं जानपदानां स्थापयेत्। अर्धमुपयु जीत। नवेव चानवं शोधयेत्।
- (२३) क्षुण्णघ ष्टपिष्टम ष्टानामार्द्रशुष्कसिद्धानां च धान्यानां व द्विक्षयप्रमाणानि प्रत्यक्षीकुर्वीत।
- (२४) कोद्रवव्रीहीणामर्धं सारः, शालीनामर्धभागोनः, त्रिभागोनो प्रियङ्गूणामर्धं सारो नवभागव द्विश्च। उदारकस्तुल्यः। यवा गोधूमाश्व क्षुण्णाः।

- (२५) तिलायवा मुद्गमाषाश्च घ ष्टाः। प चभागव द्विर्गोधूमः सक्तवश्च। पादोना कलायचमसी। मुद्गमाषाणामर्धपादोना। शैम्बानामर्ध सारः। त्रिभागोनः मसूराणाम्।
- (२६) पिष्टमामं कुल्माषश्चाध्यर्धगुणः। द्विगुणो यावकः। पुलाकः पिष्टं च सिद्धम्।
- (२७) कोद्रववरकोदारकप्रियङ्गूणां, त्रिगुणमन्नं, चतुर्गुणं ब्रीहीणाम्, प चगुणं शालीनाम्, तिमितमपरात्रं द्विगुणमर्धाधिकं विरूढानाम्।
- (२८) पश्चभागव द्विर्घटानाम्। कलायो द्विगुणः लाजा भरुजाश्च। षट्कं तैलमतसीनाम्। निम्बकुशाम्रकपित्थादीनां प चभागः। चतुर्भागिकास्तिकुसुम्भमधूकेङ्गुदीस्नेहाः।
- (२९) कार्पासक्षीमाणां प चपले पलसूत्रम्।
- (३०) प चद्रोणे शालीनां द्वादशाढकं तण्डुलानां कलभभोजनम्, एकादशकं व्यालानां, दशकमौपबाह्यानाम्, नवकं सान्नाह्यानाम्, अष्टकं पत्तीनां सप्तकं मुख्यानां, षट्कं देवीकुमाराणाम्, प चकं राज्ञाम्। अखण्डपरिशुद्धानां वा तण्डुलानां प्रस्थः।
- (३१) चतुर्भागः सूपः, सूपषोडशो लवणस्यांशः, चतुर्भागः सर्पिषः तैलस्य वा, एकमार्याभक्तम्। प्रस्थषड्भागः सूपः अर्धस्नेहमवराणाम्। पादोनं स्त्रीणाम्। अर्धं बालानाम्।
- (३२) मांसपलविंशत्या स्नेहार्धकुडुवः, पलिको लवणस्यांशः, क्षारपलयोगः, द्विधरणिकः कटुकयोगः, दध्नश्चार्धप्रस्थः।
- (३३) तेनोत्तरं व्याख्यातम्। शाकानामध्यर्धगुणः, शुष्काणां द्विगुणः, स चैव योगः।
- (३४) हस्त्यश्वयोस्तदध्यक्षे विधाप्रमाणं वक्ष्यामः। बलीवर्दानां माषद्रोणं यवानां वा पुलाकः। शेषमश्वविधानम्। विशेषो-घाणपिण्याकतुला कणकुण्डकं दशाढकं वा।
- (३५) द्विगुणं महिषोष्ट्राणाम्। अर्धद्रोणं खरप षतरोहितानाम्। आढकमेणकुरङ्गाणाम्। अर्धाढकमजैलकवराहाणां द्विगुणं वा कणकुण्डकम्। प्रस्थोदनः शुनाम्। हंसक्रौ चमयूराणामर्धप्रस्थः। शेषाणामतो म गपशुपक्षिव्यालानामेकभक्तादनुमानं ग्राहयेत्।
- (३६) अङ्गारांस्तुषाम् लोहकर्मान्तभित्तिलेप्यानां हारयेत्। कणिकाः दासकर्मकरसूपकाराणाम्। अतो न्यदौदनिकापूपिकेभ्यः प्रयच्छेत्।
- (३७) तुलामानभाण्डं रोचनीद षन्मुसलोलूखलकुट्टकरोचकयन्त्रपत्रकशूर्पचालनिकाकण्डोलीपिटक-सम्मार्जन्यश्चोपकरणानि।
- (३८) मार्जकारक्षकधारकमायकमापकदायकदापकशलाकाप्रतिग्राहकदासकर्मकरवर्गश्च विष्टिः।
- (३९) उच्चैर्धान्यस्य निक्षेपो मूताः क्षारस्य संहताः।
म त्काष्ठकोष्ठाः स्नेहस्य प थिवी लवणस्य च॥
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे कोष्ठागाराध्यक्षो नाम प चदशो ध्यायः, आदितः प चत्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) कोष्ठागार (कोठार) के अध्यक्ष को चाहिए कि वह १. सीता, २. राष्ट्र, ३. क्रयिम, ४. परिवर्तक, ५. प्रामित्यक, ६. आपमित्यक, ७. सिंहनिका, ८. अन्वजात, ९. व्ययप्रत्याय और १०. उपस्थान, इन दस बातों के संबंध में अच्छी जानकारी प्राप्त करे।
- (२) राजकीय कर के रूप में एकत्र धान्य को सीता कहा जाता है; उसको एकत्र करने वाले अधिकारी को सीताध्यक्ष कहते हैं। कोष्ठागार के अध्यक्ष को चाहिए कि वह शुद्ध एवं पूरा सीता लेकर उसको व्यवस्था से रखे।

- (३) राष्ट्र के दस भेद होते हैं : १. पिण्डकर, २. षड्भाग, ३. सेनाभक्त, ४. बलि, ५. कर, ६. उत्संग, ७. पार्श्व, ८. पारिहीणिक, ९. औपायनिक और १०. कौष्टेयक।
- (४) क्रयिक तीन प्रकार का होता है : १. धान्यमूलक, २. कोशनिर्हार और ३. प्रयोग-प्रत्यादान।
- (५) एक अनाज देकर उसके बदले दूसरा अनाज लेना परिवर्तक कहलाता है।
- (६) किसी मित्र आदि से सहायता रूप में ऐसा अन्न लेना, जो फिर लौटाया न जाये, प्रामित्यक कहलाता है।
- (७) व्याज रहित पुनः लौटा देने के वायदे पर लिया हुआ अन्न आदि कर्ज आपमित्यक कहलाता है।
- (८) कूट पीस कर, छान-बीन कर, सत्तू पीस कर, गन्ना आदि को पेर कर, आटा पीस कर, तिलों का तेल निकाल कर, भेड़ों के बाल काट कर और गुड़, राव, शक्कर आदि पर आजीविका निर्भर करने वाले लोगों से जो लिया जाता है, उसे सिंहनिका कहते हैं।
- (९) नष्ट हुए तथा भूले हुए धन का नाम अन्यजात है।
- (१०) व्ययप्रत्याय तीन प्रकार का होता है : १. विक्षेपशेष, २. व्यधितशेष और ३. अन्तरारम्भशेष।
- (११) वाट-तराजू की पसंघा से, तौलने के बाद मुट्ठी-दो-मुट्ठी दिया हुआ अधिक अन्न, तौली हुई या गिनी हुई वस्तु में कोई दूसरी ही वस्तु मिला देना, छीजन के रूप में ली हुई वस्तु, पिछले वर्ष का बकाया और चतुराई से उपार्जित धन उपस्थान कहलाता है।
- (१२) अब इसके उपरान्त धान्य, स्नेह, क्षार और लवण का निरूपण किया जाता है।
- (१३) इसमें धान्यवर्ग के पदार्थों का विस्तृत विवरण आगे 'सीताध्यक्ष' नामक प्रकरण में किया जायेगा। घी, तेल, वसा और मज्जा ये चार प्रकार के स्नेह पदार्थ हैं।
- (१४) गन्ने से बने : राव, गुड़, गुड़खांड, खांड और शक्कर में क्षारवर्ग के पदार्थ हैं।
- (१५) लवण छह प्रकार का होता है : १. सेंधा, २. समुद्री, ३. बिड, ४. जवाक्षार, ५. सज्जीखार और ६. लोना मिट्टी से बना।
- (१६) शहद दो प्रकार का होता है : क्षोद्र और २. मार्द्वीक।
- (१७) सिरका शुक्तिवर्ग का पदार्थ है। ईख का रस, गुड़, शहर, राव, जामुन का रस, कटहल का रस, इनमें से किसी एक को मेढासिंगी और पीपल के क्वाथ के साथ मिलाकर एक मास, छह मास तथा वर्ष भर बन्द करके रखा जाये और उसके बाद मीठी ककड़ी, कड़ी ककड़ी, ईख, आम का फल एवं आँवला, ये पांचों चीजें उसमें डाल दी जायें या न भी डाली जायें; इस विधि से जो रस तैयार होगा उसे सिरका कहते हैं। एक मास का सिरका निकृष्ट, छह मास का मध्यम और साल भर का उत्तम कहा जाता है।
- (१८) इमली, करौंदा आम, अनार, आवंला; खट्टा नींबू, झरबेर बेर, प्यौंदा बेर, उन्नाव और फालसा आदि खट्टे रस के फल अम्लवर्गीय हैं।
- (१९) दही, कांजी, मट्ठा आदि पनीली खट्टी चीजें द्रववर्गीय हैं।
- (२०) पीपल, मिर्च, अदरख, जीरा चिरायता, सफेद सरसों, धनियां, चोरक, दमनक, मैनफल और सैजन आदि कडुवे पदार्थ कटुवर्गीय हैं।
- (२१) सूखी मछली, सूखा मांस, कन्द, मूल, फल आदि शाकवर्गीय पदार्थ हैं।
- (२२) स्नेहवर्ग से लेकर शाकवर्ग तक जितने पदार्थ गिनाये हैं, राजा को चाहिये कि, उन सब की उपज का आधा भाग आपत्तिकाल में जनपद की सुरक्षा के लिए सुरक्षित रखे। आधी उपज का उपयोग स्वयं कर ले। इसी प्रकार नई फसल या नया सामान आ जाने पर पुराने स्टाक को उपयोग में ले लिया जाये और उसकी जगह नया स्टाक भर दिया जाये।

- (२३) कोष्ठागार के अध्यक्ष को चाहिये कि वह कूटा हुआ, साफ किया हुआ, पीसा हुआ, भुना हुआ, भीगा हुआ, सुखाया हुआ और पकाया हुआ; जितना भी धान्य है, अपने सामने तुलवाकर उसकी घट-बढ़ की जांच करे।
- (२४) उनकी घट-बढ़ का नियम इस प्रकार है : कोदों और धान में आधी भूसी निकल जाती है; बढ़िया धान का भी आधा भाग भूसी में निकल जाता है, लोभिया आदि अनाजों में तीसरा हिस्सा चोकर का निकल जाता है। काकुन में प्रायः आधा हिस्सा भूसी निकल जाती है, किन्तु कभी-कभी उसका नवां हिस्सा भी बढ़ जाता है। मोटे चावल में आधा ही भाग बन पाता है, जौ और गेहूं में कूटने पर छीजन नहीं आती है।
- (२५) तिल, जौ, मूंग और उड़द भी दलने पर बराबर बने रहते हैं गेहूं और भुने हुए जौ पीसने पर पंचमांश बढ़ जाते हैं। मटर पीसने पर चौथाई हिस्सा कम हो जाती है। पीसने पर मूंग और उड़द का आठवां हिस्सा कम हो जाता है। ज्वार की फलियों में आधा चोकर निकल जाता है। दलने पर मसूर का तीसरा हिस्सा कम हो जाता है।
- (२६) पीसे हुए कच्चे गेहूं तथा मूंग और उड़द आदि पकाये जाने पर ड्योढ़े हो जाते हैं। पकाये जाने पर चालव और सूजी दुगुने हो जाते हैं।
- (२७) कोदों, लोभिया, उदारक और कांगनी पकाये जाने पर तिगुने हो जाते हैं। पकाये जाने पर विरजफूल चावल और बासमती पंचगुने हो जाते हैं। खेत से अधकच्ची हालत में काटा गया अन्न और ब्रीहि धान पकाने पर दुगुने ही बढ़ पाते हैं। उन्हें कुछ अच्छी अवस्था में खेत से काटा जाये तो वे ढाई गुना भी बढ़ सकते हैं।
- (२८) यदि वे भूने जायें तो उनका पंचमांश बढ़ जाता है। भुने हुए मटर, धान और जौ दुगुने हो जाते हैं। पेरने पर अलसी में छठा भाग ही तेल निकलता है। निंबोरी, कुशा, आम की गुठली और कैथे में पांचवां हिस्सा ही तेल निकलता है। तिल, कुसुम्भ, महुआ और इंगुदी में चौथा हिस्सा ही तेल निकलता है।
- (२९) पांच पल कपास और रेशम में एक पल सूत तैयार होता है।
- (३०) पांच द्रोण (१० आढक) धान में से कूट-छानकर जब बारह आढक चावल शेष रह जाता है तो वह हाथी के बच्चों के खाने योग्य होता है। वही बीस आढक धान अधिक साफ कर देने पर जब ग्यारह आढक बचा रह जाये तो उन्मत्त हाथियों के खाने योग्य; जब दसवां हिस्सा रह जाये तो राज-सवारी के हाथियों के खाने योग्य; जब नवां हिस्सा रह जाये तो युद्धोपयोगी हाथियों के खाने योग्य, आठवां हिस्सा रह जाये तो पैदल सेना के भोजन योग्य; जब सातवां हिस्सा रह जाये तो प्रधान सेनापति के योग्य; जब छठा हिस्सा रह जाये तो रानियों एवं राजकुमारों के भोजन योग्य और जब साफ करते करते बीस आढक में से पाँच आढक ही बचा रह जाये तो वह राजाओं के भोजन योग्य होता है। अथवा उस बीस आढक में से साफ ओर साबूत एक प्रस्थ दाना निकालकर राजा के उपयोग के लिए लेना चाहिये।
- (३१) प्रस्थ का चौथा हिस्सा दाल, दाल का सोलहवां हिस्सा नमक, दाल का चौथा हिस्सा घी या तेल, इतना एक आर्य के भोजन-सामग्री है। छोटी स्थिति के नौकरों के लिए प्रस्थ का षष्ठमांश दाल, प्रस्थ का अष्टमांश घी या तेल और बाकी सामग्री पहले जैसी होनी चाहिये। उसमें चौथाई भाग कम स्त्रियों के लिए और उसका आधा हिस्सा सामान बालकों के लिए होना चाहिये।
- (३२) मांस पकाने के लिए बीस पल मांस में आधी कुडुव घी या तेल, एक पल नमक या नमक की जगह एक पल सज्जीखार या जवाखार, दो धरण मसाला, और आधा प्रस्थ दही डालना चाहिये।

- (३३) इससे कम-ज्यादा मांस पकाना हो तो उक्त अनुमान से ही उसमें सामान डालना चाहिये। हरे शाक में, मांस के लिए ऊपर जो अनुपात बताया गया है, उसकी ड्यौढ़ी मात्रा उपयोग में लानी चाहिये। सूखे शाक अथवा सूखे मांस में वही सामग्री दुगुनी करके डालनी चाहिये।
- (३४) हाथी और घोड़े की खुराक का वर्णन आगे चलकर 'अश्वाध्यक्ष' तथा 'हस्त्यध्यक्ष' प्रकरण में किया जायेगा। बैलों के लिए एक द्रोण उड़द तथा उतने ही अध उबले जौ देने चाहियें। बाकी खुराक उनकी घोड़ों की खुराक जैसी है। घोड़ों की अपेक्षा बैलों को सूखे तिलों के कल्क के सौ पल और दस आढक चावलों की बनी भूसी अधिक देनी चाहिये।
- (३५) भैंसों और ऊँटों के लिए बैलों से दुगुनी खुराक होनी चाहिये। गधा और हिरणों को वही सामग्री आधा द्रोण (दो आढक) देनी चाहिये। एण और कुरंग जाति के हिरणों को वही भोजन एक आढक देना चाहिये। वही खुराक बकरी भेड़ तथा सूअरों को आधा आढक; अथवा चावल की कनकी और भूसी मिलाकर एक आढक खुराक देनी चाहिये। कुत्तों को एक प्रस्थ भात देना चाहिये। हंस, क्रॉच और मोरों की आधा प्रस्थ खुराक है। इनके अतिरिक्त जंगली या पालतू जितने भी पशु पक्षी हैं, उनको एक दिन खिलाकर, उसी अनुपात से उनकी खुराक निर्धारित कर लेनी चाहिये।
- (३६) कोयला, चोकर और भूसी आदि सामग्री लुहारों तथा मकान पोतने वालों को दे देनी चाहिये। चावलों की कनकी क्रीतदासों, दूसरे कर्मकरो तथा रसाइयों को दे देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त जो कुछ बचे, वह साधारण अन्न पकाने वालों तथा पकवान बनाने वाले नौकरों में वितरित कर देनी चाहिये।
- (३७) भोजनालय में नियमित रूप से उपयोग में आनेवाली सामग्री की तालिका इस प्रकार है : तराजू, बाट, चक्की, सिल-लोढा, मूसल, ओखली, धान कूटने का मूसल, आटा पीसने की चक्की, सूप, छलनी, कड़ी, पिटारी और झाड़ू।
- (३८) झाड़ू लगाने वाला, कोष्ठागार कर रक्षक, तोलने वाला, तुलवाने वाला अधिकारी, सामान देने वाला, देने वाला अधिकारी, बोझ उठाने वाला, क्रीतदास और चाकर, ये सब विष्टि कहलाते हैं।
- (३९) अनाज को जमीन के स्पर्श से ऊपर रखना चाहिये, गुड़ और राब आदि चीजें ऐसी जगह रखनी चाहिए, जहां सील न पहुंच सके; घी और तेल के रखने के लिए म तदान या लकड़ी के पात्र होने चाहिये और नमक को जमीन पर किसी बर्तन पर रख लेना चाहिये।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में कोष्ठागाराध्यक्ष नामक पन्द्रहवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १६

पण्याध्यक्षः

- (१) पण्याध्यक्षः स्थलजलजानां नानाविधानां पण्यानां स्थलपथवारिपथोपयातानां सारफल्त्वर्धान्तरं प्रियाप्रियता च विद्यात्। तथा विक्षेपसंक्षेपक्रयविक्रयप्रयोगकालान्।
- (२) यच्च पण्यं प्रचुरं स्यात्तदेकीकृत्यार्घमारोपयेत्। प्राप्ते र्घे वार्धान्तरं कारयेत्।
- (३) स्वभूमिजानां राजपण्यानामेकमुखं व्यवहारं स्थापयेत्, परभूमिजानामनेकमुखम्। उभयं च प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत्। स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्। अजस्रपण्यानां कालोपरोधं संकुलदोषं वा नोत्पादयेत्।
- (४) बहुमुखं वा राजपण्यं वैदेहकाः, कृतार्घं विक्रीणीरन्। छेदानुरूपं च वैधरणं दद्युः।
- (५) षोडशभागो मानव्याजी। विंशतिभागस्तुलामानम्। गण्यपण्यानामेकादशभागः।
- (६) परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्। नाविकसार्थवाहेभ्यश्च परिहारमायतिक्रमं दद्यात्। अनभियोगश्चार्थिष्वागन्तूनामन्यत्र- सभ्योपकारिभ्यः।
- (७) पण्याधिष्ठातारः पण्यमूल्यमेकमुखं काष्ठद्रोण्यामेकच्छिद्रापिधानायां निदध्युः। अहनश्चाष्टमे भागे पण्याध्यक्षस्यार्पयेयुः इदं विक्रीतमिदं शेषमिति। तुलामानभाण्डकं चार्पयेयुः। इति स्वविषये व्याख्यातम्।
- (८) परविषये तु—पण्यप्रतिपण्ययोरर्घं मूल्यं च आगमय्य शुल्कवर्तन्यातिवाहिकगुल्मतरदेयभक्त- भाटकव्ययशुद्धमुदयं पश्येत्। असत्युदये भाण्डनिर्वहणेन पण्यप्रतिपण्यार्घेण वा लाभं पश्येत्। ततः सारपादेन स्थल-व्यवहारमध्वना क्षेमेण प्रयोजयेत्। अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेदनुग्रहार्थम्।
- (९) आपदि सारमात्मानं वा मोक्षयेत्। आत्मनो वा भूमिमप्राप्तः सर्वदेयविशुद्धं व्यवहरेत्।
- (१०) वारिपथे च यानभाटकपथ्यदनपण्यप्रतिपण्यार्घप्रमाणयात्राकालभयप्रतीकारपण्यपत्तन- चारित्राण्युपलभेत्।
- (११) नदीपथे च विज्ञाय व्यवहारं चरित्रतः।
यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभं परिवर्जयेत्।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे पण्याध्यक्षो नाम षोडशो ध्यायः, आदितः षट्त्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) पण्य के अध्यक्ष को चाहिये कि वह स्थल-जल में उत्पन्न तथा स्थल-जलमार्ग से विक्री के लिये आई हुई अनेक प्रकार की बहुमूल्य एवं अल्पमूल्य वस्तुओं के तारमत्य और उनकी लोकप्रियता तथा अप्रियता आदि के सम्बन्ध में अच्छी तरह जानकारी प्राप्त करे। उसको इस बात का भी पता होना चाहिये कि कम चीज को बढ़ाने, बढ़ी हुई को घटाने, बेची जाने योग्य वस्तु को खरीदने एवं खरीदी हुई वस्तु को बेच देने का उपयुक्त समय कौन है।
- (२) जो विक्रेय वस्तु अधिक तादात में उपलब्ध हो, पण्याध्यक्ष को चाहिये कि उसे एकत्र कर व्यापार-कौशल से पहिले तो उसका दाम बढ़ा दे और जब समझ ले कि उसमें उचित लाभ

हो गया है तो फिर उसका भाव कम करके उसको बेचे।

- (३) अपने राज्य में उत्पन्न सरकारी वस्तुओं की बिक्री का प्रबन्ध एक ही जगह किसी नियत स्थान पर करना चाहिये। दूसरे देश में उत्पन्न वस्तुओं का विक्रय अनेक स्थानों में करना चाहिये। स्वदेश और परदेश की वस्तुओं की बिक्री का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो। यदि किसी वस्तु में अधिक लाभ की संभावना हो, किन्तु उससे प्रजा को कष्ट पहुंचता हो, तो राजा को वह कार्य तत्काल रुकवा देना चाहिये। जल्दी ही बिक जाने योग्य वस्तुओं को रोके रखना अथवा उनको बेचने का ठेका किसी एक व्यक्ति को देकर पुनः लोभवश वह ठेका दूसरे को देना, सर्वथा अनुचित है।
- (४) अनेक स्थानों पर बिकने वाली राजकीय वस्तुओं को सभी व्यापारी एक ही भाव से बेचें। यदि बेचते-बेचते मूल्य में कुछ कमी हो जाये तो उस कमी को व्यापारी ही पूरा करें।
- (५) गोदाम में सुरक्षित माल का सोलहवां भाग कर रूप में राजा को देना चाहिये, उसे व्याजी या मानव्याजी कहा जाता है। तौले जाने वाले माल का बीसवां भाग और गिने जाने वाले माल का ग्यारहवां भाग राजा के लिए कर में देना चाहिये।
- (६) विदेशी माल को मंगाने में कर आदि की कुछ रियायत होनी चाहिये। नाव तथा जहाज आदि से माल मंगाने वाले व्यापारियों पर राजकर की छूट होनी चाहिये। विदेश से आये व्यापारियों को भी राजा बिना ही अभियोग के ऋण देने की व्यवस्था करे; किन्तु विदेशी व्यापारियों के सहयोगियों पर अभियोग होना चाहिये।
- (७) राजकीय वस्तुओं को बेचने वाले व्यापारी, सायंकाल बाठवें पहर में पण्याध्यक्ष के पास बिक्री का सब रुपया, लकड़ी की एक बन्द संदूकची में रखकर उपस्थित हों, और बतायें कि इतना माल बिक गया है तथा इतना बाकी है। माप तौल के बाटों को भी पण्याध्यक्ष के सुपुर्द कर दें। यहां तक अपने राज्य की विक्रेय वस्तुओं के सम्बन्ध में कहा गया है।
- (८) परदेश में किसी रीति से व्यापार किया जाता है, उसका विधान इस प्रकार है : निर्यात-व्यापार के सम्बन्ध में पण्याध्यक्ष को पहली बात तो यह समझनी चाहिये कि स्वदेश तथा विदेश में बेची जाने वाली किन चीजों के मूल्य में परस्पर न्यूनाधिक्य है; इसके अतिरिक्त बिक्री कर, सीमांत अधिकारी का टैक्स, सुरक्षा के लिए पुलिस को मांगकर, जंगल के रक्षक का कर, नदी पार करने का कर, अपने भोजनादि का व्यय और भाड़ा आदि निकाल कर कितना बच सकेगा; इस पर भी विचार करे। इस प्रकार हिसाब लगाने पर कुछ बचत न दीख पड़े तो अपने माल को विदेश में ले जाकर, भविष्य में लाभ की प्रतीक्षा करते हुए, उसके विक्रय की व्यवस्था करे; अथवा अपने माल से वहां के लोकप्रिय माल को बदल कर उस रूप में अपने लाभ की बात सोचे। यदि विचारित योजना सफल होती दिखाई दे तो लाभ का चौथा भाग व्यय करके सुरक्षित स्थल मार्ग के द्वारा व्यापार करना आरम्भ कर दे। जंगल तथा सीमा के रक्षकों से, नगर-प्रधान और राष्ट्र के प्रतिष्ठित पुरुषों से घनिष्टता बढ़ानी चाहिये, जिससे कि व्यापार में कोई बाधा न आने पावे।
- (९) विदेश में व्यापार करते हुए यदि आपत्ति आ पड़े तो सर्वप्रथम रत्नों की और अपनी रक्षा करनी चाहिये। यदि दोनों की रक्षा संभव न हों तो रत्नों का लोभ छोड़ कर वह अपने को बचाये। जब तक वह अपने देश में न लौट आये तब तक वहाँ के जो सरकारी टैक्स हों उनको नियमपूर्वक अदा करते हुए अपने व्यापार को संभाले रखे।
- (१०) जन-मार्ग से व्यापार करने वाले व्यापारी को यानभाटक, पथ्यदन, पण्य तथा प्रतिपण्य के मूल का प्रमाण, यात्राकाल, भयप्रतीकार और गंतव्य देश के आचार-व्यवहारों की जानकारी आदि के सम्बन्ध में बारीकी से विचार करने के अनन्तर ही यात्रा करनी चाहिये।

- (११) इसी प्रकार नदी मार्ग के सम्बन्ध में भी उक्त बातों को ध्यान में रखकर, गंतव्य देश के आचार-विचार, चरित्र आदि का ज्ञान प्राप्त कर, जिस मार्ग से अधिक लाभ की संभावना हो उसी का अनुसरण करे; जहां लाभ की आशा न हो, और कष्ट भी अधिक मिले, उस मार्ग को छोड़ देना चाहिये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में पण्याध्याक्ष नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १७

कुप्याध्यक्षः

- (१) कुप्याध्यक्षो द्रव्यवनपालैः कुप्यमानाययेत्। द्रव्यवनकर्मान्तांश्च प्रयोजयेत् द्रव्यवनच्छिदां च देयमत्ययं च स्थापयेदन्यत्रापदभ्यः।
- (२) कुप्यवर्गः — शाकतिनिशधन्वनार्जुनमधूकतिलकसालशिंशपारिमेदराजादनशिरीषखदिर-सरलतालसर्जाश्वकर्णसोमबल्ककशाम्रप्रियकधवादिः सारदारुवर्गः।
- (३) उटजचिमियचापवेणुवंशसातीनकण्टकभाल्लूकादिर्वेणुवर्गः।
- (४) वेत्रशीकवल्लीवाशीश्यामलतानागलतादिर्वल्लीवर्गः।
- (५) मालतीमूर्वाकशणगवेयुकातस्यादिर्वल्कवर्गः।
- (६) मु जबल्बजादि रज्जुभाण्डम्। तालीतालभूर्जानां पत्रम्। किंशुककुसुम्भकुङ्कुमानां पुष्पम्।
- (७) कन्दमूलफलादिरौषधवर्गः।
- (८) कालकूटवत्सनाभालाहलमेषश्ङ्गमुस्ताकुष्ठमहाविषवेल्लितकगौरार्द्रबालकमार्कटहैमवत-कालिङ्कदारदकाङ्कोलसारकोष्टकादीनि विषाणि।
- (९) सर्पाः कीटाश्च। त एव कुम्भगताः। विषवर्गः।
- (१०) गोधासेरकद्वीपिशिशुमारसिंहव्याघ्रहस्तिमहिषचमरस मरखङ्गगोम गगवयानां चर्मास्थिपित्त-स्नाय्वस्थिदन्तश्ङ्गखुरपुच्छानि अन्येषां वापि म गपशुपक्षिव्यालानाम्।
- (११) कालायसताम्रव तकांस्यसीसत्रपुवैकृन्तकारकूटानि लोहानि।
- (१२) विदलम तिकामयं भाण्डम्।
- (१३) अङ्गारतुषभस्मानि म गपशुपक्षिव्यालवाटाः काष्ठत णवाटाश्चेति।
- (१४) बहिरन्तरश्च कर्मान्ता विभक्ताः सर्वभाण्डिकाः।
आजीवपुररक्षार्थाः कार्याः कुप्योपजीविनाः।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे कुप्याध्यक्षो नाम सप्तदशो ध्यायः, आदितोः सप्तत्रिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) कुप्य के अध्यक्ष को चाहिये कि वह जंगल की रक्षा में नियुक्त पुरुषों द्वारा बढ़िया-बढ़िया लकड़ी मंगवाये। लकड़ी से बनने योग्य दूसरे कार्यों को भी वही करवाये। लकड़ी काटकर जीविकोपार्जन करने वाले लोगों को वह वेतन पर नियुक्त कर ले और आज्ञा का उल्लंघन करने पर उनके लिए दण्ड भी निर्धारित कर ले; किन्तु किसी आपत्ति के कारण कार्य में विघ्न उपस्थित हो जाये तो उन्हें दण्ड न दिया जाये।
- (२) कुप्यवर्ग में सर्वप्रथम सारदारु वर्ग का निरूपण किया जाता है : शाक, तिनिश, धन्वस, अर्जुन, मधुक, तिलक, साल, शिंशपा, अरिमेद, राजावन, शिरीष, खदिर, सरल, ताल, सर्ज, अश्वकर्ण, सोमबल्क, कश, आम, प्रिय, धव आदि सर्वोत्तम लकड़ी सारदारुवर्ग के अन्तर्गत हैं।
- (३) उटज, चिमिय, चाप, वेणु, वंश, सातीन, कंटक और भाल्लुक, ये सब बाँसों के भेद हैं।

- (४) वेत्र, शीकबल्ली, वाशी, श्यामलता, नागलता आदि सब लताओं के भेद हैं।
- (५) मालती, मूर्वा, अर्क, शण, गवेयुका और अतसी, आदि वल्कवर्ग के हैं।
- (६) मुंज, बल्वज, ये रज्जु, अर्थात् रस्सी बनाने की घासों हैं। ताली, ताल, भूर्ज, इनका पत्ता लिखने के काम में आता है। किंशुक, कुसुम्भ और कुंकुम से सब वस्त्र आदि रंगने के साधन हैं।
- (७) कंद, मूल और फल ये सब औषधिवर्ग हैं।
- (८) कालकूट, वत्सनाभ, हलाहल, मेषशंख, मुस्ता, कुष्ठ, महाविष, वेल्लितक, गोरार्द्र, बालक, मार्कट, हैमवत, कलिंगक, दारदक, अङ्कोलसारक और उष्ट्रक इत्यादि सब विष हैं।
- (९) धारीदार सांप, मेंढक तथा छिपकल आदि की शीशे के घड़े में बन्द करके आगे आने वाले 'औपनिषदिक' प्रकरण में लिखी गई विधि के अनुसार जब संस्कार किया जाता है तो वह भी विष बन जाते हैं।
- (१०) गोधा, सेरक, द्वीपी, शिंशुमार, सिंह, व्याघ्र, हाथी, भैंसा, चमरगाय, सांभर, गैंडा, गाय, हरिण और नीलगाय इनकी खाल, हड्डी, दाँत पित्ता, नसें, सींग, खुर और पूंछ आदि सभी उपयोग में आने वाली चीजें संग्रह-योग्य हैं; इनके अतिरिक्त अन्य म ग, पशु-पक्षी, सांप आदि जानवरों के चर्म का भी संग्रह करना चाहिये।
- (११) काला लोहा, तांबा, कांसा, शीशा, रांगा, इस्पात और पीतल, ये सब लोहे के भेद हैं।
- (१२) पात्र दो प्रकार के होते हैं एक विदलमय (पिटारी, टोकरी आदि) और दूसरे म तिकामय (घड़े, शकोरे आदि)।
- (१३) कोयला, राख, म ग, पशु-पक्षी तथा अन्य जंगली जानवर, लकड़ी और घास-फूस आदि का ढेर भी कुप्य होने के कारण संग्रह-योग्य है।
- (१४) कुप्य के अध्यक्ष को और उसके सहायकों को चाहिये कि वे बाहर जंगलों के पास जनपद और दुर्ग आदि में गाड़ा तथा लकड़ी आदि से बनी हुई चीजों या सवारियों, सब तरह के बर्तन आदि को और अपनी आजीविका तथा नगर, जनपद की रक्षा के लिए अन्य आवश्यक वस्तुओं का भी संग्रह करे।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में कुप्याध्यक्ष सत्रहवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय १८

आयुधागाराध्यक्षः

- (१) आयुधागाराध्यक्षः साङ्ग्रामिकं दौर्गकर्मिकं परपुराभिघातिकं चक्रयन्त्रमायुधमावरणमुपकरणं च तज्जातकारुशिल्पिभिः कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारयेत्। स्वभूमौ च स्थापयेत्। स्थानपरिवर्तनमातपप्रवातप्रदानं च बहुशः कुर्यात्। ऊष्मोपस्नेहक्रिमिभिरुपहन्यमानमन्यथा स्थापयेत्। जातिरूपलक्षणप्रमाणागममूल्यानिक्षेपैश्चोपलभेत।
- (२) सर्वतोभद्रजामदग्न्यबहुमुखविश्वासघातिसङ्घाटीयानकपर्जन्यकबाहूर्ध्वबाह्वार्धबाहूनि स्थितयन्त्राणि।
- (३) प चालिकदेवदण्डसूकरिकामुसलयष्टिहस्तिवारकतालवन्तमुद्गरद्वुघणगदास्पत्तलाकुदालास्फोटिमोद्धाटिमोत्पाटिमशतघ्नीत्रिशूलचक्राणिचलयन्त्राणि।
- (४) शक्तिप्रासकुन्तहाटकभिण्डपालशूलतोमरवराहकर्णकणपर्पणत्रासिकादीनि च हलमुखानि।
- (५) तालचापदारवशाङ्गाणि कार्मुककोदण्डद्रुणा धनूषि।
- (६) मूर्वाकशणगवेधुवेणुस्नायूनि ज्याः।
- (७) वेणुशरशलाकादण्डासननाराचाश्च इषवः। तेषां मुखानि छेदनभेदनताडनान्यायसास्थिदारवानि।
- (८) निस्त्रिशमण्डलाग्रासियष्टयः खड्गाः। खड्गमहिषवारणविषाणदारुवेणुमूलानि त्सरवः।
- (९) परशुकुठारपट्टसखनित्रकुदालक्रकचकाण्डच्छेदनाः क्षुरकल्पाः।
- (१०) यन्त्रगोष्पणमुष्टिपाषाणरोचनीदषदश्चायुधानि।
- (११) लोहजालजालिकापट्टकवचसूत्रकङ्कणशिशुमारकखड्गधेनुकहस्तिगोचर्मखुरश्चङ्गसंघातं वर्माणि। शिरस्त्राणकण्ठ-त्राणकूर्पासकचुकवारवाणपट्टनागौदरिकाः। पेटीचर्महस्तिकर्णतालमूलधमनिकाकवाटकटिकाप्रतिहतवलाहकान्ताश्चावरणानि।
- (१२) हस्तिरथवाजिनां योग्यभाण्डमालङ्कारिकं सन्नाहकल्पनाश्चोपकरणानि। ऐन्द्रजालिकमौपनिषदिकं च कर्म।
- (१३) कर्मान्तानां च,
इच्छामारम्भनिष्पत्तिं प्रयोगं व्याजमुद्यमम्।
क्षयव्ययौ च जानीयात् कुप्यानामायुधेश्वरः।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे आयुधागाराध्यक्षो नाम अष्टादशो ध्यायः; आदितो षट्चत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) आयुधागार के अध्यक्ष को चाहिये कि वह, युद्धोपयोगी सामग्री तैयार करने वाले कारीगरों एवं कुशल शिल्पियों के द्वारा युद्ध में काम देने वाले, दुर्ग की रक्षा के योग्य शत्रु के नगर को विध्वंस कर देने वाले सर्वतोभद्र, जामदग्न्य आदि यन्त्र, शक्ति, धनुष आदि हथियार कवच और सवारी आदि जितने भी साधन हैं, उनका निर्माण करवाये; उन कारीगरों से कितने समय में कितनी मजदूरी देकर कितना काम कराया जाये इत्यादि बातों को वह पहले ही से निश्चित कर ले। तैयार हुए सामान को उसके उपयुक्त स्थान में रखवा दिया जाये अथवा अपने ही

कब्जे में रखा जाये। अध्यक्ष को चाहिये कि जिससे समान पर जंक आदि न लगे, उसको धूप-हवा दिखाता रहे, गर्मी, सील और घुन आदि के कारण जो हथियार खराब हो रहे हों उन्हें वहां से उठवा कर किसी ऐसे स्थान में रखवा दे, कि वे अधिक खराब न होने पावें, उन हथियारों के जाति स्वरूप, लक्षण, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई प्राप्तिस्थान मूल्य और उपयुक्त स्थान आदि के सम्बन्ध में प्रत्येक बात को अच्छी तरह से समझ-बूझ ले।

- (२) दस प्रकार के स्थितयंत्र होते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है : १. सर्वतोभद्र, २. जामदग्न्य, ३. बहुमुख, ४. विश्वासघाती, ५. संघाटि, ६. यानक, ७. पर्जन्यक, ८. बाहुयन्त्र, ९. ऊर्ध्वबाहु और १०. अर्धबाहु।
- (३) चलयंत्र भी अनेक हैं, जिनका ब्यौरा इस प्रकार है : १. पा चलिक, २. देवदण्ड, ३. सूकरिका, ४. मुसलयष्टि, ५. हस्तिवारक, ६. तालवन्त, ७. मुद्गर, ८. द्रुघण, ९. गदा, १०. स्पक्तला, ११. कुद्दाल, १२. आस्फोटिम, १३. उद्घाटिम, १४. उत्पाटिम, शतघ्नी, १५. त्रिशूल और १६. चक्र, ये सोलह प्रकार के चलयन्त्र होते हैं।
- (४) हलमुख (भाले की तरह) हथियारों के नाम इस प्रकार हैं : १. शक्ति, २. प्रास, ३. कुंत, ४. हाटक, ५. भिण्डपाल, ६. शूल, ७. तोमर, ८. वराहकर्ण, ९. कणप, १०. कर्पण, ११. त्रासिका, ये सब हथियार हलमुख कहलाते हैं, क्योंकि इन सभी का अग्रभाग हल के अग्रभाग की तरह तेज होता है।
- (५) धनुष चार प्रकार से बनाये जाते हैं : १. ताल, २. चाप, ३. दारव, ४. शाडर्ग; आकृति और क्रिया-भेद से इनके कार्मुक, कोदण्ड और द्रूण आदि नाम हैं।
- (६) मूर्वा, आख सन, गबेधुकावेणु ओर तौत; इनसे मजबूत धनुष की डोरी बनती है।
- (७) बाण के भी अनेक भेद हैं, जिनके प्रकार हैं : १. वेणु, २. शर, ३. शालाका, ४. दण्डासन, और ५. नाराच। इन बाणों के अग्रभाग में लोहे, हड्डी तथा मजबूत लकड़ी की बनी नोक छेदने, काटने, आघात पहुंचाने वाला रक्तसहित एवं रक्तरहित घाव करने के लिए लगी रहती है।
- (८) खड्ग तीन प्रकार के होते हैं : १. निस्त्रिश, २. मण्डलाग्र, और ३. असियष्टि। खड्ग के लिए गैंडा, भैंस की सींग, हाथीदांत, मजबूत लकड़ी और बांस की जड़ की मूठ बनवानी चाहिये।
- (९) फरसा, कुल्हाड़ा, द्विमुखी त्रिशूल, फावड़ा, कुद्दाल, आरा और गंडासा; ये सब छुरे की धार की भाँति तेज होने के कारण क्षुरकल्प या क्षुरवर्ग के हथियार कहलाते हैं।
- (१०) यन्त्रपाषाण, गोष्फणपाषाण, मुष्टिपाषाण, रोचनी और दषद्; ये सब आयुध कहलाते हैं।
- (११) कवच छह प्रकार से बनाये जाते हैं, जिनके तरीके इस प्रकार हैं : १. लोहजाल, २. लोहजालिका, ३. लोहपट्ट, ४. लोहकवच, ५. सूत्रकंकण, और ६. मछली, गैंडा, नीलगाय, हाथी तथा बैल, इन पाँचों के चमड़े, खुर एवं सींगों को मिलाकर बनाया हुआ कवच। इनके अतिरिक्त शिरस्त्राण, कंठत्राण, कूर्पास, कंचुक, वारवाण, पट्ट, नागोदरिका; ये सात प्रकार के आवरण देह पर धारण किये जाने योग्य हैं। चमड़े की पेटी, मुंह ढकने का आवरण, लकड़ी की पेटी, सूत की पेटी, लकड़ी का पट्टा, चमड़ा एवं बांस को कूट कर बनाई गई पेटी, पूरे हाथों को ढकने वाला आवरण और किनारों पर लोहे के पत्तों से बँधा आवरण; आदि अनेक प्रकार के होते हैं।
- (१२) हाथी, घोड़ा, रथ आदि को शिक्षा एवं सजावट के साधन; अंकुश, कोड़े, पताका, कवच और शरीर की रक्षा करने वाले अन्य आवरण; ये सब उपकरण कहलाते हैं। ऐन्द्रजालिक और औपनिषदिक आदि जादू एवं प्रयोग-क्रियायें भी उपकरण कहलाती हैं।
- (१३) कुप्य के अध्यक्ष को चाहिये कि वह पिछले दो अध्यायों में निर्दिष्ट द्रव्य-व्यापारों से सम्बद्ध

कार्यों का आरम्भ एवं उनकी समाप्ति राजा की इच्छा तथा रुचि के अनुसार ही करे; उन विषयों ओर कार्यों की उपयोगिता तथा हानि-लाभ को भी वह भली-भाँति समझे; आयुधागार के अध्यक्ष के लिए भी इन बातों का जानना आवश्यक है।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में आयुधागाध्यक्ष्य नामक अठारहवां अध्याय समाप्त।

अध्याय १६

तुलामानपौतवम्

- (१) पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान् कारयेत्।
- (२) धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः। प च वा गु जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुष्कर्ष पलम्।
- (३) अष्टाशीतिगौरसर्षपा रूप्यमाषकः। ते षोडश धरणम्। शैभ्यानि वा विंशतिः।
- (४) विंशतितण्डुलं वज्रधरणम्।
- (५) अर्धमाषकः, माषकः, द्वौ, चत्वारः, अष्टौ माषकाः, सुवर्णो, द्वौ, चत्वारः, अष्टौ सुवर्णाः, दश, विंशतिः, चत्वारिंशत्, शतमिति।
- (६) तेन धरणानि व्याख्यातानि।
- (७) प्रतिमानान्ययोनयानि मागधमेकलशैलमयानि, यानि वा नोदकप्रदेहाभ्यां व द्विं गच्छेयुरुष्णेन वा हासम्।
- (८) षडङ्गुलादूर्ध्वमष्टाङ्गुलोत्तराः दश तुलाः कारयेल्लोहपलादूर्ध्वकपलोत्तराः। यन्त्रमुभयतः। शिष्यं वा।
- (९) प चविंशत्पललोहां द्विसप्तत्यङ्गुलायामां समव तां कारयेत्। तस्याः प चपलिकं मण्डलं बद्ध्वा समकरणं कारयेत्। ततः कर्षोत्तरं पलं, पलोत्तरं दशपलं, द्वादश प चदश विंशतिरिति पदानि कारयेत्। तत आ शताद् दशोत्तरं कारयेत्। अक्षेषु नद्भीपिनद्धं कारयेत्।
- (१०) द्विगुणलोहां तुलामतः षण्णवत्यङ्गुलायामां परिमार्णी कारयेत्। तस्याः शतपदादूर्ध्वं विंशतिः, प चाशत्, शतमिति पदानि कारयेत्।
- (११) विंशतितौलिको भारः।
- (१२) दशधरणिकं पलम्। तत्पलशतमायमानी।
- (१३) प चपलावरा व्यावहारिकी भाजन्यन्तःपुरभाजनी च।
- (१४) तासामर्धधरणावरं पलम्। द्विपलावरमुत्तरलोहम्। षडङ्गुलावराश्चायामाः।
- (१५) पूर्वयोः प चपलिकः प्रयामो मांसलोहलवणमणिवर्जम्।
- (१६) काष्ठतुला अष्टहस्ता पदवती प्रतिमानवती मयूरपदाधिष्ठाना।
- (१७) काष्ठप चविंशतिपलं तण्डुलप्रस्थसाधनम्। एष प्रदेशो बहवल्पयोः।
- (१८) इति तुलाप्रतिमानं व्याख्यातम्।
- (१९) अथ धान्यमाषद्विपलशतं द्रोणमायमानम्। सप्ताशीतिपलशतमर्धपलं च व्यावहारिकम्। प चसप्ततिपलशतं भाजनीयम्। द्विषष्टिपलशतमर्धपलं चान्तःपुरभाजनीयम्।
- (२०) तेषामाढकप्रस्थकुडवाश्चकुडवाश्चतुर्भागावराः।
- (२१) षोडशद्रोणा खारी, विंशतिद्रोणिकः कुम्भः, कुम्भैर्दशभिर्वहः।
- (२२) शुष्कसारदारुमयं समं चतुर्भागशिखं मानं कारयेत्। अन्तःशिखं वा। रसस्य तु।

- (२३) सुरायाः पुष्पफलयोः तुषाङ्गाराणां सुधायाम्बु शिखामानं द्विगुणोत्तरा व द्विः।
 (२४) सपादपणो द्रोणमूल्यम्। आढकस्य पादोनः। षण्माषकाः प्रस्थस्य। माषकः कुडवस्य।
 (२५) द्विगुणं रसादीनां मानमूल्यम्।
 (२६) विंशतिपणाः प्रतिमानस्य। तुलामूल्यं त्रिभागः।
 (२७) चातुर्माषिकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्। अप्रतिवेधस्यात्ययः सपादः सप्तविंशतिपणः। प्रातिवेधनिकं काकणिकमहरहः पौतवाध्यक्षाय दद्युः।
 (२८) द्वात्रिंशद्भागस्तप्तव्याजी सर्पिषश्चतुःषष्टिभागस्तैलस्य। प चाशद्भागो मानस्त्रावो द्रवाणाम्।
 (२९) कुडवार्धचतुरष्टभागानि मानानि कारयेत्।
 (३०) कुडवाश्चतुराशीतिर्वारकः सर्पिषो मतः।
 चतुःषष्टिस्तु तैलस्य पादश्च घटिकानयोः।।
 इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे तुलामानपौतवं नामैकोनविंशो ध्यायः, आदित एकोनचत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) पौतवाध्यक्ष (तोल-माप की जांच करने वाला सरकारी अफसर) को चाहिये कि वह शास्त्रोक्त विधि से तोलने-मापने के साधन तराजू, बाट आदि बनवाये।
- (२) इस उड़द के दाने अथवा पांच रत्ती परिमाण का एक सुवर्णमाषक होता है। सोलह माष का एक सुवर्ण या एक कर्ष होता है। चार कर्ष का एक पल होता है; अर्थात् :
- | | | | |
|-----------------|------------|---|--------------------|
| १० उर्द के दाने | या ५ रत्ती | = | १ सुवर्णमापक |
| १६ माष | | = | १ सुवर्ण या १ कर्ष |
| ४ कर्ष | | = | १ पल |
- (३) अठ्ठासी सफेद सरसों परिमाण का एक रूप्यमापक होता है। सोलह रूप्यमापक या बीस मूली के बीच परिमाण का एक धरण होता है; जैसे-
- | | | |
|--------------------------------|---|-------------|
| ८८ सफेद सरसों | = | १ रूप्यमाषक |
| १६ रूप्यमाषक या २० मूली के बीज | = | १ धरण |
- (४) बीस चावल परिमाण का एक वज्रधरण होता है :
- | | | |
|---------|---|---------|
| २० चावल | = | वज्रधरण |
|---------|---|---------|
- (५) तोलने के बाटों का निर्माण इस क्रम से होना चाहिये : आधा माषक, माषक, दो माषक, चार माषक, आठ माषक, सुवर्ण, दो सुवर्ण, चार सुवर्ण, आठ सुवर्ण, दस सुवर्ण, बीस सुवर्ण, तीस सुवर्ण, चालीस सुवर्ण, सौ सुवर्ण, सोना तोलने के लिए ये १४ बाट होने चाहिये।
- (६) इसी क्रम में चाँदी तोलने के लिए धरण एवं रूप्यमाषक बाटों का भी निर्माण करवाना चाहिये; अर्थात् धरण, दो धरण, चार धरण, आठ धरण, दस धरण, बीस धरण, तीस धरण, चालीस धरण और सौ धरण, एवं अर्ध माषक, माषक, दो माषक, चार माषक, आठ माषक, आदि १४ बाटों का क्रम है।
- (७) तोलने के बाट लोहे के बनने चाहियें या मगध तथा मेकल देश के पत्थर के होने चाहियें; या ऐसी वस्तुओं के बनने चाहियें, जो पानी पड़ने तथा लेप लगने से वजनी न हो जायें और गर्मी के प्रभाव से हल्के न पड़ जायें

- (८) सोना-चाँदी तोलने के लिये छोटी-बड़ी दस तुलायें बनवानी चाहिये, जिनका क्रम इस प्रकार है : १. छह अंगुल की, २. चौदह अंगुल की, ३. बाईस अंगुल की, ४. तीस अंगुल की, ५. अड़तीस अंगुल की, ६. छियालीस अंगुल की, ७. चौवन अंगुल की, ८. बासठ अंगुल की, ९. सत्तर अंगुल की और १०. अठहत्तर अंगुल की; उनका वजन क्रमशः एक पल से १० पल तक होना चाहिये, उनके दोनों ओर पलड़े लगे होने चाहियें।
- (९) सोना-चाँदी के अतिरिक्त दूसरे पदार्थों को तोलने के लिए जो तुलाएं बनवायी जाये, उनका आकार-प्रकार इस तरह होना चाहिये; पैंतीस पल लोहे से बनी हुई, तीन हाथ लम्बी समव त्ता (गोलाकार) नामक तुला अन्य पदार्थों को तोलने के लिये बनवानी चाहिये। उसके बीच में पांच पल का कांटा लगवाकर ठीक मध्य में एक चिह्न भी करवा देना चाहिये। उसके बाद कांटे की गोलाकार परिधि में उस चिह्न से क्रमशः एक कर्ष, दो कर्ष, तीन कर्ष, चार कर्ष, एक पल, दो पल, इस प्रकार दस पल तक; दस पल के बाद बारह पल, पन्द्रह पल और बीस पल के चिह्न लगवाये जायें। फिर बीस पल के आगे दस-दस पल का अन्तर देकर सौ पल तक के चिह्न होने चाहियें। प्रत्येक पांच पल के बाद, मोटी जानकारी के लिये, लम्बी रेखा बनवा देनी चाहिये।
- (१०) उक्त समव त्ता तुला से दुगुने लोहे से बनी छियानवे अंगुल लम्बी तुला का नाम परिमाणी है। उस पर भी समव त्ता तुला के ही अनुसार सौ पल तक चिह्न लगाने के बाद एक सौ बीस, एक सौ पच्ची और दो सौ पल तक के चिह्न लगने चाहिये।
- (११) सौ पल परिमाण की एक तुला और बीस तुला परिमाण का एक भार होता है, यथा :
- | | | |
|---------|---|--------|
| १०० पल | = | १ तुला |
| २० तुला | = | १ भार |
- (१२) दस धरणि का एक पल और सौ पल परिमाण की आयमानी नामक तुला होती है, आयमानी अर्थात् आमदनी की वस्तुओं को तोलने वाली तुला। जैसे :
- | | | |
|----------|---|----------|
| १०० धरणि | = | १ पल |
| १०० पल | = | १ आयमानी |
- (१३) आयमानी से पांच पल कम (६५ पल) परिमाण की तुला का नाम व्यावहारिकी है, उसमें पांच पल कम (६० पल) की तुला का नाम भाजनी, ओर उससे भी पांच पल कम (८५ पल) परिमाण की तुला का नाम अन्तःपुरभाजनी है, अर्थात्
- | | | |
|-------|---|-----------------|
| ६५ पल | = | १ व्यावहारिकी |
| ६० पल | = | १ भाजनी |
| ८५ पल | = | १ अन्तःपुरभाजनी |
- (१४) व्यावहारिकी, भाजनी और अन्तःपुरभाजनी, इन तीनों तुलाओं में उत्तरोत्तर आधा-आधा धरण कम हो जाता है। अर्थात् आयमानी तुला के दस धरण का एक पल होता है तो व्यावहारिकी का $\frac{६१}{२}$ धरण का एक पल भाजनी का ६ धरण का एक पल और अन्तःपुरभाजनी का $\frac{८१}{२}$ धरण का एक पल होना चाहिये। इसी प्रकार इन तुलाओं के बनाने में लोहा भी उत्तरोत्तर दो-दो पल कम लगना चाहिये, अर्थात् आयमानी तुला यदि पैंतीस पल लोहे की बनाई जाये तो व्यावहारिकी तुला पैंतीस पल की, भाजनी इकतीस पल की, और अन्तःपुरभाजनी उनतीस पल की बनायी जाये। इनकी लम्बाई भी पूर्वोपेक्षया उत्तरोत्तर छः-छः अंगुल कम होनी चाहिये, यदि आयमानी तुला बहत्तर अंगुल लम्बी बनाई जाये तो व्यावहारिकी छियासठ अंगुल की, भाजनी साठ अंगुल की और अन्तःपुरभाजनी चौवन अंगुल की ही हो।

- (१५) परिमाणी और आयमानी तुलाओं में मांस, लोहा, नमक और मणियों को छोड़ कर अन्य वस्तुओं को तोलने पर पांच पल अधिक तोला जाता है, इसी को प्रयाम कहते हैं।
- (१६) लकड़ी की तुला आठ हाथ की होनी चाहिये, जिसमें एक, दो, तीन आदि गिनती के चिह्न बने होने चाहिये, इसके बाट पत्थर के और इसका आकार मोर के पैरों जैसा होना चाहिये।
- (१७) एक प्रस्थ चावलों को पकाने के लिए पच्चीस पल लकड़ी पर्याप्त हैं। इसी हिसाब से कम ज्यादा लकड़ी का उपयोग करना चाहिये।
- (१८) यहां तक सोलह प्रकार की तुलायें और चौदह प्रकार के बाटों का निरूपण किया गया है।
- (१९) इसके आगे द्रोण, आढक आदि मापने के साधनों का निरूपण किया जाता है :- दो-सौ पल धान्यमाष-परिमाण का एक आयमान द्रोण होता है। एक-सौ साढ़े सत्तासी पल का एक व्यावहारिक द्रोण होता है। एक-सौ पचहत्तर पल का एक भाजनीय द्रोण होता है, और एक-सौ साढ़े-बासठ पल का अन्तःपुरभाजनीय द्रोण कहा जाता है, अर्थात्;

२०० पल धान्यमाषक	=	१ आयमानद्रोण
१८७ ^१ / _२ पल धान्यमाषक	=	१ व्यावहारिकद्रोण
१७५ पल धान्यमाषक	=	१ भाजनीयद्रोण
१६२ ^१ / _२ पल धान्यमाषक	=	१ अन्तःपुरभाजनीय द्रोण

- (२०) द्रोण का चौथाई आढक, आढक का चौथाई प्रस्थ और प्रस्थ का चौथाई कुडव होता है।
- (२१) सोलह द्रोण की एक खारी, बीस द्रोण का एक कुम्भ और दस कुम्भ परिमाण का एक वह होता है, यथा :

१६ द्रोण	=	१ खारी
२० द्रोण या १ ^१ / _४ खारी	=	१ कुम्भ
१० कुम्भ	=	१ वह

- (२२) अनाज मापने के लिए बढ़िया सूखी लकड़ी का ऐसा माप बनवाया जाये कि जितना अनाज उसमें समा सके, उसका चतुर्थांश उसकी गर्दन में आ जाये, अथवा गर्दन बनाकर ऊपर से नीचे तक एक जैसी बनावट रहे, उसका मुँह खुला रहना चाहिये। घी-तेल मापने के लिए भी ऐसा ही माप बनवाया जाये।
- (२३) शराब, फल, फूल, भूसी, कोयला और चूना-कलई, इन छह पदार्थों को मापने के लिए जो बर्तन बनवाया जाये उसके ऊपर का हिस्सा, नीचे के हिस्से से दुगुना चौड़ा होना चाहिये और उस पर गर्दन भी बनी होनी चाहिये।
- (२४) लकड़ी के बने एक द्रोण परिमाण बर्तन का मूल्य सवा पण होना चाहिये। इसी प्रकार एक आढक परिमाण के बर्तन की कीमत पौन पण, एक प्रस्थ के बर्तन की छह माषक और एक कुडव परिमाण वाले बर्तन की कीमत एक माषक होनी चाहिये।
- (२५) घी-तेल आदि द्रव पदार्थों को मापने वाले बर्तनों की कीमत अनाज मापने वाले बर्तनों से दुगुनी होनी चाहिये।
- (२६) चौदह प्रकार के सम्पूर्ण बाटों की कीमत बीस पण और सम्पूर्ण तुलाओं की कीमत उसके तिहाई अर्थात् ६^२/_३ पण होती है।
- (२७) पौतवाध्यक्ष को चाहिये कि हर चौथे मास वह तुला, बाट, द्रोण आदि का निरीक्षण करे। जो व्यापारी निर्धारित समय पर जाँच न करवावे उसे सवा सत्ताईस पण जुर्माना देना चाहिये। व्यापारियों को चाहिये कि वे एक काकणी प्रतिदिन के हिसाब से चार मास की एक-सौ-बीस

काकणी निरीक्षण-कर के रूप में पौतवाध्यक्ष को दें।

- (२८) यदि गरम घी खरीदा जाये तो उसका बत्तीसवाँ हिस्सा और तेल खरीदा जाये तो उसका चौसठवाँ हिस्सा छीजन के रूप में अधिक लेना चाहिये। द्रव पदार्थों में पाँचवाँ हिस्सा छीजन होती है।
- (२९) छोटी तोल के लिए एक कुडव, आधा कुडव, चौथाई कुडव तथा आठवाँ हिस्सा कुडव, ये चार प्रकार के बाट और माप बनवाने चाहिये।
- (३०) घी तोलने के लिए चौरासी कुडव परिमाण का एक वारक और तेल तोलने के लिए चौसठ कुडव का एक वारक माना गया है। इक्कीस कुडव की एक घ तवाटिका और सोलह कुडव की एक तैलघटिका होती है।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में तुलामानपौतव नामक उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २०

देशकालमानम्

- (१) मानाध्यक्षो देशकालमानं विद्यात्।
- (२) अष्टौ परमाणवो रथचक्रविप्रुट्। ता अष्टौ लिखा। ता अष्टौ यूकामध्यः। ते अष्टौ यवमध्यः। अष्टौ यवमध्याः अङ्गुलम्।
- (३) मध्यमस्य पुरुषस्य मध्यमाया अङ्गुल्या मध्यप्रकर्षो वाङ्गुलम्।
- (४) चतुरङ्गुलो धनुर्ग्रहः। अष्टाङ्गुला धनुर्मुष्टिः।
- (५) द्वादशाङ्गुला वितस्तिः, छायापौरुषं च। चतुर्दशाङ्गुलं शमः शलः परिरयः पदं च। द्विवितस्तिररत्निः प्राजापत्यो हस्तः।
- (६) सधनुर्ग्रहः पौतवविवीतमानम्। सधनुर्मुष्टिः किष्कुः कंसो वा।
- (७) द्विचत्वारिंशद्ङ्गुलस्तक्षणः क्राकचिककिष्कुः स्कन्धावारदुर्गराजपरिग्रहमानम्। चतुःप चाशदङ्गुलः कुप्यवनहस्तः।
- (८) चतुरशीत्यङ्गुलो व्यामो रज्जुमानं खातपौरुषं च।
- (९) चतुररत्निर्दण्डो धनुर्नालिका पौरुषं च।
- (१०) गार्हपत्यमष्टशताङ्गुलं धनुः पथिप्राकारमानम्। पौरुषं च अग्निचित्यानाम्।
- (११) षट्कंसो दण्डो ब्रह्मदेयातिथ्यमानम्। दशदण्डा रज्जुः। द्विरज्जुकः परिदेशः। त्रिरज्जुकं निवर्तनम्।
- (१२) एकतो द्विदण्डाधिको बाहुः द्विधनुसहस्रं गोरुतम्। चतुर्गोरुतं योजनम्। इति देशमानम्।
- (१३) कालमानमत ऊर्ध्वम्। तुटो लवो निमेषः काष्ठा कला नालिका मुहूर्तः पूर्वापरभागौ दिवसो रात्रिः पक्षो मास ऋतुरयनं संवत्सरो युगमिति कालाः
- (१४) निमेषचतुर्भागस्तुटः।
- (१५) द्वौ तुटौ लवः।
- (१६) द्वौ लवौ निमेषः।
- (१७) प च निमेषाः काष्ठाः।
- (१८) त्रिंशत् काष्ठाः कला।
- (१९) चत्वारिंशत् कला नाडिका।
- (२०) सुवर्णमाषकाश्वत्वारश्वतुरंगुलायामाः कुम्भच्छिद्रकाढकमम्भसो वा नालिका।
- (२१) द्विनालिको मुहूर्तः। प चदशमुहूर्तो दिवसो रात्रिश्च चैत्रे मास्याश्वयुजे च मासि भवतः। ततः परं त्रिभिर्मुहूर्तैरन्यतरः षण्मासं वर्धते हसते चेति।
- (२२) छायायामष्टपौरुष्यामष्टादशभागच्छेदः, षट्पौरुष्यां चतुर्दशभागः, चतुष्पौरुष्यामष्टभागः, द्विपौरुष्यां षड्भागः, पौरुष्यां चतुर्भागः, अष्टाङ्गुलायां दशभागेषु त तीयभागः चतुरङ्गुलायाम् अष्टभागेषु त तीयभागः, अच्छायो मध्याह्न इति।
- (२३) पराव ते दिवसे शेषमेव विद्यात्।

- (२४) आषाढे मासि नष्टच्छायो मध्याह्नो भवति। अतः परं श्रावणादीनां षण्मासानां द्व्यङ्गुलोत्तरा माघादीनां द्व्यङ्गुलावराछाया इति।
- (२५) प चदशाहोरात्राः पक्षः। सोमाप्यायनः शुक्लः सोमावच्छेदनो बहुलः।
- (२६) द्विपक्षो मासः। त्रिंशदहोरात्रः प्रकर्ममासः। सार्धः सौरः। अर्धन्यूनश्चान्द्रमासः। सप्तविंशतिर्नक्षत्रमासः। द्वात्रिंशद् मलमासः। प चत्रिंशदश्ववाहायाः। चत्वारिंशद्वस्तिवाहायाः।
- (२७) द्वौ मासाव तुः। श्रावणः प्रोष्ठपदश्च वर्षाः। आश्वयुजः कार्तिकश्च शरत्। मार्गशीर्षः पौषश्च हेमन्तः। माघः फाल्गुनश्च शिशिरः। चैत्रो वैशाखश्च वसन्तः। ज्येष्ठामूलीय आषाढश्च ग्रीष्मः।
- (२८) शिशिराद्युत्तरायणम्। वर्षादि दक्षिणायनम्।
- (२९) द्व्ययनः संवत्सरः। प चसंवत्सरो युगमिति।
- (३०) दिवसस्य हरत्यर्कः षष्टिभागम तौ ततः।
करोत्येकमहश्छेदं तथैवैकं च चन्द्रमाः॥
एवमर्धत तीयानामब्दानामधिमासकम्।
ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं प चाब्दान्ते च पश्चिमम्॥
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे देशकालमानं नाम विशो ध्यायः, आदितश्चत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) पौतवाध्यक्ष को चाहिये कि वह देश और काल का मान भी अच्छी तरह से जान ले। उसकी जानकारी के सूत्र इस प्रकार हैं :
- (२) ८ परमाणु = १ धूलकण
८ धूलकण = १ लिखा
८ लिखा = १ यूकामध्य
८ यूकामध्य = १ यवमध्य
८ यवमध्य = १ अंगुल
- (३) अथवा मध्यम कोटि के पुरुष की मध्यमा की मोटाई का माप एक अंगुल बराबर होता है।
- (४) ४ अंगुल = १ धनुर्ग्रह
८ अंगुल/२ धनुर्ग्रह = १ धनुर्मुष्टि
- (५) १२ अंगुल/३ धनुर्ग्रह
या १^१/३ धनुर्मुष्टि = १ वितस्ति या १ छायापुरुष
१४ अंगुल = १ शम, शल परिरय या पद (पैर)
२ वितस्ति = १ अरत्नि, प्राजापत्य हाथ
- (६) २८ अंगुल = १ हाथ (विवीत और पौतव नापने के लिये)
३२ अंगुल = १ किष्कु या कंस
- (७) ४२ अंगुल = १ हाथ (छावनी आदि में बढ़ई के उपयोगार्थ)
३२ अंगुल = १ किष्कु या कंस (छावनी आदि में लकड़ी चीरने के लिये)

- ५४ अंगुल = १ हाथ (जंगली लकड़ी और पदार्थ नापने के लिये)
- (८) ८४ अंगुल = १ हाथ (रस्सी, खाई और कुआं नापने के लिये)
- (९) ४ अरत्नि = १ दण्ड, धनु, नालिका, पौरुष
- (१०) १०८ अंगुल = १ गार्हपत्यधनु (विश्वकर्मा द्वारा निश्चित, सड़क किला एवं परकोटा नापने के लिए)
- १०८ अंगुल = १ पौरुष (यज्ञसम्बन्धी कार्यों के लिये)
- (११) ६ कंस / ८ हाथ = १ दण्ड (ब्राह्मण आदि को भूमिदान देने के लिए)
- १० दण्ड / ४ अरत्नि = १ रज्जु
- २ रज्जु = १ परिदेश
- २ रज्जु/१^१/२ परिदेश = १ निवर्तन
- (१२) ३०+३२ दण्ड = १ बाहु (पूरा हाथ)
- ६६^१/२ निवर्तन/२००० धनु = १ गोरुत (१ कोश)
- ४ गारुत = १ योजन
- यहाँ तक देश-मान का निरूपण किया गया है।
- (१३) इसके बाद काल-मान का निरूपण किया जाता है। तुट, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नालिका, मुहूर्त, पूर्वाह्न, अपराह्न, दिन, रात, पक्ष मास, ऋतु, अयन, संवत्सर और युग, काल के ये सत्रह विभाग हैं।
- (१४) निमेष = पलक मारने तक का समय,
त्रुटि = निमेष वा चौथा हिस्सा
- (१५) २ त्रुटि = १ लव
- (१६) २ लव = १ निमेष
- (१७) ५ निमेष = १ काष्ठा
- (१८) ३० काष्ठा = १ कला
- (१९) ४० कला = १ नालिका
- (२०) अथवा एक घड़े में चार सुवर्णमाषक के बराबर चौड़ा और चार अंगुल लम्बा छेद बनाकर इतने ही परिमाण की एक नली घड़े में लगा दी जाये, उस घड़े में एक आढ़क जी भर दिया जाये। वह जल उस नली के द्वारा जितने समय में बाहर निकले, उतने समय को नालिका कहते हैं।
- ५ नालिका = १ मुहूर्त
- १५ मुहूर्त = १ दिन या १ रात
- (२१) इस मान के दिन और रात केवल चैत तथा आश्विन मास में होते हैं। इसके बाद छह-मास तक दिन बढ़ता और रात्रि घटती है, दूसरे छह महीने तक रात्रि बढ़ती है और दिन घटता रहता है।
- (२२) जब धूपघड़ी की छाया ६६ अंगुल लम्बी हो तो दिन का अठारहवाँ भाग समाप्त हुआ समझना चाहिये, ७२ अंगुल छाया रहने पर दिन का चौदहवाँ भाग, ४८ अंगुल लम्बी रहने पर आठवाँ हिस्सा, २४ अंगुल लम्बी रहने पर छठा हिस्सा, १२ अंगुल लम्बी रहने पर चौथा हिस्सा, ८ अंगुल लम्बी रहने पर दिन के दस भागों में तीसरा हिस्सा, चार अंगुल लम्बी रह जाने पर

- आठ भागों में तीसरा हिस्सा और जब छाया बिल्कुल न रहे तो मध्याह्न समझना चाहिये।
- (२३) मध्याह्न अर्थात् बारह बजे के बाद उक्त छाया-मान के अनुसार दिन का शेष भाग समझना चाहिये।
- (२४) आषाढ के महीने की दोपहरी छायारहित होती है। श्रावण से पौष तक मध्याह्न में दो अंगुल छाया अधिक रहती है, और फिर माघ से ज्येष्ठ तक दो अंगुल कम हो जाती है।
- (२५) पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष होता है। जिस पक्ष में चन्द्रमा बढ़ता रहता है उसे शुक्लपक्ष और जिस पक्ष में चन्द्रमा घटता है उसे कृष्ण पक्ष कहते हैं।
- (२६) दो पक्ष का एक महीना होता है। वेतन देने के लिए तीस दिन-रात का एक महीना माना जाता है। साढ़े तीस दिन-रात का एक सौर मास होता है। साढ़े उनतीस दिन-रात का एक चान्द्रमास होता है। सत्ताईस दिन-रात का एक नक्षत्र-मास होता है। बत्तीस दिन-रात का एक मलीमास होता है। पैंतीस दिन-रात का महीना घोड़ों के सड़सों को वेतन देने के उपयोग में लाया जाता है। हाथियों की सेवा में नियुक्त कर्मचारियों का एक महीना, चालीस दिन-रात का होता है।
- (२७) दो मास की एक ऋतु होती है। श्रावण-भादों में वर्षा ऋतु होती है। आश्विन-कार्तिक में शरद् ऋतु होती है। मार्गशीर्ष-पौष में हेमन्त ऋतु होती है। माघ-फाल्गुन में शिशिर ऋतु होती है। चैत्र-वैशाख में वसन्त ऋतु होती है। ज्येष्ठ-आषाढ में ग्रीष्म ऋतु होती है।
- (२८) शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म उत्तरायण और वर्षा, शरद् तथा हेमन्त दक्षिणायन कहलाते हैं।
- (२९) उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों का एक संवत्सर होता है। पाँच संवत्सरों का एक युग होता है।
- (३०) प्रतिदिन सूर्य एक घटिका छेद करता है, इस क्रम से वह एक वर्ष में छह दिन, दो वर्ष में बारह दिन और ढाई वर्ष में पन्द्रह दिन अधिक बना लेता है। इसी प्रकार चन्द्र भी प्रत्येक ऋतु में एक-एक दिन कम करता जाता है, जिससे ढाई वर्ष में पन्द्रह दिन कम हो जाते हैं। इस दृष्टि से सूर्य और चन्द्रमा की गति के अनुसार एक महीने की कमी-बेशी हो जाती है। इस गणना के अनुपात से प्रति ढाई वर्ष बाद ग्रीष्म ऋतु का प्रथम मलिमास और प्रति पाँच वर्ष के बाद हेमन्त ऋतु में दूसरा मलिमास, सूर्य तथा चन्द्रमा बनाते हैं। यही मलिमास अधिकमास कहलाता है, जो ढाई वर्ष में एक महीने के अन्तर को पूरा कर देता है।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में दशमालमान नामक बीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २१

शुल्काध्यक्षः

- (१) शुल्काध्यक्षः शुल्कशालां ध्वजं च प्राङ्मुखम् उदङ्मुखं वा महाद्वाराभ्यांशे निवेशयेत्।
- (२) शुल्कादायिनश्चत्वारः प च वा सार्थोपयातान् वणिजो लिखेयुः - के कुतस्त्याः कियत्पण्याः क्व चाभिज्ञानमुद्रा वा कृतेति।
- (३) अमुद्राणामत्ययो देयद्विगुणः।
- (४) कूटमुद्राणां शुल्काष्टगुणो दण्डः।
- (५) भिन्नमुद्राणामत्ययो घटिकाः स्थाने स्थानम्।
- (६) राजमुद्रापरिवर्तने नामकृते सपादपणिकं वहनं दापयेत्।
- (७) ध्वजमूलोपस्थितस्य प्रमाणमर्घं च वैदेहकाः पण्यस्य ब्रूयुः - एतत्प्रमाणेनार्घेण पण्यमिदं कः क्रेतेति। त्रिरुद्धोषितमर्थिभ्यो दद्यात् क्रेत संघर्षे मूल्यव द्विः। सशुल्का कोशं गच्छेत्।
- (८) शुल्कभयात्पण्यप्रमाणं मूल्यं वा हीनं ब्रुवतस्तदतिरिक्तं राजा हरेत्। शुल्कमष्टगुणं वा दद्यात्।
- (९) तदेव निविष्टपण्यस्य भाण्डस्य हीनप्रतिवर्णकेनार्घापकर्षेण सारभाण्डस्य फल्गुभाण्डेन प्रतिच्छादने च कुर्यात्।
- (१०) प्रतिक्रेत भयाद्वा पण्यमूल्यादुपरि मूल्यं वर्धयतो मूल्यव द्विं राजा हरेत्। द्विगुणं वा शुल्कं कुर्यात्।
- (११) तदेवाष्टगुणमध्यक्षस्य छादयतः।
- (१२) तस्माद्विक्रयः पण्यानां ध तो मितो गणितो वा कार्यः। तर्कः फल्गुभाण्डानामानुग्राहिकाणां च।
- (१३) ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः। पथिकोत्पथिकास्तद्विद्युः।
- (१४) वैवाहिकमन्वायनमौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवेज्याचौलोपनयनगोदानव्रतदीक्षणादिषु क्रियाविशेषु भाण्डमुच्छुल्कं गच्छेत्।
- (१५) अन्यथावादिनः स्तेयदण्डः।
- (१६) कृतशुल्केनाकृतशुल्कं निर्वाहयतो द्वितीयमेकमुद्रया भित्त्वा पण्यपुटमपहरतो वैदेहकस्य तच्च तावच्च दण्डः।
- (१७) शुल्कस्थानाद्गोमयपालालं प्रमाणं कृत्वा अपहरत उत्तमः साहसदण्डः।
- (१८) शस्त्रवर्मकवचलोहरथरत्नधान्यपशूनामन्यतमानिर्वाह्यं निर्वाहयतो यथावघुषितो दण्डः पण्यनाशश्च।
- (१९) तेषामन्यतमस्यानयने बहिरेवोच्छुल्को विक्रयः।
- (२०) अन्तपालः सपादपणिकां वर्तनीं ग हणीयात् पण्यवहनस्य, पणिकामेकमुखरस्य, पशूनामर्घपणिकां, क्षुद्रपशूनां पादिकाम्, असभारस्य माषिकाम्। नष्टापहृतं च प्रतिविदध्यात्।
- (२१) वैदेश्यं सार्थं कृतसारफल्गुभाण्डविचयनमभिज्ञानं मुद्रां च दत्त्वा प्रेषयेदध्यक्षस्य।

(२२) वैदेहकव्य जनो वा सार्थप्रमाणं राज्ञः प्रेषयेत्। तेन प्रदेशेन राजा शुल्काध्यक्षस्य सार्थप्रमाणमुपदिशेत्सर्वज्ञत्वख्यापनार्थम्। ततः सार्थमध्यक्षो भिगम्य ब्रूयात्—‘इदममुष्यामुष्य च सारभाण्डं फल्गुभाण्डं च न निगूहतव्यम्, एष राज्ञः प्रभावः’ इति।

(२३) निगूहतः फल्गुभाण्डं शुल्काष्टगुणो दण्ड, सारभाण्डं सर्वापहारः।

(२४) राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्धादफलं च यत्।

महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद्वीजं तु दुर्लभम्॥

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे शुल्काध्यक्षो नाम एकविंशो ध्यायः, आदित एकचत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) शुल्क का अध्यक्ष शुल्कशाला का निर्माण करवावे, उसके पूर्व तथा उत्तर की ओर, प्रधान द्वार के पास, शुल्कशाला की पहिचान के लिए एक पताका लगवा दे।
- (२) शुल्कशाला में चार-पाँच कर्मचारियों की नियुक्ति की जानी चाहिये, जो माल को लाने ले जाने वाले व्यापारियों का नाम, उनकी जाति, उनका निवास स्थान, माल का विवरण और उस पर कहाँ-कहाँ मुहर लगी है, इसका विवरण लिखें
- (३) जिन व्यापारियों के माल पर मुहर न लगी हो, उनको जितनी चुंगी (शुल्क) देनी चाहिये, उन पर उसका दुगुना जुर्माना किया जाये।
- (४) जिन व्यापारियों ने अपने माल पर नकली मुहर लगाई है उन पर चुंगी का आठ गुना जुर्माना ठोकना चाहिये।
- (५) जो व्यापारी मुहर लगाकर उसको मिटा दे, उन्हें तीन घड़ी तक ऐसे स्थान पर बैठाया जाये, जहाँ पर कि आने-जाने वाले सभी व्यापारी उनके अपराध को जान सकें।
- (६) माल का नाम बदलने वाले व्यापारी पर सवापण दण्ड करना चाहिये।
- (७) शुल्कशाला की ध्वजा के नीचे एकत्र होकर व्यापारी लोग अपने माल का नाम, उसकी कीमत और उसके वजन आदि की बोली बोलें। तीन बार आवाज लगाने पर जो भी खरीद ले, उसे माल दे देना चाहिये, यदि खरीदने वालों में होड़ लग जाये तो माल का मूल्य बढ़ा कर बोली बोली जाये और निर्धारित आमदनी से अधिक मूल्य एवं उसकी चुंगी राजकीय कोष में जमा कर दी जाये।
- (८) अधिक चुंगी देने के डर से जो व्यापारी अपने माल और उसके मूल्य को कम करके बताये, उस अतिरिक्त माल को राजा ले ले, अथवा व्यापारी से आठ गुना शुल्क वसूल किया जाये।
- (९) यही दण्ड उस व्यापारी को भी देना चाहिये जो कि बढ़िया माल की जगह, उसी प्रकार की दूसरी पेट्टी आदि में घटिया माल रख कर उसका मूल्य कम कर दे अथवा जो व्यापारी नीचे के हिस्से में अच्छा माल भर कर ऊपर से सस्ता माल भर दे और उसी के अनुसार चुंगी दे।
- (१०) प्रतिद्वन्द्विता के कारण जो ग्राहक किसी चीज का मूल्य बढ़ा दे, उस बढ़े हुए मूल्य को राजा ले ले अथवा उस मूल्य बढ़ाने वाले खरीददार से दुगुनी चुंगी वसूल कर ली जाये।
- (११) मित्रता या रिश्त के कारण यदि अध्यक्ष किसी अपराधी व्यापारी को माफ कर दे तो अपराध के अनुपात से आठ गुना दण्ड अध्यक्ष को दिया जाये।
- (१२) इसलिए माल की बिक्री तौल कर अथवा गिन कर भली भाँति करनी चाहिये, जिससे छल-कपट न हो सके। कोयला, नमक आदि कम चुंगी वाली वस्तुओं पर अन्दाज से ही कर लेना चाहिये, उन्हें तौलने की आवश्यकता नहीं है।

- (१३) जो व्यापारी छिपकर किसी छल से चुंगी दिए बिना ही चुंगीघर को लॉघ कर चले जायें उन्हें नियत शुल्क से आठ गुना अधिक शुल्क देना चाहिये। असली रास्ता छोड़ कर इधर-उधर से निकल जाने वाले लकड़हारे और ग्वाले आदि पर भी निगरानी रखनी चाहिये।
- (१४) विवाहसम्बन्धी, विवाह में प्राप्त, सदावर्त या क्षेत्रों के लिये दिया गया दान, यज्ञकर्म एवं जन्मोत्सव के लिए भेजा हुआ देवपूजा, मुंडन, जनेऊ, गोदान और व्रत आदि धार्मिक कार्यों से सम्बद्ध माल पर चुंगी न ली जानी चाहिये।
- (१५) किन्तु चुंगी के भय से जो व्यक्ति अपने माल का सम्बन्ध उक्त कार्यों से बतायें तो उसे चोरी का दण्ड दिया जाये।
- (१६) यदि कोई व्यापारी चुंगी दिए माल के साथ बिना चुंगी दिए माल को निकाल ले जाये या इसी प्रकार बिना मुहर लगे माल को निकाल ले जाये, अथवा चुंगी दिये माल में बिना चुंगी का माल मिला दे, उस व्यापारी का वह बिना चुंगी का माल जब्त कर दिया जाये और उस पर उतना ही दण्ड निर्धारित किया जाये।
- (१७) जो व्यापारी चुंगी देने के भय से अपने अच्छे माल को घटिया बताकर धोखे से निकाल ले जाने की चेष्टा करे, उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (१८) शस्त्र, कवच, लोहा, रथ, रत्न, अन्न और पशु आदि किसी भी प्रतिबन्ध लगी वस्तु को लाने-ले जाने वाले व्यापारी को पूर्व निर्धारित दण्ड दिया जाये और उसकी उस वस्तु को जब्त कर लिया जाये।
- (१९) इनमें से कोई वस्तु यदि बाहर लायी जाये तो वह बिना चुंगी दिये भी नगर-सीमाओं के बाहर बेची जा सकती है।
- (२०) सीमा रक्षक अन्तपाल को चाहिये कि वह माल ढोने वाली प्रति गाड़ी से मार्गरक्षा-कर के रूप में सवा पण कर वसूल करे। घोड़े, खच्चर, गधे आदि एक खुर वाले पशुओं की गाड़ी पर एक पण, बैल आदि पशुओं पर आधा पण, बकरी, भेड़ आदि छोटे पशुओं पर चौथाई पण और कंधे पर भार ढोने वाले व्यक्तियों पर एक माष (तांबे का सिक्का) कर लेना चाहिये। यदि किसी व्यापारी की कोई वस्तु गुम हो गई या चोरी हो गई हो तो अन्तपाल उसका पता लगाये। नष्ट हुई वस्तु मिल जाये तो दे दे, अन्यथा अपने ही पास से दे।
- (२१) अन्तपाल को चाहिये कि वह विदेशी व्यापारियों के माल की भली-भाँति जाँच कर उस पर मुहर लगाये और रमन्ना (पास) काटकर उन्हें चुंगी के अध्यक्ष के पास भेज दे।
- (२२) उन विदेशी व्यापारियों के साथ गुप्त व्यापारी का भेष धारण किये राजा का खुफिया व्यापारियों के सम्बन्ध की सारी सूचनाएं पहले ही राजा तक पहुँचा दे। इस सूचना को तथा व्यापारियों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी राजा, शुल्काध्यक्ष के पास भेज दे, जिससे कि राजा की जानकारी पर विश्वास किया जा सके और राजा की बात को विश्वासपूर्वक कहा जा सके। तदनुसार शुल्काध्यक्ष व्यापारियों से कहे 'आप लोगों में से अमुक-अमुक व्यापारी के पास इतना घटिया और इतना बढ़िया माल है, आप लोगों को कुछ भी छिपाना नहीं चाहिये। देखिये, राजा का इतना प्रभाव है कि उससे कोई बात छिपी नहीं रह सकती है।'
- (२३) जो व्यापारी घटिया माल को छिपाने का यत्न करे, उस पर चुंगी से आठ गुना जुर्माना और जो बढ़िया माल को छिपाये उसका सारा माल जब्त कर लेना चाहिये।
- (२४) राष्ट्र को हानि पहुंचाने वाले विष या फल आदि माल को राजा नष्ट कर दे और यदि प्रजा का उपकार करने वाला तथा कठिनाई से प्राप्त होने वाला धान्य आदि माल हो तो उस पर चुंगी न लगाई जाये, जिससे उस माल का अपने देश में अधिक आयात हो।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २२

शुल्कव्यहारः

- (१) शुल्कव्यवहारो बाह्यमाभ्यन्तरं चातिथ्यम्; निष्क्राम्यं, प्रवेश्यं च शुल्कम्।
- (२) प्रवेश्यानां मूल्यप चभागः।
- (३) पुष्पफलशाकमूलकन्दवल्लिक्यबीजशुष्कमत्स्यमांसानां षड्भागं ग हणीयात्।
- (४) शंखवज्रमणिमुक्ताप्रवालहाराणां तज्जातपुरुषैः कारयेत्, कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः।
- (५) क्षौमदुकूलक्रिमितानकङ्कटहरितालमनःशिलाहिङ्गुलुकलोहवर्णधातूनां चन्दनागरुकटुक-किष्वावराणां सुरादन्ताजिनक्षौमदुकूलनिकरास्तरणप्रावरणक्रिमिजातानामजैलकस्य च दशभागः, प चदशभागो वा।
- (६) वस्त्रचतुष्पदद्विपदसूत्रकार्पासगन्ध भैषज्यकाष्ठवेणुवल्कचर्मम द्भाण्डानां धान्यस्नेहक्षार लवण मद्यपक्वान्नादीनां च विंशतिभागः प चविंशतिभागो वा।
- (७) द्वाराद्वयं शुल्कप चभागः आनुग्राहिकं वा यथादेशोपकारं स्थापयेत्।
- (८) जातिभूमिषु च पण्यानामविक्रयः।
- (९) खनिभ्यो धातुपण्यादाने षट्छतमत्ययः।
- (१०) पुष्पफलवाटेभ्यः पुष्पफलादाने चतुष्प चाशत्पणो दण्डः।
- (११) षण्डेभ्यः शाकमूलकन्दादाने पादोनं द्विप चाशत्पणः।
- (१२) क्षेत्रेभ्यः सर्वसस्यादाने त्रिप चाशत्पणः, पणो ध्यर्धपणश्च सीतात्ययः।
- (१३) अतो नवपुराणानां देशजातिचरित्रतः।
पण्यानां स्थायेच्छुल्कमत्ययं चापकारतः।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकारणे शुल्कव्यवहारो नाम द्वाविंशो ध्यायः, आदितो द्विचत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) शुल्कव्यवहार के तीन प्रकार हैं : १. बाह्य, २. आभ्यन्तर, और ३. आतिथ्य। इनके दो भाग हैं : १. निष्क्राम्य और २. प्रवेश्य। बाहर जाने वाले माल पर लगाई गई चुंगी को निष्क्राम्य और बाहर से आने वाले माल पर लगाई चुंगी को प्रवेश्य कहते हैं।
- (२) आयात माल पर सामान्यतः उसकी लागत का पाँचवाँ हिस्सा चुंगी ली जानी चाहिये।
- (३) फूल, फल, साग, गाजर, मूल, शकरकन्द, धान्य, सूखी मछली और मांस, इन वस्तुओं पर उनकी लागत का छठा हिस्सा चुंगी लेनी चाहिये।
- (४) शंख, हीरा, मणि, मुक्ता, प्रवाल और हार, इन मूल्यवान् वस्तुओं की चुंगी उनके विशेषज्ञों, पारखियों अथवा विशिष्ट रूप से नियत समय के लिए नियत वेतन पर नियुक्त व्यक्तियों द्वारा निर्धारित करनी चाहिये।
- (५) मोटे तथा महीन रेशमी कपड़ों, कीमखाब, सूती कवच, हरताल, मैनसिल, हिङ्गुल, लोहा, गेरू, चन्दन, अगर पीपल, मादक बीजों से निकाला गया द्रव्य, शराब, हाथदाँत, म गचर्म, रेशमी तागे,

बिछौना, ओढ़ना, अन्य रेशमी वस्त्र और बकरी तथा भेड़ की ऊन के बने कपड़ों आदि पर उनके मूल्य का पन्द्रहवाँ हिस्सा चुंगी ली जानी चाहिये।

- (६) मामूली सूती कपड़ों, चौपायों, दुपायों, सूत, कपास, दवाई, लकड़ी, बांस, छाल, बैल आदि का चमड़ा, मिट्टी के बर्तन, अनाज, घी, तेल, खारा नमक, शराब और पके हुए अनाजों पर उनकी कीमत का बीसवाँ या पच्चीसवाँ भाग चुंगी लेनी चाहिये।
- (७) द्वारपाल को चाहिये कि वह, नगर के प्रधान द्वार से प्रविष्ट होने वाली वस्तुओं पर, उनके नियत कर का पांचवाँ हिस्सा टैक्स वसूल करे। हर प्रकार का कर इस ढंग से नियत करना चाहिये, जिससे देश का उपकार हो।
- (८) जिन प्रदेशों में जो चीजें पैदा होती हैं वहीं उनको बेचना नहीं चाहिये।
- (९) खानों से तैयार किया हुआ कच्चा माल खरीदने-बेचने वालों को ६०० पण दण्ड देना चाहिये।
- (१०) फूल-फल के बगीचों में ही फूल-फल खरीदने-बेचने वालों को ५४ पण दण्ड देना चाहिये।
- (११) साक-भाजी के खेतों में ही साक, भाजी, तथा कन्द-मूल खरीदने-बेचने वालों को $५२^३/४$ पण दण्ड देना चाहिये।
- (१२) इसी प्रकार अनाज के खेतों में ही अनाज खरीदने वालों को ५३ पण दण्ड देना चाहिये और अनाज को खेत से ही खरीदने-बेचने वालों को क्रमशः एक पण तथा डेढ़ पण दण्ड देना चाहिये।
- (१३) इसलिए राजा को चाहिये कि वह देश, जाति तथा आचार के अनुसार नये एवं पुराने हर पदार्थों पर कर की व्यवस्था करे और उनमें जहाँ से नुकसान की संभावना हो, उसके लिए उचित दण्ड की व्यवस्था भी करे।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में शुल्कव्यवहार नामक बाइसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २३

सूत्राध्यक्षः

- (१) सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मवस्त्ररज्जुव्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत्।
- (२) ऊर्णावल्ककार्पासतूलशणक्षौमाणि च विधवान्यङ्गाकन्याप्रव्रजितादण्डाप्रतिकारिणी-भिरुपाजीवामात कामिवद्धराजदासीभिर्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कर्तयेत्।
- (३) श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत्। बहवल्पतां च। सूत्रप्रमाणं ज्ञात्वा तैलामलकोद्वर्तनैरेता अनुग हणीयात्।
- (४) तिथिषु प्रतिपादनमानैश्च कार्याणि कारयितव्यानि। सूत्रहासे वेतनहासो द्रव्यसारात्।
- (५) कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारुभिश्च कर्म कारयेत्, प्रतिसंसर्गं च गच्छेत्।
- (६) क्षौमदुकूलक्रिमितानराङ्कवकार्पाससूत्रवानकर्मान्तांश्च प्रयु जानो गन्धमाल्यदानैरन्यैश्चौप-ग्राहिकराराधयेत्। वस्त्रास्तरणप्रावरणविकल्पानुत्थापयेत्।
- (७) कंकटकर्मन्तांश्च तज्जातकारुशिल्पिभिः कारयेत्।
- (८) याश्चानिष्कासिन्यः प्रोषितविधवा व्यङ्गाः कन्यका वा त्मानं विभ युस्ताः स्वदासीभिरनुसाराय सोपग्रहं कर्माणि कारयितव्यानि।
- (९) स्वयमागच्छन्तीनां वा सूत्रशालां प्रत्युषसि भाण्डवेतनविनिमयं कारयेत्। सूत्रपरीक्षार्थमात्रः प्रदीपः।
- (१०) स्त्रिया मुखसन्दर्शने न्यकार्यसम्भाषायां वा पूर्वः साहसदण्डः। वेतनकालातिपातने मध्यमः, अकृतकर्मवेतनप्रदाने च।
- (११) ग हीत्वा वेतनं कर्माकुर्वन्त्यः अङ्गुष्ठसन्दर्शनं दापयेत्। भक्षितापहृतावस्कन्दितानां च। वेतनेषु च कर्मकाराणामपराधतो दण्डः।
- (१२) रज्जुवर्तकैश्चर्मकारैश्च स्वयं संस ज्येत। भाण्डानि च वरत्रादीनि वर्तयेत्।
- (१३) सूत्रवल्कमयी रज्जुर्वरत्रा वैत्रवैणवीः।
सान्नाह्या बन्धनीयाश्चं यानयुग्यस्य कारयेत्।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे सूत्राध्यक्षो नाम त्रयोविंशो ध्यायः, आदितस्त्रयश्चत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) सूत्र-व्यवसाय के अध्यक्ष को चाहिये कि वह सूत, कवच, कपड़ा और रस्सी आदि के कातने, बुनने तथा बटने वाले निपुण कारीगरों से उनके इन कार्यों की जानकारी प्राप्त करे।
- (२) ऊन, बल्क, कपास, सेंमल, सन और जूट आदि को कतवाने के लिए विधवाओं, अंगहीन स्त्रियों, कन्याओं, संन्यासिनियों, सजायापत्ता स्त्रियों, वेश्याओं की खालाओं, बूढ़ी दासियों और मन्दिर की दासियों को नियुक्त करना चाहिये।
- (३) सूत की एकसारता, मोटाई और मध्यमता की अच्छी तरह जांच करने के बाद उक्त महिलाओं की मजदूरी नियत करनी चाहिये। कम-ज्यादा सूत कातने वाली स्त्रियों को उनके कार्य के

अनुसार वेतन देना चाहिये। सूत का वजन अथवा लम्बाई को जानकर पुरस्कार रूप में उन्हें तेल, आँवला और उबटन देना चाहिये, जिससे वे प्रसन्न होकर अधिक कार्य करें।

- (४) त्यौहारों और छुट्टी के दिनों में उन्हें भोजन, दान या समान देकर उनसे कार्य करवाना चाहिये। निर्धारित मात्रा से सूत कम काता जाये तो सूत के मूल्य के अनुसार उनका वेतन काटना चाहिये।
- (५) नियत कार्य-काल और निश्चित वेतन के अनुसार ही कारीगरों को नियुक्त किया जाना चाहिये और उनसे सम्पर्क बनाये रखना चाहिये, जिससे कि कार्य में किसी प्रकार का कपट न होने पाये।
- (६) अध्यक्ष को चाहिये कि मोटे-महीन रेशमी कपड़े, चीनी, रेशम, रंकु म ग की ऊन और कपास का सूत कातने-बनाने वाले कारीगरों को इत्र, फुलेल तथा अन्य पारितोषिक देकर सदा प्रसन्न चित्त रखे। उनसे वह ओढ़ने, बिछाने एवं पहनने के डिजाइनदार वस्त्र बनवाये।
- (७) निपुण कारीगरों से मोटे महीन सूत के कवच बनवाने चाहिये।
- (८) जो स्त्रियाँ परदानसीन हों, जिनके पति परदेश गये हों, विधवा हों, जो लूली-लंगड़ी हों, जिनका विवाह न हुआ हो, जो आत्मनिर्भर रहना चाहती हों, ऐसी स्त्रियों के सम्बन्ध में अध्यक्ष को चाहिये कि वह दासियों द्वारा सूत भेज कर उनसे कतवाये और उनके साथ अच्छा व्यवहार करे।
- (९) घर पर काते हुये सूत को लेकर जो स्त्रियाँ स्वयं या दासियों को साथ लेकर प्रातःकाल ही पुतलीघर (सूत्रशाला) में उपस्थित हों, उन्हें यथोचित मजदूरी दी जानी चाहिये। सूत्रशाला में अधिक सवेरा होने के कारण यदि कुछ अन्धेरा हो तो वहाँ उतना ही प्रकाश किया जाये, जिससे सूत अच्छी तरह देखा जा सके।
- (१०) स्त्री का मुख देखने या कार्य के अलावा इधर-उधर की बात करने वाले परीक्षक को प्रथम साहस दण्ड और कार्य न करने पर भी यदि वेतन दिया जाये तब भी मध्यम साहस दण्ड देना चाहिये।
- (११) जो स्त्री वेतन लेकर भी कार्य न करे, उसका अंगूठा कटवा देना चाहिये। यही दण्ड उसको भी देना चाहिये, जो माल को चुराये, खो दे अथवा लेकर भाग जाये। प्रत्येक कर्मचारी को उसके अपराध के अनुसार शारीरिक या आर्थिक दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (१२) सूत्राध्यक्ष को चाहिये कि वह रस्सी बाटकर जीविकोपार्जन करने वाले तथा चमड़े का कार्य करने वाले कारीगरों से सम्पर्क बनाये रखे। उनसे वह गाय आदि बाँधने के लिए रस्सी तथा हर तरह का चमड़े आदि का सामान बनवाता रहे।
- (१३) सूत्राध्यक्ष को चाहिये कि वह सूत, सन आदि की रस्सियाँ और कवच बनाने तथा घोड़ा बाँधने के उपयोगी बेत एवं बाँस की रस्सियाँ बनवाये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में सूत्राध्यक्ष नामक तेईसवां अध्याय समाप्त।

अध्याय २४

सीताध्यक्षः

- (१) सीताध्यक्षः कृषितन्त्रशुल्बव क्षायुर्वेदज्ञस्तज्ज्ञसखो वा सर्वधान्यपुष्पफलशाककन्दमूल-
वाल्लिक्यक्षौमकार्पासबीजानि यथाकालं ग हणीयात्।
- (२) बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत्।
- (३) कर्षणयन्त्रोपकरणबलीवर्द्धैश्चैषामसङ्गं कारयेत्। कारुभिश्च कर्मारकुट्टाकमेदकरज्जु-
वर्तकसर्पग्राहादिभिश्च।
- (४) तेषां कर्मफलविनिपाते तत्फलहानं दण्डः।
- (५) षोडशद्रोणं जांगलानां वर्षप्रमाणमध्यर्धमानूपानाम्। देशवापानाम्। अर्धत्रयोदशाश्मकानां,
त्रयोविंशतिरवन्तीनाम्, अमितमपरान्तानाम्, हैमन्यानां च कुल्यावापानां च कालतः।
- (६) वर्षत्रिभागः पूर्वपश्चिममासयोः, द्वौ त्रिभागौ मध्यमयोः सुषमारूपम्।
- (७) तस्योपलब्धिर्बहस्पतेः स्थानगमनगर्भाधानेभ्यः शुक्रोदयास्तमयचारेभ्यः सूर्यस्य प्रकृतिवैकृताच्च।
- (८) सूर्याद्वीजसिद्धिः। बहस्पतेः सस्यानां स्तम्बकारिता। शुक्राद्वष्टिरिति।
- (९) त्रयः साप्ताहिका मेघा अशीतिः कणशीकराः।
षष्टिरातपमेघानामेषा व ष्टिः समाहिताः।
- (१०) वातमातपयोगं च विभजन् यत्र वर्षति।
त्रीन् कर्षकांश्च जनयंस्तत्र सस्यागमो ध्रुवः।।
- (११) ततः प्रभूतोदकमल्पोदकं वा सस्यं वापयेत्।
- (१२) शालिव्रीहिकोद्ववतिलप्रियङ्गुदारकवरकाः पूर्ववापाः। मुद्गमाषशैम्ब्या मध्यवापा।
कुसुम्भसूरकुलत्थयवगोधूलायातसीसर्षपाः पश्चाद्वापाः।
- (१३) यथर्तुवशेन वा बीजवापाः।
- (१४) वापातिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः। स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थप चभागिकाः। यथेष्टमनवसितभागं
दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः।
- (१५) स्वसेतुभ्यो हस्तप्रावर्तितममुदकभागं पंचमं दद्युः। स्कन्दप्रावर्तितं चतुर्थम्। स्रोतोयन्त्रप्रावर्तितं
च त तृतीयम्।
- (१६) चतुर्थं नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्।
- (१७) कर्मोदकप्रमाणेन कैदारं हैमनं त्रैम्भिकं वा सस्यं स्थापयेत्।
- (१८) शाल्यादि ज्येष्ठम्। षण्डो मध्यमः। इक्षुः प्रत्यवरः। इक्षवो हि बह्वाबाधव्ययग्राहणिश्च।
- (१९) फेनाघातो वल्लीफलानाम्, परीवाहान्ताः पिप्पलीम द्वीकेक्षूणाम्, कूपपर्यन्ताः शाकमूलानाम्,
हरिणिपर्यन्ता हरितकानाम्, लाल्यो लवानां गन्धभैषज्योशीरहीबेरपिण्डालुकादीनाम्। यथास्वं
भूमिषु च स्थूल्याश्चानूप्याश्चौषधीः स्थापयेत्।
- (२०) तुषारपायनमुष्णशोषणं चासप्तरात्रादिति धान्यबीजानां, त्रिरात्रं पंचरात्रे वा कोशीधान्यानां,
मधुघ तसूकरवसाभिः शकृद्युक्ताभिः काण्डबीजानां छेदलेपो मधुघ तेन कन्दानाम्। अस्थिबीजानां

शकृदालेपः। शाखिनां गर्तदाहो गो स्थिशकृदिभः काले दौहदं च।

- (२१) प्ररुढाँश्वाशुष्ककटुमत्स्याँश्च स्नुहिक्षीरेण वापयेत्।
- (२२) कार्पाससारं निर्मोकं सर्पस्य च समाहरेत्।
न सर्पास्तत्र तिष्ठन्ति धूमो यत्रैष तिष्ठति।।
- (२३) सर्वबीजानां तु प्रथमवापे सुवर्णोदकसंप्लुतां पूर्वमुष्टिं वापयेत् अमुं च मन्त्रं ब्रूयात्-
'प्रजापतये काश्यपाय देवाय नमः सदा।
सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च'।।
- (२४) षण्डवाटगोपालकदासकर्मकरेभ्यो यथापुरुषपरिवापं भक्तं कुर्यात्। सपादपणिक मासं दद्यात्।
कर्मानुरूपं कारुभ्यो भक्तवेतनम्।
- (२५) प्रशीर्णं पुष्पफलं देवकार्यार्थं व्रीहियवमाप्रयणार्थं श्रोत्रियास्तपस्विनश्चाहरेयुः। राशिमूलमुच्छ्व त्तयः।
- (२६) यथाकालं च सस्यादि जातं जातं प्रवेशयेत्।
न क्षेत्रे स्थापयेत् किञ्चित् पलालमपि पण्डितः।
- (२७) प्रकराणां समुच्छ्रायान् वलभीर्वा तथाविधाः।
न संहतानिकुर्वीत न तुच्छानि शिरांसि च।।
- (२८) खलस्य प्रकारान् कुर्यान्मण्डलान्ते समाश्रितान्।
अनग्निकाः सोदकाश्च खले स्युः परिकर्मिणः।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे सीताध्यक्षो नाम चतुर्विंशो ध्यायः, आदितश्चतुश्चत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) कृषि-विभाग के अध्यक्ष (सीताध्यक्ष) को यह आवश्यक है कि वह कृषिशास्त्र, शुल्बशास्त्र (पैमाइश) और व क्ष-विज्ञान की पूरी जानकारी हासिल करे, अथवा इन सभी विद्याओं को अपना सहायक बनाकर यथासमय अन्न, फूल, फल, शाक, कंद, मूल, सन, जूट और कपास आदि के बीजों का संग्रह करे।
- (२) उन संग्रह किए हुए बीजों को वह क्रीतदासों, नौकरों और सपरिश्रम सजायाफ्ता कैदियों के द्वारा ऐसी भूमि में बुवाये, जो कई बार जोती गई हो।
- (३) खेत जोतने-बोने के साधन हल-बैल आदि से उनका कोई स्थायी सम्बन्ध न रखा जाये। इसी प्रकार कारीगरों, बढ़इयों, खाई खोदने वालों, रस्सी बटने वालों और सपेरों से उन कर्मचारियों का कोई स्थायी संसर्ग न होने दिया जाये।
- (४) यदि इन कारीगरों तथा बढ़ई आदि कर्मचारियों से खेती आदि में कोई नुकसान हो तो उसकी हानि उन्हीं से पूरी की जाये।
- (५) वर्षा-जल को मापने के लिए बनाये हुए एक हाथ मुंह वाले कुण्ड में यदि सोलह द्रोण पानी भर जाये तो समझना चाहिये कि रेतीली जमीन फसल बोने के योग्य हो गई है। इसी प्रकार जल बरसने वाले प्रदेशों के लिए चौबीस द्रोण पानी, दक्षिणी प्रदेशों के लिए साढ़े तेरह द्रोण पानी, मालव प्रदेश के लिए तेइस द्रोण पानी, पश्चिमी प्रदेशों के लिए अधिक-से-अधिक और हिमालय प्रदेशों तथा नहरी प्रांतों के लिए समय-समय का पानी, फसल बोने के लिए उचित है।

- (६) वर्षा के अनुपात से यदि एक हिस्सा श्रावण-कार्तिक में और दो हिस्से भाद्रपद-आश्विन में पानी बरसे तो वह वर्ष फसल के लिए लाभदायी समझना चाहिये।
- (७) अच्छे वर्षा के आसार इन बातों पर निर्भर है : जब बहस्पति मेष राशि से वष राशि पर संक्रमण करें, जब गर्भाधान अर्थात् मार्गशीर्ष आदि छह महीनों में कोहरा, वर्षा, बादल आदि देखे जायें, जब शुक्र ग्रह की उदयास्त गति आषाढ़ की पंचमी आदि नौ तिथियों में संचारित हो, और जब सूर्य के चारों ओर मंगल दिखाई दे, ये सभी अच्छी वर्षा के लक्षण हैं।
- (८) यदि सूर्य के चारों ओर मंडल पड़ा हो तो अनाज के अच्छे दाने का अनुमान करना चाहिये। यदि बहस्पति वष राशि का हो तो अच्छी फसल का अनुमान करना चाहिये। यदि शुक्र उदयास्त गति कारण हो तो अच्छी वषट् का अनुमान करना चाहिये।
- (९) लगातार सात दिन में तीन बार वर्षा उत्तम है, सारी वर्षा ऋतु में अस्सी बार बूंदों की वर्षा भी उत्तम है, यदि साठ बार धूप खिल कर फिर बार-बार वर्षा होती रहे तो वह वर्षा अति उत्तम मानी गई है।
- (१०) बीचों-बीच में हवा के चलने और धूप के खिलने का अन्तर छोड़कर यदि वर्षा हो और तीन-तीन दिन हल चलाने का अवसर देकर यदि वर्षा हो तो उत्तम फसल होने का अनुमान करना चाहिये।
- (११) वर्षा के अनुपात से ही बीज बोना चाहिये।
- (१२) साठी या धान, गेहूँ-जौ-ज्वार, कोदो, तिल, कांगनी और लोभिया आदि को वर्षा शुरू होने के पहले ही बो देना चाहिये। मूँग, उड़द और छीमी आदि वर्षा के मध्य में बोना चाहिये। कुसुंबी, मसूर, कुल्थी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी और सरसों आदि अन्नों की वर्षा के अन्त में बोना चाहिये।
- (१३) अथवा इन सभी अन्नों को ऋतु के अनुसार, जैसा उचित हो बोना चाहिये।
- (१४) जो खेत बोये न गये हों, उन्हें सीताध्यक्ष आधी कटाई पर दूसरे किसानों को बाने के लिए दे दें। अथवा जो लोग शारीरिक श्रम पर ही जीवित हैं, उनको यह जमीन दे दी जाये और उस जमीन की पैदावार का चौथा या पाँचवाँ भाग उन्हें दिया जाये या स्वामी की इच्छानुसार ही उनको दिया जाये, किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि उन्हें उस प्रदत्त भाग को स्वीकार करने में कोई कष्ट न हो।
- (१५) अपने धन और बाहुबल से बनाये गये तालाबों से यदि सिंचाई की जाये तो उस उपज का पाँचवाँ हिस्सा राजा को देने चाहिये। अपने कन्धों पर जल लाकर यदि वह खेतों की सिंचाई करता है तो उसे चौथाई हिस्सा राजा को देना चाहिये। यदि वह नहर या नालियाँ बनाकर खेतों को सींचता है तो उसे पैदावार का तीसरा ही हिस्सा देना चाहिये।
- (१६) अपने धन और श्रम से यदि नदी, झील और कुओं पर रहट लगाकर खेत की सिंचाई की जाये तो पैदावार का चौथा भाग राजा को देना चाहिये।
- (१७) ऋतु के अनुसार तथा पानी की सुविधा देखकर ही खेतों में बीज बोना चाहिये।
- (१८) धान, गेहूँ आदि की फसल उत्तम मानी गई है। कंदली आदि की फसल मध्यम कोटि की है। ईख की फसल ओछी मानी गई है, क्योंकि इसके बोने में बड़ा श्रम करना पड़ता है और अनेक बाधाओं से उसकी रक्षा करनी पड़ती है।
- (१९) नदी के कछारों एवं किनारों की जमीन पेठा, कद्दू, ककड़ी तथा तरबूज आदि बोने के लिए उपयुक्त है, पीपल और ईख आदि बोने के लिए वह जमीन उपयुक्त है, जहाँ पर नदी का जल एक बार घूम गया हो, साग-सब्जी बोने के लिए कुएँ के आस-पास की जमीन उपयुक्त

है, जई आदि बोने के लिए झील तथा तालाबों के किनारे की गीली जमीन उपयुक्त है, धनिया, जीरा, खस, नेत्रवाला तथा कचालू आदि बोने के लिए ऐसे खेत उपयुक्त हैं जिनके बीच में तालाब बने हों, सूखी और गीली जमीन में जिन-जिन अनाजों की अधिक उपज हो उनको समझ कर बोना चाहिये।

- (२०) धान के बीजों को सात दिन तक रात की ओस और दिन की धूप में रखना चाहिये। मूंग, उड़द आदि के बीजों को इसी प्रकार तीन दिन-रात या पाँच दिन-रात ओस और धूप में रखना चाहिये, बोये जाने वाले ईख के पोरों की कटी हुई जगहों में शहद, घी या सूअर की चर्बी के साथ गोबर मिला कर लगा देना चाहिये, सूरन, शकरकन्द आदि कन्दफलों के कटे हुए स्थानों पर गोबर-शहद का लेप अथवा घी का लेप करना चाहिये, कपास आदि के बीजों को गोबर आदि से लपेट कर बोना चाहिये, आम, कटहल आदि व क्षों के बीजों को किसी गड्ढे में डाल कर कुछ गर्मी दी जाने के बाद उन्हें गाय की हड्डी और गोबर के साथ मिलाकर रखा जाना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि इन सब प्रकार के बीजों का यथाविधि संस्कार करके फिर इनको खेत में बोना चाहिये।
- (२१) बीज बोने के बाद जब उनमें अंकुर निकल जायें तब उनमें छोटी मछलियों की खाद छुड़वा देनी चाहिये और उन्हें सेहुड़ के दूध से सींचना चाहिये।
- (२२) साँप की केंचुली और बिनौलों को एक साथ मिलाकर जला दिया जाये, जहाँ तक उसका धुआँ फैलेगा वहाँ तक कोई भी साँप नहीं ठहर सकता।
- (२३) बोने से पहले हरेक बीज को सुवर्ण से स्पर्श हुए जल में भिगोना चाहिये और तब बोते समय बीज की पहली मुट्ठी भरकर यह मन्त्र पढ़ना चाहिये - 'प्रजापति, सूर्यपुत्र और मेघ, तुम्हारी सदैव हम वन्दना करते हैं, हे धरती माता, हमारे बीजों और अनाजों में सदा वृद्धि होती रहे।'।
- (२४) खेतों की रखवाली करने वाले ग्वाले, दास और नौकर आदि प्रत्येक को उसकी मेहनत के अनुसार भोजन-वस्त्र आदि दिया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त उन्हें प्रतिमास सवा पण नियत वेतन मिलना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे कारीगरों को भी उनके परिश्रम के अनुसार भोजन, वस्त्र और वेतन आदि दिया जाना चाहिये।
- (२५) पेड़ों से अपने आप गिरे हुए फल-फूलों को देवकार्य के लिए तथा गेहूँ, जौ आदि अन्नों को इष्ट देवता का भोग लगाने के लिए श्रोत्रिय और तपस्वी लोग उठा लें। खलिहान उठ जाने पर जो अन्न के दाने पड़े रह जायें उन्हें सीता बिनकर गुजर करने वाले लोग उठा लें।
- (२६) ठीक समय पर तैयार हुई फसल को सुरक्षित स्थान में रखवा देना चाहिये, पुआल और भूसा आदि असार वस्तुओं को भी उठाकर ले जाना चाहिये।
- (२७) अनाज रखने का स्थान कुछ ऊँची जगह में बनवाना चाहिये, उसी प्रकार के मजबूत तथा घिरे हुए अन्नागारों को बनवाना चाहिये, उनके ऊपरी हिस्से न तो आपस में मिले हुए हों और न वे खाली हों।
- (२८) कटे हुए अनाज को रखने की जगह और दाँई लेने की जगह दोनों आस-पास होने चाहिये। खलिहान में काम करने वाले व्यक्ति अपने पास आग न रखे किन्तु उनके पास जल का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में चौबीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २५

सुराध्यक्षः

- (१) सुराध्यक्षः सुराकिण्वव्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्वव्यवहारिभिः कारयेदेकमुखमनेकमुखं वा, विक्रयक्रयवशेन वा। षट्छतमत्ययमन्यत्र कर्तक्रेत विक्रेतृणां स्थापयेत्। ग्रामादनिर्णयनमसम्पातं च सुरायाः, प्रमादभयात् कर्मसु निर्दिष्टानां मर्यादातिक्रमभयादार्याणाम्। उत्साहभयाच्च तीक्ष्णानाम्।
- (२) लक्षितमल्पं वा चतुर्भागमर्धकुडुवं कुडुबमर्धप्रस्थं प्रस्थं वेति ज्ञतशौचा निर्हरेयुः।
- (३) पानागारेषु वा पिबेयुरस चारिणः।
- (४) निक्षेपोपनिधिप्रयोगापहृतादीनामनिष्टोपगतानां च द्रव्याणां ज्ञानार्थमस्वामिकं कुप्यं हिरण्यं चोपलभ्य निक्षेप्तारमन्यत्र व्यपदेशेन ग्राहयेत्। अतिव्ययकर्तारमनायतिव्ययं च।
- (५) न चानर्घेण कालिकां वा सुरां दद्यादन्यत्र दुष्टसुरायाः। तामन्यत्र विक्रापयेत्। दासकर्मकरेभ्यो वा वेतनं दद्यात्। वाहनप्रतिपानं सूकरपोषणं वा दद्यात्।
- (६) पानागाराण्यनेककक्ष्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद्देशानि गन्धमाल्योदकवन्ति ऋतुसुखानि कारयेत्।
- (७) तत्रस्थाः प्रकृत्यौत्पत्तिकौ व्ययौ गूढा विद्युरागन्तूँश्च।
- (८) क्रेतृणां मत्तसुप्तानामलङ्काराच्छादनहिरण्यानि च विद्युः। तन्नाशे वणिजस्तच्च तावच्च दण्डं दद्युः।
- (९) वणिजस्तु संव तेषु कक्ष्याविभागेषु स्वदासीभिः पेशलरूपाभिरागन्तूनां वास्तव्यानां च आर्यरूपाणां मत्तसुप्तानां भावं विद्युः।
- (१०) मेदकप्रसन्नासवारिष्टमैरेयमधूनाम्।
- (११) उदकद्रोणं तण्डुलानामर्धाढकं त्रयः प्रस्थाः किण्वस्येति मेदकयोगः।
- (१२) द्वादशाढकं पिष्टस्य प च प्रस्थाः किण्वस्य पुत्रकत्वफलयुक्तो वा जातिसम्भारः प्रसन्नायोगः।
- (१३) कपित्थतुला फाणितं प चतौलिकं प्रस्थो मधुन इत्यासवयोगः। पादाधिको ज्येष्ठः पादहीनः कनिष्ठः।
- (१४) चिकित्सकप्रमाणाः प्रत्येकशो विकाराणामरिष्टाः।
- (१५) मेषश्च ङ्गीत्वक्वाथाभिषुतो गुडप्रतीवापः पिप्पलीमरिचसम्भारस्त्रिफलयुक्तो वा मैरेयः। गुडयुक्तानां वा सर्वेषां त्रिफलासम्भारः।
- (१६) म द्वीकारसो मधु। तस्य स्वदेशे व्याख्यानं कापिशायनं हारहूरकमिति।
- (१७) माषकलनीद्रोणमामं सिद्धं वा त्रिभागाधिकतण्डुलं मोरटादीनां कार्षिकभागयुक्तः किण्वबन्धः।
- (१८) पाठालोधतेजोवत्येलाबालुकमधुमधुसाप्रियङ्गुदारुहरिद्रामरिचपिप्पलीनां च प चकार्षिकः सम्भारयोगो मेदकस्य प्रसन्नायाश्च। मधुकनिर्यूहयुक्ता कटशर्करा वर्णप्रसादनी च।
- (१९) चोचित्रकविडङ्गजपिप्पलीनां च कार्षिकः क्रमुकमधुकमुस्तालोघ्नाणां द्विकार्षिकश्चासवसम्भारः दशभागश्चैषां बीजबन्धः।

- (२०) प्रसन्नायोगः श्वेतसुरायाः ।
- (२१) सहकारसुरा रसोत्तरा बीजोत्तरा वा महासुरा सम्भारिकी वा ।
- (२२) तासां मोरटापलाशपत्तूरमेषश्च ड्गीकर जक्षीरव क्षकषायभावितं दग्धकटशर्कराचूर्णं लोधचित्रकबिडङ्गपाठामुस्ताकलिङ्गयवदारुहरिद्रे न्दीवरशतपुष्पापामार्गसप्तपर्ण-निम्बास्फोटकल्कार्घ्युक्तमन्तर्नखो मुष्टिः कुर्मी राजपेयां प्रसादयति । फाणितः प चपलिकश्चात्र रसव द्विर्देयः ।
- (२३) कुटुम्बिनः कृत्येषु श्वेतसुरामौषधार्थं वारिष्टमन्यद्वा कर्तुं लभेरन् ।
- (२४) उत्सवसमाजयात्रासु चतुरहः सौरिको देयः । तेष्वननुज्ञातानां प्रवहणान्तं दैवसिकमत्ययं ग हणीयात् ।
- (२५) सुराकिण्वविचयं स्त्रियो बालाश्च कुर्युः ।
- (२६) अराजपण्याः प चकं शतं शुल्कं दद्युः । सुरकामेदकारिष्टमधुफलाम्लशीघूनां च ।
- (२७) अहनश्च विक्रयं व्याजीं ज्ञात्वा मानहिरण्ययोः ।
तथा वैधरणं कुर्यादुचितं चानुवर्तयेत् ॥
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे सुराध्यक्षो नाम प चविंशो ध्यायः, आदितः प चचत्वारिंशः ।

हिन्दी अनुवाद

- (१) आबकारी विभाग के अध्यक्ष (सुराध्यक्ष) को चाहिये कि वह दुर्ग, जनपद अथवा छावनी आदि में सुरा के व्यापार का प्रबन्ध, शराब के बनाने वाले तथा बेचने वाले निपुण व्यक्तियों के द्वारा करवाये, शराब का ठेका एक बड़े व्यापारी को दिया जाये या अनेक छोटे-छोटे व्यापारियों को, अथवा क्रय-विक्रय की जैसी व्यवस्था उचित जंचे, तदनुसार ही उसकी बिक्री का प्रबन्ध किया जाये। ठेकों के अलावा अन्यत्र शराब बनाने, बेचने और खरीदने वालों पर ६०० पण जुर्माना किया जाये। शराब तथा शराबी को गाँव से बाहर, एक घर से दूसरे घर अथवा भीड़ में न जाने दिया जाये, क्योंकि ऐसा करने से एक तो राजकीय कर्मचारी कार्यों की हानि करने लगेंगे, दूसरे में आर्य लोग अपनी मर्यादा को भंग कर सकते हैं और तीसरे में तेज मिजाज सैनिक हथियारों का भी प्रयोग कर सकते हैं।
- (२) सुविदित आचार-व्यवहार वाले लोग चौथाई कुडव, आधा कुडव, एक कुडव, आध प्रस्थ या एक प्रस्थ मुहरबन्द शराब साथ भी ले जा सकते हैं।
- (३) जिन लोगों को शराब साथ ले जाने की आज्ञा न हो वे मदिरालय में ही बैठकर शराब पीयें।
- (४) यदि कोई व्यक्ति धरोहर, गिरवी, चोरी-डाका आदि के धन और सोना-चांदी आदि वस्तुओं को शराबखाने में गिरवी रखकर पीयें तो उसको वहाँ से बाहर कर किसी दूसरे बहाने से नगराध्यक्ष के हवाले करा देना चाहिये। इसी प्रकार जो व्यक्ति आमदनी से अधिक या बिना आमदनी के ही फिजूल खर्च करे उसे भी गिरफ्तार करा देना चाहिये।
- (५) थोड़ी कीमत पर, उधार या ब्याज सहित अदा होने के मूल्य पर बढ़िया शराब न बेचनी चाहिये, बल्कि ऐसे खरीददारों को घटिया शराब देनी चाहिये। घटिया शराब को बढ़िया शराब की दुकानों से न बेचना चाहिये। घटिया शराब या तो दास जैसे छोटे कर्मचारियों को वेतन के रूप में दे देनी चाहिये, अथवा बैल-ऊँट की सवारी हाँकने वालों तथा सूअर का पालन-पोषण करने वालों को दे देनी चाहिये।
- (६) शराबखानों में अनेक ड्योडियाँ होनी चाहिये, लेटने तथा बैठने के लिए अलग-अलग कमरे

- होने चाहिए, शराब पीने के लिए अलग स्थान होने चाहिए, उनमें सुगन्धित द्रव्यों एवं पानी आदि का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये, ये सभी स्थान ऐसे बने हों, जो मौसम में सुखद हों।
- (७) सरकारी गुप्तचर को चाहिये कि वह प्रतिदिन शराब की खपत तथा खर्च का हिसाब रखे और यह भी निगरानी रखे कि बाहर से कौन-कौन व्यक्ति वहां आते हैं।
- (८) शराब के नशे में बेहोश हो जाने वाले लोगों के जेवर, वस्त्र और नकदी का भी गुप्तचर ध्यान रखे। यदि बेहोश हालत में शराबियों की कोई चीज चोरी हो जाये तो उसको ठेकेदार ही अदा करे, वरन्, वह उतनी ही लागत का जुर्माना राजा को भी अदा करे।
- (९) ठेकेदार को चाहिये कि वह चतुर एवं सुन्दरी दासियों के द्वारा, अलग-अलग कमरों में बेहोश उन बाहर से आये या नगर के रहने वाले, ऊपर से आर्य लगने वाले, शराबियों को भीतरी भावों का पता लगाये।
- (१०) शराब कई प्रकार की होती है १. मेदक, २. प्रसन्ना, ३. आसव, ४. अरिष्ट, ५. मैरेय और ६. मधु।
- (११) एक द्रोण जल, आधा आढक चावल और तीन प्रस्थ सुराबीज (किण्व), इनके मेल से जो शराब बनाई जाती है उसका नाम मेदक है।
- (१२) बारह आढक चावल की पिट्टी, पाँच प्रस्थ सुराबीज अथवा उसी जगह पुत्रक (व क्ष) की छाल तथा फलों सहित जाति-संभार मिलाकर प्रसन्ना शराब तैयार की जाती है।
- (१३) सौ पल कैथफल का सार, पाँच सौ पल राब और एक प्रस्थ शहद को एक साथ मिलाकर आसव शराब बनाई जाती है। उक्त वस्तुओं के योग को यदि सवापण कर दिया जाये तो उत्तम आसव और पौना कर दिया जाये तो घटिया आसव कहा जाता है।
- (१४) प्रत्येक रोग का अरिष्ट उसी प्रकार तैयार किया जाना चाहिये, जैसा कि रोग के अनुसार वैद्य बतलाये।
- (१५) मेढासिंगी की छाल का क्वाथ बनाकर उसमें गुड़, पीपल और मिर्च का चूर्ण या पीपल, मिर्च की जगह त्रिफला का पूर्ण किलाया जाये तो मैरेय शराब तैयार हो जाती है। गुड़ वाली सभी शराबों में त्रिफला का चूर्ण मिलाना आवश्यक है।
- (१६) दाख या अंगूर के रस से जो शराब बनाई जाती है उसी का नाम मधु है। अपने देश में उसके दो नाम हैं : कापिशायन और हारहूरक।
- (१७) एक द्रोण उड़द का कल्क, उसका तीसरा भाग चावल और एक-एक कर्ष मोरटा आदि वस्तुएं एक साथ मिलाकर किण्व सुरा बनती है, उसी को मद्यबीज या सुराबीज भी कहते हैं।
- (१८) पाठा, लोध, गजपीपल, इलाइची, इत्र, मुलहटी, दूध, केशर, दारुहल्दी, मिर्च और पीपल, इन सब चीजों का पाँच-पाँच कर्ष मिला देने से सम्भारयोग तैयार होता है, जो मेदक और प्रसन्ना सुरा में मिलाया जाता है। मुलहटी के काढ़े में रबादार शक्कर मिलाकर यदि मेदक तथा प्रसन्ना में छोड़ दिया जाये तो उनका रंग निखर आता है।
- (१९) दालचीनी, चीता, बायविडंग और गजपीपल का एक-एक कर्ष, सुपारी, मुलहटी मोथा तथा लोध का दो-दो कर्ष लेकर इन सब को आपस में मिला दिया जाये तो आसव सुरा का मसाला बन जाता है। दालचीनी आदि उक्त वस्तुओं का दसवां भाग बीजबन्ध कहलाता है।
- (२०) प्रसन्ना नामक सुरा का जो योग बताया गया है वही श्वेतसुरा का भी समझना चाहिये।
- (२१) सुरा के चार भेद हैं : १. सहकारसुरा, २. रसोत्तरा, ३. बीजोत्तरा, इसी को महासुरा भी कहते हैं और ४. संभारिकी।

- (२२) इन सभी शराबों की सफाई एवं निखार का तरीका इस प्रकार है : मरोरफली, पलाश, लोहमारक, मेढासिंगी, कर जवा तथा क्षीर व क्ष के काढ़े में भावना दिया गया गर्म रवादार शक्कर का चूरा, उसका आधार लोध, चीता, बायविङ्ग, पाठा, मोथा कलिंगज जौ, दारु-हल्दी, कमल, सौंफ, चिरचिड़ा, सप्तपर्ण, नीव और आखे का फूल, इन सबका पिसा हुआ चूर्ण एकत्र करके यदि उसकी एक मुट्ठी, एक खारी परिमाण शराब में डाल दी जाये तो शराब का रंग इतना निखर उठता है कि वह राजाओं तक को मोहित कर लेती है। स्वाद बढ़ाने के लिए उसमें पांच पल राब अधिक मिला देनी चाहिये।
- (२३) नगर तथा जनपद के निवासी विवाह आदि उत्सवों में श्वेतसुरा और दवाई के लिए आसव अथवा मेदक आदि सुरा अपने घर में बना सकते हैं।
- (२४) उत्सवों में, मित्र-बन्धुओं के समाज में और तीर्थयात्रा के अवसर पर, सुरा के अध्यक्ष को चार दिन तक सुरा पीने की इजाजत दे देनी चाहिये। यदि इन उत्सवों में कोई भी व्यक्ति बिना आज्ञा प्राप्त किये शराब पिये पकड़ा जाये तो उत्सव समाप्त होने पर उसको यथोचित दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (२५) सुरा को बनाने एवं उसका मसाला तैयार करने के लिए स्त्रियों और बालकों को नियुक्त करना चाहिये।
- (२६) बिना राजाज्ञा के जो व्यक्ति उत्सवों के अवसर पर शराब बेचें वे साधारण शराब, मेदक, अरिष्ट, मधु, ताड़ी और रसोत्तरा आदि सुराओं का पाँच प्रतिशत शुल्क अदा करें।
- (२७) इस शुल्क की अदायगी के अतिरिक्त सुराध्यक्ष दैनिक बिक्री और तोल-माप की उचित जानकारी प्राप्त कर नाप-तौल पर सोलहवाँ हिस्सा और नकद आमदनी पर बीसवाँ हिस्सा टैक्स वसूल करे, किन्तु उनके साथ सदा ही उचित व्यवहार बर्ताव बनाये रखे।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में सुराध्यक्ष नामक पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २६

सूनाध्यक्षः

- (१) सूनाध्यक्षः प्रदिष्टाभयानामभयवनवासिनां च म गपशुपक्षिमत्स्यानां बन्धवधर्हिंसायामुत्तमं दण्डं कारयेत्। कुटुम्बिनामभयवनपरिग्रहेषु मध्यमम्।
- (२) अप्रव त्तवधानां मत्स्यपक्षिणां बन्धवधर्हिंसायां पादोनसप्तविंशतिपणमत्ययं कुर्यात्, म गपशूनां द्विगुणम्।
- (३) प्रव त्तर्हिंसानामपरिग हीतानां षड्भागं ग हणीयात्। मत्स्यपक्षिणां दशभागं वाधिकं, म गपशूनां शुल्कं वाधिकम्।
- (४) पक्षिम गाणां जीवत्वड्भागमभयवनेषु प्रमु चेत्।
- (५) सामुद्रहस्त्यश्वपुरुषव षगर्दभाकृतयो मत्स्याः सारसा नादेयास्तटाककुल्योद्भवा वा, क्रौ चोत्क्रोशकदात्यूहहंसचक्रवाकजीव जीवकभ ड्गराजचकोरमतकोकिलमयूरशुक-मदनशारिका विहारपक्षिणो मङ्गल्याश्वा न्ये पि प्राणिनः पक्षिम गा र्हिंसाबाधेभ्यो रक्ष्याः। रक्षातिक्रमे पूर्वः साहसदण्डः।
- (६) म गपशूनामनस्थिमांसं सद्योहतं विक्रीणीरन्। अस्थितः प्रतिपातं दद्युः। तुलाहीने हीनाष्टगुणम्।
- (७) वत्सो व षो धेनुश्चैषामवध्याः। घ्नतः प चाशत्को दण्डः। क्लिष्टघातं घातयतश्च।
- (८) परिसूनमशिरःपादास्थि विगन्धं स्वयंम तं च न विक्रीणीरन्। अन्यथा द्वादशपणो दण्डः।
- (९) दुष्टाः पशुम गव्याला मत्स्याश्वाभयचारिणः।
अन्यत्र गुप्तिस्थानेभ्यो वधबन्धमवाप्नुयुः।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे सुनाध्यक्षो नाम षड्विंशो ध्यायः, आदितोः षट्चत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) सरकारी जंगलों या ऋषियों के आश्रमों में रहने वाले ऐसे म ग, गेंडा, भैंसा, मोर तथा मछलियाँ, जिनको मारने-पकड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है, कोई भी व्यक्ति उनको मारे, पकड़े या क्षति पहुँचाये तो सून (वधस्थान) का अध्यक्ष उसे उत्तम साहस दण्ड दिलवाये। कोई राजपरिवार के व्यक्ति इस आज्ञा का उल्लंघन करें तो उन्हें मध्यम साहस दण्ड देना चाहिये।
- (२) पक्षी और मछली जैसे अर्हिंसक प्राणियों को पकड़ने, प्रहार करने या मारनेवाले व्यक्ति को पौने सत्ताईस पण का दण्ड दिया जाये। जो व्यक्ति म ग और पशुओं का वध करे उसको दुगुना दण्ड दिया जाये।
- (३) जो हिंसक जानवर हों, जिनका कोई मालिक न हो, जो सरकारी जंगलों या ऋषि-आश्रमों के न हों, उनका जो शिकार करे उससे सूनाध्यक्ष छटा हिस्सा सरकारी टैक्स के रूप में ले ले। इसी प्रकार मछली तथा पक्षियों का दसवाँ हिस्सा या उससे कुछ अधिक और म ग आदि, पशुओं का भी दसवाँ हिस्सा या कुछ अधिक राजभाग ले लेना चाहिये।
- (४) अरक्षित जंगलों से पकड़े हुए पक्षी और म ग आदि का छटा भाग लेकर उन्हें सरकारी जंगलों में छोड़ देना चाहिये।

- (५) समुद्र में पैदा होने वाले; हाथी, घोड़े, पुरुष, बैल, गधा आदि की आकृति वाले मत्स्य, सारस आदि जलचर प्राणी; तालाबों, झीलों, नदियों एवं नहरों में पैदा होने वाली मछलियाँ, क्रोंच, टिटहरी, जलकौवा, हंस, चक्रवाक, जीवन्जीवक, भंगराज, चकोर, मत्तकोकिल, मोर, तोता, मदन मैना और बुलबुल, तीतर, बटेर तथा मुर्गा आदि क्रीड़ायोग्य पक्षियों की रक्षा करनी चाहिये। इनको कोई मारे, पकड़े तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (६) म ग और पशुओं का हड्डी-रहित ताजा मांस बाजार में बेचना चाहिये। मांस यदि हड्डी सहित हो तो हड्डी के वजन का अधिक मांस दिया जाना चाहिये। यदि मांस तोलने में कपट किया जाये तो तौलने वाले से आठ गुना मांस दण्डरूप में वसूल करना चाहिये, जिसमें आठवाँ हिस्सा खरीददार का और बाकी सात हिस्से सूनाध्यक्ष के हैं।
- (७) पशुओं में म ग, बछड़ा, साँड और गाय, इन्हें कभी न मारना चाहिये। जो व्यक्ति उनमें से किसी एक को भी मारे वह पचास पण का दण्डभागी है। दूसरे पशुओं को यातना देकर मारने वाले व्यक्तियों पर भी पचास पण जुर्माना करना चाहिये।
- (८) कसाईखाने से बाहर मारे हुए जानवरों का मांस, शिर, पैर तथा हड्डी-रहित मांस, बदबू वाला मांस, रोग आदि के कारण स्वयं मरे हुए जानवर का मांस बाजारों में न बेचा जाये। जो इस नियम का उल्लंघन करता हुआ पकड़ा जाये उस पर बारह पण जुर्माना कर दिया जाये।
- (९) राज-रक्षित जंगलों के हमलावर जानवर, नीलगाय, पशु, म ग और मछली आदि वनचर-जलचर प्राणी यदि सुरक्षित जंगलों से बाहर चले जायें तो उनको मारा या पकड़ा जा सकता है। अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २७

गणिकाध्यक्षः

- (१) गणिकाध्यक्षो गणिकान्वयामगणिकान्वयां वा रूपयौवनशिल्पसम्पन्नां सहस्रेण गणिकां कारयेत्। कुटुम्बार्धेन प्रतिगणिकाम्।
- (२) निष्पतिताप्रेतयोर्दुहिता भगिनी वा कुटुम्बं भरेत्। तन्माता वा प्रतिगणिकां स्थापयेत्। तासामभावे राजा हरेत्।
- (३) सौभाग्यालङ्कारवद्दद्या सहस्रेण वारं कनिष्ठं मध्यममुत्तमं वारोपयेत्। छत्रभङ्गारव्यजनशिबिकापीठिकारथेषु च विशेषार्थम्।
- (४) सौभाग्यभङ्गे मातृकां कुर्यात्।
- (५) निष्क्रयश्चतुर्विंशतिसाहस्रो गणिकायाः। द्वादशसाहस्रो गणिकापुत्रस्य। अष्टवर्षात्प्रभृति राज्ञः कुशीलवकर्म कुर्यात्।
- (६) गणिकादासी भग्नभोगा कोष्ठागारे महानसे वा कर्म कुर्यात्। अविशन्ती सपादपणमवरुद्धा मासवेतनं दद्यात्।
- (७) भोगं दायमायं व्ययमायतिं च गणिकाया निबन्धयेत्। अतिव्ययकर्म च वारयेत्।
- (८) मातृ हस्तादन्यत्राभरणन्यासे सपादचतुष्पणो दण्डः। स्वापतेयं विक्रयमाधानं नयन्त्याः सपादप चाशत्पणो दण्डः।
- (९) चतुर्विंशतिपणो वाक्पारुष्ये। द्विगुणो दण्डपारुष्ये। सपादप चाशत्पणः प्रणोर्धपणश्च कर्णच्छेदने।
- (१०) अकामायाः कुमारी वा साहसे उत्तमो दण्डः। सकामायाः पूर्वः साहसदण्डः।
- (११) गणिकामकामां रुन्धतो निष्पातयतो वा व्रणविदारणेन वा रूपमुपघ्नतः सहस्रदण्डः। स्थानविशेषेण वा दण्डवद्विरानिष्क्रयद्विगुणात् पणसहस्रं वा दण्डः।
- (१२) प्राप्तधिकारां गणिकां घातयतो निष्क्रयात्त्रिगुणो दण्डः। मातृ कादुहित कारूपदासीनां घात उत्तमः साहसदण्डः।
- (१३) सर्वत्र। प्रथमे पराधे प्रथमः, द्वितीये द्विगुणः, तृतीये त्रिगुणः, चतुर्थे यथाकामी स्यात्।
- (१४) राजाज्ञया पुरुषमनभिगच्छन्ती गणिका शिफासहस्रं लभेत, पचसहस्रं वा दण्डः।
- (१५) भोगं गृहीत्वा द्विषत्या भोगद्विगुणो दण्डः। वसतिभोगापहारे भोगमष्टगुणं दद्यात्, अन्यत्र व्याधिपुरुषदोषेभ्यः।
- (१६) पुरुषं घ्नत्याश्चिताप्रतापो षु प्रवेशनं वा।
- (१७) गणिकाभरणमर्थं भोगं वा पहरतो ष्टगुणो दण्डः। गणिका भोगमायतिं पुरुषं च निवेदयेत्।
- (१८) एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिकचारणस्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियो गूढाजीवाश्च व्याख्याताः।
- (१९) तेषां तूर्यमागन्तुकं पचपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्।
- (२०) रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मासं दद्युः।

- (२१) गीतवाद्यपाठ्यन तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुम दङ्गपरचितज्ञानगन्धमाल्यसंयूहनसम्पादन-संवाहनवैशिककलाज्ञानानि गणिका दासी रङ्गोपजीविनीश्च ग्राहयतो राजमण्डलादाजीवं कुर्यात्।
- (२२) गणिकापुत्रान् रंगोपजीविनीश्च मुख्यान् निष्पादयेयुः सर्वतालावचराणां च।
- (२३) संज्ञाभाषान्तरज्ञाश्च स्त्रियस्तेषामनात्मसु।
चारघातप्रमादार्थं प्रयोज्या बन्धुवाहनाः।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे गणिकाध्यक्षो नाम सप्तविंशो ध्यायः, आदितः सप्तचत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) वेश्यालयों की व्यवस्था करने वाले राजकीय अधिकारी को चाहिये कि रूप, यौवन से सम्पन्न एवं गायन-वादन में निपुण स्त्री को, चाहे वह वेश्याकुल से सम्बद्ध हो या न हो, एक हजार पण देकर गणिका (वेश्या) के कार्य पर नियुक्त करे। इसी प्रकार दूसरी गणिकाओं को नियुक्त किया जाये और एक सहस्र पण में से आधा उन्हें तथा आधा उनके परिवार को दे दिया जाये।
- (२) यदि कोई गणिका दूसरी जगह चली जाये या मर जाये तो उसकी जगह उसकी लड़की या बहिन नियुक्त होकर परिवार का पोषण करे अथवा उसकी माता उसकी जगह किसी दूसरी गणिका को नियुक्त करे। यदि ऐसा भी सम्भव न हो सके तो उसकी सम्पत्ति को राजा ले ले।
- (३) वेश्याओं की तीन श्रेणियां हैं : १. कनिष्ठ, २. मध्यम और ३. उत्तम। सौन्दर्य तथा सजावट में सबसे कनिष्ठ वेश्या का वेतन एक हजार पण, सौन्दर्य तथा सजावट में उससे अच्छी मध्यम वेश्या का वेतन दो हजार पण, और हर एक बात में चतुर उत्तम वेश्या का वेतन तीन हजार पण होता है। कनिष्ठ वेश्या छत्र तथा इत्रदान लेकर राजा की सेवा करे, मध्यम वेश्या पालकी के साथ रहकर राजा को व्यजन करे और उत्तम वेश्या राजसिंहासन तथा रथ आदि के निकट रहकर राजा की परिचर्या करे।
- (४) जब गणिकाओं का सौन्दर्य जाता रहे और उनकी जवानी ढल जाये, तब उन्हें खाला (मात का) के स्थान पर नियुक्त कर देना चाहिये।
- (५) जो गणिकाएं राजवत्ति से अपने को मुक्त करना चाहें, वे राजा को चौबीस हजार पण देकर स्वतन्त्र हो सकती हैं। यदि वेश्यापुत्र राजसेवा से निवृत्त होना चाहे तो वह बारह हजार पण अदा करे। यदि वह मुक्त होने का मूल्य अदा करने में असमर्थ हो तो आठ वर्ष तक राजा के यहाँ चारण का कार्य कर अपने आपको मुक्त कर सकता है।
- (६) वेश्या की दासी जब बूढ़ी हो जाये तो उसे कोष्ठागार या रसोई के कार्य में नियुक्त कर देना चाहिये। यदि वह काम न करना चाहे और किसी पुरुष की स्त्री बन कर रहना चाहे, वह प्रतिमास उस गणिका को सवा पण वेतन दे।
- (७) गणिकाध्यक्ष को चाहिये कि वह वेश्याओं के भोगधन, माता से मिला धन, संभोग के अतिरिक्त आमदनी और भावी-प्रभाव आदि को रजिस्टर में दर्ज करता रहे, और उन्हें अधिक खर्च करने से रोकता रहे।
- (८) यदि गणिका अपने आभूषणों को अपनी माता के सिवा किसी दूसरे के हाथ सौंपे तो उसे सवा चार पण दण्ड दिया जाये। यदि वह अपने गहने, कपड़े, बर्तन आदि को बेचे या गिरवी रखे तो उस पर सवा पचास पण का दण्ड किया जाये।

- (६) यदि वह किसी के साथ कठोरता का बर्ताव करे तो उसे चौबीस पण का दण्ड दिया जाये। यदि वह हाथ, पैर, लाठी आदि से प्रहार करे तो दुगुना दण्ड दिया जाये। यदि वह किसी का कान, हाथ काट ले तो उसे पौने बावन पण का दण्ड दिया जाये।
- (१०) यदि कोई पुरुष कामनारहित कुमारी पर बलात्कार करे तो उसे उत्तम साहस दण्ड देना चाहिये। जो इच्छा करने वाली कुमारी के साथ संभोग करे उसे भी प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (११) जो पुरुष किसी कामनारहित वेश्या को जबरदस्ती अपने घर में रोक कर रखे या कोई चोट तथा घाव कर उसके रूप को क्षति पहुंचाये उस पुरुष को एक हजार पण से दण्डित करना चाहिये। शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों को चोट पहुंचाने पर, उन-उन स्थानों की विशेषताओं के अनुसार अधिक दण्ड दिया जा सकता है, यह दण्ड-राशि अड़तालीस हजार पण तक ली जा सकती है।
- (१२) राजा की सेवा में नियुक्त वेश्याओं को मारने वाले व्यक्ति पर बहतर हजार पण दण्ड किया जाये। खाला, वेश्यापुत्री और वेश्या को मारने-पीटने वाले को उत्तम साहस दण्ड दिया जाये।
- (१३) पूर्वोक्त सारी दण्ड-व्यवस्था एक बार अपराध करने वालों के लिए निर्दिष्ट है। यह कोई अपराधी उसी अपराध को दुहराये तो दुगुना दण्ड, तिहराये तो तिगुना दण्ड, और चौथी बार भी उसी अपराध को करे तो चौगुना दण्ड अथवा सर्वस्वहरण, देश निकाला आदि जो भी उचित हो, उसे दण्ड दिया जाये।
- (१४) राजा की आज्ञा होने पर यदि कोई वेश्या किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास जाने से इन्कार कर दे तो उस पर एक हजार कोड़े लगवाये जायें अथवा उस पर पाँच हजार पण जुर्माना किया जाये।
- (१५) यदि कोई वेश्या संभोग-शुल्क लेकर धोखा कर दे तो उस पर संभोग-शुल्क से दुगुना जुर्माना करना चाहिये। यदि पूरी रात का शुल्क लेकर गणिका किस्सा-कहानियों या दूसरे बहानों में ही सारी रात टाल दे तो उस पर शुल्क का आठ गुना दण्ड किया जाना चाहिये, किसी संक्रामक रोग या किसी दोष के कारण गणिका यदि संभोग कराने को तैयार न हो तो उसे अपराधिनी न समझा जाये।
- (१६) यदि कोई गणिका संभोग-शुल्क लेकर किसी पुरुष को मरवा डाले तो गणिका को उस पुरुष के साथ जीवित ही चिता में जला देना चाहिये, अथवा उसके गले में पत्थर बाँधकर उसको पानी में डुबो देना चाहिये।
- (१७) यदि कोई पुरुष किसी गणिका के वस्त्र, आभरण या संभोग से प्राप्त धन को चुरा ले तो उसे उस धन का आठ गुना दण्ड दिया जाये। गणिका को चाहिये कि वह अपने संभोग, अपनी आमदनी और अपने साथ रहने वाले पुरुष की सूचना गणिकाध्यक्ष को बराबर देती रहे।
- (१८) यही दण्ड-विधान और यही व्यवस्था उन लोगों के लिये भी है जो नट, नर्तक, गायक, वादक, कथावाचक, कुशीलव, प्लवक, जादूगर, चारण हैं तथा जो कोई भी स्त्रियों द्वारा जीविका-निर्वाह करते हैं, और वे स्त्रियाँ जो छिपकर व्यभिचार करती हैं।
- (१९) बाहर से आई हुई नट-मण्डली प्रत्येक खेल पर पाँच पण राजकर के रूप में अदा करे।
- (२०) रूप से जीविका कमाने वाली वेश्या अपनी मासिक आमदनी के हिसाब से दो दिन की कमाई कर रूप में राजा को दे।
- (२१) गाना, बजाना, नाचना, नाटक करना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणावेणु-म दंग बजाना,

दूसरे के मन को पहचानना, सुगन्धित द्रव्यों को बनाना, माला रूँथना, पैर दबाना, शरीर सजाना आदि कार्यों में निपुण लोगों की और गणिका, दासी तथा नर्तकियों को कलाओं का ज्ञान देने वाले आचार्यों की आजीविका का प्रबन्ध नगरों तथा गांवों से आने वाली आय द्वारा किया जाना चाहिये।

- (२२) वेश्यापुत्रों, नाचने-गाने वालों और इसी प्रकार के अन्य लोगों को वेश्याओं का शिक्षक नियुक्त करना चाहिये।
- (२३) नट-नर्तक आदि पुरुषों को धन का लालच देकर राजा अपने वश में कर ले और तब, अनेक भाषार्य बोलने वाली तथा अनेक प्रकार के वेश बनाने वाली उनकी स्त्रियों को शुत्र के गुप्तचरों का वध करने अथवा उनको विषयवासनाओं में फँसाने के लिये नियुक्त कर दे।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में गणिकाध्यक्ष नामक सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २८

नावध्यक्षः

- (१) नावध्यक्षः समुद्रसंयाननदीमुखतरप्रचारान् देवसरोविसरोनदीतरांश्च स्थानीयादिष्ववेक्षेत।
- (२) तद्वेलाकूलग्रामाः क्ल प्तं दद्युः।
- (३) मत्स्यबन्धका नौकाभाटकं षड्भागं दद्युः। पत्तनानुव त्तं शुल्कभागं वणिजो दद्युः। यात्रावेतनं राजनौभिः सम्पतन्तः शंखमुक्ताग्राहिणो नौभाटकं दद्युः, स्वनौभिर्वा तरेयुः।
- (४) अध्यक्षश्चैषां खन्यध्यक्षेण व्याख्यातः।
- (५) पत्तनाध्यक्षनिबन्धं पण्यपत्तनचारित्रं नावध्यक्षः पालयेत्।
- (६) मूढवाताहतां तां पितेवान ग हणीयात्। उदकप्राप्तं पण्यशुल्कमर्घशुल्कं वा कुर्यात्।
- (७) यथानिर्दिष्टाश्चैताः पण्यपत्तनयात्राकालेषु प्रेषयेत्। संयान्तीर्नावः क्षेत्रानुगताः शुल्कं याचेत। हिंस्रिका निर्घातयेद्, अमित्रविषयातिगाः पण्यपत्तनचारित्रोपघातिकाश्च।
- (८) शासकनियामकदात्ररश्मिग्राहकोत्सेचकाधिष्ठिताश्च महानावो हेमन्तग्रीष्मतार्यासु महानदीषु प्रयोजयेत्। क्षुद्रिकाः क्षुद्रिकासु वर्षास्त्राविणीषु।
- (९) बद्धतीर्थाश्चैताः कार्याः राजद्विष्टकारिणां तरणभयात्। अकाले तीर्थे च तरतः पूर्वः साहसदण्डः।
- (१०) अकाले तीर्थे चानिस ष्टतारिणः पादोनसप्तविंशतिपणस्तारात्ययः।
- (११) कैवर्त काष्ठत णभारपुष्पफलवाटषण्डगोपालकानामनत्ययः सम्भाव्यदूतानुपातिनां च सेनाभाण्डप्रचारप्रयोगाणां च। स्वतरणैस्तरताम्। बीजभक्तद्रव्योपस्करांश्चानूपग्रामाणां तारयताम्।
- (१२) ब्राह्मणप्रव्रजितबालव द्व्यधितशासनहरगर्भिण्यो नावध्यक्षमुद्राभिस्तरैयुः।
- (१३) कृतप्रवेशाः पारविषयिकाः सार्थप्रमाणाः प्रविशेयुः।
- (१४) परस्य भार्या कन्यां वित्तं वापहरन्तं शंकितमाविग्नुमुद्भाण्डीकृतं महाभाण्डेन मूर्ध्नि भारेणावच्छादयन्तं सद्योग हीतलिङ्गिनमलिङ्गिनं वा प्रव्रजितमलक्ष्यव्याधितं भयविकारिणं गूढसारभाण्डशासनशस्त्राग्नियोगं विषहस्तं दीर्घपथिकमुद्रं चोपग्राहयेत्।
- (१५) क्षुद्रपशुर्मनुष्यश्च सभारो माषकं दद्यात्। शिरोभारः कायभारो गवाश्वं च द्वौ। उष्ट्रमहिषं चतुरः। प च लघुयानम्। षड् गोलिङ्गम्। सप्त शकटम्। पण्यभारः पादम्।
- (१६) तेन भाण्डभारो व्याख्यातः। द्विगुणो महानदीषु तरः।
- (१७) क्ल प्तमानूपग्रामा भक्तवेतनं दद्युः।
- (१८) प्रत्यन्तेषु तराः शुल्कमातिवाहिकं वर्तनीं च ग हणीयुः। निर्गच्छतश्चामुद्रस्य भाण्डं हरेयुः। अतिभारेणावेलायामतीर्थे तरतश्च।
- (१९) पुरुषोपकरणहीनायामसंस्कृतायां वा नावि विपन्नायां नावध्यक्षो नष्टं विनष्टं वाभ्यावहेत्।
- (२०) सप्ताहव तामाषाढी कार्तिकी चान्तरा तरः।
कार्मिकप्रत्ययं दद्यान्नित्यं चाहिनकमावहेत्।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे नावध्यक्षो नाम अष्टाविंशो ध्यायः, आदितो ष्टचत्वारिंशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) नौका-परिवहन के अधिकारी को चाहिये कि वह समुद्र तट की समीपवर्ती नदी को, समुद्र के नौका-मार्गों को, झीलों, तालाबों और गाँव के छोटे-छोटे जलीय मार्गों को भली-भाँति देखता रहे।
- (२) समुद्र, झील तथा नदियों के किनारों पर बसे हुए ग्रामीणों को चाहिये कि वे राजा को नियत कर दें।
- (३) मछुआरों को चाहिये कि वे अपनी आमदनी का छठा हिस्सा कर रूप में राजा को दें। समुद्र तट के व्यापारी, बन्दरगाहों के नियमानुसार माल के मूल्य का पाँचवां या छठा भाग टैक्स दें। सरकारी नौकाओं द्वारा माल लाने-ले जाने का भाड़ा वे अलग से दें। इसी प्रकार शंख और मोती ले जाने वाले व्यापारी नाव का भाड़ा अलग से दें, अथवा सरकारी नौकाओं का उपयोग न कर वे निजी नौकाओं से पार उतरें।
- (४) मछली, मोती और शंख आदि सामुद्रिक वस्तुओं के सम्बन्ध में खानों के अध्यक्ष की ही भाँति, नाव का अध्यक्ष भी प्रबन्ध करे या उसी व्यवस्था को लागू करे।
- (५) नगराध्यक्ष द्वारा नियत किये गये बन्दरगाह-सम्बन्धी नियमों को नावध्यक्ष भली-भाँति पालन करे।
- (६) दिशाओं का अन्दाज न रह जाने के कारण या तूफान में फँस जाने के कारण डूबती हुई नौका को अध्यक्ष, पिता के समान अनुग्रह करके बचाये। पानी लग जाने के कारण नुकसान हुए माल का टैक्स माफ कर देना चाहिये या नुकसान को देखते हुए आधा ही टैक्स लेना चाहिये।
- (७) निःशुल्क या आधे शुल्क वाली नौकाओं को बन्दरगाहों की ओर यात्रा करने के समय में भेज दिया जाये या छोड़ दिया जाये। चलती हुई नौकाएं जब चुंगी पर पहुंच जायें तब उनकी चुंगी वसूल की जाये। चोर-डाकुओं की नौकाओं को नष्ट कर दिया जाये। जो नौकाएँ शत्रुदेश की ओर जाती हों या तो व्यापार-नियमों का उल्लंघन करती हों, उन्हें भी तहस-नहस कर दिया जाये।
- (८) नाव का कप्तान, नावचालक, लंगड़ डालने वाला, रस्सी या पतवार पकड़ने वाला और नौका में भरे हुए पानी को उलीचने वाला, इन पाँच कर्मचारियों के रहने पर ही बड़ी-बड़ी नौकाओं को गर्मी तथा सर्दी में समान रूप से बहने वाली बड़ी-बड़ी नदियों में चलाने की आज्ञा देनी चाहिये। बरसाती नदियों में चलाने के लिए अलग नौकायें होनी चाहियें।
- (९) इन बड़ी नौकाओं के ठहरने के लिए नियत बन्दरगाह होने चाहिये और उन पर पूरी निगरानी रखी जानी चाहिये, जिससे किसी शत्रु राजा के गुप्तचर उनमें प्रवेश न कर सकें।
- (१०) कोई भी नाव वाला यदि अनिश्चित समय में ही अनियमित मार्ग से घाट के आर-पार जाये तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त ठीक समय पर और नियत घाट से बिना आज्ञा नाव पार करने वाले व्यक्ति पर पौने सत्ताईस पण दण्ड निर्धारित किया जाये।
- (११) धीवर, लकड़हारे, घसियारे, माली, कुंजड़े, खेतों के रखवाले, चोर के डर से पीछे जाने वाले, राजदूत के पीछे शेष कार्य को पूरा करने के लिए जाने वाली सेना, सैनिक सामग्री और गुप्तपुरुषों को बिना समय एवं बिना आज्ञा ही नदी पार करने पर कोई दण्ड न दिया जाना चाहिये। अपनी नाव से नदी पार करने वाले व्यक्तियों पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। बीज, कर्मचारियों को भोजन-सामग्री, फल, फूल, शाक और मसाला आदि सामान को पार ले जाने वाले व्यक्ति भी दण्ड से मुक्त समझे जायें।

- (१२) ब्राह्मण, संन्यासी, बालक, बीमार, राजदूत या हलकारा और गर्भवती स्त्री को नौकाध्यक्ष की मुहर देखकर ही, बिना भाड़ा के पार कर देना चाहिये।
- (१३) जिन परदेशियों को पासपोर्ट मिल गया हो अथवा पासपोर्ट प्राप्त व्यापारियों के साथ जिन-जिन व्यक्तियों को आने की अनुमति मिल गई हो, वे ही देश में प्रवेश कर सकते हैं।
- (१४) किसी की स्त्री, कन्या या किसी का धन चुरा कर भागने वाले व्यक्ति को आगे बताते हुये लक्षणों से पहचान कर फौरन गिरफ्तार करवा देना चाहिये। वे लक्षण इस प्रकार हैं : यदि वह चौकन्ना-सा नजर आये, ताकत से अधिक बोझा उठाये हो, सिर पर इस प्रकार घास-फूस फैलाये हो कि शकल न दिखाई दे, नकली संन्यासी का वेश बनाये हो, संन्यासी वेश बदल कर सादा वेश धारण कर ले, बिमारी का कोई चिह्न न होने पर भी अपने को बीमार जैसा लगाये, डर से मुख की रौनक उतरी हुई हो, बहुमूल्य वस्तुओं को छिपाये हो, गुप्त कागजातों को रखे हो, हथियार छिपाकर रखे हो, जहर आदि को रखे हो, अग्नियोग को छिपाये हो, दूर का सफर करता हो और पासपोर्ट प्राप्त किये बिना ही यात्रा करता हो।
- (१५) भेड़, बकरी आदि छोटे जानवरों का और जिस मनुष्य के पास हाथ में उठाने भर का बोझा हो, एक माषक भाड़ा दे। जिस पुरुष के पास सिर अथवा पीठ से उठाने योग्य बोझा हो और गाय, घोड़ा आदि पशुओं का, दो माषक भाड़ा दिया जाये। ऊँट और भैंस का चार माषक भाड़ा दिया जाना चाहिये। इसी प्रकार छोटी गाड़ी का पांच माषक, मझौली गाड़ी छह माषक और बड़ी बैलगाड़ी का सात माषक भाड़ा देना चाहिये। बीस तुला बोझ का एक चौथाई पण भाड़ा निर्धारित है।
- (१६) इसी हिसाब से भैंस या ऊँट आदि पर ढोये जाने वाले भार का भाड़ा समझ लेना चाहिये। बड़ी-बड़ी नदियों की उत्तराई इससे दुगुनी होनी चाहिये।
- (१७) नदियों के किनारे बसे हुए लोग सहकारी टैक्स के अतिरिक्त कुछ निर्धारित भत्ता या वेतन भी मल्लाहों को दें।
- (१८) पार उतारने वाले राजकीय मल्लाह सीमाप्रदेशों में व्यापारियों से मार्ग का टैक्स और अन्तपाल को दिया जाने वाला शुल्क भी अदा करें। जो व्यापारी बिना मुहर के माल को निकालते समय पकड़ा जाये उसका सारा माल जब्त कर लिया जाये। जो व्यक्ति, अनियमित भार असमय और बिना घाट के ही पार उतारने की कोशिश करे उसका भी सारा माल जब्त कर लिया जाये।
- (१९) मल्लाहों की असावधानी, अन्य आवश्यक साधनों से हीन और बिना मरम्मत की सरकारी नौका यदि डूब जाये तो यात्रियों का सारा हर्जाना नौकाध्यक्ष पूरा करे।
- (२०) आषाढी पूर्णिमा से लेकर कार्तिकी पूर्णिमा के एक सप्ताह बाद तक की अवधि के बीच बरसाती नदियों में नौका-कर लिया जाना चाहिये। प्रत्येक मल्लाह को चाहिये कि वह प्रतिदिन के कार्य का विवरण और दैनिक भाग नौकाध्यक्ष के सुपुर्द कर दे।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में नौकाध्यक्ष नामक अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय २६

गो ध्यक्षः

- (१) गो ध्यक्षो वेतनोपग्राहिकं करप्रतिकरं भग्नोत्स ष्टकं भागानुप्रविष्टकं ब्रजपर्यग्रं नष्टं विनष्टं क्षीरघ तस जातं चोपलभेत।
- (२) गोपालकपिण्डारकदोहकमन्थकलुब्धकाः शतं शतं धेनूनां हिरण्यम ताः पालयेयुः। क्षीरघ तम ता हि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोपग्राहिकम्।
- (३) जरद्गुधेनुगर्भिणीप्रष्टौहीवत्सतरीणां समविभागं रूपशतमेकः पालयेत्। घ तस्याष्टौ वारकान् पणिकं पुच्छं अङ्कचर्म च वार्षिकं दद्यादिति करप्रतिकरः।
- (४) व्याधितान्यङ्गानन्यदोहीदुर्दोहापुत्रघ्नीनां च समविभागं रूपशतं पालयन्तस्तज्जातिकं भागं दद्युरिति भग्नोत्स ष्टकम्।
- (५) परचक्राटवीभयादनुप्रविष्टानां पशूनां पालनधर्मेण दशभागं दद्युरिति भागानुप्रविष्टकम्।
- (६) वत्सा वत्सतरा दम्या वहिनो व षा उक्षाणश्चपुंगवाः।
- (७) युगवाहनशकटवहा व षभाः सूनामहिषाः प ष्टस्कन्धवाहिनश्च महिषाः।
- (८) वत्सिका वत्सतरी प्रष्टौही गर्भिणी धेनुश्चाप्रजाता बन्ध्याश्च गावो महिष्यश्च। मासद्विमासजातास्तासामुपजा वत्सा वत्सिकाश्च। मासद्विमासजातानङ्कयेत्। मासद्विमासपर्युषितङ्कयेत्। अङ्कं चिह्नं वर्णं च ङ्गान्तरं च लक्षणम्, एवमुपजा निबन्धयेदिति ब्रजपर्यग्रम्।
- (९) चोरहृतमन्ययूथप्रविष्टमवलीनं वा नष्टम्।
- (१०) पङ्कविषमव्याधिजरातोयाधरावसन्नं व क्षतटकाष्टशिलाभिहतमीशानव्यालसर्पग्राहदावाग्निविपन्नं विनष्टम्। प्रमादादभ्यावहेयुः।
- (११) एवं रूपाग्रं विद्यात्।
- (१२) स्वयं हन्ता घातयिता हर्ता हारयिता च वध्यः। परपशूनां राजाङ्केन परिवर्तयिता रूपस्य पूर्व साहसदण्डं दद्यात्।
- (१३) स्वदेशीयानां चोरहृतं प्रत्यानीय पणिकं रूपं हरेत्। परदेशीयानां मोक्षयितार्थं हरेत्।
- (१४) बालव द्धव्याधितानां गोपालकाः प्रतिकुर्युः।
- (१५) लुब्धकश्वगणिभिरपास्तस्तेनव्यालपरबाधभयम तुविभक्तमरण्यं चारयेयुः।
- (१६) सर्पव्यालत्रासनार्थं गोचरानुपातज्ञानार्थं च त्रस्नूनां घण्टातूर्यं च बध्नीयुः।
- (१७) समब्यूढतीर्थमकर्मग्राहमुदकमवतारयेयुः पालयेयुश्च। स्तेनव्यालसर्पग्राहग हीतं व्याधिजरावसन्नं च आवेदयेयुरन्यथा रूपमूल्यं भजेरन्।
- (१८) कारणम तस्याङ्कचर्म गोमहिषस्य कर्णलक्षणमजाविकानां पुच्छमङ्कचर्म चाश्वखरोष्ट्राणां बालचर्मबस्तिपित्तस्नायुदन्तखुरश्च ङ्गास्थीनि चाहरेयुः।
- (१९) मांसमाममाद्रं शुष्कं वा विक्रीणीयुः। उदशिवत् श्ववराहेभ्यो दद्युः। कूर्चिकां सेनाभक्तरथमाहरेयुः। किलाटो घाणपिण्याकक्लेदार्थः।
- (२०) पशुविक्रेता पादिकं रूपं दद्यात्।

- (२१) वर्षाशरद्धेमन्तानुभयतः कालं दुह्युः। शिशिरवसन्तग्रीष्मानेककालम्। द्वितीयकाले दोग्धुरङ्गुष्ठच्छेदो दण्डः।
- (२२) दोहनकालमतिक्रामतस्तत्फलहानं दण्डः।
- (२३) एतेन नस्यदम्ययुगपिङ्गनवर्तनकाला व्याख्याताः।
- (२४) क्षीरद्रोणे गवां घ तप्रस्थः। प चभागाधिको महिषीणाम्। द्विभागाधिको जावीनाम्। मन्थो वा सर्वेषां प्रमाणं, भूमित णोदक- विशेषाद्धि क्षीरघ तव द्विर्भवति।
- (२५) यूथव षं व षेणावपातयतः पूर्वः साहसदण्डः, घातयत उत्तमः।
- (२६) वर्णावरोधेन दशतीरक्षाः। उपनिवेशदिग्विभागो गोप्रचाराद् बलान्वयतो वा गवां रक्षासामर्थ्याच्च। अजावीनां षाण्मासिकीमूर्णा ग्राहयेत्। तेनाश्वखरोष्ट्रवराहम्रजा व्याख्याता।
- (२७) बलीवर्दानां नस्याश्वभद्रगतिवाहिनां यवसस्यार्धभारः, त णस्य द्विगुणं, तुला घाणपिण्याकस्य, दशाढकं कणकुण्डकस्य, प चपलिकं मुखलवणं, तैलकुडुबो नस्यं, प्रस्थः पानम्। मांसतुला, दघ्नश्चाढकं, यवद्रोणं, माषाणां वा पुलाकः। क्षीरद्रोणमर्धाढकं वा सुरायाः, स्नेहप्रस्थः क्षारदशपलं श ङ्गिबेरपलं च प्रतिपानम्।
- (२८) पादोनमश्वतरगोखराणां, द्विगुणं महिषोष्ट्राणां कर्मकरबलीवर्दानाम्। पायनार्थं च धेनूनाम्। कर्मकालतः फलतश्च विधानम्। सर्वेषां त णोदकप्राकाम्यम्। इति गोमण्डलं व्याख्यातम्।
- (२९) प चर्षभं खराश्वानामजावीनां दर्शभम्।
शक्यं गोमहिषोष्ट्राणां यूथं कुर्याच्चतुर्वर्षम्।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे गो घ्यक्षो नाम एकोनत्रिंशो ध्यायः, आदित एकोनप चाशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) गो, भैंस आदि पालतू पशुओं की देख-रेख में नियुक्त अधिकारी (गो ध्यक्ष) को चाहिये कि वह १. वेतनीपग्राहिक, २. करप्रतिकर, ३. भग्नोत्स ष्टक, ४. भागानुप्रविष्टक, ५. ब्रजपर्यग्र, ६. नष्ट, ७. विनष्ट और ८. क्षीरघ तस जात, इन आठों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करें।
- (२) गायों को पालने वाले, भैंसों को पालने वाले, गाय, भैंस को दुहने वाले, दही को मथने वाले और हिंसक पशुओं से गाय, भैंस की रक्षा करने वाले, ये पाँच-पाँच व्यक्ति मिलकर सौ-सौ गाय, भैंसों का पालन करें। वेतन के रूप में इनको या तो नगद रुपया दिया जाये अथवा अन्न-वस्त्र दिये जायें; दूध, दही आदि में इनका कोई हिस्सा नहीं होना चाहिये, क्योंकि दूध, दही में इनका हिस्सा होने के कारण ये लोग बछड़ों को मार देते हैं गाय, भैंस आदि की रक्षा के इस उपाय का नाम वेतनोपग्राहिक है।
- (३) बूढ़ी, दूध देने वाली, गाभिन, पठोरी और बछिया, इन पाँच प्रकार की गायों को बीस-बीस के क्रम से सौ बनाकर उन्हें किसी चरवाहे को ठेके पर दिया जाये। इसके बदले में चरवाहा गौओं के मालिक को आठ वारक घी, एक-एक पशु के पीछे एक-एक पण, और सरकारी मुहर से युक्त मरे हुए पशु का एक अदद चमड़ा प्रतिवर्ष दिया करे; रक्षा के इस उपाय को करप्रतिकर कहते हैं।
- (४) बीमार, कानी, लंगड़ी, एकहथी, मुश्किल से दुही जाने योग्य और बच्चों को खाने वाली, इन पाँच प्रकार की गायों को भी पूर्ववत्, सौ बनाकर, किसी व्यक्ति को ठेके पर पालने के लिए दिया जाये। गोपालक को चाहिये कि वह स्थिति के अनुसार घी आदि का आधा या तिहाई हिस्सा मालिक को दे दिया करे; इस उपाय का नाम भग्नोत्स ष्टक है।

- (५) शत्रुओं अथवा चोरों के डर से जो गोपालक अपनी गायों को सरकारी चरागाह में ही बन्द करके रखें, उसको चाहिये कि वह, गायों की आमदनी का दसवाँ भाग राजा को अदा करे; गाय आदि की रक्षा के इस तौर-तरीके को भागनुप्रविष्टक कहते हैं।
- (६) दूध पीने वाला बछड़ा, बड़ा बछड़ा, कृषियोग्य बछड़ा, बोझा ढोने योग्य साँड, बिना बधिया किया हुआ साँड और हल जोतने योग्य बैल, ये छह प्रकार के बैल होते हैं।
- (७) जुवा, हल, गाड़ी आदि में जोते जाने योग्य भैंसा, साँड, मांस के उपयोग में आने वाले और बोझा ढोने योग्य, ये चार प्रकार के भैंसे होते हैं।
- (८) दूध पीने वाली बछिया, पठोरी, गाभिन, दूध देने वाली, अधेड़ और बाँझ, ये सात प्रकार की गाय-भैंसे हैं। उनके दो महीने या एक महीने के पैदा हुये बछड़ों को उपजा कहते हैं। उन लयेरु बछड़ों को लोहे के गर्म छल्लों से दाग देना चाहिये। दो मास तक सरकारी चरागाह में रहने वाली गाय-भैंसों को भी दाग देना चाहिये, उनके स्वामियों का पता लगे या न लगे। राजकीय मुहर अथवा छल्ले आदि से अंकित गाय-भैंसों तथा लयेरु बछड़ों के रंग, सींग आदि विशेष चिहनों का उल्लेख रजिस्टर में किया जाये। गायों की रक्षा के इस उपाय को व्रजपर्यग्र कहते हैं।
- (९) नष्ट गोधन तीन प्रकार का होता है : १. चोरों द्वारा अपहृत, २. दूसरे गोष्ठों में विलयित और ३. अपने गोष्ठ से भ्रष्ट; इसी अवस्था को नष्ट कहते हैं।
- (१०) दल-दल में फँसी, गढ़े में गिरी, बीमार, बूढ़ी पानी तथा आहार के अभाव में नष्ट, व क्ष तले दबी, चट्टान या शिलाओं से जख्मी, बिजली गिर जाने से नष्ट, हिंसक जानवरों से आक्रान्त, साँप, नाक्व या जंगली आग से नष्ट, गायों को विनष्ट कहते हैं। यदि इस प्रकार गाय आदि का विनाश गायों की असावधानी के कारण होवे तो उस हानि को वे स्वयं पूरा करें।
- (११) अध्यक्ष को चाहिये कि वह इन सभी बातों की पूरी जानकारी रखे।
- (१२) यदि कोई ग्वाला गाय को मारे, या किसी से मरवाये; उसकी चोरी करे या करवाये; तो उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिये। जो गाय भैंस सरकारी नहीं हैं उन पर राजकीय चिह्न कर उनके रूप को बदल देने वाले व्यक्ति को प्रथम साहस दण्ड दिया जाये।
- (१३) चोरों से चुराये गये अपने देश के पशुओं को जो व्यक्ति उनके वास्तविक स्वामियों को वापिस कर दे, मालिक से वह प्रति पशु के पीछे एक पण वसूल कर ले। चोरों से छुड़जाये गये परदेश के पशुओं का आधा हिस्सा मालिक का और आधा हिस्सा छुड़ाने वाले का होता है।
- (१४) गोपालकों को चाहिये कि वे, बछड़ों, बीमार और बूढ़े पशुओं की उचित परिचर्या करे।
- (१५) गोपालकों को चाहिये कि वे शिकारियों, बहेलियों, चोरों, हिंसकों और शत्रु की बाधाओं आदि से सावधान रह कर ऋतु के अनुसार सुरक्षित जंगलों में गायों को चरायें।
- (१६) सर्प एवं हिंसक पशुओं को डराने के लिए, चरागाह में गाय की पहचान के लिए और घबराने वाले पशुओं की गर्दन में लोहे की घंटी बाँध देनी चाहिये।
- (१७) पशुओं को पानी पिलाने एवं नहलाने के लिये ऐसे स्थान में उतारना चाहिये, जहाँ चोरस घाट बने हों और दलदल एवं हिंसक जलचर जन्तु दोनों न हों; गोपालक पूरी सावधानी से उनकी रक्षा करता रहे। गोपालकों का कर्तव्य है कि वे चोर, व्याघ्र, सांप एवं नाक्व आदि से आक्रान्त और बीमारी तथा बुढ़ापे से मरे हुए पशुओं की सूचना अध्यक्ष को दें, अन्यथा म तपशु के नुकसान का दायित्व उन पर समझा जायेगा।
- (१८) यदि भैंस मर गई हो तो उसका दगा हुआ चमड़ा; बकरी तथा भेड़ के चिह्नित कान, और घोड़ा, गधा एवं ऊँट की पूँछ लाकर ग्वाला, अध्यक्ष के सामने पेश करे; साथ ही वह मरे हुए

- पशु के बाल, चमड़ा, मूत्राशय, पित्ता, आँत, दाँत, खुर, सींग और हड्डी, इन सब चीजों को संग्रह करके रख ले।
- (१६) गीले या सूखे मांस को बेच देना चाहिये। मटा को कुत्तों और सूअरों में वितरित कर देना चाहिये। का जी को सैनिकों के लिए देना चाहिये। फटे हुए दूध को गाय भैंसों की सानी में डाल देना चाहिये।
- (२०) पशुओं का व्यापारी प्रत्येक पशु के पीछे, उसकी लागत का चतुर्थांश अध्यक्ष को दे।
- (२१) ग्वालों को चाहिये कि वे सावन, भादों, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष और पौष महीनों में गाय-भैंसों को दो समय दुहें। माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ में केवल सायंकाल ही दुहें।
- (२२) इन छह महीनों में गाय-भैंसों को दोनों समय दुहने वाले व्यक्ति का अंगूठा काट देना चाहिये। जो ग्वाला ठीक समय पर न दुहे, उसे उन दिन का वेतन न दिया जाये।
- (२३) इसी प्रकार जो व्यक्ति ठीक समय पर बैलों को न नाथे, ठीक समय पर नये बैलों को बाण पर न लगाये, नौसिखिये तथा पूरे बैल को एक साथ जोते, और बैलों को ठीक समय पर न सिखाये, उन्हें भी उस दिन का वेतन नहीं देना चाहिये।
- (२४) एक द्रोण गाय के दूध में एक प्रस्थ घी निकलता है। यदि एक द्रोण भैंस का दूध हो तो उसमें पांच प्रस्थ घी निकलता है। बकरी और भेड़ के एक द्रोण दूध में २/५ घी निकलता है। किसी भी पशु के दही को मथकर ही उसमें निकलने वाले घी का ठीक परिमाण निर्धारित किया जा सकता है। भूमि, घास, पानी आदि की अधिक सुविधा के ऊपर ही दूध-घी की वृद्धि निर्भर है।
- (२५) यदि कोई व्यक्ति गोष्ठ के सांड को किसी दूसरे सांड से लड़ाये तो उसको प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये, उसको मारे तब भी उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाये।
- (२६) एक रंग की दस गाएँ, इस प्रकार की दस वर्णों की सौ गायें करके किसी ग्वाले को रक्षा के लिए दे देनी चाहियें। गायों के रहने और चरने की नियमित व्यवस्था, उनकी तादाद को एवं उनकी सुरक्षा को देखकर ही करनी चाहिये। बकरी और भेड़ की ऊन छह मास बाद उतार लेनी चाहिये। गाय, भैंसों के अनुसार ही घोड़े, गधे, ऊँट और सूअरों की भी यथोचित व्यवस्था की जानी चाहिये।
- (२७) नथे हुए बैलों और घोड़ों के रथ पर जुते जाने वाले श्रेष्ठ बैलों को आधा भार हरी घास, उससे दुगुनी भूसी, दस आढक सानी, पांच पल नमक, एक कुडव तेल नाक में, एक प्रस्थ तेल पीने के लिये देना चाहिये, इसके अतिरिक्त सौ पल मांस एक आढक दही, एक द्रोण जौ या उड़द, इन सब चीजों का साँदा बनाकर भी दिया जाना चाहिये, एक द्रोण दूध या आधा आढक सुरा, एक प्रस्थ तेल या घी, दस पल गुड़ और एक पल सोठ, इन सबको एकत्र करके बैलों को देना चाहिये।
- (२८) बैलों की इस खुराक का चतुर्थांश कम खुराक खच्चरों तथा गधों को, बैलों की दुगुनी खुराक भैंसों, ऊँटों एवं खेतों में काम करने वाले बैलों को, दूध देने वाली गायों को, देनी चाहिये। काम करने वाले बैलों और दूध देने वाली गायों की खुराक उनके कार्य एवं दूध के औसत के अनुसार ही दी जानी चाहिये। सभी पशुओं को उनकी इच्छानुसार भरपेट घास-पानी देना चाहिये। यहां तक गो आदि पशुओं की आहार-व्यवस्था बताई गई।
- (२९) एक सौ गधही तथा घोड़ियों के झुण्ड में पांच घोड़े, सौ भेड़-बकरियों में दस बकरे, सौ-सौ गाय, भैंस तथा ऊँटों के झुण्डों में चार-चार साँड, छोड़ने चाहिये।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में गो ध्यक्ष नामक उन्तीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ३०

अश्वाध्यक्षः

- (१) अश्वाध्यक्षः पण्यागारिकं क्रयोपागतमाहवलब्धमाजातं साहाय्यागतं पणस्थितं यावत्कालिकं वाश्वपर्यग्रं कुलवयोवर्णचिह्नकर्मवर्गागमैर्लखयेत्।
- (२) अप्रशस्तन्यङ्गव्याधितांश्चावेदयेत्।
- (३) कोशकोष्ठागाराभ्यां च ग हीत्वा मासलाभमश्ववाहश्चिन्तयेत्।
- (४) अश्वविभवेनायतामश्वायामद्विगुणविस्तारां चतुर्द्वारोपावर्तनमध्यां सप्रग्रीवां प्रद्वारासनफलकयुक्तां वानरमयूरप पतनकुल- चकोरशुकशारिकाभिराकीर्णां शालां निवेशयेत्।
- (५) अश्वायामचतुरश्रलक्षणफलकास्तारं सखादनकोष्ठकं समूत्रपुरीषोत्सर्गमेकैकशः प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा स्थानं निवेशयेत्। शालावशेन वा दिग्विभागं कल्पयेत्। बडवाव षकिशोराणाम् एकान्तेषु।
- (६) बडवायाः प्रजातायास्त्रिरात्रं घ तप्रस्थपानम्। अत ऊर्ध्वं सक्तुप्रस्थः स्नेहमैषज्यप्रतिपानं दशरात्रं, ततः पुलाको यवसमार्तवश्चाहारः।
- (७) दशरात्रादूर्ध्वं किशोरस्य घ तचतुर्भागः सक्तुकुडवः क्षीरप्रस्थश्चाहार आ षण्मासादिति। ततः परं मासोत्तरमर्ध्वं द्विर्यवप्रस्थ आत्रिवर्षाद्, द्रोण आ चतुर्वर्षादिति। अत ऊर्ध्वं चतुर्वर्षः पंचवर्षो वा कर्मण्यः पूर्णप्रमाणः।
- (८) द्वात्रिंशदङ्गुलं मुखमुत्तमाश्वस्य, पश्वमुखान्यायामः, विंशत्यङ्गुला जङ्घां, चतुर्जङ्घ उत्सेधः। त्र्यङ्गुलावरं मध्यमावरयोः। शताङ्गुलः परिणाहः। प चभागावरं मध्यमावरयोः।
- (९) उत्तमाश्वस्य द्विद्रोणं शालित्रीहियवप्रियङ्गुणामर्धशुष्कमर्धसिद्धं वा मुद्गमाषाणां वा पुलाकः। स्नेहप्रस्थश्च। प चपलं लवणस्य। मांसं प चाशत्पलिकम्। रसस्याढकं द्विगुणं वा दध्नः पिण्डक्लेदनार्थम्। क्षारप चपलिकः सुरायाः प्रस्थः पयसो वा द्विगुणः प्रतिपानम्। दीर्घपथभारक्लान्तानां च खादनार्थं स्नेहप्रस्थो नुवासनम्। कुडुबो नस्यकर्मणः। यवसस्यार्धभारः, त णस्य द्विगुणः, षडरत्निपरिक्षेपः, पु जीलग्राहो वा।
- (१०) पादावरमेतन्मध्यमावरयोः। उत्तमसमो रथ्यो व षश्च मध्यमः। मध्यमसमश्चावरः पादहीनं वडवानां पारशमानां च। अतो र्धं किशोराणां च। इति विधायोगः।
- (११) विधापाचकसूत्रग्राहकचिकित्साः प्रतिस्वादभाजः।
- (१२) युद्धव्याधिजराकर्मक्षीणाः पिण्डगोचरिकाः स्युः। असमरप्रयोज्याः पौरजानपदानामर्थेन व षा बडवास्वायोज्याः।
- (१३) प्रयोज्यानामुत्तमाः काम्बोजकसैन्धवारट्टजवानायुजाः। मध्यमा बाह्लीकपापेयकसौवीरकतैतलाः। शेषाः प्रत्यवराः।
- (१४) तेषां तीक्ष्णभद्रमन्दवशेन सान्नाह्यमौपवाह्यकं वा कर्म प्रयोजयेत्। चतुरस्रं कर्माश्वस्य सान्नाह्यम्।
- (१५) वल्गानो नीचैर्गतो लंघनो धोरणो नारोष्ट्रश्चौपवाह्याः।
- (१६) तत्रौपवेणुको वर्धमानको यमक आलीढप्लुतः पूर्वगस्त्रिकचाली च वल्गनः।
- (१७) स एव शिरःकर्णविशुद्धो नीचैर्गतः, षोडशमार्गो वा। प्रकीर्णकः प्रकीर्णोत्तरो निषण्णः

पार्श्वानुव त्त ऊर्मिमार्गः शरभक्रीडितः शरभप्लुतः त्रितालो बाह्यानुव त्तः। प चपाणिः सिंहायतः
स्वाधूतः विलष्टः श्लिङ्गितो बंहितः पुष्पाभिकीर्णश्चेति नीचैर्गतमार्गाः।

- (१८) कपिप्लुतो भेकप्लुत एणप्लुत एकपादप्लुतः कोकिलस चार्युरस्यो बकचारी च लङ्घनः।
(१९) काङ्कोबारिकाङ्को मायूरो धर्मायूरो नाकुलो धर्नाकुलो वाराहो धवाराहश्चेति धोरणः।
(२०) संज्ञाप्रतिकारो नारोष्ट्र इति।
(२१) षण्णव द्वादशेति योजनान्यध्वा रथ्यानाम्। प चयोजनान्यर्धाष्टमानि दशेति
प ष्टबाह्यानामश्वानामध्वा।
(२२) विक्रमो भद्राश्वसो भारवाह्य इति मार्गाः।
(२३) विक्रमो वल्गितमुपकण्ठमुपजवो जवश्च धाराः।
(२४) तेषां बन्धनोपकरणं योग्याचार्याः प्रतिदिशेयुः। साङ्ग्रामिकं स्थावालङ्कारं च सूताः।
अश्वानां चिकित्सकाः शरीरहासव द्विप्रतीकारम तुविभक्तं चाहारम्।
(२५) सूत्रग्राहकाश्वबन्धकयावसिकविधापाचकस्थानपालकेशकारजाङ्गलीविदश्च स्वकर्मभिरश्वाना-
राधयेयुः।
(२६) कर्मातिक्रमे चैषां दिवसवेतनच्छेदनं कुर्यात्। नीराजनोपरुद्धं वाहयतश्चिकित्सकोपरुद्धं वा
द्वादशपणो दण्डः।
(२७) क्रियाभैषज्यसङ्गेन व्याधिव द्धौ प्रतीकारद्विगुणो दण्डः। तदपराधेन वैलोम्ये पत्रमूल्यं दण्डः।
(२८) तेन गोमण्डलं खरोष्ट्रमहिषमजाविकं च व्याख्यातम्।
(२९) द्विरहनः स्नानमश्वानां गन्धमाल्यं च दापयेत्।
कृष्णसन्धिषु भूतेज्याः शुक्लेषु स्वस्तिवाचनम्।
(३०) नीराजनामाश्वयुजे कारयेन्नवमे हनि।
यात्रादाववसाने वा व्याधौ वा शान्तिके रतः।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे श्वाध्यक्षो नाम त्रिंशो ध्यायः, आदितः प चाशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) अश्वशाला के अध्यक्ष को चाहिये कि वह, भेंटस्वरूप प्राप्त, खरीदे हुए, युद्ध में मिले हुए, अपने यहाँ पैदा हुए, बदले में प्राप्त, रेहन रखे हुए और कुछ समय के लिए सहायतार्थ प्राप्त, इन सभी प्रकार के घोड़ों को उनकी नस्ल, उम्र, रंग, चिह्न, समूह, कर्म और कहां से वे मिले हैं, इस सभी बातों का विवरण अपने रजिस्टर में दर्ज करे।
(२) बुरी नस्ल वाले, लंगड़े-लूले और बीमार घोड़ों को बदल देना चाहिये या उनका उचित इलाज करना चाहिये।
(३) कोष और कोष्ठागार से एक महीने का पूरा खर्च लेकर साईस को चाहिये कि वह सावधानीपूर्वक घोड़ों की टहल-सेवा करे।
(४) घोड़ों को रखने के लिये ऐसी घुड़साल बनवाई जाये, जो घोड़ों की संख्या के अनुसार लम्बी और घोड़ों की लम्बाई से दुगुनी चौड़ी हो, उसमें चार दरवाजे, काफी फैलाव, बड़ा बरामदा, दरवाजों के दोनों ओर चबूतरे हों और जो बन्दर, मोर, नेवला, चकोर, तोता तथा मैना आदि से घिरी हुई हो।

- (५) घोड़े की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार एक समतल चौकोर तख्ता बिछा होना चाहिये। इसके अतिरिक्त घास-भूसा खाने के लिए लकड़ी की मांद, पेशाब तथा लीद रखने का उचित प्रबन्ध होना चाहिये, घुड़सालों के दरवाजे पूरब तथा उत्तर की ओर होने चाहियें, घोड़ों को बांधने के लिए अलग-अलग खूंटे होने चाहिये। घुड़साल, या तो राजमहल के उत्तर-पूर्व में होनी चाहिये; यदि ऐसा सम्भव न हो तो सुविधानुसार उचित दिशाओं की ओर उनके दरवाजे बना दिये जायें। प्रसवा घोड़ियों, सांड, घोड़ों और छह मास से तीन वर्ष तक के बछेड़ों को बांधने के लिए अलग-अलग स्थान होने चाहियें।
- (६) जब घोड़ी ब्याये तो उसे तीन दिन तक एक प्रस्थ घी पीने के लिए दिया जाना चाहिये। तदनन्तर दस दिन तक उसे एक प्रस्थ सत्तू और चिकनाई में मिली दवा पीने के लिए दी जानी चाहिये। उसके बाद उसे अधपके जौ का साँदा, घास और ऋतु के अनुसार आहार देना चाहिये।
- (७) नये पैदा हुए घोड़ों के बछड़े को दस दिन बाद एक कुडव सत्तू में चौथाई घी मिला कर देना चाहिये। छह महीने तक उसे एक प्रस्थ दूध प्रतिदिन दिया जाना चाहिये। तदनन्तर उसको जौ का एक प्रस्थ और उसमें उत्तरोत्तर प्रतिमास आधा प्रस्थ बढ़ाकर तीन वर्ष तक यही आहार देना चाहिये। उसके बाद पूरे एक वर्ष तक प्रतिदिन उसे एक द्रोण आहार मिलना चाहिये। तब जाकर चार या पांच वर्ष में वह पूरी तरह काम लेने लायक होता है।
- (८) जिस घोड़े की खाब बत्तीस अंगुल, लम्बाई एक-सौ-आठ अंगुल, जंघा बीस अंगुल और ऊँचाई अस्सी अंगुल हो वह उत्तम होता है। उससे तीन अंगुल कम परिमाण का घोड़ा मध्यम और उससे भी तीन अंगुल कम परिमाण का घोड़ा अधम कोटि का समझना चाहिये। उत्तम घोड़े की मोटाई सौ अंगुल, मध्यम घोड़े की मोटाई अस्सी अंगुल और अधम घोड़े की मोटाई चौंसठ अंगुल होती है।
- (९) उत्तम घोड़ों को साठी, चावल, गेहूँ, जौ, काकून आदि में से कोई भी दो द्रोण धान्य अधपका या अधसूखा, खुराक में देना चाहिये; अथवा इतना ही मूंग या उड़द का साँदा बनाकर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त एक प्रस्थ घी या तेल; पाँच पल नमक पचास पल मांस एक आढक शोरवा या दो आढक दही में भीगी हुई सानी, पांच पल गुड़ के साथ एक प्रस्थ शराब अथवा दो प्रस्थ दूध, प्रतिदिन तीसरे पहर पीने के लिये दिया जाना चाहिये। लम्बा सफर और अधिक बोझा उठाने के कारण थके हुए घोड़ों को एक प्रस्थ घी या तेल और साथ ही उतने ही परिमाण की थकावट को दूर करने वाली दवाइयों का मिश्रण पिलाना चाहिये। एक कुडव घी या तेल उसके नाक में छोड़ना चाहिये, खाने के लिए उसको दस तुला भूसा, बीस तुला हरी घास या जई आदि देना चाहिये।
- (१०) उत्तम घोड़े की उक्त खुराक का चौथाई हिस्सा कम मध्यम घोड़े की और उसमें से भी चौथाई हिस्सा कम अधम घोड़े की खुराक है। जो मध्यम घोड़ा रथ में जोता जाये तथा जो सांड घोड़ी पर छोड़ा गया हो उनको भी उत्तम घोड़े का आहार देना चाहिये। इसी प्रकार जो अधम घोड़े रथ में जोते जायें या सांड छोड़े जायें उनको मध्यम घोड़े का आहार देना चाहिये। इस आहार से चौथा हिस्सा कम घोड़ी और खच्चरों का आहार है। उसका आधा आहार बछेड़ों को देना चाहिये। यह घोड़ों के आहार का विधान है।
- (११) घोड़ों की परिचर्या करने वाले साईसों और उनकी चिकित्सा करने वाले वैद्यों को भी घोड़े के आहार में से कुछ हिस्सा दिया जाना चाहिये।
- (१२) जो घोड़े युद्ध के कारण, बीमारी, बुढ़ापे और भार ढोने के कारण, अशक्त तथा बेकार हो चुके हैं, उन्हें उतना ही आहार दिया जाये कि वे भूखे न मर सकें। जो घोड़े हृष्ट-पुष्ट होकर भी

युद्धोपयोगी न हो, उन्हें नगर तथा जनपद के निवासियों की घोड़ियों में नस्ल पैदा करने के लिए सांड बना दिया जाये।

- (१३) चाल एवं कवायद में प्रवीण युद्धयोग्य घोड़ों में काबुल, सिंध, आरट्ट और अरब देशों के घोड़े उत्तम श्रेणी के हैं। व्यास, सतलुज के मध्यवर्ती प्रदेश, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, राजस्थान और तितल देशों में उत्पन्न घोड़े मध्यम कोटि के होते हैं। इनके अतिरिक्त सभी घोड़े अधम कोटि में आते हैं।
- (१४) तेज, मध्यम और मन्द गति के अनुसार ही घोड़ों को युद्धकार्यों और साधारण सवारी आदि कार्यों में प्रयुक्त करना चाहिये। विशेषज्ञों द्वारा युद्ध-सम्बन्धी हर प्रकार की चालों की शिक्षा दिलाना ही घोड़े का सन्नाह्य कर्म कहलाता है।
- (१५) सवारी या खेलों में प्रयुक्त किये जाने वाले घोड़ों की चाल के पाँच भेद हैं : १. वल्गन, २. नीचैर्गत, ३. लंघन, ४. धोरण और ५. नारोष्ट्र।
- (१६) मण्डलाकार चक्कर लगाने को बल्गन कहते हैं। वह छह प्रकार का होता है : १. औपवेणुक, २. वर्धमानक, ३. यमक, ४. आलीढप्लुत, ५. पूर्वग और ६. त्रिकचाली।
- (१७) शिर और कान में किसी प्रकार के कंपन पैदा किये बिना ही गोल घेरे में चक्कर लगाना ही नीचैर्गत कहलाता है; उसके सोलह प्रकार हैं : १. प्रकीर्णक, २. प्रकीर्णोत्तर, ३. निषण्ण, ४. पार्श्वानुव त्त, ५. उर्मिमार्ग, ६. शरभक्रीडित, ७. शरभप्लुत, ८. त्रिताल, ९. बाह्यनुव त्त, १०. पंचवाणि, ११. सिंहायत, १२. स्वाधूतः, १३. क्लिष्ट, १४. श्लिंगित, १५. बंहित और १६. पुष्पाभिकीर्ण।
- (१८) कूद कर चलने वाली चाल का नाम लंघन है : उसके सात प्रकार हैं : १. कपिप्लुत, २. भेकप्लुत, ३. एणप्लुत, ४. एकपादप्लुत, ५. कोकिलसंचारी, ६. उरस्य, और ७. बकचारी।
- (१९) धीरे-धीरे चलकर सहसा सरपट चाल से चलना धोरण गति कहलाती है; उसके आठ प्रकार हैं : १. कांक, २. वारिकांक्ष, ३. मायूर, ४. अर्धमायूर, ५. नाकुल, ६. अर्धनाकुल, ७. वराह, और ८. अर्धवराह।
- (२०) सिखाये हुये इशारों पर चलना नोराष्ट्र चाल कहलाती है।
- (२१) रथ में जोते जाने योग्य अधम घोड़ों को छह योजन, मध्यम घोड़ों को नौ योजन और उत्तम घोड़ों को बारह योजन चलाये जाने के बाद विश्राम देना चाहिये; अधम, मध्यम और उत्तम किस्म के भार ढोने वाले घोड़ों को इसी क्रम से पांच, साढ़े सात और दस योजन चलाने के बाद विश्राम देना चाहिये।
- (२२) उक्त तीनों कोटि के घोड़ों की गति तीन प्रकार की होती है, यथा; १. मन्दगति, २. मध्यगति, ३. तीव्रगति।
- (२३) मन्छगति से चलना, मध्यम गति से चलना, तीव्र गति से चलना, चौकन्ना होकर चलना, कूद-फांदकर चलना, दायें-बायें होकर चलना, तेज-तेज चलना, इन सब तरह की चालों का नाम धारा है; धारा अर्थात् ढंग या क्रम।
- (२४) घोड़ों के विभिन्न अवयवों को किस प्रकार के आभूषणों से सजाना चाहिये, इसकी विधि, योग्य आचार्य बतलायें। युद्धोपयोगी घोड़ों और रथों को सजाने की सारी क्रिया का निर्देश सारथी करे। ऋतु के अनुसार घोड़ों का क्या-क्या आहार होना चाहिये एवं उनके मोटा होने या तंग होने का तरीका क्या है, इसका निर्देश अश्व-चिकित्सक करें।
- (२५) लगाम पहना कर घोड़ों को टहलाने वाला नौकर, लगाम तथा जीन आदि चढ़ाने वाला कर्मचारी, घास खिलाने वाला नौकर, उनके लिये उड़द भूषा एवं चावल पकाने वाला रसोइया, घुड़साल की सफाई करने वाला व्यक्ति, घोड़ों के बाल तथा खुर्चे ठीक करने वाला नौकर

और अश्वचिकित्सक; ये सभी नौकर-चाकर अपने-अपने कार्यों को नियम समय पर पूरा करते हुए घोड़ों की यथोचित परिचर्या करें।

- (२६) इनमें से जो भी कर्मचारी अपने कार्य को उचित रीति से न करे उसका उसी दिन का वेतन काट लेना चाहिये। कुशल-क्षेम एवं बल-वृद्धि के लिए और चिकित्सा के लिए रोके गये घोड़ों को काम पर लगाने वाले व्यक्ति से बारह पण दण्डरूप में वसूल किये जायें।
- (२७) घोड़ों की यथासमय चिकित्सा न करने के कारण यदि उनकी बीमारी बढ़ जाये तो इलाज में जितना व्यय हो, उसका दुगुना दण्ड अश्वशाला के अध्यक्ष पर करना चाहिये। यदि चिकित्सा और दवाई के दोष के कारण घोड़ा मर जाये तो जितनी कीमत का घोड़ा हो उतना दण्ड अश्वशाला के अध्यक्ष पर किया जाये।
- (२८) घोड़ों की परिचर्या और चिकित्सा के लिए ऊपर जो नियम बताये गये हैं, गाय, बैल, गधा, ऊँट, भैंस और भेड़-बकरियों की परिचर्या चिकित्सा के सम्बन्ध में भी वही नियम समझने चाहियें, इनके सम्बन्ध में भी वही दण्ड-व्यवस्था है।
- (२९) शरद और ग्रीष्म, दोनों ऋतुओं में घोड़ों को दो-दो बार नहलाना चाहिये। गन्ध और मालायें उन्हें प्रतिदिन दी जानी चाहिये। अमावस्या को घोड़ों के निमित्त भूतों को बलि देनी चाहिये। और पूर्णमासी को उनके कुशल-क्षेम के लिए स्वस्तिवाचन पढ़ा जाना चाहिये।
- (३०) आश्विन मास की नवमी को घोड़ों के स्वस्थ-नीरोग रहने के लिए नीराजना संस्कार करना चाहिये। यात्रा के आगे और यात्रा की समाप्ति पर और घोड़ों में कोई संक्रामक रोग फैलने पर भी नीराजना संस्कार करना चाहिये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में अश्वध्यक्ष नामक तीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ३१

हस्त्यध्यक्षः

- (१) हस्त्यध्यक्षो हस्तिवनरक्षां दम्यकर्मक्षान्तानां हस्तिहस्तिनीकलभानां शालास्थानशय्या-
कर्मविधायवसप्रमाणं कर्मस्वायोगं बन्धनोपकरणं साङ्ग्रामिकमलङ्कारं चिकित्सकानीक-
स्थोपस्थायुकवर्गं चानुतिष्ठेत्।
- (२) हस्त्यायामद्विगुणोत्सेधविष्कम्भायामां हस्तिनीस्थानाधिकां सप्रग्रीवां कुमारीसङ्ग्रहं
प्राङ्मुखीमुदङ्मुखीं वा शालां निवेशयेत्।
- (३) हस्त्यायामचतुरश्रश्लक्ष्णालानस्तम्भफलकान्तरकं मूत्रपुरीषोत्सर्गस्थानं निवेशयेत्।
स्थानसमशय्यामर्धापाश्रयां दुर्गे साम्राह्यौपवाह्यानां बहिर्दम्यव्यालानाम्।
- (४) प्रथमसप्तमावष्टमभागावहनः स्नानकालौ, तदनन्तरं विधायाः। पूर्वाहणे व्यायामकालः,
पश्चादहनः प्रतिपानकालः। रात्रिभागौ द्वौ स्वप्नकालौ, त्रिभागः संवेशनोत्थानिकः।
- (५) ग्रीष्मे ग्रहणकालः। विंशतिवर्षो ग्राह्यः।
- (६) विक्को मूढो मत्कुणो व्याधितो गर्भिणी धेनुका हस्तिनी चाग्राह्याः।
- (७) सप्तारतिरुत्सेधो नवायामो दशपरिणाहः। प्रमाणतश्चत्वारिंशद्वर्षो भवत्युत्तमः। त्रिंशद्वर्षो
मध्यमः। पंचविंशतिवर्षो वरः।
- (८) तयोः पादावरो विधाविधिः।
- (९) अरत्नौ तण्डुलद्रोणः। अर्धाढकं तैलस्य। सर्पिषस्त्रयः प्रस्थाः। दशपलं लवणस्य। मांसं
पश्चाशत्पलिकम्। रसस्याढकं द्विगुणं वा दध्नः पिण्डक्लेदनार्थम्। क्षारं दशपलिकम्।
मद्यस्य आढकं द्विगुणं वा पयसः प्रतिपानम् गात्रावसेकस्तैलप्रस्थः शिरसो षट्भागः प्रादीपिकश्च।
यवसस्य द्वौ भारौ सपादौ शष्पस्य शुष्कस्यार्धत तृतीयो भारः। कडङ्कारस्यानियमः।
- (१०) सप्तारत्निना तुल्यभोजनो ष्टारत्निरत्यरालः।
- (११) यथाहस्तमवशेषः षडरत्निः प चारत्निश्चः।
- (१२) क्षीरयावसिको विक्कः क्रीडार्थं ग्राह्यः।
- (१३) स जातलोहिता प्रतिच्छन्ना संलिप्तपक्षा समकक्ष्या व्यतिकीर्णमांसा समतल्पतला जातद्रोणिकेति
शोभाः।
- (१४) शोभावशेन व्यायामं भद्रं मन्दं च कारयेत्।
म गसङ्कीर्णलिङ्गं च कर्मस्व तुवशेन वा।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे हस्त्यध्यक्षो नामैकत्रिंशो ध्यायः, आदित एकप चाशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) गजशाला के अध्यक्ष को चाहिये कि वह हाथियों के जंगल की रक्षा करे; सिखाये जाने योग्य
हाथी-हथिनी और उनके बच्चों के लिए वह गजशाला, बांधने, उठने-बैठने के यथोचित स्थान
बनवाये, वही युद्ध-सम्बन्धी कार्य, पका हुआ भोजन और हरी घास-भूसा आदि के तौल का

निर्णय करे; हाथियों को हर तरह की चाल चलना सिखाये; हाथियों के अम्बारी, अंकुश आदि साजों और युद्धसम्बन्धी आभूषणों का प्रबन्ध करे; हाथियों के चिकित्सक और उनकी सेवा-टहल करने वाले कर्मचारियों पर भी अध्यक्ष नजर रखे।

- (२) हाथी के लिए उसकी लम्बाई से दुगुनी ऊँची, दुगुनी चौड़ी और दुगुनी लम्बी गजशाला बनवानी चाहिये, हथिनी के रहने की गजशाला उससे छह हाथ अधिक लम्बी होनी चाहिए, गजशाला के आगे बरामदा, उसमें बाँधने के लिए तराजू के आकार के खूंटे और उसके दरवाजे पूर्व या उत्तर की ओर होने चाहियें।
- (३) हाथी की लम्बाई जितना, चौकोर, चिकना एक खूंटा वहां गाड़ा जाये, खूंटा एक तख्ते के बीच में लगाकर गाड़ा जाये, जिससे ऊपर की जमीन ढकी रहे और खूंटे को उखाड़ा न जा सके; पाखाना और पेशाब के लिए पीछे की ओर ढलवाँ स्थान बनवाना चाहिये। हाथी के सोने-बैठने के लिए एक चबूतरा-सा बनवाया जाये, जिसकी ऊँचाई साढ़े चार हाथ होनी चाहिये। युद्ध तथा सवारी के उपयोगी हाथियों की शय्या किले के भीतर ही बनवाई जाये, जो हाथी अभी सिखाया या बनेले हों उन्हें किले से बाहर ही रखना चाहिये।
- (४) एक दिन के बराबर आठ भागों में पहला तथा सातवां भाग हाथी के स्नान करने के लिए होना चाहिये। स्नान के बाद उन्हें पका खाना खिलाना चाहिये, दोपहर से पहले उन्हें कवायद सिखानी चाहिये, दोपहर के बाद पीने के लिए देना चाहिये। रात के बराबर तीन भागों में से दो भाग सोने के लिये और एक भाग उठने-बैठने के लिए होना चाहिये।
- (५) गर्मी के मौसम में ही हाथियों को पकड़ना चाहिये। बीस वर्ष या उससे अधिक आयु का हाथी पकड़ने योग्य है।
- (६) दूध पीने वाला हाथी, हथिनी के समान दांतों वाला, जिसके दांत न निकले हों, बीमार हाथी और गर्भिणी तथा दूध चुराने वाली हथिनी को नहीं पकड़ना चाहिये।
- (७) सात हाथ ऊँचा, नौ हाथ लम्बा और दस हाथ मोटा, चालीस वर्ष उम्र वाला हाथी सर्वोत्तम समझा जाता है। तीस वर्ष का मध्यम, और पच्चीस वर्ष का अधम माना गया है।
- (८) उत्तम हाथी को जितना आहार दिया जाये उससे चौथाई हिस्सा कम मध्यम को और उससे भी चौथाई हिस्सा कम अधम को दिया जाना चाहिये।
- (९) सात हाथ ऊँचे उत्तम हाथी को एक द्रोण चावल, आधा आढक तेल, तीन प्रस्थ घी, दस पल नमक, पचास पल मांस, एक आढक दही में सना हुआ दाना दस पल गुड़, दोपहर के बाद पीने के लिए एक आढक शराब या उससे दुगुना दूध, शरीर के मलने के लिए एक प्रस्थ तेल, शिर में लगाने के लिए आधा कुडव तेल, इतना ही तेल रात को लगाने के लिए, चालीस तुला तण, पचास तुला हरी घास, साठ तुला रूखी घास और भूसा तथा पत्तियाँ जितना खा सके, खिलाना चाहिये।
- (१०) आठ हाथ ऊँचे अत्यराल नामक हाथी को सात हाथ ऊँचे उत्तम हाथी के ही बराबर खाना दिया जाये।
- (११) छह हाथ ऊँचे हाथी मध्यम कोटि के हैं; उनका आहार उत्तम हाथी के आहार से चौथाई हिस्सा कम होना चाहिये; इसी प्रकार पांच हाथ ऊँचे अधम श्रेणी के हाथियों के आहार मध्यम हाथियों के आहार से चौथाई हिस्सा कम होना चाहिये।
- (१२) दूध पीने वाले बच्चों को केवल क्रीडाकौतुक के लिए पकड़ा जाये और दूध, हरी घास या जई आदि के छोटे-छोटे ग्रास देकर उनका पालन-पोषण किया जाये।
- (१३) अवस्थानुसार हाथियों की सात प्रकार की शोभा मानी गई है : १. जब हाथियों के शरीर में

केवल हड्डी, चमड़ा ही रह जाये; फिर धीरे-धीरे खूब संचरने लगे; इस शोभा को संजातलोहिता कहते हैं, २. जब मांस बढ़ने लगे, उस अवस्था की शोभा को प्रतिच्छन्ना कहते हैं; ३. जब दोनों ओर मांस भरने लगे, उस अवस्था को संलिप्तपक्षा कहते हैं; ४. जब सारे अवयवों में मांस भरने लगे, उस समय की शोभा को समकक्ष्या कहते हैं; ६. जब रीढ़ की हड्डी के बराबर मांस चढ़ जाये, उस अवस्था की शोभा को समतल्पतला कहते हैं; और ७. जब मांस रीढ़ की हड्डी से ऊपर चढ़ जाये, उस शोभा का नाम जातिद्रोणिका है।

- (५४) इस प्रकार अवस्थाओं को ध्यान में रखकर हाथियों को कवायद सिखायी जाये। जिन हाथियों में उत्तम, मध्यम आदि सांकर्य लक्षण प्रकट हों, उनको युद्ध-सम्बन्धी कार्यों में लगाना चाहिये; अथवा ऋतुओं के अनुसार ही उन्हें युद्ध आदि कार्यों में लगाया जाये।
अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में एकतीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ३२

हस्त्यध्यक्षः हस्तिप्रचारश्च

- (१) कर्मस्कन्धाः चत्वारः—दम्यः सान्नाह्य औपवाह्यो व्यालश्च ।
- (२) तत्र दम्यः पञ्चविधः — स्कन्धगतः स्तम्भगतो वारिगतो वपातगतो यूथगतश्चेति । तस्योपचारो विवककर्म ।
- (३) सान्नाह्यः सप्तक्रियापथः — उपस्थानं संवर्तनं संयानं वधावधो हस्तियुद्धं नागरायणं साङ्ग्रामिकं च । तस्योपविचारः कक्ष्याकर्म त्रैवेयकर्म यूथकर्म च ।
- (४) औपवाह्यो षट्विधः — आचरणः, कुजरौपवाह्यः, धोरणः, आधानगतिकः, यष्ट्युपवाह्यः, तोत्रोपवाह्यः, शुद्धोपवाह्यः, मार्गायुक्श्चेति । तस्योपविचारः—शारदकर्म हीनकर्म नारोष्ट्रकर्म च ।
- (५) व्याल एकक्रियापथः । तस्योपविचार आयम्यैकरक्षः कर्मशङ्कितो वरुद्धो विषमः प्रभिन्नः प्रभिन्नविनिश्चयः मदहेतुविनिश्चयश्च ।
- (६) क्रियाविपन्नो व्यालः । शुद्धः सुव्रतो विषमः सर्वदोषप्रदुष्टश्च ।
- (७) तेषां बन्धनोपकरणमनीकस्थप्रमाणम् । आलानत्रैवेयकक्ष्यापारायणपरिक्षेपोत्तरादिकं बन्धनम् । अंकुशवेणुयन्त्रादिकमुपकरणम् । वैजयन्तीक्षुरप्रमालास्तरणकुथादिकं भूषणम् । वर्मतोमरशरावापयन्त्रादिकः सांग्रामिकालङ्कारः ।
- (८) चिकित्सकानीकस्थारोहकाधोरणहस्तिपकौचारिक विधापाचकयावसिकपादपाशिक-कुटीरक्षकौपशायिकादिरौपस्थायिकवर्गः ।
- (९) चिकित्सकुटीरक्षविधापाचकाः प्रस्थौदनं स्नेहप्रस त्तिं क्षारलवणयोश्च द्विपलिकं हरेयुः । दशपलं मांसस्यान्यत्र चिकित्सकेभ्यः ।
- (१०) पथिव्याधिकर्ममदजराभितप्तानां चिकित्सकाः प्रतिकुर्युः ।
- (११) स्थानस्याशुद्धिर्वसस्याग्रहणं स्थले शयनमभागे घातः परारोहणमकाले यानमभूमावतीर्थे वतारणं तरुषण्ड इत्यत्ययस्थानानि । तमेषां भक्तवेतनादाददीत ।
- (१२) तिस्रो नीराजनाः कार्याश्चातुर्मास्यस्तुसन्धिषु ।
भूतानां कृष्णसन्धीज्याः सेनान्यः शुक्लसन्धिषु ।।
- (१३) दन्तमूलपरीणाहृदिगुणं प्रोज्झय कल्पयेत् ।
अब्दे द्व्यर्धे नदीजानां प चाब्दे पर्वतौकसाम् ।।
इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे हस्तिप्रचारो नाम द्वात्रिंशो ध्यायः, आदितः द्विप चाशः ।

हिन्दी अनुवाद

- (१) कार्य-भेद से हाथियों की चार श्रेणियाँ होती हैं १. दम्य, २. सान्नाह्य, ३. औपवाह्य व ४. व्याल ।
- (२) उनमें दम्य हाथी पांच प्रकार का होता है : १. स्कंधगत, २. स्तम्भगत, ३. वारिगत, ४. अवपातगत, और ५. यूथगत । दम्य हाथी की परिचर्या हाथी के बच्चे के समान करनी चाहिये ।
- (३) सान्नाह्य हाथी कार्य-भेद से सात प्रकार के होते हैं : १. उपस्थान, २. संवर्तन, ३. संयान, ४. वधावध, ५. हस्तियुद्ध, ६. नागरायण, और ७. सांग्रामिक । सान्नाह्य हाथी को ऐसी शिक्षा दी

जानी चाहिये कि वह रस्सी बांधने, गले में फन्दा डालने और झुण्ड के अनुकूल कार्य करने में चतुर हो जाये।

- (४) औपवाह्य हाथी आठ प्रकार के होते हैं : १. आचरण, २. कुंजरौपवाह्य, ३. धोरण ४. आधानगतिक, ५. यष्ट्युपवाह्य, ६. तोत्रोपवाह्य, ७. शुद्धोपवाह्य, और ८. मार्गायुक्त। उनको शिक्षा देते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि जो हाथी अधिक मोटे हों उन्हें दुबला बनाया जाये, जो स्वस्थ हों उनकी रक्षा की जाये, जो मेहनत न करता हो उससे मेहनत करवाई जाये, इसी प्रकार प्रत्येक हाथी को हर प्रकार के इशारों की शिक्षा दी जाये।
- (५) घातक (व्याल) हाथी से कार्य लेने का एक ही मार्ग है कि उसको बाँध कर रखा जाये या डण्डे के जोर पर उसे काबू रखा जाये। उसके उपद्रवों से सावधान रहा जाये। उसके उपद्रव हैं : कवायद के समय बिगड़ जाना, कार्य की लापरवाही कर देना, मनमानी करना, उन्मत्त हो जाना, मद तथा आहार के लिए बेचैन हो जाना और जिसके बिगड़ने का कारण पता ही न लगे।
- (६) कार्य बिगड़ देने वाले दुष्ट हाथी को व्याल कहते हैं। उसके चार भेद होते हैं : १. शुद्ध, २. सुव्रत, ३. विषम और ४. सर्वदोषप्रदुष्ट।
- (७) हाथियों पर कसी जाने वाली सारी सामग्री की व्यवस्था, चतुर हस्ति-शिक्षकों की राय से करनी चाहिये। हाथियों पर कसने के लिए खूँटा गले की जंजीर, काँख में बाँधने की रस्सी, चढ़ते समय सहारा देने वाली रस्सी, हाथी के पैर में बाँधने की जंजीर और उसके गले में बाँधने की रस्सी। अंकुश, बांस का डंडा और अम्बारी आदि उसके लिए अन्य उपकरण हैं। इसके अतिरिक्त वैजयन्ती, क्षुरप्रमाला, आस्तरण और कुथ, यह सामग्री हाथियों को सजाने के लिए है। हाथियों के संग्राम-सम्बन्धी अलंकरण हैं : कवच, तोमर, तूणीर और भिन्न-भिन्न प्रकार के हथियार।
- (८) गजवैद्य, गजशिक्षक, गजारोही, गजसंबन्धी शास्त्रोक्त विधियों का ज्ञाता, गजरक्षक, नहलाने-धुलाने वाला, खाना बनाने वाला, चारा देने वाला, बाँधने वाला, गजशाला का रक्षक और हाथी के सोने की जगह का प्रबन्ध करने वाला; ये सब हाथी की परिचर्या करने वाले कर्मचारी हैं।
- (९) गजवैद्य, गजशाला का रक्षक और हाथियों का रसोइया, ये तीनों हाथी के आहार में से एक प्रस्थ अन्न, आधी अंजली तेल या घी तथा दो पल गुड़ एवं नमक ले लिया करें। गजवैद्य को छोड़कर बाकी दोनों सेवक दस-दस पल मांस भी ले लें।
- (१०) रास्ता चलने से, बीमारी के कारण, अधिक कार्य करने से, मद के कारण तथा बुढ़ापे की वजह से हाथियों को कोई भी कष्ट हो जाये तो गजवैद्य सावधानी से उनकी चिकित्सा करें।
- (११) हाथी के स्थान की सफाई न करना, उसे खान न देना, उसको खाली जगह सुला देना, उसके नाजुक स्थानों को चोट मारना, किसी अनधिकारी व्यक्ति को उस पर चढ़ाना, बेसमय हाथी को चलाना, बिना घाट के ही उतार देना, घने पेड़ों के बीच हाथी को ले जाना; हाथियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने वाले प्रत्येक कर्मचारी को दण्डित किया जाना चाहिये। यह दण्ड उनके भत्ते और वेतन में से काट लिया जाये।
- (१२) हाथियों की बल-वृद्धि और उनके कुशल क्षेम के लिए चार मास बाद ऋतु-संधि की तिथि पर वर्ष में तीन बार नीराजना कर्म कराया जाये; प्रत्येक अमावस्या पर भूतबलि और प्रत्येक पूर्णमासी पर स्कन्दपूजा भी करवाई जाये।
- (१३) हाथी का दांत जड़ में जितना मोटा हो, उससे दुगुना हिस्सा छोड़कर, आगे का बाकी हिस्सा कटा देना चाहिये। जो हाथी नदीचर हों, उनके दांत ढाई वर्ष के बाद और जो हाथी पर्वतों के रैवासी हों उनके दांत पांच वर्ष के बाद और कटवाने चाहिये।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में हस्तिप्रचार नामक बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ३३

रथाध्यक्षपत्यध्यक्ष-सेनापतिप्रचारः

- (१) अश्ववाध्यक्षेण रथाध्यक्षो व्याख्यातः।
- (२) स रथकर्मान्तान् कारयेत्।
- (३) दशपुरुषो द्वादशान्तरो रथः। तस्मादेकान्तरावराआषडन्तरादिति सप्तस्थाः।
- (४) देवरथपुष्परथसाङ्ग्रामिकपारियाणिकपरपुराभियानिकवैनयिकांश्च रथान् कारयेत्।
- (५) इष्वस्त्रप्रहरणावरणोपकरणकल्पनाः सारथिरथिकस्थानां च कर्मस्वायोगं विद्यात्। आ कर्मम्यश्च भक्तवेतनं भ तानामभ तानां च योग्यारक्षानुष्ठानमर्थमानकर्म च।
- (६) एतेन पत्यध्यक्षो व्याख्यातः। स मौलभ तश्रेणिमित्रामित्राटवीबलानां सारफल्गुतां विद्यात्। निम्नस्थलप्रकाशकूटखनकाकाशदिवारात्रियुद्धव्यायामं च विद्यात्। आयोगमयोगं च कर्मसु।
- (७) तदेव सेनापतिः सर्वयुद्धप्रहरणविद्याविनीतो हस्त्यश्वरथचर्यासंपुष्टश्चतुरङ्गस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यात्।
- (८) स्वभूमिं युद्धकालं प्रत्यनीकमभिन्नभेदनं भिन्नसन्धानं संहतभेदनं भिन्नवधं दुर्गवधं यात्राकालं च पश्येत्।
- (९) तूर्यध्वजपताकाभिर्व्यूहसंज्ञाः प्रकल्पयेत्।
स्थाने याने प्रहरणे सैन्यानां विनये रतः।।
- इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीया धिकरणे रथाध्यक्षपत्यध्यक्ष-सेनापतिप्रचारो नाम त्रयस्त्रिंशो ध्यायः,
आदितस्त्रिप चाशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) रथसेना के अध्यक्ष के कार्य : पिछले प्रकरण में अश्वशाला के अध्यक्ष के जो-जो कार्य बताये गये हैं, उन्हीं के अनुसार रथ का अध्यक्ष भी अपनी जुम्मेदारी के कार्यों की व्यवस्था करे।
- (२) उसको चाहिए कि वह नये-नये रथ बनवाये और जीर्ण हो जाने पर उनकी मरम्मत करवाये।
- (३) एक सौ बीस अंगुल ऊँचा और उतना ही लम्बा रथ उत्तम कोटि का माना जाता है। सबसे बड़ा रथ बारह बिता लम्बा होता है, उसमें एक-एक बिता कम करके अन्त में सबसे छोटा रथ छह बिता का होता है। रथ सात प्रकार के होते हैं।
- (४) रथाध्यक्ष को चाहिए कि वह विभिन्न कार्यों के उपयोगी देवरथ (यात्रा, उत्सव आदि के लिए), पुष्परथ, (विवाह आदि कार्यों के लिए), सांग्रामिक (युद्ध आदि कार्यों के लिए), पारियाणिक (सामान्य यात्रा के लिए), परपुराभियानिक (शत्रु के दुर्ग को ढाहने के लिए) और वैनयिक (घोड़े आदि को सिखाने के लिए) आदि अलग-अलग रथों का निर्माण करवाये।
- (५) रथाध्यक्ष को चाहिये कि वह बाण, तूणीर, धनुष, अस्त्र, तोमर, गदा, रथ के झूलों, और लगाम आदि सामग्री के सम्बन्ध में तथा सारथि, रथ बनाने वाला, रथ के घोड़े आदि के कार्यों की पूरी जानकारी रखे। रथाध्यक्ष का यह भी कर्तव्य है कि वह नियमित रूप से कार्य करने वाले तथा अस्थायी रूप से कार्य करने वाले कारीगरों एवं कर्मचारियों के उचित वेतन-भत्ता तथा

निर्वाह योग्य धन की व्यवस्था करे एवं उनका आदर-सत्कार करे।

- (६) पैदल सेना के अध्यक्ष के कार्य : रथ्याध्यक्ष के ही समान पत्त्यध्यक्ष की आरम्भिक कार्य-व्यवस्था को भी समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त वह राजधानी की रक्षा करने वाली सेना, वेतनभोगी सेना, विभिन्न प्रदेशों में रखी गई सेना, मित्रराजा की सेना, शत्रुराजा की सेना और जंगल की सुरक्षा के लिए नियुक्त सेना के सामर्थ्य-असामर्थ्य की पूरी जानकारी रखे। इसके अतिरिक्त वह, जंगल, तराई, मोर्चाबंदी, छल-कपट, खाई, हवाई, दिन और रात आदि सभी प्रकार के युद्धों की जानकारी प्राप्त करे। देश-काल की दृष्टि से सेनाओं की उपयोगिता और अनुपयोगिता का भी वह ज्ञान रखे।
- (७) सेनापति के कार्य : सेनापति को चाहिये कि वह अश्वाध्यक्ष से लेकर पत्त्यध्यक्ष तक के सम्पूर्ण कार्य-व्यापार को भली-भांति समझे, सेनापति को हर प्रकार के युद्ध करने, हथियार चलाने और आन्वीक्षिकी आदि शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए, हाथी, घोड़े और रथ चलाने की भी पूरी योग्यता उसमें होनी चाहिए, चतुरंगिणी सेना के कार्य और स्थान की भी उसे पूरी जानकारी होनी चाहिए।
- (८) इसके अतिरिक्त उसमें अपनी भूमि, युद्धकाल, शत्रुसेना, शत्रुव्यूह का तोड़ना, बिखरी हुई सेना को समेटना, बिखरी हुई शत्रुसेना का मर्दन करना, दुर्ग तोड़ना और उचित समय पर युद्ध के लिए प्रस्थान करना, इन सभी बातों को समझने-करने की पूरी क्षमता होनी चाहिए।
- (९) सेनापति को चाहिये कि युद्धकाल में अपनी सेवा को संचालित करने के लिये वह चढ़ाई करने, कूच करने एवं धावा बोलने के लिए बाजे, ध्वजा तथा झण्डियों के द्वारा ऐसे इशारों का प्रयोग करे जिन्हें शत्रुसेना न समझ सके।

अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में रथाध्यक्ष पत्त्यध्यक्ष सेनापति-प्रचार नामक तैतीसवां अध्याय समाप्त।

अध्याय ३४

मुद्राध्यक्षः विवीताध्यक्षः

- (१) मुद्राध्यक्षो मुद्रां माषकेण दद्यात्।
- (२) समुद्रो जनपदं प्रवेष्टुं निष्क्रमितुं वा लभेत्।
- (३) द्वादशपणममुद्रो जानपदो दद्यात्। कूटमुद्रायां पूर्वः साहसदण्डः। तिरोजनपदस्योत्तमः।
- (४) विवीताध्यक्षो मुद्रां पश्येत्।
- (५) भयान्तरेषु च विवीतं स्थापयेत्। चोरव्यालभयान्निम्नारण्यानि शोधयेत्।
- (६) अनुदके कूपसेतुबन्धोत्सान् स्थापयेत्, पुष्पफलवाटांश्च।
- (७) लुब्धकश्वगणिनः परिव्रजेयुररण्यानि। तस्करामित्राभ्यागमे शंखदुन्दुभिशब्दमग्राह्याः कुर्युः शैलवक्षाधिरूढा वा शीघ्रवाहना वा।
- (८) अमित्राटवीसंचारं च राज्ञौ ग हकपोतैर्मुद्रायुक्तैर्हारयेयुः धूमाग्निपरम्परया वा।
- (९) द्रव्यहस्तिवनाजीवं वर्तिनीं चोररक्षणम्।
सार्थातिवाह्यं गोरक्ष्यं व्यवहारं च कारयेत्।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे मुद्राध्यक्ष-विवीताध्यक्षो नाम चतुस्त्रिंशो ध्यायः,
आदितश्चतुष्प चाशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) **मुद्रा-विभाग का अध्यक्ष** : मुद्रा-विभाग के अध्यक्ष को चाहिये कि वह जनपद में आने वाले और नगर में जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को राजकीय मुहर लगा हुआ पासपोर्ट दे तथा बदले में एक माषक टैक्स वसूल करे।
- (२) जिस व्यक्ति के पास पासपोर्ट हो वही जनपद में प्रवेश कर सकता है और वही जनपद के बाहर जा सकता है।
- (३) अपने जनपद में रहनेवाला कोई पुरुष बिना पासपोर्ट के यदि प्रवेश करे या बाहर जाये तो उस पर बारह पण दण्ड किया जाना चाहिये। अपने ही राज्य का कोई व्यक्ति यदि जाली पासपोर्ट लेकर आना-जाना चाहे तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये, यदि दूसरे देश का व्यक्ति ऐसा करे तो उसे उत्तम साहस दण्ड देना चाहिये।
- (४) **चारागाह-विभाग का अध्यक्ष** : विवीताध्यक्ष का कार्य है कि जो व्यक्ति बिना पासपोर्ट या जाली पासपोर्ट लेकर छिपे तौर पर जंगलों के रास्ते होकर सफर करते हुए पकड़ा जाये उसको गिरफ्तार कर ले।
- (५) जिन स्थानों से चोर, शत्रु या शत्रु के गुप्तचर आदि के आने-जाने की संभावना हो, ऐसे स्थानों पर चारागाह स्थापित किये जायें। चोर और हिंसक जानवरों के संभावित घने जंगलों में भी खाइयाँ और गुफायें बनाकर निगरानी रखनी चाहिये।
- (६) जिस जगह पानी का अभाव हो वहां पक्के कुएं, पक्के तालाब, फूल तथा फलों के बगीचे

और प्याऊ आदि की व्यवस्था की जाये।

- (७) शिकारी और बहेलिये निरन्तर जंगलों में घूमते रहें। उन्हें चाहिये कि वे चोर या शत्रुओं के आने की सूचना पहाड़ पर या वक्ष पर चढ़कर अथवा शंखदुन्दुभी बजाकर अन्तपाल को पहुंचाये अथवा शीघ्रगामी घोड़ों पर चढ़कर वे इस सूचना को अन्तपाल तक पहुंचाये।
- (८) यदि जंगल में शत्रु आ जायें तो मुहर लगे पालतू कबूतरों के द्वारा उसका समाचार राजा तक पहुंचाया जाये, यदि रात को शत्रु जंगल में प्रवेश करें तो आग जलाकर और दिन में धुआँ करके सूचित करें।
- (९) विवीताध्यक्ष का कार्य है कि वह द्रव्यवनों और हस्तिवनों के पास, लकड़ी तथा कोयले आदि का भी प्रबन्ध करे, दुर्ग के रास्ते जाने का टैक्स, चोरों से की हुई रक्षा का टैक्स, गोरक्षा का टैक्स तथा इन सभी वस्तुओं के खरीद-फरोख्त का प्रबन्ध भी विवीताध्यक्ष ही करवाये।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में मुद्राध्यक्ष-विवीताध्यक्ष नामक चौतीसवाँ अध्याय समाप्त।

अध्याय ३५

समाहर्तप्रचारः ग हपतिवैदेहकतापसव्य जनाः प्रणिधयः

- (१) समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यमकनिष्ठविभागेन ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टि- प्रतिकरमिदमेतारवदिति निबन्धयेत्।
- (२) तत्प्रदिष्टः प चग्रामी दशग्रामी वा गोपश्चिन्तयेत्।
- (३) सीमावरोधेन ग्रामाग्रं कृष्टाकृष्टस्थलकेदारारामषण्डवाटवनवास्तुचैत्यदेवग हसेतुबन्धश्मशानसत्र- प्रपापुण्यस्थानविवीत- पथिसंख्यानेनक्षेत्राग्रं, तेन सीम्नां क्षेत्राणां च मर्यादारण्यपथिप्रमाण- सम्प्रदानविक्रयानुग्रहपरिहारनिबन्धान् कारयेत्। ग हाणां च करदाकरदसंख्यानेन।
- (४) तेषु चैतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावन्तः कर्षकगोरक्षकवैदेहकारुकर्मकरदासाश्चैतावच्चद्विपदचतुष्पदमिदं च हिरण्यविष्टिशुल्कदण्डं समुत्तिष्ठतीति।
- (५) कुलानां च स्त्रीपुरुषाणां बालव द्ध कर्मचरित्राजीवव्ययपरिमाणं विद्यात्।
- (६) एव च जनपदचतुर्भागं स्थानिकः चिन्तयेत्।
- (७) गोपस्थानिकस्थानेषु प्रदेष्टारः कार्यकरणं बलिप्रग्रहं च कुर्युः।
- (८) समाहर्तप्रदिष्टाश्च ग हपतिकव्य जना येषु ग्रामेषु प्रणिहितास्तेषां ग्रामाणां क्षेत्रग हकुलाग्रं विद्युः। मानस जाताभ्यां क्षेत्राणि भोगपरिहाराभ्यां ग हाणि वर्णकर्मभ्यां कुलानि च। तेषां जङ्घाग्रमायव्ययौ च विद्युः। प्रस्थितागतानां च प्रवासावासकारणमनर्थ्यानां च स्त्रीपुरुषाणां चारप्रचारं च विद्युः।
- (९) एवं वैदेहकव्य जनाः स्वभूमिजानां राजपण्यानां खनिसेतुवनकर्मान्तक्षेत्रजानां परिमाणमर्घं च विद्युः। परभूमिजातानां वारिस्थलपथोपयातानां सारफल्गुपण्यानां कर्मसु च, शुल्कवर्तन्यातिवाहिकगुल्मतरदेयभागभक्तपण्यागारप्रमाणं विद्युः।
- (१०) एवं समाहर्तप्रदिष्टस्तापसव्य जनाः कर्षकगोरक्षकवैदेहकानामध्यक्षाणां च शौचाशौचं विद्युः। पुराणचोरव्य जनाश्चान्तेवासिनश्चैत्यचतुष्पथशून्यपदोदपाननदीनिपानतीर्थायतनाश्रमारण्य- शैलवनगहनेषु स्तेनामित्रप्रवीरपुरुषाणां च प्रवेशनस्थानगमनप्रयोजनान्युपलभेरन्।
- (११) समाहर्ता जनपदं चिन्तयेदेवमुत्थितः।

चिन्तयेयुश्च संस्थास्ताः संस्थाश्चान्याः स्वयोनयः।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे ग हपतितापसव्य जनप्रणिधिर्नाम पंचविंशो ध्याय, आदितः

प चप चाशः।

हिन्दी अनुवाद

- (१) समाहर्ता को चाहिये कि वह सारे जनपद को चार हिस्सों में बांटकर उन्हें श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ के क्रम से उनकी गणना, उपज, भौगोलिक परिस्थिति उनका नक्शा, खसरा एवं रकबा आदि को अपने रजिस्टर में दर्ज कर ले; जो गांव नियमित रूप से सैनिक जवानों को

दें तथा जो गांव अन्न, पशु, सोना, चांदी, नौकर-चाकर आदि को नियमित रूप से दें, उनका ब्यौरा भी रजिस्टर में दर्ज कर ले।

- (२) समाहर्ता के आदेशानुसार पांच-पांच या दस-दस गांवों का एक-एक केन्द्र बनाकर उसका प्रबन्ध गोप नामक अधिकारी करे।
- (३) नदी, पहाड़, जंगल, दीवाल आदि के द्वारा गांवों की सरहदबन्दी करके उसको रजिस्टर में चढ़ाया जाये, खेतों का ब्यौरा चढ़ाने वाले रजिस्टर में इतनी बातें दर्ज रहनी चाहिये; खेती योग्य जमीन, खेती के अयोग्य जमीन या पथरीली जमीन, ऊँची-नीची जमीन, साठी-गेहूं योग्य जमीन, बाग-बगीचे योग्य जमीन, केले के योग्य जमीन, ईख के योग्य जमीन, जंगल के योग्य जमीन, आबादी के योग्य जमीन, चैत्य, देवालय, तालाब, श्मशान, अन्नक्षेत्र, प्याऊ, तीर्थस्थान, चरागाह और रथगाड़ी तथा पैदल मार्ग के योग्य जमीन। इसी प्रकार नदी, पर्वत आदि सरहद और खेतों की लम्बाई-चौड़ाई का भी उल्लेख होना चाहिये। इन बातों के अलावा ऐसे जंगल, जो ग्रामवासियों के काम न आते हों, खेतों में जाने-आने के रास्ते, उनकी नाप, किस व्यक्ति ने किस व्यक्ति को कौन खेत जोतने को लिये दिया है, बिक्री का ब्यौरा, तकाबी, मुलतवी और छूट आदि का भी उल्लेख होना चाहिये। साथ ही रजिस्टर में यह भी दर्ज होना चाहिये कि वहां कितने घर, जमीन की किस्त तथा मकानों का किराया देने वाले हैं और कितने नहीं हैं।
- (४) रजिस्टर में इस बात का भी उल्लेख किया जाये कि उन घरों में इतने ब्राह्मण, इतने क्षत्रिय, इतने वैश्य और इतने शूद्र रहते हैं, इसी प्रकार वहां के किसान, ग्वाले, व्यापारी, कारीगर, मजदूर और दासों की संख्या भी रजिस्टर में दर्ज होनी चाहिये, फिर सारे मनुष्यों और सारे पशुओं का जोड़ अलग-अलग किया जाये, अन्त में इनसे इतना सोना, इतने नौकर, इतना टैक्स और इतना दण्ड राजा को प्राप्त हुआ, यह भी जोड़ देना चाहिये।
- (५) गोप नामक अधिकारी को चाहिये कि वह प्रत्येक परिवार के स्त्री, पुरुष, बालक तथा वृद्ध की गणना और उनके कार्य, चरित्र, आजीविका एवं व्यय आदि के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखे।
- (६) इसी प्रकार जनपद के चौथे हिस्से का प्रबन्ध स्थानिक नामक अधिकारी करे।
- (७) गोप और स्थानिक के कार्यक्षेत्र में प्रदेष्टा नामक अधिकारी राज्य के शत्रुओं का दमन करें। गोप और स्थानिक टैक्स न देने वालों से टैक्स वसूल करें। राज्य के बलवान् व्यक्ति यदि शासन में विघ्न-बाधा उपस्थित करे तो उनका भी वे दमन करें।
- (८) ग हस्थ के वेश में रहने वाले गुप्तचर; समाहर्ता की आज्ञानुसार अपने क्षेत्र के गांवों का रकवा, घर और परिवारों की तादाद को अच्छी तरह से जानें। वे गुप्तचर यह नोट रखें कि कौन खेत कितने बड़े हैं और उनकी उपज क्या है, किस घर से कर वसूल किया जाता है, और कौन घर छोड़ा जाता है, यह परिवार ब्राह्मणों का है या क्षत्रियों का और वे क्या-क्या कार्य करते हैं। वे गुप्तचर यह भी जानें कि उन परिवारों के प्राणियों की संख्या कितनी है और उनकी आमदनी खर्च के जरिये क्या है। एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने-आने वाले लोगों और अपने स्थान को छोड़कर दूसरी जगह बस जाने वाले लोगों के सम्बन्ध में, राजा से सम्बन्ध न रखने वाली नर्तकियों, जुआरियों, भांडों आदि के आवास-प्रवास पर भी वे गुप्तचर निगरानी रखें और यह भी जानें कि शत्रुओं के गुप्तचर कहां-कहां पर रहकर क्या-क्या कार्य कर रहे हैं।
- (९) इसी प्रकार व्यापारी के वेष में रहने वाले गुप्तचर समाहर्ता के आदेशानुसार अपने अधिकार-क्षेत्र में उत्पन्न और बेची जाने वाली सरकारी वस्तुओं, खनिज पदार्थों, तालाबों, जंगलों तथा

कारखानों से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की तौल एवं कीमत को अच्छी तरह से समझें। विदेशी व्यापारियों ने चुंगी, सीमाकर, मार्गरक्षा का कर, नाव कर, अन्तपाल का टैक्स, सांझेदारी का हिस्सा, भत्ता, भोजन-व्यय और बाजार आदि का टैक्स कितना दिया है, यह भी वे जानें।

- (५०) इसी प्रकार तपस्वी के वेश में रहने वाले गुप्तचर, समाहर्ता की आज्ञानुसार, अपने क्षेत्र में रहने वाले किसान, ग्वाले, व्यापारी और अध्यक्षों की ईमानदारी तथा बेईमानी के रहस्यों को जाने। पुराने चोरों के वेश में रहने वाले उन तापस गुप्तचरों के शिष्य देवालय, चौराहा, निर्जन स्थान, तालाब, नदी, कुओं के समीपस्थ जलाशय, तीर्थस्थान, आश्रम, जंगल, पहाड़ और घना जंगल आदि स्थानों में ठहर कर चोरों, शत्रुओं, शत्रुओं के भेजे हुए तीक्ष्ण तथा रसद आदि गुप्तचरों का ठीक-ठीक पता लगायें।
- (५१) इस प्रकार अपने कार्यों में तत्पर समाहर्ता जनपद की रक्षा का प्रबन्ध करें और उसकी आज्ञा से कार्य करने वाले गुप्तचर एवं उनके विभिन्न संघ, संस्था आदि जनपद के प्रबन्ध में तत्पर रहें।

अध्याय ३६

नागरिकप्रणिधिः

- (१) समाहृतवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत्, दशकुलीं गोपो, विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा। स तस्यां स्त्रीपुरुषाणां जातिगोत्रनामकर्मभिः जङ्घाग्रमायव्ययौ च विद्यात्।
- (२) एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत्।
- (३) धर्मावसथिनः पाषण्डिपथिकानावेद्य वासयेयुः। स्वप्रत्ययाश्च तपस्विनः श्रोत्रियांश्च।
- (४) कारुशिल्पिनः स्वकर्मस्थानेषु स्वजनं वासयेयुः। वैदेहकाश्चान्योन्यं स्वकर्मस्थानेषु। पण्यानामदेशकालविक्रेतारमस्वकरणं च निवेदयेयुः।
- (५) शौण्डिकपाक्वमांसिकौदनिकरूपाजीवाः परिज्ञातमावासायेयुः। अतिव्ययकर्तारमत्याहितकर्माणं च निवेदयेयुः।
- (६) चिकित्सकः प्रच्छन्नव्रणप्रतीकारयितारमपथ्यकारिणं च ग हस्वामी च निवेद्य गोपस्थानिकयोर्मुच्येत। अन्यथा तुल्यदोषः स्यात्।
- (७) प्रस्थितागतौ च निवेदयेत्। अन्यथा रात्रिदोषं भजेत। क्षेमरात्रिषु त्रिपणं दद्यात्।
- (८) पथिकोत्पथिकाश्च बहिरन्तश्च नगरस्य देवग हपुण्यस्थानवनश्मशानेषु सव्रणमनिष्टोपकरण-म द्भाण्डीकृतप्राविग्निमतिस्वप्नमध्वक्लान्तमपूर्वं वा ग ह्णीयुः।
- (९) एवमभ्यन्तरे शून्यनिवेशावेशनशौण्डिकौदनिकपाक्वमांसिकद्यूतपाषण्डावासेषु विचयं कुर्युः।
- (१०) अग्निप्रतीकारं च ग्रीष्मे मध्यमयोरहनश्चतुर्भागयोः। अष्टभागो ग्निदण्डः। बहिरधिश्रयणं वा कुर्युः।
- (११) पादः प चघटीनाम्। कुम्भद्रोणीनिःश्रेणीपरशुशूर्पाङ्कुशकचग्रहणीद तीनां चाकरणे।
- (१२) त णकटच्छन्नान्यपनयेत्। अग्निजीविनं एकस्थानं वासयेत्। स्वग ह्द्वारेषु ग हस्वामिनो वसेयुरसम्पातिनो रात्रौ। रथ्यासु कटव्रजाः सहस्रं तिष्ठेयुः, चतुष्पथद्वारराजपरिग्रहेषु च।
- (१३) प्रदीप्तमनभिधावतो ग हस्वामिनो द्वादशपणो दण्डः। षट्पणो वक्रयिणः। प्रमादाद्दीप्तेषु चतुष्प चाशत्पणो दण्डः।
- (१४) प्रादीपिको ग्निना वध्यः।
- (१५) पांसुन्यासे रथ्यायामष्टभागो दण्डः। पङ्कोदकसन्निरोधे पादः। राजमार्गं द्विगुणः।
- (१६) पुण्यस्थानोदकस्थानदेवग हराजपरिग्रहेषु पणोत्तरा विष्टादण्डाः। मूत्रेष्वर्धदण्डाः।
- (१७) भैषज्यव्याधिभयनिमित्तमदण्ड्याः।
- (१८) मार्जारश्वनकुलसर्पप्रेतानां नगरस्यान्तरुत्सर्गे त्रिपणो दण्डः। खरोष्ट्राश्वतराश्वपशुप्रेतानां षट्पणः। मनुष्यप्रेतानां प चाशत्पणः।
- (१९) मार्गविपर्यासे शवद्वारादन्यतः शवनिर्णयने पूर्वः साहसदण्डः। द्वाःस्थानां द्विशतम्। श्मशानादन्यत्र न्यासे दहने च द्वादशपणो दण्डः।
- (२०) विषण्णालिकमुभयतोरान्नं यामतूर्यम्। तूर्यशब्दे राज्ञो ग हाभ्याशे सपादपणमक्षणताडनं प्रथमपश्चिमयामिकम्। मध्यमयामिकं द्विगुणम्। बहिश्चतुर्गुणम्।

- (२१) शङ्कनीये देशे लिङ्गे पूर्वापदाने च ग हीतमनुयु जीत ।
 (२२) राजपरिग्रहोपगमने नगररक्षारोहणे च मध्यमः साहसदण्डः ।
 (२३) सूतिकाचिकित्सकप्रेतप्रदीपयाननागरिकतूर्यप्रेक्षाग्निनिमित्तं मुद्राभिश्चाग्राह्याः ।
 (२४) चाररात्रिषु प्रच्छन्नविपरीतवेषाः प्रव्रजिता दण्डशस्त्रहस्ताश्च मनुष्या दोषतो दण्ड्याः ।
 (२५) रक्षिणामवार्यं वारयतां वार्यं चावारयतामक्षणद्विगुणो दण्डः । स्त्रियं दासीमधिमेहयतां पूर्वः साहसदण्डः, अदासीं मध्यमः, कृतावरोधामुत्तमः, कुलस्त्रियं वधः ।
 (२६) चेतनाचेतनिकं रात्रिदोषमशंसतो नागरिकस्य दोषानुरूपो दण्डः, प्रमादस्थाने च ।
 (२७) नित्यमुदकस्थानमार्गभूमिच्छन्नपथवप्रप्राकाररक्षावेक्षणं नष्टप्रस्म तापस तानां च रक्षणम् ।
 (२८) बन्धनागारे च बालव द्रव्याधितानाथानां जातनक्षत्रपौर्णमासीषु विसर्गः । पुण्यशीलाः समयानुबद्धा वा दोषनिष्क्रयं दद्युः ।
 (२९) दिवसे प चरात्रे वा बन्धनस्थान् विशोधयेत् ।
 कर्मणा कायदण्डेन हिरण्यानुग्रहेण वा ।।
 (३०) अपूर्वदेशाधिगमे युवराजाभिषेचने ।
 पुत्रजन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते ।।

इत्यध्यक्षप्रचारे द्वितीये धिकरणे नागरिकप्रणिधिर्नाम षड्त्रिंशो ध्यायः, आदितः षड्प चाशः ।

समाप्तमिदमध्यक्षप्रचारो नाम द्वितीयमधिकरणम् ।

हिन्दी अनुवाद

- (१) समाहर्ता की तरह नागरिक अधिकारी भी नगर के प्रबन्ध की चिन्ता करे। उत्तम दस कुलों, मध्यम बीस कुलों और अधम चालीस कुलों का प्रबन्ध गोप नामक अधिकारी करे। उन कुलों के स्त्री-पुरुषों के वर्ण, गोत्र, नाम, कार्य, उनकी संख्या और उनके आय-व्यय के सम्बन्ध को वह भली-भाँति जाने।
 (२) इसी प्रकार दुर्ग के चौथे हिस्से का प्रबन्ध, अर्थात् दुर्ग में रहने वाले स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में उक्त जानकारी स्थानिक नामक अधिकारी प्राप्त करे।
 (३) धर्मशाला के प्रबन्धक को चाहिये कि वह, धूर्त-पाखण्डी मुसाफिरों को गोप की अनुमति से ही टिकाये, किन्तु जिन तपस्वियों या श्रोत्रियों को वह स्वयं जानता है, उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर भी टिका सकता है।
 (४) मोटे तथा महीन कार्य को करने वाले सुपरिचित एवं विश्वस्त कारीगर को अपने कार्य करने के स्थानों में ठहराया जा सकता है। व्यापारी लोग अपने जान-पहचान वाले व्यापारियों को अपनी-अपनी दुकानों में ठहरा सकते हैं, किन्तु देशकाल के विपरीत व्यापार करने वाले दूसरे के सामान को अपने व्यवहार में लाने वाले व्यक्ति की सूचना नागरिक अधिकारी को कर देनी चाहिये।
 (५) मद्य-मांस बेचने वाले, होटल वाले और वेश्यायें अपने-अपने परिचितों को अपने घर ठहरा सकते हैं। जो व्यक्ति अधिक खर्चीला दीखे या अधिक शराब पीता हो, उसकी सूचना गोप अथवा स्थानिक के पास भेज देनी चाहिये।
 (६) जो व्यक्ति हथियार लगे अपने घावों का इलाज छिपा कर कराता है और रोग या महामारी आदि फैलाने वाले द्रव्यों का छिपे तौर से उपयोग करता है, उसका इलाज करने वाला वैद्य

यदि उसके इन कार्यों की सूचना गोप या स्थानिक को दे देता है तो वह अदण्ड्य है, किन्तु यदि वह सूचना न दे तो अपराधी के समान ही उसको भी दण्ड दिया जाना चाहिये, जिस घर में ऐसे कार्य किये जाते हों उस घर का मालिक यदि गोप या स्थानिक को सूचित कर देता है तो वह क्षम्य है, अन्यथा उसको भी अपराधी के समान दण्ड दिया जाना चाहिये।

- (७) घर के मालिक को चाहिये कि वह घर से जाने वाले या घर में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति की सूचना गोप को दे। अन्यथा वे लोग रात्रि में यदि किसी की चोरी आदि करें तो ग हस्वामी उसके लिए उत्तरदायी समझा जायेगा। वे लोग भले ही कुछ भी अपराध न करें, किन्तु सूचना न देने के अपराध में ग हस्वामी प्रतिरात्रि तीन पण दण्ड का भागी है।
- (८) व्यापारियों के वेश में बड़े-बड़े मार्गों पर घूमने वाले, ग्वाले तथा लकड़हारे के वेश में रास्ता छोड़कर जंगलों में घूमने वाले, नगर के भीतर या बाहर बने हुए मन्दिरों, तीर्थों, जंगलों या श्मशानों, कहीं भी, हथियार से घायल, हथियार तथा विष को लिये हुए, सामर्थ्य से अधिक भार उठाये हुये, डरे हुए, घबराये हुए, घोर निद्रा में सोये हुये, थके हुए या इसी प्रकार का कोई अजनबीपन किये हुये, इस प्रकार के संदिग्ध व्यक्ति को पकड़कर नागरिक के सुपर्द कर देना चाहिये।
- (९) इसी प्रकार नगर के खंडहरों में, कल-कारखानों में, शराब की दुकानों में, होटलों में, मांस बेचने वाली दुकानों में, जुआघरों में, पाखंडियों के अड्डों में कोई संदिग्ध व्यक्ति दिखाई दे तो, गुप्तचर उसको पकड़कर नागरिक को सौंप दें।
- (१०) गर्मी की ऋतु में मध्याह्न के चार भागों में आग जलाने की मनाही कर देनी चाहिये। जो भी इस आज्ञा का उल्लंघन करे उसे एक पण का आठवाँ हिस्सा दण्ड दिया जाये। अथवा घास-फूस के मकानों के बाहर खुली जगह में आग जलाई जाये।
- (११) यदि कोई व्यक्ति निषिद्ध समय में पांच घड़ी तक आग जलावे तो उसे चौथाई पण दण्ड दिया जाये और उस व्यक्ति को भी यही दण्ड दिया जाये, जो गर्मी के मौसम में अपने घर के सामने पानी से भरे घड़े, पानी से भरी नांद, सीढ़ी, कुल्हाड़ा, सूप, छाज, कौंचा, फूल आदि को निकालने के लिए लम्बा लट्ट और चमड़े की मशक आदि वस्तुओं का इन्तजाम करके न रखें।
- (१२) गर्मी के मौसम में फूल और चटाई के बने मकानों को एकदम उठा देना चाहिये। बढई और लुहार आदि को किसी एक जगह में ही बसाया जाना चाहिये। घरों के स्वामियों को रात को अपने ही दरवाजों पर सोना चाहिये। गलियों तथा बाजारों में पानी से भरे हुए एक हजार घड़ों का हर समय प्रबन्ध रहना चाहिये। इसी प्रकार चौराहों, नगर के प्रधान द्वारों, खजानों, कोष्ठागारों, गजशालाओं और अश्वशालाओं में भी पानी के भरे हजार-हजार घड़ों का हर समय इंतजाम रहना चाहिये।
- (१३) यदि ग हस्वामी घर में लगी हुई आग को बुझाने का प्रबन्ध न करे तो उस पर बारह पण दण्ड कर देना चाहिये। उस घरमें रहने वाला किरायेदार भी यदि ऐसा ही करे तो उसे छह पण दण्ड दिया जाना चाहिये। यदि धोखे से अपने घर में ही आग लग जाये तो ग हस्वामी को चौवन पण दण्ड देना चाहिये।
- (१४) मकान में आग लगाने वाला व्यक्ति यदि पकड़ लिया जाये तो उसे प्राण दण्ड की सजा देनी चाहिये।
- (१५) सड़क पर मिट्टी या कूड़ा-करकट डालने वाले व्यक्ति को पण का आठवाँ हिस्सा दण्ड दिया जाना चाहिये। जो व्यक्ति गाड़ी, कीचड़ या पानी से सड़क को रोके उसे पण का चौथाई हिस्सा दण्ड दिया जाना चाहिये। जो व्यक्ति राजमार्ग को इस प्रकार गन्दा करे या रोके उसे दुगुना दण्ड दिया जाना चाहिये।

- (१६) राजमार्ग पर मल-त्याग करने वालों को एक पण, पवित्र तीर्थस्थानों पर मल-त्याग करने वालों को दो पण, जलाशयों पर मल त्याग करने वालों पर तीन पण, देवालय में मल त्याग करने वालों पर चार पण और खजाना, कोष्ठागार आदि स्थानों पर मलत्याग करने वाले व्यक्तियों पर पांच पण दण्ड किया जाना चाहिये।
- (१७) यदि जुलाब लेने के कारण या अतिसार, प्रमेह आदि बीमारियों के कारण अथवा किसी डर से, उक्त स्थानों में कोई व्यक्ति मल-मूत्र त्याग करे तो उसे दण्ड नहीं देना चाहिये।
- (१८) मरे हुये बिल्ली, कुत्ता, नेवला और सांप को यदि कोई व्यक्ति नगर के पास या नगर के बीच में डाल आवे तो उस पर तीन पण दण्ड दिया जाना चाहिये। यदि गधा, ऊँट, खच्चर तथा घोड़ा आदि को इस प्रकार छोड़ दिया जाये तो छोड़ने वाले को छह पण दण्ड दिया जाये। मनुष्य की लाश इस प्रकार छोड़ी जाने पर पचास पण दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (१९) मुर्दों को ले जाने के लिए जो रास्ता नियत है उसको छोड़ कर और जो द्वार नियत है, उसको छोड़कर दूसरी ही ओर से मुर्दा ले जाने वालों को प्रथम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये। द्वार का रक्षक पुरुष यदि उन मुर्दा ले जाने वालों को न रोके तो उसे सौ-सौ पण दण्ड दिया जाना चाहिये। श्मशान भूमि के अन्यत्र मुर्दा जलाने और गाड़ने पर बारह पण दण्ड करना चाहिये।
- (२०) रात की पहली छह घड़ी बीत जाने पर और रात के अन्तिम छह घड़ी बाकी रह जाने पर, दोनों समय भोंपू देना चाहिये। उस रात्रि-घोष के बीच यदि कोई व्यक्ति राजमहल के पास गुजरता दिखाई दे तो उसे सवा पण दण्ड दिया जाना चाहिये। जो व्यक्ति रात्रिघोष के ठीक मध्यकाल में आता-जाता पकड़ा जाये, उसे ढाई पण दण्ड देना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति नगर के बाहर इस प्रकार आता-जाता पकड़ा जाये तो उस पर पांच पण दण्ड कर देना चाहिये।
- (२१) उक्त रोक लगे समय में यदि कोई व्यक्ति बगीचों में छिपे हुये पाये जायें, या जिनके पास ऐसा सामान पाया जाये कि उन पर चोर-डाकू होने का शक किया जा सके, अथवा जो पहले से ही बदनाम हो और इस प्रकार घूमते हुए मिल जाये तो उनसे पूछा जाना चाहिये 'तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? कहाँ जाओगे ? क्या कार्य करते हो ? यहाँ तुम क्यों आये हो ?' यदि वे सन्तोषजनक उत्तर दें तो उनके साथ उचित व्यवहार किया जाना चाहिये।
- (२२) यदि इस प्रकार का कोई शंकित व्यक्ति सरकारी इमारतों या नगर-रक्षा के लिये बने सफ़ीलों अथवा दुर्गों के ऊपर चढ़ता हुआ पकड़ा जाये तो उसे मध्यम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये।
- (२३) यदि उक्त रोक लगे समय में प्रसूता स्त्री, वैद्य हकीम, मुर्दाफरोश, उजाला लिए, सूचनार्थ आवाज करते हुए, नाटक-सिनेमा देखने, आग बुझाने आदि के लिए और जिनके पास राजकीय अनुमतिपत्र हो, आते-जाते पकड़ लिये जायें तो उन्हें गिरफ्तार नहीं करना चाहिये।
- (२४) विशेष उत्सवों के समय रात्रि में रोक हटा दी जाने पर जो व्यक्ति मुंह ढककर अथवा वेष बदलकर तथा संन्यासी के वेष में दण्ड या हथियार लिये पकड़े जाये, उन्हें अपराध के अनुसार दण्ड देना चाहिये।
- (२५) जो पहरेदार रोके जाने योग्य व्यक्तियों को न रोक लें तो उन्हें, रोक लगे समय के अपराध से दुगुना अर्थात् ढाई पण दण्ड देना चाहिये। जो पुरुष दूसरे की स्त्री तथा दासी के साथ बलात्कार करे, उसे प्रथम साहस दण्ड देना चाहिये। दासी आदि के अलावा किसी वेश्या के साथ बलात्कार करने पर मध्यम साहस दण्ड देना चाहिये। यदि कोई दासी या वेश्या किसी की पत्नी बन चुकी हो और तब उसके साथ कोई बलात्कार करे तो उसे उत्तम साहस दण्ड दिया जाना चाहिये। जो पुरुष कुलीन स्त्रियों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करे उसको प्राणदण्ड की सजा देनी चाहिये।

- (२६) जान-बूझकर या अनजाने में, रात को किये गये अपराधों की सूचना यदि कोई नगरवासी अध्यक्ष को न पहुंचाये तो अपराध के अनुसार उसके लिए दण्ड नियत होना चाहिये। उन पहरेदारों को भी उनके अपराध के अनुसार यथोचित दण्ड दिया जाना चाहिये, जिन्होंने पहरा देने में किसी प्रकार का प्रमाद किया हो।
- (२७) नगर-अधिकारी को चाहिये कि वह जल-स्थल मार्ग, सुरंग मार्ग, सफील, परकोटा, खाई तथा बुर्ज आदि की अच्छी तरह देखभाल करें और उन सभी खोये हुये, भूले हुए, छूटे हुए, आभूषण, सामान या प्राणियों को तब तक अपने संरक्षण में रखे, जब तक कि उनके असली मालिक का पता न लग जाये।
- (२८) जेल में बन्द हुए बूढ़े, बच्चे बीमार और अनाथ कैदियों को राजा की वर्षगांठ आदि अच्छे उत्सवों या पूर्णिमा आदि पर्वों पर छोड़ दिया जाना चाहिये। धोखे में यदि कोई धर्मात्मा पुरुष अपराधी बनाकर कैद में डाला गया हो तथा ऐसे व्यक्ति, जो भविष्य में अपराध न करने की प्रतिज्ञा करते हों, उन्हें अपराध के बदले में धन लेकर छोड़ देना चाहिये, उन्हें फिर जेल में न रखा जाना चाहिये।
- (२९) प्रतिदिन या प्रति पांचवें दिन, ऐसा नियम बना दिया जाये कि उस दिन धन लेकर, शारीरिक दण्ड देकर या कार्य कराकर कुछ कैदी छोड़ दिये जायें। धनदण्ड, शारीरिक दण्ड या कार्यदण्ड, इन तीनों में से जो कैदी आसानी से जिस दण्ड को भुगत सके वही दण्ड उसको दिया जाये।
- (३०) किसी नये देश को जीतने पर, युवराज का राज्याभिषेक होने पर और राजपुत्र के जन्मोत्सव पर कैदियों को छोड़ देना चाहिये।
- अध्यक्षप्रचार नामक द्वितीय अधिकरण में नागरिकप्रणिधि नामक छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त।

इकाई-IV

रामायण एवं महाभारत

वाल्मीकि रामायण

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की अमरकृति रामायण न केवल संस्कृत साहित्य की अपितु प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता की एक अमूल्य निधि है। एक ओर जहां रामायण विश्व में सम द्रुतम संस्कृत साहित्य के परम महनीय आदि-काव्य के स्थान पर प्रतिष्ठित है, वहां दूसरी ओर उसको संसार में प्राचीनतम भारतीय आर्य संस्कृति और सभ्यता के एक जीवन्त महाकाव्य होने का गौरव भी प्राप्त है। जो दिव्यता, भव्यता, और रमणीयता केवल इस काव्य में पाई जाती है, वह अन्यत्र नहीं है।

महर्षि वाल्मीकि ने प्रसिद्ध रामकथा के माध्यम से अपनी अलौकिक काव्यतूलिका द्वारा वेदों और उपनिषदों में वर्णित सर्वोच्च मानव संस्कृति के शाश्वत ओर स्वर्णिम तत्त्वों का एक ऐसा भव्य चित्र दिया है जो मानवीय हाते हुए भी दिव्य है--

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

ऋग्वेद के मन्त्र में दिया गया काव्य का यह लक्षण कि काव्य न कभी मरता है न जीर्ण होता है, मानो महाकवि वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना द्वारा सार्थक कर दिया है। शताब्दियों पूर्व रची गई आदिकवि की यह अद्वितीय कृति आज भी अपनी कीर्ति द्वारा सर्वत्र देदीप्यमान हो रही है। तथा नित्य-नवीन रश्मियों द्वारा उद्भासित हो रही है। यह एक अमर कृति है जैसा कि स्वयं वाल्मीकि ने भी कहा है कि--

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।

तावत् रामायणी कथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।

अर्थात्- पृथ्वी पर जब तक पर्वतों एवं नदियों की सत्ता है तब तक संसार में रामायण का प्रचलन रहेगा।

महाकवि वाल्मीकि की इस अनुपम कृति से ही भारतीय काव्यों का प्रारम्भ होता है। वाल्मीकि रामायण लौकिक संस्कृत साहित्य की प्रथम रचना है तथा 'आदिकाव्य' के रूप में विख्यात है। यह लोकप्रिय इतिहास-काव्य उदात्त विचारधारा और परवर्ती काव्यों को प्रभावित करने वाला है। वाल्मीकि रामायण एक ओर भारतीय पांडित्य का, अप्रतिम-प्रतिभा का, संस्कृति का और करुण रस का निदर्शन करती है, तथा दूसरी ओर मानव-कर्त्तव्यों, लोक व्यवहार एवं विश्वधर्म की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करती है। त्याग, उदारता एवं सहानुभूति का मूल रूप भारतीयों के समक्ष रामायण ही आदर्श रूप में प्रस्तुत करती है। अनेकों विद्वान् इस काव्य को भारत का ही नहीं अपितु विश्व-वाङ्मय का श्रेष्ठ महाकाव्य मानते हैं।

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने तमसा नदी के किनारे व्याध द्वारा क्रौंच युगल में से एक का वध होते हुए देखा तथा उसकी मृत्यु पर शोक-विह्वल क्रौंची को भी देखा। इस घटना से प्रायः जनसाधारण के अन्तराल में किंचित ही सहानुभूति होती, परन्तु वाल्मीकि के रसप्लावित हृदय में अविरल शोकधारा प्रवाहित हो गई, जो छन्दोमयी वाणी में प्रस्फुटित हुई--

‘मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

यहां कवि का हृदयस्थ शोक ही मानो श्लोक रूप में परिणत हो गया। इस ‘काव्यबीज’ के प्रस्फुटित होते ही काव्य-जगत् को एक नई दिशा मिली, तथा अलंकृत लौकिक काव्यों का शुभारम्भ हुआ। इस आदिकाव्य की रचना इक्ष्वाकुवंशी ‘राम’ के जीवन-चरित को लेकर की गई है। इसका सम्पूर्ण कथानक सात काण्डों में विभक्त है जो क्रमशः बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड, एवं उत्तरकाण्ड हैं। दशरथ पुत्र राम इस आदिकाव्य के नायक हैं तथा उनकी पत्नी सीता इसकी नायिका हैं। महाकवि ने इस काव्य में राम के जीवन को आदर्श-पुरुष एवं ‘मर्यादा-पुरुषोत्तम’ के रूप में प्रस्तुत किया है। कवि ने उनके चरित्र को ही मानवता की कसौटी माना है। राम मानवता की चरम अभिव्यक्ति हैं। वाल्मीकि के राम से लोक को ‘रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्’ इस उपदेशमय आदर्श की शिक्षा मिलती है।

आदिकवि की यह कृति रामायण मानवीय जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करने वाला अनुपम काव्य है। आज सहस्राब्दियों बाद भी रामायण का महत्त्व और गौरव तथा उसके प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा का भाव भारतीय जनमानस में अक्षुण्ण बना हुआ है।

रामायण का रचनाकाल

आदिकाव्य रामायण के रचनाकाल के विषय में गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि यद्यपि वैदिक-साहित्य में ‘रामायण के कुछ पात्रों के नामों का उल्लेख मिलता है, जैसे कि सीता, जनक, राम, मरुत् इत्यादि। परन्तु न तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध की कोई सूचना दी गई है और न ही उनके सम्बन्ध में ‘रामायण’ की कथा का निर्देश कहीं प्राप्त होता है। अतः इन आधारों पर यह माना जाता है कि रामायण की रचना वेदों के पश्चात् ही हुई। कामिल बुल्के ने भी ‘रामायण’ नामक अपने शोध ग्रन्थ में इस तथ्य पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किये हैं।

रामायण के रचनाकाल को निर्धारित करने में कठिनाई यह उपस्थित होती है कि इसके कुछ अंश विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त माने जाते हैं। इसके मूल-भाग में राम को मानव-रूप में तथा प्रक्षिप्त अंश में विष्णु के अवतारी रूप में दिये जाने के कारण दोनों अंशों में शताब्दियों का अंतर प्रतीत होता है। इस मत को कामिल बुल्के स्वीकार करते हैं। सर्वमान्य धारणा है कि महाभारत से पहले वाल्मीकि रामायण के मौलिक-भाग की रचना हो चुकी थी। क्योंकि महाभारत में राम के आख्यान, वाल्मीकिकृत रामायण, वाल्मीकि के प्राचीन ऋषिरूप, विष्णु के राम रूप में अवतार का वर्णन बारम्बार उपलब्ध होता है। जबकि रामायण में ‘महाभारत’ तथा उससे सम्बद्ध कथावस्तु तथा पात्रों का कहीं उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि महाभारत में द्रौपदी-हरण से दुःखी युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए राम-कथा कही गई है। प्रायः द्रौपदी हरण का प्रसंग रामायण के सीता-हरण के अनुकरण के रूप में कल्पित है। किन्तु यह तर्कसंगत एवं उपयुक्त नहीं है, क्योंकि रामायण में पाण्डवों की कथा का कहीं वर्णन नहीं है जबकि महाभारत में रामायण का बारम्बार उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त महाभारत के सप्तम पर्व में रामायण के युद्धकाण्ड के दो श्लोकों का वाल्मीकि द्वारा गायें गए श्लोक के रूप में उद्धरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त महाभारत काल तक रामकथा से सम्बद्ध स्थान तीर्थ रूप में प्रसिद्ध हो गये थे। इन्हीं तथ्यों के आधार पर जेकोबी ने भी ‘महाभारत को अन्तिम रूप मिलने के पहले ही रामायण को प्राचीन ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी, ऐसा स्वीकार किया है।

गत दो शताब्दियों पूर्व रामायण पहले-पहल पश्चिमी देशों में विख्यात होने लगी थी। उस समय कुछ विद्वानों ने इसकी रचना अत्यन्त प्राचीन कालीन मानी थी। ए. श्लेगेल के अनुसार ईसा से ग्यारह शताब्दी पूर्व रामायण की रचना हुई तथा जी. गोरेसियो ने इससे भी सौ वर्ष पूर्व रचनाकाल माना है। इस मत के प्रतिक्रिया-स्वरूप हवीलर तथा बेबर ने ‘रामायण’ पर यूनानी तथा बौद्ध प्रभाव

मानकर उसकी रचना अपेक्षाकृत अर्वाचीन समझी है। उनके अनुसार बौद्ध जातक कथाओं में 'दशरथ-जातक' कथा के सारांश को लेकर रामायण की रचना की गई होगी।

अधिकतर विद्वान् रामायण को 'बुद्ध' से पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं। भारतीय विद्वानों में चिन्तामणि विनायक वैद्य ने 'वाल्मीकि रामायण' को बुद्ध से पूर्व का स्वीकार किया है। उनके अनुसार रामायण उस काल की रचना है, जब यज्ञ करना आर्यों को विशेष अभीष्ट था। तब बौद्ध धर्म का पता नहीं था, जब वैदिक देवताओं की पूजा होती थी, स्त्रियां वेद पढ़ती थीं, वैदिक यज्ञ करती थीं, जब क्षत्रिय ज्ञान में ब्राह्मण को हरा देते थे और ब्राह्मण शस्त्र-विद्या में क्षत्रियों को हरा देते थे। इनके अतिरिक्त कृष्णकुमार ओझा तथा रामाश्रय शर्मा ने अनेक प्रमाणों के आधार पर रामायण का रचनाकाल बुद्ध से पूर्व सिद्ध किया है।

यादि जातकों की राम कथा में 'दशरथ-जातक' को आधार मान लिया जाए, तो रामायण के निर्माण का काल ईसा से ३०० वर्ष पूर्व का माना जाता है। बेबर के इस मत का कि 'रामायण' बौद्धकाल के बाद की रचना है, जितेन्द्रचन्द्र खण्डन करते हैं। उनके कथानुसार 'डा. बेबर इस विषय में कुछ भूल कर गये हैं। बेबर यदि कहना चाहते हैं कि बौद्ध जातकों में रामकथा मिलती है तो उनका कथन सत्य हो सकता है। यदि वे रामायण की कथा-वस्तु बौद्ध जातकों से ली गई ऐसा मानते हैं, तो उनका कथन असंगत प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान् जेकोबी ने भाषा-तत्त्वों के आधार पर विवेचना करके रामायण के समय को जातकों से पूर्व का माना है।

रामायण की प्रचीनता को प्रमाणित करने वाले कुछ अन्तःसाक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं-

प्रथम यह है कि पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ईसा से ५०० वर्ष पूर्व मगध नरेश अजातशत्रु ने की थी। पहले यह एक साधारण ग्राम था, जिसका नाम बौद्ध ग्रन्थों में पाटलि-ग्राम दिया गया है। अजातशत्रु ने शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के लिए गंगा एवं सोन नदियों के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया था। रामायण में राम सोन-गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख कहीं नहीं मिलता अतः रामायण का रचनाकाल ५०० ईसा से पूर्व ही सिद्ध होता है।

रामायण में यह उल्लेख आता है कि राम गंगा पार करके विशाला नगरी पहुंचे तथा मिथिला राज्य का भी वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि रामायण काल में विशाला तथा मिथिला दो पथक्-पथक् राज्य थे। परन्तु बुद्ध के समय में ये पथक् एवं स्वतन्त्र राज्य न होकर वैशाली राज्य में सम्मिलित कर दिये गये थे। शासन पद्धति भी गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः यह सिद्ध होता है कि रामायण बुद्ध से प्राचीन काल की रचना है।

इसके अतिरिक्त रामायण के बालकाण्ड के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि उस समय भारत कौशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। यह राजनीतिक अवस्था भी बुद्धपूर्व कालीन भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

रामायण में भारत का दक्षिण भाग एक विराट अरण्यानी के रूप में अंकित किया गया है, जिसमें राक्षस, वानर आदि असभ्य तथा अर्धसभ्य जातियां निवास करती थीं इससे यह पता चलता है कि इन भागों में आर्य सभ्यता के प्रसार होने से पहले रामायण का निर्माण हुआ होगा।

जैन आचार्य विमलसूरी ने ईसा की प्रथम शती में रामकथा को अपने प्राकृत-काव्य 'पउमचरिय' में जैनधर्म एवं दर्शन के अनुरूप समाविष्ट किया है। इसके अतिरिक्त रामायण में आयोनियन और ग्रीक लोगों के प्रभाव का उल्लेख बतलाया जाता है, जो सम्भवतः ३०० ईसा पूर्व के पश्चात् जोड़ दिया था। अतः रामायण का काल इनसे पूर्व का ही होना चाहिए।

पश्चात्य विद्वानों में जेकोबी ने रामायण का रचनाकाल छठी शताब्दी ईसा पूर्व से आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना है। मेकडानल ने भी जेकोबी के तर्क दोहराकर रामायण की उत्पत्ति बुद्ध धर्म से पूर्व ही मानी है। 'परन्तु विंटरनिट्स वाल्मीकि को तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। कामिल बुल्के भी उनके इस मत से सहमत हैं तथा रामायण का काल ३०० ईसा पूर्व स्वीकार करते हैं। अपने

निर्णय की पुष्टि के लिए उन्होंने प्रमाण दिया है कि 'रामायण के प्रधान पात्र (राम, सीता, दशरथ इत्यादि) पाणिनि की अष्टाध्यायी में नहीं मिलते। प्राचीन बौद्ध साहित्य तथा जातकों की सामग्री के विश्लेषण से स्पष्ट है कि त्रिपिटक के रचनाकाल में रामकथा सम्बन्धी स्फुट आख्यान प्रचलित थे।' इन सभी अन्तःसाक्ष्यों तथा बाह्य-साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि रामायण, महाभारत तथा बुद्ध के जन्म से पूर्व की रचना है। बुद्ध का समय पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। इसके आधार पर रामायण का समय इससे पूर्व का होना चाहिए। परन्तु अधिकांश भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वाल्मीकि रामायण का समय तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व स्वीकार किया जाता है।

महर्षि वाल्मीकि का जीवन व तान्त

रामायण के रचनाकार महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं अपने को प्रचेता का दशम पुत्र बतलाया है। महर्षि के विषय में अन्य प्रामाणिक जानकारी के सूत्र का अभाव होते हुए भी यत्र-तत्र प्राप्त सामग्री के आधार पर उनके जीवन का एक संक्षिप्त चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। महर्षि वाल्मीकि का जन्म एक ब्राह्मण के घर हुआ था, किन्तु उनके आचार-विचार ब्राह्मणोचित नहीं थे। उनका जन्म का नाम अग्नि शर्मा था। वह पिता की आज्ञा के उपरान्त भी वेदाभ्यास नहीं करते थे। एक बार उनके देश में बहुत समय तक पानी नहीं बरसा। अतः उनके परिवारीजन देश के अन्य लोगों के साथ दक्षिण दिशा को चले गये। जहां उनका परिवार विदिश वन में आश्रम बना कर रहने लगा। वहां अग्नि शर्मा का चोर-डाकुओं का साथ हो गया, और वह उस जंगल में लोगों को लूटने लगा। एक बार जंगल में उन्होंने सप्तर्षियों को देखा। वाल्मीकि ने उनको भी लूटना चाहा। मुनियों ने उन्हें रोकते हुए पूछा कि तुम ऐसा पाप-कर्म क्यों करते हो उन्होंने मुनियों को बताया कि उनके परीवारीजन आदि भूखे हैं तथा उन्हीं का भरण-पोषण करने के लिए वह गिरि कानन में घूमते हैं। इस पर निश्चल भाव से मुनियों ने कहा कि जाओ और अपने परिवार वालों से पूछो कि तुम जिनके लिए प्रतिदिन पापों का संचय कर रहे हो वे सब उन पापों के भागी हैं अथवा नहीं। वाल्मीकि ने अपने घर जाकर यह प्रश्न पूछा तो परीवारीजनों ने उत्तर दिया कि तुम्हीं पाप करते हो तथा तुम्हीं उसके फल के भागी होगे। ऐसा सुनकर वह लौटे और धनुषादि का परित्याग करके उन्होंने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया तथा रक्षा करने की याचना की। इस पर मुनियों ने उन्हें एकाग्र मन से 'राम राम' को सदा उल्टा करके जपने का उपदेश दिया तथा यह कहकर चले गये कि जब तक हम पुनः लौटकर न आवें तब तक वह यही जपते रहें। वाल्मीकि ने एकाग्र मन से वैसा ही किया। इस प्रकार शान्त होकर बहुत समय तक बैठे रहने से उनके ऊपर 'वल्मीक' (दीमक की बाँबी) एकत्र हो गई। समय व्यतीत होने पर सप्तर्षि फिर लौट कर आये, उन्होंने वाल्मीकि को उठाया और कहा कि हे मुनीश्वर तुम वाल्मीकि हो क्योंकि तुम्हारा यह दूसरा जन्म 'वल्मीक' से हुआ है।

प्रचलित जनश्रुति एवं कृत्तिवासीय रामायण के अनुसार वाल्मीकि का बचपन का नाम रत्नाकार था तथा जंगल में उनकी भेंट नारद से हुई थी। महाभारत में भी कई स्थानों पर वाल्मीकि के नाम का उल्लेख मिलता है। द्रोणपर्व में तो रामायण के एक श्लोक का उनके नाम सहित वर्णन भी मिलता है। रामायण के अनुसार वाल्मीकि एक ऋषि थे, जिनका आश्रम तमसा नदी के तट पर था। एक बार महर्षि नारद उनके आश्रम पर आये। वाल्मीकि ने उनसे किसी पुरुष के चरित्र के विषय में पूछा ताकि वह उस एक काव्य लिख सकें इस पर नारद ने उन्हें राम का चरित्र सुनाया।

वाल्मीकि के जीवन के सम्बन्ध में एक घटना और प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख वाल्मीकि रामायण में मिलता है। एक बार महर्षि वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर प्रातः स्नान करने के लिए गये। वहां उन्होंने देखा कि एक बहेलिये ने निकट ही एक वक्ष की डाल पर बैठे क्रॉच पक्षी के जोड़े में से एक को मार दिया। मादा क्रॉच के शोक ने महर्षि वाल्मीकि के कोमल और दयालु हृदय को विचलित कर दिया। उन्होंने बहेलिये को बहुत काल तक दुःखी रहने का शाप दिया :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।

यत् क्रौ चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

वाल्मीकि का यह श्लोक विश्व का सबसे प्रथम काव्य माना गया है, तथा इसके कारण ही वाल्मीकि को आदि कवि माना जाता है। रामायण में उल्लेख है कि ब्रह्मा वाल्मीकि के इस श्लोकबद्ध काव्यानुभूति युक्त शाप को सुन कर प्रसन्न हुए और इस श्लोक की परम्परा को आगे बढ़ाने की इच्छा से उनके सम्मुख उपस्थित होकर आशीर्वाद देते हुए आदेश दिया कि वे इसी छन्द में, नारद के बताये अनुसार राम के चरित्र पर आधारित एक काव्य की रचना करें।

जहां महर्षि वाल्मीकि के सम्बन्ध में किसी भी बाह्य साक्ष्य का अभाव है, वहां उन्होंने रामायण में भी अपने जीवनवत्त का भी कोई उल्लेख नहीं किया है। फिर भी वाल्मीकि रामायण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह राजा दशरथ के सखा थे। राम, लक्ष्मण और सीता ने उनके आश्रम में जाकर उनसे भेंट की थी। राम ने जब सीता को घर से निकाल दिया था तब वह महर्षि के आश्रम में जाकर रही थीं। यहीं पर उन्होंने लव और कुश को जन्म दिया था। लव और कुश ने वाल्मीकि की रामायण को बहुत ध्यान से सुना और कंठस्थ कर अश्वमेध यज्ञ के समय गाकर सुनाया तथा महर्षि वाल्मीकि के साथ उस समय सीता भी राम के दरबार में आई थी, तथा महर्षि ने सीता की पवित्रता की साक्षी भरे दरबार में दी थी।

महर्षि वाल्मीकि के जीवन से सम्बन्धित इन घटनाओं की प्रामाणिकता निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं की जा सकती। अनेक आधुनिक शोधकर्ता वाल्मीकि को राम का समकालीन नहीं मानते तथा रामायण में प्राप्त उल्लेखों को मूल रामायण के अंश के रूप में स्वीकार नहीं करते। चित्रकूट के निकट राम के साथ भेंट होने की घटना का वर्णन भी केवल दाक्षिणात्य पाठ में ही मिलता है। किन्तु महर्षि के जीवन व तान्त के सम्बन्ध में व्यक्त आशंकाओं एवं संदेहों के कारण उनके द्वारा लिखित पुस्तक के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। आज भी प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में रामायण का स्थान बहुत ऊंचा है।

रामायण का आकार प्रकार-

‘रामायण चतुर्विंशति संहिता’ के नाम से विख्यात है; क्योंकि इसमें २४ हजार श्लोक हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार आदि कवि ने त्रेता युग के प्रारम्भ में, राम के जन्म के पूर्व ही, रामायण की रचना की थी। विद्वानों का कथन है कि रामायण के प्रत्येक हजार श्लोक का प्रथम अक्षर गायत्री मन्त्र के अक्षर से ही प्रारम्भ होता है। भारतीय जनजीवन में आदि काव्य धार्मिक ग्रन्थ के रूप में समाद त है।

सम्पूर्ण ‘रामायण’ सात काण्डों में विभक्त है-बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड ! इसके प्रत्येक काण्ड में अनेक सर्ग हैं। जैसे, बाल में ७७, अयोध्या में ११६, अरण्य में ७५, किष्किन्धा में ६७, सुन्दर में ६८, युद्ध में १२८ तथा उत्तर में १११ ‘रामायण’ एक ऐतिहासिक काव्य होने के अतिरिक्त, भारतीय संस्कृति सभ्यता एवं चिन्तन-प्रणाली का अपूर्व कोश है, जिसमें भाषा और भाव का अत्यन्त प्रौढ़ तथा अलंकृत शैली का भव्य रूप प्रस्तुत किया गया है। इसमें राम की मुख्य कथा के अतिरिक्त बाल एवं उत्तर काण्ड में अनेक कथाएँ एवं उपकथाएँ हैं। ग्रन्थारम्भ में कवि वाल्मीकि द्वारा यह प्रश्न किया गया है कि इस लोक में पराक्रमी एवं गुणवान् कौन व्यक्ति है ? नारद उन्हें दशरथ सुत राम का नाम बतलाते हैं।

बालकाण्ड-आगे के सर्गों में अयोध्या, राजा दशरथ एवं उनके शासन तथा नीति का वर्णन है। राजा दशरथ पुत्र-प्राप्ति के निमित्त पुत्रेष्टि (यज्ञ) करते हैं तथा ऋष्यशङ्ग के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होता है और राजा को चार पुत्र होते हैं। राजा की तीन पटरानियों में से कौशल्या से राम, कैकेयी से भरत एवं सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उत्पन्न होते हैं। विश्वामित्र अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण को मांग कर ले जाते हैं, वहाँ उन्हें महर्षि द्वारा बला और अतिबला नामक दो विद्याएँ तथा अनेक अस्त्रों की प्राप्ति होती है तथा वे उनके संचालन की विधि का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। राम विश्वामित्र के यज्ञ में बाधा डालने वाले राक्षसों--ताड़का, मारीच तथा सुबाहु-का वध कर सिद्धाश्रम देखते हैं।

बालकाण्ड में बहुत-सी कथाओं का वर्णन है, जिन्हें विश्वामित्र ने राम को सुनाया है। विश्वामित्र के वंश का वर्णन तथा तत्संबंधी कथाएँ, गंगा एवं पार्वती की उत्पत्ति की कथा, कार्तिकेय का जन्म, राजा सगर एवं उनके साठ सहस्र पुत्रों की कथा, भगीरथ की कथा, दिति-अदिति की कथा तथा समुद्र-मंथन का व तान्त, गौतम-अहल्या की कथा तथा राम के दर्शन से उसका उद्धार, वसिष्ठ एवं विश्वामित्र का संघर्ष. त्रिशंकु की कथा, राजा अम्बरीष की कथा, विश्वामित्र की तपस्या एवं मेनका द्वारा उनकी तपस्या भंग होना, विश्वामित्र का पुनः तपस्या में प्रवृत्त होना एवं ब्रह्मर्षि-पद की प्राप्ति, राम-लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ मिथिला में पधारना, सीता और उर्मिला की उत्पत्ति का वर्णन, राम द्वारा शिव धनुष का तोड़ना एवं चारों भाईयों का विवाह।

अयोध्या काण्ड- काव्य-वैभव की दृष्टि से यह काण्ड अत्यन्त महनीय है। इसमें अधिकांश कथाएँ मानवीय हैं। राजा दशरथ द्वारा राम के राज्याभिषेक की चर्चा सुन कर कैकेयी की दासी मंथरा का कैकेयी को बहकाना, कैकेयी का कोपभवन में जाना और राजा के मनाने पर पूर्व प्राप्त दो वरदानों को मांगना, जिसके अनुसार राम को चौदह वर्षों का वनवास एवं भरत को राजगद्दी की प्राप्ति। इसके फलस्वरूप राम, सीता और लक्ष्मण का वन-गमन एवं उनके वियोग में राजा दशरथ की मृत्यु। ननिहाल से भरत का अयोध्या आगमन और राम को मनाने के लिये उनका चित्रकूट में प्रस्थान करना, राम-लक्ष्मण का भरत-संबंधी सन्देह तथा परस्पर वार्तालाप, भरत और राम का विलाप, जाबालि द्वारा राम को नास्तिक धर्म का उपदेश तथा राम का उन पर क्रोध करना, पिता के वचन को सत्य करने के लिए राम का भरत को लौटकर राज्य करने का उपदेश, राम की चरण-पादुका का लेकर भरत का लौटना और नन्दिग्राम में वास, राम का दण्डकारण्य में प्रवेश करना।

अरण्यकाण्ड-दण्डकारण्य में राम का स्वागत तथा विराध का सीता को छीनना, विराध-वध, पंचवटी में राम का आगमन, जटायु से भेंट, शूर्पणखा व तान्त, खरदूषण एवं त्रिशरा के साथ राम का युद्ध एवं सेना सहित तीनों का संहार, शूर्पणखा द्वारा रावण के पास जाकर अपना हाल कहना और मारीच का स्वर्ण मग बनना, स्वर्णमग का राम द्वारा वध एवं सूना आश्रम देख कर रावण का सीता-हरण करना, पक्षिराज जटायु का रावण से सीता को छुड़ाने के प्रयत्न में घायल होना तथा राम-लक्ष्मण द्वारा उसका वध, दिव्य रूप धारी कबन्ध का राम-लक्ष्मण को सुग्रीव से मित्रता करने की राय देकर ऋष्यमूक तथा पम्पा सरोवर का मार्ग बताना, राम-लक्ष्मण का पम्पा सरोवर के तट पर मतंग वन में जाना तथा शबरी से भेंट, अपने शरीर की आहुति देकर शबरी का दिव्यधाम में पहुँचना।

किष्किन्धाकाण्ड-पम्पा के तीर पर राम-लक्ष्मण का शोकपूर्ण संवाद तथा पम्पासर का वर्णन, दोनों भाईयों को ऋष्यमूक की ओर आते देखकर सुग्रीव का भयभीत होकर हनुमान् को उनके पास भेजना तथा राम और सुग्रीव की मैत्री, सुग्रीव का राम से बाली की कथा कहना एवं राम द्वारा बाली का वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक एवं सीता की खोज करने के लिये उसका वानरों को भेजना, वानरों का मायासुर-रक्षित ऋक्षबिल में जाना तथा वहाँ स्वयंप्रभा तपस्विनी की सहायता से सागर-तट पर पहुँचना, सम्पाति से वानरों की भेंट तथा उनके पंख जलने की कथा, जाम्बवान् द्वारा हनुमान् की उत्पत्ति की कथा कहना तथा उन्हें समुद्र लंघन के लिये उत्साहित करना, हनुमान् का समुद्र लौंघने के लिए उत्साह प्रकट करना, जाम्बवान् द्वारा उसकी प्रशंसा तथा वेगपूर्वक छलौंग मारने के लिये हनुमान् जी का महेन्द्र पर्वत पर चढ़ना।

सुन्दरकाण्ड-समुद्र-संतरण करते हुए हनुमान् का लंका में जाना, लंकापुरी का अलंकृत वर्णन, रावण के शयन एवं पानभूमि का वर्णन, अशोक वन में सीता को देखकर हनुमान् का विषाद करना, लंका-दहन तथा वाटिकाविध्वंस कर हनुमान् का जाम्बवान् आदि के पास लौट आना तथा सीता का कुशल राम-लक्ष्मण को सुनाना।

युद्धकाण्ड- राम का हनुमान् की प्रशंसा, लंका की स्थिति के सम्बन्ध में प्रश्न, रामादि का लंका प्रयाण, विभीषण का राम की शरण में आना और राम की उसके साथ मंत्रणा, समुद्र पर बाँध बाँधना, अंगद का दूत बनकर रावण के दरबार में जाना तथा लौट कर राम के पास आना, लंका पर चढ़ाई, मेघनाद का राम-लक्ष्मण को घायल कर पुष्पक विमान से सीता को दिखाना, सुषेण वैद्य एवं गरुड़ का आगमन एवं राम-लक्ष्मण का स्वस्थ होना, मेघनाद द्वारा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर राम-लक्ष्मण को मूर्च्छित करना, हनुमान् का द्रोण-पर्वत को लाकर राम-लक्ष्मण एवं वानर-सेना को चेतना प्राप्त कराना, मेघनाद एवं कुम्भकर्ण का वध, राम-रावण युद्ध, रावण की शक्ति से लक्ष्मण का मूर्च्छित होना, रावण के सिरों के कटने पर पुनः अन्य सिरों का उत्पन्न होना, इन्द्र के सारथी मातलि के परामर्श से ब्रह्मास्त्र से राम द्वारा रावण का वध, राम के सम्मुख सीता का आना तथा राम का सीता को दुर्वचन कहना, लक्ष्मण रचित अग्नि में सीता का प्रवेश तथा सीता को निर्दोष सिद्ध करते हुए अग्नि का राम को समर्पित करना, दशरथ का विमान द्वारा राम के पास आना तथा केकयी एवं भरत पर प्रसन्न होने की प्रार्थना करना, इन्द्र की कृपा से वानरों का जी उठना, वनवास की अवधि की समाप्ति के पश्चात् राम का अयोध्या लौटना तथा अभिषेक, सीता का हनुमान् को हार देना तथा रामराज्य का वर्णन, रामायण-श्रवण का फल।

उत्तरकाण्ड- राम के पास कौशिक, अगस्त्य आदि ऋषियों का आगमन, उनके द्वारा मेघनाद की प्रशंसा सुनने पर राम का उसके संबंध में जानने की जिज्ञासा प्रकट करना, अगस्त्य मुनि द्वारा रावण के पितामह पुलस्त्य एवं पिता विश्रवा की कथा सुनाना, रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण की जन्म-कथा तथा रावण की विजयों का विस्तारपूर्वक वर्णन, (रावण का वेदवती नामक तपस्विनी को भ्रष्ट करना और उसका सीता के रूप में जन्म लेना) हनुमान् के जन्म की कथा जनक-केकय, सुग्रीव, विभीषण आदि का प्रस्थान, सीता-निर्वासन तथा वाल्मीकि के आश्रम में उनका निवास, लवणासुर के वध के लिए शत्रुघ्न का प्रस्थान तथा वाल्मीकि के आश्रम पर ठहरना, लव-कुश की उत्पत्ति, ब्रह्मण-पुत्र की मृत्यु एवं शम्बूक नामक शूद्र की तपस्या तथा राम द्वारा उसका वध एवं ब्रह्मण-पुत्र का जी उठना, राम का राजसूय करने की इच्छा प्रकट करना, वाल्मीकि का यज्ञ में आगमन तथा लव-कुश द्वारा रामायण का गान, राम द्वारा सीता को अपनी शुद्धता सिद्ध करने शपथ लेने की बात कहना, सीता का शपथ लेना, भूतल से सिंहासन का प्रकट होना और सीता का रसातल-प्रवेश, तापसवेशधारी काल का ब्रह्मा का सन्देश लेकर राम के पास आना, दुर्वासा का आगमन एवं लक्ष्मण को शाप देना, लक्ष्मण की मृत्यु तथा सरयू तीर पर पधार का राम का स्वर्गारोहण करना, रामायण के पाठ का फल-कथन।

रामायण के संस्करण -

वाल्मीकि रामायण के उपलब्ध होने वाले पाठ एकरूप नहीं मिलते हैं, उसके चार संस्करण मुख्य रूप से उपलब्ध होते हैं। इन चारों के अतिरिक्त बड़ौदा से प्रकाशित रामायण का 'आलोचनात्मक संस्करण' आजकल विशेष रूप से प्रचलित है। ये संस्करण निम्नलिखित हैं-

१. औदीच्य संस्करण
२. गौड़ीय संस्करण
३. दाक्षिणात्य संस्करण
४. पश्चिमोत्तरीय संस्करण
५. आलोचनात्मक संस्करण

(१) **औदीच्य-** यह संस्करण गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई एवं निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इस पर नागेश भट्ट की 'रामीया व्याख्या' भी है छपी है।

(२) **गौड़ीय संस्करण-** इस संस्करण को बंगाल संस्करण भी कहा जाता है। इसका सम्पादन डा. जी गोरेशिया ने १८४८ ई. में पेरिस में किया तथा इसका पुनः प्रकाशन १९३३ में कलकत्ता

संस्कृत सीरीज से हुआ। तीसरा प्रकाशन में इण्डियन हेरीटेज ट्रस्ट मद्रास से हुआ है। डा. गोरेशिया ने इसका इटैलियन भाषा में अनुवाद भी किया है।

(३) दाक्षिणात्य संस्करण-

इसका पहला प्रकाशन तिलक, भूषण, शिरोमणि टीका सहित गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस से १९१२ से १९२० के बीच हुआ। दूसरा प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस बम्बई से तिलक टीका सहित वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पलसीकर ने १९३० में किया। तथा तीसरा प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से १९३५ में हुआ। इसको बम्बई-संस्करण के नाम से भी जाना जाता है। यह अन्य संस्करणों से अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित एवं व्यापक है।

४. पश्चिमोत्तरीय संस्करण-

पश्चिमोत्तरीय संस्करण को कश्मीर-संस्करण भी कहा जाता है। इसका प्रकाशन डी.ए.वी. कालेज लाहौर के अनुसन्धान कार्यालय से १९२३ में हुआ था। अनेक विद्वानों यथा रामलभाया, वी.वी. शास्त्री आदि के द्वारा इसके विभिन्न काण्डों का सम्पादन हुआ है।

इन चारों संस्करणों के पाठों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। कामिल बुल्के ने इन पाठान्तरों का कारण देते हुए कहा है कि वाल्मीकिकृत रामायण प्रारम्भ में मौखिक रूप से प्रचलित थी और बहुत काल बाद भिन्न-भिन्न परम्पराओं के आधार पर वर्तमान लिखित रूप बना। फिर भी कथानक के दृष्टिकोण से तीनों पाठों की तुलना करने पर यह सिद्ध होता है कि कथावस्तु में जो अंतर पाये जाते हैं, वे बहुत ही कम महत्त्वपूर्ण हैं।

तथापि चारों संस्करणों में से किस संस्करण में काव्य अधिक प्रामाणिक और मौलिक रूपेण सुरक्षित है, यह निर्णय करना कठिन है। श्लैगल ने बंगाली संस्करण को अधिक प्रामाणिक माना है। जबकि बोटलिंग के अनुसार इसका सर्वप्राचीन रूप बम्बई संस्करण में प्राप्त होता है। हरिवंश पुराण के सर्ग २३७ में रामायण विषयक उल्लेख बंगाली संस्करण से अधिक मिलते हैं। आठवीं और नौवीं शताब्दी के सहित्य में रामायण-विषयक वर्णन बम्बई-संस्करण से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र की 'रामायणमंजरी' से कश्मीर-संस्करण की पूर्व सत्ता का आभास मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी के भोज के रामायण चम्पू का आधार बम्बई संस्करण रहा होगा। वास्तव में इन संस्करणों के विभिन्न रूप अब से हजारों वर्ष पूर्व बन चुके थे और ये सब तब से उसी रूप में चले आ रहे हैं। इन्होंने एक-दूसरे संस्करण को यथासंभव प्रभावित भी किया है।

(५) आलोचनात्मक संस्करण -

इन विभिन्न संस्करणों में प्रामाणिक संस्करण ज्ञात न होने के कारण तथा पाठों में काफी मतभेद होने के कारण, रामायण के पाठ को संशोधित करने का प्रयास किया गया तथा ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा से रामायण का एक संशोधित 'आलोचनात्मक संस्करण' निकाला गया। इसका सम्पादन डा. जी. एच. भट्ट और शाह द्वारा १९६० से १९७५ के बीच हुआ। यह सात भागों में प्रकाशित हुआ है तथा आजकल शोध के क्षेत्र में यह संस्करण विशेष रूप से प्रचलित है। इसमें विभिन्न संस्करणों के पाठान्तरों में से संशोधित एवं प्रामाणिक पाठ को स्वीकार किया गया है तथा अन्य पाठों को पादटिप्पणी में दर्शाया गया है।

अनुवर्ती साहित्य-

रामायण को उपजीव्य मानकर संस्कृत में राम साहित्य का अत्यधिक प्रणयन किया गया है। महाकाव्य, खण्ड-काव्य, कथा काव्य, नाटक, चम्पू आदि विविध काव्य रूपों में राम-विषयक स्वतन्त्र साहित्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई है। यहाँ कतिपय ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की जा रही है -

महाकाव्य-रामायण मंजरी, रामचरित (क्षेमेन्द्र, अभिनन्दन), जानकी हरण (कुमारदास), उदार-राघव (शाकल्लमल्लाचार्य), रघुवीर चरित, (अज्ञात) श्री रामविजय (रूपनाथ उपाध्याय), राघवीयम् (पाणिवाद), रघुवंश (कालिदास), दशावतारचरित (क्षेमेन्द्र) नारायणीय (नारायण भट्ट)।

नाटक-प्रतिमा, अभिषेक, (भास), महावीर चरित, उत्तर रामचरित (भवभूति), कुन्दमाला (दिङ्नाग), अनर्घराघव (मुरारी), प्रसन्न राघव (जयदेव), बालरामायण (राजशेखर), हनुमन्नाटक (दामोदर मिश्र), आश्चर्यचूडामणि (शक्तिभद्र), अद्भुत दर्पण (महादेव), मैथिलीकल्याण (हस्ति-मल्ल), उन्मत्तराघव (भास्कर), दूतांगद (सुभट), कुशलवोदय (छविलाल सूरी), रामाभ्युदय (व्यासमिश्र), जानकी परिणय (रामभद्र दीक्षित)।

अन्य अप्राप्य नाटक-उदारराघव, छलितरामयण, कृत्यारामायण, मायापुष्पक, स्वप्रदशानन, अभिनव राघव, रघुविलास, राघवाभ्युदय तथा रामाभ्युदय।

श्लेष काव्य— राघव पाण्डवीय (प्रथम) (धनंजय) राघव पाण्डवीय (माधव भट्ट), राघवनैषधीय (हरदत्तसूरि), रामचरित (सन्ध्याकरनन्दी), राघव-पाण्डव-यादवीय (चिदम्बर)।

विलोमकाव्य— रामकृष्ण विलोम काव्य (सूर्यक), यादव राघवीय (बेंकटाध्वरि), राघव यादवीय (अज्ञात)।

चित्रकाव्य— रामलीलाम त (कृष्णमोहन), चित्रबन्ध रामायण (वेंकटेश)

खण्ड काव्य— श्री रामाभ्युदय (अन्नदाचरणतर्कचूडामणि), जानकी परिणय (चक्र कवि), श्री रामचरित (युवराज कवि), सीता स्यंवर (हरिकृष्ण भट्ट), उत्तर राम चरित (रामपाणिपाद)।

सन्देश काव्य— हंसदूत (वेदान्त देशिक), भ्रमरदूत (रुद्रन्यायपंचानन), वातदूत (श्री कृष्णलाल भट्टाचार्य), हंसदूत (रूपगोस्वामी) शुकसंदेश (लक्ष्मीदास), कोक सन्देश (विष्णुत्रात),

ऐतिहासिक काव्य— रघुनाथाभ्युदय (रामभद्राम्बा), पथीराजविजय (जोनराज)।

व्याकरण काव्य भट्टिकाव्य (भट्टि), रावर्णार्जुनीय (भट्टभीम)।

चम्पूकाव्य— चम्पू रामायण (भोजराज), उत्तररामचरितचम्पू (वेंकट कवि), चित्रचम्पू (बाणेश्वर विद्यालंकार), रघुनाथविजयचम्पू (कृष्ण कवि), भारत चम्पू (अनन्तभट्ट), वरदारम्बिका चम्पू (तिरुमलाम्बा)।

गद्य साहित्य—कथासरित्सागर (सोमदेव, अलंकारवती नामक नवें लम्बक में श्लोक ५८.११२ तक रामचरित का वर्णन), व हत्कथामंजरी (क्षेमेन्द्र), रामकथा (वासुदेव)।

सांस्कृतिक महत्त्व -

‘वाल्मीकि रामायण’ में राम की जीवन गाथा के माध्यम से मानव के आदर्श रूप की प्रतिष्ठा हुई है और विराट् पृथ्वी पर उदात्त कथानक की योजना कर उसे महिमा मण्डित किया गया है। कवि ने अपने काव्य के कथानक को ऐसी घटनाओं से सुसज्जित किया है, जिसमें महान् आदर्शों का समन्वय होने से उसके प्रबल, मंगलमय तथा व्यापक प्रभाव की सृष्टि हुई है। उसने ‘रामायण’ में मानव जीवन की सफलता, विफलता, मिलन और वियोग, स्वार्थपूर्ण, अहंकार का पराभव, त्याग और तपस्या से संवलिता जीवन की विजय, नारी का सर्वस्व समर्पण, उसका मरण और रौद्ररूप, पुरुष की अबाधित उद्दाम वासना का भोगात्मक विकृत स्वरूप, भौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक संघर्ष, मानवेतर प्रकृति का राग रंजित रूप, महान् आदर्श से अनुप्रेरित युद्ध की विनाशकारी क्रूर लीला तथा भौतिक जगत् के विराट् घटनाचक्र का निर्माण कर मानव-चेतना के अतल गह्वरों को महाकाव्योचित आयाम में प्रतिफलित किया है।

‘रामायण’ में उदात्त कथानक, उदात्तभाव, उदात्त चरित्र तथा गरिमामयी उदात्त शैली का एकत्र गुंफन हुआ है। वाल्मीकि मानव प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षक एवं परिस्थिति के अनुरूप मनोवैज्ञानिक परिवेश प्रस्तुत करते हुए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं उदात्त से उदात्त मनःस्थिति का अंकन करने में सिद्धस्त हैं। उनकी कविता अभ्यास लब्ध कला का रूप प्रस्तुत न कर उस क्रान्तद्रष्टा कवि की आत्मा की वाणी है, जो अबाध गति से या अयत्न साध्यरूप से मुखरित होती है। जब वह किसी विषय का वर्णन करने लगता है या किसी परिस्थिति का आवेष्टन प्रस्तुत करता है तो उसकी वाणी अनायास अलंकृत हो जाती है और कथन को आकर्षक बनाने वाले सभी तत्त्व अहमहमिकया उसमें अनुस्यूत हो जाते हैं, जीवन की विविध-चिंतन-सरणियाँ स्वतः आविर्भूत हो जाती हैं। अभिप्राय

यह कि कवि नीति राजनीति, प्रेम—दर्शन, तत्त्वज्ञान अथवा समाज—दर्शन की मान्यताओं से अपने काव्य को आपूर्ण कर उसके कलेवर की सघनता या सहज घनत्व को भावना के ऐश्वर्य से जगमगा देता है। 'रामायण' की सहज और निर्दोष शैली उन स्थलों पर असाधारण हो जाती है, जहाँ कवि प्रकृति अथवा नारी—सौन्दर्य की छवि का अंकन करता है। उस समय उसमें अद्भुत ऐश्वर्य, अलंकारों का विलास तथा लक्षणा—व्यंजना के चमत्कार के साथ ही साथ कल्पना और विम्ब योजना की विचित्र सम द्वि दिखायी पड़ती है।

वाल्मीकि ने राष्ट्र की समग्र सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है और उसे अभिव्यक्ति की कला से अलंकृत किया है। भारतीय चिंतन की परम्परा और सहस्रों वर्षों के इतिहास में यहाँ के वासियों ने विश्व को जो कुछ अपना सर्वोत्तम दिया है उसको ललित, मोहक, और सशक्त वाणी में प्रकट करने का कार्य वाल्मीकि ने किया है। भारत का जो कुछ भी महान् है भारत का जो भी कुछ विराट है, भारत का जो कुछ भी महनीय है, भारत का जो कुछ उदात्त भी है, उसका समवेत स्वर वाल्मीकि के काव्य में ध्वनित है। मानव में देवत्व का गुण भर कर उन्होंने अपनी कला को गौरवान्वित किया है और वैदिक कविता से सर्वथा भिन्न एक नूतन काव्य—पद्धति का संधान कर उसमें मानवीय आदर्शों से मुखरित जीवनादर्श को प्रतिष्ठित करते हुए सृष्टि के सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक स्थान पर एकत्र किया है। उसकी काव्य दृष्टि भावात्मक, बौद्धिक तथा रसात्मक आदर्श से परिपुष्ट है और उसका सांस्कृतिक परिवेश अत्यन्त व्यापक तथा महनीय है। समष्टि रूप में मानव चित्त की निरन्तर विकासशील भाव—चेतना को देखना हो तो कोई रामायण को पढ़े। वह जीवन के स्थायी मूल्यों एवं उसको महान् बनाने वाले आदर्शपूर्ण तथ्यों से आपूर्ण है।

'रामायण' में ऐसे पुरुषों के चरित्र का वर्णन हुआ है, जो शास्त्र—सम्पन्न एवं परिष्कृत व्यवहार से युक्त हैं। राम के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे ऐसे वाग्मी हैं, जो बहस्पति की भाँति अपने मत की पुष्टि करने में एक के बाद दूसरा तर्क उपस्थित कर देते हैं। अयोध्या काण्ड में राम और जाबालि—सम्वाद कवि के स्वरथ जीवन—दर्शन और जीवन के प्रति आस्था का प्रतीक हैं। वह भोगवाद को अमान्य घोषित कर सत्यरूपी धर्म को समस्त प्राणियों के लिये हितकर मानता है। राम के अनुसार जो मनुष्य धर्म अथवा वेद की मर्यादा को त्याग देता है वह पाप कर्म में प्रवृत्त हो जाता है, उसके आचार—विचार भ्रष्ट हो जाते हैं। सत्य का पालन ही राजाओं का दया प्रधान धर्म है; यही सनातन आचार है। सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है। जगत् में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्य के आधार पर धर्म की स्थिति रहती है। सत्य ही उसकी जड़ है, सत्य से बढ़कर कोई दूसरा परम—पद नहीं है। झूठ बोलने वाले मनुष्य से संसार में लोग उसी प्रकार डरते हैं, जैसे साँप से। संसार में सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है और वही सबका मूल कहा जाता है। मनुष्य अपने शरीर से जो पाप करता है, उसे मन द्वारा पहले कर्तव्य से निश्चित करता है, फिर जिहा की सहायता से उस अन त कर्म (पाप) को वाणी द्वारा दूसरों से कहता है, तत्पश्चात् औरों के सहयोग से उसे शरीर द्वारा सम्पन्न करता है। इस प्रकार एक ही पातक कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार का होता है। जो धर्म में रत रहते हैं, सत्पुरुषों का साथ करते हैं, तेज से सम्पन्न हैं, जिनमें दानरूपी गुण की प्रधानता है, जो कभी किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते तथा जो मल—संसर्ग से रहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य ही संसार में पूजनीय हैं।

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम्।

भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्दते॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।

मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः॥

सत्यमेवानंशंसं च राजवत्तं सनातनम्।

तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्यलोके प्रतिष्ठितः॥

उद्धिजन्ते यथा सर्पान्नरादन तवादिनः।

**धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्व चोच्यते।।
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्।।**

**कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत्।
अन तं जिह्या चाह त्रिविधं कर्मपातकम्।**

धर्मैरताः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दामगुणप्रधानाः।

अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयःप्रधानाः।।

‘रामायण’ में जीवन—सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण का अभाव नहीं है। उसके पात्र आदर्शात्मक स्वरूप ग्रहण करते हुए भी जीवन की आवश्यकताओं तथा उसके व्यापक मूल्य के प्रति उदासीन नहीं हैं। वाल्मीकि ने सर्वत्र ही नैतिक—व्यवस्था के महत्त्व को विशेष स्थान दिया है। अनेक प्रसंगों एवं संदर्भों के अन्तर्गत रामायण में धर्म—तत्त्व का विवेचन किया गया है, किन्तु उसे साहित्यिक अभिव्यक्ति की परिधि में ही रखा गया है। “कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रामायण में धर्म अधर्म के रूपों की अभिव्यक्ति काव्यात्मक हो सकी है। आदि कवि ने राम एवं उनके साथियों तथा रावण एवं उसके सहचरों की जीवन—गाथाओं व संघर्षों द्वारा भलाई—बुराई, धर्म—अधर्म के स्वरूप को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

‘रामायण’ में कवि ने अनेक सन्दर्भों में राजधर्म एवं मित्रधर्म की भी चर्चा की है और युद्धजन्यविजय एवं उससे प्राप्त ऐश्वर्य के प्रति वैराग्य का प्रभाव प्रदर्शित किया है। चित्रकूट में भरत से वार्तालाप करते हुए राम ने कहा है कि ‘जो साम-दाम आदि उपायों के प्रयोग में कुशल राजनीतिशास्त्र का विद्वान्, विश्वासी भक्त्यों को फोड़ने में लगा हुआ, शूर तथा राजा के राज्य को हड़प लेने की इच्छा रखने वाला है— ऐसे पुरुष को राजा नहीं मार डालता है तो वह स्वयं उसके हाथ से मारा जाता है।’

उपायकुशलं वैद्यं भक्त्यसंदूषणे रतम्।

शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स हन्यते।।

जिन शत्रुओं का राज्य से निष्कासन कर दिया जाता है, यदि वे पुनः लौट कर आ जाँएँ तो उन्हें दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

क्वचिद् व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा

दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन।।

नीति बोध के संबन्ध में कवि का दृष्टिकोण अनेक संदर्भों में अभिव्यक्त हुआ है। “जो बल पराक्रम से सम्पन्न तथा पहले ही उपकार करने वाले कार्यार्थी पुरुषों को प्रतिज्ञापूर्वक आशा देकर पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसार के सभी पुरुषों में नीच है।” “जो अपने मुख से प्रतिज्ञा के रूप में निकले हुए भले या बुरे सभी तरह के वचनों को अवश्य पालनीय समझकर सत्य की रक्षा के उद्देश्य से उनका पालन करता है, वह वीर समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ माना जाता है।”

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम्।

आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः।।

शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम्।

सत्येन प्रतिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः।।

युद्ध और वीरों की निन्दा करती हुई तारा बालि-वध के पश्चात् विलाप कर कहती है कि माता-पिता का कर्तव्य है कि वे अपनी कन्या का विवाह शूर-वीरों से न करें—

शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता।

तारा के विलाप से द्रवित होकर सुग्रीव कहता है कि अब कुत्सित जीवन बिताने वाला मेरा मन भोगों के प्रति वैराग्ययुक्त हो रहा है।

ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रसूनो! मनो निव तं हतजीवितेन।

अस्यां महिष्यां तु भ शं रुदन्त्यां पुरे तिविक्रोशति दुःखतप्ते।।

‘रामायण’ की सांस्कृतिक चेतना अत्यन्त प्रौढ़ और कवि की परिष्कृत रुचि तथा उसके सुसंस्कृत परिवेश को द्योतित करती है। उसमें जिस महासमर या संघर्ष का चित्रण है वह वस्तुतः दो जीवन मूल्यों या परस्पर विरोधी दो संस्कृतियों का टकराव है। कवि ने उन्हें नितान्त दो जीवन-दृष्टियों का प्रतीक मान कर चित्रित किया है। वही जाति सुसंस्कृत मानी जाती है या वही व्यक्ति संस्कृत समझा जाता है जिसके व्यक्तित्व में मानवीय गुणों का वैशिष्ट्य हो। राम के जीवन में कवि ने अत्यन्त प्रौढ़ सांस्कृतिक चेतना का प्रदर्शन किया है। रावण की मृत्यु के पश्चात् राम विभीषण को आदेश देते हैं कि वह रावण के लिए स्वर्गादि उत्तम लोकों की प्राप्ति करानेवाला अन्त्येष्टि कर्म करे। उन्होंने कहा कि वैर जीवन काल तक ही रहता है, मरने के बाद उसका अन्त हो जाता है। अब हमारे प्रयोजन की सिद्धि हो गयी, इसलिए तुम रावण का संस्कार करो। इस समय यह मेरे स्नेह का पात्र हो गया है।

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।

क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।।

‘रामायण’ में निहित सांस्कृतिक तत्त्वों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्रकट होता है कि रामायण कालीन संस्कृति का प्राणतत्त्व धर्म था। वह दैनिक जीवन में सुख और संतोष एवं माधुर्य का उत्पादक तथा पारिवारिक जीवन में सद्भावना तथा सामाजिक जीवन में सहकारिता का परिचायक था। आन्तरिक पवित्रता और सत्कर्म के द्वारा ही पाप का पराभव संभव है, यही धर्म का सच्चा रूप है। किसी के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए धर्म का मार्ग ही प्रशस्त राजपथ है और धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन कर तथा नीतियुक्त सदाचरण के द्वारा ही मनुष्य मानवीय गुणों से सम्पन्न हो सकता है; यही आदि कवि की वाणी का परमोज्ज्वल पक्ष है। कवि ने वर्णाश्रम-व्यवस्था के आदर्शों को अपना कर उसके सुप्रतिष्ठित स्वरूप को रामायण में एकत्र किया है। लोक-कल्याण की अपरिमित भावना से उत्प्रेरित होकर ही वाल्मीकि ने आदि काव्य का प्रणयन किया था और उसमें उदात्त जीवन बोध की प्रकल्पना कर विचार की भव्य भूमि पर रामकथा को प्रतिष्ठित किया। उसने भारतीय संस्कृति के सर्वोत्तम पक्ष आचार-दर्शन पर राम-चरित का लोकरंजक रूप प्रस्तुत करते हुए उसमें प्रचुर व्यात्मक का संधान किया और मानव-व्यक्तित्व के विकास और भावनाओं के परिष्करण के लिए काव्यीय सौन्दर्य तथा चारित्रिक निर्माण के लिए लोक को काव्य-दृष्टि प्रदान की। अत्यन्त बोधगम्य शैली में सर्व-साधारण के बीच राम-कथा का महनीय रूप प्रस्तुत कर कवि ने सुसंयत मर्यादाओं के भीतर व्यक्तित्व के विकास का उपदेश किया और यही कवि वाल्मीकि काव्य का परमादर्श या उद्देश्य था। इस दृष्टि से इस महाकाव्य की सांस्कृतिक महत्ता असाह्यरूप से सिद्ध है।

रामायणकालीन समाज -

वर्णव्यवस्था -

रामायण कालीन समाज का आधार ही चतुर्वर्ण व्यवस्था थी। अतः रामायण के अन्तर्गत हमें विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति का भी व्यापक विवरण प्राप्त होता है। वर्ण-व्यवस्था का रामायणीय समाज में कितना महत्वपूर्ण और प्रभावशाली स्थान था, इसे समझने के लिए वह आवश्यक है कि विभिन्न वर्णों का रामायणीय समाज में क्या स्थान था, यह जान लिया जाये।

ब्राह्मण

चतुर्वर्ण व्यवस्था में प्रारम्भ से ही ब्राह्मणों को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त था। पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान लेना और देना ब्राह्मण के ये छह कर्तव्य थे।

दान लेना ब्राह्मणों का महत्वपूर्ण एकाधिकार समझा जाता था। ब्राह्मण त्रिजट जो कि गरीबी के

कारण अपने परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ था, उसे राम के द्वारा पर्याप्त सहायता प्रदान की गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन में लगे रहने के कारण धनोपार्जन की ओर ध्यान नहीं दे पाते थे। अतः राजा से सहायता प्राप्त करने का उन्हें अधिकारी समझा जाता था। रामायण में यद्यपि दान देना ब्राह्मणों का स्पष्ट रूप से कर्तव्य नहीं बतलाया गया है, किन्तु उनके द्वारा अतिथि सत्कार एवं उच्च नैतिक स्तर पर बल दिये जाने से यह निष्कर्ष निकलता है कि दातव्य शक्ति का होना भी ब्राह्मण का आवश्यक गुण समझा जाता था। जो ब्राह्मण उपर्युक्त कठिन सामाजिक कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकते थे उन्हें इस बात की छूट थी कि वह क्षत्रिय अथवा वैश्यों के लिए बताये गये मार्ग का आवश्यकता पड़ने पर अनुसरण करें। ब्राह्मणों द्वारा आजीविका प्राप्त करने के लिए कृषि कार्य करने का वर्णन रामायण में प्राप्त होता है। आचार्य सुधन्वा एक अर्थशास्त्री थे जो कि धनुर्वेद में भी पारंगत थे। राम ने धनुर्वेद की शिक्षा उन्हीं से ली थी। महर्षि अगस्त्य एवं परशुराम द्वारा शस्त्र ग्रहण किये जाने की घटनायें भी सर्वविदित हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रामायणकाल में ब्राह्मणों को समाज द्वारा बहुत महत्वपूर्ण कर्तव्य प्रदान किये गये थे। समाज की समस्त व्यवस्था उनके नैतिक बल पर आधारित थी। किन्तु इतने महत्वपूर्ण कार्य के बदले में भी वे बहुत अधिक धन-धान्य प्राप्ति की आशा नहीं करते थे। वास्तव में गरीबी ही ब्राह्मणों का आभूषण माना जाता था। रामायण में भिक्षाम्बुज ब्राह्मणों का वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वर्ण पूर्णरूपेण ब्राह्मणोचित कार्यों के सम्पादन में लगा रहता था। अतः अपनी आजीविका के लिए दूसरों द्वारा दिये गये दान पर ही निर्भर करता था।

आर्थिक दृष्टि से भले ही समाज ब्राह्मणों को विशेष धन आदि नहीं देता था, किन्तु सामाजिक जीवन में उन्हें बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त था। उन्हें दैनिक जीवन में भी सदैव प्रथम स्थान दिया जाता था। साधारण जनता ही नहीं राजा द्वारा भी ब्राह्मणों को बहुत महत्व दिया जाता था। राम को युवराज बनाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि वह योग्य ब्राह्मणों का सम्मान करते थे। भरत जब लौटकर ननिहाल से आये और उन्हें राम के वन गमन का पता चला तो उन्होंने तुरन्त पूछा कि क्या उन्होंने किसी ब्राह्मण की सम्पत्ति छीन ली थी? इसी भांति जब हनुमान् ने सीता को राम का परिचय दिया तो उन्हें ब्राह्मणानाम् उपासकः कहकर पुकारा। इससे स्पष्ट है कि राजाओं के लिए भी ब्राह्मण उतने ही पूजनीय थे जितने साधारण जनता के लिए। उनका इतना आदर था कि जो कोई भी उन्हें सताता था, दण्ड का भागी होता था। भले ही वह युवराज ही क्यों न हो। राजा मे भी इतना साहस नहीं था कि ब्राह्मणों को रुष्ट कर दे। राजा दशरथ को अपनी इच्छा के विपरीत भी राम तथा लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ भेजना पड़ा था। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों के पास शाप देने की शक्ति के कारण भी लोग उनसे भय खाते थे। इसी कारण न चाहते हुए भी सीता को रावण का अतिथि-सत्कार करना पड़ा था।

समाज के लिए ब्राह्मण इतने आवश्यक समझे जाते थे कि उनके बिना समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। अपने ज्ञान, शिक्षा, धार्मिक कृत्य, कर्मकाण्ड आदि के कारण ब्राह्मणों ने अपने को अपरिहार्य बना लिया था। किसी भी राज्य में ब्राह्मण का होना इतना आवश्यक था कि सुमंत्र ने केकैयी से कहा कि यदि तुम अपने पुत्र को राजा बनाने पर इतना बल दोगी तो कोई भी ब्राह्मण तुम्हारे राज्य में नहीं रहेगा।

रामायणीय समाज में ब्राह्मणों को उतना ही पवित्र समझा जाता था जितना गाय को। ब्रह्म-हत्या बहुत बड़ा पाप तथा अक्षम्य अपराध माना जाता था। दशरथ के तीर से जब श्रवण की मृत्यु हो गयी तो उन्हें यह सोचकर बहुत दुःख हुआ कि शायद उन्होंने ब्राह्मण की हत्या कर दी है। राम ने भी अपने धनुषबाण का प्रयोग परशुराम के ऊपर इसीलिए नहीं किया क्योंकि वह ब्राह्मण थे।

क्षत्रिय

रामायणीय समाज में ब्राह्मणों के बाद दूसरा स्थान क्षत्रियों को प्राप्त था। विराट् पुरुष की भुजाओं

के प्रतीक क्षत्रिय उस युग में शौर्य के प्रतीक माने जाते थे। यह समाज योद्धा वर्ग था, जिसके ऊपर समाज की शान्ति व्यवस्था का भार था। रामाणीय समाज में क्षत्रियों का सर्वप्रमुख कर्तव्य तत्कालीन व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखना था। ब्राह्मण, गाय, दीन-दुखी एवं शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म था। राजा (क्षत्रिय) का यह कर्तव्य था कि यह साधुओं एवं संन्यासियों की उसी भांति रक्षा करे जिस भांति माता अपने गर्भ की रक्षा करती है। रामायण के अनुसार दान देना, यज्ञादि करवाना तथा युद्ध में अपना बलिदान कर देना क्षत्रियों का धर्म था। उस युग की विचारधारा के अनुसार क्षत्रिय धनुष-बाण इसीलिए धारण करते थे जिससे कि पृथ्वी पर कोई दुःखी एवं असहाय न रहे। क्षत्रियों का यह कर्तव्य था कि वह ब्राह्मणों का आदर करे। रामायणकाल में क्षत्रिय राजा को बहुत ही ऊंचा स्थान प्रदान किया गया था किन्तु फिर भी वह ब्राह्मणों से ऊपर नहीं था। राम के पास जब यमुना तट पर रहने वाले ब्राह्मण आये तो राम ने उनसे कहा कि वे उन्हें आदेश दें तथा यह आश्वासन दिया कि उनका जीवन तथा संपूर्ण राज्य ब्राह्मणों की सेवा के लिए है। इसी भांति जब भरत राम से मिलने चित्रकूट गये तब राम ने उनसे पूछा था कि क्या वह ब्राह्मणों को नमस्कार करते हैं तथा शास्त्रों को जानने वाले ब्राह्मण पुरवासी क्या उनके कल्याण की कामना करते हैं। राम जब वनवास के लिए जाने का विचार कर रहे थे तो उन्होंने सीता को यह आज्ञा दी थी कि वह उनके पीछे नित्य प्रति ब्राह्मणों की पूजा किया करे। सीता ने भी लंका में अग्नि परीक्षा से पहले ब्राह्मणों का ध्यान किया था। राजा अलर्क ने तो ब्राह्मणों के मांगने पर अपनी दोनों आंखें तक निकालकर दे दी थीं। राजा त्रिशंकु आख्यान से तो यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणों के मुकाबले में क्षत्रिय असहाय हो जाते थे। यही कारण है वशिष्ठ से पराजित होने पर विश्वामित्र को कहना पड़ा था कि क्षत्रिय बल को धिक्कार है, ब्रह्म-तेज से प्राप्त होने वाला बल ही वास्तव में बल है, क्योंकि आज एक ब्रह्म-दण्ड ने मेरे सभी अस्त्र नष्ट कर दिये। रामायण युग में बड़े-बड़े क्षत्रिय राजा भी ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के लिए तप एवं अनुष्ठान किया करते थे। इस भांति स्पष्ट है कि यद्यपि तत्कालीन समाज में क्षत्रियों का बहुत महत्त्व था किन्तु फिर भी इस क्षेत्र में उनका स्थान ब्राह्मणों के बाद दूसरा ही माना जाना चाहिए।

वैश्य

रामायणकालीन सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के बाद तीसरा स्थान वैश्यों को प्राप्त था। द्विज होने के कारण इनके धार्मिक कृत्य आदि बहुत कुछ दोनों उच्च वर्णों के ही समान थे। उन्हें वेदज्ञान प्राप्त करने, देवपूजा तथा यज्ञों में उपस्थित होने का अधिकार था। वैश्यों का यह कर्तव्य था कि वह ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का आदर करें एवं उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य करें। जैसा कि कहा जा चुका है रामायण में प्रमुख रूप से किन्हीं विशिष्ट वैश्य व्यक्तियों के नामों का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु फिर भी विवरण से स्पष्ट है कि वर्णाश्रम-धर्म व्यवस्था को आर्थिक स्थायित्व प्रदान करने वाले वैश्य ही थे। आर्थिक गतिविधियों को पूर्ण रूप से वैश्यों के ऊपर ही छोड़ दिया गया था। यही कारण है कि उन्हें ब्राह्मण और क्षत्रियों के कार्य करने का अधिकार नहीं था। अयोध्या एवं अन्य नगरों से यह स्पष्ट है कि वहां इनकी बड़ी-बड़ी दूकानें थीं। नागरिकों की संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक और धनवान वर्ग यही था। अपनी संख्या एवं आर्थिक स्थिति के कारण यह समाज का बहुत ही शक्तिशाली वर्ग माना जाता था। रामायणीय समाज में इनका मुख्य कार्य कृषि, गो-पालन, व्यापार आदि के द्वारा समाज का भौतिक उत्थान कराना था। ऐसा प्रतीत होता है कि कार्यों को आधार पर वैश्य विभिन्न गणों एवं नैगमों में संगठित थे। किन्तु रामायण में गण एवं नैगमों के संगठन सम्बन्धी व्यापक विवरण प्राप्त न होने के कारण इस सम्बन्ध में अधिक नहीं कहा जा सकता।

शूद्र

वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के बाद चौथा स्थान शूद्रों को प्राप्त था। विराट

पुरुष के पैरों के प्रतीक इस वर्ण का मुख्य कार्य ही उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना था। समाज में शूद्रों का स्थान बहुत निम्न समझा जाता था। इन्हें वे सामाजिक सुविधाएं एवं अधिकार प्राप्त नहीं थे जो कि उच्च वर्ण को प्राप्त थे। शूद्रों को यद्यपि यज्ञादि में उपस्थित होने का अधिकार था। किन्तु उन्हें यज्ञ आदि करने का अधिकार नहीं था। इन्हें वेदों के अध्ययन का भी अधिकार नहीं था। द्विजों के ऊपर यह बन्धन था कि वह वेद-ज्ञान शूद्रों को प्रदान नहीं करेंगे। रामायण के मूल काण्डों में प्राप्त वर्णन से स्पष्ट है कि शूद्रों को देव-पूजा का अधिकार था, उनकी पूजा देवताओं को ग्राह्य होती थी तथा इन्हें उसका फल पाने का अधिकार था। अपने वनवास काल में राम शबरी के आश्रम पर गये थे जो कि बहुत समय से तपस्या में लगी हुई थी। राम ने उसे तपोधना कहते हुए यह पूछा था कि क्या उसकी तपस्या ठीक चल रही है। रामायण के अनुसार समाधि लेने के बाद शबरी महर्षियों के लोक को प्राप्त हो गयी। अयोध्याकाण्ड में भी अन्ध वैश्य मुनि तथा उनकी शूद्र पत्नी को तपस्वी कहकर पुकारा गया है तथा म त्यु के बाद उन्हें स्वर्ग का अधिकारी माना गया।

किन्तु उत्तरकाण्ड में परिस्थितियाँ परिवर्तित दृष्टिगोचर होती हैं। यहां पर शूद्रों की स्थिति और भी खराब हो गयी। उनके ऊपर अनेकों प्रकार के बन्धन लगा दिये गये। पूर्व रामायणकाल के विपरीत सम्भवतया उत्तरकाण्ड काल में शूद्रों को देव-पूजा का अधिकार भी प्राप्त नहीं था, यही कारण है कि शूद्र शम्बूक जो कि सशरीर स्वर्ग जाने के लिए तपस्या कर रहा था उसका राम ने स्वयं वध किया। यहां पर यह बात स्मरणीय है कि राम के पूर्वज राजा त्रिशंकु ने भी जब सशरीर स्वर्ग जाने के लिए यज्ञ कराना चाहा तो पुरोहित वशिष्ठ ने उनका यज्ञ कराने से मना कर दिया इस पर जब वह वशिष्ठ के पुत्रों के पास यज्ञ कराने को कहने गये तो राजा के गुरुपुत्र कुपित हो गये तथा त्रिशंकु को चाण्डाल हो जाने का शाप दिया। दोनों ही घटनाओं में एक बार एक क्षत्रिय राजा तथा दूसरी बार एक शूद्र ने सशरीर स्वर्ग जाना चाहा तो दोनों के प्रयास को ही अनुचित बताया गया। क्षत्रिय राजा को दण्ड के रूप में चाण्डाल हो जाने का शाप कुल-पुरोहित के पुत्रों द्वारा दिया गया तथा शूद्र को म त्यु दण्ड शासक राम द्वारा दिया गया।

बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में अस्पृश्य एवं चाण्डालों का भी उल्लेख है यह लोग सम्भवतः नगर के बारह श्मशानों के पास रहते थे; यह नीले रंग के कपड़े तथा लोहे के आभूषण पहिनते थे। चाण्डालों का ही एक और वर्ग मुष्टिक कहलाता था, जो कि कुत्ते का मांस खाते थे तथा म तक शरीरों पर से कपड़े उतार कर पहिनते थे। यह समाज से बिलकुल अलग समझे जाते थे। इन्हें मन्दिर, राजमहल तथा ब्राह्मणों के घरों में घुसने की आज्ञा नहीं थी। राजा की विशेष आज्ञा से ही ये सभा भवन में जा सकते थे। ऐसा प्रतीता होता है कि कोई व्यक्ति चाण्डाल जन्म से नहीं हुआ करता था। अपने दुष्कर्मों के कारण कभी-कभी व्यक्ति को चाण्डाल हो जाने का शाप देकर वर्ण-आश्रम व्यवस्था से निकाल दिया जाता था। वास्तव में देखा जाए तो यह एक प्रकार का दण्ड था जो कि किसी भी ऐसे व्यक्ति को दिया जा सकता था जिसने अपने दुष्कृत्यों द्वारा सामाजिक नियमों को भंग किया हो।

आश्रम व्यवस्था

सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए वर्ण व्यवस्था के साथ ही आश्रम व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया गया था। वर्ण व्यवस्था में जहां व्यक्ति को समाज के एक अंग के रूप में मानकर उसके कर्तव्यों का निर्धारण किया जाता था, वहां आश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन चार भागों में बांटा गया था। आश्रम से जीवन की उन चार दिशाओं का बोध होता है जिसमें होकर प्रत्येक आर्य को अपने जीवन में आगे बढ़ना होता था। रामायण में भी धर्मशास्त्रों की भांति ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास इन चारों आश्रमों का वर्णन मिलता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

रामायणकार ने ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीनों उच्चवर्ण

के बच्चों के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम अनिवार्य था। सम्भवतः ब्रह्मचर्य आश्रम का समय सोलह वर्ष की आयु तक था। इस काल में सामान्य रूप में ब्रह्मचारी को अपना घर छोड़कर गुरु के साथ रहना पड़ता था किन्तु विशेष परिस्थितियों में इस काल में अध्ययन माता-पिता के साथ रहकर भी किया जा सकता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी के क्या कर्तव्य होते थे? इसका कोई विशेष विवेचन रामायण में नहीं मिलता किन्तु वहां व्यक्त विचारों के आधार पर उनके कुछ कर्तव्य निश्चित किये जा सकते हैं। ब्रह्मचारी का प्रमुख कर्तव्य विद्या अध्ययन करना था। इसमें वेदों के अध्ययन के साथ ही साथ परिस्थिति के अनुसार अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी सम्मिलित होता था। ब्रह्मचारी का यह भी कर्तव्य था कि इस आश्रम के सभी नियमों का पूर्णरूपेण अनुशासित रहकर पालन करे तथा अपने गुरु की अधिकाधिक सेवा करे। इसके अतिरिक्त वेदों द्वारा बताये गये धार्मिक कृत्यों संध्या, जप आदि का नियमानुसार पालन भी ब्रह्मचारी का कर्तव्य समझा जाता था। किष्किन्धा काण्ड में एक तापसी ब्रह्मचारिणी का वर्णन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि रामायण युग में ब्रह्मचारिणी भी हुआ करती थीं। ब्रह्मचारी के कर्तव्यों पर विचार करने से उनके उद्देश्य का अनुमान भी लगाया जा सकता है। वेदों के अध्ययन एवं धार्मिक कृत्यों को ब्रह्मचारी के लिए अनिवार्य बनाकर यह आशा की जाती थी कि वह एक सच्चा आर्य बन सकेगा और आर्य संस्कृति के विकास में योगदान दे सकेगा। उसके द्वारा अपने आश्रम के कठोर नियमों के पालन का उद्देश्य उसके मन में नियमों के प्रति एक आस्था भाव उत्पन्न करना था जिससे आगे चलकर वह एक अच्छे गृहस्थ एवं अच्छे नागरिक के रूप में अपना योगदान दे सके। व्यक्तिगत जीवन सादा एवं अनुशासनपूर्ण होने से यह भी आशा थी कि वह अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके अपना नैतिक विकास कर सकेगा। गुरुसेवा का उद्देश्य ब्रह्मचारी के मन में सेवाभाव एवं बड़ों के प्रति आस्था विकसित करके उसे सामाजिक जीवन के योग्य बनाना था।

गृहस्थ आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा होने पर गृहस्थ आश्रम का प्रारम्भ होता था। इसमें व्यक्ति अपनी स्त्री के साथ रहकर देवताओं, ऋषियों एवं पितरों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करता था। वाल्मीकि, मनु की भांति तीन ऋणों के सिद्धान्त को स्वीकार करने के साथ-साथ पांच ऋणों का भी वर्णन करते हैं। जिन्हें पूरा करना व्यक्ति का कर्तव्य था। रामायणकार ने चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को सबसे श्रेष्ठ बताया है। क्योंकि इसमें रहकर व्यक्ति धर्म के साथ साथ अर्थ एवं काम की प्राप्ति भी करता है। सामाजिक दृष्टि से भी यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण आश्रम था क्योंकि अन्य तीनों आश्रम भी इसी के द्वारा दिए हुए दान आदि के ऊपर निर्भर करते थे। इस आश्रम में पित ऋण, देव ऋण, मनुष्य ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थ को श्राद्ध, यज्ञ और अतिथि सत्कार करने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त अपने वयोवृद्ध, गुरुजनों, पुत्र कलत्र तथा परिवार के अन्य सदस्यों का भरण-पोषण करना भी गृहस्थ का ही कार्य था। सभी धार्मिक क्रिया कलापों एवं यज्ञ आदि वह अपनी पत्नी के साथ सम्पन्न करता था।

गृहस्थ आश्रम सम्बन्धी इस विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक सच्चे आर्य की भांति एक गृहस्थ का यह कर्तव्य था कि वह वेद आदि धर्मग्रन्थों के द्वारा निर्दिष्ट कर्तव्यों को पूरा करे तथा यज्ञ, हवन, श्राद्ध आदि के द्वारा देवऋण एवं पित ऋण से मुक्त हो तथा अतिथि-सेवा, दान आदि के द्वारा अपने को समाज के लिए उपयोगी सिद्ध करे। सामाजिक दृष्टि से गृहस्थ के कर्तव्यों का जितने व्यापक ढंग से विवेचन महर्षि ने किया है उससे स्पष्ट है कि रामायणीय समाज का केन्द्र बिन्दु गृहस्थ आश्रम को तथा उसका आधार गृहस्थों द्वारा अपने लिए निर्दिष्ट कर्तव्यों को पूरा करना ही समझा जाता था। राजनीतिक दृष्टि से भी गृहस्थ आश्रम का विशेष महत्व था। चारों आश्रमों में केवल गृहस्थ को ही धनोपार्जन एवं अन्य सामाजिक कृत्यों में भाग लेने का अधिकार

था। राज्य के समस्त कर आदि का भार ग हस्थ वहन करते ही थे, किन्तु अन्य राजनीतिक क्रियाकलापों का केन्द्र बिन्दु भी यही वर्ग था। अन्य तीनों आश्रमों में तो व्यक्तियों का सम्भवतः राज्य से कोई सीधा सम्बन्ध भी नहीं था।

महर्षि वाल्मीकि ने ग हस्थ आश्रम के महत्त्व एवं कर्तव्यों को स्थापित करके उपनिषदों एवं आरण्यकों द्वारा लोक में प्रसारित वैराग्य की भावना का खण्डन किया, तथा बताया कि ग हस्थ आश्रम में रहते हुए अपने नैतिक सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों को पूरा करके ही व्यक्ति समाज को स्थायित्व प्रदान करता है। अतः उन्होंने ग हस्थ के विभिन्न रूपों— माता, पिता, भाई, बहन, पति, पत्नी, मित्र, सेवक आदि सभी के कर्तव्यों का विषद विवेचन किया है। वास्तव में महर्षि यह चाहते थे कि समाज में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपने स्थान को समझे तथा उसी के अनुरूप अपने कर्तव्यों का पालन करके समाज को स्थायी आधार प्रदान करे।

वानप्रस्थ आश्रम

आयु के बढ़ने के साथ-साथ जब व्यक्ति की इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं और वह अपने सांसारिक उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यों को पूरा कर चुकता है तब वह इस सांसारिक जीवन को छोड़कर शांतिपूर्ण वातावरण में रहकर अपना आध्यात्मिक विकास करना चाहता है। अतः रामायण में भी, भारतीय परम्परा के अनुसार यह बताया गया है कि ऐसी आयु पर पहुंचकर व्यक्ति अपने सांसारिक उत्तरदायित्वों को अपने पुत्र को सौंप कर स्वयं वानप्रस्थ ग्रहण कर लेना चाहिए। दण्डकारण्य के विभिन्न आश्रमों में राम का जो स्वागत किया गया उससे स्पष्ट है कि वानप्रस्थी संन्यासी भी अपने राजा के प्रति श्रद्धा रखते थे तथा उसे उचित आदर सत्कार देते थे। यह लोग अपनी सुरक्षा के लिए राजा के ऊपर निर्भर करते थे तथा रामायणीय मान्यता के अनुसार इनकी तपस्या का चतुर्थांश राजा को इसीलिए प्राप्त होता था कि वह उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करे।

संन्यास आश्रम

आश्रम व्यवस्था के अनुसार मनुष्य के जीवन की चौथी एवं अन्तिम अवस्था संन्यास आश्रम थी। रामायण के अनुसार भी इस आश्रम में व्यक्ति संसार से पूर्ण रूप से विमुख होकर अपना अधिकतम आध्यात्मिक विकास करते हुए जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। यह वर्ग समाज से पूर्ण रूप से विमुख होता था। अतः रामायणकार ने संन्यासी को सामाजिक अथवा राजनीतिक कर्तव्यों के बन्धन में बांधने का प्रयत्न नहीं किया है।

रामायणकार ने विभिन्न आश्रमों में व्यक्ति के जो कर्तव्य बताये हैं उनसे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के कर्तव्यों का उसके सामाजिक स्तर से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। वास्तव में अपने कर्तव्यों के पालन द्वारा ही व्यक्ति अपने को उस स्थान के योग्य सिद्ध करता था जो उसे समाज में प्राप्त होता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि उस युग में व्यक्ति द्वारा अपने स्तर के अनुरूप कर्तव्यों का निर्वाह ही सामाजिक व्यवस्था का आधार माना जाता था।

जातियाँ

रामायण में प्रमुख रूप से तीन प्रकार की जातियों का उल्लेख है— (१) नर (२) वानर (३) राक्षस। सामान्य लोगों की दृष्टि में नर सामान्य रूप से मनुष्य ही माने गए हैं। राक्षस कराल दांत वाले, भयंकर आकृति वाले, सूप जैसा कान वाले, पर्वत गुहा जैसी नाक वाले, भयानक दरी के सदृश मुंह वाले और बड़े-बड़े गवाक्षों के सदृश नेत्र वाले ही बना दिए गए हैं। उन्हें गोभक्षक, विकराल, दीर्घकाय और विजातीय जीव कहा गया तथा वानरों को भी इस मत से सामान्य पशु लम्बी पूँछ वाले बन्दर कहा गया।

अर्वाचीन शिक्षक राक्षसों और वानरों को मनुष्य तो मानते हैं परन्तु उन्हें अनार्य समझते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में डा० बुल्के ने हीलर के मत को उद्धृत करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है कि “जे.टी.

हीलर राम-कथा को ब्राह्मण और बौद्ध संघर्षों का प्रतीक मानते हैं। बौद्धों से उनका अभिप्राय राक्षसों से है। किन्तु रामायण में राक्षसों का जो चित्रण हुआ है। उसमें उनके बौद्ध होने का कोई संकेत नहीं मिलता। राक्षस ब्राह्मण विरोधी अवश्य हैं, पर वे यज्ञ करते हैं और नरभक्षी भी कहे जाते हैं।

डा. व्यास ने वानरों के विषय में विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'गोरेशियों, हीलर आदि अन्य विद्वान् वानरों को दक्षिण भारत की पहाड़ियों में निवास करने वाली अनार्य जाति मानते हैं। वे मूलतः वनचर लोग थे। पर जैसा कि उनकी शिक्षा, दीक्षा एवं धार्मिक कृत्यों से प्रकट है, वे अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सरलता और शीघ्रता से आर्य संस्कृति में दीक्षित हो गए।

'वानर' नामकरण

रामायण में उल्लिखित वानर जाति के मनुष्यों के लिये वानर नामकरण के विषय में पण्डित विष्णु दामोदर शास्त्री का मत उल्लेखनीय है— "रावण से युद्ध करने के लिए कोट्यधिक सैनिकों की सेना तैयार करने की आवश्यकता थी..... अतएव ऐसी सेना तैयार करने की आवश्यकता समझी गई कि जिसको अन्न, वस्त्र, डेरे, वारगें आदि की आवश्यकता न पड़े। शीत, उष्ण, पर्जन्य, क्षुधा, तृष्णा आदि सहन करने वाले, सुदृढ़ निश्चयी, साहसी और चपल ऐसे ही वीर उस सेना में चाहिये थे। उक्त गुणों से युक्त तथा मनुष्य से सादृश्य रखने वाला ऐसा एक ही प्राणी बन्दर दिखाई दिया और उसी का प्रतीक सम्मुख रखकर उक्त वानर सेना तैयार करने का उपक्रम किया गया। सारांश यह है कि महर्षि वाल्मीकि जी द्वारा वर्णित वानर आकृति से मनुष्य, किन्तु गुण और प्रकृति से वानर (बन्दर) बनाये गये और उन्हें वानर संज्ञा दी गई।"

रामायण में वानरों के लिये शाखाम ग, प्लवंगम, हरि, कपि, वनचारी, वनौकश आदि नाम भी हैं। यह इसी बात के द्योतक हैं कि ये वानर जाति के व्यक्ति बन्दरों के समान धर्म वाले थे।

श्री विष्णु दामोदर शास्त्री ने वानरों के मुँह और लॉगूल के विषय में संदेह का निवारण करते हुये लिखा है कि 'वानरों के मुँह बन्दरों के नहीं थे, किन्तु वे उनके मुँह पर बन्दरों की मुखाकृति के बनाकर चढ़ाये हुये शिरस्त्रण थे। इसी तरह "पुच्छ" जो कहा गया है वह भी उनकी कमर से लपेटे हुये पाशसंज्ञक आयुध का पीछे को लटकता हुआ एक शिरा (छोर) था। यह शिरा लटकता हुआ होने के कारण उसको पुच्छ कहा गया है।

वस्तुतः वानर मनुष्य एवं आर्य थे। क्योंकि ये वानर सत्यसन्ध, विनीत, धर्तिमान्, मतिमान्, दक्ष, प्रगल्भ, द्युतिमान् एवं महापराक्रमी कहे गये हैं एवं इन वानरों की स्त्रियाँ भी बुद्धिमती कही गई हैं।

राक्षस नामकरण

रामायणानुसार राक्षसों का पक्ष अधर्म पक्ष था। वस्तुतः वे मनुष्य, जिन्होंने क्रूर कर्मों को अपना लिया था, राक्षस कहलाने लगे थे। ताड़का एवं उसका पुत्र मारीच दोनों ही अपने क्रूर कर्मों के कारण राक्षसत्व को प्राप्त हुये थे।

राक्षसों ने परस्त्रीगमन, उनका हरण एवं उनके प्रति बल प्रयोग आदि दुष्कर्मों को करना अपना धर्म बना लिया था। इस प्रकार वे धर्म को नष्ट करने वाले बन गये थे। वे यज्ञविध्वंसक, क्रूरकर्मा, ब्रह्मघाती, दयाशून्य एवं नरमांस को भक्षण करने वाले होने के कारण तथा प्रजाओं का अहित करने के कारण एवं नैतिकगुणों से रहित होने के कारण राक्षसत्वं को प्राप्त हो गये थे। अतः अपनी संस्कृति से च्युत होने वाले एवं क्रूरता तथा विलासिता में लिप्त होकर अनार्यों का सा आचरण करने वाले तथा छलपूर्ण व्यवहार करने वाले मनुष्य ही असुर या राक्षस कहलाये। जैसा कि पं. विष्णु दामोदर शास्त्री का कथन है कि "असुर नाम का कोई पथक् कुल या जाति नहीं है। वह एक गुण बोधक संज्ञा है। परन्तु उस संज्ञा का उपयोग सामान्यतः दानव, दैत्य और राक्षसों के लिये ही किया गया पाया जाता है। केवल ऐहिक सुख के लिये यत्नवान्, आत्मस्वार्थ व आत्मसुख के हेतु सारे जगत्

का नाश हो जाये, तो भी उसकी परवाह न करने वाले दुरभिमानी, फल की ही इच्छा से कर्म करने वाले, अपने ऐहिक स्वार्थ के लिये दूसरों का जानबूझकर नुकसान करने वाले, परमेश्वर तथा मोक्ष को न मानने वाले, कामोपभोग को ही सारे जीवन की इति कर्तव्यता मानने वाले और अन्याय से धन संग्रह करने वाले इत्यादि मनोवृत्ति के जो मनुष्य होते हैं, वे असुर कहलाते हैं।

अतः स्पष्ट है कि रामायण में वर्णित वे मनुष्य एवं आर्य ही राक्षसों तथा असुरों की कोटि में आ गये थे, जो कि नैतिकता के विरुद्ध कार्य करने वाले एवं अधर्म आचरण करने वाले तथा मर्यादा के विरुद्ध चलने वाले थे।

नर, वानर और राक्षसों के अतिरिक्त रामायण कालीन समाज के अन्य घटक सुर, असुर, किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर, ऋक्ष, रोहित, आभीर, पल्हव, म्लेच्छ, शक, यवन, किरात आदि भी थे। लेकिन इनकी सामाजिक व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति के विषय में रामायण में स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है।

वस्तुतः रामायणकालीन समाज गुणानुसार एवं कर्मानुसार विभक्त, उपर्युक्त विभिन्न प्रकार की जातियों से युक्त मनुष्यों का ही समाज था, न कि मनुष्यों से भिन्न अन्य विशेष यौनियों का। मनुष्य ही अपने-अपने आचरणों एवं प्रवृत्तियों के कारण वानर, राक्षस, सुर, असुर, किन्नर, गन्धर्व, म्लेच्छ, यवन, आदि कहलाये।

विवाह

रामायणकालीन समाज में अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित थे। जिन्हें हम निम्न शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) ब्राह्म विवाह। (आ) प्राजापत्य विवाह। (इ) गन्धर्व विवाह। (ई) राक्षस विवाह।

(उ) पैशाच विवाह (ऊ) अनुलोम विवाह (ए) प्रतिलोम विवाह। (ऐ) स्वयम्बर विवाह।

उपर्युक्त विवाहों के अतिरिक्त विवाह के आठ भेदों में से आसुर, आर्ष एवं दैव विवाह का वाल्मीकिय रामायण में संकेत नहीं किया गया है। कुछ विद्वान् राम-सीता के विवाह को आसुर व प्राजापत्य विवाह के अन्तर्गत मानते हैं। परन्तु इनके द्वारा दिये गए तथ्य समीचीन प्रतीत नहीं होते हैं, क्योंकि इनका विवाह पूर्ण रूप से क्षत्रिय जनोचित स्वयम्बर प्रणाली के अन्तर्गत हुआ था। स्वयम्बर विवाह का मनु आदि कतिपय स्मृतिकारों ने अष्ट विवाहों के अन्तर्गत उल्लेख नहीं किया है।

अनुलोम विवाह

रामायण कालीन समाज में अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन था। क्षत्रिय राजकुमारी शांता और ब्राह्मण ऋषिकुमार ऋष्यशृंग का विवाह अनुलोम विवाह का उदाहरण है। जिस मुनिकुमार को अपनी युवावस्था में शिकार खेलते समय राजा दशरथ ने मार डाला था उसके पिता वैश्य और माता शूद्रा थी।

प्रतिलोम विवाह

रामायण में प्रतिलोम विवाह का उदाहरण उत्तरकाण्ड में उपलब्ध होता है। क्षत्रिय वंशीय ययाति का ब्राह्मण वंश में उत्पन्न देवयानी से विवाह प्रतिलोम विवाह है। क्योंकि देवयानी शुक्राचार्य की कन्या थी जो ब्राह्मण थे तथा ययाति क्षत्रिय वंशी नहुष के पुत्र थे।

इसके अतिरिक्त रामायणकाल में शील एवं कुल के आग्रह के सिवाय विवाह सम्बन्धों पर कोई निर्धारित प्रतिबन्ध नहीं था। गोत्र, प्रवर, सर्पिंड सम्बन्धों के वर्जन आदि का ध्यान रखा जाता था या नहीं उल्लेख के अभाव में कहना कठिन है।

दहेज प्रथा

वाल्मीकिय रामायण में यून तो दहेज प्रथा का स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है, परन्तु तत्कालीन दहेज का रूप वर्तमान काल की भांति निर्धारित न होकर स्वेच्छा जन्य था। विवाह से पूर्व दहेज

की मात्रा तय नहीं होती थी। दहेज के लिए रामायण ने कन्याधन शब्द का प्रयोग किया है। राजा जनक ने अपनी कन्याओं को प्रचुर मात्रा में धन दिया था।

बहुपत्नी प्रथा

श्रीमद्वाल्मीकिय रामायण में बहुपत्नी प्रथा का भी वर्णन है। सभी राजा जन चाहे वे नरेन्द्र, राक्षसेन्द्र अथवा वानरेन्द्र हों अनेक स्त्रियों वाले विशाल अन्तःपुरों के स्वामी थे। राजा दशरथ की कौशल्या, सुमित्रा व कैकेयी के अतिरिक्त साढ़े तीन सौ स्त्रियां और भी थीं। बालकाण्ड में राजा दशरथ की तीन सौ पचास रानियों का वर्णन है, जिनके कुछ-कुछ लाल नेत्र थे तथा जो पतिव्रता थीं।

तत्कालीन समाज में ब्राह्मण भी एक से अधिक पत्नियों के स्वामी होते थे। कश्यप ऋषि की अदिति, दिति, दनु, कालका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला नाम की आठ रानियों का स्पष्ट उल्लेख वाल्मीकि ने अरण्यकाण्ड में किया है।

उपर्युक्त बहुपत्नी प्रथा समाज के वैभवशाली वर्गों में ही प्रचलित थी। मध्य और दरिद्र वर्ग में यह प्रथा देखने को नहीं मिलती थी।

एक पत्नी व्रत

रामायणकालीन समाज में बहुपत्नी प्रथा होने के बावजूद एक विवाह करने वाले व्यक्ति का समाज में उत्कृष्ट स्थान था। अयोध्याकाण्ड में वर्णित है कि अन्धमुनि ने दशरथ के हाथों असमय मारे गए अपने पुत्र की पित सेवा का पुरस्कार इस आशीर्वाद से दिया कि तुम उन दिव्य लोकों को प्राप्त करो जहां एक पत्नी-व्रत का आचरण करने वाले प्रयाण करते हैं।

राम ने अपना वैवाहिक जीवन एक पत्नी-व्रत में ही व्यतीत किया। उत्तरकाण्ड के अनुसार सीता के अदृश्य होने पर भी राम ने दूसरा विवाह नहीं किया। अश्वमेध जैसे यज्ञों में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य होने के कारण राम सीता के स्थान पर उनकी एक स्वर्ण प्रतिमा रख लिया करते थे।

परिवार

वाल्मीकि काल में समाज व्यवस्था संयुक्त परिवारों पर आधारित थी जिसके कारण कुटुम्ब के सभी सदस्यों को धन, प्रेम और सहायता का कभी अभाव नहीं खलता था। और उसे इन्हें परिवर्गीय भरण-पोषण के परिप्रेक्ष्य में दूसरों से नहीं माँगना पड़ता था।

आज के युग में संयुक्त परिवार का अर्थ कुछ बदला हुआ दीखता है। आज यह मान्यता है कि संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही घर में रहें, एक ही भोजनालय में सबकी भोजन व्यवस्था हो, सबका आराध्य देव एक ही हो, सबकी एक ही पूजन विधि हो, एक ही व्यक्ति घर का प्रमुख हो और वह मनमाने ढंग से दूसरों की इच्छा और भावनाओं का हनन करते हुए भी शासन करे तथा अधिक सहनशील और परिश्रमी व्यक्ति कार्यभार से बोझिल रहें और काम चोर तथा आलसी व्यक्ति सभी सुविधाओं का उपभोग करें। सम्भवतः इन्हीं दोषों के कारण आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। वाल्मीकि रामायण में सौभाग्य से संयुक्त परिवार की व्यवस्था इससे भिन्न और गुणों के कारण स्थायित्व लिए हुए थी।

तत्कालीन समाज में कुटुम्ब का ढांचा इस अर्थ में संयुक्त था कि सारे सदस्य एक ही मुखिया की आज्ञा शिरोधार्य करते थे। राजपरिवारों में विभिन्न पत्नियाँ तथा पुत्र अपने पथक महलों में रहते थे, उनके अपने सेवक और अनुचर होते थे। पर सभी महत्वपूर्ण मामलों में ग हस्वामी (पिता या बड़े भाई) के आदेशों का पालन करते थे। विवाह के बाद राम अपने पथक प्रासाद में रहने लगे थे, फिर भी उन्होंने पिता के आदेशानुसार वन जाने में कोई हिचकिचाइट नहीं दिखाई। राज्य की बागडोर संभालने पर राम की अपने भाईयों और पुत्र-कलत्र से भरे संयुक्त परिवार पर शासन करने की बारी आई। तत्कालीन समाज में यह भी आवश्यक नहीं था कि संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे से प्रतिदिन या प्रायः मिलते रहें। उदाहरण के लिए राम के राज्य तिलक का समाचार

कैकेयी को बहुत दिनों तक नहीं मिलता है तथा मन्थरा द्वारा धात्री के मुंह से सुनी हुई सूचना के आधार पर उसे यह समाचार बताया जाता है—।

अक्षयं सुमहद् देवि प्रव तं त्वद्विनाशनम्।

रामं दशरथो राजा यौवराज्ये भिषेक्षति।।

वाल्मीकि रामायण के आधार पर संयुक्त परिवार में यह भी आवश्यक नहीं था कि सभी सदस्यों का भोजनालय एक ही हो। उदाहरणार्थ राम का भोजन अलग बनता था, माता कौशल्या का अलग और माता कैकेयी तथा परिवार के अन्य सदस्यों का भोजनालय भी पथक्-पथक् ही था।

संक्षेपतः रामायणकालीन समाज में परिवार का स्वरूप संयुक्त था। इस संयुक्त परिवार में भी स्नेह आदर और एकता का मुख्य कारण इनका परम्परागत होना ही था। पीढ़ी दर पीढ़ी बड़ों का छोटों के प्रति त्याग और स्नेह तथा छोटों का बड़ों के प्रति सम्मान और आदर का भाव अक्षुण्ण चलता आ रहा था।

रामायण काल में उपर्युक्त अनेकों स्वतन्त्रताएं होने के बावजूद संयुक्त परिवार का एक मुखिया होता था। पित-प्रधान परिवार होने के कारण पुरुष वर्ग ही मुखिया के स्थान को प्राप्त करता था स्त्री वर्ग नहीं। पिता की मृत्यु के पश्चात् माता के जीवित होते हुए भी पुत्र परिवार का मुखिया बनता था। उस मुखिया का आदेश अन्तिम सर्वमान्य होता था। उदाहरणार्थ पिता दशरथ की आज्ञा के अनुचित होते हुए भी राम का बिना विचारे हुए वनवास को जाना। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लक्ष्मण एवं कौशल्या के द्वारा दशरथ की आज्ञा का विरोध करने के बावजूद श्री राम ने इन दोनों व्यक्तियों को समझाया और पिता अथवा परिवार के मुखिया की आज्ञा को सर्वश्रेष्ठ मानने पर बल दिया।

नारी-दशा

रामायणकालीन समाज में नारी की स्थिति अच्छी थी। परिवार और समाज में उसे विशिष्ट सम्मान प्राप्त था। उस काल में नारी के लिए भवती, भद्रे, कल्याणि, देवि, अनघे आदि सम्बोधनों का प्रयोग उनकी विशिष्ट सामाजिक स्थिति की ओर निर्देश करता है।

रामायण काल में परिवार के यश और प्रतिष्ठा के लिए नारी से ही सर्वाधिक अपेक्षा देखने को मिलती है। उस समय ऐसा विश्वास किया जाता था कि पति की अपकीर्ति और अपयश को दूर करना पत्नी का कर्तव्य है।

यद्यपि रामायण काल में नारी की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से की थी तथापि उस काल में सामाजिक, नैतिक और धार्मिक आचार का उत्तरदायित्व अधिकांशतः नारी को ही उठाना पड़ रहा था। उसके यश में भाग बंटाने वाले सब थे किन्तु अपयश उसे एकाकी ही झेलना पड़ता था।

आजीविका

प्रत्येक युग का मानव अपने भरण पोषण के लिए कुछ न कुछ कर्मों को करता रहता है। भरण-पोषण की दिशा में किये जाने वाले कर्मों को आजीविका की संज्ञा दी गयी है। रामायणकालीन समाज में सभ्यता के विकास के कारण आजीविका के पर्याप्त साधन प्रचलित थे। उन दिनों कृषि, शिल्प, व्यापार आदि अनेकों साधनों के माध्यम से जनवन्द अपना जीवन निर्वाह किया करता था।

कृषि

प्राचीन काल से आज तक भारत में प्रचलित आजीविका का मुख्य साधन कृषि रामायण काल में भी एक प्रमुख जीविकोपार्जन का साधन था। रामायण में स्थान-स्थान पर जो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं उनमें से अधिकांश कृषि-व्यवसाय द्वारा तत्कालीन समाज की सुख समृद्धि को परिलक्षित करते हैं।

रामायण-कालीन समाज कृषि की दृष्टि से सम द्विशाली एवं सुखी था। कौशल राज्य के वर्णन में वाल्मीकि कहते हैं कि वह धन-धान्य ओर गौओं से परिपूर्ण तथा तालाबों, उद्यानों व आम्रवनों से युक्त था। तत्कालीन राष्ट्र के सम्पूर्ण जनपद दशरथ के शासन काल में निश्चिन्त थे क्योंकि सभी जनपदों के निवासियों की अन्न प्राप्ति विषयक कामनाएँ प्रचुर रूप से पूर्ण हो जाती थीं। सम द्विशाली वत्स देश वर्तमान प्रयाग भी धन-धान्य से सम्पन्न था तथा वहाँ के लोग भी पौष्टिक अन्नों का आहार करने के कारण हृष्ट-पुष्ट थे। दक्षिण पश्चिम से आकर पूर्वोत्तर दिशा की ओर प्रवाहित होने वाली मागधी नाम से प्रसिद्ध सोन नदी के तटवर्ती प्रदेश भी उपजाऊ खेतों से युक्त होने के कारण हरी-भरी खेती से सुशोभित थे।

रामायण काल में कृषि को राज्य की ओर से पूर्ण सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं। राजा भी पूर्ण रूप से कृषि कर्म का ज्ञाता होता था। राजा जनक को हल चलाते समय ही सीता की प्राप्ति हुई थी। राम भी अरण्य में भरत से शासन तन्त्र और कृषि संरक्षण के बारे में जानकारी प्राप्त करते समय यह स्वीकार करते हैं कि कृषि एवं व्यापार में संलग्न रहने पर ही लोक सुखी एवं उन्नतशील होता है, भरत तुम कृषि हेतु राजकीय सुविधाएँ देकर सम्पूर्ण राज्य के वैश्यों को प्रसन्नचित्त करते हो या नहीं।

पशुपालन

रामायणकालीन समाज में पशुपालन भी लोगों की जीविका का एक साधन था। समाज का एक वर्ग पशुओं की देख-रेख तथा उनकी सेवा शुश्रूषा के द्वारा आजीविका चलाता था। साधारणतया यह प्रतीत होता है कि पशुपालकों से लोग गाय, बैल, हाथी, घोड़ों आदि को खरीदते होंगे। राजा लोग भी अपने संरक्षण में पशुओं का पालन किया करते थे। क्योंकि रामायणकार ने अपने महाकाव्य में यत्र-तत्र अनेकों स्थानों में राजा के द्वारा पशु संरक्षण का संकेत किया है। उदाहरणतः भरत जब राम से मिलने चित्रकूट में जाते हैं तो राम ने उनसे उनके द्वारा संरक्षित पशुओं का भी समाचार ज्ञात किया था। अयोध्यानगरी में हाथियों घोड़ों, गायों, ऊंटों, इत्यादि के झुंड देखे जा सकते थे। देश में गोधन का बाहुल्य था राजा लोग गायों को दान में दिया करते थे। पशु-पालन में सर्वापेक्षा अधिक महत्त्व गो पालन को ही दिया जाता था। राम भी चित्रकूट में भरत से शासन के समाचारों को पूछते हुए उनके द्वारा संरक्षित गायों के समाचार भी जानने की जिज्ञासा करते हैं।

खनिज उद्योग

रामायण में वाल्मीकि ने अनेक खनिज पदार्थों की ओर संकेत किया है। अयोध्याकाण्ड में राम ने कौशल राज्य को खानों से सुशोभित बताया है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान् ने जिस पर्वत से समुन्द्रलंघन हेतु छलांग लगाई थी उस पर्वत का तल प्रदेश भी पहाड़ों में स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाली नीली, लाल, मजीठ और कमल के से रंगवाली श्वेत और श्यामवर्ण वाली निर्मल धातुओं से अच्छी तरह अलंकृत था। वनवास अवधि में राम सीता को चित्रकूट पर्वत की शोभा दिखलाते हुए कहते हैं कि सीते! विभिन्न धातुओं से अलंकृत अचलराज चित्रकूट के प्रदेश कितने सुन्दर लगते हैं। इनमें से कोई लोह की लाल आभा का विस्तार करते हैं। किन्हीं प्रदेशों में रंग पीले व मंजिष्ठ वर्ण के हैं। कोई श्रेष्ठ मणियों के समान उद्भासित होते हैं, कोई पुखराज के समान, कोई स्फटिक के सदृश और कोई केवड़े के फूल के समान कान्तिवाले हैं तथा कुछ प्रदेश नक्षत्रों और पारे के समान प्रकाशित होते हैं।

संक्षेपतः रामायणकार ने अपने महाकाव्य में प्रसंगवश फौलाद, लोहा, काँसा, सोना, चाँदी, सीसा, ताँबा, रांगा, आदि धातुओं का उल्लेख किया है। अतः इससे स्पष्ट है कि उस काल में धातुओं के अन्वेषण में लगे हुए लोग इनको एकत्र कर धातु से सम्बन्धित शिल्पी को बेचते होंगे, जिनमें इस्पात का उपयोग अर्गल, बाण की नोक, तलवार तथा पट्टिश बनाने में, सोने-चाँदी का विविध प्रकार के आभूषण बनाने में, लोहे का शस्त्रों के निर्माण में एवं सीसा प्रासादों के प्रवेश द्वार गवाक्षों और दर्पण बनाने में प्रयुक्त किया जाता था।

शिल्प

रामायण युग में कृषि पशुपालन आदि के समान ही समाज की आजीविका का प्रमुख साधन शिल्प भी था। तत्कालीन समाज में जिन कारीगरों का काम कुछ विशेषतया कौशल लिए हुए होता था उन्हें शिल्पी कहा जाता था। बालकाण्ड में अयोध्यावर्णन के प्रसंग में आया है कि उस नगरी में सभी तरह के शिल्पी निवास करते थे। ये शिल्पी लोग अपनी कला-कौशल की अभिव्यक्ति कर समाज में सम्मानित होने के साथ-साथ प्रचुर मात्रा में धन-संग्रह कर अपने जीवन को सुख और शान्ति से व्यतीत करते थे। शिल्पियों की सुख-सुविधाओं की ओर राजा भी जागरूक रहता था। उच्चकोटि के कारीगरों का विशेषतया उनका जो यज्ञ-यागादि में अपना कौशल दिखाने में पटु थे समाज में सम्मान पूर्ण स्थान था। राजा दशरथ ने उन्हें अपने अश्वमेध यज्ञ में आमन्त्रित किया था तथा यथोचित आदर सत्कार, धन और भोजन द्वारा उन्हें प्रसन्न करने की समुचित व्यवस्था की थी। समाज की आर्थिक उन्नति एवं राजधानी की ऐश्वर्य व द्धि में शिल्पियों का उल्लेखनीय सहयोग था। तत्कालीन समाज में प्रमुख शिल्पकार इस प्रकार थे- सुवर्णकार, मणिकार, दन्तकार, कुम्भकार, स्थपति, चित्रकार, मूर्तिकार तथा तन्तुवाय आदि।

व्यापार

वर्तमान समय की भाँति रामायण कालीन समाज में राष्ट्र की उन्नति में व्यापारियों का अति महत्त्वपूर्ण स्थान था। मुख्य कर-दाता होने के कारण ये राजकीय संरक्षण के भी अधिकारी थे वाणिज्य, व्यापार अधिकांशतः वैश्यों की आजीविका का प्रमुख साधन था, जो वणिक् कहलाते थे। वाल्मीकि ने तत्कालीन समाज में व्याप्त वाणिज्य व्यापार का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। उस युग में प्रमुख नगर व्यापार के सम द्ध केन्द्र थे। अयोध्यानगरी का चित्रण करते हुए कवि कहता है कि वह पुरी बड़े-बड़े फाटकों और किवाड़ों से सुशोभित थी तथा उसके भीतर व्यापारियों की प थक्-प थक् बाजारे थे। राम वनवास के समय दशरथ ने यह प्रस्ताव किया था कि राम के साथ वन जाने वाली चतुरंगिणी सेना के साथ अयोध्या नगरी के धनी-मानी व्यापारी भी जाँय। जब कैकेयी ने उन व्यापारियों को राम के साथ नहीं जाने दिया तो अयोध्या में निवास करने वाले वैश्यों ने कई दिनों तक अपनी दुकानें नहीं खोली। जिस किसी व्यक्ति ने क्रय-विक्रय हेतु वस्तुएं बाजारों में फँलाई भी थी उन्हें लेने के लिए ग्राहक नहीं आये।

अयोध्याकाण्ड में भरत अयोध्यानगरी की दुरवस्था का अवलोकन करते हुए कहते हैं कि अयोध्या में राम के वन गमन से व्यापारी वणिक् शोक से व्याकुल होने के कारण किंकर्तव्यविमूढ हो गये हैं। बाजार, हाट व दुकानें बहुत कम खुली हैं। जिससे यह पुरी उस आकाश की भाँति शोभाहीन हो गयी है जहां बादलों की घटाएँ घिर आयी हों और तारे तथा चन्द्रमा ढक गये हों। राम राज्याभिषेक के समय भी व्यापारियों की बड़ी-बड़ी दुकानों में ध्वजार्य एवं पताकार्यें लगायी गयी थीं।

उपर्युक्त कतिपय प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में प्रचुर मात्रा में आन्तरिक व्यापार होता था। अयोध्या में निवास करने वाले व्यापारी तो विक्रय के उद्देश्य से बहुत सा माल लेकर दूर-दूर की यात्रायें भी करते थे।

राजनैतिक आदर्श

रामायण युग का वास्तविक महत्त्व उसकी सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था में न होकर उस युग की राजनीतिक व्यवस्था के मूल में है। राम के राज्य को हम आज भी एक आदर्श समाज-व्यवस्था के रूप में याद करते हैं। आज भी रामराज्य हमारे लिए एक ऐसा विचार एवं व्यवस्था है जिसका प्रयोग हम अन्य विचारों एवं व्यवस्थाओं का मूल्यांकन करते समय, एक आधार के रूप में करते हैं। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने अपने आदर्श राज्य को रामराज्य की संज्ञा दी है।

राजनीतिक दृष्टि से रामायण युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात थी— राजनीतिक स्थायित्व।

रामायणीय राज्य बहुत ही सुदृढ़ आधारों पर टिका हुआ था। उसमें अनुशासन एवं स्वतन्त्रता का एक अद्भुत सम्मिश्रण था हमारे पूर्वजों ने हजारों वर्ष पहले ही इन दोनों में सामंजस्य की समस्या को सुलझा लिया था। जबकि पाश्चात्य दार्शनिक आज भी इसी में उलझे पड़े हैं। अनुशासन के महत्त्व को समझते हुए ही उस युग में राजा को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। राजा को यम, कुबेर, इन्द्र तथा वरुण से भी अधिक माना जाता था क्योंकि उसके अन्दर चारों के गुण विद्यमान रहते थे। समाज में शान्ति एवं व्यवस्था बनाए रखना राजा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था। राजा के न होने पर राज्य की जो दशा होती है उसके वर्णन से स्पष्ट है कि उस युग की यह मान्यता थी कि देश तभी सुखी एवं सम्पन्न हो सकता है जबकि वहां पर राजा हो अर्थात् शान्ति एवं व्यवस्था हो। किन्तु राजा को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान देने का यह अर्थ नहीं था कि उसे स्वेच्छाचारी बनाकर जर्मन आदर्शवादियों की भांति व्यक्ति को राज्य की वेदी पर न्यौछावर कर दिया जाए। राजा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति का पूरा ध्यान रखा गया था। उस युग में राज्य और व्यक्ति को एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में नहीं देखा जाता था। राजा को माता, पिता एवं प्रजा का हित करने वाला माना जाता था। यही कारण था कि उस युग में राजकीय व्यवस्था भी बहुत सरल थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का छटा भाग कर के रूप में राजा को देता था जिसे उस युग में वलिषड्भाग कह कर पुकारा जाता था तथा राजा इस प्रकार प्रजा से प्राप्त धन का उपयोग शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के साथ-साथ प्रजा के कल्याण के लिए करता था। उक्त कर को वसूल करने के लिए किसी व्यापक व्यवस्था का उल्लेख न मिलने के कारण यह भी हो सकता है कि सभी लोग ईमानदारी से अपने आप कर को राजा के पास पहुंचा देते हों। अतः राजा एवं प्रजा दोनों अपने सुखी अस्तित्व के लिए एक-दूसरे के ऊपर निर्भर करते थे।

शिक्षा व्यवस्था

रामायण काल में शिक्षा का सर्वाङ्गीण विकास था। तत्कालीन समाज में कोई भी व्यक्ति अशिक्षित नहीं था। पर्वतों को भी यज्ञोपवीत धारण कर अध्ययन करने वाला कहा जाने का अभिप्राय यही है कि रामायण काल में शिक्षा प्राप्ति के लिये सभी तत्पर थे।

रामायण काल में शिक्षा यज्ञोपवीत संस्कार के पश्चात् प्रारम्भ होती थी। रामायणकाल में वेदवेदाङ्ग, पुराण, व्याकरण, सङ्गीत, सामुद्रिकविद्या, ज्योतिष, चित्रकला, नृत्यकला, वास्तुकला, अश्वगजारोहणविद्या, धनुर्विद्या, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि समस्त विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन होता था। औषधिविज्ञान में भी तत्कालीन समाज अत्यन्त उन्नति कर चुका था। शल्य चिकित्सा उस समय बड़ी सफलता से की जाती थी।

रामायणकालीन समाज में शिक्षा प्राप्ति का सभी वर्णों को अधिकार था। रामायणकाल में विभिन्न शास्त्रों की शिक्षा 'संस्कृतभाषा' के माध्यम से ही दी जाती होगी, क्योंकि तत्कालीन समाज में लोगों की बोलचाल की भाषा 'वैदिक-संस्कृत' एवं लौकिक संस्कृत दोनों ही थी। द्विजातियों की बोलचाल की भाषा वैदिक संस्कृत थी। जब कि सामान्य लोगों की बोलचाल की भाषा लौकिक संस्कृत थी। आर्य, वानर एवं राक्षस सभी संस्कृतभाषा में बातचीत करते थे। हनुमान् ने राम और लक्ष्मण से संस्कृत भाषा में ही बातचीत की थी। इसी प्रकार हनुमान् ने सीता से भी लौकिक संस्कृत में वाग्व्यवहार किया था।

रामायण कालीन शिक्षा की विशिष्टता यह थी कि शिक्षित व्यक्ति तदनुसार जीवन में आचरण करता था और अपने 'आदर्श' समाज के समक्ष उपस्थित करता था। तत्कालीन समाज में व्यक्ति विद्याविनीत होते थे। शिक्षा प्राप्त करके तदनुसार आचरण न करने वाले व्यक्ति का शास्त्रों का अध्ययन व्यर्थ समझा जाता था। इस प्रकार विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करके व्यक्ति सदाचरण करते हुये समाज को सभ्य और संस्कृत बनाते थे। वस्तुतः रामायण कालीन समाज ने शिक्षा को जीवन में उतारा था। जैसा कि डा. नानूराम व्यास ने लिखा है कि "प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य

समाज को साक्षर ही नहीं, अपितु सुसंस्कृत बनाना भी था। छात्र को स्वच्छता, शिष्टाचार, विनम्रता और सुशीलता की भावनाओं से प्रेरित कर उसे एक सुयोग्य नागरिक बनाना उसका यथार्थ लक्ष्य था। सच्ची शिक्षा विद्यार्थी को सभ्य, शिष्ट, सन्वेदनशील, दूसरों के दृष्टिकोण को समझने वाला, हठधर्मिता से दूर रहने वाला एवं तर्कसंगत बात को तुरन्त स्वीकार करने वाला बनाती थी। जब राम चित्रकूट पर भरत से प्रश्न करते हैं कि “किंचित् ते सफलं श्रुतम्!” ‘क्या तुम्हारा अध्ययन या शास्त्रज्ञान सफल है?’ तब उनका अभिप्राय यही था कि क्या तुम विद्या के शील और वत्त (सुशीलता और विनम्रता) गुणों का अभ्यास करते हो एवं उनको तुमने आत्मसात कर लिया है?

डा. नानूराम व्यास रामायणकालीन शिक्षा के सम्बन्ध में ये भी लिखते हैं कि रामायणयुग की शिक्षा में एक तारतम्य था। उसमें आदर्शों का समान और संतुलित विभाजन था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना, उसके शारीरिक और मानसिक, बौद्धिक और अध्यात्मिक, धार्मिक और व्यावहारिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को समुन्नत करना उसका मूलभूत आदर्श था। उस समय के आदर्श राज, सुसंस्कृत प्रजा, कर्तव्यनिष्ठ अधिकारीगण, और संघर्ष रहित समाज इसी सांस्कृतिक शिक्षा की देन थे। वस्तुतः सुशिक्षा ही तत्कालीन समाज की उन्नत सभ्यता, श्रेष्ठ संस्कृति और सर्वाङ्गीण सम्पन्नता का आधार थी।

रामायणकालीन समाज में सभी वर्ण शिक्षित थे। ये शिक्षित होकर अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। राजा एवं शासक वर्ग वर्णानुसार तथा शिक्षा एवं योग्यतानुसार प्रजाजनो को कार्यों में नियुक्त करता था। रामायणकालीन शिक्षा प्रणाली में सदाचरण की शिक्षा का विशेष महत्त्व था।

रामायणकालीन शिक्षा प्रणाली की दो प्रमुख विशेषतायें थीं (१) सदाचार की शिक्षा। (२) व्यक्ति की बुद्धि के अनुसार ही ज्ञान का वितरण। उक्त विशेषतायें ही व्यक्ति को अनुशासनहीनता से रोकने के लिये एवं स्वतः कार्यकर्म में प्रवृत्ति बनाये रखने के लिये प्रबल प्रेरणाश्रोत थीं। नैतिक आदर्श रामायणकालीन समाज में नैतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्य एवं वानर समाज नैतिक गुणों को आत्मसात कर लेने के कारण ही स्थायित्व, शान्ति, सुख और समृद्धि को प्राप्त था। नर और वानरों के आचार एवं व्यवहार विनम्रता, सच्चरित्रता, नैतिकता और धर्म से युक्त थे। निर्लोभभाव, सत्यवादिता, आस्तिकता, आचरण की पवित्रता, निश्चलता, भोगों के प्रति उदासीनता, धर्मशीलता, जितेन्द्रिय-भाव, कर्मनिष्ठा, दानशीलता, स्वाध्याय, अतिथिसत्कार, कृतज्ञता, अद्वेषभाव, संयम, शील, अहिंसा, परोपकार आदि नैतिक गुण तत्कालीन समाज की विशेषतायें थीं।

रामायणानुसार तत्कालीन समाज में सत्य से युक्त धर्म ही लोगों के श्रेय का साधन था। कृति में सत्य से युक्त धर्म लौकिक और पारलौकिक सुख एवं कल्याण का मूल साधन कहा गया है। रामायण में धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग में सत्ययुक्त धर्म का स्थान सर्वोपरि निर्धारित है। इस प्रकार धर्म तत्कालीन समाज में लोगों की दुष्कर्मों से निवारण के लिये अंकुश का कार्य करता था एवं नैतिक भावों की उत्पत्ति का प्रेरणा श्रोत था।

रामायणकालीन समाज एक आदर्श समाज था। समाज में लोग परस्पर उदारता का व्यवहार करते थे। उनमें परिजनों या सेवकों के प्रति भी उदारता और दाक्षिण्य का भाव अपेक्षित था। देवता, माता एवं पिता की सेवा शुश्रूषा आवश्यकत समझी जाती थी। सत्कर्म ही श्रेयस्कर था। समस्त साधनों (धर्म, अर्थ, काम) का उत्पादक कर्म ही था।

शुभाशुभ कर्मानुसार ही फल की प्राप्ति की भावना तत्कालीन समाज में व्याप्त हो चुकी थी। अतः समाज में सभी मनुष्य अपने अपने कर्मों में ही संलग्न रहते थे। तत्कालीन समाज में सत्कर्मों का ही महत्त्व था। राजा भी अपने अनैतिक कर्मों या अशुभकर्मों के बुरे फल को भोगने वाला कहा गया है। तत्कालीन समाज में नीति और सत्य ही लोक और परलोक के लिये हितकर माने जाते थे। इस प्रकार रामायणकाल में व्यक्ति अपने को धर्मबन्धन से आबद्ध मानकर ही नीति के अनुसार आचरण करता था। रामायण में लोगों को सत्कर्म करने के लिये विशेष प्रेरणा दी गई है। कृति में

नैतिकता के विरुद्ध आचरण, अपकार, कृतघ्नता, झूठ, सुरापान, चोरी एवं परनिन्दा और अनैतिक कर्म धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिये बाधक कहे गये हैं। इसी प्रकार परस्त्री गमन भी धर्म का विनाशक कहा गया है।

रामायणकालीन समाज में नैतिक गुणों के कारण आर्य लोगों में कामुकता, कायरता, न शंसता, मूढ़ता, नास्तिकता, क्षुद्रता, चौर्यकर्म, परनिन्दा, झूठ आदि दुर्गुण नहीं थे। रामायण में मर्यादारहित, पापाचरण से युक्त एवं चरित्रहीन व्यक्ति असम्मान के योग्य कहा गया है। तत्कालीन समाज में नैतिक शक्तियों और धार्मिक प्रवृत्तियों को विकसित करके ही लोगों का चरित्रनिर्माण हुआ था। रामायण में स्पष्ट उल्लेख है कि चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर और अपावन को पावन करने वाला कहा गया है। इस प्रकार तत्कालीन समाज में सच्चरित्रता और नैतिकता ही समाज के आधार थे। अतएव तत्कालीन समाज श्रेष्ठता को प्राप्त था। तत्कालीन समाज के आदर्श आज अनुकरणीय हैं।

संस्कृति-सभ्यता

आपसी सहयोग के साथ ही साथ रामायणीय समाज बहुत ही सभ्य एवं सुसंस्कृत था। शबरी एवं निषादराज गुह ने जिस प्रकार राम का स्वागत-सत्कार किया उससे यह स्पष्ट है कि जंगलों में रहने वाले एवं निम्न समझे जाने वाले लोग भी उतने ही सभ्य एवं सुसंस्कृत थे जितना कि नगरों में रहने वाले उच्च वर्ग के लोग।

रामायणकालीन समाज व्यवस्थित एवं सम्पन्न था। भव्य भवनों का वैभव, विचित्र, चमकीले एवं मूल्यवान् वस्त्राभूषणों का प्रयोग, षड्रसों से सम्पन्न सुगन्धित विभिन्न प्रकार के खाद्यपदार्थों का उपभोग, अनेक अस्त्रशस्त्रों, यन्त्रों एवं तोपों का आविष्कार, भव्य, आरामदायक तीव्र वेग वाले विमानों का निर्माण, शिक्षा का सर्वाङ्गीण विकास एवं शल्य चिकित्सा का आविष्कार, मनोरन्जनों के विविध साधनों- क्रीड़ा, गीत, वाद्य, कुश्ती, म गया, गोष्ठी, उत्सव आदि का प्रचलन, उद्योगों का विकास, कृषि के लिये सिंचाई के साधनों की व्यवस्था, आदि की उपलब्धि तत्कालीन समुन्नत एवं विकसित सभ्यता के प्रतीक हैं। इस प्रकार रामायणकालीन समाज में लोग अधिक सम्पन्न थे। यह उस समय की श्रेष्ठ सभ्यता का द्योतक है।

धर्म-पूजा

आचार विचारों में धर्म और नैतिकता की मान्यता तत्कालीन संस्कृति की उत्कृष्टता का परिचायक है। सदाचरण एवं सत्कर्म में प्रवृत्ति तत्कालीन समाज की उल्लेखनीय विशेषता है।

रामायणकालीन समाज आस्तिक था। समाज में लोगों को वैदिक धर्म में श्रद्धा थी। धार्मिक भावना से रामायणकालीन समाज में विविधयज्ञ भी किये जाते थे। प्रजाजन नित्यप्रति आहुतियाँ देते थे एवं अग्निहोत्र यज्ञ किया करते थे। वे जप भी किया करते थे। राजाओं द्वारा भी प्रजा में धार्मिक वृत्ति उत्पन्न करने के लिये एवं इष्ट की सिद्धि के लिये विभिन्न यज्ञों-अग्निष्टोम, राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय आदि का विधान किया जाता था।

रामायण में विभिन्न देवताओं की भी पूजा होती थी। ब्रह्मा, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, चन्द्र, सूर्य, मरुत, रुद्र, विष्णु, नारायण आदि देवताओं का रामायण में उल्लेख है। राम ने युद्ध में विजयार्थ आदित्य की अर्चना की थी। इस प्रकार रामायण काल में समाज में आध्यात्मिक भावना थी। सत्कर्म, धर्मानुसार आचरण एवं लोगों की पारस्परिक परोपकार की भावना से तत्कालीन समाज की विशेषकर आर्य समाज या उत्तरभारतीय समाज की संस्कृति की उत्कृष्टता स्पष्ट होती है।

रामायणकालीन समाज की सुव्यवस्था श्रेष्ठ सभ्यता एवं उत्कृष्ट संस्कृति के निम्नाङ्कित कारण उल्लेखनीय है—

(क) तत्कालीन समाज में सम्यक् एवं सुचारु वर्णाश्रम व्यवस्था थी। सभी लोगों को समानाधिकार प्राप्त थे।

- (2) समाज में समृद्धि एवं सम्पन्नता का प्रमुख आधार कृषि एवं व्यापार की उन्नति थी।
- (3) तत्कालीन समाज में लोगों में राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी।
- (4) उस समय सच्चरित्रता, सदाचार एवं सत्कर्म करना लोगों का परम धर्म था।
- (5) राजा एवं शासक वर्ग तथा प्रजाजन सभी अपने कर्तव्यों का पालन करने के प्रति जागरूक थे। शासक वर्ग विशेष रूप से प्रजा की रक्षा, समृद्धि एवं अनुरन्जन के लिये उत्तरदायी था।
- उपर्युक्त कारणों से ही रामायणकालीन समाज समृद्धि एवं श्रेष्ठता को प्राप्त था। तत्कालीन समाज को उत्कृष्टता प्रदान करने वाले उपर्युक्त आदर्श आधुनिक समाज द्वारा अपने उत्कर्ष के लिये अनुकरणीय हैं।

रामायणकालीन समाज के दोष—

रामायणकालीन समाज में व्यवस्था थी एवं सभ्यता तथा संस्कृति विकसित एवं उत्कृष्ट थी, तथापि तत्कालीन समाज में कतिपय कुरीतियाँ भी व्याप्त थीं। रामायणकालीन समाज के प्रमुख दोष निम्नाङ्कित रूप से उल्लेखनीय हैं—

(1) रामायणकालीन समाज में यद्यपि सभी वर्णों के व्यक्तियों को समान स्वतन्त्रता थी, तथापि उत्तरकाण्ड में वर्णित जातीय पक्षपात के कारण शूद्रों की स्थिति शोचनीय हो चुकी थी। वह वर्णों में हीन माना जाने लगा था। इससे आगे चलकर समाज में विषमता हुई एवं विकृति उत्पन्न हुई। वर्णों के भेदभाव की स्थिति राष्ट्रीय एकता में बाधक बनी, जो कि राष्ट्र के हित के लिये घातक सिद्ध हुई।

(2) रामायण कालीन समाज में मनुष्यों के विक्रय का प्रचलन उस समाज के लिये अभिशाप था। ऋचीक ने अपने पुत्र शनुः शेष को एक लाख गायों से विक्रय कर दिया था। यद्यपि ऐसे स्थल रामायण में नगण्य हैं।

(3) रामायण कालीन समाज का एक महान् अभिषाप यज्ञों में 'बलि' देना था। यज्ञों में 'बलि' देना न केवल राक्षसों में ही प्रचलित था, अपितु आर्य भी यज्ञों में इच्छानुसार 'बलि' देते थे।

उपर्युक्त दोष होने पर भी रामायण कालीन समाज सुव्यवस्थित एवं समुन्नत था। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक आदि सभी क्षेत्रों में उस समय समुन्नति थी। वैभवपूर्ण जीवन को व्यतीत करने के लिये समस्त उपकरण एवं साधनों की सम्पन्नता, शिक्षा का सर्वाङ्गीण विकास, शल्य चिकित्सा का आविष्कार, विविध-आयुधों, यन्त्रों, का निर्माण तत्कालीन सभ्यता की प्रगति के उल्लेखनीय प्रमाण हैं। इस प्रकार विभिन्न सुख-सुविधाओं के साधनों का आविष्कार एवं विकास तत्कालीन सभ्यता की उन्नति का समर्थन करते हैं।

रामायण कालीन समाज में धर्म, अर्थ और काम का समान उपयोग करना उस समाज की संस्कृति की श्रेष्ठता का परिचायक है। आर्य, वानर एवं राक्षस सभी धर्म, अर्थ और काम को समान रूप से प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहते थे। एवं धर्माचरण को ही श्रेष्ठ मानते थे। इसीलिए तत्कालीन समाज में लोगों का जीवन सरल एवं स्वतन्त्र था।

रामायण के आख्यान -

संस्कृत व्याकरण के अनुसार "आख्यान" पद में "चक्षिङ्" धातु है। पाणिनीय धातु पाठ में यह धातु व्यक्त वाक् और देखने में अर्थ में पठित है। इस "चक्षिङ्" धातु को ख्यात् आदेश हो जाता है। पुनः आ उपसर्क पूर्वक "ख्यात्" धातु से ल्युट् प्रत्यय करके आख्यान शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार मूल रूप से आख्यान पद अपने अन्दर स्पष्ट कथन और दर्शन जैसे अर्थों को संस्कृत के शब्दकोशों के अनुसार आख्यान शब्द के निम्नलिखित अर्थ स्वीकार किये जाते हैं- कथन, उक्ति, कथा, कहानी, वृत्तान्त, पुराव कथन गाथा तथा आख्यायिका आदि।

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में आख्यान पद का मुख्यतः दो अर्थों में प्रयोग किया है- (१) उत्तर या प्रतिवचन (२) इत्थंभूत आख्यान अर्थात् यथार्थ व तान्त, कथा या इतिव तात्मक कथन।

रामायण और महाभारत में कथातत्त्व प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं और इतिव तात्मक वर्णनों को आख्यान की संज्ञा से अभिहित किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ काव्यानुशासन में एक व्यक्ति द्वारा एक समय में कही जाने वाली कथा को आख्यान कहा है—

आख्यानसंज्ञां तल्लभते

यदाभिनयन् पठन् गायन्

ग्रन्थिकः एकः कथयति

गोविन्दवद् अवहिते सदसि।

साहित्य दर्पणकार ने आख्यान को कथा और आख्यायिका के अन्तर्गत ही माना है। मनुस्मृति में आख्यान पद का प्रयोग प्राचीन कथा के लिए किया है। पुराणों में पुरातन या अलौकिक कथाओं को आख्यान कहा गया है।

वस्तुतः “आख्यान” भारत की पुरातन शिक्षापद्धति की वह रोचक शैली है जिसका प्रयोग आचार्यगण विभिन्न ऐतिहासिक-धार्मिक तथा आध्यात्मिक तथ्यों को लोक सामान्य के समक्ष सरलतापूर्वक रखने के लिए किया करते थे।

आजकल आख्यान पद का प्रयोग मुख्यतः वेदो, ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों एवं महाकाव्यों अर्थात् रामायण और महाभारत में आयी कथाओं के लिए ही किया जाता है।

सम्प्रति यहाँ रामायण के आख्यानों पर कुछ प्रकाश डाला जायेगा।

विष्णु-वामन-आख्यान

वाल्मीकि-रामायण के अनुसार “सिद्धाश्रम, वामनावतार धारण करने से पूर्व विष्णु का तपः स्थल था। जब विष्णु वहाँ तपस्यारत थे तो विरोचनकुमार राजा बलि ने इन्द्र और मरुद्गणों सहित समस्त देवताओं को पराजित करके उनका राज्य अपने अधिकार में कर लिया। त्रिलोकी का राज्य प्राप्त कर बलि ने एक यज्ञ का आयोजन किया। अग्नि आदि देवता विष्णु के पास जाकर बोले कि बलि यज्ञ में याचकों को अभीष्ट वस्तुओं का दान देंगे, अतः आप योगमाया का आश्रय ले, वामनरूप धारण कर उस यज्ञ में जाइये और देवताओं का हित कीजिए। इसी बीच कश्यप ने वहाँ आकर विष्णु से अपने पुत्र के रूप में उत्पन्न होने की प्रार्थना की। विष्णु ने अदिति के उदर से जन्म लिया और राजा बलि के यज्ञ में पहुँचे। उन्होंने तीन पग भूमि माँगी और उन तीन पगों में तीन लोको को नाप डाला। त्रिलोकी का राज्य प्राप्त कर उसे पुनः इन्द्र को सौंप दिया।” इस मुख्य कथा के अतिरिक्त रामायण में लगभग छह स्थलों पर इसका संक्षिप्त और सांकेतिक उल्लेख है।

इस आख्यान की समीक्षा करते हुए “वैदिक आख्यानों का वैदिक स्वरूप” ग्रन्थ के लेखक डा. सुरेन्द्र कुमार का मानना है कि—

वैदिक साहित्य से लेकर पुराणसाहित्य तक इस आख्यान के स्वरूप एवं आधारभूत तथ्य बदलते रहे हैं, अतः इसे ऐतिहासिक स्वरूप या महत्त्व नहीं दिया जा सकता। वेदमन्त्रोक्त विष्णु के कार्य किसी शरीरी द्वारा सम्पादित किये जाने सम्भव और बुद्धिगम्य नहीं है।

वामन नाम और उसके रूप या अवतार-धारण की प्रेरणा एवं कल्पना तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों से प्राप्त हुई। वहाँ वामन का रूपधारण असुरमात्र (असत् तत्वों) के पराभव के लिए था, जबकि रामायण और परवर्ती साहित्य में यह अवतार केवल राजा बलि के पराभव के लिए होता है। इस प्रकार कथा का आधार और उद्देश्य ही बदल जाता है।

वेदों के प्रमाणों से सिद्ध है कि किसी स्थल पर वामनावतार की कथा और बलि का पराभव नितान्त

कल्पनाएँ हैं। अतः वेदों के वर्णन के आधार पर उक्त निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। यह भी विवादास्पद है कि बलि या बालि देश विरोचनकुमार बलि के नाम पर है, अथवा रामायणकालीन बालि के नाम पर। रामायण एवं परवर्ती साहित्य में वर्णित बलिवामन आख्यानों के आधार पर यदि ऐतिहासिक तत्त्वों का अन्वेषण किया जाता है तो आपत्ति से परे होगा, क्योंकि रामायण, महाभारत और पुराण ऐतिहासिक शैली के ग्रन्थ हैं। किन्तु यह प्रामाणिक रूप में कहा जा सकता है कि यदि बलि के समय में कोई “वामन” नामक महापुरुष हुआ है तो उसका वेदों, वैदिक साहित्य और विष्णु से कोई सम्बन्ध नहीं है।

शुनःशेष का आख्यान

वाल्मीकि-रामायण में शुनःशेष आख्यान इस प्रकार है— “जब महातेजस्वी विश्वामित्र पुष्कर में रहकर दुर्जय तपस्या में लीन थे, उन्हीं दिनों आयोध्या के महाराजा अम्बरीष एक यज्ञ के आयोजन की तैयारी कर रहे थे इन्द्र ने उनके यज्ञपशु को चुरा लिया। यज्ञपशु के चोरी हो जाने को पुरोहित ने अनिष्टकारक बताया और कहा कि यज्ञ प्रारम्भ होने से पूर्व उसे खोजकर लाओ, अन्यथा उसके प्रतिनिधिरूप में किसी पुरुष पशु को ले आओ। राजा विभिन्न देशों, जनपदों, वनों, आश्रमों में खोज करते हुए भ गुतुंग नामक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने पत्नी तथा पुत्रों के साथ बैठे ऋचीक मुनि को देखा। राजा ने ऋचीक को प्रणामपूर्वक प्रसन्न करके एक लाख गौओं के बदले एक पुत्र को यज्ञपशु के रूप में प्रदान करने का अनुरोध किया। ज्येष्ठपुत्र शुनःपुच्छ को देने के लिए ऋचीक तैयार नहीं हुए और कनिष्ठपुत्र शुनोलांगूल को देने के लिए उसकी माता तैयार नहीं हुई। अपने को उपेक्षित जान शुनःशेष ने विक्रय के लिए स्वयं को प्रस्तुत कर दिया। राजा उसे लेकर पुष्कर तीर्थ में आकर दोपहर के समय विश्राम करने लगे। पुष्कर में तपस्या कर रहे विश्वामित्र शुनःशेष के मामा लगते थे। वह उनके पास गया और दीन-आतुर होकर गोद में गिरकर कहने लगा कि इस संसार में मेरा कोई नहीं है, आप ही मेरी धर्मपूर्वक रक्षा करें। मुनि विश्वामित्र ने उसे सान्त्वना दी और अपने पुत्रों से उसके स्थान पर यज्ञपशु बनने के लिए कहा। मधुच्छन्दा आदि बड़े पुत्रों ने अवहेलना और अभिमानपूर्वक विश्वामित्र के इस विचार की निन्दा की और अपने पुत्र की बलि देकर दूसरे के पुत्र की रक्षा करने को “अकर्त्तव्य” कहा। विश्वामित्र ने क्रोधाभिभूत होकर उन्हें शवामांसभोजी अधर्म जाति में जन्म लेकर एक हजार वर्षों तक पृथ्वी पर विचरण करने का शाप दिया और शुनःशेष को रक्षा का उपाय बताया। विश्वामित्र ने शुनःशेष को इन्द्र और उपेन्द्र की स्तुतिपरक दो गाथाएँ प्रदान की और कहा कि जब तुम्हें यज्ञीययूप से बाँधा जाये तो इनका गान करना। इससे तुम्हें मनोवांछित सिद्धि प्राप्त होगी।

डा. सुरेन्द्र कुमार के मत में वाल्मीकि-रामायण में इस आख्यान को राम के समकालीन विश्वामित्र के साथ जोड़कर उनकी विशेषताओं के वर्णनप्रसङ्ग में वर्णित किया है और शुनःशेष को विश्वामित्र का भानजा बतलाया है। स्वयं वाल्मीकि-रामायण के अनुसार राजा अम्बरीष भी राम की प्रमुख छह पीढ़ी पूर्व हुए हैं। कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार अम्बरीष राम से ३७ पीढ़ी पूर्व हुए हैं। इस प्रकार आख्यान के पात्रों में कालविरोध है, अतः इसकी ऐतिहासिकता प्रामाणिक नहीं कही जा सकती।

बालगङ्गाधर तिलक आदि कुछ विद्वान् शुनःशेष की कथा का अन्वयार्थ प्रकृतिपरक लगाते हैं। उनके अनुसार यह रूपकात्मक वर्णन है, जो दीर्घरात्रि के पश्चात् अस्त होने वाले सूर्य की ओर संकेत करता है। उषस् के द्वारा वरुण के पाशों से मुक्त किये जाने के उल्लेख को वे इसका पोषक मानते हैं। यद्यपि प्रकृतिपरक अर्थ में यह रूपक माना जा सकता है, किन्तु पूर्वसूक्तों में ऐसे उल्लेख या संकेत नहीं मिलते, जिनके आधार पर विशुद्ध प्राकृतिक रूपकात्मक व्याख्या की जाये।

अस्तु, ऐतिहासिक और अनैतिहासिक, दोनों ही व्याख्याशैलियों के अनुसार शुनःशेष के मन्त्रगत प्रसङ्गों का मानवजीवन में प्रेरणाप्रद स्थान है। इनमें अपराधी, कष्टपीडित व्यक्ति अथवा सांसारिक बन्धनों से ग्रस्त मुमुक्षु की व्याकुलता का चित्रण है और वे इनसे छूटने के लिए प्रयासरत हैं। सभी

को इनसे मुक्त होने का प्रयास करने के लिए प्रोत्साहित एवं प्रेरित किया गया है। उन्हें सावधान किया गया है कि नैतिकता के सम्राट् वरुण परमात्मा सभी की प्रत्येक चेष्टा पर दृष्टि रखते हैं। शुभाशुभ कर्मों का फल देते हैं। अतः वरुणपाशों=कष्टों से बचने के लिए उनका भय मानना चाहिए और अश्रेष्ठ कर्मों का त्याग कर श्रेष्ठ कर्म करने चाहिए। वह वरुण=परमात्मा, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी और सबका द्रष्टा है।

इन्द्र-अहल्या आख्यान—

वाल्मीकि-रामायण में यह आख्यान बाल और उत्तर, दोनों काण्डों में वर्णित हुआ है। दोनों स्थलों पर इसका पथक्-पथक् स्वरूप प्रदर्शित है। दोनों आख्यानों में तथ्यात्मक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। बालकाण्ड की कथा में कहा गया है कि “अहल्या ने इन्द्र के साथ जारकर्म कामना पूर्वक किया, जबकि उत्तरकाण्ड में कहा है कि “अहल्या से यह पाप अनजाने में हुआ है। बालकाण्ड की कथा विस्तृत है और इन्द्र को देवों की सहायता मिलती दिखायी गयी है, जबकि उत्तरकाण्ड के कथानक में एक राजा का मर्यादाहीन चरित्र प्रदर्शित करते हुए ऐसे राजा को अनिष्टकार बतलाया है। रामायण की कथाओं में अहल्या को शिला होना नहीं दिखाया गया है। इन्द्र को सहस्रभग होने का ज्ञान भी यहाँ नहीं है, क्योंकि उसे पहले ही “सहस्राक्ष” विशेषण से अभिहित किया हुआ है। रामायण की दोनों कथा इस प्रकार हैं—

“मिथिला के निकटवर्ती वन में एक पुराना, निर्जन किन्तु रमणीय आश्रम देखकर रघुवंशी राम ने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र से पूछा, “भगवन्! यह आश्रम के समान दिखायी पड़ने वाला, किन्तु मुनियों से रहित कैसा स्थान है? मैं यह सुनना चाहता हूँ कि पूर्वकाल में यह किसका आश्रम रहा है?”

विश्वामित्र ने बताया कि महर्षि गौतम पुराकाल में यहाँ अपनी पत्नी के साथ रहकर तपस्या किया करते थे। एक दिन महर्षि गौतम की अनुपस्थिति में उपयुक्त अवसर देखकर शचीपति सहस्रनेत्रधारी इन्द्र गौतम मुनि का वेष धारण करके वहाँ आये और अहल्या से इस प्रकार बोले, “सदा सावधान रहनेवाली मुनिपत्नी! रति क्रिया करने की इच्छा रखनेवाले पुरुष कभी ऋतुकाल की प्रतीक्षा नहीं किया करते हैं। सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी! मैं इन्द्र, तेरे साथ समागम करना चाहता हूँ।” रघुनन्दन! मुनि गौतम का वेष धारण करके आये सहस्रनेत्र इन्द्र को पहचान कर उस दुर्बुद्धिवाली अहल्या ने “अहो! देवराज इन्द्र जैसे महान् पुरुष मुझसे समागम करना चाहते हैं, उनसे समागम में कैसा आनन्द होगा?” इस उत्कण्ठा के कारण उससे समागम करने का विचार बना लिया, फिर रतिक्रिया में संतुष्ट होकर उसने प्रसन्न मन से देवराज इन्द्र से कहा— “देवश्रेष्ठ मैं आपके समागम से धन्य हो गयी हूँ। प्रभो! अब आप यहाँ से शीघ्र चले जाइए ओर देवेश्वर! आप अब गौतम के शाप से अपनी और मेरी भी रक्षा करें।” इन्द्र ने भी मुस्कराते हुए अहल्या से यह कहा— “सुन्दर नितम्बभागवाली सुन्दरी! मैं भी पूर्ण सन्तुष्ट हो गया हूँ। अब जैसे आया था, वैसे चला जाऊँगा।” इस प्रकार अहल्या से समागम करके इन्द्र उस समय गौतम के आ जाने की आशंका से घबराकर बड़ी शीघ्रता और हड़बड़ाहट से उस कुटिया से बाहर निकले। इतने में ही इन्द्र ने देखा कि देवताओं और दानवों के लिए भी अपने तेज से अपराजेय, तपोबलसम्पन्न, प्रज्वलित अग्नि के समान देदीप्यमान कान्तिवाले, तीर्थ के जल से गीले शरीरवाले, महामुनि, मुनिश्रेष्ठ गौतम हाथ में समिधा ओर कुश लिये हुए आश्रम में प्रवेश करके उधर ही चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही देवराज इन्द्र भय से काँप उठे और उनके मुख पर घबराहटभरी उदासी छा गयी। उस समय दुराचारी सहस्रनेत्र इन्द्र को मुनि का वेषधारण किये हुए देखकर सदाचार सम्पन्न मुनि गौतम ने क्रोध में भरकर यह शाप-वाक्य कहा— “दुर्बुद्धि इन्द्र! तूने मेरा रूप बनाकर यह न करने योग्य पापकर्म किया है, इसलिए अब तू ‘विफल=अण्डकोषों से रहित’ हो जाएगा।” अतिक्रोध में भरे हुए महात्मा गौतम के ऐसा कहते ही सहस्रनेत्र इन्द्र के दोनों अण्डकोष तुरन्त वहीं भूमि पर गिर पड़े। इन्द्र को इस प्रकार शाप देकर गौतम मुनि ने अपनी पत्नी अहल्या को भी इस प्रकार शाप दिया— “अहल्या! तू अनेक

सहस्र वर्षों तक बिना कुछ खाये-पीये केवल वायु के सहारे रहकर कष्टों से पीड़ित होगी, यहीं इसी आश्रम में राख में पड़ी रहेगी। कोई प्राणी तुझे देख नहीं सकेगा। जब कभी दशरथ के पुत्र दुर्दमनीय राम इस घोर वन में पधारेंगे, तब तू पवित्र होगी। दुराचारिणी! उनका आतिथ्य करने से तेरे मन के लोभ-मोह आदि दोष दूर होंगे और फिर प्रसन्नतापूर्वक मेरे पास पहुँचकर अपने उसी सुन्दर शरीर को धारण कर लेगी।” अपनी दुष्टाचरणवाली पत्नी से यह कहकर महातपस्वी गौतम इस आश्रम को छोड़कर चले गये और सिद्धों तथा चारणों के निवास से युक्त हिमालय के रमणीय शिखर पर रहकर तपस्या करने लगे।

कुछ चिन्तक अहल्या शब्द का “हल्यते इति हल्या, न हल्या अहल्या”=अर्थात् जहाँ हल जोता जाता है, उस भूमि का नाम ‘हल्या’ है। जिस भूमि में हल नहीं जोता जाता, वह भूमि “अहल्या” कहलाती है, यह अर्थ ग्रहण करते हैं। रामायण में इसकी सङ्गति यह लगाते हैं कि अहल्या=न जोती जाने वाली भूमि को राम ने पहुँचकर जोतने योग्य बनाया, उपजाऊ बनाया। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत किया है। कोई-कोई अहल्या को दक्षिण की भूमि मानकर राम द्वारा उसको निवास योग्य बनाये जाने को उसका अन्वयार्थ ग्रहण करते हैं।

इस व्याख्या के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि यह केवल कल्पना ही है। मूल आख्यानों से इसकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती, जबकि रामायणकार ने ब्राह्मणग्रन्थों से ही इसके मूल को ग्रहण किया है। इसके समर्थन में आख्यान का एक भी अन्तःसाक्ष्य और वैदिक साहित्य का प्रमाण नहीं, अतः इसे ग्राह्य नहीं जा सकता। स्वयं रामायण में अहल्या का इससे भिन्न अर्थ “हल=कुरुपता, अहल्या=कुरुपता से रहित स्त्री” प्रदर्शित किया है। यदि रामायणकार को उक्त अर्थ स्वीकार होता तो वह उसका भी संकेत अवश्य कर देता। ऐसा न होने पर इस व्याख्या का स्वयं रामायण से ही तालमेल नहीं बैठता।

इन्द्र-अहल्या-आख्यान प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से कितना ही कारुणिक या हेय क्यों न प्रतीत होता हो, किन्तु शिक्षा या उद्देश्य की दृष्टि से गौरवपूर्ण स्थान रखता है। इसमें यह यथार्थ उद्घाटित किया है कि राजा प्रायः स्वच्छन्दचारी और विलासी होते हैं। वे अपनी प्रजास्थ जनो की स्त्रियों से ही जारकर्म करते हैं। जहाँ लुभाये, उसी को भ्रष्ट कर डाला। सत्तामद में उन्हें भय किसी का होता नहीं। इन्द्र के उदाहरण द्वारा यह दिखाया गया है कि ऐसे पाप करने पर इन्द्र जैसे चक्रवर्ती सम्राट् की दुर्गति होती है। प्रजा में उसकी निन्दा होती है, आक्रोश फैलता है और एक समय ऐसा आता है कि उसका सिंहासन ढाँवाडोल होने लगता है। अतः राजा को और प्रत्येक मनुष्य को ऐसे पापकर्म से बचना चाहिए।

इसमें प्राचीन प्रजा के आत्मबल को प्रदर्शित करके एक ओजस्वी प्रेरणा दी गयी है। प्रायः लोग राजा से भयभीत होकर स्वयं पर होनेवाले अत्याचारों को चुपचाप सहन कर लेते हैं। गौतम के उदाहरण से पता चलता है कि प्राचीन प्रजा में इतना आत्मबल था कि वे पापकर्म का विरोध करते समय बड़े-से-बड़े राजा से भी नहीं डरते थे। गौतम ने इन्द्र को फटकारा। शास्त्रों ने उसकी निन्दा की। निन्द्य विशेषणों से उसे पुकारा गया। वह कलङ्क अभी तक चर्चा का विषय बना हुआ है। जनता को चाहिए कि वह शासक द्वारा अन्याय, अत्याचार करने पर गौतम के समान साहसपूर्वक विरोध करे और शासक को इस बात के लिए विवश कर दे कि वह पुनः वैसा कार्य न कर सके।

निर्दिष्ट आख्यानों के अतिरिक्त रामायण में अन्य बहुत आख्यान उपलब्ध होते हैं। यहाँ यह तथ्य ध्यातव्य है कि आख्यान एक काल्पनिक कथा शैली है जिसके माध्यम से विद्वज्जन गूढ़ रहस्यों को सामान्य जनों के समक्ष भी सरलता से प्रकट करते रहे हैं। अतः वर्तमान में इन आख्यानों के अध्येताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि कथा या आख्यान में बुद्धिगम्य अर्थ का पक्ष आवश्यक रूप से खोजा जाना चाहिए अन्यथा इनके पठन और श्रवण से लाभ नहीं होगा। आगे महाभारत और पुराण के आख्यानों के प्रसंग में भी यह तथ्य आवश्यक रूप से स्मरणीय है।

महाभारत

महाभारत भारत का राष्ट्रीय ऐतिहासिक काव्य तथा आर्य-जीवन की विराट् और सार्वभौमिक महत्त्व से युक्त महागाथा है। इसके विशाल कलेवर का इस प्रकार निर्माण किया गया है, जिसमें पुराण, इतिहास, महाकाव्य धर्मशास्त्र तथा नीतिदर्शन का मिश्रित स्वरूप प्रतिबिंबित होता है। प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद् डॉ. विन्टरनिट्स ने इसे अत्यन्त सीमित अर्थ में इतिहास और काव्य कहा है, किन्तु वास्तव में वे इसे अपने में एक पूर्ण साहित्य मानते हैं। भारतीय मनीषा ने शताब्दियों से प्रवाहमान जिस ज्ञान और विचारणा का अन्वेषण किया था और युग-युग से भारत ने सुचिंतित ढंग से जीवन की जो व्याख्या प्रस्तुत की थी; उन सबों का अखण्ड रूप एक प्राण होकर महाभारत में उत्कीर्ण है। यह ऐसा ज्ञान कोश है, जिसमें मानव मस्तिष्क की समस्त चिन्तन परम्परा और सांस्कृतिक चेतना आकर समाहित हो गयी है। एक वाक्य में यह एक महान् विश्वकोष है। इसमें ज्ञान के प्रत्येक पक्ष का केवल संस्पर्श ही नहीं किया गया है, अपितु यह अपने सर्वांगी कलेवर में विभिन्न विषयों की सर्वोच्च मान्यताओं और चिंतन-सरणियों को गुंफित कर भारत का ज्ञान-सर्वस्व होने के कारण आर्ष ग्रन्थ या पंचम-वेद के रूप में प्रतिष्ठित है।

महाभारत भारतीय जीवन, विशेषतः हिन्दू जनता का जातीय इतिवृत्त है; इसकी रचना एक लाख श्लोकों में हुई है। यह विश्व-साहित्य में सबसे विस्तृत महाकाव्य है, जो इलियड और ओडिसी के सम्मिलित स्वरूप का आठ गुना होगा। इसके रचयिता महर्षि व्यास हैं। यह काव्य तथा इतिहास को अपने में अन्तर्निहित कर महान् भारतीय सांस्कृतिक निधि को मुखरित करता है। यह स्वयं एक संस्कृति है। इसमें कवि ने कौरवों तथा पाण्डवों की कथा के माध्यम से तत्कालीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विशाल चित्र अंकित किया है। इसमें संघर्ष संकुल भारतीय जीवन की यथार्थ कहानी है, जिसमें दो जीवन-मूल्यों का चित्र उकेरा गया है तथा तद्गुणीन सम्पूर्ण विचारणा एवं युग-चेतना को समेटने का सफल प्रयास किया गया है। इसीलिए कहा गया है कि जो भारत में नहीं है, वह महाभारत में भी नहीं है यन्न भारते तन्न भारते। भारत का अर्थ है— भारतों का युद्ध। महाभारत का अर्थ हुआ “भारत लोगों के महान् युद्ध का आख्यान।”

महाभारत का आकार प्रकार—

‘महाभारत’ का प्रणयन १८ पर्वों या खण्डों में हुआ है, जिनके नाम इस प्रकार हैं— आदि, सभा, वन, विराट्, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थानिक तथा स्वर्गारोहण। प्रत्येक पर्व में वर्णित विषयों की सूची इस प्रकार है—

(१) **आदिपर्व-** महाभारत की रचना की कथा, ब्रह्मा की कृपा से गणेश द्वारा महाभारत का लेखन, चन्द्रवंश का इतिहास एवं कौरवों तथा पाण्डवों की उत्पत्ति, विदुर, कर्ण, कृष्ण, सात्यकि, कृतवर्मा, द्रोण, अश्वत्थामा, धृष्टद्युम्न आदि के जन्म का वृत्तान्त, कुन्ती तथा माद्री के गर्भ से धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनी कुमारों द्वारा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव की उत्पत्ति, शिखण्डी का जन्म, दुष्यन्त और शकुन्तला का आख्यान, दक्ष, वैवस्वतमनु एवं उनके पुत्रों की जन्म-कथा कच-देवयानी की कथा, शान्तनु और गंगा का विवाह तथा भीष्म द्वारा आजीवन अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा, सत्यवती के गर्भ से चित्रांगद एवं विचित्रवीर्य का जन्म, शान्तनु तथा चित्रांगद की मृत्यु एवं विचित्र-वीर्य का राज्यभिषेक, विचित्रवीर्य की मृत्यु पर माता सत्यवती के अनुरोध से कुरुवंश की वृद्धि के लिए व्यास द्वारा विचित्रवीर्य की पत्नियों से धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर का जन्म। धृतराष्ट्र एवं पाण्डु का विवाह, धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों तथा पाण्डवों की जन्म कथा, द्रोण का परशुराम से अस्त्र प्राप्त करना तथा राजा द्रुपद से अपमानित होकर हस्तिनापुर आना एवं राजकुमारों की शिक्षा के लिए उनकी नियुक्ति, दुर्योधन द्वारा लाक्षाग्रह में पाण्डवों को मारने की योजना तथा उसकी विफलता, हिडिम्ब का वध कर भीम का उसकी बहिन हिडिम्बा से ब्याह करना तथा घटोत्कच की

उत्पत्ति। द्रौपदी का स्वयम्बर तथा अर्जुन का लक्ष्यवेध कर द्रौपदी को प्राप्त करना, पाँचों भाइयों का द्रौपदी के साथ विवाह, द्रोण और विदुर के परामर्श से पाण्डवों का आधा राज्य प्राप्त कर इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाना, मणिपुर में चित्रांगदा के साथ अर्जुन का विवाह, द्वारिका में सुभद्रा-हरण एवं अर्जुन के साथ विवाह, खाण्डववन का दाह।

(२) सभापर्व— मय दानव द्वारा अद्भुत सभा का निर्माण तथा नारद का आगमन, युधिष्ठिर का राजसूय करने की इच्छा प्रकट करना, राजसूय का वर्णन, भीष्म के कहने पर श्री कृष्ण की पादपूजा, शिशुपाल का विरोध तथा कृष्ण द्वारा उसका वध, दुर्योधन को ईर्ष्या, द्यूतक्रीड़ा के लिए युधिष्ठिर का आह्वान, शकुनि की चाल से युधिष्ठिर का भाईयों तथा द्रौपदी को हार जाना, दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीर हरण, युधिष्ठिर आदि का वन गमन।

(३) वनपर्व— पाण्डवों का काम्यक् वन में प्रवेश तथा विदुर और श्रीकृष्ण का आगमन, व्यास जी के आदेश से पाण्डवों का इन्द्रकील पर्वत पर जाकर इन्द्र के दर्शन करना, अर्जुन की तपस्या एवं शिव जी से पाशुपतास्त्र की प्राप्ति उर्वशी का अर्जुन पर आसक्त होना, अर्जुन द्वारा उसका तिरस्कार करना तथा उर्वशी द्वारा उनका शापित होना, नल-दमयन्ती की कथा, परशुराम, अगस्त्य, सगर, भगीरथ, ऋष्यशङ्ग, च्यवन मांधाता आदि की कथा, हनुमान् भीम-मिलन, सर्प-रूपी नहुष से संवाद एवं उसकी मुक्ति, द्रौपदी सत्यभामा संवाद, दुर्योधन का गन्धर्वों से युद्ध एवं उसकी पराजय, पाण्डवों द्वारा उसकी रक्षा एवं दुर्योधन का गन्धर्वों से युद्ध एवं उसकी पराजय, पाण्डवों द्वारा उसकी रक्षा एवं दुर्योधन की आत्मग्लानि, सावित्री-उपाख्यान, इन्द्र का कर्ण से कवच कुण्डल का दान-रूप में ग्रहण तथा दिव्यदृष्टि देना, यज्ञ युधिष्ठिर संवाद।

(४) विराटपर्व— अज्ञातवास के लिए पाण्डवों का विराटनगर में प्रस्थान, कीचक का द्रौपदी को अपमानित करना तथा भीम द्वारा उसका वध, सुशर्मा से पाण्डवों का राजा विराट की रक्षा करना, कौरवों का विराट पर आक्रमण तथा पाण्डवों की सहायता से राजा विराट की विजय, विराट की पुत्री उत्तरा के साथ अभिमन्यु का विवाह।

(५) उद्योग पर्व— विराट नगर में श्रीकृष्ण के परामर्श से द्रुपद-पुरोहित का हस्तिनापुर आना, अर्जुन तथा दुर्योधन दोनों की सहायता करने का श्रीकृष्ण का आश्वासन, पाण्डवों की सैनिक तैयारी, संजय का दूत बनकर आना और पाण्डवों का दूत बन कर श्रीकृष्ण का दुर्योधन की सभा में जाना उनकी वार्ता का विफल होना, कुरुक्षेत्र में दोनों की सैन्य-योजना एवं व्यूह की रचना।

(६) भीष्मपर्व— व्यास जी द्वारा संजय को दिव्य दृष्टि की प्राप्ति, धृतराष्ट्र के पूछने पर संजय का युद्ध विवरण देना। दस दिनों तक भीष्म द्वारा घनघोर युद्ध तथा शिखण्डी की सहायता से भीष्म का पतन, भीष्म की शरशय्या तथा प्राण-त्याग के लिए उनकी उत्तरायण की प्रतीक्षा।

(७) द्रोणपर्व— अभिमन्यु का युद्ध, द्रोण द्वारा चक्रव्यूह का निर्माण एवं अभिमन्यु की मृत्यु, अर्जुन द्वारा जयद्रथ का मारा जाना, कर्ण की शक्ति से घटोत्कच की मृत्यु, द्रोणाचार्य का घोर युद्ध तथा धृष्टद्युम्न द्वारा उनका वध, अश्वत्थामा का क्रोध कर नारायणशस्त्र का प्रयोग, श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डव सेना एवं भीम की रक्षा।

(८) कर्णपर्व— कर्ण का सेनापति बनना, कर्ण द्वारा युधिष्ठिर की पराजय तथा पलायन, अश्वत्थामा को पराजित कर अर्जुन का युधिष्ठिर का समाचार लेने के लिए आना, युधिष्ठिर द्वारा अर्जुन का तिरस्कार तथा अर्जुन का युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत होना, श्रीकृष्ण की शिक्षा से दोनों का प्रसन्नतापूर्वक मिलन, कर्णवध तथा युधिष्ठिर द्वारा शल्य का मारा जाना, दुर्योधन का सरोवर में प्रवेश।

(९) शल्यपर्व: गदापर्व— भीमसेन की ललकार सुनकर दुर्योधन का सरोवर से निकलना तथा भीमसेन के साथ गदा-युद्ध, भीम का दुर्योधन की जांघ तोड़ देना, बलराम का आना और क्रोध प्रकट करना, दुर्योधन की दशा देखकर अश्वत्थामा का शोक करना तथा उसका सेनापतित्व ग्रहण करना।

(१०) **सौप्तिकपर्व**— अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पाँच पुत्रों तथा अन्य वीरों का वध, अर्जुन का अश्वत्थामा को दण्ड देना तथा मणि लेकर अश्वत्थामा का पलायन।

(११) **स्त्रीपर्व**— जलप्रदानादि कर्म, ध तराष्ट्र का विलाप, संजय एवं विदुर का उन्हें समझाना, गान्धारी का क्रोध करना तथा व्यास जी का उन्हें समझाना, स्त्री पुरुषों द्वारा अपने संबंधियों को जलांजलि देना।

(१२) **शान्तिपर्व**— युधिष्ठिर द्वारा महर्षि नारद से कर्ण का व तान्त जानकार शोक प्रकट करना, क्रमशः भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी का ग हस्थ-धर्म राज्य तथा धन की प्रशंसा करते हुए युधिष्ठिर को समझाना, श्रीकृष्ण का युधिष्ठिर के शोक-निवारण का प्रयत्न करना तथा सोलह राजाओं का उपाख्यान सुनना, श्रीकृष्ण के कहने पर युधिष्ठिर का भीष्म के पास जाना तथा भीष्म का युधिष्ठिर को राजधर्म, आपत्तिग्रस्त राजा के कर्तव्य एवं धर्म की सूक्ष्मता का उपदेश देना। नाना प्रकार के आख्यान, अनेक गीताएँ तथा मोक्ष के साधनों का वर्णन, यज्ञ में हिंसा की निन्दा तथा अहिंसा की प्रशंसा, सांख्ययोग का वर्णन, जनक तथा शुकदेव आदि ऋषियों की कथा।

(१३) **अनुशासनपर्व**— युधिष्ठिर को सान्त्वना देने के लिए भीष्म का अनेक कथाएँ कहना, लक्ष्मी के निवास करने तथा न करने योग्य पुरुष स्त्री और स्थानों का वर्णन, शरीर, मन और वाणी के पापों के परित्याग का उपदेश, दान-महिमाव्रत, उपवास आदि के फल, हिंसा तथा मांस-भक्षण की निन्दा, भीष्म का प्राणत्याग।

(१४) **आश्वमेधिकपर्व**— युधिष्ठिर का क्रोध करना तथा श्रीकृष्ण का उन्हें समझाना, अर्जुन से श्रीकृष्ण का मोक्ष-धर्म का वर्णन करना, उत्तरा की कथा, अभिमन्यु का श्राद्ध, म त बालक परीक्षित का श्रीकृष्ण द्वारा पुनरुज्जीवन, यज्ञ का प्रारम्भ तथा अर्जुन द्वारा अर्थ की रक्षा, विभिन्न प्रकार के दान एवं व्रत का वर्णन।

(१५) **आश्रमवासिकपर्व**— ध तराष्ट्र का गांधारी तथा कुन्ती के साथ वन जाना, गांधारी तथा कुन्ती का म त पुत्रों को देखने के लिए व्यास जी से अनुरोध करना तथा परलोक से म त पुत्रों का आना एवं दर्शन देना, ध तराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती की म त्यु।

(१६) **मौसलपर्व**— मौसल युद्ध में यदुवंशियों का नाश।

(१७) **महाप्रस्थानिकपर्व**— पाण्डवों द्वारा व ष्णिवंशियों का श्राद्ध करके हिमालय की ओर प्रस्थान, युधिष्ठिर के अतिरिक्त सभी भाइयों का पतन, युधिष्ठिर का सन्देह तथा उनका स्वर्ग में जाना।

(१८) **स्वर्गारोहणपर्व**— स्वर्ग में नारद तथा युधिष्ठिर में वार्तालाप, युधिष्ठिर का नरक देखना तथा भाइयों का क्रन्दन सुनकर नरक में रहने का निश्चय करना, इन्द्र तथा धर्म का युधिष्ठिर को समझाना, युधिष्ठिर का दिव्यलोक में जाना तथा अर्जुन कृष्णादि से भेंट, महाभारत का उपसंहार और माहात्म्य।

महाभारत का काल -

भारतीय परम्परा में महाभारत के युद्ध का समय द्वापर युग का अन्त और कलियुग का आरम्भ माना जाता है। भारतीय ज्योतिष की गणना के अनुसार कलियुग के आरम्भ का समय ईसा से इकत्तीस सौ दो वर्ष पूर्व माना जाता है। पं. इन्द्रनारायण द्विवेदी ने महाभारत के युद्ध और कलियुग के आरम्भ के काल का निर्णय बड़े विस्तार के साथ किया है। पश्चिमी विद्वान् भारतीय ज्योतिष की इस गणना को आदर नहीं देते। युगों की भारतीय कल्पना तथा महाभारत का युगों के साथ सम्बन्ध उन्हें काल्पनिक और अमान्य प्रतीत होता है। उनकी दृष्टि में भारत की संस्कृति और उसका इतिहास अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। अतः भारतीय संस्कृति और इतिहास की प्राचीनता के प्रति उनका उचित आदर नहीं है। वे भारतीय ग्रन्थों का समय यथा सम्भव ईस्वी सन् के आरम्भ के निकट रखने का प्रयत्न करते हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में कालगणना का कोई निश्चित आधान न होने के कारण भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों की प्राचीनता प्रमाणित करने का पर्याप्त

साधन नहीं मिलता। इस संदेह की स्थिति में उनको भारतीय ग्रन्थों और व्यक्तियों का समय ईसा के अधिक से अधिक निकट रखने का अवसर मिलता है। अनिश्चय की अवस्था में प्राचीन ग्रन्थों और व्यक्तियों के सम्भाव्य काल की अर्वाचीन सीमा के निर्धारण की दृष्टि से उनका यह दृष्टिकोण ठीक है। किन्तु दूसरी ओर यह दृष्टिकोण भारत के प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में एक अनुचित धारणा का पोषण करता है। भारत के जिन प्राचीन तथ्यों के सम्बन्ध में काल-निर्धारण के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं है, उनकी प्राचीनता की आस्था को आधुनिक और वैज्ञानिक मानदण्डों के अनुरोध के द्वारा खण्डित करना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य बहुत विशाल है तथा उसके अनेक रूप हैं। इतने विस्तृत और विशाल साहित्य का निर्माण और विकास इतने प्राचीन काल में बहुत समय में हुआ होगा। आधुनिक मानदण्डों से इस विकास की गति की कल्पना नहीं की जा सकती। वैज्ञानिक दृष्टि से केवल युद्ध का समय निश्चित है। उसके पूर्व कम से कम शताब्दियों का अन्तर मानकर महाभारत, पुराण, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण, वेद आदि के समय का अनुमान लगाया जाता है। कालक्रम की अर्वाचीन सीमा का निर्णय तो ठीक माना जा सकता है किन्तु इससे प्राचीन ग्रन्थों के वास्तविक काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, वरन् इसके विपरीत उनकी प्राचीनता आच्छादित हो जाती है। इस अर्वाचीन अवधि के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास के आधुनिक काल निर्णय उतने संदिग्ध हैं, जितना संदिग्ध कि विश्वासी जनों की तत्सम्बन्धी आस्था को माना जाता है। प्राचीन भारत ग्रन्थों और व्यक्तियों की अर्वाचीन अवधि के वैज्ञानिक निर्धारण ने काल-निर्णय के सम्बन्ध में स्वयं अनिश्चित होते हुए भी भारतीय इतिहास के तथ्यों की प्राचीनता को बहुत आघात पहुँचाया है। यह प्राचीन भारतीय इतिहास और उसके अध्ययन की एक आधुनिक विडम्बना है।

वेद, उपनिषद् आदि के काल निर्णय की भाँति महाभारत का काल निर्णय भी पश्चिमी विद्वानों ने उक्त वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार किया है। यह वैज्ञानिक प्रणाली प्राचीन ग्रन्थों और तथ्यों की अर्वाचीन अवधि निर्धारण करके केवल यह सिद्ध करती है कि कोई अमुक ग्रन्थ अथवा व्यक्ति इस अवधि के बाद का नहीं हो सकता। यह अवधि ठीक होते हुए भी इसके निर्धारण से इन ग्रन्थों और तथ्यों का वास्तविक समय निश्चित नहीं होता, वरन् इसके विपरीत इनकी प्राचीनता की आस्था विचलित होती है। महाभारत के काल निर्णय की आधुनिक वैज्ञानिक विधि के अनुसार काल की सीमा ईसवी सन् के आरम्भ से आरम्भ होती है। ईसा की पहली शताब्दी में डायोनक्राइसोस्टोम नाम का एक ग्रीक लेखक भारतवर्ष में आया था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का इलियड है। यह ग्रीक लेखक दक्षिण भारत में आया था, इससे सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में दक्षिण भारत में महाभारत का प्रचार था। उक्त ग्रीक लेखक का संकेत निश्चित रूप से महाभारत की ओर है; क्योंकि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का एक यही ग्रन्थ प्रसिद्ध रहा है। डायोनक्राइसोस्टोम के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि महाभारत के अस्तित्व की अर्वाचीन अवधि ईसा की पहली शताब्दी अथवा ईसवी सन् ५० है। होल्त्समान आदि विद्वानों का यह अभिमत कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी के निकट बना होगा पूर्णतः असत्य है। ईसा को सातवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट ने तथा कवि सुबन्धु और बाण ने महाभारत का उल्लेख किया है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के कई दानपात्रों में एक लाख श्लोकों के महाभारत और उसके रचयिता महर्षि व्यास का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया गया है। इसके पूर्व भी महाभारत के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु उनमें भारत अथवा महाभारत के नाम का ही निर्देश मिलता है, महाभारत के विषय और आकार का प्रमाण नहीं मिलता। उक्त दानपात्रों से यह प्रमाणित हो जाता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्व एक लाख श्लोकों का महाभारत स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था तथा भारत के सभी भागों में उनकी कथा का प्रचार के लिए सौ दो सौ वर्ष का समय भी दिया जाय, तो यही निष्कर्ष होगा कि ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी तक एक लाख श्लोकों का महाभारत स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था और प्रसिद्ध हो चुका था।

किन्तु इसके पूर्व महाभारत संहिता के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे महाभारत के विषय और आकार के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं होता। उक्त दानपत्रों के पूर्व महाभारत के नाम का उल्लेख तो ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी से मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में सबसे पहले महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है। साहित्य के इतिहासकार आश्वलायन गृह्यसूत्र का समय ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी मानते हैं। इसके पूर्व महाभारत के नाम का उल्लेख उपलब्ध साहित्य में नहीं मिलता, इसी से पश्चिमी विद्वान् ई. पूर्व पाँचवीं शताब्दी को महाभारत की रचना की प्राचीनतम अवधि मानते हैं। विन्टरनिट्स का मत है कि ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक महाभारत के वर्तमान रूप का विकास हुआ है। पाँचवीं शताब्दी के दानपत्रों से पहले एक लाख श्लोकों के महाभारत का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इससे विदेशी विद्वान् यही अनुमान लगाते हैं कि इससे पहले एक लाख श्लोकों का महाभारत विद्यमान नहीं था। वे तीन संस्करणों में महाभारत का विकास मानते हैं, वह व्यास का चौबीस हजार श्लोकों वाला महाभारत रहा होगा और उसके बाद ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक एक लाख श्लोकों में उनका विस्तार हुआ होगा।

किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों नाम मिलते हैं। आकार की विशालता के कारण ही इसको 'महाभारत' का नाम मिला है। यदि एक लाख श्लोक संख्या के कारण इसे 'महाभारत' का नाम मिला हो, तब तो ईसा से पाँच शताब्दी पूर्व इसका अस्तित्व मानना होगा। महाभारत में चन्द्रगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं है, इससे सम्पूर्ण महाभारत का ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले होने का संकेत मिलता है। अनेक प्राचीन ग्रन्थों के परिवर्धित रूपों में अर्वाचीन प्रसंग मिलते हैं, इससे यह प्रमाणित होता है कि मूल रूप में प्राचीन होते हुए भी आगे चलकर इन ग्रन्थों का परिवर्धन उन कालों में हुआ है, जिनका संकेत अर्वाचीन संदर्भों से मिलता है। महाभारत के सम्बन्ध में बाह्य प्रमाणों का अनुसंधान बहुत हुआ है। महाभारत के तीन नामों और विभिन्न श्लोक संख्याओं के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उसके परिवर्धन की कल्पना की गई है, किन्तु महाभारत में मिलने वाले तथ्यों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह अनुसंधान करने का कदाचित् कोई प्रयत्न नहीं किया गया है कि इसमें किस शताब्दी के पूर्व महाभारत के वर्तमान रूप का अस्तित्व सिद्ध हो सकेगा। यदि द्विवेदी जी के मतानुसार चौबीस हजार श्लोक की संख्या को महाभारत के किसी संस्करण की श्लोक संख्या न मान कर उपाख्यान रहित श्लोकों की संख्या माना जाय, और आठ हजार आठ सौ कूट श्लोकों की संख्या मान ली जाये, तो सम्पूर्ण महाभारत व्यासकृत और मौलिक सिद्ध होता है। वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ में महाभारत सुनाया था और वे व्यास के शिष्य थे। अतः व्यास और वैशम्पायन के महाभारतों में आकार और काल का अधिक अन्तर न रहा होगा। अनुगायन में कुछ परिवर्धन होने की सम्भावना अवश्य हो सकती है। व्यास कौरव पाण्डवों के समकालीन थे। अतः इससे भी महाभारत की प्राचीनता का संकेत मिलता है। यदि वर्तमान महाभारत की एक लाख श्लोक संख्या का प्रमाण उक्त दानपत्रों से नहीं मिलता तो उसे असिद्ध करने का भी कोई प्रमाण इससे पहले की शताब्दियों में नहीं मिलता। महाभारत के तीन नामों और तीन वक्ताओं तथा विषयों की विभिन्नता के आधार पर महाभारत के परिवर्धन आदि के सम्बन्ध में जो मत उपस्थित किये गये हैं, वे केवल सम्भावनाओं का संकेत करते हैं, उन्हें भी पूर्णतः प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता।

महाभारत के रचयिता व्यास -

भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि वेदव्यास ही महाभारत के प्रणेता हैं और इसके प्रमाण ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। ये कृष्ण द्वैपायन व्यास महाभारत के रचयिता होते हुए भी उसके एक प्रधान पात्र के रूप में चित्रित हैं और कौरवों तथा पाण्डवों के दादा कहे गये हैं। इनका नाम अनेक दार्शनिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों के निर्माण के रूप में प्रसिद्ध है। ये चारों वेदों के संकलयिता या विभागकर्ता तथा महाभारत और पुराणों के मान्य लेखक हैं। वेदों का विभाग करने के कारण ही इसका नाम व्यास पड़ा है। ये महाभारत के पात्रों के समकालीन एवं उनके निकट के संबन्धी भी थे। वेद का

व्यास या विस्तार करने के कारण इनका नाम व्यास पड़ा। विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्मात् व्यास इति स्मृतः। आदिपर्व, ६३।८८

प्राचीन विश्वास के अनुसार प्रत्येक द्वापर युग में आकर वेद व्यास वेदों का विभाजन करते हैं। इस प्रकार इस मन्वन्तर के अट्ठईस व्यासों के होने का विवरण प्राप्त होता है। वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर के २८ द्वापर बीत चुके हैं। 'विष्णुपुराण' में २८ व्यासों का मानोल्लेख किया गया है।

अट्ठईसवें व्यास का नाम कृष्णद्वैपायन व्यास है। इन्होंने महाभारत एवं अट्ठारह पुराणों का प्रणयन किया है।

व्यास नामधारी व्यक्ति के संबंध में अनेक पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि यह किसी का अभिधान न होकर प्रतीकात्मक, कल्पनात्मक या छद्म नाम है। मैकडोनल भी इसी विचार के समर्थक हैं, पर भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। प्राचीन ग्रन्थों में व्यास का नाम, कई स्थानों पर, आदर के साथ लिया गया है। 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में व्यास वेद-व्याख्याता तथा वेदवर्गीयता के रूप में उल्लिखित हैं। इसमें बताया गया है कि वाक् के पुत्र वाच्यायन या अपान्तरतमा नामक एक वेदज्ञ थे, जो कपिल एवं हिरण्यगर्भ के समकालीन थे। इन तीनों व्यक्तियों ने विष्णु के आदेश से त्रयी (ऋग्यजुसाम), सांख्यशास्त्र एवं योगशास्त्र का विभाग किया था। इससे सिद्ध होता है कि व्यास का नाम कपिल एवं हिरण्यगर्भ की तरह एक व्यक्तिवाचक संज्ञा थी। अतः इसे भाववाचक न मानकर अभिधानवाचक मानना चाहिए। 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में व्यास का नाम अपान्तरतमा भी प्राप्त होता है और उसकी संगति 'महाभारत' से बैठ जाती है। (महाभारत में) अपान्तरतमा नामक वेदाचार्य ऋषि का उल्लेख है, जिन्होंने प्राचीनकाल में एक बार वेद की शाखाओं का नियमन किया था। 'महाभारत' के कई प्रसंगों में अपान्तरतमा नाम को व्यास से अभिन्न मान कर वर्णित किया गया है।

कतिपय विद्वान् व्यास को उपाधिसूचक मानते हैं। विभिन्न पुराणों के प्रवचनकर्ता व्यास कहे गए हैं और ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन व्यास तक २७ से लेकर ३२ व्यक्ति इस उपाधि से युक्त बताये गये हैं। यदि पुराण ग्रन्थों की बातें सत्य मान ली जायँ तो 'जय काव्य' के रचयिता तथा कौरव-पाण्डव के समकालीन व्यास नामक व्यक्ति ३२वीं परम्परा के अन्तिम व्यक्ति सिद्ध होते हैं। इस प्रकार व्यास नाम का वैविध्य इसे भारतीय साहित्य की तरह प्राचीन सिद्ध करता है। म.म.पं. गिरधरशर्मा चतुर्वेदी का कहना है कि "व्यास या वेदव्यास किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, वह एक पदवी अथवा अधिकार का नाम है। जब जो ऋषि-मुनि वेदसंहिता का विभाजन या पुराण का संक्षेप कर ले वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता है। किसी समय वसिष्ठ और पराशर आदि भी व्यास हुए। इस अट्ठईसवें कलियुग के व्यास कृष्ण द्वैपायन हैं। उनके रचित या प्रकाशित ग्रन्थ आज पुराण के नाम से चल रहे हैं।" उन्होंने इस संबंध में पुनः कहा ऋषि या मुनि जिस प्राणशक्ति का आविष्कारक या दूसरे शब्दों में उपासक रहा, वह उसी शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप आदि नाम उपास्य शक्ति अनुसार ही प्रसिद्ध हैं। उनके व्यक्तिगत नाम दूसरे हैं, जो कहीं-कहीं पाये जाते हैं, इसी प्रकार, पुराणों के निर्माता का व्यक्तिगत नाम कृष्णद्वैपायन है और पदवी या अधिकार का नाम व्यास या वेदव्यास। कृष्णद्वैपायन शब्द में भी कृष्ण और द्वैपायन शब्द उत्पत्ति-स्थान के संबंध से विशेषण रूप से जोड़ा गया है।" पुराण-परिशीलन, प. ४८-४९

इस कथन से प्रतीत होता है कि व्यास एक उपाधि थी, जो वेदों ओर पुराणों के वर्गीकरण, विभाजन एवं संपादन के कारण प्रदान की जाती थी। आचार्य शंकर ने व्यास के संबंध में एक नवीन मत की उद्भावना की है। 'वेदान्तसूत्रभाष्य' में उनका कहना है कि प्राचीन वेदाचार्य अपान्तरतमा ही बाद में (द्वापर एवं कलियुग के सन्धि काल में) भगवान् विष्णु के आदेश से कृष्ण द्वैपायन के रूप में पुनरुद्भूत हुए थे। कृष्ण द्वैपायन व्यास के सम्बन्ध में अश्वघोष ने तीन तथ्य प्रस्तुत किये हैं—(क) इन्होंने वेदों को पथक्-पथक् वर्गों में विभाजित किया। (ख) इनके पूर्वज वसिष्ठ तथा शक्ति थे (ग) ये सारस्वतवंशीय थे तथा इन्होंने वेद-विभाजन जैसा दुस्तर कार्य सम्पन्न किया था। 'महाभारत'

में कृष्ण द्वैपायन को व्यास कहा गया है और इन्हें वेदों का वर्गीकरण करनेवाला माना गया है—। इन्हीं कृष्ण द्वैपायन व्यास का नाम बादरायण व्यास भी था। इन्होंने अपनी समस्त ज्ञान-साधना बदरिकाश्रम में की थी, अतः ये बादरायण के नाम से प्रसिद्ध हुए। व्यासप्रणीत 'वेदान्तसूत्र' भी 'बादरायणसूत्र' के ही नाम से लोक-विश्रुत हुआ है। इनका अन्य नाम पाराशर्य भी है। इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम पराश था। अलबेरुनी ने भी इन्हें पराशर का पुत्र कहा है और पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु नामक इनके चार शिष्यों का उल्लेख किया है, जिन्होंने क्रमशः ऋग्, यजु, साम एवं अथर्ववेद का अध्ययन किया था। पाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी' में 'भिक्षुसूत्र' के रचयिता पाराशर्य व्यास ही कहे गये हैं। 'भिक्षुसूत्र' 'वेदान्तसूत्र' का ही अपर नाम है। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में इनका निवासस्थान उत्तरापथ हिमालय बताया गया है।

व्यास जी की शिक्षा कहाँ हुई, इसका कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं है। पर 'वंशब्राह्मण' तथा पुराणों में इनके गुरु 'जातुकर्ण्य' कहे गए हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार, इनका आश्रय सरस्वती तट पर था, जो कुरुक्षेत्र से कुछ पश्चिमोत्तर रहा होगा। आधुनिक विद्वान् 'कृष्ण-द्वैपायन व्यास' तथा 'बादरायण व्यास' को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानकर महाभारतादि ग्रन्थ के निर्माता कृष्ण-द्वैपायन को और ब्रह्मसूत्र के प्रणेता बादरायण-व्यास को स्वीकार करते हैं। इस विचार का खण्डन करते हुए म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का कहना है: "इस पर हमारा इतना ही वक्तव्य है कि इस प्रकार का भेद मानने का कोई मूल भारतीय वाङ्मय के प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता, न जाने यह भेद मानने की कल्पना आधुनिक ऐतिहासिकों ने किस आधार पर उठाई है। एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न कारणों से अनेक नाम हो सकते हैं, जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं कि इनका कृष्ण यह नाम मुख्य था। द्वीप में पैदा होने के कारण द्वैपायन शब्द भी वासुदेव कृष्णआदि से भेद करने के लिए जोड़ दिया गया। इसी प्रकार, बदरी वन में तपस्या करने के कारण बादरायण नाम भी प्रसिद्ध हुआ। जैमिनिसूत्र और वेदान्तसूत्रों में बादरायण नाम ही उल्लिखित हुआ है, यह ठीक है; किन्तु पुराणादि में भी बादरायण नाम कहीं-कहीं पाया जाता है। जैसा कि—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।

पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः।।

महाभारत के संस्करण -

विद्वानों का मत है कि वैदिक यज्ञों के अवसर पर प्राचीन आख्यानों का गायन और वर्णन होता था। इन आख्यानों में प्राचीन वीरों की गौरव गाथायें गाई जाती थीं। इनके गाने वाले सूत, बन्दी, चारण आदि होते थे। वैदिककाल से ही वीरों और महापुरुषों की यह कीर्ति-गाथायें भारतवर्ष में प्रचलित थीं। ये वीर-गाथायें ही उस इतिहास के अंश हैं, जिसकी चर्चा ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलती है तथा जिसे वेद के उपब हण का साधन माना जाता है। महाभारत का विशाल काव्यमय इतिहास इन्हीं प्राचीन गाथाओं की परम्पराओं में है। महाभारत के अन्तर्गत भरतवंशी वीरों के ग हयुद्ध की मूलकथा के अतिरिक्त अन्य अनेक उपाख्यान मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि ये उपाख्यान वर्तमान महाभारत की संहिता के संकलन के पूर्व भारतवर्ष की बिखरी हुई गाथा-परम्परा में प्रचलित थे। ये उपाख्यान और गाथायें किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं थे। इन्हें प्राचीन लोक-काव्य कहा जा सकता है। ये एक प्रकार से सार्वजनिक-साहित्यिक-सम्पत्ति के रूप में थे। महाभारत के युद्ध की घटना भी वर्तमान महाभारत संहिता के संकलन के पूर्व इन गाथाओं और गीतियों के रूप में वर्तमान रही होगी। विन्तटनित्स के मत में यही प्राचीन वीर-गाथा वर्तमान महाभारत का आधार है। विन्तटनित्स तथा अन्य विद्वानों का मत है कि लोक-काव्य की परम्परा में महाभारत की मूलगाथा का विस्तार होता गया तथा अन्य लोक उपाख्यानों का भी उसमें सम्मिश्रण होता गया। इस प्रकार महाभारत का आकार बढ़ता गया। विन्तटनित्स का यह भी मत है कि ब्राह्मणों और पुरोहितों ने बाद में इसमें अनेक उपाख्यान जोड़ दिये।

धीरे-धीरे महाभारत में वीर-गाथाओं तथा धर्म और नीति के उपदेशों का मिश्रण और विस्तार होता गया। पश्चिमी विद्वानों के मत में वर्तमान महाभारत एक दीर्घ परम्परा का पर्यवसान है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों का प्रायः यह अनुमान है कि महाभारत के वर्तमान रूप का विस्तार तीन चरणों में तथा तीन संस्करणों के रूप में हुआ है। इस मत का आधार वे विद्वान वर्तमान महाभारत के अन्तर्गत मिलने वाले जय, भारत और महाभारत के तीन नामों तथा महाभारत के गायन के तीन आरम्भों में खोजते हैं। उनके अनुसार इस महाकाव्य का प्रथम संस्करण जय, द्वितीय भारत तथा तृतीय महाभारत के रूप में सामने आया।

जय

महाभारत का मौलिक रूप जय के नाम से विख्यात था। ग्रन्थारम्भ में नारायण, नर तथा सरस्वती देवी को नमस्कार करके जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है, वही मूल महाभारत है। वहीं यह भी लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था। पाण्डव-विजय के वर्णन के कारण इसका यह अभिधान सार्थक प्रतीत होता है। आदि पर्व के प्रथम अध्याय में ही विजिगीषुओं के लिए जय नामक इतिहास सुनने का आदेश दिया गया है।

भारत

दूसरी अवस्था में इसका नाम भारत पड़ा। इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का विस्तृत वर्णन प्रधान विषय था, जो चौबीस हजार श्लोकों में निबद्ध था। इसी भारत को वैशम्पायन ने जनमेजय को पढ़कर सुनाया था—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।

उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

महाभारत

इस ग्रन्थ का यही अन्तिम रूप है, जिसे 'शतसाहस्री संहिता' कहा जाता है। 'हरिवंश' को मिलाकर ही श्लोक संख्या एक लाख पहुंचती है। हरिवंश को महाभारत का परिशिष्ट (खिल पर्व) माना जाता है। विक्रम से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में महाभारत का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि महाभारत का यह रूप लगभग दो हजार वर्ष पुराना अवश्य है।

इन रूपों को तथा महाकाव्य में उपलब्ध सामग्री-वैविध्य को देखकर ही विन्टरनिट्स ने कहा था कि महाभारत कोई एक व्यक्ति और एक समय की रचना नहीं है। वह उस युग का एक समूचा साहित्य है।

पश्चिमी परम्परा में दीक्षित अधिकांश भारतीय विद्वान् विन्टरनिट्स के इस मत को ही मानते हैं। भारतीय परम्परा के विद्वानों में पण्डित इन्द्रनारायण द्विवेदी तथा महाभारत के दक्षिणी पाठ के सम्पादक पी.पी. एस शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्पूर्ण महाभारत वेदव्यास की ही रचना है तथा उसके तीन संस्करण नहीं हुए। उनके अनुसार जय, भारत और महाभारत, महाभारत के तीन संस्करणों के नाम नहीं, वरन् उनके तीन पर्यायवाची नाम हैं। उनके अनुसार चौबीस हजार की श्लोक संख्या उपाख्यानों से रहित महाभारत की है तथा छियत्तर हजार श्लोकों में उपाख्यान हैं।

ऐतिहासिक ओर वैज्ञानिक दृष्टि से विन्टरनिट्स आदि पश्चिमी विद्वानों के अभिमत के आधार बहुत कुछ संगत प्रतीत होते हैं। फिर भी यह विचारणीय है कि भारतीय परम्परा में अत्यन्त प्राचीनकाल से महाभारत शतसाहस्री संहिता के नाम से विख्यात है तथा महर्षि वेदव्यास की कृति मानी जाती है। और महाभारत में ही वैशम्पायन और सौति को उसका कर्ता नहीं, वरन् अनुगायक माना गया है। अतः मुख्यरूप से महाभारत को वेदव्यास की कृति मानना ही उचित है। भारतीय मुनियों और विद्वानों ने अकेले ही विशाल आकार के ग्रन्थ रचे हैं। एक लाख श्लोकों के महाभारत की रचना

भी उनके लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्राचीन वीर-गाथायें महाभारत की पूर्ववर्ती हो सकती हैं, किन्तु महाभारत उनका संकलन मात्र नहीं है। अपने मूल रूप में महाभारत सम्भवतः महर्षि वेदव्यास की ही रचना है। मौखिक गायन के इस लोक-काव्य में अनुगायकों के द्वारा कुछ परिवर्धन होना स्वाभाविक है। किन्तु इन परिवर्धनों को महाभारत के संस्करण माना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विरोध की कल्पना पश्चिमी विद्वानों का आग्रह मात्र है। इतिहास में इस विरोध के कोई प्रमाण नहीं मिलते। वीर-गाथा धर्म, नीति आदि के विविध विषयों का सम्मिश्रण भारतीय परम्परा में एक लेखक के द्वारा भी सम्भव है। विषय और शैली की विविधता भी आवश्यक रूप से महाभारत में कई लेखकों के योग को प्रमाणित नहीं करती। तार्किक दृष्टि से महाभारत के अनेक लेखकों की कल्पना उतनी ही संदिग्ध है, जितनी कि उसके एक-लेखक की कृति होने की कल्पना है। महाभारत की परम्परा और उसकी सम्पूर्ण योजना को देखते हुए उसके मौलिक रूप और उसके अधिकतम अंश को वेदव्यास की कृति मानना अनुचित नहीं है। व्यक्तियों, स्थानों, ग्रन्थों आदि के पर्याय भारतवर्ष में बहुत प्रचलित हैं। संस्कृत पर्याय-बहुल भाषा है। अतः जय, भारत और महाभारत के नाम भी आवश्यक रूप से उसके तीन संस्करणों के सूचक नहीं हैं, वे एक ही ग्रन्थ के पर्याय भी हो सकते हैं।

पाठ भेद की दृष्टि से इस समय महाभारत के दो पाठ उपलब्ध होते हैं। १. उत्तरी पाठ २. दक्षिणी पाठ। इन उत्तरी और दक्षिणी पाठों के आधार पर आजकल महाभारत के मुख्य रूप से पाँच संस्करण प्रकाशित हैं। जिनमें एक है निर्णय सागर प्रैस द्वारा प्रकाशित बम्बई संस्करण। द्वितीय है चित्रशाला प्रैस द्वारा प्रकाशित पूना संस्करण। तृतीय है- गीता प्रैस संस्करण। चतुर्थ है एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से प्रकाशित बंगीय संस्करण।

इन चारों के अतिरिक्त पाँचवा महत्त्वपूर्ण संस्करण भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान पूना से प्रकाशित है।

यद्यपि महाभारत के स्वाध्याय हेतु सम्पूर्ण देश में गीता प्रैस गोरखपुर का संस्करण ही अधिक प्रचलित है। सम्भवतः मूल्य आदि की दृष्टि से सुलभ होने के कारण ऐसा है। तथापि विद्वानों द्वारा शोध की दृष्टि से भण्डारकर शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित संस्करण बहु समाद त है।

महाभारत के आख्यान —

महाभारत के अनेक आख्यानों एवं विषयों को लेकर विद्वानों ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि यह एक व्यक्ति की रचना न होकर कई व्यक्तियों की कृति है, परन्तु आन्तरिक प्रमाणों एवं शैली के आधार पर यह सिद्ध होता है कि इसे एकमात्र व्यास ने ही लिखा है। भाषा तथा शैली की एकरूपता इसे एक व्यक्ति की रचना सिद्ध करती है।

महाभारत में अनेक आख्यान निबद्ध हैं, जिनके स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। कुछ पौराणिक हैं तो कुछ नैतिक और कुछ का सम्बन्ध लोक-कथाओं से है।

(१) पौराणिक पाख्यान— ये पुरातन आख्यान बहुत रोचक और शिक्षा प्रद हैं। इस प्रकार के आख्यानों में शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामोपाख्यान, शिव्युपाख्यान, सावित्र्युपाख्यान, एवं नलोपाख्यान प्रसिद्ध हैं।

(२) शकुन्तलो पाख्यान— इस उपाख्यान का वर्णन आदिपर्व के ७१ वें अध्याय में है। इसमें राजा दुष्यन्त एवं उनकी पत्नी शकुन्तला की मनोरम कथा वर्णित है। महाकवि कालिदास ने इसी से प्रेरणा-ग्रहण कर अपने विश्वप्रसिद्ध अभिज्ञान शाकुन्तल नामक नाटक की रचना की है।

(३) मत्स्योपाख्यान— इसका वर्णन वनपर्व के अन्तर्गत हुआ है। इसमें भगवान् के मत्स्यावतार की कथा कही गयी है। किस प्रकार प्रलय होने पर मत्स्य द्वारा मनु बचाये जाते हैं, इसी का इसमें विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस कथा का उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' में भी है।

(४) **रामोपाख्यान**— वनपर्व के १८ अध्यायो (१७४-२११) में रामचरित का वर्णन हुआ है। इस कथा का आधार वाल्मीकि रामायण है और उसके अनेक श्लोकों को भी उद्धृत किया गया है।

(५) **शिवि उपाख्यान**— सुप्रसिद्ध राजा शिवि की कथा वन पर्व के १३०वें अध्याय में वर्णित है। ये उशीनर के राजा थे, जिन्होंने अपना मासं देकर बाज से शरणागत कपोत की रक्षा की थी।

(६) **सावित्री उपाख्यान**— इस कथा का वर्णन वनपर्व के २३१वें अध्याय में है। महाराज द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान् और उसकी पत्नी सावित्री की कथा अत्यन्त लोकविश्रुत है। सावित्री भारतीय नारियों के लिए पतिव्रत धर्म की प्रतीक मानी जाती है। किस प्रकार उसने अपने पति के प्राणों की रक्षा की, उसी का इसमें वर्णन है। पतिव्रत धर्म की पराकाष्ठा सावित्री के जीवन में प्रदर्शित की गयी है। भारतीय जीवन में आज भी इस कथा का अद्भुत प्रभाव विद्यमान है।

(७) **नलोपाख्यान**— राजा नल एवं उनकी पत्नी दमयन्ती की प्रणय-गाथा अत्यधिक लोकप्रिय है। इस कथा का वर्णन वन पर्व के ४२ से ७१ अध्यायों तक किया गया है। महाकवि श्रीहर्ष ने इसी के आधार पर अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषधचरित' का प्रणयन किया था।

नीतिकथा— महाभारत नीति-कथाओं का विशाल कोश है। वैदिक कथाओं तथा पुरातन कथाओं का पूर्ण विकास महाभारत में देखा जा सकता है। इन कथाओं में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और सभ्यता का सम्मिलित स्वर मुखरित है। इनका नैतिक, स्तर अत्यन्त स्तरीय एवं विकसित है। महाभारत में ऐसी कहानियाँ आख्यान, व तान्त्र एवं संवादों के रूप में प्राप्त होती हैं और इनका मेल पंचतन्त्र एवं जातक कथाओं से भी स्थापित होता है। उसमें जो लोककथाएँ संकलित हैं, उनके संग्रहकर्ता सूत तथा अन्य ऋषि लोग थे और ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण ग्रन्थों में आख्यानविद् के नाम से अभिहित किये गए हैं।

लोककथा— महाभारत में लोकसाहित्य-विषयक प्राणियों से सम्बद्ध घटनाओं और विश्वासों का अनेक स्थलों पर विवरण प्राप्त होता है। किसी पशु या पक्षी के वैशिष्ट्य को देखते उसी के आधार पर प्राचीन लोकसमाज में कथा को कल्पित करने की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है और महाभारत में ऐसे कथाएँ विद्यमान हैं।

नीति कथा तथा लोक कथा सम्बन्धी कुछ आख्यान—

(१) **श गाल की कथा**— शन्ति पर्व के मंकिगीता के अन्तर्गत प्राचीन श गाल-कथा का संकेत प्राप्त होता है। भीष्म ने युधिष्ठिर को मंकि नामक निरीह मनुष्य द्वारा कथित प्राचीन कथा को दृष्टान्त के रूप में सुनाया है।

(२) **कुत्ते की कथा**— यह नीति कथा आदि पर्व में आयी है। इसमें कुत्ते की माँ का नाम सरमा है तथा उसे 'देवशुनी' की अभिधा प्राप्त है—जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया। यह कथा ऋग्वेद की 'सरमापणि-संवाद' का महाभारतीय रूप है।

(३) **गज और कच्छप की कथा**— इसका वर्णन आस्तिक पर्व अध्याय ११।१३-३१ में हुआ है। गरुड़ अमृत लाने के लिए जाते हैं, तभी उन्हें भूख लगती है। कश्यप उन्हें निकटस्थ सरोवर में युद्ध करते हुए कच्छप और गज को मार कर खाने की राय देते हैं। ये दोनों पूर्व जन्म में दो भाई थे, जिनका नाम विभावसु (गज) और सुप्रतीक (कच्छुआ) था और वे धन का बँटवारा करने के लिए झगड़ने लगे। झगड़ते हुए दोनों को मार कर खाने में तीसरे (गरुड़) को लाभ होता है, यही इस कथा का सार है।

(४) **कणिक नीति में जम्बुक कथा**— धृतराष्ट्र कणिक से शत्रु को मारने के लिए किस प्रकार साम, दाम, दण्ड और भेद का प्रयोग करना चाहिए, यह कथा दृष्टान्त रूप से कही गयी है। इसका वर्णन आदि पर्व के अन्तर्गत सम्भव पर्व के अध्याय १४० में किया गया है।

(५) **शाङ्गक-जरिता-कथा**— इसका वर्णन भी आदिपर्व में किया गया है (२२१-२२२) खाण्डव वन के जलते समय जरिता नामक पक्षिणी तथा उसके बच्चों के भयभीत होने का इसमें वर्णन है।

(६) **मनु और मत्स्य की कथा**— पूर्ण वर्णित मत्स्यावतार की कथा।

(७) **हंस काकीयोपाख्यान**— इसका वर्णन कर्णपर्व में हुआ है। शल्य-कर्ण-संवाद के अन्तर्गत यह कथा शल्य द्वारा कही गयी है। विशुद्ध कला की दृष्टि से यह नीति कथा है।

(८) **व्याघ्रगोमायु-संवाद**— नीति-कथाओं की दृष्टि से महाभारत का शान्ति-पर्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें दृष्टान्त-स्वरूप १२ नीति कथाएँ वर्णित हैं तथा व्याघ्र और सियार के संवाद के माध्यम से राजधर्म की नीति कथित है। इसका प्रतिपाद्य है कि राजा के निकट रहने वाले व्यक्तियों का स्वभाव कैसा होता है।

(९) **उष्ट्र ग्रीवोपाख्यान**— इसमें राजा को आलस्य जन्य दोष का परिहार करने की शिक्षा दी गयी है और दृष्टान्त के लिए आलसी ऊँट की कथा की गयी है।

(१०) **नदी-समुद्र-संवाद**— राजधर्म को समझाते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर को नदी ओर समुद्र के संवाद को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया है। इस संवाद के द्वारा यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि समय को देखकर मनुष्य को व्यवहार करना चाहिये। 'ऋग्वेद' में भी विश्वामित्र और नदियों के संवाद का वर्णन है।

(११) **श्वान दृष्टान्त**— यह दृष्टान्त शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्म पर्व में (११६-११७ अध्याय) आया है। इस कहानी को भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि किस प्रकार शरभ बना हुआ कुत्ता जब ऋषि को खाने के लिए उद्यत होता है तो पुनः ऋषि द्वारा श्वान बना दिया जाता है। इस कहानी में यह शिक्षा निहित है कि योग्यता देखकर ही राजा किसी भूत को उच्चपद प्रदान करे।

(१२) **मत्स्योपाख्यान**— (शान्तिपर्व १२/१३७ अध्याय) भीष्म ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए यह दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि आलसी मनुष्य का विनाश हो जाता है। इसी के उदाहरण स्वरूप तीन मत्स्यों की कथा कही गयी है।

(१३) **मार्जारिमूषक संवाद**— (शान्तिपर्व १२/१३८) राजधर्म का उपदेश देने के लिए यह कथा कही गयी है। इसके द्वारा यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है कि संकट के आ जाने पर युक्ति से कार्य करना चाहिये। इसमें चूहे की नीति-निपुणता दिखायी गयी है कि किस प्रकार उसने अपने शत्रु मार्जार से अपने को छुड़ा लिया।

(१४) **ब्रह्मदत्त-पूजनी संवाद**— (शान्तिपर्व, १२/१३९) यह नीतिकथा ब्रह्मदत्त तथा पूजनी नामक पक्षिणी के संवाद के रूप में प्रस्तुत की गयी है।

(१५) **कपोत व्याध-संवाद**— (शान्तिपर्व, ११/१४३-१४६) इस संवाद के द्वारा भीष्म ने युधिष्ठिर को बतलाया है कि अतिथि को गौरव प्रदान करना चाहिए। किस प्रकार व्याध की भूख मिटाने के लिए कपोत ओर कपोती अपना जीवन दान कर स्वर्ग पहुँच जाते हैं, इसी का इसमें वर्णन है। इसमें कपोत ने कपोती के लिए जो विलाप किया है, वह उत्कृष्ट कोटि के काव्य का उदाहरण है और इसमें सार्वभौम भाव भी व्यक्त हुए हैं— पत्नी के बिना घर जीर्ण अरण्य है।

(१६) **ग ध्र-गोमायु-संवाद**— (शान्तिपर्व, १२/१५३) यह संवाद अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसे मम्मट प्रभृति आचार्यों ने प्रबन्ध ध्वनि के रूप में उदाहृत किया है।

किसी ब्राह्मण के एकलौते पुत्र की मृत्यु हो गयी थी। वह उसे श्मशान में ले गया, पर वहाँ से वह मोहवश आ नहीं रहा था। मृतक बालक को देखकर उसके मांस को खाने की इच्छा से ग ध्र ने उसके सम्बन्धियों से कहा— इस स्थान में जहाँ गिद्ध और श्व गाल भरे हुए हैं, जो नर कंकाल से पूर्ण है और यह सभी प्राणियों के लिए भयंकर है, यहाँ ठहरना व्यर्थ है।

अलं स्थित्वा श्मशाने स्मिन्ना ध्रगोमायु-संकुले।

कङ्काल-बहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे।।

मरा हुआ प्राणी, चाहे कितना ही प्रिय क्यों ने हो, वह जीवित नहीं हो सकता। सभी जीवधारियों को यही गति है।

न चेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः।

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीद षी।।

यहाँ गिद्ध यह चाहता है कि म तक शिशु के सम्बन्धी दिन में ही उसे छोड़कर चले जाएँ अन्यथा रात्रि में उसका देखना संभव नहीं है। अतः वह पुरुषों को विदा करने के लिए ही ऐसा वचन बोल रहा है। गिद्ध की इस बात को सुनकर वहीं बैठा हुआ श गाल बोलता है— अरे, मूर्खों! सोने के समान कान्तिवाले तथा यौवन को न प्राप्त किये हुए बालक को तुम लोग गिद्ध के कहने से शंका-रहित होकर क्यों छोड़ रहे हो? अभी जब तक सूर्य स्थित हैं तब तक तुम लोग इसे प्यार करो, सन्ध्याकाल का यह मुहूर्त बहुत प्रकार के विधनों से पूर्ण है, हो सकता है इस मुहूर्त के व्यतीत हो जाने पर यह बच्चा जी उठे।

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।

ग ध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्कितः।।

आदित्यो यं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम्।

बहुविधो मुहूर्तो यं जीवेदपि कदाचन।।

यहाँ श गाल का अभिप्राय है बालक के सम्बन्धियों को सन्ध्या तक रोकना। रात होते ही गिद्ध को दिखायी नहीं पड़ेगा और सूर्यास्त के बाद बालक के मांस का भक्षण सरलतापूर्वक कर सकेगा। इस प्रकार यहाँ रात में मांस खाने में समर्थ श गाल के इस वचन से यह ध्वनित होता है कि तुम लोग इसे छोड़कर न जाओ। यह ध्वनि पूरे प्रबन्ध के वाक्यों से ध्वनित होती है। महाभारत में कहा गया है कि अन्त में शंकर जी प्रसन्न होकर उस बालक को जीवित कर देते हैं।

(१७) शाल्मलि व क्ष कथा— (महा. १२, १५४-१५७) चूँकि इस कहानी के पात्र व क्ष और वायु हैं इसलिए पंडितों ने इसे ध्वनि कथा कहा है। पर, यह कहानी नीतिशास्त्र के उपदेश के निमित्त द प्तान्त के रूप में कही गई है। इसमें यही दिखलाया गया है कि दुर्बल को बलवान से नहीं लड़ना चाहिये।

(१८) बैल तथा ऊँट की कथा— (महा. १२/१७७) मंकि गीता के अन्तर्गत इस कहानी को भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है। हल्के हास्य-विनोद का भी पुट है और यह शिक्षा दी गई है कि सर्वत्र अनुकूलता के होने पर भी भाग्य के उलटा होने से सारे कार्य बिगड़ जाते हैं।

(१९) काश्यप-श गाल-संवाद— (महा. १२/१७७) इस कथा के माध्यम से महाभारत कालीन आर्थिक वैषम्य पर प्रकाश डाला गया है। इसमें एक पात्र काश्यप है और दूसरे पात्र इन्द्र हैं, जिन्होंने श गाल का रूप धारण कर लिया है। मुनि काश्यप को किसी वैश्य के रथ से धक्का लगता है और वे गिर पड़ते हैं। क्रोधित होकर वे कहते हैं कि अब मैं प्राण छोड़ दूँगा, क्योंकि मेरे समान निर्धन को इस संसार में कोई स्थान नहीं है। उसी समय इन्द्र सियार का रूप धारण कर आते हैं और उन्हें उपदेश देते हैं कि बड़े भाग्य से तुम्हें मनुष्य का रूप प्राप्त हुआ है। संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं। तुम आत्महत्या न कर धर्माचरण करो। इस पर मुनि ने आश्चर्यचकित होकर प्राण-त्याग का विचार छोड़ दिया। शान्तिपर्व में वर्णित सभी कथाएँ आपद्धर्म तथा नीति का उपदेश देनेवाली हैं और इनमें मार्मिक विनोद तथा रोचकता भी है।

(२०) गौतमी आदि का संवाद— इस कहानी में पांच पात्र हैं—गौतमी, लुब्धक, सर्प, म त्यु एवं काल। ब्राह्मणी गौतमी का पुत्र सर्प-दंश से मर जाता है और एक बहेलिया इसे देख कर सर्प को पकड़ लेता है। वह ब्राह्मणी के निकट सर्प को लाकर मारने लगता है। इस पर गौतमी कहती है कि मेरे

पुत्र की मृत्यु का कारण सर्प नहीं है, अतः उसे न मारो। सर्प मनुष्य की बोली में बोलता है कि वह उसकी मृत्यु का कारण नहीं है। कर्मानुसार जीव के फल होते हैं। मृत्यु भी प्रकट होकर कहता है कि मैं भी इसकी मृत्यु का कारण नहीं हूँ। काल के द्वारा नियंत्रित कर्म का ही मैंने पालन किया है। इस पर काल वहाँ प्रकट हुआ और बोला कि अपनी मृत्यु का कारण स्वयं यह बालक ही है और वह कर्मानुसार ही मृत्यु को प्राप्त हुआ है। इस पर बहेलिया संतुष्ट हो गया और उसने सर्प को छोड़ दिया।

(२१) सियार तथा बंदर का संवाद— युधिष्ठिर द्वारा यह पूछे जाने पर कि जो व्यक्ति ब्राह्मणों को वचन देकर भी उसे दान नहीं देता उसे कौन-सा फल प्राप्त होता है? इस पर भीष्म ने सियार और बंदर-संवाद को दंष्टांत रूप में प्रस्तुत कर कहा कि ऐसे व्यक्ति को आशाएँ निष्फल हो जाती हैं। यह लघुनीति कथा है, पर इसपर सम्प्रदाय विशेष का प्रभाव परिलक्षित होता है।

(२२) श्येनकपोताख्यान— भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहा कि शरण में आये हुए व्यक्ति की रक्षा करनी चाहिए। इस कथा में श्येन कपोत पर हमला करता है और कपोत राजा की शरण में चला जाता है श्येन राजा के पास आकर कहता है कि यह मेरा भक्ष्य है, अतः आप इसे मुझे दे दीजिये। राजा उसे कपोत के बदले अन्य जानवरों को देने का वचन देता है और शरणागत कपोत की रक्षा करता है। इस पर श्येन कहता कि यदि कबूतर आपको इतना प्रिय है तो आप अपना मांस निकाल कर दे दें। राजा अपना वचन पूरा करने के लिए तराजू पर चढ़ जाता है और देवता प्रसन्न होकर उसे दिव्य विमान से स्वर्ग में ले जाते हैं।

(२३) कीटाकोपख्यान— यह आख्यान व्यास और एक कीड़े का है। इसमें कीड़ा व्यास जी के उपदेश को ग्रहण कर विभिन्न योनियों में भ्रमण करता हुआ ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है, यही इस कहानी का विषय है। इस कथा में उपदेश निहित है कि महात्मा की शिक्षा ग्रहण कर साधारण व्यक्ति भी उन्नति कर सकता है।

(२४) नकुलाख्यान— यह कथा आश्वमेधिक पर्व में है (१४/६०)। जनमेय ने वैशम्पायन से पूछा कि आप मेरे पितामह धर्मराज की किसी अद्भुत घटना का वर्णन करें। इस पर जनमेजय ने उस नेवले की कहानी सुनायी जिसने यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् युधिष्ठिर के समक्ष उपस्थित होकर उनके यज्ञ की निन्दा करते हुए कपोति-ब्राह्मण की कथा कही थी। किस प्रकार के क्षुधाकुल ब्राह्मण परिवार के निकट एक अतिथि आया और ब्राह्मण ने अपना भोजन उसे देकर उसकी क्षुधा शान्त की। ब्राह्मण के प्रसन्न होने पर कपोति सपरिवार स्वर्ग चला गया। इस कहानी में यह उपदेश दिया गया है कि सच्चे भाव से दिया गया अल्प दान भी बड़े दान से बढ़ कर है।

महाभारत के सभी आख्यान मूल कथा से इस प्रकार गुंफित हैं कि वे ऊपर से जोड़े गए नहीं लगते और प्रधान कथा के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। इसमें कहानी में कहानी सुनाने की विधि की योजना की गयी है। सभी कथाएँ या तो राजधर्म अथवा नीतिधर्म की शिक्षा देने के लिए दंष्टांत रूप में प्रस्तुत की गई हैं या इनके (कथाओं के) माध्यम से ब्राह्मणों का गौरव बढ़ाया गया है।

अनुवर्ती साहित्य—

अपनी असामान्य विशेषताओं और अपने गुण-बाहुल्य के कारण 'महाभारत' की 'पंचम वेद' के रूप में याद किया जाता है। महासागरस्वरूप इस 'महाभारत' के गर्भ से ही 'गीता', 'विष्णुसहस्रनाम' 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज' और 'गजेन्द्रमोक्ष' नामक 'प चरत्नों' की सृष्टि हुई है। 'भगवद्गीता' जैसी अद्वितीय जगद्व्यापी ख्याति की महाकृति का उद्गम होने के कारण 'महाभारत' का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

'महाभारत' संस्कृत-साहित्य के अनेक काव्यों, महाकाव्यों, नाटकों और कथाकृतियों का जन्मदाता है। उसमें कति-बुद्धि को प्रेरणा देने वाले तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसी दृष्टि से पाश्चात्य

पण्डितों ने उसको 'एपिक विदिन एपिक' (महाकाव्य के भीतर महाकाव्य) कहकर सम्बोधित किया है। यदि संस्कृत के उन ग्रंथों को अलग किया जाए, जो 'महाभारत' अपने मूल रूप में उत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्य का एक ऐसा ग्रन्थराट है, जिसके छोटे-छोटे हिस्से कालिदास, भारवि, भवभूति, बाण, प्रभ ति ग्रन्थकारों की कृतियों में देखने को मिल सकते हैं।

आध्यात्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक सभी विषयों के बीज 'महाभारत' में बिखरे हैं। यही कारण है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने गौरव के साथ 'महाभारत' की महत्ता को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि 'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र भी है किन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह कभी कहीं भी नहीं है।' 'महाभारत' की श्रेष्ठता का एक प्रसंग दूसरा है, जिसका आशय है कि जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वैदिक साहित्य में आरण्यक, औषधियों में अम त, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है।

संस्कृत का काव्य, महाकाव्य, नाटक और चंपू प्रभ ति अनेक विषयों की कृतियों को 'महाभारत' के कथानक ने प्रभावित किया है। लगभग भास से लेकर तेरहवीं शताब्दी में वर्तमान अगस्त्य कवि की कृतियों तक सर्वत्र 'महाभारत' का दाय लिया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थकारों की कृतियों के नाम यहाँ प्रस्तुत हैं:

भास	पंचरात्र	क्षेमीश्र्वर	नैषधानन्द
'	दूतवाक्य	त्रिविक्रमभट्ट	नलचंपू
'	मध्यम व्यायोग	क्षेमेन्द्र	भारतमंजरी
'	दुतघटोत्कच	कांचन पण्डित	धनंजयव्यायोग
भास	कर्णधार	वत्सराज	किरातार्जुनीय-
'	ऊरुभंग		व्यायोग
कालिदास	अभिज्ञानशाकुन्तल	श्री हर्ष	नैषधचरित
भारवि	किरातार्जुनीय	रामचंद्र	नलविलास,
भट्ट नारायण	वेणीसंहार	'	निर्भयभीम
माघ	शिशुपालवध	अमरचंद्र	बालभारत
कुलशेखर वर्मन्	सुभद्रा-धनंजय	देवप्रभ सूरि	पांडवचरित
नीतिवर्मन्	कीचकवध	कृष्णानन्द	सहृदयानन्द
राजशेखर	बालभारत	अगस्त्य	बालभारत

महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व -

भारतीय परम्परा में महाभारत को एक सांस्कृतिक महाकाव्य ओर धर्मशास्त्र के साथ साथ उसे एक पवित्र ग्रन्थ भी माना जाता है। लगभग दो हजार वर्षों से महाभारत वर्तमान शतसाहस्री संहिता के रूप में प्रसिद्ध एवं प्रचलित है। पाँचवी शताब्दी के दानपत्रों में महाभारत की इस प्रतिष्ठा के प्रमाण मिलते हैं। ईसा की पहली शताब्दी में मध्य में दक्षिण आने वाले डायोनक्राइसोस्टोम नामक यात्री ने लिखा है कि उस समय में एक लाख श्लोकों का महाभारत (जिसे उसने भारत का इलियड कहा है) प्रसिद्ध एवं प्रचलित था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं कि महाभारत की कथा मन्दिरों में गाई जाती थी और जनसमूह उसे श्रद्धा से सुनता था। भारतवर्ष में ही नहीं वरन् पूर्व एशिया के उन देशों में भी महाभारत का प्रचार था, जिनमें भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ था। ईसा की पूर्व शताब्दियों में भी महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है। किन्तु आधुनिक विद्वान् इसे महाभारत

की शतसाहस्री संहिता का प्रमाण नहीं मानते। उनका सिद्धान्त विकासवादी है। उनके मतानुसार महाभारत के वर्तमान रूप का विकास कई चरणों में हुआ है। कई संस्करणों और अनेक प्रक्षेपों के द्वारा महाभारत को शतसाहस्री संहिता का रूप निर्धारित हुआ है। पश्चिमी विद्वानों का ध्यान महाभारत की सामग्री और रचना काल के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन की ओर रहा है। वे भारतीयों की भाँति महाभारत को श्रद्धा का विषय नहीं मानते। उनके लिए वह ऐतिहासिक आलोचना का विषय है। उस ऐतिहासिक आलोचना के प्रसंग में वे उन बातों को कोई महत्त्व नहीं देते, जो भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार महत्त्वपूर्ण हैं। महर्षि वेदव्यास की कृति तथा प्राचीन भारतीय वीरों की कथा होने के कारण भारतीय जनता की महाभारत के प्रति गहरी श्रद्धा रही है। जनमेय और शौनक के यज्ञों में उनका पारायण होने के कारण वह एक धार्मिक कथा बन गई है। धर्मशास्त्र के समान धर्म के विस्तृत विवरणों तथा भगवान् श्रीकृष्ण के नेतृत्व के कारण महाभारत का धार्मिक रूप ही प्रमुख बन गया है। इसी कारण भारतीय जनता युगों से श्रद्धा के साथ महाभारत का श्रवण और गायन करती रही है।

श्रद्धा और भावना से रहित होने के कारण महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण केवल ऐतिहासिक है। वे एक निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण से महाभारत आदि भारतीय ग्रन्थों के अध्ययन का दावा तो करते हैं किन्तु उनकी आलोचनाओं में भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रति एक तिरस्कार का भाव दिखाई देता है, जो अत्यन्त शोचनीय है।

वस्तुतः महाभारत की मूल कथा ही इतनी विशाल है कि उसकी विविध घटनाओं के प्रसंग में जीवन के अनेक पक्ष अनायास खुल जाते हैं। इन प्रसंगों के बीच में मिलने वाले उपाख्यान विषय के विस्तार को और बढ़ा देते हैं। इस प्रकार महाभारत भारतीय संस्कृति का एक विशाल विश्वकोष है। महाभारत की विशालता के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि जो महाभारत में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। स्वयं महाभारत में उसकी व्यापकता का निर्देश किया गया है कि जो यहाँ है वही अन्यत्र मिलेगा, जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा।

महाभारत के विषयों की यह व्यापकता उसके आकार की विशालता को सार्थक बनाती है। भारतीय जनता के लिए जो भी ज्ञान, शिक्षा आदि अपेक्षित है, वह सब महाभारत में मिल जाती है। महाभारत की विशाल कथा की घटनायें और अन्य उपाख्यान भी अनेक शिक्षाओं के स्रोत हैं। विद्वानों के लिए जो वेद का स्थान है, वही साधारण जनों के लिए महाभारत का है। वेद विद्वानों के लिए ज्ञान का भण्डार है, उसी प्रकार महाभारत साधारण जनता के लिए ज्ञान का भण्डार है। महाभारत के इस महासागर में कथा, शिक्षा, धर्म आदि की नदियाँ मिल गई हैं। इसी एक ग्रन्थ में साधारण जनों को सब कुछ मिल जाता है, इसीलिए महाभारत जनता में बहुत लोकप्रिय रहा है। वीर-काव्य होने के कारण यह जनता को प्रेरणा देता है। अर्वाचीन युग में जो स्थान आल्हा खण्ड का है, वही स्थान प्राचीन परम्परा में महाभारत का है। आल्हा खण्ड एक प्रकार से हिन्दी का अर्वाचीन महाभारत है। महाभारत की घटनाओं की नाटकीयता तथा गम्भीर यथार्थ और संवाद की शैली उसे अधिक रुचिकर बना देती है। धर्म, शिक्षा आदि की दृष्टि से विषयों की उपयोगिता इस रुचि का पोषण करती है। इसी लोकप्रियता के कारण प्राचीन काल से ही महाभारत की कथा जन समूहों में गाई जाती रही है। स्वयं महाभारत की रचना ही इसी गायन के रूप में हुई है। शौनक के द्वादशवर्षीय सत्र में महाभारत के गायन में इस परम्परा का प्रमाण मिलता है। महाभारत के विषयों की व्यापकता और जनता में उसके आदर एवं उपयोग के कारण उसे पंचम वेद मानना नितान्त उचित है। स्वयं व्यास ने महाभारत के विषयों में वेद रहस्य का प्रथम उल्लेख किया है। धर्मोपदेश, विषयों की व्यापकता, जीवन के ज्ञान आदि की दृष्टि से महाभारत वेद के समान है। प्राचीनता, पवित्रता और लोकप्रियता उसे जनता का वेद बना देती है।

एक प्राचीन इतिहास और एक विशाल महाकाव्य होने के साथ-साथ महाभारत एक धर्मशास्त्र भी

है। भारतीय संस्कृति में धर्म का अर्थ पश्चिमी परम्परा के समान किसी विशेष साम्प्रदायिक आग्रह के अर्थ में रूढ़ नहीं है। धर्म की भारतीय परिभाषा के लिए ईश्वर के किसी विशेष रूप, किसी विशेष पैगम्बर, धर्म-ग्रन्थ आदि की मान्यता आवश्यक नहीं है। धर्म का यह भारतीय रूप अत्यन्त उदार और मानवीय है। इसमें एक उदार और मानवीय रूप में ईश्वर तथा देवता की उपासना भी सम्मिलित है। किन्तु मनुष्यता, स्वतन्त्रता, समानता आदि इस उपासना के आवश्यक अंग हैं। एक उदार मानवीय आचार इस धर्म का मुख्य तत्त्व है; इसलिए यही आचार अथवा कर्तव्य धर्मशास्त्रों का मुख्य विषय बन गया है। धर्मशास्त्रों में धर्म के इसी रूप का विवरण अधिक मिलता है। इसी अर्थ में महाभारत को भी धर्मशास्त्र माना जाता है। भारतीय धारणा के अनुसार जो बातें धर्म के अन्तर्गत मानी जाती हैं, उनका महाभारत में अनेक स्थानों पर विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी कारण महाभारत को इतिहास एवं काव्य होने के साथ-साथ धर्मशास्त्र भी माना गया है। यह कहना अनुचित न होगा कि महाभारत में इतिहास की अपेक्षा काव्य अधिक है और काव्य की अपेक्षा धर्म का तत्त्व अधिक है। इसलिए आगे चलकर इसकी प्रतिष्ठा धर्मशास्त्र के ही रूप में अधिक हुई है। भारतीय धारणा के अनुसार धर्म के जो विषय हैं, उनका महाभारत में अनेक स्थानों पर विस्तार से वर्णन किया गया है। धर्म के इन विषयों का विपुल परिमाण में समावेश करने के कारण ही महाभारत धर्मशास्त्र बना है। वर्णों और आश्रमों के कर्तव्य इस धर्म के मुख्य तत्त्व हैं। चातुर्वर्ण्य और वर्णाश्रम के धर्मों का उल्लेख महाभारत के आरम्भ में उसके विषयों के अन्तर्गत किया गया है। इन धर्माचरणों का विधान महाभारत में अनेक स्थानों पर मिलता है। शान्तिपर्व में और अनुशासन पर्व में धर्म का उपदेश विशेष रूप से तथा विस्तार के साथ किया गया है। इन पर्वों की इस विशेषता का उल्लेख आदिपर्व के दूसरे अध्याय में महाभारत के विषय-विवरण के प्रसंग में किया गया है। वर्णाश्रम-धर्म, राज-धर्म, स्त्री-धर्म आदि का वर्णन महाभारत में प्रामाणिक रूप से किया गया है।

वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों का जिस रूप में महाभारत में विवरण दिया गया है, धर्म का वह रूप भारतीय जीवन का अंग रहा है। ये आचार और कर्तव्य हमारे सामाजिक जीवन के पथप्रदर्शक रहे हैं। ऐतिहासिक पात्रों के आदर्श और धार्मिक आचार दोनों ही रूपों में महाभारत भारतीय संस्कृति का भण्डार है। तीर्थों के वर्णन तथा व्रतों के उपदेश संस्कृति के इस भण्डार को और सम्पन्न बनाते हैं। इस प्रकार भारतीय परम्परा के विभिन्न अङ्गों का यह सुन्दर काव्य भारतीय संस्कृति का एक विशाल कोष है और आकार और महत्ता दोनों की दृष्टि से यह भारतीय संस्कृति के गौरव के अनुरूप है।

इतिहास काव्य और धर्मशास्त्र की सभी कृतियां रचनात्मक होने से संस्कृति का अंग मानी जाती है इस दृष्टि से महाभारत सामान्य कृतियों से भिन्न एक असाधारण महाकाव्य है। जो किसी एक व्यक्ति और एक काल की रचना न होकर व्यक्ति और काल की दृष्टि से समष्टि का रूप है। अतः सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। महाभारत की प्रत्येक घटना, प्रत्येक चरित्र का अपना नैतिक स्वरूप है प्रत्येक चरित्र का जीवन व्यावहारिक शिक्षाओं से ओत-प्रोत है। भीष्म की स्पष्टवादिता उनका कर्तव्य, सत्यपरायणता, प्रतिज्ञा पालकता विदुर का अपरिमित ज्ञान और न्यायशीलता युधिष्ठिर का सत्य प्रेम विपरीत परिस्थितियों में भी मानसिक स्थिरता और सन्तुलन चरित्र की सादगी भीम और अर्जुन के क्रोध को शांत करने वाली उनकी मधुर और कोमल वाणी भीम का अतुल्य बल अर्जुन की तीव्र मेधा और दृढता तथा कृष्ण के प्रति उनकी असीम श्रद्धा नकुल और सहदेव का भ्रातृ प्रेम और आज्ञाकारिता द्रोपदी की पति परायणता साहस और सहनशीलता ये सब महाभारत में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं ये मानवोचित गुण किसी भी देश की सांस्कृतिक उज्ज्वल स्वरूप प्रकट करते हैं। इसलिए प्राचीन भारतीय वीरों की कथा प्रस्तुत करने वाला यह महाकाव्य हमारे लिए अत्यधिक सांस्कृतिक महत्त्व का है।

महाभारत में तात्कालिक समाज में विद्यमान मानवोचित गुणों के विपरीत कौरवों की धोखाधड़ी

अदूरदर्शिता स्वार्थ प्रथा लोलुपता जैसे दुर्गुणों का भी प्रकाशन हुआ है जिनके आधार पर कोई भी सत्य समाज स्वयं को इस प्रकार के दुर्गुणों से बचाने का यत्न करेगा। क्योंकि अधर्म और असत्य का मार्ग ग्रहण करने वाले मनुष्यों का अन्ततः नाश होता है। हमारे समस्त काव्य ग्रन्थों का एक प्रयोजन यह होता है कि रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत् अर्थात् महापुरुषों की तरह व्यवहार करना चाहिए दुष्टों की तरह नहीं महाभारत हमें यही सन्देश देता है। भारतीय संस्कृति के विशेष भाव या तत्त्व महाभारत में सुन्दर और प्रभावी रूप से साकार हुए हैं। भरतवंशी वीरों का चरित्र भारतीय इतिहास की एक ओजस्वी परम्परा है। इतिहास की घटनाएं इतिहास के पात्र इतिहास के आदर्श जब समाज की प्रतिष्ठित परम्परा बन जाते हैं तो उनका सांस्कृतिक महत्त्व बढ़ जाता है जिन काव्यों में ऐसी परम्पराएं अंकित होती हैं तथा जो काव्य ऐसी परम्पराओं के वाहक बन जाते हैं वे लोकनिधि कहलाते हैं। इस दृष्टि से महाभारत महाकाव्य भारतीय लोक की निधि है और निसन्देह यह निधि सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

अन्त में महाभारत के सांस्कृतिक महत्त्व को सर्वाधिक रूप से प्रकट करने वाली भगवद्गीता के उपदेश का उल्लेख भी यहां आवश्यक है। भगवान् कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए इस उपदेश का सांस्कृतिक महत्त्व केवल भारतीयों के लिए ही नहीं अपितु समस्त विश्ववासियों के लिए है गीता का यह उपदेश विश्व संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। इस उपदेश के विषय में कुछ विद्वान् इस तरह का प्रश्न उठाते हैं कि जब विश्व युद्ध और शांति के बीच झूल रहा हो तब भगवद्गीता का उपदेश युद्ध का प्रतिपादन करता है अथवा शांति का? वस्तुतः गीता के उपदेश के सन्दर्भ में इस प्रकार का प्रश्न करना हमारी भूल है क्योंकि यह उपदेश न युद्ध के लिए है न शांति के लिए है अपितु इसका उद्देश्य है मानव कल्याण। यदि मानव कल्याण युद्ध से सम्भव है तो गीता युद्ध का उपदेश करती है और यदि यह मानव कल्याण शांति से सम्भव है तो शांति का उपदेश करती है वस्तुतः युद्ध और शांति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए किसी आधुनिक विचारक का यह कथन कि यदि शांति चाहते हो तो युद्ध के लिए तैयार रहो, सत्य ही है। इस प्रकार महाभारत में प्रतिपादित अहिंसा और युद्ध परस्पर विरोधी नहीं है महाभारत की अहिंसा दुर्बल भावुक निराश हठी या धर्मान्ध लोगों का दर्शन नहीं है। यह तो मधुर तर्कशीलता और साहस का दर्शन है।

इस प्रकार चाहे आदर्श की बात हो, कर्तव्य की बात हो, अथवा अहिंसा और युद्ध की बात हो सभी दृष्टियों से महाभारत हमारे समक्ष उच्चतम सांस्कृतिक मूल्य उपस्थित करता है। अतः यह महाकाव्य हमारे लिये सांस्कृतिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है।

महाभारतकालीन समाज -

सम् तथा आङ् पूर्वक अज् धातु से घृ प्रत्यय करने पर समाज शब्द सिद्ध होता है। अज् धातु गति और क्षेपण के अर्थ में पठित है। गति के भी ज्ञान गमन और प्राप्ति भेद से तीन अर्थ होते हैं। अतः समाज शब्द का अर्थ हुआ - ज्ञान और क्रिया की सहमति के आधार पर एकत्रित होने वाल समूह। ज्ञान और क्रिया की सहमति मनुष्यों के समूह में ही सम्भव है अतः मनुष्यों के समूह को ही समाज कहते हैं।

व्यक्ति समाज की इकाई है। व्यक्तियों से परिवार तथा परिवारों से समाज का निर्माण होता है। अल्प ज्ञान और अल्पशक्ति मनुष्य के लिए इस असीम तथा रहस्यपूर्ण संसार में एकाकी जीवन बिताना सम्भव नहीं है। उसे दूसरे व्यक्ति के ज्ञान और क्रिया के सहयोग की निरन्तर अपेक्षा रहती है। मिलजुल कर समूह में रहने से उसकी यह अपेक्षा पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार समाज मनुष्य की सुख-समृद्धि और विकास का मुख्य आधार है।

किसी भी काल के समाज का रूप उस काल के साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। अतः किसी काल विशेष के सामाजिक स्वरूप को जानने का सर्वोत्तम साधन उस काल का साहित्य ही होता है।

महाभारत महाकाव्य में तत्कालीन समाज के स्वरूप का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वह काल सामाजिक व्यवस्थाओं के संक्रमण का काल था। समाज में प्राचीन परम्परायें तीव्रता से बदल रही थीं। इस काल की सामाजिक व्यवस्था वैदिक काल के समान सहज और सरल नहीं रह गयी थी। पुरातन व्यवस्था के प्रति आग्रहवान् महाभारतकार के तत्कालीन व्यवस्था विषयक क्षोभ को उनके इस कथन में देखा जा सकता है-

ऊर्ध्वबाहुर्विरौन्धेष न कश्चिच्छ णोति माम्।

धर्मादर्थश्च कामश्च स अर्थः किं न सेव्यते।

अर्थात् मैं अपने भुजायें उठाकर पुकार रहा हूँ, किन्तु धर्मपूर्वक अर्थ और काम के सेवन की बात को कोई सुनता ही नहीं है।

महाभारत के इस कथन से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में अपनी पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्थाओं की अपेक्षा विशिष्ट परिवर्तन आ रहे थे।

प्राचीन भारतीय समाज का ढाँचा वर्ण तथा आश्रम जैसी सामाजिक संस्थाओं पर आधारित था। महाभारत काल में भी सामाजिक ताना-बाना वर्ण तथा आश्रम व्यवस्थाओं के बीच ही बुना हुआ था। यद्यपि इस काल में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे, वर्ण के साथ जाति भी अस्तित्व में आने लगी थी तथापि मूलभूत सामाजिक कलेवर प्रायः वही है जो हमें संहिता और उपनिषद्काल में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ महाभारतकालीन समाज के वर्णाश्रमादि घटकों पर विचार प्रस्तुत हैं—

वर्ण व्यवस्था- वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज की ऐसी विशेषता है जिसका इस रूप में उदाहरण किसी अन्य देश में नहीं मिलता। वर्ण का सिद्धान्त एक ऐसा सामाजिक सिद्धान्त है जो समाज में आधारभूत होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है। इस सिद्धान्त के उद्भव और विकास के विषय में धर्मशास्त्रीय साहित्य तथा महाकाव्यों में अनेक मन्तव्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्राचीनतम वैदिक साहित्य में वर्णों की उत्पत्ति से संबंधित कई स्थल हैं। इनमें से ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार, 'इस ब्रह्माण्ड पुरुष का ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजाएं हैं, वैश्य जंघाएं और शूद्र उसके चरण हैं। ऋग्वेदोक्त समाज का वर्णन उतना कठोर नहीं जितना कि उत्तरकाल में हो गया। ऋग्वेद के अनुसार, उच्च स्थानधारी ब्राह्मण, विस्तृत गरिमा और शौर्य वाला क्षत्रिय, लाभ कमाने वाला वैश्य और श्रमजीवी शूद्र ये सभी अपने-अपने धर्म का पालन करें। इस वतान्त से ऐसा लगता है कि वैदिक वर्णन अत्यंत उदार थे।

वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुई? इस संबंध में महाभारत ने वैदिक मत को ही स्वीकार किया है। किन्तु 'जान पड़ता है कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में सब पंडितों को पुरुष सूक्त से संतोष नहीं था। वह स्वयं मनोरंजक धारणायें निकाल रहे थे। महाभारत में ऐसे कृतयुग की कल्पना है जिसमें मानव के किसी विशिष्ट वर्ग या जातियों का अस्तित्व नहीं था। बहदारण्यक उपनिषद् की भांति इसमें भी मानव जाति के प्रारंभ में एकमात्र ब्राह्मण वर्ण की बात कही गई है। इस वक्तव्य का विस्तार कर आगे कहा गया है कि ब्रह्मा द्वारा उद्भूत सारे मनुष्य ब्राह्मण ही जाने जाते थे किन्तु उनमें काल, मत्सर, क्रोध एवं साहस आदि रजोगुण प्रधान व्यक्ति क्षत्रिय कहलाये, कृषि एवं गोपालन आदि कार्यों से जीविका निर्वाह करने वाले रज एवं तम गुणों से संपन्न व्यक्ति वैश्य माने गये और जो आचार-विचार, शुचि एवं पवित्रता से हीन एवं निम्न कर्म करने वाले थे वे शूद्र हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल से ही समाज चार वर्णों में विभक्त था। महाभारत के अनुसार भी वर्ण चार ही हैं, पांचवा नहीं- 'स्म ताश्च वर्णाश्चत्वारः पंचमो नाधिगम्यते।' सभी धर्मसूत्र, स्मृतिग्रंथ एवं पुराणों में वर्णचतुष्टय का ही उल्लेख मिलता है। यवन आदि विदेशी आक्रमणकारी जातियों को चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया।

युद्धप्रिय होने के कारण एक ओर तो ये क्षत्रियों के समकक्ष रखे जा सकते थे, और दूसरी ओर

अनार्य होने के कारण शूद्रवत् व्यवहार के अधिकारी समझे गये। पुनश्च वेदविहीन आचार एवं ब्राह्मणों से सम्पर्क के अभाव के कारण इनकी गणना चतुर्थ वर्ण में ही की गयी। अनुशासन पर्व में स्पष्टतः कहा गया है कि ब्राह्मणों की कृपा से वंचित होने के कारण ये शूद्र कहलाये।

ब्राह्मण

धर्मशास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण के अधोलिखित छह महत्त्वपूर्ण कर्तव्य कहे गये हैं-

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कमाप्यग्रजन्मनः।।

अर्थात् - अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना तथा दान लेना यह छह ब्राह्मण के कर्म हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को ब्राह्मणों के कर्तव्यों को इस प्रकार बताया है-

अध्यापयेदधीयीत याजयेत यजेतवा।

न व था प्रतिग ह्णीयान्चदद्यात् कदाचन।।

अर्थात् ब्राह्मण पढ़े, पढ़ाये, यज्ञ कराये और वैकल्पिक रूप से करे भी। अनावश्यक रूप से दान न ले तथा दान देने की उसे आवश्यकता नहीं है।

उद्योग पर्व के एक अन्य वर्णन के अनुसार कृष्ण, संजय को ब्राह्मण के कर्तव्यों को इस प्रकार बताते हैं -

अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत।

दद्यादीयात् तीर्थं मुख्यानि चैव।

अध्यापयेद् याजयेच्चापि यागान्।

प्रतिग्रहान् वा विहितान् प्रतीच्छेत्।।

भाव यह है कि- ब्राह्मण पढ़े-पढ़ाये, यज्ञ करे और कराये, मुख्य-मुख्य तीर्थों की यात्रा करे तथा दान दे और ले।

उक्त वर्णनों से ज्ञात होता है कि महाभारतकालीन सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण के कर्तव्य यद्यपि परम्परा प्राप्त ही हैं तथापि शौथिल्य और स्वातन्त्र्य भी दृष्टिगोचर होता है। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मणों का कार्य क्षेत्र वेदाध्ययन-अध्यापन, जप-तप एवं पौरोहित्य तक सीमित न था। संकट के समय ब्राह्मण सैनिक-वृत्ति भी अपना सकते थे। अग्निवेश्य, जमदग्नि, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि धनुर्वेद के प्रख्यात आचार्य थे। उनका आचार्यत्व केवल अध्यापन तक सीमित नहीं था। वे स्वयं प्रख्यात योद्धा भी थे। भीष्म के अनुसार जब दस्यु प्रबल होकर धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने लगे तब सभी वर्ण शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं। ब्राह्मणों की रक्षा के लिए अन्य सब वर्ण तथा अन्य वर्णों के रक्षार्थ ब्राह्मण को भी शस्त्र-ग्रहण करने का अधिकार था। महाभारत में परशुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य प्रभृति सैन्य-विज्ञान के मर्मज्ञ आचार्यों का उल्लेख है जिनके पास देश के सुदूर स्थानों से छात्र सैन्यविज्ञान का अध्ययन करने के लिए आते थे।

कभी-कभी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय बालक युगपत् अध्ययन करते थे, यथा-आचार्य द्रोण एवं पांचालराज द्रुपद सतीर्थ थे। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने महाभारत-युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लिया था। सौप्तिक पर्व में वर्णित उसके आतंक एवं न शंसतापूर्ण क्रिया-कलापों को कोई पाठक नहीं भूल सकता। परशुराम के पत्नी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय कर देने का उल्लेख महाभारत में अनेक बार हुआ है। गाधिपुत्र विश्वामित्र एवं वशिष्ठ के संघर्ष का उल्लेख महाभारत और रामायण में भी हुआ है। महर्षि वसिष्ठ द्वारा पराभूत होने के पश्चात् विश्वामित्र ने क्षात्र बल की अपेक्षा तपोबल को ही महान् माना और राज्यवैभव का परित्याग कर वे तपस्वी बने।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कुछ ब्राह्मण क्षत्रियों के कर्त्तव्यों का पालन कर रहे थे। इसके लिए उन्हें पुरोहितों के कार्य को छोड़ देना पड़ता था, क्योंकि एक साथ दो विरोधी कार्य नहीं किये जा सकते। ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों के कर्त्तव्यों को अपनाने के सन्दर्भ में विद्वानों की मान्यता है कि “उपनिषदों का समय आते-आते क्षत्रिय-ब्राह्मण-संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीनने के लिए उद्यत हो गये, जिसका उपभोग ब्राह्मण वैदिक-काल से करते चले आ रहे थे। ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठान के विरुद्ध क्षत्रियों ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। उस संघर्ष का काल-प्रसार काफी लम्बा रहा, जो अन्ततः द्वितीय शती ई. पू. में ब्राह्मणों के राजनैतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इसमें एक ओर वसिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि और पुष्यमित्र शृंग की परम्परा रही तो दूसरी ओर विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति, कैकेय, प्रवहरण जैबालि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध और ब हर्दथ की।” महाभारत में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की अनेक झांकियां विद्यमान हैं, यथा वशिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष, परशुराम-क्षत्रिय जाति संघर्ष आदि। सर्वोच्चता के लिए चलने वाली इस संघर्ष-परम्परा में अन्ततः ब्राह्मणबल अथवा तपोबल को क्षत्र बल से श्रेष्ठ मानकर वर्णचतुष्टय में ब्राह्मण की ही श्रेष्ठता स्वीकार की गयी।

महाभारतकालीन समाज में ब्राह्मणों के लिए यद्यपि वर्णोत्तर कर्त्तव्य स्वीकार्य होने लगे थे तथापि जहाँ तक श्रेष्ठता का प्रश्न है तो वही ब्राह्मण श्रेष्ठ माने जाते थे जो शास्त्र ज्ञान एवं सदाचार दोनों से ही सम्पन्न होते थे। उन्हीं ब्राह्मणों का सम्मान होता था, जिनके लिए ब्रह्म (वेद) ही परम धन था, आत्म-ज्ञान ही स्वर्ग था वेद का स्वाध्याय करना ही श्रेष्ठ तप था। ऐसे ही ब्राह्मणों को महान् तीर्थस्वरूप माना गया है। अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन और दान तथा परिग्रह—इन छः वृत्तियों का आश्रय उनसे अपेक्षित होता था। इनमें से तीन कर्म—याजन, अध्यापन और श्रेष्ठ पुरुषों से दान लेना—ये ब्राह्मण की जीविका के साधन माने जाते थे। उसके शेष तीन कर्म—दान, अध्ययन तथा यज्ञानुष्ठान—ये धर्मोपार्जन के लिए माने जाते थे। तत्कालीन समाज में ऐसे अनेक ब्राह्मण विद्यमान थे, जो इन सात्त्विक गुणों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते थे। ऐसे ब्राह्मणों को पंक्तिदूषकों की संज्ञा दी गई है। महाभारत में पंक्तिदूषकों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि “जुआरी, गर्भहत्यारा, राजयक्ष्मा का रोगी, पशुपालन करने वाला, गांव भर का हरकारा, सूदखोर, गवैया, सब तरह की चीजें बेचने वाला, दूसरों का घर-फूंकने वाला, विष देने वाला, माता द्वारा पति के जीतेजी दूसरे पति से उत्पन्न किये हुए पुत्र के घर भोजन करने वाला (कुण्डाशी) सोमरस बेचने वाला, सामुद्रिक विद्या (हस्तरिखा) से जीविका चलाने वाला, राजा का नौकर, तेल बेचनेवाला, जिसके घर में जार पुरुष का प्रवेश हो वह, कलंकित, चोर, शिल्पजीव, बहुरूपिया, चुगलखोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीलम्पट, व्रतरहित मनुष्यों का अध्यापक, हथियार बनाकर जीविका चलाने वाले, कुत्ते साथ लेकर घूमने वाला, जिसे कुत्ते ने काटा हो, जिसके छोटे भाई का विवाह हो गया हो ऐसा अविवाहित बड़ा भाई, चर्मरोगी, गुरुपत्नीगामी, नट का काम करने वाला, देवमन्दिर में पूजा से जीविका चलाने वाला और नक्षत्रों का फल बताकर जीने वाला—ये सभी ब्राह्मण पंक्ति से बाहर रखने योग्य हैं।” महाभारतकार के अनुसार ये सब पंक्तिदूषक हैं, जिन्हें दिया हुआ श्राद्ध का दान राक्षसों को मिलता है, अर्थात् नष्ट हो जाता है। अतः इन्हें श्राद्ध में भोजन न कराना चाहिए।

इनके विपरीत समाज में ऐसे सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण भी होते थे, जिनका समाज में अत्यधिक आदर होता था, जिनके समक्ष राजा भी सिर झुकाते थे। ऐसे ब्राह्मण पंक्ति को जितनी दूर देखते थे उतनी दूरी में बैठ हुए ब्राह्मण पवित्र हो जाते थे। इसलिए इन्हें पंक्तिपावन कहा जाता था। ऐसे ब्राह्मणों को ‘पितरः सर्वभूतानां’ (सभी प्राणियों के पिता) कहा गया है। जिसमें सत्य, दान, क्षमा, दया, सच्चरित्र, संयम आदि सात्त्विक गुण हों उसी को ब्राह्मण कहा गया है।

सम्भवतः इस गुण सम्पन्नता के कारण ही ब्राह्मण को आदरणीय और अवध्य माना गया था।

आदिपर्व के एक वर्णन के अनुसार ब्राह्मण को सभी प्राणियों के लिए अवध्य कहा गया है। (अवध्यः सर्वभूतानां ब्राह्मणो ह्यनलोपनः। एक अन्य वर्णन में ब्राह्मण वध को सभी प्राणियों के वध से भी अधिक भयंकर बताया गया है। (गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधारपि)

महाभारतकाल में ब्राह्मण की अवध्यता का नियम सम्भवतः उन ब्राह्मणों के लिए ही था जो शास्त्रानुसार ब्राह्मण धर्म का पालन कर रहे थे। किन्हीं भी कारणों से जिन्होंने क्षात्र धर्म को अपना लिया था उनके विषय में अवध्यता का नियम नहीं रहा होगा। ऐसा महाभारत युद्ध में मारे गये द्रोणाचार्य ब्राह्मण-योद्धाओं के प्रसंग से प्राप्त होता है।

महाभारत में धर्म नामक अपने ग्रन्थ में डा. शकुन्तला तिवारी लिखती हैं कि “अवध्यता का मान और प्रतिग्रह का अधिकार ब्राह्मणों को किसी पक्षपात के कारण नहीं वरन् धर्म और संस्कृति की रक्षा के उद्देश्य से दिया गया था”।

महाभारत में ब्राह्मण द्वारा आचरणीय द्वादश व्रतों का उल्लेख है—

धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च

अमात्सर्यं हीस्तिक्षानुसूया।

यज्ञश्च दानं च ध तिः श्रुतं च

व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य।।

अर्थात् धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, तप, मात्सर्य का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, निन्दा न करना, यज्ञ करना, दान देना और शास्त्र ज्ञान, ये बारह व्रत ब्राह्मण द्वारा पालनीय हैं। उक्त व्रतधारी ब्राह्मण के अपराधी होने की सम्भावना अति न्यून है। अनजाने में हुए किसी अपराध के लिए उसकी अवध्यता उचित ही है।

यहाँ यह भी लिख देना उचित ही है कि समाजशास्त्र के ऐसे अनेक विद्वान हैं जो इस प्रकार के नियमों को उच्चवर्गीय तथा शास्त्रकार ब्राह्मणों द्वारा अपने लिए सुरक्षित विशेषाधिकार मानते हैं। जो भी हो महाभारतकालीन समाज में ब्राह्मण वर्ण, अपनी पूर्ववर्ती वर्ण व्यवस्था के अनुरूप, श्रेष्ठ और सम्माननीय था। महाभारतकालीन ब्राह्मण अपने विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए संघर्ष के लिए भी तत्पर दिखाई देता है। वह ब्राह्मण के लिए वर्ज्य क्षत्रिय कर्तव्यों को धारण करने लग गया था।

क्षत्रिय

महाभारत के अनुसार समाज में जो मनुष्य युद्ध आदि कर्म का सेवन करता है, वेदाध्ययन में लगा रहता है, ब्राह्मणों को दान देता है, प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय है।

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः।

दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते।।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार— जो क्षति अर्थात् संकट से अपना और दूसरों का त्राण करता है, क्षति पहुंचाना ही जिसकी जीविका है, जो स्त्रियों और सत्पुरुषों पर क्षमा भाव रखता है। वह शीघ्र ही धर्म, लक्ष्मी तथा पृथ्वी का अधिकारी होता है।

क्षतत्राता क्षताज्जीवन् क्षिप्रं धर्मं यशः श्रियः।।

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समाज के समस्त वर्गों की रक्षा का उत्तरदायित्व क्षत्रिय के ऊपर था।

महाभारत में क्षत्रियों की कर्तव्य-मीमांसा करते हुए कहा गया है कि क्षत्रिय का सबसे पहला धर्म है प्रजा का पालन करना। प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोग करने वाला राजा धर्म का फल

पाता है। इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र-कर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्य का सम्पादन, पोष्यवर्ग का भरण-पोषण, आरम्भ किये हुए कार्य को सफल बनाना, अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना, व्यवहार में न्याय की रक्षा करना और सत्य-भाषण में अनुरक्त होना—ये सभी कर्म राजा के लिए धर्म ही हैं। इसके अतिरिक्त आर्त-त्राण, गो-ब्राह्मण आदि की रक्षा का भार भी राजा पर होता है।

क्षत्र धर्म के अन्तर्गत प्रजा की रक्षा करते हुए प्रजारंजन करना राजा का प्रमुख धर्म था। जिस राजा ने अपनी प्रजा की भरपूर रक्षा की है उसे न तप करने की आवश्यकता है और न यज्ञ करने की। कौटिल्य का कहना है कि 'प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा के हित में राजा का हित।'—इसलिए उसे निरकुंश न होना चाहिए। शान्तिपर्व में कहा गया है कि राजा को गर्भवती स्त्री की भांति मनचाहा नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उसे प्रजासुख के लिए शास्त्र-विहित कार्य करना चाहिए, धर्म पर आश्रित रहना चाहिए।

क्षत्र धर्म अत्यन्त कठोर माना गया है। रणक्षेत्र में गुरु शिष्य का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। क्षत्रिय रणक्षेत्र में पारिवारिक बन्धनों एवं मर्यादाओं का परित्याग करके अपने भाइयों एवं पितृव्यों से भी युद्ध करते हैं। इसीलिए भीष्मपर्व में क्षत्र-जीविका को अनेक बार धिक्कारा गया है 'धिगस्तु क्षत्रजीविकाम्'। क्षत्रिय के लिए कतिपय गुण आवश्यक माने जाते थे। जैसे—

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं मोक्षणं पालनं च।

विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्॥

यह उल्लेखनीय है कि क्षत्रिय के लिए अपेक्षित गुणों में क्षमा, आन शंस्य जैसे गुणों का उल्लेख नहीं है, क्योंकि ऐसी मान्यता थी कि इस योनि में प्रायः क्रूरबुद्धि जन्म लेते हैं। क्षत्र धर्म महारौद्र माना जाता था—'क्षत्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः। भीरु क्षत्रिय को असाधु कहा गया है। वस्तुतः तेज ही क्षत्रियों का बल माना जाता था 'क्षत्रियाणां बलं तेजः। शत्रुओं के अतिरिक्त अन्य असामाजिक तत्त्वों का उन्मूलन करके राज्य में शान्ति स्थापित करना क्षत्रियों का परम कर्तव्य था। जिस प्रकार ब्राह्मण को महाभारत में शास्त्र बल से युक्त कहा गया है वैसे ही क्षत्रिय को शस्त्र बल से युक्त माना गया है।

अत्यन्त कठोर तपस्या करने पर ऋषि जिस पद को प्राप्त करते हैं, उसी पद को क्षत्रिय अपने क्षत्र धर्म का पालन करते हुए पा सकता है—ऐसी धारणा बनी हुई थी। क्षत्रिय की मृत्यु वन अथवा संग्राम में ही श्रेष्ठ मानी जाती थी। घर में उसकी मृत्यु होना उसके लिए निन्दास्पद माना जाता था।

समाज में क्षत्रिय के महत्त्व को महाभारतकाल के इस कथन से समझा जा सकता है कि चारों वर्णों तथा आश्रमों के धर्म और जाति धर्म आदि क्षत्र धर्म में ही व्यवस्थित हैं।

चातुराश्रम्यधर्माश्च जातिधर्माश्च पाण्डव।

लोकपालोत्तराश्चैव क्षात्रे धर्मे व्यवस्थिताः।

क्योंकि यदि क्षत्रिय अपने कर्तव्य पालन में शिथिल हो जाये तो समाज का स्वरूप छिन्न-भिन्न होकर उसमें मात्स्य न्याय की प्रवर्तना हो जाय।

वैश्य

महाभारत में उपलब्ध वैश्य की परिभाषा के अनुसार जो वेदोध्ययन पूर्वक व्यापार, पशुपालन और कृषि कर्म करके अन्न संग्रह करने में रुचि रखता है और पवित्र रहता है वह वैश्य कहलाता है।

प्राचीन वर्ण व्यवस्था के अनुसार वैश्य का परिगणन द्विजों में किया गया है। सम्भवतः यही कारण है कि वैश्यों के लिए वेदाध्ययन को भी आवश्यक कर्म माना गया है। किन्तु महाभारत के इस कथन से कि— 'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्' अर्थात् 'कृषि, पशुपालन और व्यापार वैश्यों

के स्वाभाविक कार्य है” प्रतीत होता है कि उक्त तीन कर्म वैश्यों के प्रमुख कर्तव्य तथा दान, यज्ञ तथा अध्ययन अथवा स्वाध्याय आदि सामान्य कर्तव्य रहे होंगे।

महाभारतकालीन समाज में वैश्यों का सम्बन्ध मुख्यतः आर्थिक जीवन से ही था। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कृषि गोरक्षा और वाणिज्य उनके प्रमुख कर्तव्य थे। वस्तुतः तत्कालीन समाज की अर्थव्यवस्था के यही मुख्य आधार थे। तत्कालीन ही क्यों भारतीय अर्थव्यवस्था के तो आज भी कृषि आदि ही मुख्य आधार हैं।

वैश्यों के कर्तव्यों में धनार्जन की अतिरिक्त दान और यज्ञादि धर्माचरणों का भी बहुत महत्त्व है। अर्थव्यवस्था में व्यापार आदि के प्रसंग में लाभ का प्रलोभन स्वार्थ को बढ़ा सकता है। वह प्रलोभन कहीं समाज की व्यवस्थाओं को असन्तुलित न कर दे इस लिए तत्कालीन समाज में वैश्यों के लिए दान, यज्ञ, अध्ययन आदि को कर्तव्य के रूप में निर्धारित किया गया। दान और यज्ञ के द्वारा संचय की एकपक्षता सन्तुलित होती है। अध्ययन अर्थात् सत् शास्त्रों का स्वाध्याय अर्थ की भौतिकता को सन्तुलित करता है। ये सभी कर्तव्य वैश्य को अर्थोपार्जन के समय सदैव शुचिता का स्मरण कराते हैं। धर्मशास्त्रों के समान ही महाभारत में भी वैश्यों को धर्मशक्ति और सदाचारी होने का आदेश दिया गया है। वस्तुतः अर्थोपार्जकों की इसी धर्मशीलता ने ही प्राचीन भारतीय समाज को अनर्थों से बचाया है। इसी के कारण ही भारतवर्ष में इतनी धर्मशालायें, कूप, तडाग, मन्दिर, सदावर्त आदि उदार धर्मक्षेत्र दिखाई देते हैं। आज अर्थोपार्जकों में शील का अभाव होने से जो हाय तोबा मची हुई है वह कम से कम अर्थव्यवस्था की दृष्टि से महाभारत काल में नहीं रही होगी।

महाभारतकालीन समाज में द्विजन्मा होने के कारण वैश्य को वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमोचित सभी धार्मिक कार्यों को करने का अधिकारी माना गया था। विविध वाणिज्य-व्यवसाय के द्वारा देश को समृद्ध बनाना वैश्यों का प्रमुख कर्तव्य था। किन्तु वाणिज्य पर वैश्यों का एकाधिकार न था। संकट-काल में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों को भी वणिक्-कर्म अपनाने की छूट दी गयी थी।

वैश्य की आर्थिक स्थिति के अनुसार उसे राज-सम्मान आदि प्राप्त होता था। कभी वे सैनिक व त्ति भी अपना लेते थे। सैद्धान्तिक रूप से वैश्य आचार्य नहीं बन सकते थे। व्यावहारिक रूप में भी महाभारत में किसी वैश्य आचार्य का उल्लेख नहीं मिलता। सैद्धान्तिक रूप में यह उल्लेख अवश्य है कि गौ-ब्राह्मणों तथा स्वयं के परित्राण के लिए और वर्णसंकटत्व के समय वैश्य धनुधारण कर सकता है।

शूद्र

भारतीय समाज में शूद्र वर्ण की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है। वर्ण व्यवस्था के आरंभिक चरण में सम्भवतः यह स्थिति इतनी दयनीय रही हो किन्तु धीरे-धीरे जब वर्ण निर्धारण का आधार कर्म के स्थान पर जन्म हुआ तब शूद्रों की स्थिति समाज में अत्यन्त शोचनीय हो गयी। पीछे हम पढ़ चुके हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य अपने मान, वैभव आदि का उपभोग करते रहे हैं। किन्तु यह हमारी सामाजिक व्यवस्था की विडम्बना ही है कि शूद्र प्रायः समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रहे।

समाज में शूद्रों की इस स्थिति के प्रसंग में प्रतिक्रियावादी विचारक प्रायः धर्मशास्त्रों को दोषी ठहराते हैं, जो उग्र और एकांगी दृष्टिकोण है। एतद्देशीय स्थितियों को दूसरे देशों से तुलना करते हुए वे प्रायः संस्कृति, आचार आदि की दृष्टि से इन देशों के साथ भारतवर्ष का जो अन्तर है तथा इन क्षेत्रों में भारतवर्ष की जो अतिरंजित विशेषतायें रही हैं उन पर ध्यान नहीं देते। यद्यपि इस सन्दर्भ में धर्मशास्त्र पूर्णतः निर्दुष्ट नहीं हैं क्योंकि समाज में व्याप्त अमानवीय आचरण के समर्थन और पोषण के लिए तथा उसमें सुधार की कल्पना एवं चेष्टा न करने के उत्तरदायित्व से वे बच नहीं सकते तथापि प्रत्येक सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में विचार करते हुए विचारकों को सन्तुलित दृष्टिकोण

अपनाना चाहिए।

शान्ति पर्व में भारद्वाज के पूछने पर भगुजी ने उन्हें शूद्र के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरो शुचिः।

त्यक्त वेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥

अर्थात् वेद सम्मत आचरणादि का विचार किये बिना जो सदैव सब कुछ खाने और सब कुछ करने में अनुरक्त, अपवित्र व्यक्ति शूद्र है।

महाभारत में शूद्र वर्ण के कर्तव्यादि का विवरण धर्मशास्त्रों के समान ही उपलब्ध होता है। महाभारत में भी उच्च वर्णों की सेवा को ही शूद्रों का प्रमुख कर्तव्य माना गया है। शान्ति पर्व में भारद्वाज के पूछने पर सेवा को ही शूद्रों का प्रमुख कर्तव्य माना गया है।

शान्ति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि -

प्रजापतिर्हिवर्णनां दासं शूद्रमकल्पयत्।

तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते॥

अर्थात् प्रजापति ने तीनों वर्णों के सेवक रूप में शूद्र वर्ण की सृष्टि की है इसलिए तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का शास्त्रविहित कर्तव्य है।

उद्योग पर्व में श्री कृष्ण, संजय को शूद्र के कर्तव्यों के विषय में उपदिष्ट करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मणों की सेवा तथा वन्दना करे, वेदों का स्वाध्याय न करे। उसके लिए यज्ञ का भी निषेध है। वह सदा उद्योगी और आलस्य रहित होकर अपने कल्याण की चेष्टा करे। यही शूद्रों का प्राचीन धर्म है।

शान्ति पर्व के एक अन्य पद्य में शूद्र को अपने स्वामी के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए इस विषय में कहा है—

शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्याचिदापदि।

अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये॥

शूद्र को चाहिए कि किसी आपत्ति में भी स्वामी का परित्याग न करे। यदि स्वामी के धन का नाश हो जाय तो शूद्र को अपने कुटुम्ब के पालन से बचे हुए धन से उसका भरण पोषण करना चाहिए। महाभारत के अनुसार सन्तान के अभाव में शूद्र अर्थात् सेवक को ही स्वामी के लिए पिण्डदान करना चाहिए (देयः पिण्डो नपत्याय)।

महाभारत में शूद्रों के द्वारा सम्पत्ति संग्रह का निषेध है। यह निषेध इस लिए है कि सम्पत्ति का संग्रह करके उसका सेवाभाव समाप्त हो जायेगा। सेवावृत्ति का कार्य तो छोटा रह कर के किया जा सकता है। धन संग्रह से बड़ा हुआ व्यक्ति किसी का सेवा कार्य क्यों करेगा। सम्भवतः इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर ही धर्मशास्त्रों ने शूद्रों के अर्थसंचय का निषेध किया है।

महाभारतकालीन समाज विरोधाभासों से भरा हुआ समाज था। एक ओर तो शूद्र मौलिक अधिकारों से वंचित था तो दूसरी ओर महाभारत में अनेक शूद्र विविध उच्चकर्म में रत पाये जाते हैं। महाभारत में यह स्पष्ट घोषणा की गयी है कि ज्ञान किसी भी तरह से प्राप्त करना चाहिए। चाहे शूद्र ही क्यों न हो, उससे भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप में यद्यपि शूद्र वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित था, तथापि व्यावहारिक रूप में उसे यह अधिकार प्राप्त था। धर्मव्याध ने गौतम नामक क्रोधी ऋषि को धर्म के शाश्वत गूढ़ सिद्धान्त समझाये थे। इससे स्पष्ट है कि शूद्रों को अध्ययन विषयक अनेक सुविधाएं प्राप्त थीं। एक ओर सिद्धान्ततः शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध और दूसरी ओर उनसे भी ज्ञान सीखने के लिए उपदेश स्पष्टतः हमारे सामने दो विचारधाराएं प्रस्तुत

करते हैं। एक विचारधारा रूढ़िवादी (कट्टरवादी) लोगों की थी जो जन्म को ही अधिक महत्त्व देते थे। इन्हीं लोगों ने सम्भवतः शूद्रों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित करके उन्हें उच्च शिक्षा के क्षेत्र में हतोत्साहित करना चाहा था। दूसरा वर्ग सुधारवादी विचारकों का था, जो जन्म को नहीं, अपितु गुण-कर्मों को ही अधिक महत्त्व देते थे। ऐसे लोगों का स्पष्ट कथन था कि वर्णतः ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होने पर भी व्यक्ति यदि शीलविहीन है तो उसकी पूजा नहीं करनी चाहिए यदि कोई शूद्र होते हुए भी धर्मज्ञ एवं उच्च चरित्र वाला है तो उसकी पूजा करनी चाहिए। ऐसे ही उदारवादी लोगों का यह विचार था कि चारों वर्ण के लोगों को वेद सुनना चाहिए, शूद्र से भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए आदि। अतः यह अनुमान सर्वथा अनुचित न होगा कि इन सुधारकों की विचारणा से अनुप्रेरित होकर शूद्र समुदाय का एक भाग अवश्य ही वेदाध्ययन में रत रहा होगा।

महाभारत में शूद्रों को पंचमहायज्ञादि कर्म बिना मन्त्रपाठ के करने की अनुमति प्राप्त है (स्वाहाकारनमस्कारौ मन्त्रः शूद्रे विधीयते)। युधिष्ठिर ने अपने राजसूय यज्ञ में मान्य शूद्रों को भी निमन्त्रित करने के लिए कहा था। वस्तुतः शम, दम, क्षमा, दया आदि गुणों के अभाव में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न ब्राह्मण भी असाधु माना जाता था। इसके विपरीत यदि ये ही गुण शूद्र में होते तो वह शूद्र होते हुए भी ब्राह्मण का-सा आदर पाता था—

कर्मभिः शुचितभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।

शूद्रोपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम्॥

इससे प्रमाणित होता है कि महाभारत काल में वर्ण निर्धारण के लिए गुण तथा कर्म को भी आधार रूप में स्वीकार किया जाने लगा था।

इस प्रकार महाभारतकालीन समाज में वर्णादि के कर्तव्यों और अधिकारों के विषय में वैचारिक संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि महाभारतकालीन समाज में शूद्र वर्ण के कर्तव्य और अधिकारों में कुछ जागरूकता दिखती है तथापि उस काल में प्रायः वही स्थिति है जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, समाज में सभी प्रकार के धन, मान, सम्मान और प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं और शूद्र, मौलिक मानवीय अधिकारों से भी वंचित है। यही कारण है कि विद्वान् तथा गुणवान् होते हुए भी विदुर दासी पुत्र होने के कारण राज्य के अधिकारी नहीं समझे गये दूसरी और रोगी पाण्डु और नेत्रहीन धृतराष्ट्र को क्षत्रिय होने के कारण ही राज्य प्राप्त हुआ।

वर्ण-संकर

वर्ण के आधार पर प्राचीन काल में सवर्ण और असवर्ण—ये दो प्रकार के विवाह हुआ करते थे। सवर्ण विवाह में वर-वधू एक ही वर्ण के होते थे। अतः वर्ण-शुद्धि बनी रहती थी। जब वर-वधू भिन्न वर्ण के होते तो उसे असवर्ण विवाह की संज्ञा दी जाती थी। ये असवर्ण विवाह ही वर्ण-संकर की उत्पत्ति के मूल कारण प्रतीत होते हैं। असवर्ण विवाह के दो उपप्रकार हैं—अनुलोम और प्रतिलोम। अनुलोम विवाह में वर का वर्ण कन्या के वर्ण से और प्रतिलोम विवाह में कन्या का वर्ण वर के वर्ण से ऊंचा होता था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वर्ण-सांकर्य का सिद्धान्त भारतीय मेधा की उर्वरा शक्ति का प्रतीक है। वर्णचतुष्टय के अतिरिक्त अन्य जातियों के उद्गम को समझाने के लिए इस सिद्धान्त की कल्पना कालान्तर में की गई। इससे पूर्व 'पितृ सावर्ण्य' का सिद्धान्त प्रचलित था, जो एक आदर्श सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त के अनुसार पुत्र अपने पिता के वर्ण का ही माना जाता था, माता चाहे किसी भी वर्ण की हो। जिस प्रकार एक ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण माना जाता था, उसकी प्रकार क्षत्राणी अथवा वैश्या में ब्राह्मण से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही कहलाता था—

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातः ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।

क्षत्रियायां तथैव स्यात् वैश्यायामपि चैव हि॥

इसमें वर्ण-सांकर्य का कोई प्रश्न नहीं था। चारों वर्णों के अन्तर्गत मिश्र विवाह के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तति चार वर्णों के अन्तर्गत ही थी। सन्तति के वर्ण पर प्रधानतया पिता के वर्ण का प्रभाव होता था। चार वर्णों के अतिरिक्त कोई अन्य वर्ण था ही नहीं। ग्रन्थकार का स्पष्ट कथन है कि ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही होगा—

त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणात् ब्राह्मणो भवेत्।

स्म ताश्च वर्णाश्चत्वारो पंचमो नाधिगम्यते।

गोत्र एवं जातियाँ

गोत्र एवं जाति में स्वरूपतः पर्याप्त अन्तर है। गोत्र एक काल्पनिक पूर्वज पर आधारित असंगठित और काल्पनिक समूह है, जबकि जाति एक वास्तविक एवं संगठित समूह है। गोत्र एक बहिर्विवाही विभाजन है, जबकि जाति अन्तर्विवाही विभाजन है। अभिप्राय यह कि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार सगोत्रीय विवाह का निषेध तथा सजातीय विवाह का विधान है। महाभारत में अंगिरा, कश्यप, वशिष्ठ तथा भगु यह चार मूल गोत्र ही बताये गये हैं।

महाभारत के आरण्यक पर्व में आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, और्णिक तथा आभीर आदि म्लेच्छ जातियों का उल्लेख मिलता है—

बहवो म्लेच्छराजानः पथिव्या मनुजाधिपाः।

मिथ्यानुशासिनः पापा मषावादपरायणाः।।

आन्धाः शकाः पुलिन्दाश्च यवनाश्च नरधिपाः।

काम्बोजा और्णिका लुब्धस्तथाभीर नरोत्तम।।

इन जातियों को महाभारतकार ने कलियुग शासन करने वाली जातियाँ कहा है। महाभारत युद्ध में इन विभिन्न जातियों ने कौरवों की ओर से युद्ध किया था। हलायुध ने किरात, शबर, पुलिन्द आदि वन्यजातियों की गणना शूद्रों में ही की है। यह वस्तुतः समस्त प्रजातियों, जातियों और उपजातियों को परम्परागत वर्ण-व्यवस्था में स्थान देने का प्रयास था। किन्तु महाभारत के अनुसार ये मूलतः क्षत्रिय थे किन्तु ब्राह्मणों के शाप से वषल हो गए।

महाभारत में उक्त जातियों के अतिरिक्त प्रजातियों एवं संघाश्रित जातियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। सभापर्व में कायव्य, दरद, दार्व, शूर, यमक औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, वाल्हिक, काश्मीर, कुन्दमान, पौरक, हप्तकायन, शिवि त्रिगर्त, यौधेय, भद्र, कैकय अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य वस्त्रप, पहलव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अंग, बंग, पुण्ड्र, शाणवत्य आदि को उत्तम कुल में उत्पन्न शस्त्रधारी क्षत्रियों की संज्ञा दी गयी है। इन प्रजातियों के प्रतिनिधियों ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर को बहुत सा द्रव्य अर्पित किया था। दूसरी ओर भीष्म पर्व में अंग, बंग, कलिंग, यकृल्लोमन, मल्ल, सुदेष्ण, वाहीक, वाटधान आभीर, कालतोय पहलव आदि जातियों को शूद्र कहा गया है। विविध धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति ने भी इन प्रजातियों को शूद्रों की कोटि में रखा है। इन प्रजातियों को महाभारत में क्षत्रिय भी कहा गया है। महाभारत के परस्पर विरोधी कथन इस तथ्य की ओर स्पष्ट ही इंगित करते हैं कि महाभारतकाल में एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था, जिसका लक्ष्य शूद्रों की स्थिति को उन्नत बनाते हुए इन्हें अनेक सामाजिक अधिकार प्रदान करना था।

महाभारत में ऐसी अनेक आयुधजीवी जातियों का उल्लेख है, जो किसी न किसी संघ, गण अथवा निकाय के शासन में रहती थीं। अतः उन जातियों का नाम भी उन-उन संघों के नाम पर पड़ा। सुविधा की दृष्टि से इन जातियों को हम 'संघाश्रित जातियाँ' कह सकते हैं।

संघाश्रित जातियों के अन्तर्गत व्रात अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं। महाभारत में दारवाभिसार और

दरद जनपद के निवासियों को व्रात नाम से सम्बोधित किया गया है। पाणिनि ने 'व्रातेन जीवन्ति व्रातीनः' यह विशेष शब्द व्युत्पन्न किया है। यहां 'व्रात' का अर्थ उत्पीड़न अथवा लूटमार है, जैसे कि महाभाष्य में कहा गया है—'नानाजातीया अनियतव तयः उत्सेधजीविनाः संघा व्राता।- वासुदेवशरण अग्रवाल ने "व्रात" और श्रौत सूत्रों में उल्लिखित "व्रात्य" को अभिन्न माना है। इन व्रात्यों को वर्णाश्रम धर्म में दीक्षित करने के प्रयत्न भी किए जाते थे। व्रात्यस्तोम नामक यज्ञ का विधान इसी तथ्य का द्योतक है। कात्यायन के अनुसार व्रात्यस्तोम से यजन करने पर व्रात्यभाव छूट जाता है। इस प्रकार के यजन के पश्चात् आर्यों के साथ उनका सामाजिक व्यवहार खुल जाता था।

व्रात्यों के इस प्रकार के आर्यीकरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाज में विदेशियों को भी भारतीय वर्णाश्रम में दीक्षित करने की प्रथा विद्यमान थी। विदेशियों को भी विशिष्ट प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान के द्वारा वर्णाश्रम संस्था का अंग बना दिया जाता था। हूणों में भी ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वर्ण का अस्तित्व इस तथ्य की पुष्टि करता है। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि काल की प्रवहमानता के साथ विदेशी शनैः-शनैः भारतीय वर्णाश्रम-मर्यादा में सहजभाव से विलीन हो जाते थे। अन्धकव ष्णि संघ के विषय में कृष्ण का यह कथन कि 'हमारे कुल-संगठन में अभी तक अठारह सहस्र व्रात्य हैं'— इस तथ्य की पुष्टि करता है कि व्रात्यों अथवा विदेशियों को वर्णाश्रम-धर्मप्रधान समाज में परिगृहीत करने के लिए यजन अथवा अन्य धार्मिक अनुष्ठान अनिवार्य नहीं था। यह तो उपचार मात्र था, जिसका प्रयोग कभी-कभी किया जाता था।

आयुधजीवी जातियों में व्रात्य के अतिरिक्त पूग और श्रेणि भी उल्लेखनीय हैं। पूग नामक आयुधजीवियों का निवास सिन्धु-नद के दोनों तटवर्ती प्रदेशों में था। जीवन-स्तर की दृष्टि से व्रात्य और पूग—ये श्रेणि की अपेक्षा निम्न कोटि के थे। ये दोनों अपनी आजीविका के लिए प्रायः लूटमार एवं उत्पीड़न पर निर्भर थे। श्रेणि-समूह के लोग अपना निर्वाह कृषि तथा पशुपालन द्वारा करते थे। महाभारत में दुर्योधन की ओर से युद्ध करने वालों में अनेक श्रेणियों का उल्लेख है, जिनके सदस्यों की संख्या हजारों में थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत में अनेकानेक जातियों एवं प्रजातियों के अतिरिक्त संघाश्रित जातियों का भी उल्लेख है, जिनमें व्रात, पूग, श्रेणि और ग्रामणी ये चार विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये प्रादेशिक जातियां यथावसर शस्त्र-धारण करती थीं और श्रेणिबद्ध होकर अपने-अपने व्यवसाय में संलग्न थीं।

आश्रम व्यवस्था

आश्रम शब्द मूलतः संस्कृत की श्रम धातु से निष्पन्न है। वह स्थान जहां श्रम या प्रयत्न किया जाता है। दूसरे अर्थ में आश्रम वह स्थान है जहां इष्ट प्राप्ति के निमित्त जीवन यात्रा में एक निश्चित अवधि तक विश्राम करने के उपरांत पुनः आगे बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार आश्रम, मानवजीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष की यात्रा में विश्राम के स्थान हैं। महर्षि व्यास के कथनानुसार 'जीवन की चार अवस्थाएं (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास) एक सोपान की भांति हैं। यह सोपान मनुष्य को ब्रह्म की ओर ले जाता है, इस पर चढ़कर वह ब्रह्म के प्रदेश में प्रवेश कर जाता है। जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार अवस्थाओं में विभक्त करने वाले इस आश्रम सिद्धांत का प्रादुर्भाव किस समय हुआ? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। प्रो. डासन का विचार है कि आश्रम का गठन छांदोग्य उपनिषद् के समय में निर्माणावस्था में था। जिसमें ब्राह्मण, विद्यार्थी और गृहस्थ का वर्णन आया है। प्रो. रांयस डेविड्स का मत है कि चार आश्रम-बुद्ध और बौद्ध पिटकों के पश्चात् प्रचलित हुए क्योंकि पिटकों में इनका उल्लेख नहीं है। वे यहां तक कहते हैं कि चार आश्रमों के नाम भी प्राचीनतर उपनिषदों में नहीं पाये जाते। 'ब्रह्मचारिन्' शब्द कई स्थानों पर शिष्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। और दो-तीन स्थलों पर 'यति' शब्द संन्यासिन के अर्थ में आया है पर गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु का कोई उल्लेख नहीं। हां, इन चार आश्रमों का प्रथम प्रयोग गौतम व आपस्तम्ब

की विधि संहिताओं में मिलता है किन्तु यहां भी उनके व्यवस्थित स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। दूसरी ओर प्रो. जैकोबी प्रभृति विद्वान् ने जैन सूत्रों के अनुवाद की प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि चार आश्रमों का निर्माण जैन और बौद्ध मतों से पूर्व ही सम्पन्न हो चुका था, नरेन्द्र नाथ झा ने भी प्रमाण सहित जैकाबी के इस मन्तव्य का समर्थन किया है। प्राचीनतर उपनिषदों के समय तक आश्रम व्यवस्था के गुणधर्म भी निर्धारित हो चुके थे। अधिकांश विद्वानों का प्रायेण मत यही है कि उपनिषद् काल तक आश्रम बोधक भावना की आधारभित्ति निर्मित हो चुकी थी।

जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का प्रयोजन समाज में कार्यों का विभाजन था, उसी तरह आश्रम-व्यवस्था का प्रयोजन जीवन-पद्धति का निरूपण था।

जीवन-पद्धति को वैविध्यपूर्ण एवं अवस्थानुकूल बनाने हेतु तथा जीवन से एकसरता दूर करने के लिए और व्यक्ति के माध्यम से समाज के सर्वांगीण विकास के लिए भारतीय धर्मशास्त्रों ने जीवन को चार भागों में विभाजित किया है—‘शतायुरुक्तः पुरुषः’, आयुषस्तु चतुर्भागां। एतदनुसार चार आश्रमों का विधान अवस्थानुक्रम से किया गया है—ब्रह्मचर्य, ग हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। बौधायन, गौतम, वसिष्ठ, मनु आदि सभी ने इस क्रम से आश्रम-चतुष्टय का उल्लेख किया है।

इन आश्रमों के पालन के विषय में जाबालोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मचारी के बाद ग हस्थ, ग हस्थ के बाद वानप्रस्थी और वानप्रस्थी के बाद परिव्राजक या भिक्षु बनना चाहिए। यह एक साधारण क्रम था जिसका पालन अधिकांश लोग करते थे। इस क्रम का उल्लंघन भी पाया जाता है। अनेक लोग ब्रह्मचर्य के बाद सीधे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे, किन्तु यह व्यतिक्रम श्लाघ्य नहीं माना जाता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम चारों आश्रमों में प्रथम आश्रम है। इस आश्रम के अन्तर्गत आयु के प्रथम चरण में व्यक्ति को विद्या के अर्जन का अवसर प्राप्त होता था। वस्तुतः आयु के इस प्रथम चरण में व्यक्ति अपनी भावी लोकयात्रा की तैयार करता था।

यह वह काल था जिसमें ब्रह्मचारी साधना एवं संयम का, जप-तप का जीवन बिताते हुए अपने व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में लगा रहता था। इस आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी को अनेक विधि-निषेधों का पालन करना पड़ता था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार समिध-संग्रह एवं भिक्षा-वृत्ति प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए अनिवार्य थी। ब्रह्मचारी के लिए खाट पर सोना, गाना, नाचना इतस्ततः निष्प्रयोजन घूमना, थूकना आदि वर्जित था अथर्ववेद का कथन है कि ब्रह्मचारी अपनी मेखला, समिध एवं श्रमशीलता से संसार को तपोमय कर देता है। वह कृष्णाजिन पहनता है और दाढ़ी रखता है।

महाभारत में ब्रह्मचारी के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं। आश्वमेधिक पर्व में ब्राह्मण अपनी पत्नी को ब्रह्मचारी की परिभाषा इस प्रकार बताता है—

ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः।

अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः।

ब्रह्मभूतश्चरंल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्।।

अर्थात् इन्द्रिय संयम में प्रवृत्त रहने वाला पुरुष सदैव ब्रह्मचारी है। जो ब्रह्म से भिन्न व्रत और कर्मों त्याग कर केवल ब्रह्म में स्थित है तथा ब्रह्मस्वरूप होकर संसार में जो विचरता है वही ब्रह्मचारी है।

ब्रह्मचारी की परिभाषा करने के पश्चात् अगले श्लोकों में उस ब्राह्मण के मुख से ही महाभारतकार ब्रह्मचर्य के स्वरूप को प्रकट कराते हुए लिखते हैं—

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः ।

आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥

एतदेवेदं शं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्यं विदुर्बुधाः ।

अर्थात् ब्रह्म ही उसकी समिधा है। ब्रह्म ही अग्नि है। ब्रह्म ही जल है। ब्रह्म ही उसका गुरु है। उसकी चित्तव त्तियाँ सदैव ब्रह्म में लीन रहती हैं। इसी को विद्वानों ने सूक्ष्म ब्रह्मचर्य कहा है।

उपर्युक्त श्लोकों में ब्रह्मचारी और उसके व्रत ब्रह्मचर्य का जो स्वरूप स्पष्ट हुआ है उससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्म अर्थात् विद्या (वेद, ज्ञान) से बढ़कर और कोई व्रत या कर्म नहीं था। उसके समस्त व्रत और कर्म विद्यार्जन को ही समर्पित होते थे। उसे अपने भोजन वस्त्रादि के अर्जन के लिए किसी अन्य श्रम की आवश्यकता नहीं थी। उसके समस्त व्रत, कर्म और श्रम तो विद्या और विद्यादाता गुरु को ही समर्पित थे। ब्रह्मचारी को इन्द्रिय संयम पूर्वक अपना समस्त सामर्थ्य विद्या के अर्जन में ही लगाना होता था।

ग हस्थाश्रम

आश्रम व्यवस्था के क्रम में द्वितीय किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग ह आश्रम है। इस आश्रम को धर्मशास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। महाभारत में रूपकों के माध्यम से इस आश्रम की सर्वोपरिता पर प्रकाश डाला गया है। यथा— वेदों के ज्ञाता मनीषियों ने एक समय चारों आश्रमों को तुला पर रखकर तोला था जिसके एक पलड़े पर ग हस्थाश्रम था और दूसरे पलड़े पर शेष तीन आश्रम जिस पर भी यह गुरुतर सिद्ध हुआ। जिस प्रकार सागर नद-नदियों का अंतिम आश्रय स्थल है उसी प्रकार ग हस्थाश्रम भी अन्य आश्रमों का आश्रयदाता व पोषक है। इसके अभाव में समाज निर्जीव और जड़ हो जाता है और जिस समाज में अच्छे ग हस्थ न हों उससे अधिक दुर्भाग्यशाली और कोई दूसरा समाज नहीं। जिस प्रकार सारे जीव माता का आश्रय लेकर जीवन-यापन करते हैं वैसे ही ग हस्थाश्रम का अन्य आश्रम आश्रय लेते हैं। गुरुकुल निवासी ब्रह्मचारी, व्रत, नियम तथा धर्म का पालन करने वाले वानप्रस्थी और सर्वत्र विचरने वाले संन्यासी इसी आश्रम से भिक्षा, दान आदि पाकर अपने धर्म पालन में प्रवृत्त रहते हैं।

ग हस्थाश्रम के तीन प्रमुख विधान हैं: पंच महायज्ञ, पंच दक्षिणा यज्ञ और ऋण चतुष्टय से निवृत्ति। इनकी निवृत्ति के लिए ग हस्थ उस प्रवृत्ति धर्म को अंगीकार करता है जिसकी छत्रछाया में उसे धनोपार्जन करना पड़ता है। ऐसे उपार्जित द्रव्य के तीन भाग होते हैं। ग हस्थ पहले भाग को धर्म और अर्थ सिद्धि के लिए व्यय करता है, दूसरे भाग का उपभोग वह अपनी आवश्यकताओं के लिए करता है और तीसरे भाग को वह परिवार संचालन के लिए भविष्य निधि के रूप में संचित करता जाता है। पंच यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं ब्रह्म यज्ञ, दैव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ और न यज्ञ। अध्ययन ब्रह्म यज्ञ कहलाता है। होम देव यज्ञ है। तर्पण पितृ यज्ञ है। जीवों को बलि अर्थात् भोजन देना भूत यज्ञ है और अतिथि सत्कार न यज्ञ है।

पंच दक्षिणा यज्ञ अतिथि सत्कार से सम्बद्ध हैं। अतिथि के लिए पैर धोने के लिए जल, बैठने के लिए आसन, प्रकाश के लिए दीप आदि, भोजन के लिए अन्न और ठहरने के लिए स्थान। ये पाँच दक्षिणा यज्ञ कहे गये हैं।

ऋणचतुष्टय से मुक्त होना भी ग हस्थियों का मुख्य कर्तव्य है। वे चार ऋण हैं—

पितृ ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण और मनुष्य ऋण। पुत्र प्राप्ति से पितृ ऋण पूर्ण होता है। यज्ञों द्वारा देवताओं को तर्पण करके मनुष्य देव ऋण से उन्मूक्त होता है। स्वाध्याय और तपस्या द्वारा ग हस्थ ऋषि ऋण को पूर्ण करता है तथा अतिथि सत्कार द्वारा ग हस्थ मनुष्य ऋण से उन्मूक्त होता है।

उपर्युक्त प च महा यज्ञ तथा प च दक्षिणा यज्ञ वस्तुतः ऋणचतुष्टय से मुक्त होने के साधन हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत के अनुसार अपनी ही स्त्री पर-प्रेम रखना, सदा सत्पुरुषों के आचार का पालन करना और जितेन्द्रिय होना ग हस्थ के लिए परम आवश्यक है।

इस दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ग हस्थाश्रम की महत्ता केवल श्रेष्ठ आश्रम के रूप में अन्य आश्रमों को साधने वाले आश्रम के रूप में बढ़ा-चढ़ाकर नहीं बताई गई है न ही ग हस्थ की झूठी प्रशंसा में कुछ कहा गया है। इस आश्रम की प्रशंसा में यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि जो ग हस्थ, ग हस्थाश्रम के समस्त कर्तव्य निभाता है उसे अन्य आश्रमों में प्रवेश करने की चिंता नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह इसी आश्रम में अर्जित पुण्य से स्वर्ग प्राप्त कर लेगा।

वानप्रस्थाश्रम

व द्वावस्था में उचित अवसर पर ग हस्थ का वन की ओर प्रस्थान ही वानप्रस्थ है। इस परियोजना के प्रारंभिक संकेत उपनिषदों के पूर्व ब्राह्मणों में भी दूढ़े गये हैं। सांसारिक बंधनों से विरक्ति की भावना संस्कृति के दार्शनिक चिंतन उपनिषदों के रचना काल से ही प्रबल थी जबकि लोग दारैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि को छोड़कर यति जीवन की कामना करते थे। इस आश्रम के उपयुक्त अवसर के विषय में व्यास का मत है कि 'ग हस्थ जब देखे कि उसके केश श्वेत हो चुके हैं, शरीर में झुर्रिया पड़ गई हैं। और पुत्र के भी पुत्र हो चुके हैं तो वह वन की शरण लें। मनु का भी यही विचार है। ब्रह्मा ने महर्षियों को यह गुह्य रहस्य समझाया है कि ग हस्थ, व द्वावस्था में संस्कारों से शुद्ध होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए, ग ह के ममत्व को त्याग ग्राम से निकल कर वन में निवास करे। वानप्रस्थी वन को ही अपना सर्वस्व समझता था और उसे ग हस्थ की भांति अग्निहोत्र और पंचमहायज्ञादिक अनुष्ठान संपन्न करने के अधिकार भी मिले थे वानप्रस्थ द्वन्द्व का जीवन था-प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध व्यक्ति के मनोबल के द्वन्द्व का। वर्षा में खुले मैदान में सोना, शीत में रात्रि को जल में बैठना, ग्रीष्म में पंचाग्नि का सेवन-ये ही वानप्रस्थी के कृत्य थे। ययाति ने वानप्रस्थ के धर्म पालन को सरलता, समाधि और श्रेष्ठ आचरण वाला जीवन कहा है। ग हस्थ से भिन्न वानप्रस्थी की चार भिन्न जीविका वृत्तियाँ हैं, व्यास के शब्दों में ये सद्य संचय, मासिक संचय, वार्षिक संचय और द्वादश वर्षीय संचय। अनुशासन पर्व में व्रत, तप व स्वाध्याय में सपत्नीक सलंगनसमाधिस्थ, तीर्थाटन करने वाले, उपवास द्वारा शरीर को कृश करने वाले, काम, क्रोधरहित, क्षमा, कपोत वृत्ति को अपनाने वाले जल और वायु के सेवन से ही जीवित रहने वाले और पशुओं के साथ रहने वाले, शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों से रहित, सत्यवादी, धर्मज्ञ और अपने तपोबल से संसार को स्थित रखने वाले, सम्यक् सिद्ध यायावर, चक्रधारी या शाकरिक और वैखानस प्रभृति वानप्रस्थियों का उल्लेख मिलता है। काम-क्रोध पर विजय प्राप्त कर, सभी आर्ष धर्मों में इन्द्रिय द्वारा आत्म बोध प्राप्त कर ईश्वर साक्षात्कार के ध्येय से ही ग हस्थ का इस आश्रम में प्रवेश अनिवार्य माना गया था।

संन्यासाश्रम

वानप्रस्थी और संन्यासी दोनों के लिए मनु ने प्रारंभिक साहित्य की भांति मुनि शब्द का ही प्रयोग किया है। सर्वकाम होकर केवल ब्रह्म का चिंतन करने वालों को उपनिषदों में ब्रह्मसंस्थ कहा गया है। महाभारत में संन्यासाश्रम में प्रवेश करने वालों के विषय में कहा गया है कि वे अग्निहोत्र, धन, स्त्री, परिवार के प्रति विमुख हो जाते हैं। धर्म, अर्थ और काम में भी प्रवृत्ति नहीं होती। शत्रु मित्र और जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति उनका समभाव होता है वे कहीं भी स्थायी निवास नहीं करते तथा सर्वत्र विचरते हैं। विजातियों से प्राप्त भिक्षा से ही उदर पूर्ति कर संतुष्ट हो जाते हैं। संन्यासी के लिए दो बातें पर्याप्त थीं-नग्नता को ढांकने के लिए वस्त्र और प्राण रक्षा मात्र के लिए अन्न। वानप्रस्थी तो संचय भी कर सकता था किन्तु संन्यासी के लिए समस्त संचय प्रतिबंधित थे क्योंकि संचय से इच्छाएं उद्दीप्त होती हैं। अतः जैसे कछुआ अपने समस्त अंगों को समेट लेता है वैसे ही

संन्यासी को भी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर संपूर्ण तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। संन्यासी से न तो जीवन के अभिनंदन की आशा की जाती है और न मृत्यु के भय के शोक। जिस प्रकार सेवक स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है उसी प्रकार संन्यासी को काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए। नैतिक आचरण के सारे नियम जो हिंसा और कामना से युक्त हैं संन्यासी के लिए वर्जित थे वह न ऐसे लौकिक कर्म स्वयं कर सकता था और न दूसरों से करवा सकता था। महाभारत में संन्यासी द्वारा आत्महत्या को नैतिक माना गया है। शांतिपर्व में कहा गया है कि संन्यासी अग्नि में प्रवेश कर पहाड़ से कूद कर महायात्रा में गलकर प्राण त्याग कर सकता है।

आपस्तम्ब ने संन्यासी का एकमात्र गुण मौन चिंतन माना था। महाभारत में भी संन्यासी के लिए मौन भाव, रोग से मुक्ति दिलाने वाली एक औषध मानी गई है। किन्तु उद्योग पर्व में एक विरोधी स्वर भी सुनाई पड़ता है कि मौन रहने अथवा जंगल में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञाता ही श्रेष्ठ मुनि है। अनुशासन पर्व में कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस इन चार कोटियों के संन्यासियों का उल्लेख आया है जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठता क्रम में महान् हैं। महाभारत के अनेक पर्वों में ब्रह्मत्व प्राप्ति को संन्यासाश्रम का एकमात्र लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस आश्रम का दूसरा नाम क्षेमाश्रम (कल्याण प्राप्ति का स्थान) भी है।

महाभारतकालीन आश्रम व्यवस्था की समीक्षा से यह ज्ञात होता है कि जीवन के इन चार आश्रमों में समाज और व्यक्ति के कर्तव्य परस्पर भिन्न एवं पर्व निश्चित हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में समाज का कर्तव्य है कि वह अपने शिक्षारत स्नातकों की देखरेख करे और स्नातक के लिए यह सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से तटस्थता का काल है। दूसरे गृहस्थाश्रम में व्यक्ति को समाज और राज्य की देखभाल करनी पड़ती है वह निसंग जीवन नहीं बिता सकता क्योंकि वह समाज का न्यासी और प्रबंधक है और पंच महायज्ञ, पंच दक्षिणयज्ञ, पुरुषार्थ त्रिवर्ग एवं ऋण चतुष्टय के लिए उत्तरदायी है। इस स्थिति में समुदाय का भी यह कर्तव्य है कि व्यक्ति को पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, दैहिक तथा आत्मिक विकास के अवसर के साथ ही व्यक्ति से वैसा अवसर प्राप्त करे ताकि वह अपने उपर्युक्त कर्तव्यों को निभा सके। तीसरे वानप्रस्थाश्रम को व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए तटस्थता का युग माना जाता है। तीसरा और एक सीमा तक चौथा संन्यासाश्रम व्यक्ति से यह अपेक्षा करता है कि ब्रह्म के विषय में चिंतन करें। समूह के प्रति व्यक्ति का कर्तव्य विरल होता है जबकि चौथे आश्रम में व्यक्ति जोकि अपने सामाजिक कर्तव्यों से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है उसका एक मात्र ध्येय रहता है आत्म चिंतन और ब्रह्म ज्ञान।^{६८}

आधुनिक जीवन की सामाजिक व्याधि के कारण वानप्रस्थ और संन्यास ये दो आश्रम उस सांस्कृतिक विचारधारा से कट गये हैं जिसने कभी जीवन को चार भागों में वर्गीकृत कर उसके आत्मिक और भौतिक पक्षों में संतुलन स्थापित किया था किन्तु ऐसा इस युग में ही हुआ हो ऐसा नहीं था। पुराणों ने भी शरीर के प्रति उपेक्षा भाव तो अपनाया अवश्य परंतु वानप्रस्थ की बढ़ती हुई जटिल नियमपरकता ने गृहस्थ के बढ़ते कदमों को वहीं रोक दिया। महाभारत काल में 'ब्रह्मचारी', गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी यदि निष्ठापूर्वक अपने धर्म का पालन करें तो वे मोक्ष को प्राप्त होंगे, यह एक निवेदन मात्र रह गया। यद्यपि उस काल में 'आश्रम द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी के लिए अधिकारों का स्थानांतरण आसानी से हो जाता था परंतु सभी लोग आदर्शवादी नहीं थे और बहुत से लोग अवकाश प्राप्ति के समय भी शक्ति और सांसारिक आनंद से चिपके रहते थे।

विवाह एवं परिवार

भारत में वैदिक काल से ही समाज में विवाह और उस पर आधारित परिवार जैसे सामाजिक संस्था का विकास हो चुका था। महाभारत में विवाह इतना महत्त्वपूर्ण पवित्र धार्मिक अनुष्ठान माना गया है कि उसका प्रथम अध्याय विवाह की अपरिहार्य आवश्यकता के वर्णन से आरंभ होता है।

बहुत से विद्वानों की दृष्टि में महाभारत पूर्व समाज में कामाचार विद्यमान था। महाभारतकाल में भी

कामाचार और उसके लुप्त होते हुए प्रभाव का प्रकाशन करने के लिए वे विद्वान् प्रायशः अधोलिखित तीन कथाओं का आश्रय लेते हैं।

पहली कथा के अनुसार शापग्रस्त रोगी पाण्डु ने जब वंश की रक्षा के लिए अपनी पत्नी कुन्ती को किसी पर-पुरुष के साथ समागम (नियोग) द्वारा संतान उत्पन्न करने को कहा तो कुन्ती ने कातर होकर उसे पाप कहा। तब पाण्डु ने उन्हें यह कहकर आश्वस्त किया कि प्राचीन काल में स्त्रियां निर्वस्त्र होकर इच्छानुसार रमण करती थीं। उनका यह स्वैराचार सामाजिक दोष न होकर युगधर्म के रूप में निहित था। कुरु में ऋषियों द्वारा अनुमोदित यह प्रथा अभी भी प्रचलित है।

दूसरी कथा के अनुसार जब एक अज्ञात कुल वाला ब्राह्मण श्वेतकेतु की माता को उनके पिता की उपस्थिति में ही कहीं ले गया और पिता ने आक्षेप करने की अपेक्षा रूष्ट पुत्र को निर्लिप्त भाव से यह समझाया कि स्त्रियां तो गाय की भांति स्वैराचारिणी होती हैं— क्रोध व दुख से अभिभूत श्वेतकेतु ने तत्काल यह नियम बनाकर विवाह को सामाजिक गरिमा प्रदान की कि 'आज से कोई स्त्री पुरुष स्वच्छन्दाचरण को प्रश्रय नहीं दे पाएंगे। इस नियम का उल्लंघन करने वाले भ्रूण हत्या के भागी होंगे।

तीसरी कथा के अनुसार परस्त्री में आसक्त जन्मांध ऋषि दीर्घतमा के आचरण से रूष्ट होकर जब उनकी पत्नी द्वेषी ने उन्हें व उनके पुत्रों को दुकरा दिया तब दीर्घतमा ने नियम बनाया कि कोई भी नारी एक ही पति पर आजीवन आश्रित रहेगी। पति के जीवित रहने या मृत्यु के अनंतर अन्य पुरुष का आश्रय लेने वाली स्त्री सामाजिक निन्दा की पात्र होगी। पतिहीन नारी तो समस्त उपभोगों एवं ऐश्वर्यों से वंचित हो जावेगी।

उपर्युक्त कथाओं के प्रसंग और सन्दर्भ पर विचार करके डा. नत्थूलाल गुप्त अपने ग्रन्थ महाभारत: एक समाजशास्त्रीय अनुशीलन में लिखते हैं कि ये कथानक नियोग के औचित्य को सिद्ध करने के लिए गढ़े गये हैं जो कि सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होते हैं।

महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि सृष्टि के आदिकाल में ही स्वयंभू मनु ने आठ प्रकार के विवाहों की व्यवस्था की। ये हैं— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गंधर्व, राक्षस व पैशाच। अष्टविध विवाह का उल्लेख महाभारत में परम्परा पालन के रूप में परिलक्षित होता है। व्यवहार में पंचविध विवाहों का ही प्रचलन था— ब्राह्म, क्षात्र, गन्धर्व, पैशाच और आसुर। इन पंचविध विवाहों में से तीन (ब्राह्म, क्षात्र और गान्धर्व) को प्रशस्त और दो (पैशाच तथा आसुर) को अप्रशस्त माना गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि धर्मसूत्रकारों ने क्षात्र विवाह का उल्लेख नहीं किया, किन्तु महाभारत में क्षात्र विवाह का उल्लेख प्रशस्त विवाह के रूप में किया है। सूत्रकारों ने आठ प्रकार के विवाहों को दो भागों में विभक्त किया है— प्रशस्त तथा अप्रशस्त। प्रथम चार प्रकार प्रशस्त हैं और शेष अप्रशस्त। इन आठ प्रकारों में प्रथम सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। इसीलिए उसे ब्राह्म की संज्ञा दी गई। पांचवे (आसुर) तथा छठवें (गान्धर्व) को भी समाज किसी तरह सह लेता था, किन्तु अन्तिम दो-राक्षस तथा पैशाच-नितान्त गहिंते थे। भारतीय विवाह-संस्था के इतिहास में आठों प्रकार के विवाहों को कभी प्रशस्त नहीं माना गया। महाभारत-काल में इन आठों का अस्तित्व रहा होगा। अतः सिद्धान्तः उनका नाम-निर्देश किया गया है, किन्तु प्रचलन की दृष्टि से उपर्युक्त पांच प्रकार ही मुख्य माने जाते थे।

विवाह की इन आठ पद्धतियों के विषय में दुष्यंत और भीष्म के विचारों में मौलिक अंतर है वर्ण और धर्म का। वर्ण भेद के अनुसार विवाह प्रकार का विभाजन करते हुए दुष्यंत ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य ये विवाह ब्राह्मणों के लिए प्रशस्त हैं। क्षत्रियों के लिए इनके अतिरिक्त राक्षस और गान्धर्व भी प्रशस्त माने गये हैं। वैश्य और शूद्र आसुर विवाह भी कर सकते हैं किन्तु पैशाच विवाह का समर्थन शास्त्रानुमोदित नहीं है। भीष्म अष्टविध विवाह की मीमांसा न करते हुए केवल पांच पद्धतियों, ब्राह्म, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर और राक्षस का उल्लेख करते हैं।

इनमें पूर्व कथित क्रमशः तीन विवाहों को उन्होंने धर्मानुकूल कहा है और शेष दो को निकृष्ट। उनकी इस उक्ति से कि ब्राह्म, प्राजापत्य (क्षत्र) तथा गांधर्व ये तीन धर्मानुकूल विवाह पथक् हों या मिश्रित करने योग्य हों इसमें संशय नहीं, यह आशय निकलता है कि उन्होंने महाभारत और स्मृतिकथित दैव और आर्ष का ब्राह्म के अन्तर्गत समावेश कर लिया है। संभवतः इसी प्रकार असुर व राक्षस में उन्होंने पैशाच का अन्तर्भाव किया है।

ब्राह्म विवाह

किसी सुयोग्य वर को अपने घर आमन्त्रित करके विधिपूर्वक उसे अपनी अलंकृत कन्या अर्पित करना ब्राह्म विवाह कहलाता है। वयस्कावस्था में सम्पन्न ब्राह्म विवाह में कन्या की सम्मति आवश्यक होती थी।

आर्ष

मनु के अनुसार वर से एक अथवा दो गाय-बैल की जोड़ी लेकर विधिवत् कन्यादान को आर्ष विवाह कहते हैं। महाभारत ऐसे विवाह का निषेध करता है। महाभारत के अनुसार शुल्क न्यून हो अथवा अधिक आखिर वह शुल्क ही है। एक प्रकार से यह कन्याविक्रय ही है, जो कि निन्द्य है—

आर्षं गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मथैव तत्।

अल्पं वा बहु वा राजन् विक्रयस्तावदेव सः।।

आसुर—

मनु के अनुसार कन्या के घरवालों तथा कन्या को धन देकर स्वतन्त्रतापूर्वक किए गए विवाह को आसुर विवाह कहते हैं। इसमें एक प्रकार से कन्या का विक्रय होता है। इसलिए मानव-गृह्यसूत्र में इसे शौल्क विवाह भी कहा है। आर्ष विवाह को इसी का परिवर्तित अथवा अवशिष्ट रूप कह सकते हैं, जिसका कि महाभारत में निषेध किया गया है।

महाभारत से विदित होता है कि भीष्म ने कुरु राजकुमारों के लिए क्रय द्वारा पत्नियां प्राप्त की थीं। एक बार जब वे शल्य के पास इस उद्देश्य से पहुंचे तो शल्य बड़े असमंजस में पड़ गए, किन्तु परिस्थिति की गम्भीरता के कारण कन्या-शुल्क मांगने की इस प्रथा को समाप्त करने का साहस उनमें न था। महाकाव्य के इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि जनमत इस प्रथा के पक्ष में नहीं था। कन्या-शुल्क की खुलकर निन्दा की गई है। महाभारतकार का आदेश है कि भार्या का क्रय अथवा विक्रय किसी भी प्रकार न होना चाहिए। जो भार्या को दासी की भांति खरीदते अथवा बेचते हैं, उन पापात्मा लोभी लोगों में ही इस प्रकार के क्रय-विक्रय का निर्णय होता है—

न चैव भार्या क्रेतव्या विक्रेतव्या कथंचन।

ये च क्रीणन्ति दासीवत् विक्रीणन्ति तथैव च।

भवेत्तेषां तथा निष्ठा लुब्धानां पापचेतसाम्।।

उपर्युक्त कथन इस तथ्य का ख्यापक है कि समाजसुधारकों के तीव्र आन्दोलन के फलस्वरूप इस कुप्रथा का क्रमशः लोप होने लगा था। शल्य-भीष्म संवाद से भी यही बात स्पष्ट होती है। शल्य सिद्धान्ततः कन्या-शुल्क के पक्ष में नहीं है, किन्तु कुल परम्परा के पालनार्थ वे अपनी बहन माद्री के विवाहावसर पर अत्यन्त संकोच के साथ भीष्म से विक्रय-मूल्य मांगते हैं। संभवतः ऐसे ही रुढ़िप्रिय लोगों के समाधान के लिए व्यवस्थाकारों ने मध्यम-मार्ग के रूप में 'एकं गोमिथुनं द्वे वा' का औपचारिक विधान किया, जिसकी परिणति आर्ष विवाह के रूप में हुई।

गान्धर्व-

गान्धर्व तथा राक्षस ये दोनों सम्मिलित रूप से अथवा पथक्-पथक् क्षत्रियों के लिए धर्मानुमोदित कहे गए हैं। इतना ही नहीं कण्व ने क्षत्रिय के लिए गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ बताया है। उनके अनुसार

परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुषों का एकान्त में बिना मन्त्र का विवाह गान्धर्व विवाह समझा जाता है—

क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते।

सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः॥

शकुन्तला-दुष्यन्त का विवाह इसी प्रकार का है। आधुनिक शब्दावली में इसे 'प्रेम विवाह' अथवा 'प्रणय-विवाह' कहा जा सकता है इस प्रकार के विवाह में वर-वधू दोनों की यौवनावस्था अपेक्षित होती है।

राक्षस

महाभारत के अनुसार कन्या-पक्ष के लोगों को मार-काट तथा घायल करके रोती-चिल्लाती कन्या को बरबस हरण करने को राक्षस विवाह कहते हैं—

हत्वा छित्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गहात्।

प्रसह्य हरणं तात राक्षसं धर्मलक्षणम्॥

विशुद्ध राक्षस प्रकार के विवाह का उदाहरण महाभारत में नहीं है, किन्तु स्वयंवर-मिश्रित राक्षस का उदाहरण अवश्य मिलता है। ऐसे विवाह को राजाओं के लिए अत्यन्त गौरवास्पद बताया है। भीष्म द्वारा काशिराज की कन्याओं (अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका) का उनके स्वयंवर में से अपहरण इसी प्रकार का उदाहरण है। अर्जुन-सुभद्रा-विवाह भी इसी कोटि में रखा जा सकता है।

पैशाच

किसी सोयी हुई मदिरा पीकर मतवाली एवं पगली कन्या को पकड़ ले जाकर एकान्त में किए गए विवाह को पैशाच विवाह कहते हैं। मनु ने अष्टविध विवाहों में इसे अधम कहा है। महाभारतकार ने इस प्रकार के विवाह को अप्रशस्त मानकर इसका सर्वथा निषेध किया है—“पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यो कथंचन”। अनुशासन पर्व में उल्लिखित पंचविध विवाहों में भी इसका उल्लेख किया गया है। किन्तु निश्चयपूर्व यह नहीं कहा जा सकता कि पैशाच प्रकृति के विवाह समाज में प्रचलित थे। महाभारत में इसका कोई उदाहरण भी उपलब्ध नहीं है।

अनुलोम व प्रतिलोम विवाह

वैदिक काल से ही भारतीय परम्परा में सवर्ण विवाह वर्तमान काल की भांति श्रेष्ठ समझे जाते रहे हैं। असवर्ण विवाह से विवाह के दो प्रमुख वर्ग हो गये अनुलोम व प्रतिलोम। विवाह के लिए निम्नतर वर्णों की कन्याओं का वरण अनुलोम है और निम्न वर्ण वालों का अपने उच्चतर वर्णों की कन्याओं का ग्रहण प्रतिलोम विवाह है।

महाभारत के आदि पर्व में पाराशर सत्यवती के अनुलोम विवाह का प्रसंग आता है। वनपर्व में अगत्स्य और लोपामुद्रा, ऋष्यश्रंग और शांता, ऋचीक और गाधिकन्या, जमदग्नि व रेणुका तथा च्यवन और सुकन्या का विवाह मात्र द्विजातियों में अनुलोम विवाह की पुष्टि करता है। किन्तु शांतिपर्व के एक मध्यदेशीय ब्राह्मण गौतम का एक शूद्रा से विवाह का उल्लेख है जो पहले भी किसी दूसरे के साथ विवाह संसर्ग स्थापित कर चुकी थी। आदि पर्व में भी एक ब्राह्मण द्वारा निषाद पत्नी के ग्रहण का विवरण प्राप्त होता है। महाभारतकाल में शूद्रा को ग्रहण करने वाला द्विज सामाजिक निंदा व विगर्हणा का पात्र समझा जाता था।

परिवार

महाकाव्य-काल तक परिवार जैसी सामाजिक संस्था के प्रतिमान स्थिर हो चुके थे। संयुक्त पारिवारिक सत्ता में ग हस्वामी का प्राधान्य स्थापित हो चुका था। महाभारतकालीन पित सत्तात्मक परिवार में परिवार के सभी सदस्य ग हस्वामी की सर्वोच्च सत्ता का आदर करते थे। परिवार की

सच्ची उन्नति के सोपानों पर पर्याप्त विचार-मन्थन हो चुका था। उद्योग-पर्व (प्रजागर पर्व) में ध तराष्ट्र विदुर से कहते हैं— मैंने सुना है कि जो धर्म और अर्थ में बढ़े-चढ़े हैं, जो बहुत पढ़े-लिखे हैं वे भी महाकुल की प्रशंसा करते हैं। हे विदुर मैं जानना चाहता हूँ कि महाकुल कैसे बनते हैं? इस पर महाकुल की विशेषताएं बताते हुए विदुर कहते हैं— तप, दम, ब्रह्म-ज्ञान, या, सदा अन्नदान, शुभविवाह और सम्यक् आचार-इन सात गुणों से साधारण परिवार भी महाकुल बन जाते हैं। जिन कुलों में सदाचार का पालन होता है वे अल्पधन होने पर भी महाकुलों में गिने जाते हैं—

कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः।

परिवार के प्रमुख घटक हैं- पति, पत्नी और सन्तान। अन्य सम्बन्धियों को भी सम्मिलित कर लेने से परिवार एक संयुक्त इकाई बन जाती है। ब हदारण्यक उपनिषद् द्वारा परिवार में पति-पत्नी के मनोवैज्ञानिक ऐक्य का बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है। पुरुष मूलतः एक था। जब उसे एकाकी जीवन निरानन्द लगा तब उसने द्वितीय की कामना करते हुए स्वयं को दो भागों में विभक्त किया। ये दोनों पति-पत्नी बन गये। बिछुड़ने पर उसी प्रकार है जिस प्रकार एक सीपी के दो हिस्से किन्तु मिल कर वे एक पूर्ण इकाई हैं।

महाभारत में भी इसी प्रकार का भाव प्रकट करते हुए कहा गया है कि पत्नी, पति की अर्धांगिनी, सर्वश्रेष्ठ मित्र, धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष का साधन है। क्रोधावेग में पत्नी को कुछ न कहना चाहिए क्योंकि आनन्द, साम जस्य और धर्म सभी पत्नी पर निर्भर हैं।

महाभारतकार ने पारिवारिक ऐक्य के ऊपर विशेष बल दिया है। “अन्धैः साकं विरोधे तु वयं पंचोत्तरं शतम्” यह उसका आदर्श है। घोष-यात्रा प्रसंग में युधिष्ठिर भीम को समझाते हुए कहते हैं कि भाई-बन्धुओं में मतभेद होता है, कभी परस्पर कलह भी होता है, किन्तु इससे एक-दूसरे के प्रति उनके कर्तव्य नष्ट नहीं होते-

भवन्तिभेदा ज्ञातीनां कलहाश्च व कोदर।

प्रसक्तानि च वैराणि ज्ञातिधर्मो न नश्यति।।

पारस्परिक कलह को टालने के लिए यह कहा है कि माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री पत्नी आदि किसी से भी विवाद नहीं करना चाहिए-

माता पित्रभ्याम् जामीभिः भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।

दुहित्या दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।।

पित सत्तात्मक परिवार में परिवार के भरण-पोषण तथा रक्षण का दायित्व गृहपति पर होता था। महाभारत में चिरकारी ने पिता की महिमा का सुन्दर वर्णन किया है— “पिता अपने शील, चरित्र, गोत्र और कुल की रक्षा के लिए अपने आपको पत्नी में धारण करता है, उसी से सन्तान उत्पन्न होती है। जात कर्म एवं उपाकर्म के समय पिता जो कुछ कहता है, पिता का गौरव निश्चय करने में वह पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है। पोषण एवं शिक्षण देने वाला पहला गुरु (पिता) ही परम धर्म है। पिता जैसी आज्ञा दे, वही धर्म है, यह बात वेदों में भली प्रकार निश्चित है। पिता के लिए पुत्र प्रीति मात्र है, किन्तु पुत्र के लिए पिता सब कुछ है। शरीर आदि जो कुछ देय पदार्थ है, उन्हें केवल पिता ही पुत्र को प्रदान करता है। अतः पिता के वचन का पालन करना चाहिए। जो पिता के वचन का पालन करते हैं, उनके पाप धुल जाते हैं। पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता परम तप है, पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न होते हैं।” परिवार में पिता को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

महाभारतकाल में पुत्री की अपेक्षा पुत्र की आकांक्षा अधिक की जाती थी। कहा गया है कि पुत्र अपना आत्मा है, पत्नी मित्र है, किन्तु पुत्री निश्चय ही संकट है। वैदिक युग में भी हमें इस प्रकार के संकेत मिलते हैं। इनका स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि आर्यों के लिए युद्धादि में पुत्री की अपेक्षा पुत्र का अधिक उपयोग होता था। जो पुत्र इस लोक में दुर्गम संकट से पार लगाये अथवा

म त्नु के पश्चात् परलोक में उद्धार करे-सब प्रकार से पिता को तार दे, उसे ही विद्वानों ने वास्तव में पुत्र कहा है—

इह वा तारयेद्गर्गादुत वा प्रेत्य तारयेत्।

सर्वथा तारयेत्पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।।

कुटुम्ब में शान्ति एवं सौख्य स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। स्त्रियां घर की लक्ष्मी मानी जाती थीं और विशेष रूप से रक्षणीय भी। उन्हीं में रति, प्रीति तथा धर्म निहित है, अतः उनसे कटुवचन अथवा अप्रिय भाषण न करना चाहिए। उसका पूजन-लालन करना चाहिए—“पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप।” नारी को भी इस प्रकार का आदर प्राप्त करने के लिए अपने शील तथा सद्गुणों से घर की सौख्य वृद्धि का उत्तरदायित्व अपनाना पड़ता था। सुस्वभाव, सुवचन, वाली अनन्य स्वामिभक्त तथा सुमुखी नारियां परिवार में यथेष्ट आदर पाती थी।

माता-पिता अपकारी होने पर भी अवध्य माने जाते थे। गौतम ऋषि के पुत्र चिरकारी ने उसके पिता का वेष धारण कर जाने वाले इन्द्र को आत्मदान करने वाली अपनी माता अहिल्या के वध के लिए पिता से आदेश पाने पर माता की गरिमा का सुन्दर वर्णन किया है—“माता जैसी शीतल छाया, आश्रय-स्थान, रक्षा-स्थान या प्रिय वस्तु नहीं है। वह सन्तान को जन्म देने से जननी, उसके अंगों के पुष्टिवर्धन से अम्बा और वीर सन्तानों को पैदा करने से वीरसू है। माता ही सब पीड़ितों का सुख है। उसके रहने पर सब सनाथ और न रहने पर अनाथ हो जाते हैं। माता से विमुक्त होने पर पुरुष वृद्ध और दुःखी होता है और उसके लिए जगत् शून्य हो जाता है।” वस्तुतः मात वध महापातकों में गिना जाता था। भारतीय साहित्य में इसका केवल एक दृष्टान्त परशुराम द्वारा रेणुका का वध है। “नास्ति मात समो गुरुः” यह महाभारत का आदर्श है।

पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों पर परिवार का वातावरण निर्भर था। जिस कुल में पति-पत्नी एक-दूसरे से पूर्ण सन्तुष्ट हों तथा उनके सम्बन्ध सौख्यपूर्ण हों उस कुल में सब कल्याण ही दिखाई देते हैं।

यो भर्ता वासितातुष्टो भर्तुस्तुष्टा च वासिता।

यस्मिन्नेव कुले सर्वं कल्याणं तत्र वर्तते।।

ऐसे ही परिवार में भाई-बहन परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे, यथा-गान्धारी और शकुनि, द्रौपदी और उसके भाई-बहनों के विवाह में भाईयों का महत्त्वपूर्ण योग होता था। शकुनि तथा धृष्टद्युम्न ने अपनी बहनों के विवाह में प्रमुख रूप से कार्यभार उठाया था। परिवार के शान्ति तथा सौख्यपूर्ण वातावरण में नारी की रक्षा वयक्रम से पिता, पति तथा पुत्र द्वारा की जाती थी।

संस्कार

महाभारत में यत्र-तत्र विविध संस्कारों का नामोल्लेख मात्र है। अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन अवश्य ही हमें विस्तारपूर्वक मिलता है। विविध संस्कारों के नामोल्लेख तथा संस्कार-विषयक विभिन्न निबन्धों में महाभारत के उद्धरण देखकर यह सहज अनुमान है कि महाभारत काल तक षोडश संस्कार वाला विधान लोकप्रिय हो चुका था। द्रुपद ने जब अपनी पुत्री शिखण्डिनी को पुत्र रूप में घोषित किया तब पुत्र के समान इसके समस्त पुत्रोचित संस्कार करवाये। पांडवों के वेदोक्त संस्कारों का भी उल्लेख मिलता है। इन कथनों से यह भी आभासित होता है कि कन्या तथा पुत्र के संस्कारों में शास्त्रोक्त सीमारेखा खींची जा चुकी थी। मनु ने कन्याओं के संस्कारों को बिना वैदिक मन्त्रों के ही करवाने का विधान किया है। महाभारत में एकाधिक बार ‘नैव यज्ञः स्त्रियः’ यह कथन भी इस विधान की पुष्टि करता है। महाभारत में कन्या के उपनयन का कोई निर्देश नहीं है, जबकि सुलभा जैसे ब्रह्मवादिनीयों का उल्लेख महाभारत में विद्यमान है।

महाभारत में जातकर्म तथा नामकरण संस्कारों का नामोल्लेख हुआ है। पिता के महत्त्व को ज्ञापित

करते हुए चिरकारी जातकर्म तथा उपाकर्म का उल्लेख करता है। सीमन्तिनी शब्द से सीमन्तोन्नयन संस्कार का बोध होता है। पुंसवन संस्कार का भी नामोल्लेख मिलता है।

यज्ञ

महाभारत के भीष्मपर्व में यज्ञ का तात्पर्य कर्म से है। महाभारत काल में यज्ञ और कर्म दोनों एक दूसरे के पर्याय हो गये थे— 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः'। यज्ञ की यह परिभाषा महाभारतकार ने विशिष्ट उद्देश्य से की है। जनमानस को क्लिष्ट कर्मकाण्डीय विधानों से मुक्त कर उन्हें निष्काम कर्मयोग का रहस्य समझाना यहां प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'कर्मयोग का सच्चा अर्थ बताने के लिए यह आवश्यक था कि स्वर्गादि की अनेक कामनाओं से यज्ञ करने के पक्षपाती एवं कर्मफल को ही सब कुछ मानने के दृष्टिकोण से लोगों को मुक्त किया जाए। गीता में वैदिक यज्ञों के रूप में कर्मकाण्ड का विरोध करके यज्ञ, दान, तप आदि की सात्त्विकता पर बल दिया गया है। परलोक में स्वर्गप्राप्ति के आदर्श के बदले इसी जीवन में ब्राम्हणी स्थिति (समत्वबुद्धि) की प्राप्ति का आदर्श सामने रखा गया है। इसे हम महाभारत में औपनिषदिक प्रभाव की परिणति कह सकते हैं।

महाभारत में ही अन्यत्र विविध यज्ञों का घटाटोप वर्णन अत्यन्त उत्साह के साथ किया गया है। इन वर्णनों तथा विधानों में हमें ब्राह्मणवाद का सशक्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उपर्युक्त दृष्टिकोण इसी ब्राह्मणवाद (वेदवाद) का अनुवर्ती परिणाम है, जो कि वेदवाद के प्रति क्रान्ति का उद्घोष करता है। वेदवाद से प्रभावित अनेक फलश्रुतियां महाभारत में दृष्टिगोचर होती हैं। एक स्थान पर कहा गया है कि स्वर्गकामी को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए— ऐसा विधान शास्त्रों में मिलता है।

महाभारत-काल में बहुधनापेक्षी तथा विविध आडम्बरों से युक्त यज्ञों से जनता ऊब चुकी थी। अतः धार्मिक संस्कार सम्बन्धी मान्यताओं में क्रमशः परिवर्तन लक्षित होता है। वस्तुतः ग्रन्थकार वेदों में निर्दिष्ट एवं अनेकानेक भाष्यग्रन्थों द्वारा पुष्ट यज्ञ-परम्परा का बहिष्कार अथवा उन यज्ञों के ढांचे में मौलिक परिवर्तन नहीं कर सकते थे। अतः ऐसे अनेक सरल कृत्यों का विधान किया गया और उन्हें विविध यज्ञों के समान ही फलप्रद बताया गया ताकि वे राजाओं तथा राजपुत्रों तक ही सीमित न होकर दरिद्रवर्गों में भी प्रचलित हों—

यो दरिद्रैरपि शक्यः विधिः प्राप्तुं सदा भवेत्।

तुल्यो यज्ञफलैरेतैस्तन्मे ब्रूहि पितामह।।

इसी कारण विविध व्रतों का विधान किया गया, जिनका फल यज्ञ-फल जैसा ही प्रतिपादित किया गया। यह भी कहा गया कि अनेक यज्ञों के करने का भी जो फल नहीं है, वह अनशन से प्राप्त होता है। यज्ञ द्रव्यसाध्य होते हैं, किन्तु धनहीन व्यक्ति को यज्ञ का फल उपवास से प्राप्त होता है। अश्वमेधादि यज्ञ इतने व्ययसाध्य होते थे कि उसे साधारण राजा भी नहीं कर पाते थे। महाभारत में कतिपय प्रख्यात राजाओं द्वारा सम्पादित विविध यज्ञों का वर्णन मिलता है। युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ सभा-पर्व में विस्तारपूर्वक वर्णित है। इसके अतिरिक्त युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। अश्वमेधिक पर्व में युधिष्ठिर के इसी यज्ञ के विविध सोपानों का विशद वर्णन किया गया है। पौरव, शिवि, दिलीप, अम्बरीष, शशबिन्दु, भरत, पथु, दक्ष उपरिचर जनमेजय आदि के विविध यज्ञ उल्लेख्य हैं।

महाभारतकालीन समाज में बड़े-बड़े यज्ञों का प्रचलन तो न्यून होने लगा था किन्तु गृहस्थियों के लिए पंच महायज्ञ आवश्यक कर्म स्वीकार किये गये हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन गृहश्रम प्रकरण में कर दिया है।

श्राद्ध

पितरों को उद्देश्य करके श्रद्धापूर्वक किसी वस्तु का अथवा उनसे सम्बन्धित किसी द्रव्य का त्याग

श्राद्ध है। महाभारत में श्राद्ध-विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसी स्थान पर विभिन्न तिथियों में किये गए श्राद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। विविध नक्षत्रों में श्राद्ध करके फलों का प थक्-प थक् वर्णन किया गया है, यथा—कृत्तिका नक्षत्र में करने से चिन्ता एवं रोग से मुक्ति, रोहिणी में श्राद्ध करने से पुत्र-प्राप्ति आदि।

श्राद्ध करने के लिए गया तीर्थ की यात्रा करने का विधान है, जहां कि लोक-विख्यात अक्षयवट विद्यमान है। गया में सम्पन्न श्राद्ध को महापुण्यप्रद माना गया है। यहां पितरों के प्रति जो भी श्राद्ध के रूप में अर्पित किया जाता है उसका कभी क्षय नहीं होता। शायद इसीलिए गया स्थित उस वट का नाम अक्षयवट पड़ा। महाभारत में तीरस्थ महानदी (गंगा) में स्नान करके देवताओं एवं पितरों का तर्पण करने का उपदेश दिया गया है। ऐसा करने से अविनाशी लोकों की प्राप्ति एवं कुलोद्धार होता है।

श्राद्ध के समय विद्वान् पुरुष को कुल, शील, अवस्था, रूप, विद्या और पूर्वजों के निवासस्थान आदि के द्वारा ब्राह्मण की परीक्षा करनी चाहिए। पंक्तिदूषक ब्राह्मणों को कराया गया भोजन नष्ट हो जाता है पंक्तिपावनों को खिलाया गया अन्न यथोचित फलदायक होता है। श्राद्ध में लाख मूर्ख ब्राह्मणों को भोजन कराने की अपेक्षा एक वेदवेत्ता को भोजन कराना श्रेष्ठ है।

महाभारत में श्राद्ध शब्द का प्रयोग अतिथि-सत्कार के लिए भी होता था। पौष्य उत्तर से कहते हैं कि 'आप गुणवान अतिथि हैं। मैं आपका श्राद्ध करूंगा। क्षणभर ठहरिए।

उत्तराधिकार

वैदिक-साहित्य में राजा के निर्वाचित होने के कतिपय प्रमाण मिलते हैं। किन्तु महाभारत में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उस युग में राजा निर्वाचित होता था। इसके विपरीत हमें 'पित पैतामहं राज्यम्' अथवा 'पैत क-राज्य' का उल्लेख महाभारत में बहुशः हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि महाभारतकालीन समाज में राज्य का उत्तराधिकार वंशानुगत हो गया था। वंशानुगत उत्तराधिकार में ज्येष्ठ पुत्र राज पद का उत्तराधिकारी होता था।

ज्येष्ठ पुत्र के किसी कारण से अयोग्य होने पर उसे राज्य के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था और वयक्रम के अनुसार उस के अनुज को उत्तराधिकार दिया जाता था। ध तराष्ट्र विचित्रवीर्य के ज्येष्ठ पुत्र थे, किन्तु जन्मान्ध होने के कारण उन्हें राज्य का अधिकार नहीं मिला और उनके अनुज पाण्डु को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ।

उत्तराधिकार-विधान के सम्बन्ध में महाभारत यह भी ज्ञापित करता है कि यदि राज्य के उत्तराधिकारी के अल्प-वयस्क होने पर उसे वयस्क होने तक राज्य संभालने के लिए संरक्षक नियुक्त किये जाते थे। विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक बाल्यावस्था में होने के कारण भीष्म शासन-भार का संचालन सत्यवती के निर्देशन में किया करते थे। राज्यवंश में कोई उत्तराधिकारी न होने पर नियोग द्वारा भी पुत्र उत्पन्न कराके उसे राज्य सौंप दिया जाता था। विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् व्यास के नियोग से उनकी रानियों के तीन पुत्र हुए थे—ध तराष्ट्र, पाण्डु और विदुर। नियोग का प्रस्ताव भीष्म और सत्यवती का था। महाभारत स्त्री-राज्य का समर्थक नहीं है। फिर भी भारत-युद्ध जन्य विभीषिका देखकर व्यास ने युधिष्ठिर से कहा था कि जिन राजाओं के पुत्र न हों उनकी कन्याओं को अभिषिक्त करो।

दण्ड व्यवस्था

महाभारतकालीन समाज में अपराधियों के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था थी। उस काल में दण्ड-शक्ति का पर्याप्त विस्तार हो गया था। यहां तक कि त्रिवर्ग भी उसी से शासित होने लगा। महाभारतकाल में यह संशय दूर हो गया था कि राजा काल का कारण है अथवा काल राजा का कारण है। महाभारत में स्पष्टरूपेण राजा को ही काल का कारण माना गया। दूसरी और महाभारत

में दण्ड के दुष्प्रयोग की भर्त्सना भी की गई है। पक्षपात, स्वार्थ लोभ आदि दण्ड को दूषित कर देते हैं। दण्ड के दुष्प्रयोग से राजाओं के सर्वदा नाश होने की बात कही गई है।

इस युग-परिवर्तन की सूचना हमें पराशर और भीष्म के वचनों में मिलती है। पराशर कहते हैं कि “धर्मप्रधान समाज में जहां कि लोग धर्म एवं न्यायपरायण होते हैं, आवश्यकता पड़ने पर धिग्दण्ड से कार्य चल जाता था। किन्तु कालान्तर में राजसिक एवं तामसिक व तियों के विकास के कारण लोगों की मनोवृत्तियां भी प्रभावित हुईं। प्रजा में दर्प, मान, क्रोध, लज्जा, मोह आदि का क्रमशः प्रादुर्भाव हुआ दर्प-मानादि से ग्रस्त होने के कारण लोगों की जीवन-दृष्टि ही बदल गई। समाज में एक प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। फलतः धिग्दण्ड निरर्थक सा हो गया। लोगों पर धिक्काकरने का कोई प्रभाव नहीं रहा। इस प्रकार समाज में अव्यवस्था से बचने के लिए दण्ड का शासन अनिवार्य हो गया।

स्त्रियों की दशा—

समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी। उन्हें समाज में स्वतन्त्रता प्राप्त थी, फिर भी उनकी स्थिति हासोन्मुख थी। पुत्री-जन्म पर प्रसन्नता व्यक्त नहीं की जाती थी। सती-प्रथा प्रचलित थी। नारियां पर्दा नहीं करती थीं।

अनीति का अवतरण—

महाभारत में दुर्योधन एक अन्यायी के रूप में मिलता है। उसे अनेक प्रकार से समझाया जाता है लेकिन अपने भाई पाण्डवों को हिस्सा नहीं देता है और छल कपट की रचना करके उन्हें सर्वथा नष्ट करने के लिए विचार करता रहता है। अतः महाभारत में अनीति पूर्ण व्यवस्था कायम थी।

धर्म का स्थलन—

महाभारत में धर्म का उदात्त रूप नहीं रह गया था। उस समय धर्म की अपेक्षा स्वार्थपरता का ही विस्तार हो गया था। दुर्योधन धर्म को त्यागकर अन्यायी बनते हुए धर्मपूर्वक पाण्डवों के अधिकार को नहीं देता। द्रोपदी का चीरहरण किए जाने पर सभी सभासद दुर्योधन के भय से मौन बैठे रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि महाभारत काल में धर्म की सामाजिक प्रतिष्ठा समाप्त हो चुकी थी।

अहंकार की चरमसीमा—

रामायण काल में अहंकार भाव प्रतिपक्षी रावण में देखा जाता था जो अविवेक के कारण अन्धा बन चुका था। परन्तु महाभारत में दुर्योधन का अहं व द्धि को प्राप्त होकर सर्वविनाश हो जाने पर ही समाप्त होता है।

अशान्ति का साम्राज्य—

महाभारत काल में चारों ओर अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है। दुर्योधन यदि राज्यधिकार बनाए रखने के लिए अशान्त होकर पाण्डवों को बहुविध यातनाएं देता है तो पाण्डव चुपचाप उस अन्याय को सहते हुए अशान्त हैं।

अतः स्पष्ट होता है कि महाभारत कालीन समाज में अस्थिरता, लोगों में भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा, अहं को प्रदर्शित करने की उत्कण्ठा, प्रेमहीनता की भावना आ चुकी थी। अतः पूर्ववत् समाज सुगठित नहीं रह गया था। इस प्रकार महाभारत का समाज निकृष्ट स्थिति में विद्यमान था।

इकाई-V

पुराण

परिभाषा एवं स्वरूप

‘वेदा खिलो धर्ममूलम्’ इस उक्ति के अनुसार धर्म का मूलस्रोत वेद को माना गया है। वैदिक वाङ्मय भारतीय संस्कृति का आधार है। परन्तु वेदों के गूढ विषय को जनसाधारण तक पहुंचाने का श्रेय पुराण वाङ्मय को ही प्राप्त है। शिव पुराण में कहा गया है कि-

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबंहयेत्।

विभेत्यल्पश्रुताद्देवो मामयं प्रहरिष्यति।।

अर्थात् इतिहास और पुराण वेदों का उपबं हण करने (व्याख्या करने) वाले ग्रन्थ हैं जिनके कारण वेदों को भली प्रकार से समझा जा सकता है।

अतः प्राचीन भारतीय वाङ्मय में पुराणों का अपना एक विशिष्ट स्थान है। वेद के पश्चात् पुराण ही भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार है। इसलिए इतिहास पुराण को प चम वेद स्वीकार किया जाता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुराण क्या है। उसका स्वरूप क्या है। यह जानने के लिए पुराण की परिभाषा जानना जरूरी है। परिभाषा वस्तुतः वह कथन अथवा व्याख्या है जिसके आधार पर किसी वस्तु अथवा व्यक्ति का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। यहां भी पुराण का स्वरूप निर्धारित करने के लिए उसके विभिन्न लक्षणों व निरुक्तियों के आधार पर उसका पारिभाषित स्वरूप प्रकाशित किया जाएगा।

आचार्य पाणिनि तथा यास्क के अनुसार :- प्राचीन काल में होन वाला पुराण कहलाता है। यद्यपि पाणिनि व्याकरण के अनुसार पुरा शब्द से ट्यु प्रत्यय करने पर तथा तुट आगम होने पर पुरातन शब्द निष्पन्न होता है तथापि आचार्य पाणिनि ने स्वयं पुराण शब्द का प्रयोग किया है (पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु)। इससे यह सिद्ध होता है कि भले ही पाणिनि की सूत्र परम्परा तुट आगम् सहित पुरातन शब्द को सिद्ध करे किन्तु आचार्य के स्वयं पुराण शब्द के प्रयोग करने से निपातनात् यह शब्द भी व्याकरण सम्मत ही है। आचार्य यास्क ने पुराण शब्द को पारिभाषित करते हुए उसका निर्वचन इस प्रकार दिया है। पुरानवं भवति अर्थात् जो प्राचीन होकर भी नया होता है। वह पुराण कहलाता है। वायु पुराण की परिभाषा के अनुसार वह पुराण है जो प्राचीनकाल में भी जीवित था। (पुरा अनतीति) पद्म पुराण के अनुसार जो प्राचीन परम्परा की कामना करता है (पुरी परम्परां वष्टि कामयते) ब्रह्मण्ड पुराण, पुराण शब्द को पारिभाषित करते हुए लिखता है-पुरा एतत् अभवत् अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ था इस तथ्य को प्रकट करने वाला शास्त्र पुराण कहलाता है। पुराण की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि पुराण शास्त्र का वर्ण्य विषय का प्राचीन काल से सम्बन्ध है। यही कारण है कि पुराण शब्द के साथ इतिहास शब्द का भी प्रयोग होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक प्रकरण आता है जहां ऋषि सनत कुमार अपने आश्रम में विद्या पढ़ने की इच्छा से आये हुए नारद से जब यह पूछते हैं कि तुमने क्या-क्या पढ़ा हुआ है तो तब नारद अपने अधीत विषयों में जिन शास्त्रों को गिनवाते हैं उनमें पांचवे वेद इतिहास पुराण का भी उल्लेख करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में इतिहास और पुराण संयुक्त शास्त्र के रूप

में प्रसिद्ध थे, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं निकालना चाहिए कि इतिहास और पुराण दोनों एक ही शास्त्र हैं क्योंकि पुराणों में आगे चलकर इतिहास शब्द के बहुशः प्रयोग ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इतिहास और पुराणों में भिन्नता है काल्पनिक कथा या आख्यान को पुराण की श्रेणी में रखा जाता है। जबकि वास्तविक घटना को इतिहास कहा जाता है। यतः पुराण शास्त्र में काल्पनिक घटनाओं, आख्यानों के साथ साथ वास्तविक घटनाओं का वर्णन भी मिलता है। अतः पुराण शब्द के साथ इतिहास शब्द जुड़ गया है।

पुराण शास्त्र के विस्तृत स्वरूप को जानने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी परिभाषा अथवा लक्षण को भी विस्तृत रूप से जाना जाए। पुराण के साथ पाँच लक्षणों का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् पुराण शास्त्र में वर्णित विषयों पर आधारित उसके स्वरूप को पाँच लक्षणों से भली प्रकार समझा जा सकता है। पुराण के पाँच लक्षणों को प्रकट करने वाला यह श्लोक है :-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वतराणि च।

वंशानुचरितं चेति पुराणं प च लक्षणम्।।

अर्थात् सृष्टि, प्रलय, राजवंशों और मन्वन्तरों का वर्णन तथा राजवंशों के विभिन्न विषयों और घटनाओं का वर्णन ये पुराण शास्त्र के पाँच लक्षण हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जिन शास्त्रों अथवा ग्रन्थों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय के साथ-साथ राजवंशों का उल्लेख सृष्टि काल की गणना और राजवंशों से जुड़ी हुई विभिन्न घटनाओं का विस्तार से वर्णन होता है ग्रन्थ अथवा शास्त्र पुराण कहलाते हैं।

पुराण के लक्षण से सम्बन्धित उक्त श्लोक प्रायः सभी पुराणों में उपलब्ध होता है। पाँच लक्षण शब्द पुराण का इतना अनिवार्य अंग है कि अन्य ग्रन्थों में यह शब्द पुराण के लिए यथावत् स्वीकार किया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र की जय मंगला नामक व्याख्या में पुराण के प च लक्षण को कुछ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। वहाँ लिखा है सृष्टि-प्रवृत्ति संहार धर्म मोक्ष प्रयोजनम्। ब्रह्म भिर्विधैः प्रोक्तं पुराणं प च लक्षणम् अर्थात्-

सृष्टि उसका विस्तार अंत में संहार साथ ही धर्म और मोक्ष आदि विषयों पर विभिन्न प्रकार से विचार करने वाला शास्त्र पुराण कहलाता है।

श्रीमद्भागवतपुराण में पुराण के १० लक्षणों का भी उल्लेख है :-

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च।

वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।।

अर्थात्

सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, अन्तराणि, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु तथा अपाश्रय ये पुराण के दस लक्षण हैं। इसमें सर्ग का अभिप्राय सृष्टि से है। विसर्ग से मैथुनी सृष्टि का कथन है वृत्ति का अर्थ जीवों के जीवन का निर्वाह करने की सामग्री। रक्षा के लिए वर्णन आता है जो भिन्न-भिन्न समय पर धर्म की रक्षा के लिए अवतार लेते हैं। अन्तराणि शब्द से मनवन्तर ग्रहीत होते हैं जिनके द्वारा सृष्टि की काल गणना की जाती है। वंश के अन्तर्गत राजवंशों के विभिन्न चरित्रों का वर्णन, संस्था के अन्तर्गत इस सृष्टि के संहार का वर्णन हेतु के अन्तर्गत जीवों के विभिन्न प्रारब्धों का वर्णन जो उसके जन्म का कारण बनते हैं अन्त में अपाश्रय के अन्तर्गत तुरीय तत्त्व ब्रह्म का वर्णन जिन ग्रन्थों में किया जाता है वे पुराण हैं।

इस प्रकार पुराण की उपर्युक्त परिभाषाओं व लक्षणों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में घटने वाली विभिन्न घटनाओं को आख्यानों तथा उपाख्यानों के माध्यम से स्पष्ट करके हमें सृष्टि, प्रलय, राजवंश, उनका चरित्र, साथ ही दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति में जीवों के प्रारब्ध आदि के साथ-साथ जिन ग्रन्थों में तुरीय तत्त्व ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है वे पुराण

कहलाते हैं।

पुराण के निर्माता

जिस प्रकार समग्र वेदों के मंत्र अपनी मूलावस्था में अविभक्त रूप में एक ही साथ मिले-जुले थे, उसी प्रकार पुराण भी एक बृहत्संहिता के रूप में सम्मिलित थे। वेदों के चतुर्धा वर्गीकरण की भांति पुराणों का भी पंचम वेद के रूप में अलग विभाजन उनकी रचना के बहुत बाद हुआ और पुराण-ग्रंथों का अध्ययन करने पर इस सत्य का भी स्पष्टकरण होता है कि वेद-वर्गयिता व्यास के उपाधिधारी ऋषि-महर्षि ही पुराणों के भी विभाजक थे।

व्यास या वेदव्यास एक पदवी या अधिकार का नाम था। जब भी जिन ऋषि-मुनियों ने वेद-संहिताओं का विभाजन या पुराणों का संक्षेप, संपादन अथवा प्रतिसंस्करण किया वे ही उस समय व्यास या वेदव्यास की उपाधि से सम्मानित किए गए। किसी समय वशिष्ठ और किसी समय पाराशर या शक्ति आदि भी व्यास कहे गये। इस अट्टाईसवें कलियुग के व्यास कृष्णद्वैपायन थे। उनके द्वारा रचित या प्रकाशित ग्रन्थ ही आज पुराण नाम से प्रचलित हैं।

संप्रति उपलब्ध होने वाले ब्रह्माण्ड, विष्णु और मत्स्य आदि पुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उनका प्रतिपाद्य विषय पांच अंशों में विभक्त है : सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित। ये पांच बातें पुराणों का प्रतिपाद्य विषय हैं।

पुराण-ग्रंथों में प्रणयन या उनके प्रणेताओं के सम्बन्ध में 'विष्णुपुराण' में एक रोचक कथा वर्णित है, जिसके अनुसार भगवान् वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि आदि के साथ-साथ पुराण-संहिता की भी रचना की थी और उसका अध्यापन अपने सुयोग्य सूतजातीय लोमहर्षण नामक शिष्य को कराया था। लोमहर्षण ने अपने कश्यपवंशीय तीन सुपात्र शिष्यों-अकृतव्रण, सावर्णि एवं शांशपायन-को पुराणों का महान् ज्ञान दिया और इन तीनों के मूल संहिता के आधार पर तीन पुराण-संहितायें और तैयार की। आगे चलकर इन्हीं की शिष्य-परम्परा ने अष्टादश महापुराणों की तथा अनेक उपपुराणों की रचना की। 'ब्रह्मपुराण' इस प्रसंग में सबसे पहले रचा गया।

'विष्णुपुराण' के इस प्रसंग में दो प्रामाणिक बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह कि वेदव्यास ने पुराण-संहिता का संग्रह कर उसको क्रमबद्ध किया और दूसरी बात यह कि उस संग्रहकार के बहुत बाद में उसकी शिष्य-परम्परा ने अष्टादश महापुराणों या दूसरे उपपुराणों की रचना की। 'मत्स्यपुराण' के एक प्रसंग से विदित होता है कि आदि में केवल एक ही पुराण संहिता थी। संभवतः, 'विष्णुपुराण' के पूर्वोक्त वचनानुसार, व्यास ने उसी पुराण संहिता की दीक्षा लोमहर्षण को दी। इस बात का 'शिवपुराण' में भी विस्तार से वर्णन है। उसमें लिखा गया है कि कल्प के अन्त में केवल एक ही पुराण था, जिसे ब्रह्मा ने मुनियों को बताया। उसके बाद व्यास ने अनुमान लगाकर यह तय किया कि इतना बड़ा ग्रन्थ मनुष्यों की मेधा में न समा सकेगा। अतः उन्होंने उस चार लाख श्लोक परिमाण की बृहत्-संहिता को अठारह भागों में विभक्त किया। इन अठारह पुराणों का प्रवचन सत्यवती जी के पुत्र व्यास ने ही किया। एक मूल-संहिता से अष्टादश पुराणों के विभाजन एवं प्रवचन की यही बात 'देवीभागवत', 'वराहपुराण', 'पद्मपुराण' आदि ग्रन्थों में भी एक-जैसे रूप में देखने को मिलती है।

इन सब एक-जैसे पुराण-प्रसंगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा ने वेदों की ही भांति पुराणविद्या का स्मरण किया और तब परम्परया वह ज्ञान व्यास तक पहुँचा। व्यास ने लोक में पुराण-विद्या का महान् ज्ञान प्रकाशित किया। ऋषियों ने बृहत् पुराण-संहिता के पहले तो तीन भाग किए और बाद में अठारह। बार-बार उनकी कथाओं में उलट-फेर होता गया, अतः उनकी कथाओं में न्यूनाधिक्य, मत-वैभिन्न्य, सम्प्रदाय-पक्षपात और प्रक्षेप आदि जुड़ते गये। किन्तु प्रश्न हो

सकता है कि यदि पुराण भी वेदों जितने सनातन हैं तो वैदिक संहिताएं भी तो अनेक ऋषि-मुनियों के हाथ से होकर आज हम तक पहुंची है। फिर उनके संशोधन, परिवर्तन, परिवर्द्धन की बात तो किसी से नहीं कही? उसका कारण यह था कि वेदों के पद, क्रम, घन, जटा, माला आदि पाठ तथा पातिशाख्य, चरणव्यूह, निरुक्त, शिक्षा और कल्प आदि शास्त्र ऐसे कवच थे कि जिनमें आबद्ध होकर उनमें उलट-फेर आदि की कोई संभावना ही नहीं हुई, और इसीलिए भविष्य में भी ऐसी कोई आशंका नहीं है। यही कारण है कि जहां वेदमन्त्रों की गति-संगति एक-जैसी है, वहां पुराणों की अनेक बातों में एक-जैसी गति और संगति स्थापित करने में कठिनाई होती है।

अष्टादश महापुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उनका विषय, उनकी निर्माण-शैली और यहां तक कि उनकी पाठविधि आदि बहुत-सारी बातों में एकता है, जिससे उनका एक ही मूल उद्गम मानने में बहुत बाधा नहीं पड़ती है। पुराणों में आज जो वर्तमान वैभिन्न्य दिखाई देता है, उसका कारण उनके प्रवर्तक विभिन्न सम्प्रदाय के थे। पुराणों में इस परिवर्तन और परिवर्द्धन के कारण भी वही सम्प्रदाय थे। पुराणों के जो पांच लक्षण विष्णु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य के अनुसार ऊपर गिनाए गए हैं, ठीक उतनी बातों का प्रतिपादन उनमें नहीं होता है। उनमें बहुत सारे प्रसंग ऐसे भी हैं जो बहुत बाद की परिस्थितियों एवं बहुत बाद के सम्प्रदायों से सम्बन्धित हैं। ब्राह्म, शैव, वैष्णव और भागवत प्रभृति सम्प्रदाय बहुत पुराने नहीं हैं; किन्तु 'ब्रह्मपुराण', 'शिवपुराण', 'विष्णुपुराण' और भागवत पुराणों का नामकरण उक्त सम्प्रदायों के ही कारण हुआ प्रतीत होता है।

पुराणों का निर्माण काल

लगभग ६०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक भारत की ये आठ शताब्दियां असाधारण बौद्धिक विकास और विचार-स्वातन्त्र्य की महत्त्वपूर्ण शताब्दियां रही हैं। जैन-बौद्ध और हिन्दू-दर्शनों के निर्माण का युग यही था। बौद्धों के 'जातक' और 'अवदान' जैसे लोकप्रिय गाथा-ग्रन्थों का निर्माण इसी युग में हुआ। 'रामायण' और 'महाभारत' के अन्तिम संस्करणों का समय भी यही था। नन्द राजाओं और चन्द्रगुप्त मौर्य (३२५-२६६ ई० पू०) के कारण जैनधर्म खूब फला-फूला और उसका प्रभूत साहित्य लिखा गया। सम्राट अशोक (२६२-२३० ई० पू०) का आश्रय पाकर बौद्धधर्म और बौद्ध-साहित्य ने अभूतपूर्व प्रगति की। अनेक लोकप्रिय धर्म-ग्रन्थों, विचार-प्रधान दर्शन-ग्रन्थों और संस्कृत के काव्य-नाटकों के निर्माण का सूत्रपात इसी युग में हुआ।

६०० ई० पू० में ब्राह्मण धर्म की संकीर्णतावादी कर्मकाण्ड-प्रवृत्ति के विरोध में जैन और बौद्धों ने जिस अलग धार्मिक परम्परा की प्रतिष्ठा की, उसके मूल में नारिकवादा था। जैन-बौद्धों की निराकार-भावना समाज में अधिक दिनों तक न टिक सकी। जनसाधारण उनके दुरुह ग्रन्थ पन्थ के किनाराकशी करने लगा। धारणा, ध्यान, समाधि, ग हत्याग, उपासना और दुःखवाद समाज के आकर्षण के लिए लोकप्रिय सिद्ध न होने के कारण समाज, ब्राह्मणधर्म की सुगम पद्धति की ओर सहसा ही मुड़ गया। भागवत-धर्म और शैव-धर्म ने निरीश्वरवादी जैनों और बौद्धों को सर्वथा निस्तेज बना दिया। यह सब पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा के फलस्वरूप हुआ और लगभग यह स्थिति दूसरी शताब्दी ई० तक अक्षुण्ण बनी रही।

छठी शताब्दी ई० पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी के अन्त तक जैन-बौद्ध धर्मों की ब्राह्मणधर्म के साथ निरन्तर लड़ाइयां होती रहीं, किन्तु इस बीच ब्राह्मणधर्म ने अपना परिष्कार करने के बाद जो नया स्वरूप धारण किया, उसके सम्मुख उसके उक्त प्रतिद्वन्द्वी धर्म पराभूत हो गये। अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्मों को परास्त कर ब्राह्मणधर्म तीसरी शताब्दी ईस्वी से निरन्तर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता गया और उसकी यह उत्कर्ष की स्थिति लगभग १२वीं शताब्दी तक अक्षुण्ण बनी रही। यही पुराणों के निर्माण और अन्तिम संस्करण का समय था।

पुराणों की रचना एक समय की नहीं है, लगभग श्रुतिकाल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक निरन्तर उनकी रचना, संक्षिप्त संस्करण, सम्पादन और संकलन होता गया। विद्वानों की राय है कि

गुप्त-शासन की सर्वथा अनुकूल परिस्थितियों को पाकर उस समय पुराणों का एक संस्करण हुआ। 'स्कन्दपुराण' के सम्बन्ध में विद्वानों की यहां तक धारणा है कि उसका नामकरण गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के नाम से हुआ। 'वायु', 'भविष्यत्', 'विष्णु' और 'भागवत' पुराणों में गुप्तवंश का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि गुप्त-युग में उनका संस्कार अवश्य हुआ।

डॉ० जयसवाल के मतानुसार कांचनका (राजस्थान) के अन्तिक शासकों-पुष्यमित्र और वसुमित्र-का समय ३६६ ई० ही पुराणों की रचना का समाप्ति-युग था। उनमें जो संशोधन-परिष्करण होते गये, उनकी अवधि पांचवीं शताब्दी के भी आगे तक पहुंचती है।

यद्यपि अपने मूल अर्थ में 'पुराण' शब्द 'वेद' की तरह एक व्यापक-विषय का सूचक है और हमें इस दृष्टि से यह भी मानना पड़ेगा कि 'वेदसंहिता' की भांति एक 'पुराण-संहिता' भी विद्यमान थी; जिसका वर्गीकरण वैदिक संहिताओं के वर्गीकरण के साथ ही उन्हीं 'व्यास' पदवी वाले महर्षियों ने किया, पुराणों के विवरण की पूर्वसीमा का जो उल्लेख वैदिक साहित्य तक में मिलता है, उसका लक्ष्य उसी 'पुराण संहिता' से है। कुछ प्रामाणिक उल्लेखों के आधार पर हम पुराण-साहित्य के निर्माण की पूर्व और उत्तर सीमाओं की जानकारी नीचे लिखे आधारों पर प्राप्त कर सकते हैं।

- (१) आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों की पर्याप्त चर्चाएं की हैं। कथाकार बाणभट्ट (७०० ई०) ने 'हर्षचरित' में स्पष्ट किया है कि उन्होंने अपने जन्म-स्थान में 'वायुपुराण' का पारायण सुना था। 'कादम्बरी' में भी उन्होंने इस 'वायुपुराण' का उल्लेख किया है। 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्'।
- (२) 'विष्णुपुराण' में मौर्य-साम्राज्य का, 'मत्स्यपुराण' में दक्षिणात्य आन्ध्र राजाओं का और 'वायुपुराण' में गुप्त-वंश का जो अविकल उल्लेख मिलता है, उनसे इन पुराणों के तत्कालीन अस्तित्व का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है।
- (३) 'महाभारत' में कतिपय पुराणों के उपाख्यानों का ज्यों-का-त्यों वर्णन मिलता है। 'महाभारत' या 'जयकथा' के प्रवक्ता लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत पुराणों के पूर्ण पण्डित थे। शौनक ऋषि ने एक बार उनसे प्रार्थना की थी कि वे अपने पिता से पुराणों के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान को उन्हें सुनायें। ऋष्यशृंग का एक आख्यान 'पद्मपुराण' और 'महाभारत' दोनों में मिलता है। दोनों ग्रन्थों के आख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् डॉ० लूडर्स ने यह सिद्ध किया कि 'पद्मपुराण' का आख्यान प्राचीन है।
- (४) कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' पुराणों के अस्तित्व से पर्याप्त प्रभावित जान पड़ता है। राजकुमारों के लिए पुराणों के ज्ञान की आवश्यकता, पुराणविद् को राज्याश्रय का अधिकार आदि बातों से ज्ञात होता है कि कौटिल्य पुराणों के उपयोगी ज्ञान के पारंगत विद्वान् थे।
- (५) सूत्र-ग्रन्थों में एक ओर तो प्राचीनतम 'पुराण-संहिता' के अस्तित्व का पता चलता है और दूसरी ओर उनमें उपलब्ध पुराण-ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं।
- (६) उपनिषद्-ग्रन्थों में वेदों के साथ इतिहास-पुराण का भी उल्लेख किया गया है और उनको पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि इतिहास एवं पुराण का अस्तित्व, तब सर्वथा पथक् था।

इस प्रकार लगभग १२वीं शताब्दी ई० से लेकर मौर्यवंश (३७४-१६० ई० पू०), आन्ध्रवंश (२१२ ई० पू० से ३३८ ई० पू०), गुप्तवंश (२७५-५१० ई०), 'महाभारत' (५०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०), 'कल्पसूत्र' (७०० ई० पू०), उपनिषद् (१००० ई० पू०) और वैदिक संहिताओं (२५०० ई० पू०) तक पुराणों के प्राचीनतम और आधुनिक स्वरूपों की समर्थ चर्चाएं विद्यमान होने के कारण उनकी पूर्व-सीमा वैदिक युग और उत्तर-सीमा गुप्त-साम्राज्य तक निर्धारित की जा सकती है।

पुराणों के सम्बन्ध में पार्जिटर महोदय ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'एशियेण्ट इंडियन

हिस्टॉरिकल ट्रेडिशनस'। यह पुस्तक उनके पुराण-साहित्य और भारतीय परम्पराओं के प्रति गम्भीर ज्ञान का परिचय देती है। इसमें उन्होंने पुराणों के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने के साथ-साथ पुराणों की महत्ता पर प्रकाश डाला है। उन्होंने वेदों को भी पुराणों की भांति विरुदावली कहा है। जिस प्रकार राजवंशों की विरुदावली पुराणों में वर्णित है, उसी प्रकार ऋषिवंशों की विरुदावली के परिचायक ग्रन्थ 'वेद' हैं।

अपने सन्तुलित एवं गम्भीर अध्ययन के आधार पर पार्जिटर महोदय का कथन है कि पुराण मूल रूप में ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के बाद के नहीं हो सकते हैं। पुराणों में 'अग्निपुराण' सबसे प्राचीन है। 'अग्निपुराण' का समय इतिहासकारों ने चौथी शताब्दी या इससे पहले का बताया है। पुराण-ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में लोकमान्य तिलक का मत है कि उनका समय ईस्वी सन् दूसरे शतक के बाद का कदाचित् नहीं हो सकता है।

'अग्निपुराण' की रचना के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। श्रीयुत सुशील कुमार दे के मतानुसार 'अग्निपुराण' का अलंकार प्रकरण, दण्डी और भामह के पश्चात् और 'ध्वन्यालोक' के कृतिकार श्री आनन्दवर्धन से पहले ईसा की नवम शताब्दी के लगभग रचा गया। श्री पी०वी० काणे साहब 'अग्निपुराण' को ७०० ई० पू० के बाद और उसके काव्य-शास्त्र विषयक अंश की रचना ६०० ई० के बाद की स्वीकार करते हैं। इन दोनों विद्वानों की स्थापनाओं का विधिवत् खण्डन करके श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अपना सप्रमाण मंतव्य दिया है कि 'अग्निपुराण' के काव्य-प्रकरण का ध्यान देकर अध्ययन करने से यह निर्विवाद विदित हो सकता है कि वह वर्णन भामह, दण्डी, उद्भट और ध्वनिकार आदि सभी प्राचीन साहित्याचार्यों से विलक्षण है और वह काव्य के विकास-क्रम के आधार पर 'नाट्यशास्त्र' के पश्चात् और भामहादि के पूर्व का मध्यकालीन रूप है।

डॉ० हजारा ने पुराण-साहित्य पर खोजपूर्ण कार्य किया है और उनके ऐतिहासिक स्तर पर गम्भीर प्रकाश डाला है। उन्होंने कालक्रम से प्राचीनतम महापुराणों में 'मार्कण्डेय', 'ब्रह्माण्ड', 'विष्णु', 'मत्स्य', 'भागवत', एवं 'कूर्म' की गणना की है।

पहले दो पुराणों को उन्होंने 'विष्णुपुराण' से पहले का रचा माना है। शेष पुराणों में 'विष्णु' ४०० ई०। 'वायु' ५०० ई०। 'भागवत' ६००-७०० ई० और 'कूर्म' ७०० ई० में रचे गये। उन्होंने 'हरिवंश' का रचनाकाल भी ४०० ई० सिद्ध किया है। उनके मतानुसार 'अग्निपुराण' की रचना यद्यपि ८०० ई० में हुई, किन्तु उसकी कुछ सामग्री इससे पहले की और कुछ इससे बाद की है। यद्यपि मूल 'नारदीय पुराण', संप्रति अप्राप्य है, तथापि प्रचलित 'नारदीय पुराण' की रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी और बाद में उसका कलेवर प्रक्षेपों से बढ़ता गया। इसी प्रकार 'ब्रह्मपुराण' की कुछ सामग्री बहुत बाद की होते हुए भी उसकी रचना दसवीं शताब्दी में हो चुकी थी। 'स्कन्द-पुराण' की कुछ सामग्री आठवीं शताब्दी में और अधिकांश उसके बाद निर्मित हुई। 'गरुडपुराण' की रचना दसवीं शताब्दी में हुई। इसी प्रकार 'पदमपुराण' की रचना १२००-१५०० ई० के बीच हुई। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' की रचना यद्यपि ७०० ई० पू० हो चुकी थी तथापि उसका वर्तमान रूप सोलहवीं शताब्दी ई० का है।

'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' का संभावित काल बूलर ने सातवीं शताब्दी बताया है, जो कि काश्मीर में रचा गया। इसी प्रकार 'न सिंहपुराण' की रचना ४००-५०० ई० के बीच हुई। 'ब्रह्मपुराण' की एक हस्तलिखित प्रति १६४६ वि० की उपलब्ध है। इस दृष्टि से इसका रचनाकाल कम-से-कम १४वीं-१५वीं शताब्दी में होना चाहिए।

पुराण-ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में इतनी ही सूचनाएं उपलब्ध हैं। अन्यत्र भी पुराणों के ऐतिहासिक स्तर पर कुछ विचार-सामग्री देखने को मिलती है; किन्तु उनमें कल्पना की प्रचुरता है।

सांस्कृतिक महत्त्व :-

पुराण भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं। इनमें भारत की सत्य और शाश्वत आत्मा निहित है। इनके अध्ययन के बिना भारत का यथार्थ चित्र सामने नहीं आ सकता और भारतीय जीवन का दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हो सकता। पुराणों के वर्ण्य विषय को देखने से ज्ञात होता है कि सर्ग-प्रतिसर्ग वंश मन्वन्तर व वंशानुचरित के साथ-साथ आख्यान, उपाख्यान, गाथा व कल्प शुद्धियों का संयोजन भी पुराण संहिता में था। इसके अतिरिक्त कई अन्य विषयों का भी पुराणों में समावेश किया गया है। यथा भुवन कोश (भूगोल) वर्णाश्रमधर्म संस्कार, व्रत, दान, तप, श्राद्ध, पूजा, राजधर्म, तीर्थ महात्म्य, आयुर्वेद आदि विद्यार्थें। पुराणों में इन सभी विषयों और शास्त्रों का संनिवेश लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर किया गया था। यद्यपि ये सभी वेदों के वर्णित विषय थे परन्तु वे जनसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध न हो सके। अतः पुराणों ने इन सभी विषयों तथा शास्त्र निहित ज्ञान को जनसाधारण तक सरल भाषा में पहुंचाने का असाधारण कार्य किया और इसीलिए पुराणों को पंचम वेद की संज्ञा से विभूषित किया गया। समस्त ज्ञान का भण्डार होने के कारण ही पुराणों को भारत की सभ्यता संस्कृति और वैभव आदि का दर्पण कहा गया है। प्राचीन भारतीय समाज की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक उन्नति का ज्ञान पुराणों के द्वारा ही प्राप्त होता है। पुराणों की महत्ता अन्तः साक्ष्य से भी प्रमाणित है। दैवी भागवत पुराण में कहा गया है :-

‘श्रुतिस्म त्युभै नेत्रे पुराणं हृदयं स्म तम्’ अर्थात् श्रुति और स्मृति दो नेत्र हैं और पुराण हृदय है। वस्तुतः पौराणिक साहित्य अगाध ज्ञान का भण्डार है जिसमें ज्ञान विज्ञान, लोक व्यवहार समाज एवं संस्कृति के सभी पक्षों का सांगोपाङ्ग विवेचन है। पुराण विद्या के विषय में उल्लेखनीय है कि याज्ञवल्क्य ने विद्याओं की गणना में पुराण विद्या को प्रथम स्थान दिया है।

पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विधानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

पुराणों के सांस्कृतिक महत्त्व से तात्पर्य पुराण ग्रन्थों में वर्णित संस्कृति एवं सांस्कृतिक तत्त्वों से है जिसके अन्तर्गत तत्कालीन समाज वर्णाश्रम व्यवस्था राजधर्म, तीर्थ, व्रत, दान, श्राद्ध, भूगोल तथा विभिन्न विज्ञान जैसे आयुर्वेद, ‘रत्नशास्त्र’, वास्तुविद्या, ज्योतिष धनुर्विद्या और सामुद्रिक शास्त्र आदि सम्मिलित है। अष्टादश महापुराणों में उपर्युक्त विषय अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णित है। पुराणों की सांस्कृतिक महत्ता प्रतिपादित करने हेतु कुछ विषयों का संक्षिप्त रूप से वर्णन प्रस्तुत है :-

१. विज्ञान

लोकोपयोगी अनेक विज्ञानों का वर्णन पुराणों में विशेषकर विश्वकोषीय पुराणों (अग्नि, गरुड, नारद) में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इनमें आयुर्वेद, वास्तुविद्या, रत्नविद्या धनुर्विद्या, ज्योतिष विद्या प्रमुख हैं।

(क) **आयुर्वेद** :- आयुर्वेद एक लोकोपयोगी जनजीवन से सम्बद्ध शास्त्र है। फलतः लोक से सम्बन्ध रखने वाले पुराणों में इसकी चर्चा नितान्त स्वाभाविक है। अग्नि पुराण और गरुड दोनों पुराणों में यह विषय व्यापक रूप से चर्चित है। आयुर्वेद के विभिन्न विभागों में निदान तथा चिकित्सा मुख्य है और इनके निमित्त औषधियों के स्वरूप तथा गुण का परिचय होना आवश्यक है। आयुर्वेद के अन्तर्गत पुराणों में विभिन्न रोगों के लक्षण देते हुए उनकी औषधियों का वर्णन किया है। इसके साथ-साथ विभिन्न सिद्ध योगों जैसे आयु वृद्धि योग, बुद्धिवृद्धि योग एवं बल वृद्धि योगों का वर्णन है।

इन पुराणों में आयुर्वेद के अन्तर्गत केवल मानव मात्र के लिए उपयोगी चिकित्सा पद्धति का ही वर्णन नहीं अपितु गो, अश्व, गज एवं व क्षों से सम्बन्धित आयुर्वेद भी वर्णित हैं।

(ख) वास्तुविद्या :- मन्दिर और राजप्रसाद के निर्माण विधि को वास्तु शास्त्र के नाम से पुकारते हैं। यह बहुत ही उपयोगी विद्या है। सामान्य ग हस्थ के लिए यद्यपि कम परन्तु राजाओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है। मत्स्य पुराण अग्नि पुराण, विष्णु धर्मोत्तर पुराण, गरुड पुराण में यह विषय उपलब्ध होता है। वास्तु विद्या के अन्तर्गत चार प्रकार के विषय पुराणों में विवेचित हैं:-

- (१) वास्तु विद्या के मूल सिद्धान्त
- (२) स्थान का चुनाव ओर उस पर निर्माण की रूपरेखा
- (३) देव प्रतिमाओं का निर्माण
- (४) मन्दिर तथा राजप्रसादों की रचना।

इसके अतिरिक्त ग ह निर्माण तथा नगर निर्माण से सम्बन्धित वास्तु भी पुराणों में विवेचित है।

(ग) रत्न विद्या :- राज्य व्यवस्था के निमित्त शासन के संचालन में अर्थ की विशेष महत्ता होती है जिसके अन्तर्गत रत्नों का बहुमूल्य योगदान रहता है जिसके अन्तर्गत रत्नों की परीक्षा विशेष रूप से मुख्य है। रत्न परीक्षा का विषय भी कुछ पुराणों में निर्दिष्ट है। जैसे गरुड पुराण में यह विषय बारह अध्यायों में अत्यन्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। रत्न परीक्षा के अन्तर्गत सर्वप्रथम रत्नों का विभाजन कर उनके गुण दोषों का वर्णन मिलता है तथा साथ ही विभिन्न रत्नों के नाम भी उल्लिखित हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के रत्नों की विभिन्न स्थानों पर पाई जाने वाली खानों का भी वर्णन मिलता है।

(घ) धनुर्विद्या :- प्राचीन काल में यह विद्या अत्यन्त प्रख्यात थी परन्तु देश के परतन्त्र हो जाने के कारण इस विद्या से सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम ही यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं जबकि पुराणों में यह विद्या विशेष रूप से विवेचित है। अग्नि पुराण के चार अध्यायों में इसकी विद्या का सार संकलित किया गया है।

(ङ) ज्योतिष विद्या :- ज्योतिष विद्या का विवरण भी पुराणों में यत्रतत्र उपलब्ध होता है। इनमें गणित और फलित दोनों प्रकार के ज्योतिष का वर्णन मिलता है। मुख्य रूप से श्रीमद्भागवत, देवी भागवत, गरुड पुराण, नारद पुराण तथा अग्नि पुराण में यह विषय विवेचित है। इसके अन्तर्गत नक्षत्रों का वर्णन, काल निर्णय, राशियों का वर्णन, यात्रा में शुभ-अशुभ का कथन, विभिन्न दोषों तथा विभिन्न लक्षणों में विवाह के फल आदि विषयों का विवरण या विवेचन मिलता है।

२. धर्म

वैदिक समाज में इष्टापूर्त धर्म की महिमा विशिष्ट रूप से मान्य तथा ग्राह्य है।

इष्टा पूर्त शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के एक मन्त्र में उपलब्ध होता है। परन्तु इसकी व्याख्या या अर्थ का संकेत वहाँ नहीं मिलता। पुराणों में इन शब्दों की व्याख्या मिलती है। जिसमें इष्ट वेद द्वारा प्रतिपाद्य कर्म है तथा पूर्त पुराणों द्वारा प्रशंसित कर्म है। तात्पर्य यह है कि जनता के कल्याण के लिए वापी, कूप, तालाब आदि का खुदवाना, मन्दिर निर्माण करना और याचकों को अन्न प्रदान करना पूर्त धर्म कहलाता है और इसी धर्म का अनुष्ठान पुराणों के द्वारा बहुशः प्रशंसित है।

पुराणों में ऐसे बहुत से विचार हैं कि जो बिल्कुल आधुनिक प्रतीत होते हैं जैसे समाज की सेवा और पीड़ितों के दुःख का अपनयन सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में परिगणित किया गया है।

न स्वर्गं ब्रह्मलोके वा तत् सुखं प्राप्यते नरेः।

यदार्तजन्तुनिर्वाणै दानोत्थमिति मे मतिः॥

अवतारवाद पुराणों का महनीय दार्शनिक सिद्धान्त है। इसके साथ ही भक्ति का सिद्धान्त भी पुराणों में विशद रूप से प्रतिपादित है। इसी से सम्बद्ध व्रतों का भी पुराणों में बड़ा विस्तार है। व्रतों के अन्तर्गत तिथि व्रत, मास व्रत और नक्षत्र व्रत आदि सम्मिलित हैं। दान का भी पुराणों में विशद वर्णन मिलता है। बल्लाल सेन ने अपने दान सागर नामक ग्रन्थ में दान का विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। जिसमें पुराणों के आवश्यक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। षोडश महादानों का विशिष्ट वर्णन भी अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है।

श्राद्ध का विषय भी बड़ा उपादेय माना जाता है। तीर्थों में किये जाने वाले श्राद्ध का विशिष्ट महात्म्य पुराणों में वर्णित है। श्राद्ध के विषय में सर्वमान्य होने से गया तीर्थ की महिमा प्राचीन काल से ही प्रचलित है।

पुराणों में तीर्थों की महिमा का विपुल वर्णन मिलता है। इसी स्थान पर किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा की गई तपश्चर्या से परिपूर्ण स्थल विशेष की संज्ञा तीर्थ है। तीर्थ का मूल अर्थ है वह स्थान जहां पर किसी नदी को पार किया जा सकता है। ऐसे स्थानों पर जनता का एकत्र होना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे नदी तट होने से पवित्रता की दिव्य भावना से मण्डित होने पर वही स्थान धार्मिक तात्पर्य वाले तीर्थ के रूप में परिग्रहीत हो जाता है। यद्यपि तीर्थ मूलतः नदी से सम्बद्ध है। तथापि पवित्रता, शान्ति आदि के साधर्म्य से अन्य भी स्थल जो पर्वतों के ऊपर भी विद्यमान हैं। तीर्थ की संज्ञा पाने लगते हैं। तीर्थ भारतवासियों को एकता के सूत्र में बांधने वाले स्थानों में अन्यतम है। लगभग सभी पुराणों में तीर्थ महात्म्य वर्णित है।

३. राजधर्म

पुराणों में राज धर्म का विवरण अनेक स्थलों पर बहुशः उपलब्ध है। मत्स्य पुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अग्नि पुराण, गरुड पुराण आदि पुराणों में राजधर्म पर प्रकाश डाला गया है। पुराणों में राज्य के सात अंग निर्दिष्ट किये गये हैं :-

- (१) स्वामी या राजा
- (२) अमात्य या मंत्री
- (३) जनपद
- (४) दुर्ग
- (५) दण्ड
- (६) कोश
- (७) मित्र (सहायक राजा)।

मत्स्य पुराण में साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति भी वर्णित है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में राजनीति से सम्बन्धित पुष्कर नीति का वर्णन है। जबकि अग्नि पुराण में रामोक्त नीति तथा कामन्दकीय नीति का वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त राजनीति विषयक वर्णन मार्कण्डेय पुराण में भी प्राप्त होता है। राजधर्म से सम्बन्धित अध्यायों के परिशीलन से पौराणिक राजधर्म का स्वरूप भली-भांति अभिव्यक्त होता है जो महाभारत आदि ग्रन्थों में प्रतिपाद्य राजनीति से भिन्न नहीं है।

४. भूगोल

पुराण में भूगोल के विषय में भी विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। पुराणकारों ने भूगोल का विवरण दो दृष्टियों से किया है। एक तो है समस्त संसार का भूगोल और दूसरा है भारतवर्ष का भूगोल। भुवनकोश के विषय में प्राचीन मत यही था कि पृथ्वी चार द्वीपों से घिरी है। परन्तु पुराणों के नवीन संस्करण में सात द्वीपों का सिद्धान्त मान लिया गया था। इन सात द्वीपों के क्रम के विषय में पुराणों

में एक मत दृष्टिगोचर नहीं होता है परन्तु 'सप्तद्वीपा वसुमती' का सिद्धान्त समग्र पुराणों का एक नितान्त, महनीय तथा मान्य रहस्य है। जम्बूद्वीप इस कल्पना के द्वारा मध्य में है और यह सात द्वीपों के द्वारा आवेष्टित है और यह द्वीप आपस में एक-एक समुद्र के द्वारा पथक् किये गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :-

- (१) जम्बूद्वीप
- (२) प्लक्ष द्वीप
- (३) शाल्मलि द्वीप
- (४) कुश द्वीप
- (५) क्रोच द्वीप
- (६) शाक द्वीप
- (७) पुष्कर द्वीप

विभिन्न पुराणों में से ब्रह्म पुराण में सर्वाधिक भौगोलिक वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त अग्नि, मत्स्य, विष्णु, गरुड व मार्कण्डेय पुराण में भी विश्व तथा भारत के भूगोल का वर्णन उपलब्ध होता है। पुराणों में इन द्वीपों के अन्तर्गत आने वाले पर्वतो, नदियों, देशों या वर्षों तथा वहां के निवासियों का वर्णन भी उपलब्ध होता है।

पुराणों की संख्या

पुराण और उपपुराण के नाम से दो प्रकार के पौराणिक ग्रन्थ हैं। 'देवीभागवत' में पुराणों के आद्य अक्षर के अनुसार १८ प्रकार कहे गये हैं। मकारादि से दो-मत्स्य तथा मार्कण्डेय पुराण भकारादि से दो-भागवत तथा भविष्य। ब्र अक्षर से तीन-ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त तथा ब्रह्माण्ड पुराण। व अक्षर से चार-वामन, विष्णु, वायु तथा वाराह पुराण। अ, ना, पद्म, लिं, ग, क, स्क के अनुसार-अग्नि, नारद, पद्म, लिं, गरुड, कूर्म तथा स्कन्द पुराण।

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापद् लिङ्ग-कू-स्कानि पुराणानि पथक् पथक्।।

विष्णु तथा भागवत में एक विशेष क्रम से ये ही नाम प्राप्त होते हैं-

ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिं, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड तथा ब्रह्माण्ड

ब्रह्म	-	१० हजार श्लोक	भागवत	-	१८ हजार श्लोक
पद्म	-	५५ हजार श्लोक	नारद	-	२५ हजार श्लोक
विष्णु	-	२३ हजार श्लोक	वाराह	-	२४ हजार श्लोक
मार्कण्डेय-		६ हजार श्लोक	स्कन्द	-	८१ हजार श्लोक
अग्नि	-	१५ हजार ४ सौ श्लोक	वामन	-	१० हजार श्लोक
भविष्य	-	१४ हजार ५ सौ श्लोक	कूर्म	-	१७ हजार श्लोक
ब्रह्मवैवर्त-		१८ हजार श्लोक	मत्स्य	-	१४ हजार श्लोक
लिङ्ग	-	११ हजार श्लोक	गरुड	-	१६ हजार श्लोक
वायु	-	११ हजार श्लोक	ब्रह्माण्ड	-	१२ हजार श्लोक

महापुराणों का परिचय

श्रीमद्भागवत पुराण

श्रीमद्भागवत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुराण हैं। इसमें १८ हजार श्लोक उपलब्ध हैं। श्रीमद्भागवत में १२ स्कन्ध एवं ३३५ अध्याय हैं। स्कन्ध एवं अध्यायों की संगति अन्य पुराणों में कथित श्रीमद्भागवत-विषयक विवरणों से बैठ जाती है, पर-श्लोक संख्या मेल नहीं खाती नारदीय-पुराण, कौशिक संहिता गौरी तंत्र, गरुड पुराण, स्कन्द पुराण, सात्वततंत्र आदि ग्रन्थों में बारह स्कन्ध, ३६५ अध्याय एवं १८ हजार श्लोकों का विवरण है 'पद्म पुराण में भागवत की ३३२ शाखाओं (अध्यायों) का उल्लेख है और श्रीमद्भागवत के प्राचीन टीकाकार चित्सुखाचार्य भी ३३२ अध्यायों की पुष्टि करते हैं और इसी कारण अन्य कतिपय आचार्यों ने तीन अध्यायों को प्रक्षिप्त माना है। श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार भी दशम स्कन्ध के ८८, ८९ और ९० अध्याय प्रक्षिप्त हैं और इसी कारण उन्होंने अपने 'तत्त्व दीप निबन्ध' के भागवतार्थ-प्रकरण में रूपक का विधान करते समय उपर्युक्त अध्यायों को हटा दिया है। ठीक इसके विपरीत जीव गोस्वामी का मत है। "जो इन अध्यायों को प्रक्षिप्त मानते हैं, उनके ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि सब देशों में वे प्रचलित हैं और 'वासना-भाष्य' 'सम्बन्धोक्ति' 'विद्वत्कामधेनु' 'शुकमनोहरा परमहंस प्रिया' आदि प्राचीन एवं आधुनिक टीकाओं में इनकी व्याख्या की गयी है।

श्रीमद्भागवत के १८ हजार श्लोकों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का मत वैभिन्न्य है। अधिकांश विद्वान् इस मत के पोषक हैं कि इस ग्रन्थ के एक-एक श्लोक एक-एक शब्द एवं अध्याय की पुष्पिका को मंत्र समझ कर पाठ किया जाता है। अतः मंत्र ग्रंथ मानकर 'उवाच' को एक श्लोक एवं अध्यायों की पुष्पिका को डेढ़ श्लोक मानने पर परिशेष ३३४८ श्लोकों की पूर्ति हो जाती है। डॉ० हरवंश लाल शर्मा ने अपने ग्रन्थ में श्री गंगासहाय जी जरठ का मत दिया है; जिन्होंने बड़े परिश्रम से श्रीमद्भागवत के अक्षर-अक्षर की तीन बार गणना कर उसमें सत्रह हजार नौ सौ साढ़े अष्टानवे श्लोकों को पाया था।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध का प्रारम्भ सूत-शौनक-संवाद के अन्तर्गत भगवत् कथा एवं भगवद्भक्ति से होता है। वैसे इस महापुराण के वक्ता शुकदेव हैं और श्रोता राजा परीक्षित और इन्हीं दोनों के संवाद के रूप में इसका प्रणयन हुआ है। इसमें भगवान् के २२ अवतारों की कथा तथा नारद जी के पूर्व जीवन का वर्णन है, जिसमें दिखाया गया है कि एकमात्र भक्ति से ही चित्त को शान्ति मिलती है। इसी स्कन्ध में अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पांच पुत्रों की हत्या, युद्धोपरान्त पाण्डवों द्वारा आत्मीय जनों का तर्पण, युधिष्ठिर का राज्यारोहण, अश्वत्थामा के छोड़े गये ब्रह्मास्त्र से चक्रसुदर्शन द्वारा परीक्षित की रक्षा, युधिष्ठिर का भीष्म पितामह से कर्तव्योपदेश श्रवण कर आत्मग्लानि को हटाना, भीष्म का देह-त्याग, हस्तिनापुर में परीक्षित का जन्म, अर्जुन का युधिष्ठिर को यादवों के संहार और श्रीकृष्ण के स्वधाम-गमन का समाचार सुनाना, परीक्षित को राज्य सौंप कर पाण्डवों का स्वर्गारोहण, शमीक ऋषि के गले में परीक्षित द्वारा मरा हुआ साँप लगाना एवं शंगी का परीक्षित को शाप देना। तक्षक नाग के काटने से परीक्षित की अपने पुत्र जनमेजय को राज्यभार सौंपकर मृत्यु।

द्वितीय स्कन्ध - शुकदेव द्वारा परीक्षित को भगवद्ध्यान की विधि बताना तथा भगवान् के विराट् रूप का वर्णन, भगवन्माया से रचित सृष्टि के विधान का क्रम-वर्णन, कच्छप, न सिंह एवं परशुरामवतार की कथा, चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश, ब्रह्मा जी द्वारा सर्ग विसर्ग आदि से सम्पन्न भागवत की कथा नारद को सुनाना।

तृतीय स्कन्ध - महाभारत युद्ध के पूर्व विदुर का घर त्याग कर तीर्थाटन के लिए प्रस्थान, यमुना-तट पर उद्धव से भेंट, कृष्ण के गूढ़ रहस्य को जानने के लिए विदुर का मैत्रेय से मिलना,

सष्टिक्रम का वर्णन, विराट् शरीर की उत्पत्ति, निर्विकार ब्रह्म के स्वरूप का कथन, ब्रह्मा की उत्पत्ति, दशविध सष्टि एवं मन्वन्तरादि के काल-परिमाण तथा सष्टि का विस्तार-वर्णन। हिरण्यकशिपु एवं हिरण्याक्ष की कथा, कपिल एवं सांख्य शास्त्र का वर्णन, कपिल का अपनी माता देवहूति को भक्ति-योग, प्रकृति-पुरुष-विवेक, अष्टांग योग तथा महदादि तत्त्वों को समझाना।

चतुर्थ स्कन्ध - देवहूति की कथा, दक्ष प्रजापति और शंकर की कथा, वेन चरित, राजा पथु की कहानी रुद्र द्वारा भगवान् नारायण 'योगादेश' नामक स्त्रोत का उपदेश, जीव तथा ईश्वर के स्वरूप का निदर्शन तथा पुरंजनोपाख्यान, प्रचेताओं द्वारा पथु की के सार्वभौम राज्य की प्राप्ति तदनन्तर अपने पुत्र दक्ष को राज्य देकर परमपद की प्राप्ति।

पंचम स्कन्ध - विदुर का हस्तिनापुर के लिये प्रयाण, प्रियव्रत की कथा, ऋषभदेव का चरित, जड़भरत की कथा, विष्णु पदी (गंगा) का वर्णन, हयग्रीवावतार की कथा, भिन्न-भिन्न ग्रहों की स्थिति, प्लक्ष, शाल्मली आदि द्वीपों के प्रमाण एवं लक्षण तथा लोकालोक पर्वत का वर्णन, नीचे के सात लोकों का विवरण, अदृष्टाईस नरकों एवं उनमें गिरने वालों की गति का वर्णन।

षष्ठ स्कन्ध - भगवद्भक्ति को नरकों से बचने का उपाय कहना, अजामिल की कथा, विष्णु दूतों द्वारा भागवत धर्म का निरूपण, स्वायम्भुव मन्वन्तर का वर्णन, प्रजा सष्टि का वर्णन, दक्ष द्वारा नारद को शाप, बहस्पति द्वारा इन्द्र का त्याग एवं देवताओं का विश्वरूप को पुरोहित बनाना, इन्द्र द्वारा विश्वरूप का वध एवं वत्रासुर का जन्म दधीचि ऋषि की कथा एवं उनकी हड्डियों से वज्र का निर्माण कर इन्द्र द्वारा वत्रासुर का वध, वत्रासुर के पूर्व जन्म की कथा, अदिति एवं दिति की संतानों एवं मरुद्गणों की उत्पत्ति का वर्णन, कश्यप द्वारा दिति को पुंसवन व्रत की विधि बताना।

सप्तम स्कन्ध - असुरों के संहार का कारण-निर्देश, शिशुपालवध एवं हिरण्याक्ष की कथा, नारद जी द्वारा युधिष्ठिर को चारों वर्णों एवं स्त्रियों के धर्म का कथन, पतिधर्म, गहस्थ के सदाचार का निरूपण तथा गहस्थों के लिए मोक्षधर्म की व्याख्या।

अष्टम स्कन्ध - अन्य मन्वन्तरों की कथा, गजेन्द्र एवं ग्राह की कथा, राज और ग्राह के पूर्वजन्म की कथा, समुद्र मंथन एवं मोहिनी अवतार का विवरण, भगवान् शिव का मोहिनी रूप पर मुग्ध होना एवं भगवत् कृपा से मोह पाश से मुक्ति। सात मन्वन्तरों का वर्णन, शुक्राचार्य द्वारा बलि को इन्द्र पद पर अधिष्ठित कराना, वामनावतार तथा मत्स्यावतार की कथा।

नवम स्कन्ध - वैवस्वतमनु के वंश का वर्णन, च्यवन ऋषि एवं सुकन्या की कथा, अम्बरीष और दुर्वासा की कथा, राजा मान्धाता का वर्णन, त्रिशंकु, हरिश्चन्द्र और राजा सगर की कथा, भगीरथ की कथा, रामचरित सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन, राजा पुरुरवा गाधि एवं विश्वामित्र का वर्णन, नहुष, ययाति की कथा, पाण्डवों और कौरवों तथा पराशर और व्यास का वर्णन।

दशम स्कन्ध - इसके दो भाग हैं - पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध और दोनों भागों में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। पूर्वार्द्ध में कृष्णजन्म से लेकर कंसवध एवं श्रीकृष्ण के परममित्र उद्धव की ब्रज यात्रा तक की कथा का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में जरासंघ का मथुरा पर आक्रमण एवं उसकी पराजय, श्रीकृष्ण का द्वारिका में दुर्गनिर्माण कर निवास करना, कालयवन का आक्रमण एवं उसकी मृत्यु, भीष्मक की कन्या रुक्मिणी से श्रीकृष्ण का विवाह, श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न द्वारा शम्बरासुर का वध, श्रीकृष्ण का जाम्बवती, सत्य भामा आदि आठ पटरानियों से विवाह तथा भौमासुर को मार कर उनका सोलह सहस्र एकसौ स्त्रियों से विवाह करना, अनिरुद्ध उषा की कहानी और बाणासुर का वध, राजा नग का उद्धार, बलराम का

ब्रजगमन एवं द्विविद का वध, जाम्बवती के पुत्र साम्ब से दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा का विवाह, भीम द्वारा जरासंध का वध, युधिष्ठिर के राजसूय में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध, महाभारत के युद्ध की तैयारी एवं बलराम का तीर्थ यात्रा के लिए प्रस्थान, सुदामा चरित, वेदस्तुति, भस्मासुर की कथा, भगु का आख्यान और भगवान् के लीलाबिहार का वर्णन।

एकादश स्कन्ध - यादव कुल के संहार का वर्णन, वासुदेव-नारद संवाद, भागवतधर्म, भक्त के लक्षण, माया, कर्म, भगवदवतार, भक्तिहीन पुरुषों की गति एवं पूजाविधि का वर्णन, श्रीकृष्ण का परमधाम प्रस्थान, श्रीकृष्ण द्वारा संसार का मिथ्यात्व प्रतिपादन, बद्ध मुक्त भक्तों के लक्षण, सत्संग महिमा, कर्मानुष्ठान कर्मत्याग की विधि, वर्णाश्रमधर्म, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, द्रव्य देश आदि के गुण दोष तथा सांख्य योगादि का विस्तृत विवेचन। उद्धव की बदरिकाश्रम यात्रा, यादव कुल की समाप्ति और श्रीकृष्ण का परमधाम गमन।

द्वादश स्कन्ध - श्रीकृष्ण के परमधाम जाने पर पृथ्वी के राजाओं का वंश वर्णन, बहद्रथ, नन्दिवर्धन, नन्द आदि राजाओं का वर्णन, युगधर्मों एवं कलियुग में हरिनाम कीर्तन की महिमा प्रलय एवं परमार्थ का निरूपण, तक्षकदंश से परीक्षित का देहान्त और जनमेजय का सर्पयज्ञ करना, मार्कण्डेय की कथा एवं पुराणादि के लक्षण भगवान् के अंगों उपांगों का वर्णन तथा श्रीमद्भागवत के वर्ण्य-विषय का संक्षिप्त कथन, विभिन्न पुराणों की श्लोक-संख्या तथा श्रीमद्भागवत के महत्त्व का वर्णन कर ग्रंथ की समाप्ति।

ब्रह्म पुराण

यह ब्रह्म या ब्राह्म पुराण के नाम से विख्यात है। इसे समस्त पुराणों में आदि या आद्य पुराण के रूप में परिगणित किया गया है। विष्णुपुराण इस तथ्य की पुष्टि करता है और स्वयं ब्रह्मपुराण में भी इसे अग्रिम पुराण का पद प्रदान किया गया है। इसमें श्लोकों की कुल संख्या चौदह सहस्र कही गयी है और २४५ अध्याय हैं। पर, इस सम्बन्ध में विभिन्न पुराणों में परस्पर विरोधी तथ्य प्रकट किये गये हैं। उदाहरणार्थ नारद, विष्णु, शिव, ब्रह्मवैवर्त एवं श्रीमद्भागवत के अनुसार इसकी श्लोक संख्या दस हजार है, पर मत्स्यपुराण स्वीकार करता है कि इसमें कुल तेरह सहस्र श्लोक हैं। लिंग, वाराह, कूर्म तथा पद्म पुराण में भी ब्रह्मपुराणस्थ तेरह सहस्र श्लोकों की बात कथित है। सम्प्रति आनन्दाश्रम से प्रकाशित संस्करण में १३७८३ श्लोक उपलब्ध होते हैं तथा उत्तर और पूर्व के नाम से ब्रह्मपुराण के दो विभाग किये गये हैं। यह वैष्णव पुराण के नाम से विख्यात है। इस पुराण के २४५ वें अध्याय में यह बात कही गई है कि यह वैष्णव पुराण है।

इस पुराण में पुराणविषयक सभी तथ्यों का आकलन है तथा तीर्थों के माहात्म्य वर्णन में विशेष रुचि प्रदर्शित की गई है।

औण्ड्र या उत्कल प्रदेश एवं इसके पावन तीर्थों एवं मन्दिरों का वर्णन इसमें अत्यन्त विस्तार के साथ प्राप्त होता है। इसके आरम्भ में कहा गया है कि नैमिषारण्य में लोमहर्षण ने ऋषियों के पास पधार कर सूत जी से विश्व के उद्भव एवं प्रलय के कथा कहने के लिये निवेदन किया। तदनन्तर सूत जी ब्रह्मा द्वारा दक्ष प्रजापति को सुनाये गये पुराण को सुनाने के लिये प्रस्तुत हुए। इसके प्रारम्भ में विश्व की सृष्टि, आदि पुरुष मनु एवं उनकी संतान की उत्पत्ति, देवताओं एवं दैत्यों के जन्म का वर्णन कर सूर्य एवं चन्द्रवंश का संक्षिप्त कथन किया गया है। इसके बीस अध्यायों में पार्वती की कथा कही गयी है और प्रथम पांच अध्यायों में सर्ग, प्रतिसर्ग एवं मन्वन्तर का वर्णन है तथा आगामी सौ अध्यायों में वंश एवं वंशानुचरित का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके वर्ण्य विषयों में पृथ्वी के अनेक खण्ड, स्वर्ग, नरक, तीर्थ-माहात्म्य तथा विशेष रूप से सूर्याराधना का वर्णन है। सूर्य की पूजा के प्रसंग में कहा गया है कि विश्व

के उद्भव का मूल सूर्य है और द्वादश सूर्यों की आराधना से सभी प्रकार के शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो सकती है। विभिन्न ऋतुओं में सूर्य का तेज किस प्रकार विभिन्न रूप में परिणत होता है, और प्रत्येक मास में आदित्य मण्डल के प्रकाशित होने के कारण उसकी कितनी संज्ञाएं होती हैं, आदि विषयों का वर्णन इस पुराण में किया गया है। गंगा की उत्पत्ति की कथा भी इस पुराण में वर्णित है। इसमें राम और कृष्ण की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है तथा वाराह, न सिंह आदि अवतारों की भी कथा कही गयी है। श्रीकृष्ण की कथा ३२ अध्यायों में समाप्त हुई है। इसके अन्तिम अध्यायों में श्राद्धकर्म, धार्मिक जीवन के नियम, वर्णाश्रमधर्म, स्वर्ग के भोग, नरक के कष्ट तथा विष्णु पूजा से प्राप्त पुण्यों का विवरण है। अन्त में सांख्य योग का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए प्रकृति आदि तत्त्वों का वर्णन है। सांख्य शास्त्र के विवेचन में अनेक ऐसे तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं, जो अवान्तरकालीन विषयों से नितान्त भिन्न हैं। उदाहरणार्थ इसमें सांख्य के ३६ तत्त्व कथित हैं जब कि परवर्ती ग्रन्थ २५ तत्त्वों को निरूपित करते हैं। इसमें सांख्य को निरीश्वरवादी दर्शन नहीं कहा गया है और इसमें ज्ञान तथा भक्ति के तत्त्वों का भी समावेश किया गया है।

इसमें महाभारत, वायुपुराण, विष्णु पुराण और मार्कण्डेय पुराण के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं और कहीं-कहीं तो उक्त पुराणों के अनेक अध्यायों को अक्षरशः उद्धृत कर दिया गया है। इसी कारण विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुख्यतः इस पुराण में १७५ अध्याय ही रहे होंगे और १७६ से २४५ तक के अध्याय प्रक्षिप्त हैं। इस पुराण के उद्धरण 'कल्पतरु' तथा 'तीर्थचिन्तामणि' में प्राप्त होते हैं। तीर्थचिन्तामणि के रचयिता वाचस्पति मिश्र का आविर्भावकाल पन्द्रहवीं शती शताब्दी है। अतः इसके आधार पर इस पुराण का अनुमानित समय १२वीं शताब्दी है। 'कल्पतरु' में ब्रह्मपुराण के १५०० श्लोक प्राप्त होते हैं। कोणार्क के सूर्यमंदिर का इसमें उल्लेख होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों एच०एच० विल्सन एवं विंटरनिट्स-ने इसका समय १३वीं शती निर्धारित किया है, पर परम्परानिष्ठ अनेक प्रसंग 'महाभारत' के अनुशासनपर्व में अविकल रूप से प्राप्त होते हैं, अतः इसका समय उतना अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। दण्डकारण्य में गौतमी नदी की श्रेष्ठता सिद्ध करने के कारण इसका रचना स्थान गोदावरी (गौतमी) प्रदेश माना जाता है। इस नदी के तीरस्थ तीर्थों का भी इस पुराण में अत्यन्त विस्तृत विवरण प्राप्त होने के कारण इस तथ्य की पुष्टि होती है। इसके प्रारम्भ से लेकर ६६ अध्यायों तक का प्रणयन उत्कल प्रान्त में हुआ होगा। 'तीर्थचिन्तामणि' के उद्धरणों का ब्रह्मपुराण में प्राप्त होने के कारण आधुनिक विद्वान् प्रचलित ब्रह्मपुराण की रचना का समय तेरहवीं शताब्दी मानना अधिक उपयुक्त समझते हैं। प्राचीन विद्वानों ने इस मत का खण्डन करते हुए ब्रह्मपुराण का प्रणयन-काल अधिक पुराना सिद्ध किया है। उनका कथन है कि ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र रोहित एवं शुनःशेष की कथा जिस रूप में वर्णित है, उसी विस्तार के साथ ब्रह्मपुराण में भी उपलब्ध होती है। जब तक वैज्ञानिक ढंग से इस पुराण का परिशीलन नहीं किया जाता, तब तक इसके काल-निर्णय के सम्बन्ध में कुछ निश्चित विचार प्रकट करना कठिन है।

पद्मपुराण (पाद्मपुराण)

पद्मपुराण ब हृदाकार पुराण है, जिसमें पचास हजार श्लोक एवं ६४१ अध्याय हैं। इसके दो रूप प्राप्त होते हैं-प्रकाशित देवनागरी संस्करण एवं हस्तलिखित बंगालीसंस्करण। आनन्दाश्रम (१८६४ ई०) से प्रकाशित देवनागरी संस्करण में छह खण्ड हैं, जिसका संपादन बी०एन० माण्डलिक ने किया था। वे हैं-आदिखण्ड, भूमिखण्ड, ब्रह्मखण्ड, पातालखण्ड, सृष्टिखण्ड और उत्तरखण्ड। इस संस्करण के उत्तरखण्ड में इस बात के संकेत हैं कि मुख्यतः इसमें पांच ही खण्ड थे और छह खण्डों की कल्पना कालान्तर में की गयी। इसपुराण की श्लोक-संख्या विभिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की गयी है। 'मत्स्यपुराण' के अनुसार पद्मपुराण में ५५ हजार

श्लोक हैं, तो 'ब्रह्मपुराण' के मतानुसार श्लोकों की संख्या ५६ हजार है। 'श्रीमद्भागवत' में पद्मपुराण की श्लोक-संख्या ५५ हजार है। इसी प्रकार खण्डों के क्रम में भी मतभेद दिखाई पड़ता है। बंगाली संस्करण, जो हस्तलेखों में ही प्राप्त है, में पांच खण्ड हैं। स्वयं पद्मपुराण में भी इस तथ्य का उल्लेख है कि इसमें पांच खण्ड हैं। किसी-किसी पुस्तक में इसके सात खण्डों का भी वर्णन है-स ष्टि खण्ड, भूमि खण्ड, स्वर्ग खण्ड, ब्रह्म खण्ड, पाताल खण्ड, उत्तर खण्ड तथा क्रिया खण्ड। सम्प्रति प्रचलित पद्मपुराण में पांच ही खण्ड हैं-स ष्टिखण्ड, भूमिखण्ड, स्वर्गखण्ड, पातालखण्ड तथा उत्तर खण्ड।

१. **स ष्टिखण्ड** - यह इस पुराण का भूमिका अंश है, जिसमें ८२ अध्याय हैं। इसमें लोमहर्षण द्वारा अपने पुत्र उग्रश्रवा को नैमिषारण्य में एकत्र मुनियों के समक्ष पुराण सुनाने के लिए भेजने का वर्णन है और वे शौनक ऋषि के अनुरोध पर ऋषियों को पद्मपुराण की कथा सुनाते हैं। इसके नाम का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा गया है कि इसमें स ष्टि के प्रारम्भ में कमल या पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति का कथन हुआ है, अतः इसे पद्मपुराण की संज्ञा प्राप्त है। स ष्टिखण्ड पांच पर्वों में विभक्त है। इसमें इस पृथ्वी को पद्म कहा गया है तथा कमल पुष्प पर स्थित ब्रह्मा द्वारा विस्तृत ब्रह्माण्ड की स ष्टि का निर्माण करने के सम्बन्ध में किए गए संदेह का इसी कारण निराकरण किया गया है कि पृथ्वी कमल है।

तच्च पद्मं पुराभूतं पृथ्वीरूपमनुत्तमम्।

यत्पद्मं सा रसादेवी पृथिवी परिचक्षते।।

इस खण्ड में स ष्टि, प्रतिस ष्टि, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित पुराण-विषयक पांच विषयों का वर्णन है। स ष्टिखण्ड के पांच पर्वों के नाम हैं-पौष्कर-पर्व, तीर्थ पर्व, तृतीय पर्व, चतुर्थ पर्व एवं मोक्ष पर्व।

पौष्कर पर्व - इस पर्व में देवता, पितर, मनुष्य एवं मुनि-सम्बन्धी नौ प्रकार की स ष्टि वर्णित है। स ष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करने के पश्चात् पृथु-चरित्र सूर्य वंश एवं चन्द्र वंश का वर्णन हुआ है। इसी खण्ड में राम एवं कृष्ण की कथा भी कही गयी है और देवता तथा दानवों की उत्पत्ति के क्रम में हिरण्यकशिपु एवं बाण के उपाख्यानों का भी समावेश किया गया है। इसमें पितरों एवं श्राद्धों से सम्बद्ध विषयों का विवरण है और देवासुर संग्राम का भी वर्णन हुआ है। इसी खण्ड में पुष्कर तीर्थ का प्रसंग आया है, जो ब्रह्मा के कारण पवित्र माना जाता है। इस तीर्थ का निर्णय ब्रह्मा ने ही किया था। इसमें उसकी तीर्थ-रूप में वंदना भी की गयी है।

तीर्थ पर्व - इस खण्ड में अनेक तीर्थों, पर्वत, द्वीप तथा सप्तसागरों का उल्लेख है। इसके उपसंहार में बताया गया है कि सभी तीर्थों में भगवान् श्रीकृष्ण का नाम स्मरण ही श्रेष्ठ तीर्थ है तथा उनके नाम का उच्चारण करने वाले व्यक्ति सारे संसार को तीर्थमय बना देते हैं।

तृतीय पर्व में दक्षिणा देने वाले राजाओं का वर्णन है और चतुर्थ में राजाओं का वंशानुकीर्तन है। अन्तिम पर्व में मोक्ष तथा उसके साधनों का वर्णन करने के पश्चात् समुद्र-मंथन, पृथु की उत्पत्ति, पुष्कर तीर्थ के निवासियों का धर्म, व त्रासुर-संग्राम, वामनावतार, मार्कण्डेय की कथा, कार्तिकेय की उत्पत्ति, रामचरित एवं तारकासुर वध की कथाएं विस्तारपूर्वक वर्णित हैं।

भूमि खण्ड - इस खण्ड में अनेक आख्यान हैं। इसका प्रारम्भ सोमशर्मा की कथा से होता है, जो प्रह्लाद के रूप में उत्पन्न हुआ। भूमि का वर्णन करने के पश्चात् अनेकानेक तीर्थों की पवित्रता सिद्ध करने के लिए बहुत से आख्यानो का समावेश हुआ है। सकुला की कथा में बताया गया है कि किस प्रकार पत्नी तीर्थ का रूप धारण कर लेती है। इस खण्ड में सुव्रत, पृथु, वुत्रासुर, वैण, उग्रसेन, सुकर्मा, ययाति, दिव्यादेवी, अशोक सन्दर्श के उपख्यान वर्णित हैं और जैन धर्म का भी उल्लेख है। च्यवन ऋषि की कथा एवं विष्णु तथा शिव की एकताविषयक

तथ्यों का निरूपण इस खण्ड की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इसमें ययाति तथा मातली के आध्यात्मिक संवाद में विष्णु भक्ति की महनीतयता प्रकट की गयी है। इनके अतिरिक्त यहां ब्रह्मचर्य, दान तथा मारवधर्म के अनेक विषय सम्मिलित किये गये हैं।

स्वर्गखण्ड - इस खण्ड में लोकों का वर्णन है और देवता, वैकुण्ठ, भूतों, पिशाचों, विद्याधरों, अप्सरा तथा यज्ञों के लोक का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके प्रारम्भ में शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रसिद्ध कथा कही गयी है, जो महाभारत शकुन्तलोपाख्यान की अपेक्षा महाकवि कालिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तल के अधिक निकट है। अप्सराओं के वर्णन में राजा पुरुरवा एवं उर्वशी का आख्यान वर्णित है तथा कर्मकाण्ड, विष्णुपूजा पद्धति, वर्णाश्रमधर्म एवं अनेक आचारों का समावेश है। इसमें नक्षत्र तथा आकाश के वर्णन-क्रम में ध्रुवलोक एवं ध्रुवचरित की कथा वर्णित है और दिवोदास, राजा शिवि, उशीनर, मरुत् हरिश्चन्द्र, मान्धाता आदि के आख्यानों का उल्लेख किया गया है। इस खण्ड में राजधर्म का भी वर्णन है।

पाताल खण्ड - इस खण्ड में नाग लोक का वर्णन है और प्रसंगवश रावण का उल्लेख होने से सम्पूर्ण रामचरित का विशद वर्णन किया गया है। इसी खण्ड में कृष्ण की महिमा एवं कृष्ण तीर्थ तथा नारद के स्त्री-रूप की कथा कही गई है। इसके अन्त में बारहों महीनों के पर्वों एवं उनके महत्व का वर्णन कर भारतीय भूगोल-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री का आकलन किया गया है। इस खण्ड में रामायण की जो कथा उपन्यस्त है, वह महाकवि कालिदास कृत 'रघुवंश महाकाव्य' के अत्यधिक निकट है तथा रामायण की कथा के साथ उसका अल्प या आंशिक साम्य दिखाई पड़ता है। इसमें भवभूति-कृत 'उत्तर रामचरित' नाटक के समान राम के उत्तर चरित का वर्णन है। अन्त में अष्टादश पुराणों का सार प्रस्तुत कर श्रीमद्भागवत की महिमा का बखान किया गया है।

उत्तर खण्ड - इस खण्ड का प्रारम्भ महेश-नारद-संवाद से हुआ है तथा नाना प्रकार के आख्यानों एवं वैष्णव धर्म सम्बन्धी व्रतों एवं उत्सवों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें जलंधर नामक दैत्य के चरित का वर्णन अत्यन्त विस्तारपूर्वक हुआ है तथा तुलसी के जन्म एवं उसकी महिमा भी कही गयी है। उत्तरखण्ड में ऋतुओं एवं महीने के माहात्म्य एवं भारत के अनेक तीर्थों एवं उनकी महिमा का विशद विवेचन है। देवों तथा गंगा का माहात्म्य का भी वर्णन है और गंगा के तीर पर स्थित अनेक विध तीर्थों का सर्वेक्षण हुआ है। इसमें विष्णु के प्रिय कार्तिक एवं माघ मास के व्रतों का सविस्तार वर्णन कर परिशिष्ट के रूप में 'क्रियायोग सार' नामक अध्याय में विष्णु की भक्ति एवं गंगा स्नान के महत्व का दिग्दर्शन कराया गया है। यह खण्ड तुलसी के माहात्म्य एवं एकादशी व्रत की महिमा के वर्णन से समाप्त होता है।

पद्म पुराण के वर्ण्य विषयों के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि यह वैष्णव भक्ति प्रतिपादक पुराण है जिसमें भगवन्नामकीर्तन की विधि एवं अनेक प्रकार के नामापरा पणों का उल्लेख है। इसके प्रत्येक खण्ड में भक्ति की महिमा गायी गयी है और भगवत्स्मृति, भगवद्भक्ति, भगवत्तत्त्वज्ञान तथा भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार को मूलविषय मान कर उनका विशद विवेचन हुआ है। इसके वर्ण्यविषयों में अधोलिखित विषयों का समावेश कर उनकी महत्ता सिद्ध की गयी है-श्राद्ध-माहात्म्य, तीर्थ-महिमा, आश्रमधर्म-निरूपण, नाना प्रकार के व्रतों एवं स्नान, ध्यान तथा तर्पण का विधान, दान स्तुति, सत्संग का माहात्म्य, दीर्घायुत्व के सहज साधन, त्रिदेवों का एकत्व, मूर्तिपूजा, ब्राह्मण एवं गायत्री का महत्व, गौ तथा गोदान की महिमा, द्विजोचित आचार-विचार, पितृ तथा पतिभक्ति, विष्णुभक्ति, अद्रोह, पांच यज्ञों का महत्व, कन्यादान की महिमा, सत्य भाषण तथा लोभ-त्याग का महत्व, देवालय-निर्माण, पोखरा-खुदाना, देव पूजन, गंगा-गणेश एवं सूर्य की महिमा तथा उनकी उपासना के फलों की महत्ता, पुराणों की महिमा, भगवन्नाम, ध्यान, प्राणायाम आदि। पद्मपुराण का समय-निर्धारण-सम्बन्धी अद्यावधि कोई सुनिश्चित विचार प्राप्त नहीं होता और

संबद्ध विषय में विद्वानों में मत वैभिन्न दिखायी पड़ता है। श्रीमद्भागवत का उल्लेख, राधा के नाम की चर्चा, रामानुज का वर्णन आदि विषयों के आधार पर इसे रामानुजाचार्य की परवर्ती रचना माना जाता है। श्री अशोक चटर्जी ने अपने एक शोध परक निबन्ध में यह सिद्ध किया है कि पद्मपुराण में राधा का नामोल्लेख इस तथ्य का द्योतक है कि इस पर रामचरित सम्प्रदाय का प्रभाव है। विद्वानों के अनुसार इसकी रामायण की कथा पर 'रघुवंश' और 'उत्तर रामायण' की कथा का प्रभाव है और स्वर्ग खण्ड में वर्णित शकुन्तोलापाख्यान महाकवि कालिदास की शकुन्तला से अनुप्राणित है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर इसका रचना-काल पांचवी शती का परवर्ती होना चाहिये। ठीक इसके विपरीत डॉ० विन्टर नित्स एवं डॉ० हरिदत्त शर्मा ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि महाकवि कालिदास कृत शकुन्तला नाटक पद्मपुराण की कथा से प्रभावित है, न कि उनका ऋण पद्मपुराण पर है। अतः, परस्पर विरोधी मतों के आधार पर इस पुराण का रचना काल अधिक अर्वाचीन नहीं माना जा सकता और इस संबंध में भी अभी पर्याप्त शोध अपेक्षित है।

विष्णु पुराण

विष्णु पुराण वैष्णवों का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। इसकी महत्ता इस रूप में सिद्ध है कि वैष्णव आचार्य रामानुज ने अपने 'श्रीभाष्य' में प्रमाण स्वरूप इसके उद्धरण दिये हैं। इसमें एकमात्र विष्णु ही सर्वोच्च देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं और इसी रूप में उनकी महिमा का बखान कर उन्हें ब्रह्मा तथा शिव से अभिन्न माना गया है। इस पुराण का विभाजन अंशों में हुआ है, जिनकी संख्या ६ है और प्रत्येक अंश अनेक अध्यायों में विभक्त है और उनकी संख्या कुल १२६ है। इस पुराण में छह सहस्र श्लोक हैं। पर, इस सम्बन्ध में नारदीय एवं मत्स्य पुराण में क्रमशः चौबीस एवं २३ हजार श्लोक बताये हैं। इस पुराण की तीन टीकाओं का पता चला है-श्रीधर स्वामीकृत टीका, विष्णुचित्त रचित विष्णुचितीय तथा रत्नगर्भभट्टाचार्य प्रणीत वैष्णवकृत चन्द्रिका। इस पुराण के वक्ता पराशर हैं और श्रोता मैत्रेय अर्थात् दोनों के संवाद के रूप में इसकी रचना हुई है।

विष्णु सम्बन्धी पुराण होते हुए भी इसमें विष्णु के व्रतों, पूजापद्धतियों एवं तीर्थों का वर्णन नहीं है। इसके प्रथम अंश में २२ अध्याय हैं और चौबीस तत्त्वों के विचार के साथ जगत् के उत्पत्तिक्रम का वर्णन कर विष्णु की महिमा गायी गयी है। ब्रह्मा की आयु और काल का स्वरूप, उनकी उत्पत्ति, वराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार, ब्रह्मा द्वारा पृथ्वी की रचना, अविद्यादि विविध सर्गों का वर्णन, चातुर्वर्ण्यव्यवस्था एवं प्रलय का वर्णन करने के पश्चात् ध्रुव, प्रह्लाद आदि की कथा का कथन कर विष्णु भगवान् की विभूति और जगत् की व्यवस्था का वर्णन है।

द्वितीय अंश में १६ अध्याय हैं। इसके अन्तर्गत भूगोल, खगोल तथा सात पाताल लोकों के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के नरकों एवं भगवन्नाम के माहात्म्य का वर्णन है। इसमें सूर्य, नक्षत्र, राशियों की व्यवस्था, कालचक्र, लोकपाल, गंगावतरण ज्योतिश्चक्र, शिशुकुमारचक्र, द्वादश सूर्यों के नाम, अधिकार एवं सूर्य तथा वैष्णवी शक्ति का मनोरम विवरण प्राप्त होता है। इसी खण्ड में जड़ भरत का चरित्र भी वर्णित है। इसमें भरत-चरित्र के वर्णन में भारत वर्ष के नामकरण का भी प्रसंग आया है।

तृतीय अंश में १८ अध्याय हैं और आश्रम-विषयक कर्तव्यों का निर्देश कर वैदिक शाखाओं का विस्तृत विवेचन हुआ है। इसमें चतुर्युग के अनुसार व्यासों के भिन्न-भिन्न नामों का विवरण प्रस्तुत कर उनकी संख्या २८ बतलायी गयी है और ब्रह्मज्ञान के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। इसी अंश में व्यास तथा उनके शिष्यों द्वारा किये गये वैदिक विभागों तथा कई सम्प्रदायों का भी उल्लेख है। तत्पश्चात् अष्टादश पुराणों की परिगणना कर समस्त शास्त्रों एवं कलाओं की सूची प्रस्तुत हुई है। इसके भीतर भगवान् विष्णु की आराधना तथा चातुर्वर्ण्यधर्म का प्रतिपादन

कर ब्रह्मचर्यादि आश्रमों, जातकर्म नामकरण, विवाह संस्कार की विधि, ग हस्थ-सम्बन्धी आचार, श्राद्ध तथा प्रेतकर्म का भी समावेश किया गया है।

चतुर्थ अंश में २४ अध्याय हैं और ऐतिहासिक सामग्री का चयन किया गया है। इसमें राजवंशों की उत्पत्ति दिखाकर सूर्य एवं चन्द्रवंशी नरेशों की वंशावली प्रस्तुत की गयी है। इसमें पुरुरवा-उर्वशी-संवाद, राजा ययाति, पाण्डवों की कथा, कृष्ण चरित, महाभारत एवं रामायण की कथा का निरूपण कर भविष्य में होने वाले मगध, शिशुनाग, नन्द, मौर्य, आन्ध्रभ त्य प्रभ ति राजवंशों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पंचम अंक के ३८ अध्यायों में सम्पूर्ण कृष्ण चरित एवं कृष्ण लीला का वर्णन है। षष्ठ अंश में कुल आठ अध्याय हैं और कलिधर्म निरूपण, व्यास द्वारा कलियुग, शूद्र और स्त्रियों का महत्त्व वर्णन, प्राकृत प्रलय का निरूपण, आध्यात्मिकादि त्रिविधतापों का वर्णन तथा कृत युग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का वर्णन कर कलि के दोषों को भविष्य कथन के रूप में दिखाया गया है। अन्तिम अध्याय में सम्पूर्ण पुराण का सारांश देकर विष्णु की स्तुति एवं प्रार्थना में पुराण की समाप्ति होती है।

विष्णु पुराण के रचना-काल के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मत प्राप्त होते हैं। अंतरंग परीक्षा के आधार पर इसका काल-निर्णय किया जा सकता है। इसमें ब्रह्म पुराण के पांच श्लोक उद्ध त हैं विष्णु ४।१०।२३।२७। याज्ञवल्क्य स्म ति की मिताक्षरा टीका में नारायण बलि के सम्बन्ध में विष्णु पुराण के १४ श्लोक आये हैं और कल्पतरु, स्म ति-चन्द्रिका तथा अपरार्क ने इसके कई सौ श्लोकों को ग्रहण कर लिया है। विष्णु-पुराण के दो श्लोक काव्य प्रकाश के रसध्वनि प्रकरण में उद्ध त हैं। इन आधारों तथा कलियुग के वर्णन में गुप्तकाल का इतिहास प्रस्तुत करने के कारण इसका समय १०० ई० से २०० ई० के मध्य माना गया है। तमिल ग्रन्थ मणिमेखले में विष्णु पुराण का उल्लेख होने से डॉ० रामचन्द्र दीक्षितार इसका आर्विभावकाल ईस्वी पूर्व द्वितीय शती मानते हैं जो अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है।

वायुपुराण

वायुपुराण में ऐतिहासिक तत्त्वों का आधिक्य है तथा अनेक पुराणों की अपेक्षा इसमें वैज्ञानिक तथ्यों की अधिकता है। इस पुराण की रचना असीमकृष्ण के शासनकाल में हुई थी। अन्य पुराणों का प्रवचन नैमिषारण्य में हुआ था, पर इस पुराण में इस प्रकारके संकेत प्राप्त होते हैं कि वायुपुराण का प्रवचन कुरुक्षेत्र में हुआ। इसके द्वितीय अध्याय में इस प्रकार का कथन है कि इसका अतिप्राचीन प्रवचन नैमिषारण्य में ही हुआ था और यह समय मन्वन्तर का आदिकाल रहा होगा। स ष्टि के प्रारम्भ में मुनियों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर वायुदेवता ने इस पुराण को सुनाया था और 'वातारणि ऋषि' इस पुराण के प्रवक्ता हुए थे। इसलिये इसे वायुप्रोक्त संहिता भी कहते हैं।

वायुपुराण और शिवपुराण के सम्बन्ध में विचित्र प्रकार की कल्पनाएं प्रसिद्ध हैं। कतिपय विद्वान् दोनों को एक ही (पुराण) मानते हैं और कुछ इनके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। 'विष्णु', 'मार्कण्डेय', 'कूर्म', 'वाराह', 'लिंग', 'ब्रह्मवैवर्त' एवं 'भागवतपुराण' में 'शिवपुराण' का उल्लेख है; किन्तु 'नारद', 'मत्स्य', तथा 'देवी भागवत' में वायु की चर्चा की गयी है। पर, सम्प्रति दोनों ही पुराण प थक्-प थक् रूप में उपलब्ध हैं और उनके वर्ण्य-विषयों में भी पर्याप्त अन्तर है। वायुपुराण ११२ अध्यायों से युक्त है, जिसकी श्लोकसंख्या ग्यारह सहस्र है। यह पुराण चार खण्डों-प्रक्रिया, अनुषंग, उपोद्धात तथा उपसंहार-में विभक्त है, जिन्हें पाद कहा गया है। इसके वर्ण्य विषयों में स ष्टिक्रम एवं राजाओं की वंशावली है। आरम्भ के कई अध्यायों में स ष्टि का विस्त त विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् भौगोलिक सामग्री का चयन किया गया है, जिसमें जम्बू द्वीप का विशेष रूप से वर्णन कर अन्य द्वीपों का भी परिचय दिया गया है। इसके पश्चात्

अनेक अध्यायों में खगोल-वर्णन, युग, ऋषि, तीर्थ एवं यज्ञों के विवरण दिये गये हैं। इसमें कई राजाओं के वंशों का वर्णन कर प्रजापति वंश का उल्लेख हुआ है और प्रजावर्ग तथा ऋषिवंशों के अन्तर्गत प्राचीन बाह्यवंशों का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वायुपुराण के ६६ अध्याय में प्राचीन राजवंशों की विस्तृत वंशावलि दी गई है और अनेक अध्यायों में श्राद्ध एवं प्रलय का वर्णन है। इस पुराण का विवेच्य विषय है-शिवभक्ति एवं उसकी महत्ता का निदर्शन। इसके समस्त आख्यान शिवभक्तिपरक हैं, पर यह पुराण शिवसम्बन्धी पूर्वाग्रह एवं कट्टरता की भावना से रहित है तथा इसमें अन्य देवताओं के प्रति भी श्रद्धास्पद तथ्य प्रस्तुत कर उनको स्थान दिया गया है। इसके कई अध्यायों में विष्णु के अवतारों की गाथा दी गयी है और ११ से १५ अध्यायों तक यौगिक प्रक्रिया का सविस्तर वर्णन है। इस पुराण की समाप्ति शिव के ध्यान में लीन होकर योगियों द्वारा शिवलोक की प्राप्ति में होती है।

रचना कौशल के वैशिष्ट्य, सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित के अनुकीर्तन के कारण वायुपुराण का महत्त्व असंदिग्ध है। इस पुराण के १०४ से ११२ अध्यायों में वैष्णवमत का जो पुष्टिकरण है, उसे प्रक्षिप्त माना जाता है। पंडितों का अनुमान है कि किसी वैष्णव भक्त ने इसे बाद में जोड़ दिया होगा इसमें राधा का भी नामोल्लेख है और १०४ वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण की 'मधुर लीला' का गान किया गया है। इसके अन्त के आठ अध्यायों में गयामाहात्म्य का विस्तारपूर्वक वर्णन है और उसके देवता के रूप में गदाधर नामक विष्णु का उल्लेख है। इसके प्रक्रिया पाद में ६ अध्याय हैं और उपोद्घात पाद ७ से ६४ अध्याय तक है। अनुषंगपाद में ६५ से ६६ तक अध्याय आते हैं और १०० से ११२ तक के अध्याय उपसंहारपाद में हैं।

इस पुराण में कल्प, सृष्टि एवं सांख्यदर्शन का विलक्षण प्रकार से वर्णन उपलब्ध होता है। अन्य पुराणों में जहां तीस कल्पों के विवरण प्राप्त होते हैं वहां इसमें २८ कल्पों का ही विवेचन है। कल्पों की सूची इस प्रकार है-भव, भुव, तप, भेव, रम्भ, ऋतु, क्रतु, वहिन, हव्यवाहन, सावित्र, भुव, उशिक, कुशिक, गन्धर्व, ऋषज्, षड्ज, मार्जालीय मध्यम, वैराजक, निषाद, पंचम, मेघवाहन, चिन्तक, आकूति, विज्ञाति, मन, भाव, ब हत्। इसमें सृष्टि की एक-एक संख्या को कल्प मान लिया गया है। इसके प्रारम्भ में यह बताया गया है कि विश्व की उत्पत्ति के एकमात्र कारण महेश्वर हैं और वे आनन्दस्वरूप हैं।

वायुपुराण का वैशिष्ट्य 'पाशुपत योग' के वर्णन में है जो प्राचीन योगशास्त्र के स्वरूप के परिज्ञान के लिए अत्यन्त उपादेय है।

इस पुराण का उल्लेख बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' एवं 'कादम्बरी' दोनों ही ग्रन्थों में किया है-पुराणे वायु प्रलपितम्। इससे पता चलता है कि यह उस समय तक अधिक लोकप्रिय हो गया था। शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य में 'वायुपुराण' के उद्धरण प्राप्त होते हैं और 'महाभारत' के वनपर्व में इसका स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है। इस दृष्टि से इसकी प्राचीनता सर्वविदित है। आधुनिक विद्वान् डॉ० हाजरा वायुपुराण में गुप्त राज्य के आरम्भिक काल की सीमा का उल्लेख प्राप्त कर इसका समय ४०० ई० के आस-पास मानते हैं, पर इसके पूर्ववर्ती होने के भी प्रमाण विद्यमान हैं।

नारदीयपुराण या बहन्नारदीय पुराण

नारदीय पुराण विष्णुभक्तिपरक पुराण है, जो प्रसिद्ध विष्णुभक्त नारद के नाम पर रचित है। इसमें नारद जी विष्णुभक्ति का प्रतिपादन करते हैं। पर, इसे केवल भक्ति ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें वैष्णवों के अनुष्ठानों एवं सम्प्रदायों तथा तत्सम्बन्धी दीक्षा का विधान है। इस पुराण में सभी पुराणों की विषय-सूची दी गई है और अनेक तीर्थों के माहात्म्य प्रदर्शित किये गये हैं। उदाहरणार्थ गंगा माहात्म्य, गया माहात्म्य, काशी माहात्म्य, पुरुषोत्तम माहात्म्य,

प्रयाग माहात्म्य, कुरुक्षेत्र माहात्म्य, हरिहर माहात्म्य, वदरिकाश्रम माहात्म्य, कामोदामाहात्म्य, प्रभासतीर्थ, पुष्कर माहात्म्य, गौतमाश्रम माहात्म्य, त्र्यम्बक माहात्म्य, सेतु माहात्म्य, नर्मदातीर्थ माहात्म्य, अवन्ती माहात्म्य, मथुरा माहात्म्य तथा वन्दावन माहात्म्य को लिया जा सकता है। 'मत्स्य पुराण' में कहा गया है कि इस पुराण की कथा में नारद ने ब हत्कल्प के प्रसंग में धर्म का उपदेश दिया है। इस पुराण में २५ हजार श्लोक हैं और पूर्व तथा उत्तर के नाम से दो खण्ड हैं। पूर्व खण्ड में कुल १२८ अध्याय हैं और उत्तर खण्ड में ८२ अध्याय। सम्प्रति इस पुराण के श्लोको को जोड़ने से उनकी संख्या १८११० होती है। इसके उत्तर भाग में वैष्णव सम्प्रदाय का विशेष रूप से वर्णन कर उनका महत्व प्रदर्शित किया गया है, पर पूर्वभाग में साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह के दर्शन नहीं होते। पौराणिक क्रम से 'विष्णु पुराण' को छठा स्थान प्राप्त है। कतिपय विद्वान् सभी पुराणों की विषयानुक्रमिका को देखकर इसे अर्वाचीन पुराण कहते हैं, पर इस विवरण को परवर्ती प्रक्षेप कहा जा सकता है। प्रो० एच०एच० विल्सन ने इसे महापुराण नहीं स्वीकार करते क्योंकि इसमें पुराण-विषयक पंच लक्षणों का अभाव है और इसे विष्णुभक्तिपरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। वें इसका समय सोलहवीं शताब्दी मानते हैं। पर, यह पुराण इतना अर्वाचीन नहीं है, क्योंकि इसका उल्लेख अलबेरुनी के ग्रन्थ में प्राप्त होता है जिसका समय ११वीं शताब्दी है। बहन्नारदीय पुराण के अतिरिक्त एक नारद उपपुराण भी प्राप्त होता है, जिसमें ३६ अध्याय तथा ३६०० श्लोक हैं। यह विशुद्ध विष्णुपरक साम्प्रदायिक रचना है। सम्भवतः इसी को देखकर विद्वानों ने नारदीय पुराण को उपपुराण मान लिया है, अतः नारद या नारदीय पुराण से अन्तर स्थापित करने के लिये इसे बहन्नारदीय पुराण कहा जाता है। इस पुराण में विष्णुभक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र साधन मानकर अनेक अध्यायों में विष्णु, राम, हनुमान्, कृष्ण, काली तथा महेश के मन्त्रों का विधान सहित वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण का प्रणयन सूत और शौनक के वार्तालाप के रूप में हुआ है। इसके प्रारम्भ में सष्टि-क्रम का संक्षिप्त वर्णन कर नाना प्रकार की धार्मिक कथाओं का विवरण है। इसके वर्णित विषय हैं-मोक्ष, धर्म, नक्षत्र, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, गहविचार, मन्त्रसिद्धि, देवताओं के मन्त्रों की अनुष्ठान-विधि, वर्णाश्रम यर्म, श्राद्ध, प्रायश्चित्त, सांसारिक कष्ट तथा भक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति। इसमें तिथियों के व्रत का भी वर्णन प्राप्त होता है। उत्तर भाग में विष्णु की भक्ति का निरूपण तथा भक्ति के अधीनों का वर्णन कर नियोगाचरण निरूपण एवं यम-विलाप का समावेश है। वसु का ब्रह्म के निकट गमन का रोचक व तान्त इसमें आया है और मोहिनी-तीर्थ सेवन की विस्तृत चर्चा की गयी है।

मार्कण्डेय पुराण

मार्कण्डेय ऋषि के नाम पर इस पुराण का नामकरण किया गया है, जो इसके प्रवक्ता है। 'शिवपुराण' के उत्तर खण्ड में इस प्रकार का कथन है कि मार्कण्डेय मुनि इस पुराण के वक्ता हैं और यह सप्तम पुराण है। इस पुराण की मौलिकता, प्राचीनता और यथार्थता असंदिग्ध है। इसका विभाजन अध्यायों में हुआ है, जिनकी संख्या १३७ है, पर कहीं-कहीं १३८ अध्यायों का भी उल्लेख हुआ है। इसमें कुल नौ हजार श्लोक हैं। यह पुराण जैमिनी प्रश्नकर्ता है और उनके प्रश्नों के उत्तर मार्कण्डेय ने दिये हैं। इसका प्रारम्भ सष्टि के वर्णन से न होकर 'वसु' के शाप की कथा से होता है। इसमें जैमिनी द्वारा सुनायी गयी कथा चार पक्षियों के माध्यम से कथित है। विंध्यगिरि पर चार पंडित पक्षी रहते थे, जिनके पास जाकर जैमिनी ने चार प्रश्न किये पक्षियों ने उत्तर के रूप में कहा कि भगवान् के चार व्यूह ही पृथ्वी पर अवतार ग्रहण कर संसार की सष्टि, पालन एवं संहार करते हैं। इसी क्रम में चारों व्यूहों द्वारा धारण किये गये अवतारों का भी विवरण है। इन पक्षियों ने द्रौपदी के पंचपतित्व एवं उसके पुत्रों से सम्बद्ध प्रश्न का भी समाधान किया है। उनके अनुसार पूर्वजन्म में पांचों पाण्डव एक ही

थे और कारण विशेष से अगले जन्म में पथक्-पथक् रूप में उत्पन्न हुए इसी प्रकरण में राजा हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र की भी कथा आती है।

‘मार्कण्डेयपुराण’ में ३१वें अध्याय के पश्चात् इक्ष्वाकुचरित, तुलसीरचित, रामकथा, कुशवंश, सोमवंश, पुरुरवा, नहुष तथा ययाति का वृत्त, कृष्ण-लीला, द्वारिकाचरित, सारख्या कथा प्रप जसत्त्व एवं मार्कण्डेय की कथा वर्णित है। इस पुराण के प्रारम्भ में महाभारत-विषयक चार प्रश्न उठाये गये हैं और उनका उत्तर पूर्वोक्त चार पक्षियों द्वारा दिलाया गया है। इसमें अनेक पौराणिक आख्यानों के अतिरिक्त गृह्य धर्म, श्राद्ध, दैनिकचर्या, नित्यकर्म, व्रत तथा उत्सव-सम्बन्धी विषय वर्णित हैं तथा आठ अध्यायों में योगशास्त्र का विस्तृत विवेचन है। इस पुराण में अनेक दार्शनिक बातों का भी उल्लेख है और प्राणियों के जन्म तथा मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाले अनेक लोकों का कथन किया गया है। इसी क्रम में कार्तवीर्य अर्जुन की कथा, दत्तात्रेय का चरित तथा सती मदालसा की कहानी कही गयी है। तदनन्तर सृष्टि, भुवनकोश एवं मन्वन्तर आदि पौराणिक विषयों का विवेचन हुआ है। इसमें विश्वविश्रुत धर्मग्रन्थ ‘दुर्गासप्तशती’ का समावेश किया गया है, जिसमें तीन चरित हैं। प्रथम चरित में मधुकैटभ-वध, मध्यमचरित में महिषासुरवध तथा उत्तरचरित में शुम्भनिशुम्भ एवं उनके सेनाध्यक्षों-चण्ड, मुण्ड तथा रक्तबीज-का वध वर्णित है। इसमें दुर्गा को सृष्टि की मूलशक्ति मानकर विश्व की मूलचितिशक्ति के रूप में उनका वर्णन किया गया है। इस पुराण में विष्णु कर्मशीलदेव के रूप में वर्णित हैं और भारतवर्ष को कर्मशील देश माना गया है। इसके अन्तिम २७ अध्यायों में सूर्यवंश का वर्णन कर ‘दम’ के चरितवर्णन के साथ पुराण की समाप्ति की गयी है।

अग्निपुराण

अग्नि द्वारा वसिष्ठ को उपदेश दिये जाने के कारण इस पुराण का नाम अग्नि पुराण है। पौराणिक क्रम से इसे अष्टम स्थान प्राप्त है। यह पुराण भारतीय कला, दर्शन, संस्कृति और साहित्य का विश्व कोश माना जाता है, जिसमें शताब्दियों के प्रवह-मान भारतीय विद्या का सार उपन्यस्त है। इसमें पुराणों में वर्णित विषयों के अतिरिक्त अनेक शास्त्रीय विषयों का भी सार-संग्रह किया गया है। इस पुराण का विभाजन अध्यायों में किया गया है, जिनकी संख्या ३८३ है और ११४५७ श्लोक हैं। इसके आरम्भ में विष्णु के मत्स्य, कूर्म तथा वराह अवतारों का वर्णन कर रामायण के प्रत्येक काण्ड की कथा का पथक्-पथक् अध्यायों में वर्णन किया गया है। तदनन्तर श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन किया गया है, जिसका नाम हरिवंश है। इसमें महाभारत के सभी पर्वों की कथा स्वतन्त्र अध्यायों में दी गयी है, बाद में सृष्टि का वर्णन किया गया है। इसमें अनेक व्रतों एवं उपवासों का भी विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा भगवान् के अवतारों एवं उनकी प्रतिमाओं के लक्षण उल्लिखित हैं। शिवलिंग, सूर्य प्रभृति प्रतिमाओं के स्वरूप का वर्णन हुआ है तथा अनेक प्रकार की पूजाओं एवं दीक्षाओं का उल्लेख है। इसमें गंगा, काशी, गया, प्रयाग तथा नर्मदा के माहात्म्य वर्णित हैं तथा राजा के धर्म एवं व्रत, दान आदि का भी वर्णन है। अग्निपुराण में स्त्री पुरुष के शारीरिक लक्षणों एवं सामुद्रिक शास्त्र का वर्णन तथा रत्नों के भी लक्षण दिये गये हैं। इनमें चारों वेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद, व्याकरण, दिव्यपरीक्षा तथा नाना प्रकार के अस्त्रों की शान्ति के उपाय वर्णित हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्वायंभुवमनु, काश्यप, वंशवर्णन तथा विष्णु आदि देवताओं की पूजा का विधान, कर्मकाण्ड के विविध विधान, देवालयां के निर्माण का भी, अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त भारतवर्ष का वर्णन, तांत्रिक उपासना, युद्ध विद्या, श्राद्ध का विधान, ज्योतिषशास्त्र का निरूपण, वर्णाश्रमधर्म, विवाह संस्कार, शौचाशौच आचार, वानप्रस्थ, पतिधर्म तथा नाना प्रकार के पाप एवं उनके प्रायश्चित्त के उपायों का इसमें निरूपण है। कोश, योग विद्या, ब्रह्मविद्या, श्राद्ध का विधान, ज्योतिषशास्त्र का निरूपण है। कोश, योग विद्या, ब्रह्मविद्या, गीता का सार,

अश्वयुर्वेद, गजायुर्वेद, व क्षायुर्वेद, गोचिकित्सा, यात्रा, शकुन का वर्णन, दान की महिमा, दण्डनीति, धनुर्विद्या, दायभाग तथा लोक-शिक्षण से सम्बद्ध अनेकविध विद्याओं को इसमें स्थान दिया गया है। अनेक विद्याओं का सार प्रस्तुत करने के कारण विण्टरनिट्स ने इसे भारतीय विद्या का महाकोश कहा है। इसके अन्त में कहा गया है कि अग्निपुराण में समस्त विद्याएं प्रदर्शित की गयी हैं।

इसके ३३७ से ३४७ अध्यायों तक काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विभिन्न विषयों का सुन्दर विवेचन है। प्रारम्भ में काव्य के लक्षण, उसके भेद, गद्यकाव्य एवं उसके मेदोपभेद तथा महाकाव्य का विवेचन है। इसमें ध्वनि, वर्ण, पद वाक्य को वाङ्मय कहा गया है और काव्य शास्त्र तथा इतिहास तीनों का समावेश वाङ्मय में किया गया है। काव्य शास्त्रीय विषयों में नाटक, रीति, वृत्ति, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा रस का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। इसमें छन्दों का भी विवेचन है। शृंगारादि रसों का निरूपण कर उसके सभी अंगों-विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्थायी-का विवेचन किया गया है और नायक-नायिका-भेद भी वर्णित है। अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय विषयों के निरूपण में दण्डीकृत काव्यादर्श और भोज के ग्रन्थों का बहुत बड़ा प्रभाव है। इसमें बताया गया है कि ब्रह्मा का आदिम विकार अहंकार है, जिससे अभिमान की उत्पत्ति होती है और उससे रति उत्पन्न होती है जो संचारी आदि भावों से परिपुष्ट होकर शृंगाररस का रूप धारण करती है। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक रस उत्पन्न होते हैं। इसमें रीति के चार भेदों-पांचाली, गौड़ी वैदर्भी एवं लाटता या लाटी का वर्णन है। ३४१ से ३४२ वे अध्यायों में नृत्य एवं अभिनय का वर्णन है और ३४३वें अध्याय में अर्थालंकार तथा ३४५वें में शब्दार्थालंकार निरूपित हैं। ३४६ तथा ३४७ वें अध्यायों में काव्यगुणों और काव्यदोषों का वर्णन है। इसमें गुण के तीन भेद किये गये हैं-शब्दगुण, अर्थगुण और शब्दार्थगुण। गुण के सात, अर्थगुण के ६ एवं शब्दार्थगुण के ६ भेद उक्त हैं। अनेक प्राचीन ग्रन्थों का सार ग्रहण करने के कारण विद्वानों ने अग्निपुराण का समय नवम शताब्दी माना है। इसका मूल नाम वहिनपुराण था।

भविष्य पुराण

भविष्य की घटनाओं वर्णन होने के कारण इसका नाम भविष्य पुराण है। बह्मरसीयपुराण में इसकी जो विषय-सूची दी गयी है, उसके अनुसार इसमें पांच पर्व हैं-ब्रह्मपर्व, विष्णुपर्व, शिवपर्व, सूर्यपर्व तथा प्रतिसर्ग पर्व। भविष्यपुराण में कुल १४ हजार श्लोक हैं। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित संस्करण में दो खण्ड हैं-पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध और उनमें क्रमशः ४१ एवं १७१ अध्याय हैं। संप्रति इसकी जो प्रतियां उपलब्ध हैं, उनमें नारदीयपुराण की विषय-सूची की पुष्टि नहीं होती। भविष्य-कथन में कलि के विभिन्न राजाओं से लेकर रानी विक्टोरिया तक का इसमें वर्णन है। इसके प्रतिसर्गपर्व की अनेक कथाओं की पंडितों ने अविश्वसनीय माना है और इसका भविष्यकथन भी आज की घटनाओं से मेल नहीं खाता, अतः विद्वान् इसे प्रक्षेप मानने को विवश हैं।

भविष्य में होने वाली घटनाओं का वर्णन होने के कारण इसमें समय-समय पर उत्पन्न विद्वानों ने अनेक समय की घटनाओं को जोड़ दिया है, जिससे सारा पुराण गड़बड़ का भंडार हो गया है। इसमें अंगरेजों के लिये 'इंग्रेज' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस पुराण का मूल रूप समय-समय पर परिवर्तित होता गया है और बेडौल टूसटास के कारण यह अज्ञेय होता चला गया है। आफ्रेट महोदय ने १६०३ ई० में अपने एक लेख में इसके लिये 'साहित्यिक धोखेबाजी' शब्द का प्रयोग किया था। वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित संस्करण में इतनी नवीन बातें आ गयी हैं कि सहसा उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र को भविष्यपुराण की जो चार प्रतियां प्राप्त हुई थीं, उनमें परस्पर भिन्नता थी। उनका कहना था

कि आज कल जो भविष्यपुराण मिलता है, उसमें चारों प्रतियों के विषयों का मिश्रण है।

इस पुराण का प्रारम्भ राजा शतानीक के प्रश्न से होता है जिसका उत्तर सुमन्त मुनि देते हैं। इसके वर्ण्य-विषयों के युगों की संख्या और धर्म, चतुर्वर्णों की उत्पत्ति, संस्कार एवं उनके नाम, ब्राह्मणों की प्रशंसा तथा पुराणों की प्रशंसा हैं। इसमें वेदाध्ययन की विधि, संस्कारों की विधि, ब्रह्मचारी के धर्म, स्त्री के लक्षण, चारों वर्णों की वैवाहिक व्यवस्था, विवाह के आठ भेद, पुत्री के धन लेने का निषेध, पतिव्रता का आचरण एवं शास्त्र पर विचार, उत्तम देश में निवास करने योग्य स्थान पर विचार, गृहस्थ का व्यवहार, मन्दिर बनाने एवं ब्रह्मा जी की पूजा का फल आदि विषयों का वर्णन है। उपर्युक्त सभी विषय प्रथम कल्प में वर्णित हैं। इसके द्वितीय कल्प में च्यवन ऋषि की कथा तथा पुष्प-द्वितीया की विधि का कथन है। इसमें सूर्य-पूजा का फल आदि विषयों का वर्णन हुआ है और सर्पों की विविध जातियों के लक्षण का वर्णन कर मन्त्रौषधि के प्रयोग की विधि बताया गया है। इसमें बताया जाता है कि श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को जब कुष्ठ रोग हो गया तो उनकी चिकित्सा के लिये गरुड शाकद्वीप से शाकद्वीपी ब्राह्मणों को ले आये, जिन्होंने सूर्योपासना के द्वारा उन्हें रोग-मुक्त कर दिया।

धार्मिक जीवन के विविध विधानों, सृष्टि-क्रम की चर्चा तथा भौगोलिक विषयों का भी वर्णन इस पुराण में हुआ है। सूर्योपासना के वर्णन में ही सुप्रसिद्ध 'आदित्य हृदयस्तोत्र' का समावेश है। आधुनिक राजाओं का वर्णन करते समय इसमें मुस्लिम शासन की स्थापना, पृथ्वीराज की गाथा तथा आल्हा ऊदल की कहानी कही गयी है। शाकद्वीपी मग ब्राह्मणों की उत्पत्ति का वर्णन ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इस पुराण का उल्लेख अबलेरूनी के ग्रन्थ में होने के कारण विद्वानों ने इसका समय दसवीं शती माना है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण

ब्रह्म के विवर्त के प्रसंग के कारण इस पुराण की संज्ञा ब्रह्मवैवर्त है। यह पुराण चार खण्डों में विभक्त है-ब्रह्म खण्ड, प्रकृति खण्ड, गणेश खण्ड तथा कृष्ण-जन्म-खण्ड-और श्लोकों की संख्या अष्टारह हजार है। यह वैष्णव पुराण है जिसका प्रतिपाद्य विषय श्रीकृष्ण के चरित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन कर वैष्णव तथ्यों का प्रकाशन है। इसमें राधा कृष्ण की पत्नी एवं सृष्टि की आधारभूत शक्ति के रूप में प्रदर्शित की गयी हैं। नारदपुराण के अनुसार इसमें श्रीकृष्ण द्वारा ब्रह्म तत्त्व का प्रतिपादन होने के कारण इसकी अभिधा ब्रह्मवैवर्त पुराण है।

अष्टादश पुराण से यह पुराण इस अर्थ में भिन्न है कि अन्य पुराणों में जहाँ पांच तत्त्वों की प्रधानता होती है, वहाँ इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का अल्प मात्रा में वर्णन कर राधा-कृष्ण की ललित-लीला का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए तत्त्वम्बन्धी साम्प्रदायिक साधानाएं एवं उपासनाएं प्रस्तुत की गयी हैं। इसके कथानक की नव्यता की सूचना स्वयं इसके लेखक ने दी है। "समस्त पुराणों और उप-पुराणों तथा वेदों के भ्रम का भंजन करने वाला, हरि भक्ति का उत्पादक, समस्त तात्त्विक ज्ञान की वृद्धि करने वाला कामियों को कामना की पूर्ति करने वाला और मोक्षभिलाषियों को मोक्ष दिलाने वाला, वैष्णव जनों की भगवत् भक्ति का मार्ग-दर्शक यह ब्रह्मवैवर्त पुराण है। इस प्रकार इसे कल्पवृक्ष समझना चाहिये।"

इसके ब्रह्म खण्ड में श्रीकृष्ण द्वारा सृष्टि की रचना करने तथा परब्रह्म का निरूपण है। इस खण्ड में कुल तीस अध्याय हैं। इस खण्ड में परब्रह्म परमात्मा को सृष्टि का बीज तत्त्व माना गया है और वे एकमात्र गोलोकवासी श्रीकृष्ण ही हैं। इसमें परब्रह्म को शिव, शक्ति, महाविष्णु, दुर्गा या श्रीकृष्ण से अभिन्न कहा गया है। इसके सोलहवें अध्याय में आयुर्वेद का वर्णन है। प्रकृति खण्ड में देवियों का चरित वर्णित है तथा देवताओं की उत्पत्ति एवं विश्व के निर्माण की उपक्रियायें कथित हैं। इसमें प्रकृति का वर्णन दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री एवं राधा के रूप में किया गया है। अन्य वर्ण्य विषयों में तुलसी-पूजन-विधि, रामचरित तथा द्रौपदी के

पूर्वजन्म का व त्तान्त, सावित्री की कथा, छियासी प्रकार के नरककुण्डों का वर्णन, लक्ष्मी की कथा, भगवती स्वाहा, स्वधा, देवी षष्टि आदि की कथा तथा पूजन विधि, महादेव द्वारा राधा के प्रादुर्भाव एवं महत्व का वर्णन, श्रीराधा का ध्यान एवं षोडशोपचार पूजन-विधि, दुर्गाजी के सोलह नामों की व्याख्या, दुर्गाशन स्तोत्र तथा प्रकृति कवचादि का वर्णन है। गंगा, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों का उपाख्यान तथा भक्तों के लक्षणों का वर्णन इसी खण्ड में है। इसमें काल-कमलेश्वर के गुणों का निरूपण एवं पृथ्वी की कथा दी गयी है और भूमि हरण के पाप एवं भूमि-दान के पुण्य का उल्लेख है। इसी खण्ड में गंगोपाख्यान के अन्तर्गत गंगा-स्तोत्र का वर्णन हुआ है।

गणेश खण्ड में गणेश के जन्म, कर्म तथा चरित का विशद वर्णन है और उन्हें कृष्णावतार के रूप में दिखाया गया है। श्रीकृष्ण खण्ड में श्रीकृष्ण की सर्वांगपूर्ण गाथा प्रस्तुत की गयी है और राधा-कृष्ण के विरह का विवस्त त वर्णन है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण स्तोत्र और कवचों का विशाल संग्रह ग्रन्थ है। इसमें गणेश सम्बन्धी चार, शिवविषयक ६, दुर्गा सम्बन्धी ग्यारह, नारायण के दो, लक्ष्मी के ६, श्रीकृष्ण के ४९, राधा के १० एवं अन्य देवताओं के तीन स्तोत्र हैं। इसके अन्य प्रतिपाद्य विषयों की सूची इस प्रकार है-भगवद्भक्ति का प्रतिपादन, योग का वर्णन, सदाचार, वैष्णव तथा भक्ति की महिमा, नर-नारी के धर्म, अतिथि-सेवा का महत्त्व, गुरुमहिमा, माता-पिता की महत्ता, रोग-विज्ञान, स्वास्थ्य के नियम तथा औषधों की उपादेयता, व द्धत्व के न आने के साधन, आयुर्वेद के सोलह आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों का विवरण, भक्ष्याभक्ष्य, शकुन, अपशकुन तथा पाप-पुण्य का उल्लेख।

इस पुराण के प्रमुख चरित्र श्रीकृष्ण हैं और राधा उनकी ह्लादिनी शक्ति के रूप में वर्णित है। इसमें राधा-कृष्ण के विवाह का भी वर्णन है तथा कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी जितने भी सम्प्रदाय हैं-राधावल्लभीय, गौड़ीय, वल्लभीय आदि- उन सबों के साधानात्मक रहस्यों के मूल स्रोत इसमें विद्यमान हैं। इसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रकृति, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव का आविर्भाव श्रीकृष्ण से ही हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण और राधा से उस महाविराट् पुरुष या नारायण की उत्पत्ति कही गयी है, जिनके रोम-रोम में ब्रह्माण्ड है। इस पुराण के अनुसार हरि-भक्ति और हरि-कीर्तन का मार्ग सार्वभौम और सार्वजनीन है। श्रीकृष्ण की भक्ति से विहीन नर महापातकी बतलाये गये हैं। इस पुराण की रचना नारायण और नारद-संवाद के रूप में की गयी है। साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्त्व असंदिग्ध है।

लिङ्ग पुराण

यह शिवपूजा एवं लिंगोपासना के रहस्य को बतलाने वाला तथा शिव-तत्त्व का प्रतिपादक पुराण है। इसके आरम्भ में लिंग शब्द का अर्थ ओंकार किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि शब्द तथा अर्थ दोनों ही ब्रह्म के विवर्त रूप हैं। इसमें बताया गया है कि ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है और उसके तीन रूप-सत्ता, चेतना और आनन्द-आपस में संबद्ध हैं। सत्ता के अभाव में न तो ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है और न ज्ञान के बिना आनन्द की ही प्राप्ति होगी। तीनों ही देश-काल की सीमा से परे एवं व्यापक हैं। ब्रह्म की माया शक्ति इन्हें सीमा में आबद्ध कर सृष्टि का निर्माण करती है। पुनः सीमाबद्ध होने पर सत्ता सामान्य तथा विशेष रूप में प्रकट होता है और सुख तथा दुःख के रूप में आनन्द की भी परिणति हो जाती है। उपर्युक्त दार्शनिक तथ्य को पौराणिक भाषा में प्रकट किया गया है।

‘शिव पुराण’ बतलाता है कि लिंग के चरित का कथन करने या शिवपूजा के विधान का प्रतिपादन करने के कारण इसे लिंग पुराण कहते हैं। मत्स्य-पुराण के मतानुसार भगवान शंकर ने अग्नि-लिंग के मध्य में स्थित होकर तथा कल्पान्तर में अग्नि को लक्षित करते हुए धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष इन चारों पदार्थों की उपलब्धि के लिये जिस पुराण में धर्म को आदेश दिया है, उसे ब्रह्मा ने लिंग या लैंग पुराण की संज्ञा दी है।

लिंग पुराण में कुल ग्यारह सहस्र श्लोक हैं और अध्यायों की संख्या १६३ है। इसके दो विभाग हैं-पूर्व तथा उत्तर। पूर्वार्द्ध में १०८ अध्याय हैं और उत्तरार्द्ध में ५२ अध्याय। शिव-पुराण में भी इसके श्लोकों की संख्या यही हो गयी है। पूर्वभाग में बताया गया है कि शिव द्वारा ही सृष्टि की रचना हुई है। इसमें वैवरवत मन्वन्तर से लेकर कृष्ण के समय तक की घटनाओं एवं राजाओं के वंशवृत्त दिये गये हैं। चूँकि यह पुराण शिवतत्त्व का प्रतिपादन करता है और इसमें शिवोपासना का प्राधान्य है, अतः अनेक स्थलों पर शिव को विष्णु से महत्तर सिद्ध किया गया है। इसमें शिव के २८ अवतारों का कथन कर शैव तीर्थों एवं व्रतों का विस्तृत विवेचन है। इसके उत्तर भाग में शैवतन्त्रों के अनुसार ही पशु, पाश तथा पशुपति का वर्णन है। इसमें लिंगोपासना से सम्बद्ध से कथा भी प्रस्तुत की गयी है। इसके ६२वें अध्याय में काशी का विस्तारपूर्वक वर्णन है और उसके अनेक तीर्थों का विवरण देकर काली की भौगोलिक स्थिति का परिचय दिया गया है। इसमें उत्तरार्द्ध के कई अध्याय गद्य में हैं और तेरहवें अध्याय में शिव की प्रसिद्ध अष्टमूर्तियों के वैदिक नामों के उल्लेख हैं। इसके कई भागों पर तांत्रिक प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इसमें योग का विस्तृत वर्णन कर उसमें आने वाले विघ्नों का वर्णन दिया गया है।

विघ्न-निवारण के साधनों में ध्यान, यज्ञ, तप, शास्त्र-श्रवण आदि का कथन है। इसके ६८वें अध्याय में विष्णुकृत 'शिवसहस्रनाम' है जिसमें शिव के वैदिक नाम भी आये हैं। लिंग-पुराण के वर्णित विषयों में दधीचि-चरित, युगधर्मविवेचन, लिंगप्रतिष्ठा, पशुपाशाभिमोक्षण, शिवव्रत, सदाचारनिरूपण, प्रायश्चित्तवर्णन, अरिष्टों का वर्णन, काशी की शोभा, अन्धकासुर का आख्यान, वाराहचरित, न सिंह-चरित, जलन्धर, की कथा तथा उसका वध, शिवसहस्रनाम, सती की कथा एवं रक्ष-यज्ञ-विनाश का विवरण, काम-दहन, पार्वती-विवाह, विष्णु माहात्म्य कथन, अम्बरीष की कथा, सनत्कुमार और नन्दी-संवाद, शिवमाहात्म्य, सूर्यपूजा-विधि, शिवपूजा द्वारा मुक्ति की प्राप्ति, नाना प्रकार के दान, श्राद्ध-प्रकरण, अधोर-कीर्तन, ब्रजेश्वरी, महाविद्या तथा गायत्री की महिमा, अम्बक की महिमा, पुराणश्रवण का माहात्म्य आदि हैं।

लिंग पुराण का काल-निर्णय अभी तक अज्ञात है और इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित मत स्थिर नहीं हो सका है। इसमें कल्कि और बौद्ध अवतारों के नाम हैं तथा नौवें अध्याय में योगान्तरायों का जो वर्णन है, वह 'व्यासभाष्य' से अक्षरशः मेल खाता है। 'व्यासभाष्य' का समय षष्ठशतक है। लिंग पुराण का निर्देश अल्बेरुनी ने भी किया है और 'कल्पतरु' में इसके अनेक उद्धरण हैं। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने लिंग पुराण का समय आठवीं एवं नवीं शती के मध्य माना है।

वाराह पुराण

विष्णु भगवान् के वराह अवतार का वर्णन होने के कारण इसे वराह पुराण कहा जाता है। इसमें इस प्रकार का उल्लेख है कि विष्णु ने वराह का रूप धारण कर पाताल लोक से पृथ्वी का उद्धार कर, इस पुराण का प्रवचन किया था। यह समग्रतः वैष्णव पुराण है। इसमें रामानुजीय श्री वैष्णव मत का विशद विवेचन प्रस्तुत है। इसके प्रारम्भ में सूतजी ने वराह भगवान् से इसकी कथा कहने की प्रार्थना की है। इसमें प्रश्नकर्ता पृथ्वी है और उत्तरदाता स्वयं वराह भगवान् हैं तथा विष्णु के दशावतारों एवं अनेक आख्यानों का विवरण प्राप्त होता है। प्रत्येक तिथि से सम्बद्ध व्रतों का वर्णन करते हुए तत्सम्बन्धी अनेक आख्यान दिये गये हैं और विशिष्ट मासों की तिथियों की अनेक कथाएँ कही गयी हैं। इसमें भगवान् विष्णु की शिवकृत स्तुति तथा स्तोत्र का वर्णन है।

इस पुराण में २४ हजार श्लोक तथा २१७ अध्याय हैं; किन्तु एशियाटिक सोसाइटी (कलकत्ता) से प्रकाशित संस्करण में १०,७०० श्लोक हैं। इसके अनेक अध्यायों में केवल गद्य तथा पद्य का मिश्रण है। इस पुराण के दो रूप प्राप्त हैं-गौड़ीय एवं दक्षिणात्य, जिनमें पाठ-भेद के अतिरिक्त अध्यायों की संख्या में भी अन्तर है। इसमें सष्टि तथा राजवंश-वत्तों की संक्षिप्त चर्चा है, पर पुराणोक्त विषयों की पूर्ण संगति नहीं बैठ पाती। इसमें मुख्यतः भक्तों के निमित्त स्तोत्रों तथा पूजा-विधियों का संग्रह है। वैष्णव पुराण होते हुए भी इसमें शिव तथा दुर्गा से सम्बद्ध कथाएं एवं उनकी पूजा-विधियाँ दी गयी हैं। इसमें मात-पूजा और देवियों की पूजा का वर्णन ६० से ६५ अध्याय में वर्णित है।

वाराह पुराण में गणेश की जन्म-कथा तथा गणेश-स्तोत्र का भी वर्णन है तथा श्राद्ध, प्रायश्चित्त, देवप्रतिमा-निर्माण-विधि आदि का कई अध्यायों में विवरणात्मक परिचय है। इसके १५२ से १६८ अध्यायों में कृष्ण-कथा एवं मथुरा-माहात्म्य का वर्णन है। मथुरा-माहात्म्य में मथुरा का भौगोलिक विवरण देकर उसकी उपयोगिता बढ़ा दी गई है। वाराह-पुराण में नचिकेता का विस्तृत उपाख्यान देकर नरक और स्वर्ग का वर्णन किया है। रामानुजाचार्य का मत दिये जाने के कारण इसका समय नवम शताब्दी माना जाता है।

स्कन्द पुराण

यह सर्वाधिक विशाल पुराण है, जिसकी श्लोक संख्या ८१००० है। इस पुराण में ६ संहितायें हैं।

(१)	सनत्कुमार संहिता	३६,०००
(२)	सूत संहिता	६,०००
(३)	शंकर संहिता	३०,०००
(४)	वैष्णव संहिता	५,०००
(५)	ब्रह्म संहिता	३,०००
(६)	सौर संहिता	१,०००

८१,००० श्लोक

इस पुराण का विभाजन विभिन्न खण्डों में भी किया गया है, यथा-माहेश्वरखंड, वैष्णवखण्ड, ब्रह्मखंड, काशीखंड, ध्वनिखंड, रेवाखंड, तापीखंड तथा प्रभासखंड।

इस पुराण का नामकरण शिव जी के पुत्र स्कन्द या कार्तिकेय के नाम पर किया गया है। इसमें स्कन्द द्वारा शैव तत्त्व का प्रतिपादन कराया गया है। सम्प्रति इस पुराण के दो संस्करण प्राप्त होते हैं-प्रथम संहितात्मक एवं द्वितीय खण्डात्मक। इसमें स्कन्द द्वारा तत्पुरुषकल्प के प्रसंग में अनेक चरित, उपाख्यान एवं माहेश्वर तत्त्व का व्याख्यान किया गया है। शिवपुराण के उत्तरखण्ड में कहा गया है कि 'स्कन्दपुराण' के वक्ता स्वयं शिव हैं और श्रोता स्कन्द हैं।

(१) **माहेश्वर खण्ड** - इसके अन्तर्गत केदार तथा कुमारिल खण्ड नामक दो उपविभाग हैं। इसमें अनेकानेक कथाओं का विशाल संग्रह है। दोनों ही खण्डों में शिव-पार्वती के चरित्र का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसके वर्णित विषय हैं-दक्ष-यज्ञ-कथा, समुन्द्र मंथन की कथा, देवेन्द्र चरित, पार्वती की कथा, विवाह एवं कुमार का जन्म, तारक-वध, पशुपति का

आख्यान, चण्डिका की कथा, नारद-समागम, कुमार-माहात्म्य, पंचतीर्थ कथा, महिषासुर का वध तथा शौणाचल में शिवोवस्थान का उपाख्यान।

ब्रह्म खण्ड - इसमें धर्मारण्यय नामक स्थान का माहात्म्य तथा महाकाल की प्रतिष्ठा और पूजन की विधि वर्णित है।

(२) **काशी खण्ड** - इसके उत्कल खंड में जगन्नाथ जी की कथा, उनकी पूजा का विधान एवं उनसे सम्बद्ध उपाख्यानों का संग्रह है। जगन्नाथ जी का प्राचीन इतिहास इस खण्ड का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसके अन्तर्गत शिव महिमा, भूमिवराह की कथा, तीर्थों की महिमा, कमला की कथा, माण्डव्याश्रम, प्रमुख तीर्थों एवं मासादि का वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त इसके वर्णित विषयों में पंचाक्षर-महिमा, गोकर्ण-माहात्म्य, शिवरात्रि महिमा आदि आते हैं। काशीखण्ड का भी वर्णन इसी के अन्तर्गत है।

(३) **नागर खण्ड** - इसके वर्ण्यविषयों में लिंगोत्पत्ति, हरिश्चन्द्र-कथा, विश्वामित्र का उपाख्यान, त्रिशंकु की कथा, दान तथा द्वादशादित्य और काशी का माहात्म्य आदि हैं।

(४) **प्रभास खण्ड** - इस खण्ड में प्रभासक्षेत्र का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इसमें द्वारिका का भूगोल दिया हुआ है। इसमें योगेश, विश्वेश, सिद्धेश्वरादि कथा, अग्नितीर्थ से लेकर तीर्थवास तक का उपाख्यान, द्वारिका-पुण्य-कीर्तन का वर्णन है। प्रभास खण्ड में ओंकार-प्रशंसा लोमहर्षक-मुनिगण-संवाद और पुराण एवं उपपुराण के लक्षण के अतिरिक्त दान-विधि का वर्णन है।

(५) **रेवा खण्ड** - इसमें आदिकल्प, अवतार-वर्णन, नर्मदा या रेवा नदी की महिमा एवं उसके तीरस्थ तीर्थों का विस्तृत विवरण है।

(६) **अवन्ति खण्ड** - इसमें उज्जैन या अवन्ति में विद्यमान शिवलिंगों के उद्भव एवं माहात्म्य का वर्णन है। महाकालेश्वर का विस्तृत वर्णन इस खण्ड में हुआ है।

(७) **तापी खण्ड** - इसमें नर्मदा की सहायक नदी तापी के किनारे पर स्थित तीर्थों का वर्णन है। इसे नागर खण्ड भी कहते हैं।

यह शैवतत्त्व एवं शैवमत का प्रतिपादक पुराण है। इसमें दो गीताएं प्राप्त होती हैं-ब्रह्मगीता (१२ अध्यायों में) तथा सूतगीता (आठ अध्यायों में)। इनके विषय आध्यात्मिक हैं और इनमें दिखाया गया है कि शिव के प्रसाद से ही सभी कर्मों की सिद्धि संभव है।

जगन्नाथजी का वर्णन होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने इसका समय १३वीं शताब्दी माना था, किन्तु डॉ० हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल के पुस्तकालय में ७वीं शती का इसका हस्तलेख मिला है, जिसके आधार पर इसका समय सातवीं शती से पूर्व सिद्ध होता है। इस पुराण में विभिन्न स्थानों का भौगोलिक चित्रण अत्यन्त-विस्तार के साथ हुआ है तथा वेद-विषयक विपुल सामग्री का विवेचन है। इसके काशी खण्ड में वहाँ के सभी देवताओं, तथा शिवलिंग का माहात्म्य वर्णित है। काशी का प्राचीन भौगोलिक विवरण प्रस्तुत करने के कारण इस अंश की उपयोगिता बढ़ गयी है। यह पुराण शिव की उपासना का विश्वकोश माना जाता है। यह शिवोपासकों के लिए अत्यन्त श्रद्धास्पद एवं वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को मानने वालों के लिए अत्यन्त महनीय है।

इसके रेवाखण्ड के अन्तर्गत सत्यनारायणव्रत-कथा का वर्णन था, पर सम्प्रति वह कथा वहां उपलब्ध नहीं होती। इस पुराण से अनेक पुस्तकें निकली हैं-जैसे, सह्याद्रिखण्ड, अर्बुदाचलखण्ड, काश्मीरखण्ड, कैलाशखण्ड, पुष्करखण्ड, बदरिकाखण्ड, हिमवत्खण्ड, अधिमासमाहात्म्य, अम्बिकामाहात्म्य, अयोध्यामाहात्म्य, अरुन्धतीव्रत कथा, वैशाखमाहात्म्य, कार्तिक माहात्म्य आदि।

वामन पुराण

विष्णु भगवान् के वामनावतार से संबद्ध होने के कारण इसका नाम वामन पुराण है। इसमें ६५ अध्याय एवं दस हजार श्लोक हैं। मत्स्य-पुराण के अनुसार जिसमें त्रिविक्रम (वामन) भगवान् की गाथा ब्रह्मा द्वारा कीर्तित है और उसमें वामन द्वारा तीन पगों में ब्रह्माण्ड को नापने का वर्णन है, उसे वामन पुराण कहते हैं। इस पुराण में चार संहितायें-माहेश्वर संहिता, भागवती संहिता, सौरी संहिता तथा गाणेश्वरी संहिता-हैं और पूर्व तथा उत्तर के नाम से दो विभाग किये गये हैं। इसके आरम्भ में वामनावतार की कथा वर्णित है तथा बाद के कई अध्यायों में विष्णु के अवतारों का उल्लेख है। यह विष्णुपरक पुराण है। पर इसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता परिलक्षित नहीं होती। इसमें विष्णु की चरितावली के अतिरिक्त शिव-माहात्म्य, शैवतीर्थ, उमा-शिव-विवाह, गणेश एवं कार्तिकेय के जन्म की कथा आदि बातों का समावेश है तथा 'दुर्गासप्तशती' में वर्णित कथा का भी संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है। इसमें 'मुर दानव' के आख्यान का वर्णन कर विष्णु भगवान् के 'मुरारि' नामकरण का रहस्योद्घाटन हुआ है। भगवान् शंकर द्वारा अंधकासुर के वध की कथा भी यहाँ वर्णित है। इस पुराण में वर्णित शिव-पार्वती चरित का कुमारसंभव के साथ आश्चर्यजनक साम्य दिखायी पड़ता है।

कूर्म पुराण

इस पुराण का प्रारम्भ भगवान् कूर्म की प्रशंसा से होता है। प्राचीन काल में जब देवता और दानवों ने मिलकर समुद्र का मथन किया तो भगवान् विष्णु ने कूर्म का रूप ग्रहण कर मंदराचल को अपने पष्ठ पर धारण किया। इस पुराण में चार संहितायें रही होंगी-ब्राह्मी संहिता, भागवती संहिता, गौरी संहिता एवं वैष्णवी संहिता-पर सम्प्रति एक भाग ब्राह्मी संहिता ही प्राप्त होती है और उपलब्ध प्रति में केवल छह हजार श्लोक हैं। भावगत एवं मत्स्य पुराण के अनुसार इमें अट्ठारह हजार श्लोक थे, पर अधुना वे अनुपलब्ध हैं। इसमें शिव और विष्णु के अतिरिक्त शक्ति-पूजा की महत्ता पर भी बल दिया गया है और शक्तिसहस्रनाम भी दिया गया है। इसके दो विभाग हैं-पूर्व और उत्तर। पूर्वभाग में ५३ एवं उत्तर भाग में ४६ अध्याय हैं। इस पुराण में 'पुराण चलक्षणम्' का पूर्णतः समावेश है तथा सष्टि, वंशानुक्रम एवं विष्णु के कई अवतारों का आख्यान दिया गया है। इसमें काशी और प्रयाग के माहात्म्य का भी वर्णन है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश में एकत्व-स्थापना के कारण इस पुराण में साम्प्रदायिक संकीर्णता की गंध नहीं आती। इसमें भगवान् विष्णु शिव के रूप में और लक्ष्मी गौरी की प्रतिकृति के रूप में वर्णित हैं और शिव को देवाधिदेव के रूप में प्रस्तुत कर उन्हीं की कृपा से श्रीकृष्ण को जाम्बवती की प्राप्ति का उल्लेख है। इसमें गीता के आधार पर 'व्यासगीता' का समावेश किया गया है, जिसमें पवित्र कर्मों एवं अनुष्ठानों के कारण भागवत् साक्षात्कार की बात कही गयी है। 'व्यास-गीता' के एकादश अध्याय में पाशुपत योग का विस्तृत वर्णन है तथा उसमें वर्णाश्रमधर्म एवं सदाचार का भी कथन किया गया है। इसके पूर्वभाग में बारहवें अध्याय में महेश्वर की शक्ति के चार विभाग-शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति-प्रकार मानकर उसका वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया गया है। पाशुपत मत की प्रधानता के कारण विद्वानों ने इसे सप्तम शती की रचना माना है। कूर्मपुराण की सूची इस प्रकार है-पुराण का उपक्रम, लक्ष्मी-इंद्रद्युम्न-संवाद, कूर्म तथा महर्षियों की वार्ता, वर्णाश्रम-सम्बन्धी आचार का विवरण, जगत् की उत्पत्ति का कथन, कालसंख्या-निरूपण, प्रलय के अन्त में भगवान् की वंदना, सष्टि का संक्षिप्त वर्णन, शंकर-चरित्र, पार्वती सहस्रनाम, योगनिरूपण, भगुवंश वर्णन, स्वायम्भुवमनु एवं देवताओं की उत्पत्ति, दक्ष-यज्ञ-विध्वंस, दक्ष-सष्टि-कथन, कश्यप-वंशवर्णन, श्रीकृष्णचरित, मार्कण्डेय-कृष्ण-संवाद, व्यास-पाण्डव-संवाद, युगधर्म-वर्णन, व्यास-जैमिनि-कथा, काशी एवं प्रयाग का माहात्म्य, तीनों लोकों का वर्णन और वैदिक शाखा का निरूपण। उत्तरभाग ईश्वरीय एवं व्यासगीता का वर्णन,

नाना प्रकार के तीर्थों का वर्णन एवं उनके माहात्म्य का कथन, प्रतिसर्ग या प्रलय का वर्णन। उपर्युक्त सभी विषय ब्राह्मी संहिता में वर्णित हैं। इसके कई अध्यायों में अनेक प्रकार के पापों के प्रायश्चित्त का भी विधान है और उनसे शुद्धि की चर्चा की गयी है। इसके उत्तरार्द्ध में सांख्ययोग का वर्णन कर मनुष्यों के आचार-शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है।

मत्स्य पुराण

इस पुराण का प्रारम्भ मनु तथा विष्णु के संवाद से होता है। 'श्रीमद्भागवत' 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' तथा 'रेवामाहात्म्य' में इसकी श्लोक संख्या १५,००० दी गयी है। इसमें २६१ अध्याय हैं। आनन्दाश्रम पूना से प्रकाशित इस पुराण के संस्करण में कुल १४,००० हजार श्लोक प्राप्त होते हैं। इस पुराण का आरम्भ प्रलयकाल की, उस घटना के साथ होता है, जब विष्णु ने एक मत्स्य का रूप धारण कर मनु की रक्षा की थी तथा नौकारुढ़ मनु को बचा कर उनके साथ संवाद किया था। इस पुराण के प्रारम्भ में आदि सष्टि, देवसष्टि, सूर्यवंश, पितृवंश का वर्णन है और श्राद्ध-विषयक सपिण्डीकरण की विधियां बतलायी गई हैं। इसके तेरहवें अध्याय में वैराज पितृवंश का सविस्तार वर्णन है तथा तेरहवें एवं चौदहवें अध्यायों में अग्निष्वात और बहिर्पितृवंशों का वर्णन है। ययाति का उपाख्यान तथा शर्मिष्ठा और देवयानी के प्रसंगों का भी इसमें समावेश है। आगे के अध्यायों में यदुवंशके वर्णनक्रम में भगवान् श्रीकृष्ण की कथा आयी है। तत्पश्चात् अनेक व्रतों का विवरण दिया गया है। हिमालय तथा उसके पार्श्ववर्ती विविध आश्रमों का वर्णन करने के पश्चात् इसमें त्रिपुरासुर, त्रिपुरनिर्माण एवं त्रिपुरदाह का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें तारकासुर प्रभृति अनेकानेक राक्षसों के वध का वर्णन है तथा देवासुरसंग्राम का भी प्रसंग आया है। अविमुक्त वाराणसी क्षेत्र का वर्णन करने के पश्चात् इसमें भृगु, अंगिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ, पराशर, अगस्त्य आदि के वंशों के विवरण प्राप्त होते हैं। सावित्री सत्यवान् की प्रसिद्ध कथा का भी इसमें उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अन्य अध्यायों में तीर्थयात्रा, पथुचरित, भुवनकोश, दानमहिमा, स्कन्दचरित, तीर्थमाहात्म्य, राजधर्म श्राद्ध तथा गोत्रों का वर्णन है और शिवजी के मुख से काशी की महिमा का कथन कर विभिन्न देवताओं की प्रतिमा के निर्माण की विधि बतलायी गयी है। नर्मदा नदी का विस्तृत वर्णन १८४ से १६४ अध्यायों में किया गया है तथा ५३ वें अध्याय में सभी पुराणों के वर्ण्य-विषय का विस्तृत विवेचन है। प्रतिमाशास्त्र का इस पुराण में वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता है और प्रतिमापीठ की स्थापना होती है। इस विषय का वर्णन २५७ अध्याय से २७० वें अध्याय तक है। राजधर्म का वर्णन इसकी अपनी निधि है, जिसमें देव, पुरुषकार, साम, दाम, दण्ड, भेद, दुर्ग, यात्रा, सहाय-सम्पत्ति एवं तुलादान आदि विषय वर्णित हैं। श्री हाजरा के अनुसार इस पुराण का समय तृतीय शती का अंतिम चरण एवं चतुर्थशती का प्रारम्भिक काल है। पार्जितर ने इसका समय द्वितीय शताब्दी का अन्तिम भाग स्वीकार किया है। डॉ० पी० वी० काणे के मत से मत्स्यपुराण का समय छठी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता।

गरुड पुराण

विष्णु के वाहन गरुड के नाम पर इस पुराण का नामकरण हुआ है। इसमें विष्णु द्वारा गरुड को विश्व की सष्टि का कथन किया गया है। यह वैष्णव पुराण है। यह पुराण पूर्व एवं उत्तर दो खण्डों में विभक्त है और उत्तर खण्ड का नाम प्रेतखण्ड भी है। इस खण्ड में मत्स्य के अनन्तर प्राणी की गति का वर्णन होने के कारण हिन्दू लोग श्राद्ध के समय इसका श्रवण करते हैं। सभी आवश्यक विषयों का समावेश होने के कारण इसे भी अग्निपुराण की भाँति पौराणिक विश्वकोश कहा जाता है। इसके पूर्व खण्ड में २२६ एवं उत्तर खण्ड में ३५ अध्याय हैं और श्लोकों की संख्या १८ हजार है। 'श्रीमद्भागवत' तथा 'रेवा माहात्म्य' के अनुसार यह संख्या

१६ हजार है। वैष्णव पुराण होने के कारण इसका मुख्यध्यान विष्णु पूजा, वैष्णवव्रत, प्रायश्चित्त तथा तीर्थों के माहात्म्य-वर्णन पर केन्द्रित रहा है। इसमें पुराण-विषयक सभी तथ्यों का समावेश है और शक्ति-पूजा के अतिरिक्त पंचदेवोपासना (विष्णु, दुर्गा, शिव, सूर्य तथा गणेश) की विधि का उल्लेख है। इसमें 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'हरिवंश' की विषय-सूची प्रस्तुत की गई है और सृष्टि-क्रम, ज्योतिष, शकुन-विचार, सामुद्रिकशास्त्र, आयुर्वेद, छन्द, व्याकरण, रत्नपरीक्षा एवं नीति के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इसमें याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र के एक बड़े खण्ड का समावेश है और पशु-चिकित्सा की विधि तथा नाना प्रकार के रोगों को दूर करने का उपाय बतलाया गया है और तत्सम्बन्धी औषधियां भी दी गई हैं। इसमें ६ अध्यायों में छन्दशास्त्र का विवेचन है और सम्पूर्ण गीता का सारांश एक अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इसके १०८ से ११५ अध्याय तक राजनीति का वर्णन है और एक अध्याय में सांख्ययोग का विवेचन है। इसके १४४वें अध्याय में कृष्णलीला का वर्णन है और आचारखण्ड के अन्तर्गत राधा के अतिरिक्त कृष्ण की आठ पत्नियों का विवरण दिया गया है। इसके १०७वें अध्याय में ३८१ श्लोकों में पराशर-स्मृति का सारांश दिया गया है और याज्ञवल्क्य स्मृति में अनेक वचन कतिपय पाठान्तर के साथ प्रस्तुत हुए हैं। इसमें यह भी दिया गया है कि पक्षिराज गरुड का जन्म कैसे हुआ। सूर्य आदि अनेक ग्रहों का वर्णन है तथा अष्टांग योग का वर्णन भी इसी खण्ड में आता है। उत्तरखण्ड या प्रेतकल्प में गरुड तथा विष्णु के संवाद के माध्यम से जीव के गर्भावस्था में आने से लेकर मृत्यु के पश्चात् होने वाले श्राद्ध एवं दान की विधियाँ विषयों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की मृत्यु तथा आयु एवं मृत्यु के उपरांत होने वाली प्राणी की विविध गतियों का निरूपण है। इस खण्ड के अन्त में मुक्ति के साधन तथा गरुड पुराण के श्रवण का फल कथित है। इसमें गया का माहात्म्य-वर्णन कर इसके श्राद्ध का विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस पुराण का समय नवमशती के लगभग माना गया है। डॉ० हाजरा इसका उद्भव स्थान मिथिला मानते हैं।

इस पुराण में वाग्भट-रचित 'अष्टांगहृदसंहिता' की सामग्री संकलित की गयी है और आयुर्वेद विषयक तथ्यों का संकलन उसी के आधार पर किया गया है। वाग्भट का समय अष्टम या नवमशती है, अतः गरुडपुराण का लेखनकाल भी यही है। अल्बेरूनी ने इस पुराण का उल्लेख किया है तथा इसका उल्लेख वल्लालसेनकृत 'दानसागर' में हुआ है, जहाँ इसे 'ताक्ष्यपुराण' कहा गया है। 'युक्तिकल्पतरु' में इस पुराण के उद्धरण प्राप्त होते हैं अतः यह एक हजार ईस्वी की परवती रचना नहीं है।

ब्रह्माण्ड पुराण

'नारदपुराण' तथा 'मत्स्य पुराण' के अनुसार इसमें १०८ अध्याय एवं बारह हजार श्लोक हैं। यह पुराण चार पादों में विभक्त- प्रक्रियापाद, अनुषंगपाद, उपोद्घातपाद तथा उपसंहारपाद। सृष्टि के विवरण से ही इस पुराण का प्रारम्भ होता है, तदनन्तर योग का वर्णन है। 'मत्स्य पुराण' के अनुसार ब्रह्माण्ड के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए ब्रह्मा ने जिस पुराण का उपदेश दिया था, उसमें भविष्य एवं कल्पों का वस्तुतः विस्तारपूर्वक वर्णित है और उसे 'ब्रह्माण्ड पुराण' के नाम से अभिहित किया जाता है। समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन होने के कारण इसे ब्रह्माण्ड पुराण की संज्ञा प्राप्त है। समस्त विश्व का सांगोपांग वर्णन ही इस पुराण का प्रतिपाद्य है। इसमें अरिष्ट-लक्षण, ब्रह्मा का उद्भव, कुमार का जन्म, पर्वत तथा सरिताओं का विवरण, नवद्वीपों का वर्णन ऋषियों का वंश-वर्णन तथा मन्वन्तर एवं स्वायम्भवसर्ग का वर्णन इसके प्रमुख विषयों में से है। परशुराम और सहस्रार्जुन की कथा, समर-चरित्र तथा विविध राजवंशों की गाथा का इसमें वर्णन है और अन्त में प्रलय और सृष्टि का विवरण प्रस्तुत कर पुराण की समाप्ति हुई है।

इस समय बम्बई वेंकटेश्वर प्रेस के प्रकाशित ब्रह्माण्ड पुराण के संस्करण में दो ही पाद हैं-प्रक्रियापाद तथा उपसंहारपाद। पार्जिटर एवं विण्टरनिट्स दोनों ही इसे वायु पुराण का प्राचीन रूप स्वीकार करते हैं। नारद पुराण में कहा गया है कि इस पुराण का उपदेश वायु ने व्यास जी को दिया था। इसके ३३ से लेकर ५८ अध्याय तक ब्रह्माण्ड का विस्तृत भौगोलिक विवरण प्राप्त होता है और प्रथम खण्ड में विश्व का विस्तृत भूगोल वर्णित है। ६६ से ७२वें अध्याय में जम्बू द्वीप तथा उसके पर्वत एवं नदियों का विवरण है तत्पश्चात् भद्राश्व, केतुमाल, चन्द्रद्वीप, किंपुरुष वर्ष, कैलाश, शाल्मली द्वीप, कुशद्वीप, क्रौंच द्वीप, शाक द्वीप तथा पुष्कर द्वीप का सविस्तार वर्णन है। इनके अतिरिक्त ग्रहों, नक्षत्रमण्डल एवं युगों का वर्णन है तथा तृतीय पाद में क्षत्रिवंश-वर्णन प्राप्त होता है। नारद पुराण के अनुसार ज्ञात होता है कि अध्यात्मरामायण में राम-कथा का नवीन ढंग से आध्यात्मिक विवरण प्राप्त होता है। ब्रह्माण्ड पुराण में कृष्ण चरित एवं कृष्ण ललित लीला का भी गान मिलता है। इसमें राजा सगर एवं भगीरथ की कथा अत्यन्त विस्तार से २१ से २७ अध्यायों में दी गई है तथा गंगावतरण का भी उपाख्यान आया है। इसके समय के सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि इसका वर्तमान रूप चार सौ ईस्वी के आसपास निर्धारित हुआ होगा। इमें 'राजधिराज' नामक राजनीतिशास्त्र-विषयक शब्द को देख कर पण्डितों ने इसका समय मौखरी राजाओं का काल या गुप्तकाल के बाद माना है। इसकी लेखन-शैली पर महाकवि कालिदास की वैदर्भी शैली का प्रभाव विद्यमान है।

शिवपुराण

शिवपुराण तथा वायुपुराण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार दोनों ही पुराण अभिन्न हैं और कतिपय विद्वान् इन्हें स्वतन्त्र पुराण के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। कुछ विद्वान् विभिन्न पुराणों में निर्दिष्ट सूची के अनुसार शिवपुराण को चतुर्थ स्थान प्रदान करते हैं। पुराणों में भी इस विषय में मतैक्य नहीं है। बहुसंख्यक पुराण शिवपुराण का अस्तित्व स्वीकार कर इसे पौराणिक क्रम से चतुर्थ स्थान का अधिकारी मानते हैं जैसे 'कूर्म', 'पद्म', 'ब्रह्मवैवर्त', 'शिव', 'भागवत', 'मार्कण्डेय', 'लिंग', 'वाराह' तथा 'विष्णुपुराण'। पर, 'देवी भागवत', 'नारद' तथा 'मत्स्य' वायुपुराण को यह महत्त्व प्रदान करते हैं। श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कन्ध के सातवें अध्याय में जो सूची प्रस्तुत की गयी है, उसमें वायुपुराण का नामोल्लेख नहीं है। नारदीयपुराण की सूची में वायुपुराण का नाम है। सम्प्रति शिव एवं वायुपुराण संज्ञक दो पुराण प्रचलित हैं, जो वर्णविषय तथा आकार-प्रकार में परस्पर भिन्न हैं। शिवपुराण का प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से सं० १९८२ में हुआ था तथा हिन्दी अनुवाद सहित इसका प्रकाशन पंडित पुस्तकालय, वाराणसी से हुआ है। वायुपुराण के भी तीन संस्करण हुए हैं-बिब्लिओथेका इण्डिका कलकत्ता, आनन्द संस्कृतग्रन्थावली पूना तथा गुरुमण्डल, ग्रन्थमाला कलकत्ता से।

वेंकटेश्वर प्रेस से मुद्रित शिवपुराण में सात संहितायें हैं-विद्येश्वरसंहिता, रुद्रसंहिता, शतरुद्रसंहिता, कौटिरुद्रसंहिता, उमासंहिता, कैलाससंहिता तथा वायवीय संहिता। इसकी विश्वेश्वर संहिता में २५ अध्याय हैं तथा रुद्रसंहिता में १८७ अध्याय। इस संहिता के पांच खण्ड हैं-सष्टिखण्ड, सतीखण्ड, पार्वतीखण्ड, कुमारखण्ड, युद्धखण्ड। शतरुद्रसंहिता में ४२, कौटिरुद्र में ४३, उमासंहिता में ५१, कैलाससंहिता में २३ तथा वायवीयसंहिता में ७६ अध्याय हैं। शिवपुराण के श्लोकों की संख्या २४ हजार है। इसके उत्तरखण्ड में इस प्रकार का कथन है कि जिसके पूर्व एवं उत्तर खण्ड में शिव का चरित विस्तार के साथ वर्णित है, उसे शिवपुराण कहते हैं। शिवपुराण का एक लक्षश्लोकात्मक रूप भी है, जिसमें बारह संहिताएं हैं, पर सम्प्रति यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। शिवपुराण की वायुसंहिता में ही इस तथ्य का निर्देश है। इसकी संहिताओं के नाम और श्लोक इस प्रकार हैं-

विद्येश्वरसंहिता-१००००, रौद्रसंहिता-८०००, विनायकसंहिता-८०००, मात संहिता-८०००, रुद्रैकादशसंहिता-१३०००, कैलाससंहिता- ६०००, शतरुद्रसंहिता-१००००, कोटि रुद्रसंहिता-१००००, सहस्रकोटि रुद्रसंहिता-४०००। कुल योग १०००००।

कहा जाता है कि इस लक्षश्लोकात्मक शिवपुराण की रचना साक्षात् शंकर ने की थी, जिसका व्यास ने २४ सहस्र श्लोकों में संक्षिप्तीकरण किया। 'शिवपुराण' का उल्लेख अलबेरुनी के ग्रन्थ में मिलता है। उसने पुराणों की दो सूचियां दी हैं, जिनमें एक में शिवपुराण का नाम है तथा दूसरी में वायुपुराण का। इससे विदित होता है कि शिवपुराण की रचना १०३० ई० के पूर्व हो चुकी थी। इसकी कैलास संहिता के १६ व १७वें अध्यायों में प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का विवेचन है, जिसमें शिवसूत्र के दो सूत्रों का स्पष्ट निर्देश है।

चैतन्यमात्मेति मुने शिवसूत्रं प्रवर्तितम्॥ ४४॥

चैतन्यमिति विश्वरूप सर्वज्ञानक्रियात्मकम्।

स्वातन्त्र्यं तत्त्वभावी यः स आत्मा परिकीर्तितः॥ ४५॥

इत्यादि इतीद तु द्वितीयं सूत्रमीशितु॥ ४६॥

इसमें शिवसूत्र के वार्तिकों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। शिवसूत्र के रचयिता वसुगुप्त हैं, जिनका समय ८५० ई० है, अतः 'शिवपुराण' का समय दशम शती सर्वथा उपयुक्त है। इस प्रकार यह वायुपुराण से अर्वाचीन सिद्ध होता है। शिवपुराण में तांत्रिक पद्धति का बहुशः वर्णन प्राप्त होता है, अतः इसे तांत्रिकता से युक्त उपपुराण मानना चाहिये। यह शिव-विषयक विशाल पुराण है। इसमें शिव से सम्बद्ध अनेक कथाओं, चरित्रों, पूजा-पद्धतियों तथा दीक्षा-अनुष्ठानों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसकी रुद्र-संहिता में दक्षप्रजापति की पुत्री सती का चरित्र ४३ अध्यायों में विस्तार के साथ दिया हुआ है, जिसमें सती सीता का रूप धारण कर रामचन्द्र की परीक्षा लेती हैं। इसी प्रकार पार्वती खण्ड में पार्वती के जन्म, तपश्चरण एवं शिव के साथ उनके विवाह का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वायवीय संहिता में शैवदर्शन के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है, जिस पर तांत्रिकता का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसमें शैवतन्त्र से सम्बद्ध उपासना-पद्धति का भी विवरण है। शिवपुराण का यह विषय वायुपुराण से नितान्त भिन्न है। इसमें पुराणप चलक्षणम् की पूर्ण व्याप्ति नहीं होती और सर्ग, प्रतिसर्ग तथा मन्वन्तरादि के विवरण प्राप्त नहीं होते। यत्र-तत्र केवल सर्ग के ही विवरण मिलते हैं। 'महाभारत' में वायुप्रोक्त तथा ऋषियों द्वारा प्रशंसित एक पुराण का उल्लेख है, जिसमें अतीतानागत से सम्बद्ध चरितों के वर्णन की बात कही गयी है। उपलब्ध वायुपुराण में इस श्लोक के विषय की संगति सिद्ध हो जाती है। अतः, 'वायुपुराण' निश्चित रूप से 'शिवपुराण' से प्राचीनतर सिद्ध हो जाता है। 'शिवपुराण' में राजाओं की वंशावली नहीं है। इसके मुख्य विषय इस प्रकार हैं-शिवपूजाविधि I, तारकोपाख्यान, शिव की तपस्या तथा मदन-दहन, पार्वती का जन्म, तपस्या, उनकी तपस्या को देखकर देवताओं का शिव के पास जाना, ब्रह्मचारी के वेश में शिव का पार्वती के पास जाना, शिव-पार्वती -संवाद, शिव के विवाह का उद्योग तथा विवाह, कार्तिकेय का जन्म, उनका देवताओं का सेनापतित्व ग्रहण तथा तारकासुर का वध, विष्णु के उपदेश से देवगणों का कोटि शिव मन्त्र का जप, लिंगार्चन तथा उसका माहात्म्य, षोडशोपचार, गणेशचरित्र, गणेश का विवाह एवं उसे श्रवण कर कार्तिकेय का क्रोधित होकर क्रौंचपर्वत पर जाना, रुद्राक्षधारण-माहात्म्य-कथन, नन्दिकेशतीर्थ-माहात्म्य-कथन, रावण की तपस्या का माहात्म्य, वैद्यनाथ की उत्पत्ति, रामेश्वर का माहात्म्य, नागेश-माहात्म्य वाराह रूप से हिरण्याक्ष का वध, नलदमयन्तीकथा, व्यास के उपदेश से अर्जुन का इन्द्रकोल पर्वत पर जाना, तपस्या तथा इन्द्र का समागम, भिल्लरूपधारी शिव का आना तथा अर्जुन के साथ उनका युद्ध, अर्जुन की वरदान प्राप्ति, पार्थिवपूजाविधि, बिल्लेश्वरमाहात्म्य, विष्णु द्वारा सहस्रकमल से शिव की पूजा, शिव की कृपा से विष्णु को

सुदर्शनचक्र की प्राप्ति, शिवसहस्रनाम का वर्णन, शिवरात्रि व्रत की महिमा, चतुर्विध मुक्ति का वर्णन, शिव द्वारा विष्णुप्रभृति देवताओं की उत्पत्ति का वर्णन, एकमात्र भक्ति-साधन से ही शिव-भक्ति-लाभ, लिंग-प्रतिष्ठा, लिंगनिर्माण, ब्रह्मा-विष्णु द्वारा शिव की पूजा, लिंग-पूजा का नियम, शिव-तीर्थ-सेवामाहात्म्य, पंचमहायज्ञ कथन, पार्थिव प्रतिमाविधि, प्रणव माहात्म्य, शिवभक्ति-पूजा कथन षड्लिंग-माहात्म्य, बन्धन-मुक्ति-स्वरूप-कथन, लिंगक्रमकथन, रुद्रस्तव, शिवसर्वज्ञादिकथन, रुद्रलोक, ब्रह्मलोक तथा विष्णुलोक का विवरण।

उपपुराण

पुराणों की भांति उपपुराणों की भी गणना की गयी है। विद्वानों का विचार है कि पुराणों के बाद ही उपपुराणों की रचना हुई है, पर प्राचीनता अथवा मौलिकता के विचार से उपपुराणों की महत्ता पुराणों के समान है। उपपुराणों में स्थानीय सम्प्रदाय तथा पथक् पथक् सम्प्रदायों की धार्मिक आवश्यकता पर अधिक बल दिया गया है। उपपुराणों की सूची इस प्रकार है- सनत्कुमार, नरसिंह, नान्दी, शिवधर्म, दुर्वासा, नारदीय, कपिल, मानव, उषनस्, ब्रह्माण्ड, वारुण, कालिका, वसिष्ठ, लिङ्ग, महेश्वर, साम्ब, सौर, पराशर, भार्गव, मारीच उपपुराण। एक नीलमत उपपुराण भी मिलता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपपुराण भी हैं-आदित्य, मुद्गल, कल्कि, देवीभागवत, व हृद्धर्म, परानन्द, पशुपति, हरिवंश तथा विष्णुधर्मोत्तर।

प्रमुख उपपुराणों का परिचय

हरिवंश पुराण

‘हरिवंश’ को महाभारत का खिल भाग माना जाता रहा है; किन्तु इसमें पुराणों के सभी लक्षण विद्यमान हैं, अतः इसका विकास एक स्वतन्त्र पुराण के रूप में हुआ है। यह खेद की बात है कि विद्वानों ने महापुराण के रूप में इस पर कम ध्यान दिया है, फलतः यह उपेक्षा का पात्र बना हुआ है। इसका कारण यह है कि महापुराणों की सूची में जिन १८ पुराणों को स्थान दिया गया है, उनमें हरिवंश नहीं है। पर फरक्युहर तथा विण्टरनित्स प्रभृति विद्वानों ने इसमें पौराणिक तत्त्वों का पर्यवेक्षण कर इसे महापुराणों में स्थान दिया है और संख्या-क्रम से इसे २०वाँ पुराण कहा है। अधिकांश विद्वान् इसे उपपुराण ही स्वीकार करते हैं।

‘हरिवंश’ साहित्यिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महनीय कृति है। इसमें पुराण के पंच लक्षण सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश मन्वन्तर तथा वंशानुचरित का विस्तृत विवेचन है। ‘हरिवंश’ तीन बड़े पर्वों में विभाजित है; इसकी श्लोक संख्या १६३७४ है। प्रथम पर्व का नाम ‘हरिवंश पर्व’ है, जिसमें ५५ अध्याय हैं। इसके द्वितीय पर्व को ‘विष्णुपर्व’ कहते हैं, इसमें ८१ अध्याय हैं। ‘तृतीयपर्व’ का नाम ‘भविष्य पर्व’ है, जिसमें १३५ अध्याय हैं। हरिवंश में विस्तारपूर्वक विष्णु भगवान का चरित वर्णित है तथा कृष्ण की कथा एवं ब्रज में की गयी उनकी विविध लीलाओं का मोहक वर्णन है। इसमें पुराणपंचलक्षण का पूर्णतः विनियोग हुआ है तथा ग्रन्थ का आरम्भ सृष्टि की उत्पत्ति से किया गया है। इसमें प्रलय का भी वर्णन है तथा वंश और मन्वन्तरों के अनुरूप राजाओं तथा ऋषियों के विविध आख्यान वर्णित हैं। इसमें पुराणों में वर्णित अनेक साम्प्रदायिक प्रसंग भी मिलते हैं; जैसे वैष्णव, शैव एवं शाक्त विचारधाराएँ। ‘हरिवंश’ में योग तथा सांख्य-सम्बन्धी विचार हैं तथा अनेक दार्शनिक तत्त्वों का भी विवेचन प्राप्त होता है। इसके प्रथम पर्व में ध्रुव, दक्ष तथा उनकी पुत्रियों की कथा, वेद और यज्ञविरोधी राजा वेन की कथा, उनके पुत्र तथा पथु, विश्वामित्र एवं वशिष्ठ के आख्यान वर्णित हैं। अन्य विषयों के अन्तर्गत राजा इक्ष्वाकु एवं उनके वंशधरों तथा चन्द्रवंश का वर्णन है।

द्वितीयपर्व में (विष्णु) मानव रूपधारी विष्णु अर्थात् कृष्ण की कथा अत्यन्त विस्तार के साथ कही

गयी है। इसमें विष्णु और शिव से सम्बद्ध स्तोत्र भी भरे पड़े हैं। भविष्य पर्व में आने वाले युगों के सम्बन्ध में भविष्यवाणियों की गई हैं। इसी पर्व में वाराह, न सिंह एवं वामन अवतार की कथा अत्यन्त विस्तार के साथ दी गयी है तथा शिव और विष्णु को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया गया है। शिव और विष्णु एकदूसरे की स्तुति करते हुए दिखाये गये हैं। इसी अध्याय में कृष्ण द्वारा राजा पौण्ड्र के वध का वर्णन है। इसके अन्त में 'महाभारत' एवं 'हरिवंश पुराण' की महिमा गायी गयी है।

'महाभारत' में भी इस बात का संकेत है कि हरिवंश उसका खिल या परिशिष्ट है तथा हरिवंश और विष्णुपर्व को महाभारत के अन्तिम दो पर्वों के रूप में ही परिगणित किया गया है।

हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिल संज्ञितम्।

भविष्यत् पर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवादभुतं महत्॥ १।२।६६

'हरिवंश' में भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिससे पता चलता है कि इसका सम्बन्ध 'महाभारत' से है। जैसे; अग्निपुराण में रामायण, महाभारत एवं पुराणों के साथ हरिवंश का भी उल्लेख है।

सर्वे मत्स्यावताराद्या गीता रामायणं त्विह।

हरिवंशो भारतं च नवसर्गाः प्रदर्शिताः॥

आगमो वैष्णवो गीतः पूजादीक्षाप्रतिष्ठथा।" २८३।५२,५३

'गरुडपुराण' में महाभारत एवं हरिवंशपुराण का कथासार दिया हुआ है। ऐसा लगता है कि उत्तरकाल में 'हरिवंश' स्वतन्त्र वैष्णव ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाने लगा था। इस संबंध में डॉ० वीणापाणि पाण्डेय ने अपने शोध प्रबन्ध में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है : महाभारत-विषयक अनेक प्रमाण दो निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। पहले निष्कर्ष के अनुसार हरिवंश पुराण महाभारत का अन्तरंग भाग है। द्वितीय निष्कर्ष के परिणामस्वरूप खिल हरिवंश एक सम्पूर्ण पुराण के रूप में दिखलाई देता है। हरिवंश के पुराण प चलक्षणों के साथ पुराणों में समानता रखने वाली कुछ स्मृति सामग्री भी मिलती है। इसी कारण खिल होने पर भी हरिवंश का विकास एक स्वतन्त्र पुराण के रूप में हुआ है।"

'हरिवंश' में अन्य पुराणों की अपेक्षा अनेक नवीन एवं महत्वपूर्ण तथ्यों का विवेचन है, जिससे इसकी महनीयता सिद्ध होती है। इसमें अन्य पुराणों की अपेक्षा कृष्ण के चरित्र वर्णन में नवीनता है; जैसे 'छालिक्यगेय' नामक वाक्य मिश्रित संगीत तथा अभिनय का कृष्ण के चरित्र के अन्तर्गत वर्णन तथा पिण्डारक तीर्थ में यादवों एवं अन्तःपुर की समस्त रानियों के साथ कृष्ण की जलक्रीड़ा। इसमें बज्रनाभ नामक दैत्य की नवीन कथा है, जिसमें बज्रनाभ की कन्या प्रभावती के साथ प्रद्युम्न के विवाह का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में भद्रनामक नट द्वारा 'रामायण' एवं 'कौवेरम्भाभिसार' नामक नाटकों के खेलने का उल्लेख भारतीय नाट्यशास्त्र की एक महत्वपूर्ण सूचना है। हर्टेल कौर कीथ प्रभृति विद्वान् इसी प्रसंग के आधार पर ही संस्कृत नाटकों का सूत्रपात मानते हैं। हरिवंश में वर्णित 'छालिक्य' विविध वाद्यों के साथ गाया जाने वाला एक भावपूर्ण संगीत है, जिसके जन्मदाता स्वयं कृष्ण कहे गये हैं।

छालिक्यगान्धर्वगुणोदयेषु ये देवगन्धर्वमहर्षिसंघाः।

निष्ठां प्रयान्तीत्यवगच्छबुद्ध्या छालिक्यमेवं मधुसूदनेन॥ -२।८६,८३

तत्र यज्ञे वर्तमाने सुनाद्येन नटस्तदा।

महर्षीस्तोषयामास भद्रनामेति नामतः॥ २।६१।२६

इसमें द्वारवती के निर्माण में भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट रूप मिलता है तथा वास्तुकला-सम्बन्धी कई पारिभाषिक शब्द भी प्राप्त होते हैं, जो तद्युगीन वास्तुकला के विकसित रूप का परिचय

देते हैं। जैसे 'अष्टमार्गमहारथ्या' तथा 'महाषोडशचत्वर'। इसके दार्शनिक विवेचन में भी अनेक नवीन तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं तथा सर्ग और प्रतिसर्ग के प्रसंग में भारतीय दर्शन की सुव्यवस्थित परम्परा का पूर्वकालिक रूप प्राप्त होता है। 'हरिवंश' के काल-निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, पर अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के अनुसार इसका समय तृतीय शताब्दी से भी पूर्व निश्चित होता है। हापकिंस, हाजरा एवं फर्कुहर ने इसका समय चतुर्थ शताब्दी स्वीकार किया है। अश्वघोषकृत 'बज्र सूची' के कुछ श्लोक हरिवंश में भी पाये जाते हैं और उसने 'हरिवंश' के कई श्लोकों को ग्रहण किया है। अश्वघोष का समय प्रथम से द्वितीय शती है, अतः 'हरिवंश' की प्राचीनता असंदिग्ध है। इससे ज्ञात होता है कि प्रथम शती में भी हरिवंश विद्यमान था। वेबर एवं रायचौधरी ने भी इस मत को स्वीकार किया है। हरिवंश में दीनारों का नाम आया है और श्री सीबेल भारत में दीनारों के प्रचलन का समय प्रथम से द्वितीय शताब्दी मानते हैं इस दृष्टि से हरिवंश पुराण तृतीय शताब्दी के बाद की रचना नहीं है।

साहित्यिक दृष्टि से भी 'हरिवंश' एक स्तरीय रचना है। इसमें बोधगम्य एवं प्रसादपूर्ण शैली सर्वत्र प्रयुक्त हुई है। प्रद्युम्न और प्रभावती-मिलन के समय वर्षाऋतु का वर्णन काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। प्रद्युम्न ने वर्षा के सथ प्रभावती के रूप सौन्दर्य की तुलना कर उसकी मनोहर छवि का वर्णन किया है। सुन्दर बिम्बवाला चन्द्रमा जो उसके मनोहर मुख के समान ज्ञात होता था, वह वर्षा काल में नहीं दिखायी देता है। ऐसा लगता है कि प्रभावती के केशपाशों के सदृश मेघों ने उसे छिपा लिया है। मेघ के अंक में दिखायी देनेवाली विद्युत् स्वर्णाभरणों से विभूषित प्रभावती के सदृश ज्ञात होती है तथा गरजते हुए मेघ उसके मौक्तिक हारों के समान जल की स्वच्छ धाराएँ गिरा रहे हैं।

तवाननाभो वरगात्रि चन्द्रो

न द श्यते सुन्दरि चारुबिम्बः।

त्वत्केशपाशप्रतिभैर्निरुद्धो

बलाहकैश्चारुनिरन्तरोरु॥

संद श्यते सुभ्रु तडिद् घनस्था

त्वं हेमचार्वाभरणान्वितेव।

मु जन्ति धाराश्च घना नदन्त-

स्त्वद्धारयष्टेः सदशा वराङ्गि॥ २।६५।२।३॥

'हरिवंश' का छालिक्यक्रीडा-वर्णन कलात्मकता का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करता है।

देवी भागवत

देवी या शक्ति के माहात्म्य का वर्णन होने के कारण इसे देवी को भागवत कहते हैं। सम्प्रति भागवत संज्ञक दो पुराणों की स्थिति विद्यमान है- 'श्रीमद्भागवत' एवं 'देवी भागवत' और दोनों ही महापुराण कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् विष्णु का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है और देवी भागवत में शक्ति की महिमा का बखान हुआ है। इस समय दोनों ही ग्रन्थों में द्वादश स्कन्ध एवं १८ हजार श्लोक हैं। 'पद्म', 'विष्णु', 'नारद', 'ब्रह्मवैवर्त', 'मार्कण्डेय', 'वाराह', 'मत्स्य', तथा 'कूर्म' महापुराणों में पौराणिक क्रम से भागवत को पंचम स्थान प्राप्त है, किन्तु शिवपुराण के रेवामाहात्म्य में 'श्रीमद्भागवत' नवम स्थान पर अधिष्ठित कराया गया है। अधिकांशतः पुराणों में 'भागवत' को ही महापुराण की संज्ञा दी गयी है, किन्तु यह तथ्य अस्पष्ट रह गया है कि दोनों में से किसे महापुराण माना जाये। 'पद्मपुराण' में सात्त्विक पुराणों के अन्तर्गत 'विष्णु', 'नारद', 'गरुड', 'पद्म' एवं 'वाराह' के साथ 'श्रीमद्भागवत' का भी उल्लेख है।

‘गरुडपुराण’ एवं ‘कूर्म पुराण’ में भी यह मत व्यक्त किया गया है कि जिसमें हरि या विष्णु का चरित्र वर्णित है, उसे सात्त्विक पुराण कहते हैं। इस दृष्टि से देवी भागवत का स्थान सात्त्विक पुराणों में नहीं आता। ‘वायुपुराण’, ‘मत्स्यपुराण’ कालिका उपपुराण एवं आदित्य उपपुराण देवी भागवत को महापुराण मानते हैं, जबकि पद्म, विष्णुधर्मोत्तर, गरुड, कूर्म तथा मधुसूदन सरस्वती के ‘सर्वार्थसंग्रह’ एवं नागोजीभट्ट के धर्मशास्त्र में इसे उपपुराण कहा गया है। पुराणों में स्थान-स्थान पर भागवत के वैशिष्ट्य पर विचार करते हुए तीन लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं, जो ‘श्रीमद्भागवत’ में प्राप्त हो जाते हैं। वे हैं गायत्री से समारम्भ, व त्रयध का प्रसंग तथा हयग्रीव-ब्रह्मविद्या का विवरण।

निबन्ध ग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों में ‘श्रीमद्भागवत’ के ही श्लोक उद्धृत किये गये हैं, देवी भागवत के नहीं। इससे श्रीमद्भागवत की प्राचीनता सिद्ध होती है। इससे विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि देवी भागवत एक उपपुराण है।

देवी भागवत के पूरे अध्याय में दान-सम्बन्धी पद्य हैं। यदि देवी भागवत उनकी दृष्टि में भागवत के रूप में प्रसिद्ध होता तो वे अवश्य ही उसके तत्सम्बन्धी श्लोक को उद्धृत करते। अतः वल्लालसेन के अनुसार ‘वैष्णव भागवत’ ही भागवत के नाम से कथित होता है। अलबेरुनी के ग्रन्थ (समय १०३० ई०) में ‘श्रीमद्भागवतपुराण’ को वैष्णव पुराणों में अन्यतम मानकर स्थान दिया गया है, किन्तु इसकी किसी भी सूची में ‘देवीभागवत’ का नाम नहीं है। इससे इसके अस्तित्व का अभाव परिलक्षित होता है। ‘नारदीय पुराण’ के पूर्वभाग के ६६ अध्याय में ‘श्रीमद्भागवत’ के जिन वर्णविषयों का उल्लेख है, वे आज भी भागवत में प्राप्त हो जाते हैं, पर ‘देवी भागवत’ से उनका मेल नहीं है। ‘श्रीमद्भागवत’ में ‘देवी भागवत’ का कहीं भी निर्देश नहीं है, पर ‘देवी भागवत’ के अष्टम स्कन्ध के भौगोलिक वर्णन पर ‘श्रीमद्भागवत’ के पंचम स्कन्ध की छाया स्पष्ट है। भुवनकोष के अन्य विभागों के वर्णन में भी ‘देवी भागवत’ पर ‘श्रीमद्भागवत’ का प्रभाव दिखाई पड़ता है। ‘देवी भागवत’ में १८ पुराणों के अन्तर्गत भागवत का नाम है, तथा उपपुराणों में भी भागवत का नाम दिया गया है। (१।३।१६) उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि वास्तव में ‘श्रीमद्भागवत’ ही महापुराण का अधिकारी है तथा उसकी प्राचीनता ‘देवी भागवत’ से असंदिग्ध है। देवी भागवत में शक्तितत्त्व का प्राधान्य है और देवी को आदि शक्ति मानकर उसका वर्णन किया गया है।

इसमें देवी या शक्ति के सभी रूपों का विस्तृत विवेचन कर शाक्ततत्त्व का महत्त्व दर्शाया गया है। ‘देवी भागवत’ में दुर्गा आदिशक्ति के रूप में प्रदर्शित है और ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव को उन्हीं के द्वारा सृष्टि, पालन एवं संहार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। यहाँ देवी पराशक्ति एवं परब्रह्म के सर्वथा सर्वदा एकत्व एवं अविनाभावसंबंध के रूप में अधिष्ठित हैं। उनके अनुसार प्रकृति आदि समस्त कारणों का भी कारण ब्रह्म उनका ही रूप है। इसमें उनके दो रूप कहे गये हैं- निर्गुण और सगुण। निर्गुण मायारहित है और सगुण माया-युक्त। शिव शक्ति के बिना सदा शिव के समान रहते हैं और जब वे शक्ति-युक्त रहते हैं तभी शिव कहे जाते हैं। ‘देवी भागवत’ में ब्रह्म के साथ शक्ति का एकत्वस्थापन किया गया है। स्वयंदेवी जी के मुख से यह तथ्य कहलाया गया है-“मुझमें और उस ब्रह्म में तनिक भी भेद नहीं है। हम सदा एक ही हैं। जो वह है, वही मैं हूँ, और जो मैं हूँ, वही वह है। बुद्धि के ही भ्रम से भेद प्रतीत होता है। हम लोगों के सूक्ष्म (अभेदमय लीला) भेद को जो जानता है, वही बुद्धिमान् है।....ब्रह्म एक ही है, दूसरा कोई है नहीं। वह नित्य है और सनातन है। केवल सृष्टि रचना में वह द्वैतवाद को प्राप्त होता है। जैसे एक ही दीपक उपाधिभेद से अनेक प्रकार का तथा एक ही मुख की छाया दर्पण के भेद से भाँति-भाँति की दिखायी देती है, वैसे ही विभिन्न रूप से भासने पर भी हम दोनों एक ही हैं। सृष्टि-रचना के समय भेद दीख पड़ता है। दृश्य और अदृश्य में यह दो प्रकार

का भेद दिखाई देना सर्वथा युक्त ही है। वस्तुतः संसार का अभाव होने पर मैं न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ और न नपुसंक ही हूँ। फिर सृष्टि आरम्भ हो जाने पर यह भेद हो जाता है।”

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

यह वैष्णव उपपुराणों में अत्यन्त महनीय है। यह भारतीय कला का विश्वकोश है, जिसमें वास्तुकला, चित्रकला एवं 'अलंकार शास्त्र' का विस्तृत विवेचन है। इसमें 'नाट्य शास्त्र' तथा काव्यालंकार-विषयक एक सहस्र श्लोक हैं। इसके चार अध्याय-१८, १९, ३२, ३६-गद्य में हैं जिनमें गीत, आतोद्य, मुद्राहस्त तथा प्रत्यङ्ग विभाग का वर्णन है। इसके जिस अंश में चित्रकला, मूर्तिकला, नाट्यकला तथा काव्यशास्त्र का वर्णन है, उसे चित्र सूत्र कहा जाता है। इसका प्रारम्भ बज्र और मार्कण्डेय के संवाद से होता है। मार्कण्डेय के अनुसार “देवता की उसी मूर्ति में देवत्व रहता है जिसकी रचना चित्रसूत्र के आदेशानुसार हुई है तथा जो प्रसन्नमुख है।”

चित्रसूत्रविधानेन देवतार्चा विनिर्मिताम्।

सुरूपां पूजयेद्विद्वान् तत्र संनिहिता भवेत्।। १॥७

इसके द्वितीय अध्याय में यह भी विचार व्यक्त किया गया है कि बिना चित्र सूत्र के ज्ञान के 'प्रतिमालक्षण' या मूर्ति कला समझ में नहीं आ सकती तथा बिना न तशास्त्र के परिज्ञान के चित्रसूत्र समझ में नहीं आ सकता। न त वाद्य के बिना संभव नहीं तथा गीत के बिना वाद्य में भी पटुता नहीं आ सकती। इसके तृतीय अध्याय में छन्दों का वर्णन है और चतुर्थ अध्याय में 'वाक्यपरीक्षा' की चर्चा की गयी है। पंचम अध्याय में विषय हैं-अनुमान के पाँच अवयव, सूत्र की ६ व्याख्याएँ, तीन प्रमाण एवं इनकी परिभाषाएँ, स्मृति, उपमान तथा अर्थापत्ति। षष्ठ अध्याय में 'तन्त्रयुक्ति' का वर्णन है तथा सप्तम अध्याय में विभिन्न प्राकृतों का विवेचन ग्यारह श्लोकों में किया गया है। अष्टम अध्याय में देवताओं के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं तथा नवम और दशम अध्यायों में शब्दकोश है। एकादश, द्वादश एवं त्रयोदश अध्यायों में लिंगानुशासन है तथा प्रत्येक अध्याय में १५ श्लोक हैं। चतुर्दश अध्याय में १७ अलंकारों का वर्णन है और पंचदश अध्याय में काव्य-निरूपण है, जिसमें काव्य एवं शास्त्र के साथ अन्तर स्थापित किया गया है। इसमें काव्य में नौ रसों की स्थिति मान्य है। षोडश अध्याय में रूपक-वर्णन है और उनकी संख्या बारह कही गयी है। इसमें कहा गया है कि नायक की मृत्यु, राज्य का पतन, नगर का अवरोध एवं युद्ध का नाटक में साक्षात् प्रदर्शन नहीं होना चाहिये, इन्हें प्रवेशक द्वारा वार्तालाप के रूप में प्रकट कर देना चाहिये। इसी अध्याय में आठ प्रकार की नायिकाओं का विवेचन हुआ है। इसके अष्टादश अध्याय में गीत स्वर, ग्राम तथा मूर्च्छनाओं का वर्णन है, जो गद्य में प्रस्तुत किया है। उन्नीसवाँ अध्याय भी गद्य में है, जिसमें चार प्रकार के वाद्य, बीस मण्डल तथा प्रत्येक के दो-दो प्रकार, दस-दस भेद तथा ३६ अङ्गहार वर्णित हैं। बीसवें अध्याय में अभिनय का वर्णन है। इसमें दूसरे के अनुकरण को नाट्य कहा गया है, जिसे न त द्वारा संस्कार और शोभा प्रदान किया जाता है। अध्याय २१ से २३ तक शय्या, आसन एवं स्थानक का प्रतिपादन एवं २४वें, २५ वें में आंगिक अभिनय वर्णित है। २६वें अध्याय में १३ प्रकार के संकेत तथा २७वें में आहार्याभिनय का प्रतिपादन है। आहार्याभिनय के चार प्रकार माने गये हैं-प्रस्त, अलंकार, अङ्गरचना एवं संजीव। २६वें अध्याय में पात्रों की गति का वर्णन एवं ३०वें में रस का निरूपण २८ श्लोकों में किया गया है। ३१वें अध्याय में ४६ भावों का वर्णन है तथा ३३वें अध्याय में न त्प का वर्णन है तथा ३२वें में हस्तमुद्राओं का विवेचन हुआ है। ३३वें अध्याय में न त्प-विषयक मुद्रायें १२४ श्लोकों में वर्णित हैं और अध्याय ३५ से ४३ तक चित्रकला का तथा ४४ से ८५ तक मूर्ति एवं स्थापत्यकला का वर्णन है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के काव्यशास्त्रीय अंशों पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव है; किन्तु रूपक और रसों के सम्बन्ध में कुछ अन्तर भी है। डॉ० काणे के अनुसार इसका समय पाँचवीं शताब्दी से पूर्व का है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के वर्णित विषय मौलिक न होकर संकलित हैं। यह भारतीय विद्या का विश्वकोश है। इसमें कहानियाँ, कथा या निजंधरी कथाएँ ही नहीं हैं, अपितु यह भूगोल, सृष्टि क्रम, खगोलविद्या, ज्योतिष, नक्षत्रविद्या, वंशावलियाँ, स्त्रियों के कर्तव्य, यज्ञ, व्रत, श्राद्ध, तीर्थों के माहात्म्य, विविध प्रकार के रत्नों का वर्णन, विधि, राजशास्त्र, आयुर्वेद, पशुचिकित्सा, व्याकरण, शब्दकोश, छन्द, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, नृत्य, संगीत, प्रतिमानिर्माण, मूर्तिकला, चित्रकला, गहननिर्माणकला, वैष्णव सिद्धान्त आदि विषयों का विशाल कोश है। इसमें महाभारत, गीता, नाट्यशास्त्रआदि ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक फुटकर श्लोकों के उद्धरण हैं। इस पुराण की महत्ता स्थापित करते हुए भविष्य पुराण इसे शास्त्र की संज्ञा प्रदान करता है। इसमें मुख्यरूप से वैष्णव दर्शन एवं पूजाविधि का उल्लेख हुआ है। इसके अनेक अध्यायों में दण्डनीति का भी वर्णन है। इसे पाचरात्र का पोषक ग्रन्थ माना जाता है।

न सिंह पुराण

यह वैष्णव उपपुराण है। इसका प्रकाशन (हिन्दी अनुवाद के साथ) अभी कुछ वर्ष पूर्व गीताप्रेस, गोरखपुर से हुआ है। इसमें न सिंह को विष्णु का एक अवतार मानकर उन्हें नारायण या ब्रह्म का रूप दिया गया है। यह पाचरात्र-विषयक रचना है। इसमें पुराण सम्बन्धी पाँच विषयों का वर्णन है। इसके कतिपय अध्यायों में योग की शिक्षा, यज्ञ तथा न सिंह की पूजा-पद्धति का निरूपण है। इसमें सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओं की वंशावलियाँ भी हैं, जिसमें उदयन और वासवदत्ता के पौत्र क्षेमक एवं शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ तक का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें यम-यमी का पूरी कथा का रोचक वर्णन है तथा रामायण, महाभारत, वायुपुराण और वाराह पुराण के उद्धरण प्राप्त होते हैं। विद्वानों ने इसका समय पंचम शती के लगभग माना है।

नारद पुराण

यह भी वैष्णव उपपुराण है। इसमें विष्णु भक्ति का वर्णन हुआ है। यह पांचरात्र से संबद्धरचना है, जिसका उद्देश्य वैष्णव सिद्धान्तों एवं विधि-विधानों (नियमों) का विविध कथाओं के माध्यम से वर्णन करना है। नारदपुराण में व्रतों का वर्णन है और कुछ अध्यायों में गंगा का माहात्म्य वर्णित है। इसमें वर्णाश्रम धर्म, श्राद्ध तथा पापों के प्रायश्चित्त भी वर्णित हैं। विद्वानों के मतानुसार इसकी रचना बंगाल या उड़ीसा के किसी भाग में ७५० ई० से लेकर ६०० ई० के बीच हुई है।

बह्दर्मपुराण

इसमें विष्णु को परमात्मा से अभिन्न मानकर उनकी भक्ति-विशेषतः दास्य भक्ति का वर्णन है। प्रथम भाग का अधिकांश अंग देवी तथा जप और विजया के संवाद के रूप में रचित है। इसमें गंगा की उत्पत्ति और माहात्म्य का विस्तृत विवरण है और अन्तिम भाग में वर्णाश्रम धर्म, स्त्री धर्म, ग्रह पूजा, वर्ष भर के उत्सव और व्रत तथा पाप एवं बुराइयों का वर्णन है। माता-पिता और गुरु के प्रति कर्तव्यों का इसमें विशेष विवरण प्राप्त होता है तथा तीर्थों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त रामायण और महाभारत की कथाएँ वर्णित हैं।

गणेश पुराण

गणेश पुराण में गणेश की महत्ता का वर्णन कर उन्हें परमात्मा से अभिन्न दिखलाया गया है। इसका समय ५०० ई० से ८०० ई० के आसपास माना गया है। शाम्बपुराण का प्रकाशन बम्बई से १८८५ ई० में हुआ था। इसमें सूर्योपासना का प्रतिपादन किया गया है। शाम्ब ने शाम्बपुर के मित्रवन में सूर्य प्रतिमा की स्थापना की थी। इसमें सूर्य की पूजा के अतिरिक्त सृष्टिप्रक्रिया,

ब्रह्माण्ड, पृथ्वी का भूगोल, सूर्य एवं उनकी परिचर्या तथा योग का वर्णन है। यह लघु रचना है।

मुद्गल पुराण

मुद्गल पुराण अभी अप्रकाशित है और इसमें गणपति या गणेश का वर्णन है। इसमें गणपति का गणेश के नौ अवतारों का विवरण प्राप्त हुआ है-वक्रतुण्ड एकदन्त, महोदर, गजानन, लम्बोदर, विकट, विघ्नराज, धूम्रवर्ण एवं योग। यह तांत्रिक उपासना से प्रभावित है और गणपति के बत्तीस प्रकारों का विवेचन प्रस्तुत करता है। अनुमानतः इस उपपुराण की रचना ६०० ई० से ११०० ई० के आसपास हुई है।

कल्कि पुराण

कल्कि पुराण में कलियुग में विष्णु के अवतार कल्कि का वर्णन है। यह पुराण कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है।

कालिका पुराण

कालिका पुराण का प्रकाशन चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी से १६७२ ई० में हुआ है। इसमें काली के अनेक रूप धारण करने का वर्णन है। इसकी रचना कामरूप या आसाम के निकट हुई थी। इसमें काली को विष्णु की माया और योगनिद्रा के रूप में दिखाया गया है जो आगे चलकर शिव की पत्नी सती के रूप में दिखाई पड़ती है। इसमें भगवती कासी एवं उनके भयंकर कर्मों का विशद विवेचन प्राप्त होता है तथा आसाम के पर्वत, नदियों एवं धार्मिक स्थानों का वर्णन मिलता है। इस पुराण की रचना दसवीं शताब्दी के आस-पास हुई थी। कामरूप या आसाम के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक इतिहास जानने के लिए यह पुराण अत्यन्त उपादेय है। इसमें नर-बलि और पशु-बलि का उल्लेख है।

नीलमत पुराण

नीलमत पुराण का प्रकाशन १६२४ ई० में लाहौर में हुआ था। इसमें काश्मीर का इतिहास, स्थानों का विवरण एवं अनुश्रुतियाँ हैं तथा राजा नील का विवरण एवं उनके मत का विवेचन है। इस पुराण का उल्लेख कल्हण रचित राजतरंगिणी में प्राप्त होता है। कल्हण ने काश्मीर का आदि इतिहास इसी से लिया है। इसका समय कल्हण से बहुत पूर्व माना जा सकता है।

पशुपति पुराण में नेपाल के राजाओं की वंशावलियाँ दी गयी हैं। इसके वर्ण्य विषयों में नेपाल माहात्म्य और वाग्मती-माहात्म्य है।

पुराणों के आख्यान

आख्यान शब्द का अर्थ रामायण के आख्यानों के प्रसंग में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। स्कन्द पुराण के अनुसार पुराण के सर्गादि प च लक्षणों के अतिरिक्त शेष जो भी विवेच्य विषय है वह आख्यान के नाम से प्रसिद्ध है-“प चाङ्गानि पुराणस्य चाख्यानमितरत् स्म तम्”। वस्तुतः सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँच प्रतिपाद्य विषयों के अतिरिक्त पुराणों में आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि इन लोकोपयोगी विषयों का संग्रह भी हुआ है।

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैः गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।

पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थं विशारदः।।

इस प्रकार आख्यान, उपाख्यान और गाथार्ये पुराणशास्त्र का महत्त्वपूर्ण भाग हैं।

आख्यानों के वैदिक स्वरूप को देखने से यह प्रायः स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वाङ्मय में

इन्हें विकास के लिये आवश्यक अवकाश नहीं मिल सका था, तथा इनके आधार पर और इन्हीं की भाँति अनिबद्ध आख्यानों का भी समावेश कर एक पथक् साहित्य का उत्तरकाल में उद्भव और विकास नितांत संभव था। इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबं हयेत्' के रूप में जो पौराणिक शैली प्रचलित हुई, उसके प्राथमिक प्रयास के परिणाम में अविकसित वैदिक आख्यानों को; तथा इतिव त्तों को संकुचित रूप देने की चेष्टा की गई होगी। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे आख्यानों के समाहार तथा तत्सम अथवा तदुद्भूत आख्यानों और उपाख्यानों के आविष्कार के कारण मौलिक पौराणिक संरचना के विकास में यथेष्ट सहायता मिली होगी। इनकी प्राथमिक विशेषता यह थी कि इन्हें पौराणिक रूप प्रदान करते समय, इनके अतीत और मौलिक तत्त्वों को ग्रहण करने के साथ-साथ नवोदित प्रवृत्तियों और नवीन परिस्थितियों के अनुकूल इनमें संशोधन और परिवर्द्धन लाने की भी चेष्टा की गई थी। आख्यानों को दृष्टि में रखकर कभी-कभी पौराणिकों की अतिशयोक्तिपूर्ण शैली को आलोचना का विषय बनाया जाता है। विन्टरनिट्स ने इस सम्बन्ध में पुरुरवा और उर्वशी के पौराणिक आख्यान की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ऋग्वेद के वर्णन में पुरुरवा और उर्वशी के सहवास की अवधि चार वर्ष की मानी गई है। पर, पौराणिक वर्णन में इनके सहवास की अवधि इकसठ हजार वर्ष आख्यात है। ऐसे पौराणिक आख्यानों में दो बातें मुख्य रूप से दिखाई देती हैं। एक तो, इनके रूप को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल तथा सामान्य जन-वर्ग की प्रवृत्ति के अनुसार संवारा गया है। दूसरे, पौराणिकों ने आख्यानों की परिकल्पना अथवा प्राचीन आख्यानों का विस्तार देश और काल की मानवोचित सीमा में न रखकर प्रायः अलोक-सामान्य के मापदण्ड से किया है।

वैदिक वाङ्मय सभी के लिये सुगम नहीं था, अतएव वेदांक्ति को आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत करने के पीछे अभिप्राय था; वेद से अपरिचित लोक-समुदाय के ज्ञान को गुरुत्तर बनाना।

स्मरणीय है कि आख्यानों की लोकप्रियता इतनी अधिक थी तथा वैदिक काल से ही वे इतने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे कि पुराणों का अंग बनने के बाद भी उन्हें स्वतंत्र और पथक् मानने की प्रवृत्ति का सर्वथा तिरोभाव नहीं हुआ था। इस प्रसंग में भी आनन्दस्वरूप गुप्त शास्त्री ने मनुस्मृति का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें स्वाध्याय (मेधातिथि की व्याख्या के अनुसार वेद), धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण और खिल (मेधातिथि के अनुसार श्रीसूक्त) का पथक्-पथक् उल्लेख हुआ है। इन्हें श्राद्ध के अवसर पर पितरों के लिए श्रवणीय बताया गया है। श्री शास्त्री की समीक्षा के अनुसार इस श्लोक से आख्यान और पुराण की पथक्ता स्पष्ट हो जाती है, जबकि पुराणों और पुराणोत्तर साक्ष्यों द्वारा आख्यान का पुराणांग में ऐसे अनेक आख्यान मिलते हैं, जो प्रारम्भ में पुराणों के अंग नहीं प्रतीत होते। पर, आगे चलकर इन्हें प्रामाणिकता एवं प्रचार के लिये पुराणों का ही अंग स्वीकार किया गया। कभी-कभी एक ही पुराण में ऐसे आख्यानों के संक्षिप्त और विस्तृत, दोनों ही रूप प्राप्त होते हैं।

उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि पुराण-संकलन की प्रक्रिया में आख्यान, एक महत्त्वपूर्ण उपादान था। संकलित होने के पूर्व पुराण, आख्यान का ही पर्याय था। इसकी सत्ता पथक् नहीं थी।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार पुराण के आख्यानों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-(१) धार्मिक (२) लौकिक। धार्मिक और लौकिक आख्यानों के भेद को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि धार्मिक आख्यानों के भीतर प्रजापति तथा विष्णु द्वारा अनेक रूपों के धारण करने की बात बहुशः वर्णित है तो लौकिक आख्यानों में किसी विशिष्ट राजा का वृत्त, ऋषि का चरित्र या कोई अलौकिक लोकर जन, प्रणय कथा कहीं संक्षिप्त रूप तो कहीं विस्तृत रूप में वर्णित हैं।

विद्वानों के अनुसार पौराणिक आख्यानों का मूल वेदों में है। वेदों के गम्भीर तथ्यों का पुराणकारों ने लोकर जक सरल आख्यान शैली में उपबं हण किया है।

पुराणों में वर्णित कुछ महत्त्वपूर्ण आख्यानों का परिचय प्रस्तुत है :-

धार्मिक

(१) **मत्स्याख्यान** - यह आख्यान प्रजापति के मत्स्य रूप धारण करने से सम्बद्ध है। मत्स्य पुराण का आरम्भ तो इस आख्यान के उपबं हण के लिए ही किया है। इसके अतिरिक्त इस आख्यान का उपबं हण भागवत, अग्नि तथा गरुड पुराण में भी हुआ है। विद्वानों के अनुसार इस आख्यान का मूल शतपथ ब्राह्मण २।८।१।१ में है।

जलप्लावन के समय मत्स्य रूप प्रजापति ही मनु का संतरष्व कराते हुए पुनः सृष्टि के लिए आवश्यक तत्त्वों का संरक्षण करते हैं।

(२) **कूर्माख्यान** - यह आख्यान प्रजापति के कूर्म रूप धारण करने से सम्बद्ध है। यह आख्यान कूर्म पुराण के अतिरिक्त भागवत, अग्नि, गरुड, पद्म, ब्रह्म तथा विष्णुपुराण में उपलब्ध होता है। इस आख्यान में सभी पुराण कूर्म को भगवान् विष्णु का द्वितीय अवतार मान कर विस्तृत व्याख्या करते हैं। इस आख्यान का संक्षिप्त रूप तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।३, शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५, तथा जैमिनीय ब्राह्मण ३।२७२ में मिलता है।

(३) **वराहाख्यान** - यह आख्यान विष्णु के वराह अवतार से सम्बद्ध है। इस आख्यान का उपबं हण विशेष रूप से भागवत तथा विष्णु पुराण में हुआ है। इस आख्यान का मूल ऋग्वेद ८।७७।१० के अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण को माना जाता है।

लौकिक

(१) **पुरुरवा-उर्वशी आख्यान** - भागवत तथा विष्णु पुराण में इस आख्यान द्वारा पुरुरवा और उर्वशी की प्रणय कथा का विशुद्ध साहित्यिक रूप वर्णित है। विद्वज्जन इस आख्यान का मूल ऋग्वेद के पुरुरवा उर्वशी संवाद को मानते हैं।

(२) **हरिश्चन्द्र-शुनः शेष आख्यान** - इस आख्यान में राजा हरिश्चन्द्र उसके पुत्र रोहित और ऋषि पुत्र शुनः शेष की कथा का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। यह आख्यान भागवत, दैवी भागवत, ब्रह्म तथा मार्कण्डेय पुराण में विस्तारसे वर्णित है। मार्कण्डेय पुराण में इसका वर्णन अत्यन्त साहित्यिक तथा रोचक है। यह आख्यान मूलरूप से ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।

नचिकेतोपाख्यान - मूल रूप से कठोपनिषद् का नचिकेतोपाख्यान अद्वितीय अध्यात्म साहित्य का महत्त्वपूर्ण आख्यान है। यह आख्यान ऋषि वाजक्षवस, उनके पुत्र नचिकेता तथा राम की कथा से सम्बद्ध है। पुराण साहित्य में इस आख्यान का उपबं हण विशेष रूप से वराह पुराण में मिलता है। वहाँ इस आख्यान में समयानुसारी परिवर्तन करके रोचकता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

पुराणों में उपरिनिर्दिष्ट धार्मिक और लौकिक आख्यानों से भिन्न प्रकार के आख्यान भी उपलब्ध होते हैं। आख्यानों के इस प्रकार को प्रतीक आख्यान कहा जा सकता है। इस कोटि में-इन्द्र-अहल्या, चन्द्रमा-तारा, विश्वरूप त्वष्टा तथा ब्रह्माऔर सरस्वती के आख्यान प्रमुख हैं। विद्वानों के अनुसार इन प्रतीकोपाख्यानों के माध्यम से पुराणकारों ने आध्यात्मिक और वैज्ञानिक रहस्यों को प्रकट किया है।

पुराण में प्रतिपादित सर्ग (सृष्टि)

प्रतिसर्ग पुराणों के वर्ण्य विषय है। सर्ग को सृष्टि विद्या कहते हैं। पौराणिक सृष्टिक्रम पर सांख्य दर्शन में वर्णित सृष्टिक्रम का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। पर, कई दृष्टियों से इसका अपना

पथक् अस्तित्व भी है। सांख्यीय सष्टिविद्या निरीश्वर है, किन्तु पौराणिक सष्टिविद्या में शेश्वर, तत्त्व का प्राधान्य है। सांख्य में प्रकृति और पुरुष के संसर्ग में ही सष्टि का निर्माण होता है, जो अनादि और अनन्त माने गये हैं। 'विष्णुपुराण' ने स्पष्टतः इसे स्वीकार किया है कि विष्णु के रूप से ही प्रधान और पुरुष दो रूप होते हैं एवं विष्णु तृतीय रूप-कलात्मक रूप-से ही यह सष्टि के समय संयुक्त एवं प्रलय-काल में वियुक्त होते हैं।

विष्णोः स्वरूपात्परतो हि ते द्वे,

रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।

तस्यैव ते न्येन ध ते वियुक्ते,

रूपान्तरं तद्विज कालसंज्ञम्॥ -१।२४

पुराणों में सष्टि के नौ प्रकार कहे गये हैं। सर्ग के तीन प्रकार हैं-प्राकृत, वैकृत तथा प्राकृत-वैकृत सर्ग। प्राकृत सर्ग तीन प्रकार का। वैकृत पाँच प्रकार का एवं प्राकृत-वैकृत एक प्रकार का होता है। प्राकृत सर्ग के तीन प्रकार हैं-ब्रह्म सर्ग, भूत सर्ग तथा वैकारिक सर्ग।

ब्रह्म सर्ग - महत् तत्त्व का सर्ग ही ब्रह्म सर्ग है। भूत सर्ग-पंच तन्मात्राओं की सष्टि भूतसर्ग है। वैकारिक सर्ग-एकादश इन्द्रियविषयक सष्टि वैकारिक सर्ग है। वैकृत सर्ग के पाँच प्रकार हैं-मुख्य सर्ग, तिर्यक् सर्ग, देवसर्ग, मानुष सर्ग तथा अनुग्रह सर्ग।

मुख्य सर्ग - जड़ सष्टि को ही मुख्य सर्ग कहते हैं, जिसमें वक्ष, गुल्म, लता, तण एवं वीरुध आते हैं। इसे मुख्य सर्ग इसलिए कहा जाता है कि पृथ्वी पर चिर स्थायिता के विचार से पर्वतादि की ही प्रधानता है-मुख्य वै स्थावराः स्म ताः, विष्णु-पुराण, १।५।२१। सष्टि के आदि में पूर्ववत् ब्रह्मा द्वारा सष्टि का चिंतन करने के पश्चात् पुनः धारण करने पर जो सष्टि हुई, उसे मुख्य सर्ग कहा गया।

तिर्यक् सर्ग - मुख्य सष्टि को अनुपयुक्त समझकर जब ब्रह्मा ने उसे पुरुषार्थ के लिए अनुपयुक्त समझकर पुनः ध्यान किया तो तिर्यक् योनि के जीव उत्पन्न हुए। इस वर्ग में पशु-पक्षी आते हैं जो अज्ञानी, तमोमय एवं विवेक-रहित होते हैं। स्थावर के पश्चात् इनकी सष्टि जंगम में हुई।

देव सर्ग - तिर्यक् सष्टि से सन्तोष न पाकर ब्रह्मा ने देव सर्ग या परम पुरुषार्थ या मोक्ष के साधक की सष्टि की। यह प्राणी ऊर्ध्व स्रोत एवं ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले हैं।

मानुष सर्ग - इस सर्ग में प्राणी पृथ्वी पर निवास करने वाले एवं सत्त्व, रज, तम से युक्त होते हैं, इन्हें मनुष्य कहते हैं।

अनुग्रह सर्ग - समस्त प्राकृतिक सर्ग ही अनुग्रह सर्ग है।

कौमार सर्ग - कुछ आचार्यों के अनुसार यह सष्टि देव, मनुष्य दोनों की है। सष्टि क्रम में यह भी विचार किया गया है कि तमोगुण का अधिक्य होने से ब्रह्मा ने असुरों की सष्टि की, जो उनकी जांघ से उत्पन्न हुए। तदनन्तर ब्रह्मा ने तामसी देह का परित्याग कर सात्त्विक शरीर का आश्रय ग्रहण करते हुए अपने मुख से सुरों को उत्पन्न किया तथा पुनः रजोदेह धारण कर रजोगुण प्रधान मनुष्यों का निर्माण किया। उन्होंने आंशिक सत्त्व देह से पितरों की सष्टि की। उपर्युक्त बार प्राणिवर्गों का सम्बन्ध चार कालों में भी है-असुर का रात्रि से, सुर का दिन से, पितरों का संध्या से एवं मनुष्य का प्रातःकाल से। सष्टि के अन्य तीन प्रकार भी माने गये हैं-ब्राह्मी सष्टि, मानसी सष्टि एवं रौद्री सष्टि।

ब्राह्मी सष्टि - भगवान् की प्रेरणा प्राप्त कर उनकी नाभि कमल पर बैठ कर ब्रह्मा ने उनमें अपने चित्त को लगाकर सौ वर्षों तक तप किया। उन्होंने देखा कि प्रलय कालीन प्रबल वायु के झकोरे से, जिस कमल से वे उत्पन्न हुए हैं और जिस पर बैठे हैं, वह कमल तथा जल

दोनों ही कॉप रहे हैं। तपस्या तथा हृदय में प्रबल आत्म ज्ञान के कारण उनकी विज्ञान शक्ति प्रबल हो उठी। उन्होंने इसी शक्ति के द्वारा प्रबल वायु तथा विशाल जल-राशि का पान कर लिया। तदनन्तर उस आकाशव्यापी कमल को, जिस पर वे बैठे हुए थे, देख कर उन्होंने सोचा कि पूर्व कल्प में प्रकृति में लीन हुए लोकों का मैं इसी से स जन करूँगा। तब भगवान् द्वारा सृष्टि के कार्य में प्रवेश कर उसे एक को ही भूः, भुवः, स्वः, इन तीन भागों में विभक्त किया। यद्यपि वह कमल इतना बड़ा था कि उसके चौदह भुवनों या इनसे भी बड़े लोकों को बनाया जा सकता था। जो निष्काम कर्म के संपादक हैं, उन्हें महः, तपः जनः तथा सत्यलोक स्वरूप ब्रह्म लोक में रहना पड़ता है। इन चारों लोकों का सामूहिक नाम परमेष्ठी लोक या ब्रह्मलोक भी है।

पुनः उन्होंने स्थावर को लेकर देवपर्यन्त सृष्टि की रचना की, पर इससे भी सृष्टि का विकास नहीं हुआ और न उनके लक्ष्य की पूर्ति हुई। तब उन्होंने ध्यान कर देह स्वरूप भूतों से उत्पन्न इन्द्रियों सहित मानव प्रजा की सृष्टि की। वे ब्रह्मा के ही समान शक्ति-सम्पन्न तथा अध्यात्म के पण्डित थे। इन मानस पुत्रों को ब्रह्मा ही कहा गया। इनकी संख्या ६ है और इनके नाम हैं-भ गु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अङ्गिरस, मरीचि, दक्ष, अग्नि तथा वसिष्ठ। पुनः ख्याति भूति, सम्भूति, क्षमा, प्रीति, सन्नति, ऊर्जा, अनुसूया तथा प्रसूति नामक नौ कन्यायें उन महात्माओं की पत्नी के रूप में उत्पन्न हुईं और इनसे ही सृष्टि का विस्तार हुआ।

मानसी सृष्टि - ब्रह्मा की सृष्टि को मानसी सृष्टि कहते हैं। जीवों के पूर्व जन्म के कर्मों को जान कर ही ब्रह्मा उनकी उत्पत्ति करते हैं। ब्रह्मा का यह ज्ञान भगवत् प्रदत्त होता है और वे उसी के द्वारा उन कर्मों की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्मा की मानसी सृष्टि से मरीचि, कश्यप आदि अनेक अधिकारी पुरुषों का जन्म होता है और वे ब्रह्मा की प्रेरणा से उनके सृष्टि-कार्य में सहायता प्रदान करते हैं। प्रजापति कश्यप द्वारा देव-दैत्य पशु पक्षी तथा स्थावर-जंगम रूपी जन्तु उत्पन्न होते हैं। कश्यप का अर्थ देखने वाला है-कश्यपः पश्यको भवति। यहाँ देखने वाले का तात्पर्य अपनी सृष्टि से सृष्टि करने वाला है। जो वेद मूलक, अक्षय, अव्यय तथा धर्मानुकूल ब्रह्मा द्वारा निर्मित खण्ड हो, उसे मानसी सृष्टि कहते हैं।

रौद्र सृष्टि - ब्रह्मा जी ने जिन सनन्दन आदि चारों कुमारों को सृष्टि की वृद्धि के लिए उत्पन्न किया था, वे सृष्टि कार्य से निरपेक्ष और उदास हो गये। वे सभी ज्ञान सम्पन्न विरक्त एवं मत्सरादि दोषों से परे थे। उनकी इस प्रकार की उदासीनता को देख कर अर्थात् संसार रचना के प्रति उनकी उदासीनता से ब्रह्मा को अत्यन्त क्रोध आया, जो त्रिलोक को भस्म करने वाला था। उस समय उनकी टेढ़ी भुकृटी तथा क्रोध-सन्तप्त ललाट से दोपहर के सूर्य के सदृश देदीप्यमान रुद्र उत्पन्न हुए। उनका अति प्रचण्ड शरीर आधा नर था और आधा नारी का। ब्रह्मा के आदेश को प्राप्त कर रुद्र ने अपने शरीर को स्त्री तथा पुरुष के रूप में दो भागों में विभक्त किया। पुरुष भाग पुनः एकादश भागों में विभक्त हुआ तथा स्त्री भाग भी सौम्य, क्रूर, शान्त-अशान्त तथा श्याम और गौर आदि कई रूपों में विभक्त किया गया। रुद्र के द्वारा आविर्भूत इस सृष्टि को रौद्री सृष्टि के नाम से अभिहित किया गया।

पौराणिक सृष्टि-प्रक्रिया सांख्यदर्शन से प्रभावित होकर भी मौलिक है। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष मूल तत्त्व माने गए हैं, पर पुराणों ने बताया है कि प्रणय काल में वे दोनों परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं। वह परमात्मा ही एक मात्र आधार और सबका अधीश्वर है, जिसे विष्णु कहते हैं।

प्रतिसर्ग - प्रतिसर्ग या प्रलय के लिए पुराणों में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं-अन्तरप्रलय, अन्तराला-उपसंहति, आमृत संप्लव, निरोध, संस्था, उपसंहति, तथा तत्त्वप्रतिसंयम आदि। प्रलय चार प्रकार के होते हैं-नैमित्तिक, प्राकृत, आत्यन्तिक एवं नित्य।

नैमित्तिक प्रलय - प्रलय के अवसर पर जब ब्रह्मा तथा शेषशायी विष्णु विश्व को आत्मलीन कर सो जाते हैं, तब उनके शयन को निमित्त मानकर ही प्रलय होता है। वह ब्रह्म के एक दिन व्यतीत होने पर होता है। ब्रह्मा के एक दिन को कल्प कहते हैं, जिसमें १४ मनुओं का समय व्यतीत हो जाता है। कल्प की समाप्ति के पश्चात् उतने ही समय तक प्रलय का कालमान होता है। इस प्रलय का अन्य नाम ब्राह्मीरात्रि भी है। इस समय तीनों लोकों-भूः, भुवः, स्वर्-का ही प्रलय होता है और ऊपर के चार लोक-महः, जनः, तपः, सत्यम्-अपने निश्चित स्थान पर विद्यमान रहते हैं। इस प्रलय की स्थिति में ब्रह्मा सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेट कर सो जाते हैं और शेषशायी विष्णु भी शयन कर जाते हैं। चूँकि इस प्रलय का निमित्त ब्रह्मा जी का पद शयन है, अतः इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं।

एष नैमित्तिकी नाम मैत्रेय प्रतिसंचरः।

निमित्तं तत्र यच्छेते ब्रह्मरूपधरो हरिः॥

प्राकृतिक प्रलय - ब्रह्मा की आयु के सौ वर्ष होने पर प्राकृतिक प्रलय होता है। इस स्थिति में सात प्रकृतियाँ, प च तन्मात्राएँ, अहंकार एवं महत्त्व प्रकृति में लीन हो जाते हैं एवं संसार में भीषण संहार के दृश्य परिलक्षित हो जाते हैं। इस प्रलय में कारण उपस्थित होने पर प चभूतों के मिश्रण से बना हुआ ब्रह्माण्ड अपना स्थूल रूप छोड़कर कारण रूप में घुल-मिल जाता है।

द्विपरार्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलायाय वे॥

एष प्राकृतिकी राजन् प्रलयो यत्र जीयते।

आण्डकोश्स्तु सङ्घातो विघात उपसादिते॥

आत्यन्तिक प्रलय - पूर्ववर्णित प्रलयों की भाँति इस प्रलय की कोई सीमा नहीं है यह कभी भी हो सकता है। इसके उदय की साधन-सामग्री जब कभी उपस्थित हो जाती है, तभी यह संभव होता है। भागवत में इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है। “जब जीव विवेक के खड्ग से मायामय अहंकार का बंधन काट देता है, तब यह अपने एकरस आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में स्थित हो जाता है। ‘आत्मा’ की यह माया मुक्त वास्तविक स्थिति ही आत्यन्तिक प्रलय कही जाती है।”

तदैवमेतेन विवेकहेतिना,

मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम्।

छित्वाच्युतात्मनुभवो वतिष्ठते

तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग सम्प्लवम्॥

नित्य प्रलय - ब्रह्मा से लेकर हर प्राणी एवं तिनके भी सभी जन्मते एवं मरते हैं और इस प्रकार स जन एवं संहार की लीला सदा चलती रहती है। जैसे आकाश में तारे हर समय चलते ही रहते हैं, परन्तु उनकी गति स्पष्ट रूप से नहीं दिखायी पड़ती, वैसे ही भगवान् के स्वरूप-भूत अनादि-अनन्त काल के कारण प्राणियों की प्रतिक्षण होने वाली उत्पत्ति और प्रलय का भी पता नहीं चलता।

उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः सम्प्रचक्षते।

कालस्रोतो जवेनाशु द्वियमाणस्य नित्यदा॥

परिणामिनामवस्थाता जन्मप्रलय-हेतवः।

अनाद्यन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना॥